सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन-ग्रन्थ

संपादक मंडल

डॉ० वागीश शास्त्री
बालचन्द्र जैन
नंदलाल जैन
डा० विद्याधर जोहरापुरकर
पं० माणिकचन्द्र चवरे
सतीश कुमार जैन

प्रबन्ध सम्पादक
बाबूलाल जैन फागुल्ल

सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन समिति
रीवा (म. प्र.)
१९८०

प्रकाशक

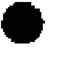
प्रबन्ध-समिति, सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन समिति

रीवा, मध्यप्रदेश



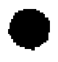
प्रकाशन वर्ष

1980



मूल्य

40 00



मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस,

भेलूपुर, वाराणसी (उ० प्र०)

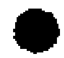
Siddhantacharya Pandit Kailashchandra Shastri Felicitation Volume

Siddhantacharya
Pandit Kailashchandra Shastri
Felicitations Committee, REWA, M. P.

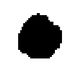
1980

Publisher

Executive Committee, Siddhantacharya Pt K C Shastri
Felicitations Committee, Rewa, M P



Year of Publication
1980



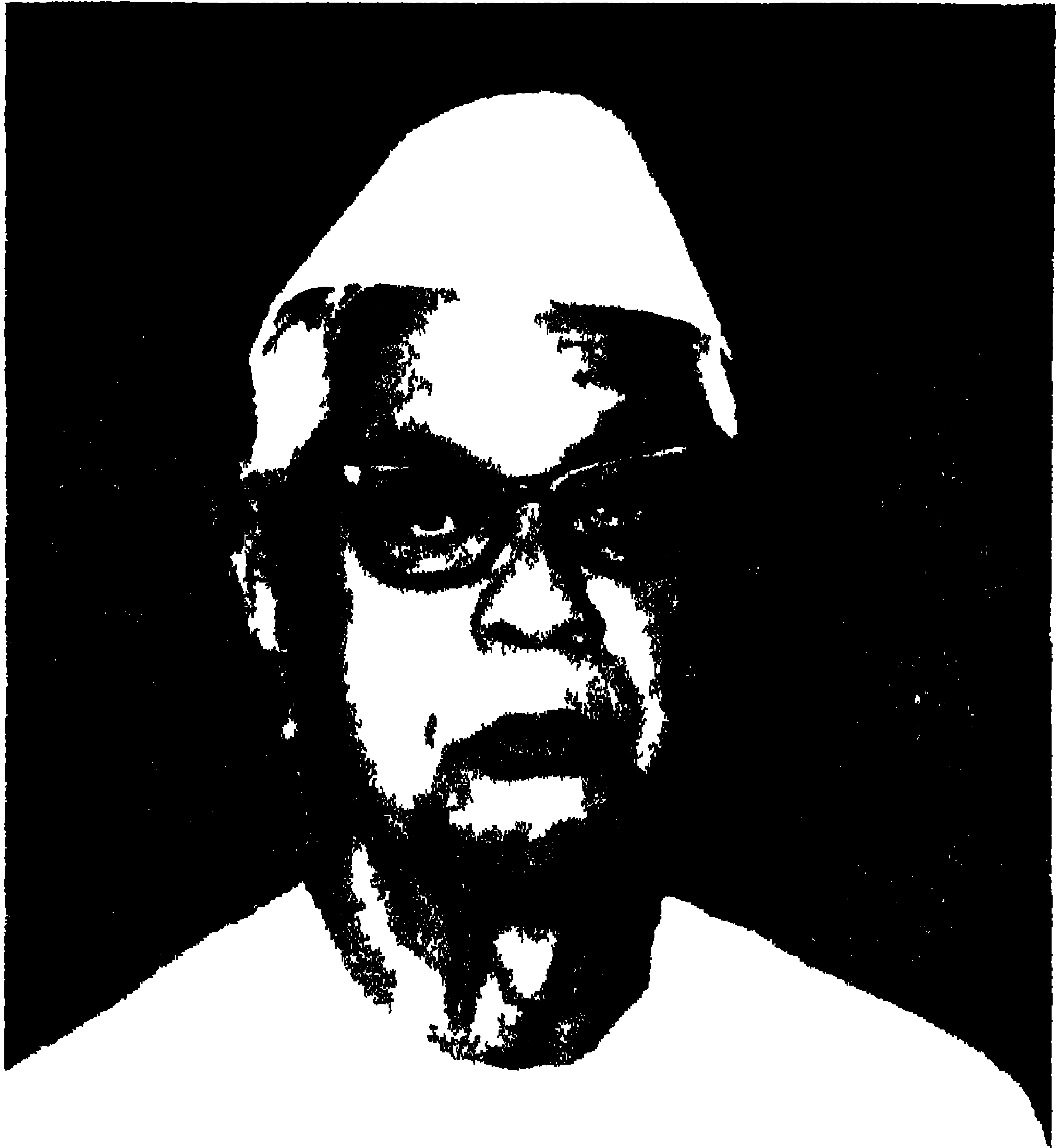


Price
Rs 40 00



Printers

Babulal Jain Phagulla
Mahavir Press
Bhelupur, Varanasi, U P (India)



[illegible]

परामर्शदाता सम्पादक मण्डल



प्रबन्ध समिति



समितिकी ओरसे

[सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री जैन और जैनेतर विद्वत्-समाजमें बहुश्रुत हैं। उत्तर प्रदेशके एक अज्ञात ग्राममें जन्मे तथा काशीमें शिक्षा-दीक्षा पाये पंडितजी ने अपने अध्ययन-अध्यापनकी आधी सदीमें न केवल अपनी भारत व्यापी सहस्राधिक शिष्यमडलीके माध्यमसे जैनधर्मकी ज्योतिको प्रज्वलित रखनेमें योगदान किया है, अपितु अपनी भाषण कला एव विचारपूर्ण निष्पक्ष लेखनीसे पंडित समाजकी प्रतिष्ठाको भी प्रतिष्ठित बनाये रखा है] आपके गौरवपूर्ण अभिनन्दनका विचार समितिके मंत्रीके मनमें उसी समय हुआ था जब जबलपुरकी स्थानीय समितिने मध्यप्रदेशके एक विद्वद्रत्नको अभिनंदित करनेकी योजना बनाई थी। इसके सम्पन्न होने पर जब इस ओर ध्यान दिया गया, तब ज्ञात हुआ कि काशीकी जैन विद्वन्मंडली न केवल अपने विवादोमे उलझी हुई है, अपितु उसके कारण उसकी सामाजिक श्रद्धामें भी ह्रास होने लगा है। इस स्थितिसे अनेक स्याद्वादी विद्यार्थी भी विचलित होकर कहने लगे—इस स्थिति में कब सुधार होगा? भट्टारक श्री चारुकीर्तिजीके आशीर्वाद तथा विद्वत् परिषद्के प्रयत्नसे १९७८ में विद्वानोका पुनर्मिलन हुआ। यह सुखद अवसर ही वर्तमान आयोजनका बीजाकुरण बन गया। इस विषयमें कोई चालीस भूतपूर्व 'स्याद्वादियो' एव चौबीस समाजके प्रतिष्ठित विद्वानों व व्यक्तियोंसे सम्पर्क किया गया। सभी ने खुले दिलसे अपना समर्थन और सहयोग देनेका वचन दिया। इस सम्पर्कके दौरान ही यह ज्ञात हुआ कि पूर्वमें भी स्व० डा० नेमचन्द्र ज्योतिषाचार्य तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन और उनके सहयोगियोंने अनेक वर्षों पूर्व ऐसा ही विचार किया था। पर वह किन्ही कारणोंसे मूर्तरूप नही ले सका। इन सभी सज्जनोसे भी हमें प्रेरक सहयोग मिला। वस्तुत ये प्रयत्न ही हमारे आयोजनकी आधारशिलाके रूपमें काम आये।

समितिका वास्तविक कार्य बसत पचमी, १९७९ से प्रारम्भ हुआ। इसने अपनी द्विचरणी योजना बनाई, (१) अभिनदन ग्रन्थ तैयार करना और (२) एक अखिल भारतीय सगोष्ठीके माध्यमसे इसे समर्पित करना। प्रारम्भिक चरणमें समितिको भारतके बारह प्रमुख विद्वानोसे परामर्शदाताके रूपमें सहयोग देनेका वचन मिला। इससे प्रेरित होकर सप्त-सदस्यीय सपादक मडलका गठन किया गया जिसमें डा० वागीश शास्त्री, निदेशक अनुसन्धान सस्थान, सपूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, काशीके समान अतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् भी सम्मिलित हुए। इन सभीके सहयोगसे प्रस्तुत सप्त-खडी ग्रन्थ तैयार किया गया है। समितिने इसे स्मरणीय एव सग्रहणीय बनानेका यत्न किया है। सुधी पाठक एव विद्वद्-वर्ग ही हमारे इस विश्वासकी पुष्टि कर सकते हैं।

द्वितीय चरण में, हमने आयोजन हेतु प्रबंध समितिका गठन किया। इसमें हमें कुछ समय लगा है। इसके ३१ सदस्य मुख्यत मनोनीत ही किये गये हैं। इसमें विद्वद्-वर्ग, श्रेष्ठिवर्ग, सस्थाएँ एव समाजसेवी-सभी कोटिके व्यक्ति हैं। सभी ने समय-समय पर हमारा, तन, मन और धनसे सहयोग किया है। समिति के सदस्योंकी सूची पृथक्से ही दी गई है। इस समितिकी विशेषता यह है कि इसमें जैन समाजके प्रमुख संप्रदायों और संस्थाओंके प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। यह एक अभूतपूर्व अवसर है जब इतनी सस्थाएँ एक साथ किसी आयोजनमें सक्रिय रूपसे सहयोग कर रही हैं।

प्रबंध समितिने सपूर्ण आयोजन हेतु ३८००० रु० का प्रारम्भिक बजट स्वीकार किया। यह मूल्यवृद्धि, मार्ग व्यय वृद्धि तथा अन्य कारणोंसे लगभग २०% तक अधिक जा रहा है। इसकी पूर्तिमे स्वागत समितिकी सदस्यताके रूपमें स्याद्वाद विद्यालय, काशीके भूतपूर्व २७ स्नातकोंने ५९०० ००, तथा स्याद्वाद महाविद्यालय, भारतीय ज्ञानपीठ, जीवराज ग्रथमाला, दि० जैन विद्वत् परिषद, महावीर ट्रस्ट, (इन्दौर), आदिनाथ ट्रस्ट (आरा), दि० जैन सघ (मथुरा) के समान सस्थानोने ७६०० ०० का सहयोग किया है। इस कार्यमें श्रेष्ठिवर्गके सहयोगके बिना तो काम ही कैसे चल सकता था! श्री मिश्रीलालजी काला, कलकत्ता ने ५००० ०० रु० देकर हमे अत्यन्त ही प्रोत्साहित किया है। अन्य अनेक व्यक्तियोंसे भी हमें चार अकोंकी राशि मिली हैं। हमें काशी, कारजा, बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, जबलपुर, कटनी, मुजफ्फरनगर, अजमेर, कुरवाई, विदिशा, भोपाल, शहडोल, इन्दौर और सतना आदि नगरोंसे १८००० ०० का सहयोग प्राप्त हुआ है। इस सहयोगने हमारा भार अत्यन्त लघुतर किया है। यही नही, दिल्लीमें आयोजन हेतु अहिंसा इन्टरनेशनलके सचिव भाई सतीशकुमार जी ने लगभग ९०००'०० की राशि एकत्र की है और अनेक सहयोगियोने अन्य प्रकारसे भी सहयोग दिया है। हमने यह प्रयत्न किया है कि इस सार्वजनिक राशिका मितव्ययिताके साथ सदुपयोग हो। अपने इन सभी सहायकोकी सूची परिशिष्टमें दी जा रही है।

समितिके समक्ष अभिनन्दन समारोहके केन्द्रीय स्थानमे आयोजित करनेकी प्रमुख समस्या थी। अपनी यात्राओंके दौरान समितिके मत्रीको दिल्लीमें भाई सतीशकुमार जी मिले। उन्होंने सहर्ष इस समारोह को न केवल दिल्लीमें आयोजित करनेका प्रस्ताव स्वीकार किया, अपितु एतदर्थ आवश्यक व्ययके लिए भी समितिको आश्वस्त किया। उन्होने दिल्लीमे ६१ सदस्योकी आयोजन समिति बनाई, जिसके अध्यक्ष प्रसिद्ध समाजसेवी श्री सुलतान सिंह वाकलीवाल है। भाई सतीशकुमार जी इस समितिके महामत्री तथा हमारी समितिके सहमत्री हैं। उनके अथक प्रयत्नोसे ही हमारा यह आयोजन इतनी गरिमामय रीतिसे दिल्लीमें सम्पन्न हो सका।

समितिके मन्त्रीने इस योजनाकी सफलता हेतु अनेक स्थानोकी लगभग २३००० किमी०की यात्रा की एव शताधिक व्यक्तियोसे सम्पर्क किया। समितिको प्रारम्भमे ही प० माणिकचन्द्रजी चवरे, सिंघई धन्य-कुमारजी, श्री शीतल प्रसादजी मुजफ्फरनगर, श्री बालचन्द्र देवचन्द्र शाह, बम्बई, डॉ० कन्छेदीलाल जैन, शहडोल तथा नीरज जैन सतनाके समान प्रेरक सहयोगी और मार्गदर्शक मिले। एक मूक और आशीर्वाद भरी मुस्कुराहट तो पहलेसे ही हमारे साथ थी। इनके विपर्यासमें, अनेक स्थानों पर उन्हे पण्डितोके प्रति घृणाभाव व आलोचनाओके दर्शन हुए। उन्हे इनके कारण समाजमें पडनेवाली दरारोके रूप भी प्रकट हुए। वस्तुत समितिने आयोजनके दौरान जैसी स्थितियोका अनुभव किया, वे कल्पनातीत हैं। 'अपने हुए बिराने'की स्थिति भी प्रतीत होती रही। फिर भी, पूज्य पण्डितजीके प्रति जिस श्रद्धा और आदरभावके दर्शन हुए, वे प्रेरक ही बने रहे।

यह अचरजकी बात रही कि पण्डितोके कारण समाज मे नये वर्गभेद प्रकट हो रहे हैं। समितिका विश्वास है कि भूतकालके समान वर्तमानमें भी विद्वान् आगम या शास्त्रोके अर्थकार और व्याख्याकार हैं। कभी-कभी ये व्याख्याएँ भिन्न भी हो सकती हैं। पर विद्वान् कभी नही चाहता कि इनके कारण समाजमें विभेद हो। वस्तुत सैद्धान्तिक तत्वचर्चाने सदैव मतवादोको जन्म दिया है पर उससे समाज वर्गित हुई दिखी, यह बीसवी सदीके उत्तरार्धकी ही घटना है। उपरोक्त स्थितिके कारण हमारे धर्म और समाजकी प्रभावकता एव व्यावहारिकता पर जो प्रभाव पड रहा है, उसका कटु अनुभव पक्षातीत समाजसेवियों एवं

विद्वानोंके लिए अत्यन्त कष्टकर होता जा रहा है। संभवत' इस स्थितिका उपचार भी विद्वान् ही कर सकते हैं।

समितिका मत है कि विद्वान्‌की गरिमा उसकी समाजसेवा, धर्मप्रचार और तर्कसंगत व्याख्या करनेकी क्षमतासे ही अंकित होती है। व्याख्याभिन्नता विद्वान्‌की प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठाका कारण मानना अनेकान्ती जैनोंके लिए शुभवृत्ति नही मानी जा सकती। विद्वान् समाजका मार्गदर्शक है, उसकी संस्कृतिका संरक्षक और प्रकाशक है। उसकी विद्वत्ता सम्पूर्ण समाजकी धरोहर है। पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्रीकी कोटि निश्चित रूपसे इन सभी निकषों पर खरी उतरती है। उनके अभिनन्दनसे समितिको गौरवका अनुभव हो रहा है।

समिति अपने सम्पादन परामर्शदाताओं तथा सम्पादकमण्डलके प्रति आभार व्यक्त करती है, जिनके सक्रिय सहयोग व समन्वयके बिना ग्रन्थकी सामग्रीका संयोजन एव चयन सम्भव ही नही था। हमें प्रसन्नता है कि समितिके निवेदन पर हमें देश और विदेशके प्रभूत विद्वानोंने अपने लेख व बहुमूल्य संस्मरण भेजे। यह सामग्री इतनी अधिक थी कि उसे पूर्णत सम्मिलित करना सम्भव नहीं था। इससे ग्रन्थमें अनेक बहुमूल्य लेखोंका समाहरण नहीं हो सका। समिति अपने इन सहृदय लेखकोंके प्रति तो आभार व्यक्त करती ही है, साथ ही, उन सहयोगी लेखकोंसे क्षमाप्रार्थी भी है, जिनके लेखोंको अपनी सीमाओंके कारण मुद्रित नहीं किया जा सका। अपनी समय-सीमामें मुद्रण कार्य करने हेतु हमारे प्रबन्ध सम्पादक श्री बाबूलालजी फागुल्लने अथक प्रयत्न किया है और व्यक्तिगत रुचि ली है। समिति उनकी ऋणी है। समितिके कार्यालयीय कार्यमें कु० प्रतिमा जैन एम० ए० का सहयोग तो भुलाया ही कैसे जा सकता है! वह तो मेरी पुत्रीके समान ही है। उसे मैं आशीर्वाद ही दे सकता हूँ।

हमारे इस आयोजनमें अनेक अन्य व्यक्तियों तथा स्याद्वाद विद्यालयके भूतपूर्व स्नातकोंने भी प्रत्यक्ष और परोक्ष सहयोग किया है। इन सभीका नामोल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। उन सबकी समिति आभारी है। हाँ, डॉ० नन्दलाल जैनका उल्लेख यहाँ आवश्यक मानता हूँ। वे इस आयोजनमें अथसे इति तक अत्यन्त श्रम, लगन और निष्ठासे जुटे रहे। वास्तवमें, यह उन्हींकी जीवन्त सक्रियताका परिणाम है कि हम यह आयोजन अनेक तकनीकी और प्रतिस्पर्धी व्यवधानोंके बावजूद भी यथासमय सम्पन्न कर सके। हमारे आयोजनके साहित्यिक, सामाजिक, प्रशासकीय एव वित्तीय–सभी पक्षोंको उन्होंने 'एकला चलो रे' के आधार पर सम्हाला है। हम उन्हें भी अपना आशीर्वाद देना चाहते हैं।

समिति अपने सभी सदस्यों, आयोजन समितिके सदस्यो, पन्द्रह नगरोंके सहायकों, आठ संस्थाओं तथा भाई सतीश कुमारजीके प्रति भी आभारी है, जिन्होने समितिको आर्थिक दृष्टिसे पुष्ट बनाया है। अपने अन्तिम और क्रान्तिक समयमें भाई रमेशचन्द्र जैन, दिल्लीने हमें जो सहयोग दिया, उसे कैसे भुलाया जा सकता है?

अन्तमें, समितिको विश्वास है कि पिछले इक्कीस महीनोंके छ सौ तीस दिनोंके लगभग दो हजार घण्टों, तेइस हजार किलोमीटरकी यात्राओं, १७० व्यक्तिगत एव, २५०० पत्राचारी सम्पर्कों एव बत्तीस हजारकी राशिके माध्यमसे सम्पन्न यह प्रयास विद्वद्-वर्ग, अध्येता तथा अनुसन्धित्सुओ एव समाजके प्रगतिशील विचारकोंके लिए सारवान् सिद्ध होगा। यदि इसमें कोई अपूर्णता और त्रुटियाँ रह गई हों, तो वे मेरी स्वतः की ही हैं। इनके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

जबलपुर
१० अक्तूबर १९८०

निर्मलचन्द्र जैन
अध्यक्ष

सम्पादकीय

जैनधर्म और संस्कृतिके इतिहासमें आचार्यों और सांस्कृतिक उन्नायकोंकी एक परम्परा रही है। यद्यपि भ० महावीरके अनन्तर लोहाचार्य और वज्राचार्यके समय तककी आचार्य-परम्परामें कुछ भेद पाया जाता है, तथापि उसके बादकी परम्परा स्पष्टतः दो धाराओंमें विभक्त पाई जाती है। दिगम्बर-परम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, पुष्पदन्त-भूतबलि, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द, गुणधर, वादिराज, धर्म-भूषण, नेमिचन्द्र चक्रवर्ती, प्रभाचन्द्र और आशाधरके समान विद्वान् प्रमुख रहे हैं। यद्यपि इनमें प्रायः सभी आचार्य पदधारी रहे हैं, तथापि प्रभाचन्द्रको आचार्य और पण्डित—दोनो पदोंसे अभिहित किया गया। आशाधरजीको तो पंडित पदसे ही स्मरण किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्यतः गृहस्थ विद्वानोंको पंडितकी संज्ञा दी गई जब कि आचार्य प्रायः साधुवेषी ही रहे।

वैदिक संस्कृतिमें गृहस्थ पंडितों और ऋषियोंकी परम्परा प्रारम्भसे ही रही है परन्तु श्रमण-संस्कृति में कई सदियों तक केवल साधुवर्ग ही साहित्य-निर्माण व जागरणमें अग्रणी रहा है। भ० महावीरके निर्वाणके तेरह सौ वर्ष बाद सम्भवतः धनञ्जय पहले गृहस्थ थे जिन्होंने इस प्रक्रियामें प्रतिष्ठा प्राप्त की। पंडित आशाधरजीके अनन्तर दो सौ वर्षोंकी परम्परा शोधका विषय है, फिर भी इस अन्तरालमें रइधू और वाग्भटके नाम सुज्ञात हैं। पंडितो और आचार्योंके बीच समसामयिक कवि-परम्परा भी चली जिसमें नवमी सदीसे पन्द्रहवीं सदीके बीच धनञ्जय, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, हस्तिमल्ल, हरिश्चन्द्र, श्रीधर, धनपाल और तेजपालके नाम अग्रणी हैं। सम्भवतः ये कवि भी प्रायः गृहस्थ ही रहे हैं। इन कवियोंका प्रमुख कार्य उपाख्यानो द्वारा धर्मचक्रको जीवित बनाये रखना था। इसके विपर्यासमें, पंडितोंका कार्य धार्मिक सिद्धान्तों-को जनभाषामें प्रस्तुत करना रहा है।

पिछले तीन सौ वर्षोंमें उत्तरप्रदेश, राजस्थान और मध्यप्रदेशके अनेक पंडितोंने जैन-समाजको धार्मिक रूपसे जागरूक बनाये रखा। इस परम्परामें राजमल, बनारसीदास, द्यानतराय, दौलतराम, टोडरमल और सदासुखजी आदिने आध्यात्मिक शैलीसे और गोपालदास बरैया, देवकीनन्दन शास्त्री, मक्खनलाल शास्त्री, वंशीधर न्यायालंकार, के० भुजबली शास्त्री तथा अन्योंने न्याय-शैलीसे धार्मिक जागृति की। इनका कार्य धर्म-ग्रन्थोंकी भाषा-टीका, प्रवचन, प्रभावना और प्रचार मुख्य रहा है। लेकिन इनका क्षेत्र सीमित रहा। बीसवीं सदीमें एक विशिष्ट पंडित-परम्पराका अभ्युदय हुआ। इसके अन्तर्गत जुगलकिशोर मुख्तार, नाथूराम प्रेमी, पं० फूलचन्द्र शास्त्री, पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, सुमेरुचन्द्र दिवाकर, डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, डॉ० पन्नालाल जैन, डॉ० दरबारीलाल कोठिया, चैनसुख दास तथा डॉ० ज्योतिप्रसाद जैनकी कोटिके विद्वान् आते हैं। इस परम्पराने जैनधर्म और साहित्यकी हिन्दी टीकाके साथ नये मौलिक ग्रन्थोंका भी सृजन किया। युगानुरूप सैद्धान्तिक व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की। इसने जैनधर्म और संस्कृतिको जैनेतर जगत्में भी प्रकाशित किया। इस युगमें अनेक व्यक्तियोंने जैन धार्मिक साहित्यका अंग्रेजीमें अनुवाद भी किया। इससे विदेशोंमें जैनधर्म और इसके इतिहासके सम्बन्धमें अनेक भ्रान्तियाँ दूर हुईं। अंग्रेजी और हिन्दीमें पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कर समाजकी एकरूपता और जागरूकताको प्रगति दी। बीसवीं सदीके मध्य तक आते-आते एक नवीन विद्वत्परम्पराका जन्म हुआ जिसने पाश्चात्य पद्धति पर संस्कृत, प्राकृत तथा जैनदर्शन और साहित्यका समीक्षात्मक अध्ययन कर नये प्रतिमानोंके अनुरूप साहित्यकी सृष्टि की। इस युगमें कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी प्रारम्भ हुए जिससे नयी पीढ़ीके दृष्टिकोणकी व्यापकताका अनुमान लगता है। इस परम्परामें

सैद्धान्तिक अध्ययनकी सूक्ष्मता, विशदता तथा गम्भीरता गहन शोधके विषय हैं। फिर भी, ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि बीसवीं सदीके पूर्वार्ध और उत्तरार्धके विद्वद्-वर्गके एक-दूसरेके पूरक बननेकी प्रक्रिया उतनी सरल नहीं दिखाई पड़ती। अस्तु, अपने ढंगसे ही सही, यह पीढ़ी भी पुरानी पीढ़ीके कार्यको आगे बढ़ाती हुई जैन संस्कृति एवं समाजको दिशादान कर रही है।

श्वेताम्बरोंमें पंडित-परम्परा इतनी विकसित नहीं पाई जाती। इस परम्परामें धर्म प्रचार व जागरणका कार्य आचार्यों एवं सूरियोंने किया है। हाँ, इस सदीमें पं० सुखलाल संघवी, पं० बेचरदास दोशी, पं० दलसुख भाई मालवणिया तथा अगरचन्द नाहटाके समान विद्वानोंने अपना बहुमूल्य योगदान किया है।

विशिष्ट मानवों और अतिमानवोंकी स्तुति, नाराशंसी, गाथा और प्रशस्तियोंके उल्लेख वेद-उपनिषदों तकमें पाये जाते हैं। दानवीर, युद्धवीर तथा नरेशोंकी प्रशस्तियाँ अनेक काव्योंके रूपमें हमें सुज्ञात हैं। इसी प्रकार, साहित्य, संस्कृति और समाजके उन्नायक विद्यावीरोंकी प्रशस्ति भी स्वाभाविक है। यह कहा जाता है कि आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिकी प्रशस्ति-स्तुति देवताओं तकने की थी। वर्तमान अभिनन्दन भी इसी प्रकारकी प्रशस्तिके आधुनिक संस्करण हैं। इनका उद्देश्य एवं रूप भी समय-समय पर बदलता रहा है। कभी यह मात्र व्यक्ति-प्रमुख था, पुष्पमाल तक सीमित था, फिर 'पत्र पुष्पम्' और मानपत्रोंमें परिणत हुआ और वर्तमानमें यह अभिनन्दनीयके माध्यमसे एक स्थायी साहित्य-निर्माणकी प्रक्रियाके रूपमें विकसित हुआ है जो विद्वानों, शोधकों तथा सुधी पाठकोंके लिए ज्ञानवर्धक एवं विचार-प्रेरक सन्दर्भ साहित्यका काम करता है। ऐसे साहित्यका निष्काम उद्देश्य तत्त्वज्ञान और साधनाकी ओर उन्मुख होना है।

प्राच्यविद्याके क्षेत्रमें डॉ० भांडारकर और प्रो० विन्टरनित्स् आदि मनीषियोंका सम्मान करनेका यही उपाय उचित समझा गया कि उनके जीवनकी आधारभूत प्रवृत्तियों—शोधादि पर आधारित कृतियाँ ही उन्हें समर्पित की जाएँ। इससे प्रेरित होकर ही, सम्भवतः पिछले चार दशकोंमें अनेक दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानों और साधुजनोंके अभिनन्दन इसी रूपमें आयोजित किये गये। इस प्रकारके अनेक अभिनन्दन अथवा स्मृति-ग्रन्थोंके माध्यमसे जो साहित्य सामने आया है, वह स्फुट तो अवश्य है, परन्तु उससे धर्म, दर्शन, पुरातत्त्व, साहित्य, इतिहास तथा विज्ञानसे सम्बन्धित जैन विद्याओंके अनेक ऐसे पक्ष प्रकाशमें आये हैं जिनसे महावीरकी पराम्पराकी महत्ता, प्रभावकता एवं प्रसारमें पर्याप्त योगदान मिला है। ऐसे प्रयत्नोंकी निरन्तरता बीसवीं सदीकी एक अनिवार्य एवं वेगवती भावना बनती जा रही है।

आदरणीय पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने अपने गहन अध्ययन, लेखन, सम्पादन, प्रवचन, मार्गदर्शन, वक्तृत्वकला, अध्यापन और शोधकार्य, दानवृत्ति एवं सहयोग-भावके कारण जैन समाज और अखिल भारतीय विद्वद् वर्गमें जो कीर्तिमानी स्थान प्राप्त किया है, वह भी समादरणीयताकी कोटिमें स्वतः समाहित होता है। इस आधार पर ही अनेक व्यक्तियों एवं संस्थाओंके सहयोगसे वर्तमान समितिने उनके अभिनन्दनका निश्चय किया। समितिको अथक प्रयत्नसे लगभग शताधिक सहायकों, शताधिक ही लेखकों एवं विद्वानोंका भरपूर सहयोग मिला। इसकी प्रत्याशामें ही हमने अभिनन्दन ग्रन्थकी सप्त-खंडी रूपरेखा तैयार की। इसके अनुरूप ही हमारे निवेदन पर देश और विदेशके ख्यातिप्राप्त विद्वानोंने हमें इतनी बहुमूल्य सामग्री प्रेषित की कि इसका तृतीयांश तो हम इच्छा रहते हुए भी, अपनी पृष्ठसीमा तथा अर्थसीमाके कारण, इस ग्रन्थमें समाहित न कर सके। इसके अतिरिक्त अनेक लेखोंको हमें सम्पादित कर संक्षिप्त भी करना पड़ा है। इन लेखोंका चयन लेखकके आधार पर नहीं, अपितु विषय-वस्तुकी मौलिकता, नवीनता, विविधता तथा रोचकताके आधारपर किया गया है। ग्रन्थकी व्यापक उपयोगिताको ध्यानमें रखकर हमने इसके महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी लेखोंका हिन्दी-सार देनेकी नई परम्परा अपनाई है। यह भी इस ग्रन्थकी अभिनवता होगी। इस कार्यमें हमारे परामर्शदाताओं एवं सम्पादक-मण्डलके सभी सदस्योंने पर्याप्त मार्गदर्शन

और श्रम किया है। फिर भी, यह चयन कैसा रहा, इसपर हमारा प्रबुद्ध पाठकवर्ग ही निर्णय दे सकता है। सम्पादकोंको विश्वास है कि उनका यह सामग्री-चयन रुचिकर होगा।

ग्रन्थके प्रारम्भमें भारतके विविध क्षेत्रोंमें काम करनेवाले ६३ समाजसेवियों, सहपाठियों, शिष्यों, विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयोंके विद्वानों एव मुनि व साधुजनोंके आशीर्वचन एवं संस्मरण दिये गए हैं जो पंडितजीकी विविध प्रवृत्तियोंका दिग्दर्शन कराते हैं और उनकी प्रभावकताका क्षेत्र प्रदर्शित करते हैं। इस खंडमें देरसे आये अनेक लोगोंके सस्मरणोको सम्मिलित नही किया जा सका, इसका हमें खेद है।

प्रथम खण्डमें माननीय पण्डितजीके व्यक्तित्व और कृतित्वके विविध रूपों पर विवरणात्मक एवं समीक्षात्मक प्रकाश डाला गया है। हमें हर्ष है कि इसके अन्तर्गत आ० पण्डितजीने मेरा जीवन-क्रम देकर अपना अन्तरंग भी प्रस्तुत किया है। इस खण्डमे हम उनके द्वारा ही लिखित 'मेरे माता-पिता' (जैन सन्देश, १९६०) भी देना चाहते थे, पर वह अनुपलब्ध रहा। इस खण्डमे हमने उनके द्वारा लिखित तेरह मौलिक और अट्ठाईस सम्पादित, सहसम्पादित तथा अनुवादित कृतियोंके विवरणके साथ उनके द्वारा लिखित विविध लेखोंको भी विषयवार वर्गीकृत रूपमे दिया है। यह सूची पूर्ण है, यह हम नही कह सकते। साथ ही, पडितजीका लेखन सम्प्रति भी जारी है। हमें समय पर अनेक आवश्यक पत्र-पत्रिकाएँ भी नही मिल सकी। फिर भी, इस कार्यमें हमें स्याद्वाद विद्यालय, काशी, दि० जैन सघ, वर्णी विद्यालय, सागर तथा प्रो० उदयचन्द्र जैन, काशीसे अविस्मरणीय सहयोग मिला है। इस खडमें हमने पडितजीके तीन मौलिक ग्रन्थो—जैनधर्म, जैन-साहित्यका इतिहास, जैन-न्यायकी समीक्षा भी प्रस्तुत की है। इसमें पडितजीके लेखन तथा विद्वत्ताके अनेक पहलू प्रकाशमें आये है। इस प्रकारकी कृति-समीक्षा भी इस अभिनन्दन ग्रन्थकी एक अन्य विशेषता ही मानी जाएगी। इसका 'विद्यावृक्ष' भी एक नवीनताका प्रतीक है।

द्वितीय खडमे धर्म और दर्शनसे सम्बन्धित लेखोंमें भारतके चारो कोनोके प्रश्रुत विद्वानोंने धार्मिक सिद्धान्तों तथा विषयों पर अधुनातन तुलनात्मक एव समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। परम्परागत पाठकको इस खडमें परम्परागत विषयोंके लेखोका अभाव खटकेगा पर हमने युगानुरूप पाठ्य एव शोध-सामग्री देकर उनके ज्ञानकोशको बढ़ाना तथा विचार प्रेरण करना ही अधिक उपयुक्त समझा है।

इसी प्रकार, साहित्य तथा इतिहास व पुरातत्त्वके तृतीय और चतुर्थ खडोमें भी हमारा लक्ष्य पाठकोंके लिए नवीन विधाओंकी सामग्री प्रस्तुत करना रहा है। हमें विश्वास है कि दो दर्जनसे अधिक लेखोंकी यह सामग्री अत्यन्त रोचक तथा ज्ञानवर्धक प्रमाणित होगी। अनेक लेखोकी सचित्रता इसे और भी आकर्षण दे सकेगी।

जैनदर्शनकी वैज्ञानिक परम्परा नामक पाँचवाँ खण्ड अनेक दृष्टियोंसे विचारप्रेरक है। वैज्ञानिक युगके अनुरूप हमने इस खण्डमे भौतिकी, रसायन, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, भूगोल तथा खगोलसे सम्बन्धित जैन मान्यताओंपर तुलनात्मक एव समीक्षात्मक लेख दिये हैं। ऐसी सामग्री एक स्थानपर इस रूपमे अन्यत्र दुर्लभ है। लेखोंके हिन्दी सारके माध्यमसे उन्हे सामान्य पाठकों तक पहुँचानेका प्रयत्न किया गया है। हमारा विश्वास है कि यह सामग्री अनेक विद्वानो व शोधकोके लिए समीक्षण, सशोधन एव ज्ञानवर्धनकी प्रेरक बनेगी। इस खण्डके लेखकोंमें अनेक अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त हैं। इनके अधिकाश लेख मूलत. अंग्रेजीमे ही लिखे गये हैं। इसमें हमारा उद्देश्य यह कि जैनदर्शनकी वैज्ञानिक परम्परा तथा मान्यताओंकी जानकारी ऐसे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पाठकों तक भी पहुँचे जिससे यह समुचित स्थान और गरिमा ग्रहण कर सके। अभी तो जैन वैज्ञानिक मान्यताओंके विषयमें वैज्ञानिक जगत् प्राय. अन्धकारमें ही है।

छठवाँ खड वर्तमान एव भावी शोध-क्षेत्रोंकी ओर संकेत करता है। जैन विद्याओंसे सम्बन्धित अधिकाश शोधकार्य अबतक विभिन्न भाषाओमें उपलब्ध ललित-साहित्यसे ही सम्बन्धित रहा है। पर अब

न्यायशास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति तथा अन्य विषयोंके क्षेत्रमें भी अनेक विद्वान शोधकार्य कर रहे हैं। इससे अनेक परिभाषाओं और मान्यताओं पर पुनर्विचारकी आवश्यकताका भी अनुभव किया जा रहा है। इस खण्डके लेखकोंने बड़ी ही महत्त्वपूर्ण प्रेरक एवं समीक्षापूर्ण सामग्री देकर सम्पादक-मण्डलको उपकृत किया है। हमारा विश्वास है कि किसी भी ऐसी नयी कृतिमें इस प्रकारका खण्ड अवश्य रहना चाहिए जो हमारे लिए भविष्यका दिग्दर्शक बने।

विदेशोंमें जैनविद्याएँ नामक सातवाँ खण्ड और भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, अमेरिका, फिनलैंड तथा अन्य देशोंमें जैनविद्याओंके अध्ययनकी एक झाँकी दी गई है। इससे ज्ञात होता है कि विदेशोंमें अधिकांशत श्वेताम्बर-साहित्य पर ही अध्ययन किया गया है। इसका कारण सम्भवत यह है कि विदेशोंमें दिगम्बर-साहित्य इस सदीके पूर्वार्ध तक पहुँच नहीं पाया। इस साहित्यके सुलभ करनेकी प्रक्रिया तीव्र की जानी चाहिए। यद्यपि इस दिशामें जैनमिशन और रामकृष्ण चैरिटेबल ट्रस्टका कार्य प्रेरणास्पद है, तथापि उसमें कई गुनी वृद्धिकी आवश्यकता है। यह प्रसन्नताकी बात है कि अब विदेशोंमें साहित्यके अतिरिक्त धार्मिक सिद्धान्तों एवं न्यायशास्त्र पर भी कुछ काम होने लगा है। इसके लिए समुचित आर्थिक सुविधाओंको जुटाने तथा आवश्यक साहित्य-प्रसारकी महती आवश्यकता है। हम इस खण्डमें कुछ और विदेशी विद्वानोंके लेख देना चाहते थे, पर हमारी सीमाओंने हमें विवश कर दिया।

हमने इस अभिनन्दन-ग्रन्थमें प्रकाशित सामग्रीके चयनमें यह प्रयास किया है कि यह उपयोगी, सारवान् एवं ज्ञानदीपको प्रकाशित करनेवाले वायुके समकक्ष हो। इसके लेखोंमें बीसवीं सदीकी तुलनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि मुख्य रही है। यही दृष्टि ज्ञानके क्षेत्रको विकास एवं संवर्धनके नये आयाम देती है एवं हमें अन्वेषणकी ओर प्रवृत्त करती है। यही हमारी ज्ञानपिपासाका साध्य है। इस उत्कृष्ट साध्यके लिए समुचित कारक प्रस्तुत करनेकी प्रक्रिया ही विद्वान्का साध्य और अभिनन्दन है। इस साध्यकी पूर्तिमें विचारोंकी भिन्नता उनके विकासकी प्रक्रियामें ही सहायक होती है। यह सम्भव नहीं है कि सम्पादक-मण्डल लेखकोंके सभी विचारोंसे सहमत हो, फिर भी उन्हें प्रकाशित कर वह अन्य विद्वानोंको उनके समुचित परीक्षणके लिए प्रेरित करना चाहता है।

सम्पादक-मण्डलके कार्यमें जिन सम्मान्य लेखकों, गुरुजनों एवं सन्तोंने सहयोग किया है, उसके लिए वह सभीका आभारी है। उनके सहयोगके बिना हमारा यह गुरुतर कार्य मूर्तरूप ही कैसे ले सकता था! इस अवसर पर हम उन सहयोगियोंसे क्षमा-याचना भी करना चाहते हैं जिनकी कृतियोंको हम इसमें, अपनी सीमाओंके कारण, समाहित नहीं कर सके। हम सभी सम्पादन परामर्शदाताओं एवं प्रबन्ध-सम्पादकके भी आभारी हैं जो निरन्तर मार्गदर्शन और प्रेरक सुझाव देते रहे हैं। हम प्रबन्ध-समितिके सदस्योंके ऋणी हैं जिन्होंने मंडल पर पूर्ण विश्वास किया और उसके कार्यमें सभी प्रकारकी सुविधाएँ प्रदान की। हम महावीर प्रेसके व्यवस्थापक, आचार्य कपिलदेव गिरि एम० ए०, टंकक-द्वय तथा सम्पादन कार्यमें सहयोगी कु० प्रतिमा जैन एम० ए० तथा प्रमोद दुबेके प्रति भी अपना आभार व्यक्त करते हैं। अन्तमें, मैं डॉ० नन्दलाल जैनका नाम लिये बिना भी नहीं रह सकता जिन्होंने ग्रन्थमें अभिनवता एवं नवीनता लानेके लिए अथक श्रम किया है।

अनेक प्रकारकी सावधानीके बावजूद भी मुद्रण कार्यमें त्रुटि रह जाना स्वाभाविक है। इनके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। हम यह आशा करते हैं कि पाठक उन्हें सुधार कर पढ़ेंगे और हमें भी विभिन्न अपूर्णताओंकी सूचना देंगे।

B. 3/115 शिवाला, काशी
१२-१०-८०

भागीरथप्रसाद त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री'
कृते सम्पादक-मण्डल

अनुक्रम

आशीर्वचन, अभिवादन और संस्मरण

आशीर्वचन	आचार्य समन्तभद्रजी महाराज	१
,,	आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज	१
,,	आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज	१
,,	यशोदेव सूरिजी	१
,,	भट्टारक चारुकीर्तिजी	१
,,	भट्टारक लक्ष्मीसेनजी	१
अभीप्सा	युवाचार्य महाप्रज्ञ	१
मार्गदर्शन	डॉ० श्री कस्तूराज भण्डारी	२
कविता	निर्मल आजाद	२
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र	कमलकुमार जैन	३
भौतिक काया पर ओढी चादरमें रच न मोल	कल्याणकुमार 'शशी'	५
वन्दन शत अभिनन्दन	हजारीलाल 'काका'	६
सद्भावना	पद्मश्री सुमतिबाई शाह	६
सन्त सरस्वती पुत्र	ब्र० जगन्मोहनलाल शास्त्री	७
सहपाठीके प्रति	विद्याभूषण के० भुजबली शास्त्री	८
भैया कैलाशचन्द्र	हरिश्चन्दजी भाईजी	८
भूली-बिसरी यादें	डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	९
गवेषक पंडितजी	पी० एन० कोठेकर, कुलपति, उज्जैन	१३
व्यक्ति नही, संस्था	डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री	१३
धर्मनिष्ठ पंडितजी	पं० दलसुख भाई मालवणिया	१४
अभिनन्दनीय पण्डितजी	अगरचन्द नाहटा	१५
मूर्धन्य विद्वान्	नाथूलालशास्त्री	१५
निर्लोभवृत्ति	पं० गोविन्दराय जैन	१६
पंडितकी विवशता एक खरी बात	डॉ० कस्तूरीलाल जैन	१६
जैन समाजके सुमेरु	प्रो० श्रीचन्द्र जैन	१७
आदर्श कीर्तिस्तम्भ	माणिकचन्द्र नाहर	१८
विनम्रता और स्वाभिमानके ओजसे मंडित पंडितजी	जयकिशनदास खंडेलवाल	१८
शत शत वन्दन कोटि-कोटि अभिनन्दन	बाबूलालशास्त्री 'फणीश'	१९

स्याद्वादशिरोमणि	यतीन्द्रकुमार शास्त्री	१९
जीवन्त स्रोत	वीरेन्द्रकुमार जैन	२१
आदरभाव	बालचन्द्र शास्त्री	२१
प्रतिभाशाली निर्भीक विद्वान्	प्रकाश हितैषी शास्त्री	२२
विद्वत्ताकी विभूति	लक्ष्मीचन्द्र सरोज	२२
मेरी नजरमें	प्रतापचन्द्र जैन	२३
प्रभावक लेखनीके धनी	राजकुमार शास्त्री	२६
लोकप्रिय विद्वान् और प्रभावशाली वक्ता	डॉ० कस्तूरचन्द्र काशलीवाल	२६
जिनवाणीके एन्साइक्लोपीडिया	डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	२७
कर्मठ समाजसेवी	विष्णु समाबया, सुमनाकर	२८
शास्त्रीजी शतायु हों	मूलचन्द्र किशनदास कापडिया	२८
सन्त कैलाशचन्द्रजी	प्रेमचन्द जैन, अहिंसा मन्दिर	२८
आदराञ्जलि	महताब सिंह जैन	२९
शारदाका निडर सपूत	नीरज जैन	२९
मेरे पूज्य बाबाजी	अमरचन्द्र जैन	३२
विद्यावारिधि शास्त्रीजी	प० शिखरचन्द्र शास्त्री	३३
कृतज्ञ कारजा गुरुकुल परिवार	प० माणिकचन्द्र चवरे और प० माणिकचन्द्र भिषीकर	३४
शत शत वन्दन	स्वतन्त्र जैन	३४
कजूस और उदार व्यक्तित्व	डा० रमेशचन्द्र जैन	३५
विद्यागुरुका नमन	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य	३६
आदर्श अध्यापक और सफल साहित्यकार	महामहोपाध्याय हरीन्द्रभूषण	३७
विद्याव्यसनी एव कर्मठ व्यक्तित्व	राजकुमार जैन, बी ए एम एस	३९
एक कर्मयोगी	डॉ० सुरेशचन्द्र जैन	३९
सहृदय पडितजी	राजनाथ रसोइया	४०
मेरी दृष्टिमें पंडितजी	डॉ० प्रेमसागर जैन	४०
जैन सस्कृतिके अग्रदूतके प्रति	धन्यकुमार सिंघई	४४
अनुपम निधि	सेठ भागचन्द सोनी	४६
महान् मानवरत्न	भगवानदास शोभालाल जैन	४७
महाविद्वान् पंडितजी	सत्यन्धरकुमार सेठी	४७
लोकप्रिय सम्पादक	हीराचन्द बोहरा	४९
आस्थाके प्रतीक	डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन	४९
सतत अभिनन्दनीय पडितजी	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	५०
धर्मशास्त्रमय सब जग जानी	प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला	५२
श्रद्धेय पडितजी	नरेन्द्रप्रकाश जैन	५४
निरभिमानी व्यक्तित्व	महेन्द्रकुमार 'मानव'	५५
जादूगर पंडितजी	रतनलाल कटारिया	५६

खंड—१ : व्यक्तित्व और कृतित्व

बुंदेलखण्डके विद्वानों और जनपदकी
जैन विभूतियाँ — श्रेयांसकुमार शास्त्री — ५७
मेरा जीवन-क्रम — सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी — ६१
जीवनकी एक झलक पंडित कैलाशचन्द्रजी — सतीशकुमार जैन — ६८
जैसा देखा जैसा सुना — श्रीकान्त गोयलीय — ७२
पंडितजी प्रवृत्तियाँ और विचारधारा — सम्पादक — ७५
पंडितजी और बुन्देलखंड — डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी — ८२
सम्पादकीय लेखोंकी विषयवार सूची — ८६
(अ) शिक्षा, शिक्षार्थी, शिक्षक तथा शिक्षण-संस्थाएँ, परीक्षा और परीक्षा-पद्धति — ८६
(ब) सामाजिक समस्याएं और संस्थाएँ — ८७
(स) शास्त्रीय और धार्मिक लेख — ९३
(द) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय — ९६
(य) व्यक्तिविशेष — ९८
(र) लोकप्रिय लेख — ९८
(ल) शोधलेख — ९८
पंडितजीकी कृतियाँ — १००
महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंकी समीक्षा
(अ) जैनधर्म — डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर — १०१
(ब) जैन साहित्यका इतिहास
एक समीक्षा — डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन — १०२
(स) जैन न्याय एक समीक्षा — अन्यायी — १०६
पंडित कैलाशचन्द्रजीका वंशवृक्ष — ११२
पंडितजीका विद्यावृक्ष — ११२

खंड—२ : धर्म और दर्शन

कर्मशास्त्र मनोविज्ञानकी भाषामें — युवाचार्य महाप्रज्ञ — ११३
सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग — आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी — ११७
जैनपरम्परामें सन्त और उनकी साधना-पद्धति — डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री — १२३
तत्त्वार्थकी दिगम्बर-टीकाओंमें आगम
तथा निर्ग्रन्थताकी चर्चा — पं० दलसुख भाई मालवणिया — १३५
समयसारके भाष्य आत्मख्यातिकी मुद्रित प्रतियोंमें
एक महत्त्वपूर्ण पाठमें एकरूपताकी आवश्यकता — पं० माणिकचन्द्र चवरे — १४०
संग्रहवृत्तिसे असंग्रहवृत्तिकी ओर — अगरचन्द नाहटा — १४३
विष्णुसहस्रनाम और जिनसहस्रनाम — लक्ष्मीचन्द्र सरोज — १४७
जैन साइकोलोजी — डॉ० टी० जी० कालघाटगी — १५२

कहाँ तक आर्यका शासन और अधिकार (बोधकथा)	नेमिचन्द पटोरया	१५६
रत्नकरंडश्रावकाचारमें प्रोषधोपवास चर्चा	रतनचन्द्र कटारया	१५७
मोक्ष महलकी परथम सीढी समकित	नीरज जैन	१६३
रिफ्यूटेशन आव वेस्टर्न मेटीरियलिज्म ऑन दी बेसिस आव जैन फिलोसोफी	मुनि महेन्द्रकुमार द्वितीय	१७६
उत्तम सत्य	डा० बी एस कुलकर्णी	१८५
जैनधर्मका उद्गम क्षेत्र मगध	प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी	१९१

खंड—३ : साहित्य

जैन आगम साहित्य	साध्वीजी कनकश्रीजी	१९३
श्वेतभिक्षु	बी० जी० सडेसरा	२०२
पद्मपुराण और मानसके राम	डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे	२०५
जैन धार्मिक साहित्यमें उपमान और उपमेय	डॉ० अमिताभकुमार	२०७
पद्मानन्दका वैराग्यशतक	डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री	२१५
रत्नाकरकी हृसकला	जी० ब्रह्माप्पा	२२१
चतुर्विशतिसन्धानकाव्य	प्राचार्य कुन्दनलाल जैन	२२५
विबुध श्रीधर एव उनका पासणाहचरिउ	डॉ० राजाराम जैन	२२७
जैन गीतिकाव्यमें भक्ति-विवेचन	प्रो० श्रीचन्द्र जैन	२३८
पाणिनीय और शाकटायन व्याकरण तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० वागीशशास्त्री	२५१
कन्ट्रीब्यूशन आव कर्नाट टू जैन लिटरेचर एण्ड कल्चर	डॉ० के० कृष्णमूर्ति	२५७
कन्नड एण्ड जैनागम साहित्य	प्रो० एम डी वसन्तराज	२६८

खंड—४ : इतिहास और पुरातत्त्व

(अ) इतिहास

जैन साहित्य सवर्धनमें राष्ट्रकूटयुगका योगदान	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	२७३
बिहारमें जैनधर्म	उपेन्द्र ठाकुर	२८१
मध्यप्रदेशमें जैनाचार्योंका विहार	डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर	२८८
महिलायें जैन सस्कृतिकी सेवामें	पद्मश्री सुमतिबाई शहा	२९४
चन्देरी अन्डर मालवा सुल्तान्स	एच ए निजामी	३०४

(ब) पुरातत्त्व

भारतीय सस्कृतिके प्रतीकोंमें कमल और अश्व	श्रीमती सुधा अग्रवाल	३१२
बुन्देलखण्डमें जैनधर्मके प्राचीनतम प्रतीक	चन्द्रभूषण त्रिवेदी	३१९
जैन प्रतिमाओंमें सरस्वती, चक्रेश्वरी, पद्मावती और अम्बिका	डॉ० कादम्बरी शर्मा	३२२

ऊनके प्राचीन जैन मन्दिर	रामवल्लभ द्विवेदी	३२९
महोबाकी जैन प्रतिमायें	शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी	३३५
जैन वास्तु और मूर्तिकला	पं० भुजबली शास्त्री	३४१
राजस्थानकी पुरा-सम्पदाके खजाने		
प्राचीन जैन पाडुलिपियाँ	विजयशंकर श्रीवास्तव	३४५
पचराई और ूडरके महत्त्वपूर्ण जैनलेख	कु० ऊषा जैन	३४८
विदेशी संग्रहालयोंमें महत्त्वपूर्ण जैनप्रतिमाये	डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा	३५२
जैन वुड कार्विंग्स	व्ही० पी० द्विवेदी	३५७

खंड—५ : जैनदर्शनकी वैज्ञानिक परम्परा

रीयलिटी एण्ड फिजिक्स सम एस्पेक्ट्स	डी एस कोठारी	३६५
स्पेस टाइम एण्ड द यूनिवर्स	जी आर जैन	३७५
प्रोपर्टी आव मैटर इन जैन कैनन्स	एन एल जैन	३८८
पुद्गल षट्त्रिंशिका एक समीक्षात्मक अध्ययन	प्रेमलाल शर्मा, शक्तिधर	४००
जैन साहित्यमें सख्या तथा सकलनादिसूचक सकेत	डॉ० मुकुटबिहारीलाल अग्रवाल	४०२
ज्योतिष्करण्डक एक अध्ययन	डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर	४११
चिकित्सीय ज्योतिषके क्षेत्रमें जैन साहित्यका योगदान	डॉ० ज्ञानचन्द्र जैन	४१४
आचार्य महावीरकी रेखागणितीय उपपत्तियाँ	स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती	४१७
कन्सेप्ट आव मैटर इन अर्ली बुद्धिज्म	डॉ० अगराज चौधुरी	४२६
मेटल्स एण्ड एलायज ड्यूरिंग ठक्कर फेरू्ज टाइम	एन एल जैन	४३४
स्टडीज इन जैन ऐस्ट्रोनोमी पोस्टवेदाग प्री-सिद्धान्तिक इण्डियन ऐस्ट्रोनोमी	एस एस लिष्क एस. डी. शर्मा	४३९
ए क्रिटिसिज्म अपॉन मोडर्न वीउज ऑफ आवर	जी. सी जैन	४४६
जैनधर्मकी कुछ भूगोल-खगोली मान्यतायें और विज्ञान	स्वामी सत्यभक्त	४५१

खंड—६ : अनुसन्धानके वर्तमान क्षितिज

जैनशोध समस्या और समाधान	डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया	४५७
जैनविद्याओमे शोधके क्षितिज एक सर्वेक्षण रसायन और भौतिकी	डॉ० नन्दलाल जैन	४५९
जैनविद्याओंमें शोधके क्षितिज एक सर्वेक्षण जीव-विज्ञान	डॉ० कल्पना जैन	४६९
वैशाली शोध सस्थानमें शोधके क्षितिज	डॉ० लालचन्द्र जैन, शास्त्री	४७५
महाकवि असग और उनकी कृतियाँ	श्रीमती प्रतिभा जैन	४८१
गुर्जरकवि सोमेश्वरदेव एक परिचय	श्रीमती सरला त्रिपाठी	४८७
प्राकृत तथा अपभ्रंश शोधमे कार्यकी दिशाएँ	डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	४९१
जैन कन्सप्शन ऑव लोजिक सम कमेन्ट्स	प्रो० एम. पी. मराठे	४९८
जीव एण्ड अजीव	प्रो० एस एस. बार्लिंगे	५०४

खंड—७ : विदेशोंमें जैनविद्याएँ

जापानमें प्रचलित येनमत और जैनधर्म	पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री	५०९
जर्मनीमें जैनधर्मके कुछ अध्येता	डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	५११
विदेशोंमें प्राकृत और जैन विद्याओंका अध्ययन	डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन	५१६
जैन स्टडीज इन फ्रान्स	डॉ० कोले कैले	५२०
जैन कन्सेप्ट आव दि सेक्रेड	पद्मनाभ एस० जैनी	५२४
जैनीज्म एण्ड मोडर्न साइन्स ए कम्पेरेटिव स्टडी	डॉ० दुलीचन्द्र जैन	५३४
सम रिमार्क्स ऑन द प्रामाण्यवाद ऑव जैनीज्म	आत्सुशी यूनो	५४२
द टेल ऑव एलीफेन्ट ड्राइवर इन आवश्यक वर्जन	एडेलहीड मैटे	५४९
टू डिफीनीशन्स ऑव अहिंसा	डॉ० अन्टू टाहिटनेन	५६१
उत्तराध्ययन स्टडीज एन एडीशन एण्ड ट्रान्सलेशन आव फोर्थ अध्ययन विद ए मीट्रिकल एनेलिसिस एण्ड नोट्स	के० आर० नोर्मन	५६४
परिशिष्ट		
सजय पद	जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले और गुलाबचन्द्र सखाराम गाधी	५७३

●

आशीर्वाद, अभिवादन व संस्मरण

Blessings, Regards & Memoirs

■

आशीर्वचन

आचार्य समन्तभद्रजी महाराज, बाहुबली

पण्डित कैलाशचन्द्रजीको सद्बुद्धि, समाधिवृद्धि तथा स्वात्मोपलब्धि प्राप्त हो, ऐसा मंगल व शुभ आशीर्वाद। हम आपका सब तरह से कुशल चाहते हैं। आपकी जिनवाणी सेवा अपूर्व है। आप-जैसे यथार्थखोजी विरल हैं। आपकी सातिशय बुद्धिको मेरा आशीर्वाद। हम आपका परमकल्याण चाहते हैं।

●

पूज्य १०८ आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री शतायु हो। विद्वानोंका सम्मान प्राणिमात्र करें, ऐसी हमारी कामना है। मिथ्यात्वकी तुलनामें स्याद्वादवेत्ताका जगह-जगह सम्मान करना चाहिये। आपके प्रयत्नकी सफलताके लिये मेरा पूर्ण आशीर्वाद।

●

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

सम्मान शब्दो द्वारा नही होता। शब्दो से केवल प्रदर्शन ही होता है। तथापि आपके समान अच्छे कार्यके लिये मेरा आशीर्वाद।

●

डॉ० यशोदेवसूरिजी, पालीताणा

शास्त्रीजी जैसे विद्वान्‌का अभिनन्दन समुचित है। स्नातकोंके लिये यही गुरुदक्षिणा है। ग्रन्थसम्पादन तटस्थ दृष्टिसे एव सुचारु ढगसे होगा, ऐसी आशा है।

शास्त्रीजी ज्ञानकी खूब प्रभावना करते रहें। धर्मलाभ।

●

भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी, मूडबिद्री, कर्नाटक

बहुश्रुत मनीषी परमश्रुतसेवक विद्वद्वर्यका अभिनन्दन वस्तुत परम स्तुत्य कार्य है। यह कार्य वस्तुत बहुत पहले ही सम्पन्न हो जाना चाहिये था। मेरा इस कार्यमें पूर्ण सहयोग रहेगा।

●

महास्वामी भट्टारक लक्ष्मीसेनजी, कोल्हापुर, महाराष्ट्र

पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्रीकी सेवायें ध्यानमें रखकर आप ग्रन्थ निकाल रहे हैं। यह स्तुत्य है। इस कार्यके लिये हमारी शुभा ीर्वाद सहित शुभकामना है। सभी सहयोगियोके लिये आशीर्वाद इति भद्र भूयात।

अभीप्सा

युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनि श्री नथमलजी

पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री एक व्यक्ति भी हैं और एक महाग्रन्थ भी हैं। उनके व्यक्तित्वसे अनेक व्यक्तित्व निर्मित हुए हैं। उस महाग्रन्थमे अनेक लोगोंने तत्त्वबोध उपलब्ध किया है। ऐसे व्यक्तित्व का अभिनन्दन तत्त्वविद्याका अभिनन्दन है। इस प्रयत्नमें अभिनन्दन करनेवाले ही धन्यताका अनुभव करेंगे। यही सार्थकता है तत्त्वविद्याके अभिनन्दन की।

पण्डितजीको मैंने प्रत्यक्षत कई बार देखा है। किन्तु परोक्षत बहुत बार देखा है। उनकी गुण ग्राहकता और समीक्षा शैली द्वारा मेरा ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ था। आज भी उनके प्रति वह आकर्षण बना हुआ है। पण्डितजीने जैन शासनकी महत्त्वपूर्ण सेवाए की है। भविष्य भी उनकी सेवाओके प्रति अभीप्सावान् रहेगा।

●

मार्गदर्शन

डॉ० श्री कृष्णराज भंडारी, कुलपति, अ०प्र०मिं० विश्ववि०, रीवा

मुझे बडी प्रसन्नता है कि सिद्धान्ताचार्य पडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री अभिनन्दन समिति शास्त्रीजीके अभिनन्दन हेतु एक विशेष ग्रथ प्रकाशित कर रही है। इस प्रयासके लिए मैं सभी सयोजकोको बधाई देता हूँ और मेरी शुभकामना है कि यह प्रयास सफल हो।

इस ग्रथमें उनके व्यक्तित्व व कृतित्वपर तो लेख लिखे ही जा रहे है और उनके प्रिय विषयो, 'धर्म और दर्शन, इतिहास, सस्कृति और साहित्य', पुरातत्त्वके अतिरिक्त विज्ञानपर भी विशिष्ट सामग्री प्रकाशित की जा रही है। इसमे देश विदेश के विद्वानो व मनीषियोके जो लेख सम्मिलित किए जा रहे हैं, वे निस्सन्देह उपयोगी है। मैं आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ न केवल विद्वत् समाजके लिए वरन् जन-साधारणके लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा तथा शास्त्रीजी समाजको मार्गदर्शन करते रहेंगे।

●

जिनके कण्ठ बसी जिनवाणी,
आगम का है ज्ञान भरा।
अमृत-सी प्रियध्वनि बिखेरते,
शास्त्रों का है सार भरा॥

अभिनन्दन है पूज्य आपका
कोटि नमन स्वीकार करें।
महावीर पथ के अनुयायी बन,
हम पापो का क्षार करें॥

निर्मल आजाद, जबलपुर

कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्रः

कमलकुमारो जैन. गोइल्ल, कलकत्ता

१

यज्ज्ञानसिन्धोर्जलबिन्दवोऽत्र
सर्वत्रलोके प्रसरन्त्यजस्रम्
सोऽत्राभिवन्द्यो नितरा बुधेशै
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

२

निरन्तरज्ञानविवृद्धये य
कृतश्रमप्राप्तनिजात्मबोध
निरस्तचिन्त स्वपरार्थसाधक
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

३

सहस्रशिष्या प्रसरन्ति यस्य
सर्वत्र देशे नगरोपनगरे
ग्रामेषु गेहेषु वसन्ति नित्यम्
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

४

स्याद्वादविद्याविदितात्मरूप
न्यायात्तनानाविधवस्तुरूप
सिद्धान्तवेत्ता स्वपरार्थचित्त
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

५

स्वस्यायुषो येन सुबोधवारिधे
सवर्धने प्राप्तमहोपयोग.
साहित्यनिर्माणकृते निमग्न:
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

६

बुद्धिर्यदीया प्रतिभाति लोके
लोकातिगा वस्तुविवेचने वै
वक्तृत्वसाफल्यसमन्विता च
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

७

योऽहर्निश तत्त्वविमर्षणाय
विदत्तचित्त सुतरा सुबोध
शास्त्रेषु नानाविषयेषु दक्ष
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

८

शान्तस्वभावो विनयावनम्र
सारल्यमूर्तिर्निर्लुब्धवृत्ति
चारित्रनिष्ठो नितरां प्रतिष्ठ
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

९

यत्पाठसरणी हृदयावधार्या
व्याख्यानरीतिश्च मनोऽभिहार्या
न्यायार्हनीतिश्चनरैर्निधार्या
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

१०

सिद्धान्तशास्त्राणि बहूनि येन
भावार्थरूपेण कृतानि स॰यक्
तत्त्वार्थजिज्ञासुकृते हितानि
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

११

स्याद्वादसिद्धान्तसुबोधनाय
तत्राप्यनेकान्तमहोदयाय
यन्मानस सत्यविबोधनेऽस्ति
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

१२

बुद्धिर्यदीया प्रतिभाति लोके
सर्वत्र सार्थेविषयेऽनुभूते
वाण्या पटुत्व प्रतिवस्तुगामि
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

१३

मनीषिमान्य प्रवरै प्रमाण्य
धन्यो हि विज्ञानधनै प्रधन्य
नान्योऽस्ति यत्त सुकृता वदान्य
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

१४

दिगम्बरे जैनकुले सुजात
यो जातितोऽभून्ननु चाग्रवाल
प्रशान्तमूर्ति सरलस्वभाव
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

१५

चरित्रनिष्ठो ह्यमितप्रतिष्ठ
सज्ज्ञानलाभे विहितप्रयत्न
कृतादरो भव्यजनोपदेशे
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

१६

विद्योपजीवी सुतरान्त्वमेव
करोषि शास्त्राध्ययन सदैव
तं नम्यते प्रेमभरेण मूर्ध्ना
कैलाशचन्द्रो जयतात्सुधीन्द्र

अन्तिमशुभाभिसन्धि.

१७

कैलाशचन्द्रस्य यथार्थरूपा
प्रमोदभावेन निरूपिता च
भूयात्प्रशस्ति प्रशमाय चैषा
बुधप्रियाणा वरमानवानाम्

१८

भूयात्सदैषा शुभमार्गदृष्टि
कृतिर्जनाना हितमुत्सुकानाम्
करोतु कृत्य सुखसाधनार्थम्
निर्बाधरूपेण सदाशया वै

●

भौतिक काया पर ओढ़ी चादर में रंच न झोल

कल्याणकुमार जैन 'शशि', रामपुर, उ० प्र०

१

आत्मोन्नति पथ का प्रतिपादन, आगम-सम्मत ध्येय
जीवन की यात्रा के साथी अपरिग्रह अस्तेय
मूल्यो का आरक्षण, जिनके जीवन का पाथेय
ऐसे पण्डित आज कहा हैं, निर्विवाद श्रद्धेय
मुक्त हस्त से वितरित है, विद्वत्ता का औदार्य,
पण्डितवर कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य ।।

२

वाणी में थिरतो जिनवाणी, करती है कल्लोल
धार्मिक सामाजिक सेवायें, एकत्रित अनमोल,
भौतिक काया पर ओढ़ी चादर में रंच न झोल
उतरी ठीक धर्म-कांटे पर तत्परता की तौल
युगो युगो तक शोधाश्रित हैं, मूल्याकन के कार्य
पण्डितवर कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य ।।

३

अनेकान्त की सरिताओं का कलकल मधुर निनाद,
बोध-विवर्द्धित क्षमताओ का सचिन्त पुण्य प्रसाद
गर्हित तर्काश्रित विवाद की रुचियों का अपवाद
जो चरित्र को मूर्ति रूप दें, इतनी कुशल स्वराद
विद्या वाणी, धर्मशास्त्र प्रतिपादन में प्राचार्य
पण्डितवर कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य ।।

४

शूल भरे शिक्षा के पथ में जीवन हुआ व्यतीत
जुड़ा चला उज्ज्वल भविष्य से, भागा हुआ अतीत
विजयकेतु है, स्याद्वाद-विद्यालय परम पुनीत
विद्यमान हैं विद्याधारी, उपकृत गणनातीत
वृद्धावस्था में भी जीवन पूर्णतया अनिवार्य
पण्डितवर कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य ।।

●

सद्‌भावना

पद्मश्री सुमतिबाई शहा, शोलापुर

पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री जीको हमारी शुभकामना। उनसे हमारा बहुत दिनोंसे गहरा सम्बन्ध है। आपने कई वर्षों से जैन विद्वानो की वर्तमान पीढ़ीका निर्माण किया। वे जैन आगम साहित्यके सम्पादन एवं निर्माण कार्यमें सलग्न रहे हैं तथा जैन विद्याओंके नये विद्वानोको जागरणका सदेश दे रहे है। आपको दीर्घायु प्राप्त होवे, यही सद्‌भावना है।

वन्दन, शत अभिनन्दन

हजारीलाल काका, सकरार, झांसी

जिनके स्वागत को उत्सुक नर लेकर रोली चन्दन,
पण्डित श्री कैलाशचन्द का वन्दन, शत अभिनन्दन

× ×

जो भी लिखा अकाट्य, आपकी चली लेखनी निर्भय
मनमें सेवा भाव, भावना में बसता सर्वोदय,
तभी देशहित किया आपने, सत्साहित्य समर्पण,
पण्डित श्री कैलाशचन्द का, वन्दन, शत अभिनन्दन

× ×

जैन जाति की सेवामें, जीवन सम्पूर्ण बिताया
ज्ञान दान दे कई, पण्डितों का निर्माण कराया,
इसीलिये पण्डित समूह भी करता इनका वन्दन,
पण्डितश्री कैलाशचन्द का वन्दन, शत अभिनन्दन

× ×

जब तक चमक रहे हैं नभमें, सूरज चाँद सितारे,
हरी भरी धरती के जब तक सागर पाँव पसारे,
तब तक चमके कीर्ति आपकी, कहता है कवि का मन,
पण्डित श्री कैलाशचन्द का, वन्दन, शत अभिनन्दन ॥



सन्त सरस्वतीपुत्र

ब्र० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कुण्डलपुर

पण्डित कैलाशचन्द्रजीका नाम आज जैन समाजके बच्चे-बच्चेकी जबान पर है। सभी उनसे परिचित हैं भारतके कोने-कोनेमें उन्होने धर्मप्रचार किया है। सैकडों प्रतिष्ठाओं, समाजों, सोसाइटियों, धर्मप्रचार सस्थाधिवेशनों व यूनिवर्सिटियो तथा सेमिनारोमे उनके भाषण हुए। दशलाक्षणिक महापर्व, महावीर जयन्ती, अष्टान्हिक महापर्व, ऋषभ जयन्ती आदि उत्सवोपर भी अनेक स्थानोमें उनके गम्भीर ओजस्वी भाषण हुए हैं। उनके भाषणकी लोकप्रियताका यही प्रमाण है कि उनकी सभामें लोग शातिपूर्वक मौनसे सुनते हैं। वे अनेको महनीय ग्रन्थोके अनुवादक तथा अनेकोकी भूमिकाओके लेखक है। जैन सन्देशके सम्पादक आप वर्षों से है, अन्य दिगम्बर, श्वेताम्बर पत्रिकाओमे उनसे विविध विषयो पर सामयिक उद्बोधक लेखोंने भी उनकी प्रतिष्ठा में बहुत बडा योगदान किया है।

वे एक समाजशास्त्री, समाजकी नाडी पहिचाननेवाले, निर्भीक लेखक तथा वक्ता हैं। वर्तमान सामाजिक विवादके बीच वे निष्पक्ष लेखनी द्वारा यथार्थ मार्गका दर्शन समाजको कराते हैं। वर्तमानके विचारजन्य सघर्ष मे उनके लेख मार्गदर्शक होते है। विस्तृत समुद्रकी विशाल जलराशिके अन्धकारमें प्रकाश-स्तम्भकी तरह वे दिशा बाँध देते है। उनका विरोध करनेवाले कुछ विद्वज्जन भी हैं, तथापि वे उनके द्वारा फैलाये गये अपने मिथ्या अपवादोकी चिन्ता न कर मार्गमें अविचलित रहकर अपनी आगम श्रद्धाका व आगम ज्ञानका परिचय सदा अपनी लेखनी द्वारा देते रहते है। उनको इस निष्पक्ष लेखनीके कारण अकारण ही कुछ विरोधी विद्वानोने उनपर सोनगढ द्वारा सहायता प्राप्त करनेके मिथ्या आक्षेप किये, और ऐसा कर उन्होंने अपनी निम्न मनोवृत्तिका परिचय दिया। मेरा छात्रकालसे ही पडितजीसे सहयोग तथा परिचय है। अत मैं जानता हूँ कि वे सोनगढकी यथार्थ बातोके समर्थक है तथा गलत बातोंके आलोचक भी है। आज तक सोनगढ तो क्या, समाजके किसी नगरसे उन्होंने भेंट भी नही ली, जो लिया वह काशी विद्यालय के लिये ही लिया जो कि विद्यालयमें जमा है।

स्याद्वाद जैन महाविद्यालयकी ५० वर्ष उन्होनें सेवा की तथा सहस्रो विद्वान् तैयार किए। प्रकारान्तर-से इस ५० वर्षके युगमें उत्पन्न काशीके श्रेष्ठतम विद्वान् उनकी सेवाके फल हैं।

भा०दि० जैनसघ मथुराका जीवनकाल तो उनकी सेवासे भरा है। जैन सदेशका समस्त जीवन उनकी दिव्यदृष्टिसे खडा है। वर्णी ग्रन्थमालाके वे आदिसे कर्मठ सदस्य हैं तथा उससे प्रकाशित अनेक ग्रन्थोके लेखक व सम्पादक है। जयधवलाके सफल टीकाकार है जो अनेक भागो तक चली है। 'जैन धर्म' उनकी अनुपम कृति है जो जैन-जैनेतरोंको जैनधर्मका परिज्ञान करानेमें सक्षम है।

आज ३०-३५ वर्षसे इनकी पत्नी मस्तिष्ककी एक खराबीसे रुग्ण हैं। अपने पुत्रके पास राँची रहती है। पण्डितजी ब्रह्मचर्यपूर्वक अपना जीवन सरस्वती माँकी सेवामें लगाये हुए हैं। स्याद्वाद विद्यालयके छात्रावासमें ही वे अपना भोजन खर्च नियमित चुकाकर छात्रोंके भोजनके बाद बचा हुआ भोजन करते हैं। बाजारका कुछ खाते नहीं। ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन और अस्वादव्रत इनके इतने उत्कृष्ट हैं कि इन्हें गृहवासी सन्त कहा जा सकता है। अपने इस नीरस जीवनको इन्होने कभी नीरस नही माना, सरस ही बनाए रक्खा। सरस्वती सेवाका रसास्वाद ही इनका उत्कृष्ट भोजन रहा है। वे ज्ञान सरोवर में ही सदा रमण करते हैं।

उनके ऐसे उत्कृष्ट जीवनके प्रति मेरी आस्था है। मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ तथा उनके दीर्घ जीवनकी कामना करता हूँ।

सहपाठी के प्रति

विद्याभूषण के० भुजबली शास्त्री

श्री शास्त्रीजी मेरे सहपाठी है। हम दोनो मोरेनामे साथ-साथ पढ़े थे। सिद्धान्ताचार्य उपाधि भी आरामें विहारके राज्यपालके हस्तसे एक साथ मिली थी। आपसमें हम लोगो में अच्छी मित्रता भी है। शास्त्रीजीकी बहुमूल्य तीन कृतियोका मैंने कन्नड भाषामें अनुवाद भी किया। शास्त्रीजी अनेक विषयोंके अधिकारी विद्वान् हैं। शास्त्रीजी अनेक अमूल्य ग्रन्थोके लेखक, अनुवादक एव सम्पादक है। खासकर जैन समाज शास्त्रीजीको कभी नही भूल सकता। आपकी सेवा बहुमूल्य है। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि शास्त्रीजी शतायु होकर इतोप्यधिक धर्म, साहित्य और समाजकी सेवा कर अपने जन्मको सार्थक एव पवित्र बनावें।

भैया कैलाशचन्द्र

भाई श्री हरिश्चन्द्र, जबलपुर

प्रथम विश्वयुद्धके वर्ष १९१४ में मेरे पिताजी श्री सि० लक्ष्मीचन्द्रजीने मुझे स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी, वाराणसीमें अध्ययन हेतु प्रविष्ट कराया। उस समय विद्यालयमें ७७ विद्यार्थी थे। वहाँ धर्म, न्याय, साहित्य, व्याकरण तथा अंग्रेजीका अध्यापन होता था और पण्डित उमरावसिंहजी (बाद में ब्र० ज्ञानानन्दजी) हमारे प्रधानाध्यापक थे।

मेरे साथ भाई कैलाशचन्द्रजी, नहटौर, प० राजेन्द्र कुमारजी, कामगज तथा अन्य बारह विद्यार्थी प्रथमामें पढते थे। मुझे प० सुब्रह्मण्य शास्त्री, प० अबादत्त शास्त्री (न्याय), प० धुन्दराज शास्त्री (साहित्य) तथा प० उमरावसिंहजी (धर्म) पढ़ाते थे। उस समय बाबू सुमतिलालजी मन्त्री तथा पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी अधिष्ठाता थे। इन सभीका मेरे ऊपर विशेष स्नेह था। वे हम सभी का पितृवत् पालन करते थे। हम सभी साथियोंमें भाई कैलाशचन्द्रजीकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी। यही कारण है कि वे १९१९ में प्रथमा परीक्षामें प्रथमश्रेणीमें उत्तीर्ण हुए थे। उस समय मेरे साथ पढनेवालोंमें प० चैनसुखदासजी (जयपुर), जीवन्धरजी न्यायतीर्थ तथा मुन्नालाल राघेलीय, सागर भी थे।

१९१९ के बाद मैं मुरैनाके विद्यालयमें चला आया लेकिन मेरा और कैलाशचन्द्र जी का भ्रातृभाव अबतक भी सहोदर जैसा बना हुआ है। आज भी, जब कभी वे बम्बई, भोपाल या दक्षिणकी ओर जाते हैं, तो कुछ समयके लिए जबलपुर अवश्य ठहरते हैं। उस समय हम तत्त्वज्ञानकी चर्चा करते हैं।

इस वय-बोझिल तनसे आज भी वे अपने अध्ययन, लेखन एवं शोधकार्य में लगे हुए हैं। वे समाजसे स्वय कोई पारिश्रमिक ग्रहण नही करते। यह उनकी ज्ञानके प्रति सच्ची निष्ठा, समाजके प्रति उदारतापूर्ण कर्त्तव्यभावनाका प्रतीक है। अपने जीवनकालमें उन्होने अनेक धर्मग्रन्थोंका सम्पादन, मौलिक ग्रन्थोंका लेखन एव शोध कार्य किया है। उनके लेखनकी विशेषता यह है कि वे मूल ग्रन्थकी मौलिकता अक्षुण्ण रखते हैं। लेखनके साथ आपने अनेक सस्थाओंको जन्म दिया है। इन्हें वे आज भी पुष्पित एव पल्लवित कर रहे है।

कैलाशचन्द्र जी की वाणीमें प्रखरता तथा माधुर्यका मिश्रण है। उनकी पाण्डित्य शैली सहज बोधग य होती है। उनका ज्ञान अगाध है। जबलपुर नगरीमें ही आज ३२ विद्वान् उनके शिष्य हैं जो विभिन्न क्षेत्रोमें अपने साथ आपकी यशोगाथा भी प्रद्योतित कर रहे हैं।

प० कैलाशचन्द्रजीकी आत्मीयता मुझे सदैव याद आती है। यद्यपि हमारा और उनका कार्यक्षेत्र प्रारम्भसे ही पृथक्-पृथक् रहा है, फिर भी वह आज तक बनी हुई है। एक बार १९४८ में मुझे सग्रहणी हो गया और मैं चिकित्साहेतु वाराणसी गया। उस समय आपने मुझे अपने घर पर ही ठहराया और पूर्ण स्वस्थ होने तक आपके परिवारने मेरी सभी प्रकारसे सेवा की। वह आज भी स्मरणमें आती है। ऐसी आत्मीयता आज तो दुर्लभ ही है।

ज्ञान गगाका यह भगीरथ चिरायु हो, यही मेरा जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है। ●

भूली-बिसरी यादें

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, बम्बई

"जगदीश चन्द्र जी", यह आवाज सुनकर मैंने घूमकर देखा, तो श्वेत गाधी टोपीमें धोती-कुर्ता पहने पण्डितजी बैठे हुए दिखाई दिये। मैंने कहा, 'पण्डित जी आप ?'

"हाँ, घर लौट कर आने पर दरवाजे पर लगा हुआ आपका नोट देखा, तो पूछता-पूछता मैं कृष्णचन्द्र बेरी जी की दुकान पर पहुँचा और उन्होने अपनी गाडी में मुझे यहाँ भेज दिया।"

"आपको बडा कष्ट हुआ, पण्डित जी ?"

"आप मेरी अनुपस्थितिमे मेरे घर गये और घर पर मिल न सका। आपसे बिना मिले रह जाता, तो आपको कष्ट होता। कष्ट तो किसीको होना ही था।"

मैंने अपने गाँवके निवासी अपने भतीजे गुणभूषण जैन से, जो उत्तर पूर्वी रेलवेमें इन्जीनियर हैं और जिनके घर हम लोग ठहरे हुए थे, पण्डित जी का परिचय कराया।

काशी एक्सप्रेसके छूटनेका समय हो रहा था। हम लोग गाडीमें सवार होकर स्टेशनके लिये चल दिये। रास्तेमें मेरी पत्नीने पण्डित जी की लडकीके बारेमें पूछा जो बहुत दिन पहले बम्बई आई थी। उन्होने कहा, "अब तो बडी हो गई है, उसकी शादी भी हो गई।"

उस समयकी एक घटना मुझे याद आ गई। उस दिनो मेरी पत्नी की अस्वस्थताके कारण हम लोगोंने भोजन बनानेके लिये एक गुजराती रसोइयाँ रक्खा था। पण्डित जी सपरिवार हमारे घर ठहरे हुए थे। उनकी छोटी बच्चीको पीनेके लिये दूध दिया गया। पण्डित जी ने रसोइयेसे दूधमें मीठा डाल देनेको कहा।

वह हैरान हुआ कि उसे दूधमें मीठा (गुजरातीमें मीठा यानी नमक) डालनेको क्यो कहा जा रहा है। पहले तो वह चुप रहा, लेकिन आग्रह किये जाने पर उसने एक चम्मच भरकर दूधमें मीठा डाल दिया। बच्चीने दूध पीनेसे इन्कार कर दिया। दूध न पीनेकी जिद देख कर उसकी माँ को बहुत बुरा लगा। उन्होने अपनी बच्चीको बहुत डराया-धमकाया, लेकिन कोई असर न हुआ।

मामला सगीन होता ही जा रहा था। हम लोग बीच-बचाव करने चले। रसोइये से पूछा गया। उसने जवाब दिया, "साहब, इन्होने दूधमें मीठा डालनेको कहा था, सो मैंने डाल दिया।" यह घटना सुनकर पण्डित जीके चेहरे पर हर्षकी रेखा फूट पडी और आनन्दकी एक हँसी चारो ओर बिखरती हुई दिखाई दी।

एक दूसरा प्रसग याद आ गया। दिवालीका दिन था। पण्डित जी तथा स्याद्वाद विद्यालयके विद्यार्थी भदैनीके छेदीलाल मदिरमे उपस्थित थे। भगवान्की प्रतिमाका अभिषेक सम्पन्न होनेके पश्चात् पूजाकी सामग्री थालमें सजायी जा चुकी थी, पूजा पढी जा रही थी। इस बीच देखा कि पण्डित जीका लडका सुपार्श्व वहाँसे गायब है। इधर-उधर खोज की जाने लगी। देखा, तो वे एक कोनेमें बैठे आरामसे लड्डूका स्वाद ले रहे हैं। "कहिये, इसे लड्डूका सदुपयोग कहा जाये या दुरुपयोग।"

इस प्रसग को याद कर हम लोग खूब हँसे।

× × ×

मेरे जेष्ठ भ्राता की इच्छा थी कि मैं सस्कृत पढकर समाजकी कुछ सेवा करूँ। उन्हे पता लगा कि मोरेनामें पण्डित गोपालदास जी बरैयाकी कोई पाठशाला है जहाँ विद्यार्थियोको नि शुल्क शिक्षा आदि देनेकी व्यवस्था है। मुझे साथ लेकर वे मोरेना पहुँचे और यद्यपि वार्षिक परीक्षाके दिन नजदीक थे, फिर भी पण्डित देवकीनन्दन जी शास्त्रीकी परम अनुकम्पासे मुझे प्रवेश मिल गया।

यहाँ कैलाशचन्द्र जीसे मेरा दूरका प्रथम परिचय हुआ। वे बडी कक्षाके विद्यार्थी थे और मैं ठहरा एक साधारण-सा विद्यार्थी। जो अभी-अभी जैन सिद्धान्त पाठशालामे भरती हुआ था। ऐसी हालतमे अपनी सीमाओको लाघकर उनके परिचयमे आनेकी कल्पना भी मैं नही कर सकता था।

यहाँ जो कैलाशचन्द्रजी और जगन्मोहनलालजीका निकटका सम्बन्ध देखनेमे आया, वह अन्यत्र दुर्लभ ही होगा। और विशेषता यह है कि यह सम्बन्ध दोनोमे अभी तक सुरक्षित है। दोनो ऊँची कक्षाके प्रमुख विद्यार्थी थे। वे न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्रजी से अष्टसहस्री, सिद्धाताचार्य पण्डित वशीधरजीसे तत्त्वार्थ-वार्तिक पढते थे। दोनो पाठशालाके जेष्ठ विद्यार्थियोके साथ एक बडे हालमें साथ साथ रहते थे। दोनो एक साथ जगलमें शौच जाते, साथ स्नान करते और साथ ही मन्दिरमें दर्शनार्थ जाते, शामको एक साथ टहलने जाते और गावसे एक लोटेमे दूध लेकर लौटते। इन दोनोकी मित्रतासे सचमुच मैं प्रभावित हुआ जान पडा। सम्भवत कैलाशचन्द्र जीके प्रति मेरे अज्ञात मनमें इसलिये भी रागभाव रहा हो कि वे मेरे जैसे पश्चिमी उत्तर प्रदेशके अग्रवाल वशमें जन्मे थे।

एक बार मैं नजीबाबाद (जिला बिजनौर) में अपने मामाके घर गरमियोकी छुट्टियाँ बिता रहा था। एक दिन मामाके किसी मित्रकी दुकान पर बैठा हुआ था। इतनेमें देखता क्या हूँ कि कैलाशचन्द्र और जगन्मोहनलाल घोडे के ताँगेमें बैठे हुए उस दुकानके सामने आकर रुके। मैं समझ गया कि अवश्य ही कैलाशचन्द्र जीने अपने मित्रको जन्मस्थान नहटौर आनेका निमत्रण दिया होगा। लेकिन क्या आप समझते है कि तपाकसे उठकर मैंने उनका स्वागत किया, या यह कहनेकी हिम्मत की कि देखिये मैं भी यहीका रहने वाला हूँ। नही, मुझ जैसा एक छोटा सा अल्पज्ञ विद्यार्थी अपनेसे बडे विद्यार्थियोसे बातचीत करनेकी हिमाकत कैसे कर सकता था? यद्यपि कहनेकी आवश्यकता नही कि यह प्रश्न आज भी मेरे मनमें कम तूफान पैदा नही करता

कि आखिर उनके सामने मेरा मुह क्यों नही खुला ? बोलना नहीं था, तो कमसे कम सामने आकर अभिवादन तो किया जा सकता था ।

राजेन्द्रकुमार, मथुरादास, बनवारीलाल आदि और भी अनेक विद्यार्थी जैनसिद्धांत पाठशालामें पढ़ते थे । परवार जातिके छात्रोंकी सख्या अधिक थी । दक्षिणी विद्यार्थियोमें के० भुजबली जीका नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होने आरामें रहकर शोधकार्य किया है और आजकल मूडबिद्रीमें रिटायर्ड जीवन बिता रहे हैं । दक्षिणवासी शाकाहाल उन दिनो पाठशालाके सुपरिन्टेन्डेन्ट पद पर कार्य करते थे । एक दिन वे अध्ययन कक्षमें किसीसे बातचीत कर रहे थे कि इतनेमें मैं वहां पहुँच गया । उन्होने मेरी भर्त्सना करते हुए वहांसे तुरन्त चले जानेका आदेश दिया । मैंने जानेसे इकार कर दिया । बस, इतनेमें वे अपने कमरेमें से उठकर अपनी बेंत लाये और मुझे ऐसे जोरसे लगाई कि मेरे सिरमेंसे खूनकी धारा बह निकली । अस्पतालमें जाकर टाँके लगवाने पडे ।

हस्तिनापुरके जैन गुरुकुलकी भाँति मोरेना की जैन सिद्धान्त पाठशाला की स्थिति भी दिनोदिन बिगडती गई । पण्डित माणिकचन्द्रजी, पण्डित देवकीनन्दनजी, और आगे चलकर पण्डित बशीधरजी भी सस्था छोडकर चले गये और बरैयाजी द्वारा अत्यन्त लगनके साथ स्थापित की हुई यह सस्था अनाथ हो गई ।

× × ×

अब काशीका स्याद्वाद विद्यालय ही ऐसा बचा था जहाँ नि शुल्क शिक्षा प्राप्त कर उच्च विद्याध्ययन किया जा सकता था । लेकिन काशी मेरे घरसे दूर जगह थी । काशीके बारेमे बहुत-सी बाते सुन रक्खी थी, वहाँके पण्डे बहुत हैरान करते हैं, वहांकी गलियाँ बहुत टेढी-मेढी है कि एक बार प्रवेश करने पर आदमीका पता ही नही चलता कि किधर गया । और वहाँ जादूगर रहते है जो इन्सानको तोता बनाकर छोड देते हैं । गाँवके रहनेवाले १६-१७ वर्षके एक अबोध बालकके मनपर इस प्रकारकी बातोका असर होना स्वाभाविक था । फिर सबसे बडी समस्या थी कि इतने बडे विद्यालयमे बिना सिफारिशके प्रवेश कैसे पाया जाये ?

ऐसे मौकों पर मेरे जेष्ठ भ्राताने अपनी आशुबुद्धि और कर्मठताका परिचय देकर हमेशा मुझे आगे बढाया है । सहारनपुरके लालाओसे उनका परिचय था । मुझे लेकर वे सहारनपुर पहुँचे । पता लगा कि स्याद्वाद विद्यालयके अधिष्ठाता बाबू सुमतिलाल जी उन दिनो लाला जम्बूप्रसाद जी की कोठीमें रहते थे । जम्बूप्रसादजी बडे उदार-मना धार्मिक विचारोके व्यक्ति थे जो यथाशक्ति किसीको अपने दरवाजेसे निराश नही जाने देते थे । भाई साहबने विनम्रभावसे मेरे प्रवेश पानेकी समस्या उनके समक्ष प्रस्तुत की । उन्होने फौरन ही बाबू सुमतिलालजीको बुलाकर उनसे मुझे एक पत्र स्याद्वाद विद्यालयके सुपरिण्टेन्डेन्टके नाम भिजवा दिया और बिना फार्म आदि भरे मेरा प्रवेश पक्का हो गया ।

काशी अनन्त सम्भावनाओ का द्वार सिद्ध हुआ । विद्यालयमे सटकर बहनेवाली गगा बडी प्रेरणा-दायक सिद्ध हुई । विद्यालयके एक जेठे विद्यार्थीको पावभर अगूरोकी दक्षिणा देकर मैंने उसे अपना गुरु बनाया और गुरुजीने मुझे बहुत जल्दी तैरना सिखा दिया । गर्मीके दिनोमे घडीकी सुईकी ओर नजर रहती और चारकी टनटन होते ही अपना लगोट उठाकर गगा किनारे पहुँच जाते । विद्यार्थियोके लिए यहाँ कितने सदावरत खुले थे जहाँ मुफ्तमें भरपेट भोजन कर विद्याभ्यास करनेकी सुविधा थी । एक धोती और शरीरके ऊपरी हिस्सेको ढँकनेके लिए एक बनारसी अगोछा—यही उनका परिधान था । विद्यार्थी धाराप्रवाह सस्कृत में बातचीत करते और अवकाशके दिनोमे दुर्गाकुण्ड आदि स्थानोपर होनेवाले शास्त्रार्थोमें जूझते दिखाई पडते । कहनेकी आवश्यकता नही कि इन सब अभिनव परिस्थितियोने मुझे पर्याप्तरूपसे अभिभूत किया ।

नगरके संस्कृत विद्यालयोंमें स्याद्वाद विद्यालय अपना एक स्थान रखता था। यहाँ काशीके सुप्रसिद्ध और नैयायिक पण्डित अम्बादासजी शास्त्री, न्याय और साहित्याचार्य पण्डित मुकुन्दजी शास्त्री काव्य और साहित्यका अध्यापन करते थे। पण्डित हीरालालजी शास्त्री और बादमें पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री धर्माध्यापकके पदपर प्रतिष्ठित थे।

कुछ समय बाद पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकी धर्माध्यापकके पदपर नियुक्ति हुई। मेरे हर्षका ठिकाना न था। जो व्यक्ति मोरेनामें मेरे साथ उच्च कक्षाका एक विद्यार्थी रह चुका है और जिसे मैं अपने अन्तर्मनमें आदर्शरूप मानकर चलता आया था, वह मेरा धर्मदीक्षक होगा, यह विचार कुछ कम कौतूहल-जनक न था।

पण्डित कैलाशचन्द्रजीसे मुझे गोम्मटसार, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रन्थोंके अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने पाया कि वे अपने विषयके प्रकाण्ड पण्डित है, अध्यापन निर्बाधगतिसे आगे बढता जाता है। अध्यापन भी एक कला है। और यह निःसकोच कहा जा सकता है कि अध्यापनकी कलामें वे श्रोताको प्रभावित किये बिना नही छोडते। अध्यापक होनेके साथ सहृदयता भी उनमें कूट-कूट भरी है। वस्तुत सहृदय व्यक्ति ही एक सफल अध्यापक बनने योग्य होता है।

धीरे-धीरे मैं सस्कृत विद्यासे अग्रेजी विद्याकी ओर उन्मुख होता गया। मैट्रिक पास करके बनारस विश्वविद्यालयमे फर्स्ट इयर साइसमे नाम लिखा लिया। धीरे-धीरे वहाके होस्टलमे रहने लगा। यद्यपि पण्डित कैलाशचन्द्रजीका सम्पर्क कम हो गया था, फिर भी उनसे प्राप्त होनेवाली प्रेरणामें कमी न आई। जब कभी कालेजकी फीस भरनेके लिए अथवा होस्टलमे भोजनका खर्चा चुकानेके लिए पैसेकी जरूरत होती, तो पण्डितजी मुट्ठी बाँधे खडे दिखाई देते। सोचता हूँ यदि इस उदारमना व्यक्तिकी छत्रछाया मुझपर न होती, तो क्या मैं विश्वविद्यालय की अपनी पढाई कर पाता।

× × ×

१९३२ में बनारस छोडनेके बाद पण्डितजी का सम्पर्क और घटा, फिर भी बीच-बीचमें उनके स्नेह और ममताके पत्र तो मिलते ही रहे। कितने ही अवसर ऐसे आते, जब वे अग्रेजी पत्रिकाओमें प्रकाशित शोध सम्बन्धी लेख मेरे पास भेजकर अपने उपयोगके लिए, उनका अग्रेजीमें भाषान्तर कराते। इस श्रमका पारिश्रमिक भिजवानेमें वे कभी न चूकते।

मेरे बम्बई चले आने पर तो पत्राचार भी शिथिल पड गया। बीच-बीचमें कभी मेरा बनारस आना होता या उनका बम्बई आना होता, तो दर्शन-स्पर्शन हो जाता। लेकिन क्या कभी इतनी बडी भूख एकाध ग्राससे शान्त हो सकती थी?

पिछले दिनो, जर्मनीसे लौटने पर गयामें होनेवाली एक जैन सगोष्ठीमें पण्डितजी भी सम्मिलित हुए थे और मैं भी। वर्षोंके अन्तरालके बाद उनसे मिलकर बडा हर्ष हुआ। वही सादा लिबास, वही चाल ढाल, बोलचाल और मुस्कराता हुआ खिला चेहरा। मैंने कहा, 'पण्डितजी आप तो तीस वर्षीय युवक जान पडते हैं। थोडा भी परिवर्तन आपमें मालूम नही होता। ऐसी कौन-सी सदाबहार बूटीका आप सेवन करते है, कुछ हमें भी तो बताइये।' यह सुनकर पण्डितजीके मुँहसे एक स्वाभाविक हँसी छूट पडी।

जब-जब पण्डित कैलाशचन्द्रजीसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनके अलौकिक व्यक्तित्वसे मैं प्रभावित हुआ हूँ। पण्डित होकर भी स्वाभिमानका जीवन उन्होंने जिया है जिससे कभी दूसरोंकी दया पर जीनेका अवसर उन्होंने नही आने दिया। ७७ वर्षकी अवस्थामें पदार्पण करने पर भी वे एक सुकुमार

राजकुमार जैसे प्रतीत होते हैं। सक्रियता एव उत्साहसे भरपूर। राँचीमें हर प्रकारकी सुख-सुविधा होनेपर भी वे अपने सुपुत्रके साथ इसलिए रहना पसन्द नहीं करते थे कि गगाजलसे पूत काशी नगरीकी प्रेरणा-दायक सक्रियता वहाँ नही है। इस योगी पुरुषने भदैनी घाटपर आसन जमाकर जो बरसों तक धूनी रमाई है, उससे विलग कैसे हुआ जा सकता है?

हमारा सौभाग्य है कि ऐसी निस्पृह आत्मा हमारे बीच मौजूद है। हम उनके शान्तिपूर्ण दीर्घ जीवन की कामना करते हैं। उनके चरणोमें विनम्र शतश प्रणाम।

●

गवेषक पंडितजी

डॉ० प्रभाकर नारायण कवठेकर, कुलपति, उज्जैन वि० वि०

भारतीय साहित्य और सस्कृतिके क्षेत्रमें अनेक विद्वानोंने अपने शोधपूर्ण लेखों तथा ग्रन्थोंके द्वारा महती सेवा की। उनमें वाराणसीके पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका नाम उल्लेखनीय है।

प्रारंभिक दिनो में भारत विद्याकी किसी भी शाखामें कार्य करते समय सस्कृतिके कतिपय ग्रन्थोंका ही आधार दिया जाता था किन्तु बादमें यह परिस्थिति नही रही। भारत विद्याका क्षेत्र दिनोदिन व्यापक होता गया। एक ओर जहाँ बौद्ध साहित्यका विश्लेषण होने लगा, वही दूसरी ओर जैन आगम ग्रन्थो तथा विभिन्न प्रकारके साहित्य पर गवेषणा होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन साहित्यका भी अध्ययन व्यापक दृष्टिसे विद्वानो द्वारा होने लगा।

मेरी मान्यता है कि जैन साहित्यमें आज भी शोधकार्यके लिए प्रचुर सामग्री है। साहित्यकी विभिन्न विधाओमें जैन साहित्यकारोका अपना योगदान रहा है। साहित्यको ही लीजिए, मैं समझता हूँ कि धार्मिक कथाओके साथ-साथ लौकिक कथाओका भी उपयोग जैन साहित्यमें दिखाई देता है। जैन साहित्य लोक साहित्यसे जुडा हुआ रहा है। लोक साहित्यकी मार्मिकता जैन साहित्यके अन्तर्गत समाविष्ट कथाओमें मिलती है।

मैं समझता हूँ कि पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री जैसे विद्वानोका इस दिशामे किया हुआ कार्य महत्त्वपूर्ण है। मैं भगवान् महावीरसे प्रार्थना करता हूँ कि वह पण्डितजीको दीर्घायु प्रदान करें।

●

व्यक्ति नहीं, संस्था

डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, भोपाल

प० कैलाशचन्द्र शास्त्री व्यक्ति नही, सस्था हैं। वे प्राचीन भारतीय परम्पराके कुलगुरु हैं। उन्होने दो पीढ़ियोंका प्रत्यक्ष निर्माण किया है और अनेक भावी पीढियोके नैतिक एव आत्मिक स्तरको ऊँचा उठानेके लिये विपुल साहित्यकी सृष्टि कर नि सगभावसे उसे समाजको सौंप दिया है। इस पद्धतिके आचार्य अब विरल होते जा रहे है। ऐसे बहुश्रुत, बहुश तप पूत मनीषियोंका जितना अभिनन्दन होगा, समाज उतना ही ऊपर उठता जायगा। मैं पण्डितजीके शताधिक जीवनकी कामना करता हूँ।

●

धर्मनिष्ठ पण्डितजी

दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद

प० कैलाशचन्द्रजीसे मेरा परिचय दीर्घकालीन है। इस लम्बे कालमे मेरा आदर उनके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है। मैं उनके सौजन्यका यही लक्षण मानता हूँ। मतभेद होते हुए भी हमारे बीच कभी मनोभेद नही हुआ।

सादा जीवन, नियमित जीवन, कर्तव्यपरायण जीवन, जीवनकी एकरूपता देखना हो, तो प० कैलाशचन्द्रजीका जीवन देखना चाहिये। जबसे उनका परिचय हुआ है, मैंने उनमें यही पाया है। वे लेखन और प्रवचनमे स्थिर, गम्भीर और व्यवस्थित है। उतार-चढावके बिना एक धारामे तर्कपूर्ण लेखन और प्रवचन उनके होते है। यही उनकी विद्वत्ताकी निशानी है। पण्डितजीने जिस विषयको भी लिया, उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करके हो उसके विषयमे बोला या लिखा। आधुनिक विद्वानोमे दिगम्बर मान्यताको लेकर लिखनेवाले कई है, किन्तु जिस सौम्यभावनासे पण्डितजीकी तर्कपूर्ण लेखनी चलती है, वह उनकी ही अपनी शैली है। उसकी नकल करना अन्यके लिये सम्भव नही।

अनेक ग्रन्थोका सम्पादन-अनुवादन पण्डितजीने किया है। यह तभी सम्भव हुआ है जबकि उनमे एक निष्ठा है। जब भी उनसे मिलने जायें, तब वे कुछ न कुछ लिखनेमे ही व्यस्त देखे गये।

स्याद्वाद महाविद्यालय और पडित कैलाशचन्द्रजी एक और अभिन्न ही देखे गये। मानो वे महाविद्यालयके लिये ही जीते हो। सस्थाके प्रति ऐसी कर्तव्यनिष्ठा अन्यत्र दुर्लभ है।

सासारिक जीवन उनका सुखमय इसलिये बना कि उन्होंने जैसी परिस्थिति हुई, उसमें जीना सीखा। ऐसा जीना वही जी सकता है जिसमे धर्मनिष्ठा और कर्तव्यनिष्ठा पराकाष्ठामे हो। उनका ससार महाविद्यालय और साहित्य साधना ही हैं। उसी साधनाका साधन गृहस्थी है, ऐसा उनके जीवनका निरीक्षण करनेसे निश्चय होता है। पडितजीका घरेलू जीवन है, यह नही कहा जा सकता और यदि है तो स्याद्वाद विद्यालय और साहित्यिक साधना यही है, ऐसा मैंने दीर्घकालके उनके सम्पर्कमे पाया है।

वर्षोंसे नियमित रूपसे 'जैन सन्देश' मे सम्पादकीय उनका होता है। जैन सदेशके द्वारा उन्होने अपने विचार दिगम्बर समाजको दिये है। पण्डित होकर भी सुधारक—समाज और धर्मकी समस्याके विषयमे सुलझे हुए विचारक—वे है। समाज और राष्ट्रके अनेक प्रकारके प्रश्नोके विषयमें धर्मदृष्टिसे क्या समाधान हो, इसकी विवेचना पण्डितजी जिस रूपमे करते है, वैसा अन्य पण्डितके लिये सरल नही। वे सुधारपथी होकर भी धर्मविमुख नही, यह उनकी विशेषता है। प्राय सुधारक गिने जानेवाले धर्मविमुख हो जाते है, किन्तु पण्डितजीने सुधारक होकर भी अपने धर्मको नही छोडा, यह स्थिति दुर्लभ है।

जिन्दगीमे विवादके प्रसग अनेक आये है, किन्तु पण्डितजीने अपने सौजन्यका अतिक्रम किया हो, ऐसा मैंने नही जाना। धार्मिक और धर्मपरायण व्यक्तिकी ऐसे विवादके प्रसगमे ही परीक्षा होती है। देखा यह जाता है कि ऐसे अवसरो पर प्राय सौजन्यका अतिक्रम हो जाता है। पण्डितजी ऐसे अतिक्रमसे बचे है, यह उनकी विशेषता है और यही उन्हे महान् बनाती है।

जीवनमें ऐसे पुरुषोके सत्सगका लाभ दुर्लभ है। और मैं अपनेको धन्य मानता हूँ कि मुझे ऐसे महापुरुषके सम्पर्कका अवसर मिला। आशा करता हूँ कि वे शतायु हो और धर्मकी सेवा करते रहें।

अभिनन्दनीय पण्डितजी

अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

दिगम्बर समाजमें कुछ वर्षों पहले मुनि बहुत ही कम थे, पण्डितोंके द्वारा ही धर्म प्रचार अधिक रूपमें होता रहा है। भट्टारकोंने खूब काम किया। इसी तरह पण्डित वर्गने भी जैनधर्म और शासनकी बहुत बड़ी सेवा की। गत ३५० वर्षोंमें उन्होंने खूब साहित्य निर्माण किया। जब प्राकृत और सस्कृतके जैन ग्रन्थ साधारण जनताके लिये समझाना बहुत कठिन हो गये, तो बहुतसे श्रावकों और पण्डितोंने हिन्दी टीकायें लिखकर उन्हें सर्व सुलभ बना दिया।

इधर ६०-७० वर्षोंमें पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी और प० गोपालदासजी आदिके प्रयत्नसे गुरुकुल व विद्यालय खोले गये। इनमे सैकडो विद्वान् तैयार हो गये और आज भी हो रहे हैं। स्याद्वाद विद्यालय, वाराणसीसे अनेको विशिष्ट विद्वान् तैयार हुए। उनमें प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं क्योंकि अनेको वर्षोंसे वे वही रहकर शिक्षा और साहित्यकी विशिष्ट सेवा कर रहे हैं। विद्यालयके लिये उन्होंने खूब काम किया।

प० कैलाशचन्द्रजीका दिगम्बर साहित्यका बडा विशाल व गहन अध्ययन है। उन्होने बहुतसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोका सम्पादन व अनुवाद आदि किया है और जैनधर्म व साहित्यके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे है। इस तरहका इतना काम बहुत ही कम लोग कर पाते है। सख्या और गुणवत्ता—दोनो दृष्टियोंसे उनकी साहित्य-सेवा बहुत ही सराहनीय है।

मैंने पण्डितजीको अनेक बार लिखा कि आप श्वेताम्बर साहित्यका अध्ययन और भी बढ़ाइये। फिर निष्पक्ष दृष्टिसे दोनोकी मान्यताओमें कहाँ और क्या-क्या भेद हैं, उसका समाधान कैसे हो सकता है ? इस तरहका तुलनात्मक व विचारात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिये। यह जैनधर्मकी बहुत बडी सेवा होगी क्योकि युगकी माँग है कि दोनो सम्प्रदायोमें सद्भाव और एकता बढे। वर्तमान पीढी दोनो सम्प्रदायोंमें जो अपनी-अपनी खीचातानी है, उसमें नही पडना चाहती, उसे अच्छा भी नही समझती। यदि हम भेदके कारणोके निवारण सम्बन्धी ठोस कार्य करके समाजके सामने उपस्थित कर सद्भाव व समन्वयका मार्ग प्रशस्त करें और अपनी साम्प्रदायिक भावनाओको मिटावे, दोनो प्रकारके साहित्यका अध्ययन बढ़ाकर अपनो व समाजकी वृद्धि करे, तो यह पण्डितजीके समान विद्वानोकी नई पीढी व भावी पीढीके लिये सर्वोत्तम देन होगी।

●

मूर्धन्य विद्वान्

प० नाथूलाल शास्त्री, अध्यक्ष विद्वत् परिषद्, इन्दौर, म० प्र०

जैन समाज आज अपने मूर्धन्य विद्वान् सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसीकी उच्च-कोटिकी विद्वत्ता और उनकी निश्छल सेवाओसे गौरवान्वित है। पंडितजीने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी-के प्राचार्य एव अधिष्ठाता पदसे सैकडों विशिष्ट विद्वानोको तैयार करनेके साथ ही सस्थाके सचालनार्थ उसकी आर्थिक स्थिति दूर करनेका महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। पंडितजीने अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थो-की रचना और अनेक बडे-बडे महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थोका अनुवाद व सम्पादन कर जैन साहित्यको समृद्ध बनाया है। सन् १९४४ में अखिल भारतीय दि० जैन विद्वत् परिषद्की स्थापनामें पण्डितजीका प्रमुख

योगदान रहा है और सोनगढ़ (१९४७) एवं ललितपुर (१९५९) अधिवेशनके आप अध्यक्ष रहे हैं। अब आप परिषद्के संरक्षक रहकर उसका मार्गदर्शन करते रहते हैं। आपका आदर्श जीवन विद्वद्वर्गके लिये अनुकरणीय एवं प्रेरणास्पद है।

'जैनसन्देश' के प्रधान सम्पादक होते हुए आप अपनी लेखनीसे निर्भय होकर सामाजिक स्थितिका चित्रण करते हैं। इसीलिये जैन पत्रोमें जैन सन्देशका स्थान ऊँचा माना जाता है। जैन सिद्धान्त और जैनदर्शनके आप उद्भट विद्वान् है। आप वर्तमान अनेक प्रमुख विद्वानोके विद्यागुरु है। अपनी प्राचीन श्रमण संस्कृतिकी गरिमाको न भुलाते हुए धार्मिक तत्त्वज्ञानके प्रचार-प्रसारका जो कार्य पण्डितजी द्वारा हुआ हे, वह चिरस्मरणीय रहेगा।

आदरणीय पडितजीका अभिनन्दन कर समाज अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। यह सम्मानकी परम्परा सराहनीय है। इस पावन प्रसग पर मैं पडितजीका हार्दिक अभिनन्दन करते हुए उनकी दीर्घायुकी कामना करता हूँ।

●

निर्लोभ वृत्ति

प० गोविन्दराय जैन, झूमरीतिलैया

सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री जैन समाजके जाने-माने विद्वानोमेंसे एक अद्वितीय ही है। आप प्रखर वक्ता हैं। सुलेखक है। आपने अनेक पुस्तकें लिखी है। अनेकोका सम्पादन किया है। जैन समाजका ऐसा कोई उत्सव नही, जहाँ आपकी उपस्थिति न हो। कोई समाचार पत्र नही जिसमें आपके लेख न आते हों। कई वर्षों तक स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीके प्रधानाचार्य पद पर रहकर उसका सफल सचालन किया है। इस ढलती उम्रमें भी आपमें बालको जैसी स्फूर्ति एव नौजवानो सरीखी तेजस्विता एव अदम्य उत्साह है। इस ज्ञान मूर्तिके दर्शन करनेको निरन्तर जी चाहता है। झूमरीतलैयामें अनेक बार इन्हें आनेका सुअवसर मिला है। पर निर्लोभ वृत्ति इतनी कि भाडेके सिवाय एक पैसा भी अधिक ग्रहण नही करते। मैं ऐसे उद्भट विद्वान्की शतायु होनेकी कामना करता हूँ। ये हमारे बीचमें चिरकाल तक रहकर हमें मार्ग दर्शन कराते रहे।

●

पण्डितकी विवशता : एक खरी बात

डॉ० कन्छेदीलाल जैन, उपसंपादक, जैन सन्देश, आगरा

एक बार राजस्थानके एक शहरमें श्री प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्रीको बुलाया गया और उनकी उपस्थितिमें कुछ लोगोने योजना बद्ध ढगसे विद्वानोकी बुराइयाँ बताते हुए भाषण दिये। उसमें एक भाषणका भाव यह था कि विद्वान् लोग जब समाजसे चन्दा लेने आते हैं, तब चन्दा लेते समय दानवीर, उदार, श्रीमान आदि झूठी उपाधियाँ बनाकर चन्दा मागकर ले जाते हैं और बादमें दातारोको पूछते भी नही। इतना ही नही, जिन सस्थाओके लिये चन्दा मागते है, उन सस्थाओके कार्योंको बढ़ा-चढाकर बखान करते हैं। इस प्रकार पण्डित लोग प्राय झूठ बोलते हैं।

अन्तमें प० कैलाशचन्द्र जीने पाच मिनटका समय बोलनेके लिये मागा, उन्हें दो मिनटका समय दिया गया। लोगोंने सोचा—ये पण्डितोंके बचावमें क्या बोलेंगे। आदरणीय पण्डित जीने कहा कि कोई

पण्डित संस्था खडी नही करता है। संस्था खडी करके पदाधिकारी सभी सेठ लोग, धनी लोग बन जाते हैं और अपना नाम बनाये रखनेके लिए पण्डितको प्रचारक बनाकर रख लेते हैं कि बेटा, तू इस संस्था को चन्दा ला कर चला तथा स्वय भी कमा-खा। पण्डितको सेठोंकी सस्था चलानी पड़ती है, तो काम निकालनेके लिये गधेको भी बाप भी बनाना पड़ता है।

इतना कहकर पण्डित जी बैठ गये। लोगोंने फुसफुस करते हुए कहा कि अभी पण्डिताई जीवित है। जब तक प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री जैसे स्वतत्र विचारक तथा बिना लोभ तथा भयके सही बात कहने वाले हैं, तभी तक पण्डिताई जीवित है, ऐसा मानना चाहिये। ऐसे प्रेरक सस्मरणके साथ ही मैं पण्डितजी के प्रति अपना आदरभाव व्यक्त करता हूँ।

●

जैन समाजके सुमेरु

प्रो० श्रीचन्द्र जैन, उज्जैन, (म०प्र०)

पण्डितजी निश्चयत आजकी युवा पीढ़ी के लिए आदर्श है जिन्होने अपना सर्वस्व त्यागकर जन-जनकी सेवामें 'निज' को लगाया। उन्होने न कभी समाजसे कुछ चाहा और न उससे किसी भी प्रकारकी अपेक्षायें की।

पूज्य पण्डितजी इस तथ्यको भली-भाँति समझते है कि जो समाजका किसी भी रूपमें मुखापेक्षी होता है, वह अपमानित, तिरस्कृत एव अवनत किया जाता है। वही मानव प्रतिष्ठित होकर अपना सिर ऊँचा उठाता है और निर्भीक होकर चलता है जो स्वार्थी समाजको अपने सयमी, त्यागी तथा साधनामयी जीवनमे निरन्तर उपकृत करता रहता है। यह समाजकी विकृति नही है, अपितु काल दोष है। धन-पतियोकी लालसाओ तथा कुप्रवृत्तियोंसे पण्डितजी अच्छी तरह परिचित हैं। फलत उनकी जीवन्तता न कभी अनादरसे विकृत बनी और न कभी अवाञ्छित क्रिया कलापोंसे उद्वेलित हुई। विवश होकर भी इस मानव सिहने न सकीर्णताको अपनाया और न बाह्य आडम्बरकी परिपुष्टि की। आपका चिन्तन-मनन बडा तलस्पर्शी, विचारोत्तेजक, निर्बन्ध और समुज्ज्वल है। गगाकी धाराकी भाँति आपकी सतत प्रवाहमयी शैली जन-जनके मानसको मोह लेती है।

पण्डितजी प्रगल्भ वाग्मी, निर्भीक वक्ता, अनासक्त योगी तथा सरलताकी प्रतिमूर्ति हैं। आपके अनेक ग्रन्थोसे आपकी स्थितप्रज्ञता, विशाल पाण्डित्य और गभीर अध्ययनशीलता मुखर हो उठती है।

स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीके अधिष्ठाताके रूपमें आपने अपमानमाको उल्लासकी तरंग, अव-सादके क्षणोंको आनन्दकी किरण, अवरोधको सुधार और विपत्तिको उत्थानकी सरस सरणी स्वीकारा। इसलिए पूज्य पण्डितजीको सन्त कबीरका यह छन्द प्रिय लगता है

निन्दक नियरे राखिए, आगन कुटी छवाय।
बिन पानी बिन साबुने, निर्मल करै सुभाय॥

ज्ञान-रवि रश्मियोंसे प्रतिभासित पूज्य पण्डितजीका विविध मानवीय विराट् जागरण शाश्वत अध्यात्मवादका प्रतीक बने।

●

आदर्श कीर्तिस्तम्भ

डी० माणिकचन्द्र नाहर, मद्रास

पण्डित कैलाशचन्द्रजीका साधनामय, ज्ञाननिष्ठ और भोगोंसे विरत सयमी जीवन सम्पूर्ण जैन तरुण पीढ़ीके लिए आदर्श कीर्ति स्तम्भ है। आपके मुँहकी स्मितता और प्रसन्न मुखमुद्रा अतरगमें प्रवाहित आत्मानन्दके अविरल स्रोतका सूचक है। पण्डितजीके गुरुत्व, लेखकत्व और नेतृत्वसे भी बढ़कर उनका वक्तृत्व है। आपके प्रत्येक भाषणमें अगाध सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञानकी सुगन्ध रहती है।

इस सुअवसर पर आप पण्डितजीके निबध सकलित कर पुस्तकाकार कैलाश निबन्धावलीके नामसे प्रकाशित करनेका प्रयास कीजियेगा।

●

विनम्रता और स्वाभिमानके ओजसे मण्डित पण्डित जी

डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, आगरा

पूज्य एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजीके माध्यमसे पण्डितजीसे मेरी पहली भेंट १९६७ में मेरठमें महावीर जयतीके अवसर पर हुई थी। महावीर जयन्तीके बाद पूज्य मुनिश्रीजीने पण्डितजीसे परिचय कराया। उनके सुवक्ता होनेका परिचय तो उनके भाषणसे मिल ही चुका था। सस्कृत शिक्षाके क्षेत्रमें पण्डितजीने स्याद्वाद महाविद्यालयके द्वारा जो एक मानदण्ड स्थिर किया था, उससे भी मैं पहले ही परिचित था। गगाके पवित्र तट पर स्थापित यह महाविद्यालय गगाके शैत्य और पावनत्वसे विभूषित था और पण्डितजीकी ज्ञान गरिमासे यह प्रथित यश वाला बना हुआ था।

पण्डितजीसे पहली भेंट यही तक सीमित न रही। मुझे एक कार्यवश उसी ट्रेनसे वाराणसी जाना था, जिससे वे वापिस लौट रहे थे। मैं उनके प्रति श्रद्धा भावसे अभिभूत था। पूज्य गुरुदेव विद्यानन्द मुनिने उनकी प्रशसा की थी और पण्डितजीके सान्निध्यमें उसकी साक्षात्ताका अनुभव हो रहा था। वाराणसीमें उनके दर्शन स्याद्वादके प्राचार्यके रूपमें किये। निरन्तर शैक्षणिक कार्य, अध्ययन एव लेखनमें व्यस्त रहते थे। उनके शिष्य उनका वात्सल्य प्राप्त कर अपनेको धन्य समझते थे। स्याद्वाद महाविद्यालयका शैक्षणिक वातावरण श्लाघनीय था।

जैन समाजमें पण्डितजी अपने ज्ञान-विज्ञानके साथ ही आचार-विचारके लिये भी प्रसिद्ध रहे हैं। पण्डितजीने विनम्रताके साथ ही स्वाभिमानको कभी नही जाने दिया। उनके चेहरे पर ज्ञान एव स्वाभिमान का तेज दिखलाई पडता है। पण्डितजीके प्रति मेरी सहज श्रद्धा बढ चली। फिर तो कई बार दिल्लीमें पूज्य गुरुदेव मुनिश्रीजीके सांनिध्यमें कार्यक्रम हुए जिनमें पण्डितजी मुख्य अतिथि बनकर आये थे। कई बार पण्डितजीको विभिन्न सस्थाओके द्वारा पुरस्कृत करनेकी चर्चा चली किन्तु साधु समाजके प्रति अनन्य श्रद्धा रखने वाले पण्डितजीने उनके आशीर्वादको ही विशेष महत्त्व दिया। पण्डितजीके साथ पुन एक बार घरेलू वातावरणमें दिल्लीमें भेंट हुई। वे प्राय सुश्री विदुषी जयमालाजीके यहाँ ठहरते थे, वही एक बार मैं भी आमन्त्रित था। पण्डितजीके वात्सल्यको प्राप्त कर मैं अभिभूत हो उठा। इतने महान् विद्वान् और सहज स्वभाव। उनके समीप जो भी क्षण बीते, उनमें मुझे उनकी आत्मीयताकी झलक मिली।

वे ज्ञानवृद्ध हैं, आचार वृद्ध हैं, अनेक उच्चपदो पर रह चुके है और आज भी ज्ञानपीठ जैसी सस्थाके परामर्शदाता हैं और स्याद्वाद महाविद्यालयकी महानताकी स्थापना तो पण्डितजीके महान् व्यक्तित्वसे

जुड़ी हुई है। अवकाश प्राप्त करनेके बाद भी उनकी कर्मठता, उनकी स्वाध्यायकी प्रवृत्तिमें तनिक भी न्यूनता नही दिखाई पड़ती।

मैंने उन्हें दूरसे भी देखा, समीपसे भी। दूरसे उनकी ज्ञानवृद्धतासे प्रभावित हुआ, तो समीपसे उनकी आत्मीयता, सहजता एवं वात्सल्यभावसे स्नात होकर अपनेको धन्य समझता रहा हूँ।

●

शत शत वन्दन, कोटि कोटि अभिनन्दन

बाबूलाल शास्त्री 'फणीश', ऊन (पावागिर)

इस बीसवी सदीके मूर्धन्य जैन विद्वानोमें परम श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्यका नाम श्रेष्ठतम है। भारतका समस्त जैन समाज ही नही, किन्तु सारा राष्ट्र आपसे भली भाँति सुपरिचित है। इस उद्भट विद्वान्ने भागीरथीके पावन तट पर स्याद्वाद महाविद्यालय रूपी वटवृक्षको सम्पूर्ण रूपसे सिंचित किया, उसे सजोया, अगणित फलोसे। आपने निर्धन-धनिक बालकोको सम्यग्ज्ञानकी ज्योतिसे, धर्मामृत पान कराया जो आज भी नक्षत्रोकी भाँति चमकते हुए समाज व राष्ट्रकी सेवा करते हैं। इसलिये आप सहस्रो विद्यार्थियोके जनक तुल्य है। सफल लेखक, प्रबल प्रवक्ता, समाजोद्धारक, निष्पृही, निर्लोभ मूक सेवकके रूपमें आपने समाज व देशको गौरवान्वित किया। मैं पण्डितजीको शत शत वन्दन एव कोटि कोटि अभिनन्दन करता हूँ।

हिमगिरि से पावन गगा ने, अविरल स्रोत बहाया।
इसी भाँति श्रीकैलाशचन्द्र ने, ज्ञानामृत पान कराया॥
जब तक पावन गगा जल है, तब तक जीवन पाओ।
जब तक नभ में रवि-शशि चमके, अपना यश चमकाओ॥

●

स्याद्वाद शिरोमणि

पं० यतीन्द्रकुमार शास्त्री, लखनादौन, म० प्र०

चलना ही जीवन है। चाहे व्यक्ति हो, समाज हो, राष्ट्र हो या धर्म हो। जो गतिवान है, वही जीवित है। यदि सफलतापूर्वक मजिल तय करना है, तो विश्वास, प्रेम तथा विवेकको साथ लेकर बढ़ते चलो। अगर कोई कठिनाइयाँ आये, तो उनसे हँसते हुये जूझो। जीवन सदैव समताभावी हो, तो कुछ काम करो। निष्काम भावनासे करो। मानव सिद्धिके पहले प्रसिद्धिकी कामना करता है। यही उसकी भूल है।

प्रतिज्ञा जीवन विकासका अनिवार्य अग है। किन्तु वह तभी तक है जब तक उसे पूरी तरह निभाया जाये। तभी गन्तव्य पर पहुँचा जा सकता है। जीवनका व्यवहार आदान-प्रदान पर चलता है। प्रदानके बिना आदान शोषण है। आदान कम, प्रदान ज्यादा, यही जीवनकी महानता है। जीवन सगीतके दो स्वर हैं—एक सख्त और एक कोमल। जो इनका समयानुकूल प्रयोग जानता है, वही धर्म या समाजकी सच्ची सेवा कर सकता है। ये उद्‌गार पूज्य महापुरुषोके हैं जो उन्होने समय पर प्रगट किये हैं तथा दृढता पूर्वक अपने जीवनमें उतारे हैं। किसी भी तरहके स्वार्थ और प्रलोभनसे रहित कर्तव्यकी प्रेरणासे सेवा कार्य करना ही पण्डितजीके जीवनका उद्देश्य रहा है। सत्यकी अभिव्यक्ति हो जाने पर उसे नकारनेकी

चोटकी तरह उन्होंने व्यक्त किया। सत्यके कहनेमें सकोच करना मानवताके प्रति विश्वासघात करना है। ऐसा पण्डितजीका सदैव विश्वास रहा है।

वे सदैव प्रसिद्धि और प्रशसाके दूर भागते रहे हैं। पर वर्तमानमें जैन समाजमें जो प्रगति और गतिविधियाँ चल रही हैं, उनमें पण्डितजीका सदैव ही सहयोग प्राप्त होता रहा है। असलमें, ऐसे व्यक्ति धर्म और समाजके कार्यमें विशेष सहयोगी नही हो पाते, जिनमें दूसरोंको अपने पीछे चलानेकी शक्ति नही या दूसरोंके पीछे चलनेकी शक्ति न हो। पण्डितजीमें दोनो गुण प्रचुर मात्रामें विकसित हुए है। इसलिये उनके सहयोगियोकी सख्या विशाल है।

प्राय लोग युवावस्था या बुढापेका समय शरीरसे मानते है। पर उनकी यह धारणा गलत है। नित्य नव तरगित रहनेवाला उल्लास भरा मन सदा ही युवा रहता है। आज भी जब पण्डितजी मचपर बोलने खडे होते हैं, तो उनमें पूर्ण युवोचित उत्साह प्रगट होता है और ओजपूर्ण वाणी सुनकर बुढापेकी बात भूल जाते हैं। आपकी सम्पूर्ण साधना, श्रद्धा, ज्ञान और आचरणका पवित्र सगम रही है। पडितजी सदैव कहते हैं—सम्पूर्ण समाज एक नौकापर सवार है जहाँ सबके हित-अहित बराबर है। यदि एक पार होगा, तो सब पार होंगे। यदि एक डूबा, तो सब डूब जायेंगे। इसलिये हमें व्यक्तिगत स्वार्थोंसे ऊपर उठकर सामूहिक स्वार्थकी बात सोचनी पडेगी। पर आज तो यह परिस्थिति है कि नावके एक कोनेमें बैठा एक आदमी यह चाहता है कि दूसरा डूब जाये, दूसरा यह चाहता है कि पहला डूब जाय। समूचे समाजका अस्तित्व एक ही शरीर जैसा है। शरीरके किसी अगमें रोग होनेपर या चोट लगनेपर कष्टका अनुभव पूरे शरीरको होता है।

पडितजी जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ आचार्य है और समूचा जैन सिद्धान्त अनेकान्तमय है। अनेकान्तका उद्देश्य सम्पूर्ण विरोधोका परिहार करना है। पर आजके अनेकान्तवादी स्वय ही निश्चय और व्यवहार, निमित्त-उपादानके पक्षापक्षमय आग्रहसे आपसमें विवाद कर राग-द्वेष बढ़ाकर स्वय ही विभाजित हो रहे हैं। विवादने इतना विकराल रूप धारण कर लिया है कि एक पक्षवाले दूसरोको जैन ही माननेको तैयार नही है। अब तो इस विरोधने क्षोभक रूप भी धारण कर लिया है। यह विचार भेदमात्र न रहकर मन्दिर और आगम ग्रन्थों तक जा पहुँचा है। इस विवादमें पडितजीने एक समन्वयकारी दृष्टिकोण उपस्थित किया है। इससे आचार्य परम्पराके साथ अपने पूज्य गुरु गणेशप्रसादजी वर्णीके विचारोका पूरा समर्थन हुआ है। अपने भाषणोमें तथा जैन सदेशके माध्यमसे समय-समयपर उन्होने स्पष्ट विचार प्रगट किये हैं तथा स्वय सोनगढ जाकर विशाल जन-समूहके सामने प्रकट किया कि जैन सिद्धान्तका रहस्य समझने में जो भूल हो रही है, उसे समझा जाये। केवल शुद्ध, बुद्ध, आत्माके वर्णन करनेसे सासारिक आत्मा शुद्ध-बुद्ध नही हो सकती। कचनको शुद्ध करनेके लिए उसे तपाया जाता है। जैनधर्मने केवल साध्यके लक्ष्यका वर्णन नहो किया, बल्कि उसके साधनोपर भी पूरा जोर दिया है। यदि साधनोकी शुद्धि न मानी जाय, तो उन परिग्रह वस्त्रधारी साधुओको क्यो न सम्यक् माना जावे। पडितजीने कहा था "जबतक सयोगी जीवन है, तबतक निमित्तको अवश्य स्वीकार करना पडेगा। निमित्तके बिना कार्यकारण भाव भी नही बनेगा और कार्यकारण भाव नही माना जावेगा, तो जैनधर्मकी वैज्ञानिकता ही समाप्त हो जायेगी। सात तत्त्वोका विवेचन पूर्ण वैज्ञानिक है और यह जैनधर्मका प्राण है। उन सात तत्त्वोके सिद्धान्तको व्यवहार सम्यक्दर्शन कहते है जो निश्चय सम्यक्दर्शनका निमित्त कारण है। इसे हेय कैसे कहा जा सकता है।" इसी प्रकार पुण्य-पाप सम्बन्धी विवादका भी पडितजीने उचित समाधान किया था।

चरित्रधारी जैन दिगम्बर साधु सम्यक् चरित्रके आश्रयभूत निमित्त कारण है। यदि इस निमित्तको हम सर्वथा अकिंचित्कर मानकर बैठ जाते है, तो उसे फिर कुछ करनेकी जरूरत भी न होगी। उपादान

अपनी योग्यतासे सब कुछ कर बैठेगा। इस नियतिवादी दृष्टिकोणसे पुरुषार्थ गौण बन जायेगा। अतः अनेकान्तका लक्ष्य रखकर पक्षका आग्रह छोडना पड़ेगा, चाहे निश्चयका हो, चाहे व्यवहारका हो। जहाँ पक्षका आग्रह है, वहीं विवाद है। पंडितजीने कभी पक्षका आग्रह नहीं किया। यही कारण है कि जब व्यवहार पक्षवालोंने सोनगढ़से प्रकाशित शास्त्रोंका अपमान किया, तो पंडितजीने दुःखित हृदयसे जोरदार अपील निकाली कि सोनगढ़से प्रकाशित साहित्य हम सबके लिए पूज्य है। उसका अपमान करना अपने पैरपर कुल्हाडी मारनेके समान मूर्खतापूर्ण है। जिसे न पढ़ना हो, न पढ़े, लेकिन बहिष्कार करना अनुचित है। युवा आचार्य मुनि श्री विद्यासागरजी महाराजके दर्शन कर पंडितजीने जो श्रद्धा-भक्तिके उद्‌गार प्रगट किये, वे अनुकरणीय हैं।

"जिन्होंने ऐसी कल्पना बना रखी है कि पूर्व कालकी तरह आजकल दिगम्बर साधुचर्याका परिपालन द्रव्य और भावरूपेण सम्भव नहीं है, वे श्री विद्यासागरजीके सानिध्यमें रहकर उनका पवित्र रत्नत्रय आराधनाका आदर्श देखें। मैंने पूर्ण श्रद्धा-भक्तिसे आहार देकर महान् पुण्य लाभ लिया है। वे २८ मूल गुणोंका पालन करते हैं। वे सच्चे दिगम्बर जैन साधु हैं।" ये उद्‌गार उनकी आदर्श साधुनिष्ठाके प्रतीक है। पंडितजीमें स्पष्टवादिता और सत्य निष्ठा कूट-कूटकर भरी है। वे सच्चे गुणानुरागी विद्वान् हैं। उन्होंने अपने सत्य विचारोंको कभी ढहाया नहीं। अपने गुरुके द्वारा जैनधर्म और समाजकी भलाईके लिए स्याद्वाद महाविद्यालयरूपी जिस वटवृक्षका बनारसमें बीजारोपण किया गया था, उसको उन्होंने तन्मयतासे सिंचित कर पुष्ट किया और उससे हजारों विद्वान्‌रूपी फल समाजको अर्पित किये। वे एक महान् गुरुके आदर्श शिष्य हैं। पंडितजीने अपने गुरुकी समाधिमरणके समय तक खूब वैयावृत्ति की। उनके वियोगके समय उन्होंने जो दुःखी होकर उद्‌गार प्रगट किये थे कि वर्णीजी जैसा महान् सन्त, निर्विकार महात्मा, विद्यारसिक आदर्श त्यागी होना बहुत कठिन है। आज समाजमें जो कुछ भी धार्मिक वातावरण देखनेमें आ रहा है एवं विद्वानोंका समूह नजर आता है, यह सब वर्णीजीकी कृपाका फल है। आज हम सब अनाथ हो गये हैं। फिर भी, वे साहसपूर्वक अपने गुरुका अनुकरण करते हुए विद्वद् वर्ग, समाज तथा साहित्य-निर्माणकी दिशामें मार्गदर्शन एवं योगदान कर रहे हैं, यह हमारे लिये सौभाग्यकी बात है।

●

जीवन्त स्रोत

वीरेन्द्र कुमार जैन, बम्बई

पण्डित कैलाशचन्द्रजी तो वर्तमानमें जिन शासनके एक जीवन्त स्रोत, पराकोटिके मनीषी और जीवनमें पंचमहाव्रतधारी मुनियोंमें भी बड़े महापुरुष हैं। पण्डितजीसे मिलनेका सौभाग्य ही न हुआ मेरा, अतः संस्मरणका खजाना मेरे पास कहाँ? उनके प्रति मेरी शुभकामना।

●

आदर भाव

बालचन्द्र शास्त्री, हैदराबाद

पण्डितजी समाजके माने हुए विद्वान् हैं। उनके द्वारा कितनी ही संस्थाएं उपकृत हुई है। ऐसे लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान्‌के लिये मेरे आदरभाव।

●

प्रतिभाशाली निर्भीक विद्वान्

प्रकाश हितैषी, शास्त्री, दिल्ली

आदरणीय श्री प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री जैनसमाजके मूर्धन्य विद्वानोमें अग्रगण्य है। आप चारों अनुयोगोंके अधिकारी प्रतिभाशाली विद्वान् है। आपकी यह विशेषता है कि आप जैन विद्वानोमें बडे ही निर्भीक एव स्पष्टवादी लेखक व प्रवक्ता है। आप बडी-बडी शक्तियोके समक्ष भी यथार्थ बात कहनेमें कभी नही हिचकते है। शिथिलाचारका विरोध करनेपर आपको बडी-बडी उग्र शक्तियोका कोपभाजन बनना पडा है। आपको अनेक तरहसे अपमानित करनेका भी प्रयत्न किया गया किन्तु आप कभी भी असत्य और शिथिलाचारके समक्ष झुके नही। आप हिमालयकी तरह अडिग रहे। आप शिथिलाचारका विरोध पीठ पीछे नही, किन्तु सन्मुख खडे होकर करते है। जैनसन्देशमें आपका सपादकीय बडा महत्त्वपूर्ण और स्पष्टवादितासे भरा हुआ होता है। आपकी शिष्यमण्डलीमें बडे-बडे उच्चकोटिके विद्वान् हैं, जो आपके गुरुत्वकी गरिमाका प्रदर्शन करते है। जैनसाहित्यकी सेवाके लिए तो आपका जीवन ही समर्पित है। साहित्य तपस्वियोंकी गणनामे भी आपका अग्रिम स्थान है। इतना सब होते हुए भी आप निरीहवृत्तिके विद्वान् है। आपने समाजसे कभी भी कोई अपेक्षा नही रखी। ऐसे विद्वान्का अभिनन्दन करके सयोजकोने स्वयको गौरवान्वित किया है। उनका अभिनन्दन तो सूर्यको दीपक दिखाना है।

●

विद्वत्ताकी विभूति

लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम०ए०, जावरा, (म०प्र०)

पण्डितप्रवर कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, मेरी दृष्टिमें उस गुलाबके प्रसून सदृश हैं जो कण्टरूपी कण्टकोमें पलकर भी देश और समाजके हितमें गौरवकी गन्ध देता है। अब वे तपे तपाये गुलाब है, उनके कार्यों और कृतियोकी महकसे आज भी देश और समाजका प्रागण सुशोभित, सुरक्षित तथा सुवासित हो रहा है।

पण्डितजीने चार-पाच दशक वर्षों तक, जिस स्याद्वाद विद्यालयमें प्राचार्य पदपर कार्य किया, जैन विद्याकी विचारधारा बढाई, उसके जन्म और जीवनदाता प्रात स्मरणीय गणेशप्रसाद वर्णीके अमोघ व्यक्तित्व और कृतित्वसे वे भला कैसे अप्रभावित रहते ? जिस शास्त्रार्थ सघके प्रमुख पत्र 'जैन सदेश'के सम्पादनके माध्यमसे उन्होंने दो-तीन दशक वर्षों तक धर्म, समाज तथा साहित्यकी सेवा की, उस सघकी गतिविधियोसे वे अनभिज्ञ अछूते रहते, यह तो असम्भव ही था। जिस विद्वत्परिषद्के वे एकसे अधिक बार अध्यक्ष रहे और जिसने सोनगढ अधिवेशनसे कानजी स्वामीकी विचारधाराको भी आगे बढाया, पडितजी समयसारकी दृष्टि लिए निश्चयमूलक दृष्टिकोणसे वचित रहते, ऐसा हो ही नही सकता था।

पडितजी ज्ञानके धनी है, विद्वत्ताकी विभूति हैं, उन्होने अनेक कृतियोको जन्म और जीवन दिया। 'जैनधर्म'पर तो उन्हे युवावस्थामें ही पुरस्कार मिल चुका था। पडितजीने अपने शिष्योको अपनेसे भी आगे बढते देखना चाहा। महावीर जयन्तीपर श्री महावीरजीकी सभामें पडित और डाक्टर नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्यकी प्रशसा करते हुए भी प्रस्तुत पक्तियोंके लेखकने उन्हें देखा था। एक वाक्यमें, उन्होने हिमालयसदृश गगा-यमुना जैसी विद्वान्-सरिताओंको प्रवाहित करनेके लिए अपना ज्ञान वारि सौंप दिया है। पडितजीकी व्यवहार और वात्सल्यमूलक अनेक बातें है। पडितजीका दैनिक जीवन आदर्श और यथार्थका अद्भुत सम्मिश्रण

है, ठीक वैसे ही जैसे वे अभी भी गणेशप्रसाद वर्णी और कानजी स्वामीकी उपस्थिति आत्मसात् कर रहे हैं।

वास्तविकताकी स्वीकृति देनेमें पंडितजी सर्वदा अग्रसर रहे हैं। वे पंडितकी अपेक्षा ज्ञानी अधिक हैं। घिसी-पिटी लीकपर आँख मीचकर चलना उनके स्वभावके विरुद्ध है। पंडितजीने जैसे ज्ञानकी दिशा ग्रहण की, वैसे ही वे चरित्रकी दिशा भी ग्रहण करेंगे, तो देश और समाजद्वारा तृतीयवर्णीके रूपमें प्रतिष्ठित और पूज्य भी हो सकेंगे।

अतीतसे आजतक, मेरी आँखें यह देखनेके लिये अतीव उत्सुक रही है कि किसी व्यक्तित्वमें ज्ञान और चरित्रका कांचन और मणि सदृश संयोग हो, तो मैं उसे अपनी श्रद्धा निधि समर्पित कर प्रणाम कर लूँ और उससे जीवनदायी प्रेरणा ग्रहणकर अहोभाग्य समझूँ। पंडितजी बहुविज्ञ, प्रशस्त और प्रणम्य हैं। वे सफलताके और भी समीप पहुँचें। उनके प्रति मेरी यही सद्भावना और शुभकामना है।

●

मेरी नजर में

प्रतापचन्द्र जैन, आगरा

प्रथम दर्शन—आगरा दिग० जैन बोर्डिंग हाउसका मैदान और मौसम सर्दीका। वार्षिक उत्सवका दूसरा दिन था। गैसके हंडों और बिजलीसे जगमगाता पण्डाल स्त्री-पुरुषोंसे खचाखच भरा था। उस दिन बड़ी उत्सुकतासे किसीकी प्रतीक्षा की जा रही थी। लोगोंमें शामसे ही जोरोंकी चर्चा थी कि आज बनारससे कोई पण्डितजी आ रहे हैं, जो बड़े ऊँचे विद्वान् हैं। सुनते हैं कि जब वे बोलते हैं, तो श्रोता मुग्ध हो जाते हैं। आज रात उनका व्याख्यान होगा।

रात्रिके साढ़े सात बजे होंगे कि मंचसे स्व० सेठ मटरूमल बैनाड़ा खड़े हो गये और बोले कि पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पधार रहे हैं। वे पण्डालमें प्रवेश कर चुके हैं। सुनते ही सबकी निगाहें प्रवेश द्वारकी ओर थीं—कुर्ता-धोती और वेस्टकोट पहने, शिर पर गोल फैल्ट कैप और आँखों पर चश्मा लगाये एक सौम्यमूर्ति मंचकी ओर चली आ रही थी। वहाँ पहुँचते ही उन्हें आदरपूर्वक बैठाया गया। वे हाथ जोड़े हुए बैठ गये और लोगोंमें जो फुसफुसाहट होने लगी थी, वह शान्त हो गयी। वर्ष तो याद नहीं, पर बात चौथे दशक की है।

पण्डालमें उस समय संघके उपदेशक भैयालालजीका भजन चल रहा था। उसके समाप्त होनेपर स्व० श्री महेन्द्रजीने पण्डितजीका स्वागत करते हुये सबको उनका परिचय कराया कि आप स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीके प्रधानाचार्य और दिग० जैन संघ, मथुरासे भी सम्बद्ध हैं। जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान् और एक प्रखर प्रभावशाली वक्ता हैं। फिर उन्होंने पण्डितजीसे सबको अपनी ज्ञान गंगामें स्नान करानेके लिए प्रार्थना की।

वाणीके धनी—पण्डितजी महावीरके जयकारोंके बीच खड़े हुए। जैसे ही उन्होंने बोलना शुरु किया, पण्डालमें पिन ड्राप साइलेंस छा गई। वे लगभग एक घण्टा बोले और जन समूह उन्हें बड़ी शान्ति और श्रद्धासे सुनता रहा। एक ही रफ्तार और नपे-तुले शब्द, शैली विशिष्ट और भाषा सरल सुबोध। शब्द मानो स्वयं खिल रहे हों। चेहरे पर कोई तनाव नहीं। बीच-बीच में श्रोता जयकार बोलते रहे। व्याख्यान समाप्त होनेपर बड़ी देरतक करतल ध्वनिके साथ जयकारे होते रहे। पण्डितजी और उनका व्याख्यान काफी दिनों

तक नगरके जैन समाजमें चर्चाका विषय बने रहे। मैं भी उनके प्रशंसकोंमें एक हो गया। इसके बाद तो इलाहाबाद, जयपुर, और अन्य स्थानोंमें उनके अनेक बार दर्शन करनेका मुझे सौभाग्य मिला।

सम्पर्कका माध्यम जैन सन्देश—सन् १९६२ में रिटायर होकर मैं आगरा आ गया और सामाजिक कार्योमें और लेख लिखनेकी मेरी प्रवृत्तियाँ फिरसे शुरू हो गई। जैन सन्देशसे अपने पुराने रिश्तेको फिरसे जोडनेकी इच्छा हुई, तो पुरानी बातोको याद दिलाते हुए मैंने एक दिन पण्डितजीको पत्र लिख डाला। वे उसके प्रधान सम्पादक थे और अब भी है। जैन सन्देशका द्वार उन्होने मेरे लिए खोल दिया। मेरे लेख उसमे छपने लगे और वह मेरे पास आने भी लगा। इसे मैंने अपना सौभाग्य माना।

मेरे लेख कभी-कभी लम्बे हो जाते और कभी कार्बन कापी उनके पास भेज देता। एक-दो बार मेरे लेख नही छपे, तो मैंने पण्डितजीको लिखा। उनका उत्तर आया कि एक तो आपके लेख लम्बे होते हैं, दूसरे वही लेख आप और जगह भी छपने भेज देते हैं। उन्होने सलाह दी कि मैं लेखोको लम्बा न किया करूँ। उनकी यह सलाह मुझे मार्गदर्शकके रूपमें थी और उसी रूपमें मैंने उसे लिया भी। सक्षिप्त करके भेजने पर वे लेख आगे छप गये, परन्तु उसी लेखको और जगह भी प्रकाशनार्थ भेजनेसे मैं बाज नही आया क्योंकि डाककी गडबडीसे लेख इधर-उधर भी हो जाते हैं। कई वर्ष पूर्व एक वर्षान्तके सम्पादकीयमें लेखकोके नाम देते हुए उन्होने मेरे नामका भी उल्लेख किया था। २१ मार्च १९६८ के सम्पादकीयमें मेरे निवेदन पर यहाँ की जैन शिक्षा सस्थाओके सगठनकी योजनापर भी सम्पादकीय लिखनेकी कृपा की थी।

चोटीके लेखक और सम्पादक—इस प्रकार पण्डितजीके निकट आनेका और उनसे कुछ सीखनेका जैन सन्देश एक माध्यम बन गया। वे चोटीके जैन लेखको और सम्पादकोमें गिने जाते है। जिस तरहकी विशिष्ट शैली उनके बोलने की है, वैसी ही लिखनेकी भी है। पण्डितजीके सम्पादकीय और अन्य लेख बडे ही गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण होते है। वे जो कुछ भी लिखते है, सद्भावनासे निर्भीक होकर लिखते है। बात खरी कहते है बगैर लाग-लपेटके परन्तु सजी भाषामें और शिष्ट शैली में। कुछ लोग उन्हे अपमानजनक भाषामें बुरा-भला कहनेमे नही चूकते। परन्तु वे अपना सन्तुलन नही खोते है और उनका उत्तर देते है पर शिष्ट रूप से। वे जो भी लिखते है, सप्रमाण और तर्कसगत, अनुभव और अनुभूतिके आधार पर। उनका ध्येय रहता है, 'कोई बुरा कहे या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे। तो भी न्यायमार्गसे मेरा कभी न पग डिगने पावे।' पण्डितोके आर्थिक सकट और अनादरको लेकर उनके हृदय में जो दर्द है, वह किसीसे छिपा नही है। समाजकी विघटनकारी प्रवृत्तियोसे वे बराबर जूझते रहते हैं और सिद्धान्तकी रक्षामें जोखिम तक उठाने में नही हिचकते।

अग्रणी साहित्य सेवी—पत्रकारिताके साथ-साथ पण्डितजी साहित्य सृजनमे भी अग्रणी रहे है। आपने अनेको उच्चकोटिकी पुस्तको, टीकाओ और ग्रन्थोकी रचना की है परन्तु आपकी पुस्तक 'जैन धर्म' सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। जैनधर्मका बुनियादी ज्ञान करानेवाली यह पुस्तक अनुपम है जो अजैनोमें भी लोकप्रिय है। सन्त विनोबाके सतत प्रयत्नसे तैयार किये गये ग्रन्थमें 'समण सुत्त' में जो जैन गीताके नामसे विख्यात है, आपकी भूमिका मूल्यवान रही। उसका हिन्दी गद्यानुवाद करनेका श्रेय आपको ही है। जैन साहित्यका इतिहास भी आपकी बेजोड कृति है।

आदर्श गुरु—शिक्षाके क्षेत्रमें भी आपकी सेवायें महान् हैं। काशीका स्याद्वाद महाविद्यालय, आपके जीवनका अभिन्न अग बन गया है। अपने जीवनका अमूल्य बहुभाग खपाकर आपने उसकी जो सेवा की है, वह अमिट है। आपके बिना महाविद्यालय की और महाविद्यालयके बिना आपकी चर्चा अधूरी है। देशका

शायद ही कोई भाग ऐसा हो, जहाँ आपके शिष्य नहीं मिलें। अब आप कुछ वर्षोंसे वहाँ अधिष्ठाता हैं। भारतवर्षीय दि० जैन मघको वे वर्षों सींचते और पल्लवित करते रहे। वे एक आदर्श गुरु भी हैं।

अद्भुत पारखी—पंडितजी पारखी भी अद्भुत हैं। वर्षों पूर्व आपने नवदीक्षित युवा मुनि १०८ श्री विद्यासागरजी महाराजके चरित्र पालनका किशनगढ़ (राज०) में उनके दर्शन कर जो मत व्यक्त किया था, वह आगे चलकर शतप्रतिशत सही सिद्ध हुआ। तभी लिखे आपके सम्पादकीयने मुझे उस साधक सन्तके दर्शन करनेके लिए बेचैन कर दिया था। क्या इस युगमें ऐसे साधकका होना सम्भव है जो तीनों रत्नोका धारी हो। अब तक इधर जितने साधु मेरे देखने-सुननेमे आये, उनमेंसे अधिकाश या तो पर्याप्त आगम ज्ञानी नहीं हैं या भीड-भाड अथवा प्रतिबन्धोंसे घिरे रहनेवाले दिगम्बरत्वके अतिरिक्त सुविधा और शोहरतके आकाक्षी। किसी किसीका तो व्याख्यान सभाके अलावा साधारण श्रावकके लिए दर्शन भी दुर्लभ। एक दिन ऐसा भी आया कि आगरेमें उस महान् साधकके दर्शन कर मैं धन्य हुआ। पंडितजीने जैसा लिखा था, वैसा ही मैंने उस साधु शिरोमणिको पाया। स्वाध्यायरत, निस्पृही और आत्मलीन रहनेवाले।

पण्डितजीका व्यक्तित्व—जयपुरमें १९७० मे सम्पन्न जैन साहित्य ससद्के अधिवेशनमें पंडितजी-का पाडित्य और गाभीर्य छाये रहते थे। वहाँ अनेक स्थानोसे प्रतिष्ठित प्रौढ़ और युवा जैन विद्वान् आये थे। किसी भी विषय पर बहस तो बहुत होती थी, पर निर्णय तभी होता था जब पंडितजीके विचार सुननेको मिलते थे। उन्हे किसी भी तरहका आग्रह नही होता था, जो बात भी करते, सहज भावसे कहते, सबकी बाते और तर्क ध्यानमे सुनकर, हमारे चिन्तन पर चिन्तन कर। वहाँ एक बात महत्त्वकी अवश्य सामने आयी। राजस्थान विश्वविद्यालयके दर्शन-विभागकी गोष्ठीमे डॉ० कमलचन्द सोगानीने स्पष्ट कर दिया था कि जबतक हम आधुनिक पाश्चात्य-दर्शनका भी अध्ययन नही कर लेते और उसे ध्यानमें रखते हुए अपने दर्शन पर चिन्तन नही करते, तबतक आजकी वैचारिक दुनियाँमें हमारे ज्ञान व समाधानमें कही न कही अधूरापन रह जाता है।

मेरा ख्याल है कि पाश्चात्य विद्वानोका जो दार्शनिक चिन्तन है, उसका आधार तो भारतीय और श्रमण दर्शन ही है। हमारे दर्शनशास्त्रोको लेकर ही जर्मनी, रूस, ब्रिटेन और इटली आदि देशोमें बहुत काम हुआ है और हो रहा है। हमारे देशमें आकर और रहकर भी उन्होने बहुत कुछ खोजबीन की है और हम उनके ऋणी है। आप देखते नही कि हर्मनयाकोबी जैसे विद्वानोको उद्धरित करते हम नही अघाते। जून सन् १९७८ में जब मैं उज्जैन गया, तो डॉ० हरीन्द्रभूषणजीने मुझे बताया था कि जिस बारहवे अग दृष्टिवादको हम लुप्त मानते रहे हैं, उसपर जर्मन विद्वान् डॉ० लुडविग आल्सडोर्फने 'ह्वाट वेयर दी कान्टेंट्स आफ दृष्टिवाद' नामसे तीन खण्ड लिखकर प्रकाशित भी करा दिये हैं। कैसी विचित्र बात है कि मूल आधार तो हमारा और उनका एक ही है, परन्तु अन्तर यह है कि हमारा अध्ययन और चिन्तन तो परम्परासे जो चला आ रहा है, उसीको लेकर है जब कि पाश्चात्य विद्वानोंने आधुनिक विचार-क्षेत्र में वैज्ञानिक और मौलिक दृष्टिसे स्वतन्त्र रूपसे शोधपूर्ण अध्ययन और चिन्तन किया है। अत हमे अपनी चिन्तनपद्धति पर भी चिन्तन करनेकी आवश्यकता है।

यद्यपि हमारी पण्डितजीसे बहुत समयसे प्रत्यक्ष भेंट नहीं हो पाई है, फिर भी उनके प्रति मेरे मन व मस्तिष्कमें अगाध श्रद्धा और आदरभाव बना हुआ है और मैं उनके स्वस्थ व सुखी दीर्घजीवनकी हृदयसे कामना करता हूँ।

प्रभावक लेखनीके धनी

राजकुमार शास्त्री, नवाई (टोंक)

सम्माननीय सिद्धान्तमहोदधि प्रकाण्ड पण्डित, निर्भीक प्रखरवक्ता, नि स्वार्थ प्रमुख समाजसेवी, कर्मठ कार्यकर्ता, प्रभावक लेखनीके धनी श्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री—बनारसका अभिनन्दन किया जाना समाज सेवियोंकी सराहनीय सूझ-बूझ और कृतज्ञताका परिचायक है। उनका सम्मान समाज और विद्वानोका सम्मान है। उनमें धर्मके प्रति प्रगाढ श्रद्धा है। धर्म स्वरूपको समझानेकी अपूर्व क्षमता है। समाजोत्थानकी उत्कट लगन है। ढोग और व्यर्थके वादविवादो तथा समाज विघटन करनेके क्रियाकलापोंसे उन्हे मर्मान्तिक पीडा पहुँचती है। यदि इसी प्रकारसे थोडेसे भी विद्वान् समाजमें और हो जावे, तो मेरा विश्वास है कि समाजमें व्याप्त धीगाधीगी, कुरीतियाँ और विघटनकी क्रियायें सदाके लिये समाप्त हो सकती है। मैं ऐसे विद्वद्वरके लिये सदैव नतमस्तक होकर अपनी शुभकामनायें अर्पित करता हूँ।

●

लोकप्रिय विद्वान् एवं प्रभावशाली वक्ता

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

वाराणसी विद्वानोकी नगरी है और इसी नगरीके विद्वान् हैं प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री। वर्तमान विद्वत् वर्गमें सर्वाधिक लोकप्रिय विद्वान् है। पूरा जैन समाज उनके नाम एव उनकी विद्वत्तासे परिचित है। मेरा उनसे कब परिचय हुआ, यह तो मुझे याद नही है, लेकिन गत ३० वर्षोंसे मैं किसी न किसी रूपमें उनसे पत्राचारके माध्यमसे सम्पर्क में हूँ। उनके प्रवचन सुने है। कितने ही गोष्ठियो व उत्सवोमें उनके साथ रहनेका अवसर प्राप्त हुआ है और जबसे विद्वत् परिषदकी कार्य समितिका मैं सदस्य बना हूँ, तबसे तो और भी उनके सम्पर्कमें रहा हूँ।

शास्त्रीजीके प्रति सभी विद्वानोकी अपार श्रद्धा एव कृतज्ञताके भाव है। वास्तवमें स्याद्वाद महाविद्यालयमें प्राचार्यके पद पर रहकर आपने विद्वानो, सरस्वती-पुत्रो तथा लेखकोकी जो पंक्ति खडी की है, उसपर आज सारा समाज गर्व कर सकता है। लेकिन पण्डितजी विद्वानोको तैयार करनेवाले अध्यापक या गुरु ही नही हैं, किन्तु प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थोंके उद्धारक है, सम्पादक है तथा लेखक है। उनकी अकेली जैनधर्म पुस्तक ही उनकी कीर्तिको अमर करनेके लिये पर्याप्त है। लेकिन आपने जयधवला जैसे महान ग्रन्थके सम्पादन में सहयोग दिया तथा जैनन्याय जैसी सुन्दर पुस्तकको लिखनेका यश प्राप्त किया। आपकी बीसो पुस्तकें प्रकाशित होकर देश-विदेशमें जैन धर्मको उजागर कर रही है।

पण्डितजी जैसे अच्छे लेखक एव सम्पादक है, उसी तरह अच्छे वक्ता भी है। जब आप बोलने लगते है, तथा सिद्धान्तोके रहस्यको समझाते है, तो श्रोतागण हर्षविभोर हो उठते है। यही कारण है कि पण्डितजीको अधिकाश समय वाराणसीसे बाहर रहना पडता है।

आपके जीवनमें पूरी सादगी है। प्रदर्शन एव दिखावेसे आप कोसों दूर रहते हैं। वाराणसीमें आप एक छोटेसे कमरेमें बैठे-बैठे सारे समाजको दिशा निर्देशनका कार्य करते हैं। कमरेमें एक टूटी-सी खटिया तथा २–४ पुरानी कुर्सियाँ मिलेंगी। आपके जीवनकी सादगीको देखकर कोई नही कह सकता कि सामने बैठा हुआ व्यक्ति वर्तमानमें जैन-समाजमें सर्वोपरि ख्याति प्राप्त विद्वान् है। आप दिन-रात लेखन क्रियामें लगे रहते हैं तथा प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थोका सम्पादन करते रहते हैं।

आपकी बोलीमें आकर्षण है। बहुत दूरसे ही आप समझ जायेंगे कि कौन बोल रहा है। अभी आप मदनगंज, किशनगढ़ पंच कल्याणक महोत्सवमें आये थे। उस समय विद्वत् परिषद्‌की कार्यकारिणीका अधिवेशन भी था। आपने जिस ढंगसे अधिवेशनका संचालन किया तथा पंचकल्याणक महोत्सवमें विद्वानोंका नेतृत्व किया, वह उल्लेखनीय है। मदनगंजके पश्चात् आप श्रुतपंचमीके अवसरपर जयपुर पधारे और यहाँ सभामें सिद्धान्त एवं अध्यात्म ग्रन्थोंके भेदको समझाया। उससे जयपुर जैनसमाज आपकी विद्वत्तासे अत्यधिक प्रभावित हुआ।

आप देश एवं समाजके गौरव हैं। आप शतायु होकर जैनसाहित्य एवं समाजका दिशा निर्देशन करते रहें, यही हमारी हार्दिक अभिलाषा है।

●

जिनवाणीके एन्साइक्लोपीडिया

डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, डी०लिट्, अलीगढ़, (उ० प्र०)

बात आजकलकी नहीं, करीब पन्द्रह वर्ष पुरानी है। काशीपुर (नैनीताल) में त्रिदिवसीय महोत्सव था। बाहरसे आगत विद्वानों और मनीषियोंमें राजनेता श्रीमान् बाबू रतनलालजी जैन, मध्यप्रदेशके राजनेता श्रीश्यामलालजी पाडवी, पण्डितप्रवर श्रीमान् कैलाशचन्द्रजी जैन शास्त्री, डॉ० कुन्दनलाल जैन, संगीतज्ञ श्री ताराचन्द्रजी प्रेमी तथा गुणी गन्धर्व श्रीमाणिकजी पधारे थे। अलीगढ़से अहिंसा सम्मेलनके लिए मुझे भी आमंत्रित किया गया था। आयोजनके प्राण थे—बाबू उग्रसेनजी जैन। पण्डितजीके साथ एक ही मंचपर बोलनेका कदाचित् यह मेरा पहला ही प्रसंग था।

जब आगत विद्वान् बोल लिये, उसके बाद प्रेमीजीका गीत गान हुआ। मा० उग्रसेनजी द्वारा मेरा परिचय दिया गया और णमोकार मंत्रके उपरान्त मेरा वक्तव्य बैठकर हुआ। एक घण्टे बोलनेके बाद मेरी पीठको थपथपाया गया और मेरे वक्तव्यकी अनुशंसा की गई। मालूम है मेरी पीठ थपथपानेवाला कौन था? वे थे आदरणीय पण्डितप्रवर कैलाशचन्द्रजी शास्त्री। इतना नहीं, उन्होंने स्वसम्पादित मथुराके जैनसन्देशमें मेरे व्याख्यानकी खूब प्रशंसा कर डाली। मुझे लगा कि मानो पण्डितजी द्वारा मेरे लिये यह प्रमाणपत्र है। अब तो मुझे समाज द्वारा खूब बुलाया जाने लगा। सायंकालीन भोजनके उपरान्त मुझसे पण्डितजीने वार्तालाप भी किया और मुझे लगा कि दर्शन, साहित्य और संस्कृतिके विषयमें स्पष्ट दृष्टिकोण समाजमें वस्तुतः विरल ही है। तभीसे मेरे मनमें पण्डितजीके प्रति श्रद्धा-भावना उग आई।

महावीर जयन्तीके अवसरपर दूसरी बार बिजनौरमें मुझे पण्डितजीके साथ बोलनेका सुअवसर मिला था। कालिज प्रांगणमें आयोजित विशाल सभाको सम्बोधित करनेके उपरान्त जब पण्डितजीसे वार्ता हुई, तो मुझे खूब स्मरण है कि उन्होंने कहा था कि आप रजनीशकी भाँति खूब बोलते हैं। मेरा आशीर्वाद है। आप जैसे नवयुवकों द्वारा अब जैनधर्मकी प्रभावना होगी। यह मेरे लिये पण्डितजीका दूसरा स्वस्तिपरक प्रमाणपत्र था। इन भेंटोंमें मुझे जो लगा, उससे स्पष्ट है कि जो स्थान हिन्दी साहित्यमें आचार्य प्रवर श्री महावीरप्रसाद द्विवेदीका है, वही स्थान जैन-समाजमें पण्डित प्रवरका है। पण्डितजी ज्ञानके पक्के पारखी और सिद्धान्तके सुदृढ़ सुमेरु हैं। दिशा दर्शन तथा प्रेरणा प्रणाली कोई उनसे सीखे।

अखिल विश्व जैन मिशनके आद्य संचालक बाबू कामताप्रसादजी जैनके सौजन्यसे मुझे पण्डितजी कृत अनेक ग्रन्थोंके पारायणका सुअवसर प्राप्त हुआ है। लेखनमें पण्डितजीका दृष्टिकोण स्पष्ट और सर्वथा मौलिक परिलक्षित होता है। वे समयानुसार धर्म और सिद्धान्तके प्रतिपादनमें आस्था रखते हैं। उदारता-

वादी सिद्धान्ताचार्य पण्डितजीके सम्मुख आकर सारे विरोध प्राय अनुरोधमें बदल जाते हैं। वे वस्तुत अनेकान्त दर्शनकी सफल प्रयोगशाला हैं।

स्याद्वाद महाविद्यालयके प्राचार्य पदसे जहाँ पण्डितजीने अनेक ग्रन्थोका प्रणयन किया है, वहाँ निर्ग्रन्थवादी विद्वानोंको भी बनाया-सिखाया है। वर्तमान विद्वानोकी नामावली यदि बनाई जावे, तो आधेसे अधिक विद्वान् पण्डितजीके शिष्य ही मिलेंगे। वे सचमुच जिनवाणी व्याख्याताओके विश्वविद्यालय हैं। पण्डितजी द्वारा शास्त्र प्रवचन तथा स्वतन्त्र व्याख्यानोको यदि टेप किया जाता, जो जैनधर्मकी एक साहित्यिक सम्पत्ति हमारे पास होती जो अनेक दशाब्दियो तक हमारा मार्ग प्रशस्त करती रहती। पण्डितजी निश्चित ही जिनवाणीके एन्साइक्लोपीडिया है।

जिनवाणीके विचार-कोष पण्डितजी शतवर्षी होकर हमारा मार्गदर्शन करते रहें, यही हमारी कामना है। इस शाब्दिक आदरभावके साथ जिनवाणीके मल्लिनाथ श्री पण्डितजीको मेरे अनेक हार्दिक प्रणाम।

●

कर्मठ समाजसेवी

विष्णु सनावद्या, सुमनाकर, ऊन, म० प्र०

वास्तवमे श्री शास्त्रीजीने अपने जीवनके ५० वर्ष जन जगत्की सेवामे व्यतीत किये है। ऐसे कर्मठ समाजसेवीका सम्मान करना जैन-समाजका परम कर्तव्य है। श्री शास्त्रीजीकी दीर्घायुके लिए मै भगवान् श्री महावीरजीसे प्रार्थना करता हूँ।

●

शास्त्रीजी शतायु हों

मूलचन्द, किशनदास कापडिया, सूरत

हम तो दो वर्ष कम १०० वर्ष के हो रहे है, हमारा शरीर अत्यन्त शिथिल है। इन्द्रियोने एक प्रकारसे जवाब दे दिया है। इसलिये लिखना पढना भी नही बनता। हम प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री को अपनी शुभकामनायें प्रेषित करते हैं। वे शतायुष्क एव सुखी जीवनके भोक्ता हो। वे आजीवन इसी प्रकार धर्म व समाज की सेवा करते रहें। भगवान् महावीर आपका कल्याण करें।

●

सन्त कैलाशचन्द्रजी

प्रेमचन्द जैन, अहिंसा मन्दिर, दिल्ली

पूज्य पण्डित जी का जन्म १९०३ मे भगवान् पुष्पदन्तके ज्ञान कल्याणकके दिन नहटौर, उत्तरप्रदश में हुआ था। आप स्व० प० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थके सहपाठी थे। उन्होने उनके साथ मे आर्यसमाज से अनेक शास्त्रार्थोंमें सहयोग किया। आपका नाम बडी श्रद्धा ओर कृतज्ञतासे लिया जाता है। आपने अनेक प्राचीन शास्त्रो को आधुनिक भाषामें सपादित किया और जैनधर्म पुस्तक तो आपकी सर्वोत्तम कृति है जिसके लिये आपको पुरस्कार भी मिला। जैन सिद्धान्तके अनेक उच्चकोटिके ग्रन्थ आपके द्वारा सम्पादित (दि० जैन शास्त्रार्थ सघ मथुरा, वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली व अन्य जगहो से) होकर प्रकाशित हुए हैं।

आपके प्रेरणास्पद भाषण एवं आपकी धार्मिक रचनायें एक अमूल्य धरोहर है जो आनेवाली पीढियो को आगमज्ञानमें सदैव उद्बोधित करती रहेंगी। आजके समयमें जबकि पाडित्य अर्जन करने की ओर से लोगो की रुचि कम होती जा रही है, आपके अनेक विद्वान् डाक्टरेट करके समाज को दिशा दे रहे है।

हमारे तो आपसे अम्बाले से ही पारिवारिक सम्बन्ध हैं। जब कभी आप देहली आते है, बिना हमें आशीर्वाद दिये नही जाते। जिससे एक बार सम्पर्क बना लेते है, जीवन भर निर्वाह करते हैं। आपका साधनामय, ज्ञाननिष्ठ जीवन एक सतके जीवनसे कम नही है। इन्ही शब्दोके साथ मैं यही भावना भाता हूँ कि उनका वरदहस्त हम लोगोंके सिर पर चिरकाल तक बना रहे।

●

आदराञ्जलि

महताबसिंह जैन, पानदरीबा, दिल्ली

प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीसे मेरा सर्वप्रथम परिचय १९४४ में हुआ था जब मुझे दिल्ली की जैन समाजके जैन मित्र मण्डलका प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया था। उस समय सामाजिक लोगोमें चुनाव की प्रथा नही थी बल्कि समाजके कुछ प्रमुख लोग किसी अच्छे व्यक्तिको आग्रहसे किसी पदपर नियुक्त करते थे। मैंने भगवान महावीर जयन्ती पर पडितजीको आमंत्रित किया था। उनके प्रवचनो तथा उपदेशोमें यह दृढ विश्वास हुआ कि असलियतमें ही पण्डितजी सरस्वती (माता का नाम तथा जिनवाणी) के पुत्र है। इन्होने सारी उम्र जिनवाणी की सेवामें बितायी है और आज ७७ वर्षकी अवस्थामें भी वे उसकी सेवा मे व्यस्त है।

स्याद्वाद महाविद्यालय का इतना भारी कार्य करते हुए भी आपने अनेक ग्रन्थ लिखे एव सम्पादित किये। आपकी केवल एक पुस्तक **जैनधर्म** ही आपका नाम अमर करनेको पर्याप्त है। इसपर आप पुरस्कारके विजेता है।

आप प्रकृतिसे सादा, सौम्य और सरल स्वभावके हैं, बुद्धिके कुशाग्र हैं और कुशल वक्ता हैं। धर्मकी धारा आप जैसे सुहृद् साधु विद्वानोके कारण ही अविच्छिन्न रूपसे बहती है। आपकी वक्तृत्व शैली अति सरल और आकर्षक है। जनता मत्रमुग्ध होकर आपको सुनती है। आपके कई शिष्य ऊँचे पदोंपर कार्य कर रहे है। आपको अनेक स्थानोसे बहुत-सी पदवियो से सम्मानित किया गया है। जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना है कि आप चिरजीवी होकर समाज और धर्मकी सेवामें जीवनपर्यन्त तत्पर रहें।

●

शारदा का निडर सपूत

नीरज जैन, एम० ए०, सतना

शास्त्राभ्यासी बन जाना एक प्रयत्नसाध्य कार्य है। उस अर्जित ज्ञानका प्रसाद निरपेक्षभावसे दूसरो को बाँटने वाला प्रणम्य है। जिन-शासनकी प्रभावनाके लिये उस ज्ञानका उपयोग करने वाला वन्दनीय है। सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् पंडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका सहज सादगी भरा व्यक्तित्व इन तीनो ही महिमाओंसे मण्डित है। उनके अभिनन्दनके अवसर पर अपने श्रद्धा पुष्प समर्पित करके हम स्वत अपने आप को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

पंडितजीके व्यक्तित्व और कृतित्वके सम्बन्धमें अपने-अपने ढगसे बहुत कुछ लिखा जा सकता है। लिखा जा चुका है और लिखा जा रहा है। मैं उनके प्रति अपनी आदरपूर्ण भावनाओंको थोडी-सी पंक्तियोंमें बाँधने का प्रयत्न करूँगा।

पडितजीसे मेरा परिचय तो पूज्य बाबा गणेशप्रसादजी वर्णीके चरणोमें, सागरमें लगभग तीस वर्ष पूर्व हुआ था। उसके बाद विद्वत् परिषद्के निमित्तसे, तथा पूज्य वर्णीजीकी जयन्तीके निमित्तसे और सामाजिक उत्सव-अनुष्ठानोके निमित्तसे प्रतिवर्ष एकाधिक बार उनका दर्शन और सम्पर्क प्राप्त होता आया है। सतनामें उनकी सेवा करने का अवसर भी कई बार प्राप्त हुआ है, दो बार तो पर्यूषण पर्वमें उन्होंने सतना पधारनेकी कृपा की। उनकी अहेतुकी कृपाका प्रसाद उदारतापूर्वक समाजमें छोटे-बडो सभीको मिलता है। इससे अधिक मुझे उनका स्नेह भी प्राप्त हुआ है। घण्टो, दिनो और कभी-कभी सप्ताहो मैंने बडी निकटता से उनके व्यक्तित्व का अध्ययन किया है। मै इस बात को अतिशयोक्ति नही किन्तु यथार्थके रूपमें स्वीकारने योग्य मानता हूँ—कि जैसा बहुमुखी व्यक्तित्व पडित कैलाशचन्द्रजीके रूपमें विकसित हुआ है वैसा बहुत कम लोगोका हो पाता है। जितने अनूठे साधना-सिद्ध आयाम पडितजीके व्यक्तित्वमें रूपायित हुए है, उतने बहुत कम लोगोके व्यक्तित्वमे हो पाते है। मैंने उनमे समय-समय पर विद्यार्थीका लगन और निष्ठा का दर्शन किया है, विद्वान्की गहराइयाँ देखी है, साधकका मनन और चिन्तन परिलक्षित किया है, प्राचार्य का अनुशासन और दृढता देखी है तथा एक फक्कड-मनमौजी व्यक्तिकी निश्चिन्तता पाई है। प्रतिकूल परिस्थितियोमे भी अपने आपको सही दिशामें स्थिर रखने हुए, अपने अभिप्रायकी साधना करनेकी कला यदि सीखना हो, तो उसे बडे-बडे ग्रन्थोमें ढूँढनेके बजाय पडित कैलाशचन्द्रजीके जीवनसे सीख लेना अधिक आसान है। फक्कडपनकी सीमाओको छूती हुई उनकी इसी निस्पृहताने उन्हे समस्त दिगम्बर समाजकी कई पीढियोके लिए वन्दनीय बना दिया है।

ईसरीमें पूज्य वर्णीजीकी समाधिके समय प्रथम बार, अधिक दिनोके लिए मुझे उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ। जीवनके प्रति उनकी निस्पृहताका, अपने प्रति उनकी जागरूकताका और क्षुद्रताओके प्रति उनकी उपेक्षा भावका मुझे पहला दर्शन वही प्राप्त हुआ। उनके व्यक्तित्वकी अगम गहराईने मुझे उसी दिन उनका प्रशसक बना लिया। दूसरी बार मैंने उन दिनों उनकी जटिल मन स्थितिका अध्ययन किया जब जैन-सन्देशमें उनके लेखनको लेकर उन पर सोनगढके प्रति पक्षपातका आरोप, समाजमें एक विशिष्ट वर्ग द्वारा लगाया जा रहा था,। सोनगढसे स्वार्थ साधन करनेका मनगढन्त और बेबुनियाद आरोप प्रचारित करके उनके चरित्र हननका प्रयास किया जा रहा था। मैंने पाया कि ऐसे क्षुद्र आरोपोका प्रतिकार करनेमें पडितजीने कभी एक क्षण भी नष्ट नही किया। उसकी आवश्यकता भी नही समझी। बडीसे बडी दुरभिसन्धि कभी उनकी निष्कर्ष निर्भीकताको आन्दोलित नही कर पाई और बडेसे बडे प्रलोभन भी उनकी लेखनी या वाणीसे कभी अन्यथा प्रतिपादन करानेमें, या गोल-मोल बात करानेमें समर्थ नहीं हुए। वस्तु स्वरूपके चिन्तनमें उनका मस्तिक सदैव अत्यन्त सुलझा हुआ रहा और उन्होने हमेशा दो टूक लहजेमें तत्त्वका यथार्थ विश्लेषण स्पष्ट शब्दोमें प्रतिपादित किया। सोनगढ परम्परामें कानजी स्वामी और उनके परिकरके पास अध्ययन, चिन्तन और साधनाका जो तत्त्व जिस सीमा तक उन्हें उचित लगा, उन्होने किसीकी परवाह न करते हुए निडर होकर उसकी प्रशसा की। जो आचरण उन्हें अनुपयुक्त लगे 'पोपडम' और 'एकान्तपक्ष' जैसे कठोर शब्दोमें उनकी आलोचना करनेमें भी पडितजी कभी सहमे नहीं। जैन-सन्देशके उनके कई सम्पादकीय लेख पढनेमें तो दस मिनट लगते हैं परन्तु महीनोंके चिन्तनकी सामग्री पाठकोंको दे जाते हैं। 'एलाचार्य पदवी' 'अथवा' 'पीछी कमण्डलु' 'उनके ऐसे ही लेख हैं।

सोनगढ़में पंचकल्याणकके अवसरपर विद्वत् सम्मेलनकी आयोजना की गई थी। आयोजनका स्वरूप और अभिप्राय अघोषित था। अध्यक्षता करनेके लिए पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री उपस्थित थे। उद्घाटन श्रीमान् जगन्मोहनलालजीको करना था और प्रमुख वक्ता पंडित कैलाशचन्द्रजी थे। मेलेमें सोनगढ़ विचारधाराके समर्थक तो विपुल संख्यामें थे ही, ऐसे लोगोंकी भी वहाँ पर्याप्त संख्या थी जो इस विचारधाराको परीक्षणीय और विचारणीय मानते हुए उसपर प्रश्नचिन्ह लगाते थे। सोनगढ़ परिकरके बाहरके इन दो विद्वानोंको बोलनेका अवसर देनेमें क्या हेतु है, क्या रहस्य है, यह वहाँ चर्चाका विषय बना हुआ था। इस सम्मेलनमें ये दोनो विद्वान् अनेकान्त विचारधाराका कैसा प्ररूपण करेंगे, यह सुननेके लिए हजारो लोग उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे।

उद्घाटन भाषणमें पडित जगन्मोहनलालजीने 'परस्पर सापेक्षता' और 'निमित्त की तत्कालिक उपादेयता' का जो सुन्दर प्रतिपादन किया उसे लिखनेका यहाँ प्रसग नही है। पडित कैलाशचन्द्रजीने 'परमागम मदिर' के प्रस्तुतीकरण की सराहना करते हुए बडे जोरदार शब्दोमें दो बातें कहीं। पहली यह कि यद्यपि एक वस्तु दूसरीपर कोई प्रभाव नही डालती है फिर भी कुछ तो बात है कि यह पच्चीस हजार का श्रोता समुदाय कानजी स्वामीके निमित्तसे और परमागम मदिरके निमित्तसे अपने उपादानको प्रभावित करनेके लिए आज यहाँ उपस्थित हुआ है। पडितजीने दूसरी बात यह कही कि आचार्य कुन्दकुन्दने अकेले समयसारकी रचना नही की, उन्होने और भी अनेक ग्रन्थ रचे है। कुन्दकुन्दके दर्शनको समझनेके लिए हमें उनकी सम्पूर्ण रचनाओको सामने रखकर विचार करना पडेगा। जिन-वाणीका भण्डार बहुत बडा है। उसकी प्ररूपणा करनेवाले वीतरागी आचार्यो की परम्परा भी बहुत बडी है। कुन्दकुन्द अकेले नही हैं। धरसेनाचार्य, भूतबली, पुष्पदन्त और समन्तभद्र भी है। उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलकदेव और श्रुतसागर भी है। यतिवृषभ, नेमिचन्द्र, अमृतचन्द्र, जिनसेन और जयसेन भी है। हमें इन सबकी कथन पद्धतिको दृष्टिमें रखकर ही मार्गका निर्णय करना पडेगा। अकेले कुन्दकुन्दके लिए हम, आचार्योंकी दीर्घ परम्पराका बलिदान नही कर सकते।

पण्डितजीका यह भाषण तालियोकी लम्बी गडगडाहटमे मुक्तकण्ठसे सराहा गया। वास्तवमें यह भाषण सुनने योग्य तो था ही, देखने योग्य भी था। जिस समय वे "आचार्योंकी परम्पराके बलिदान" की बात कह रहे थे, उस समय उनके शब्दोकी दृढता और उनके मनका आवेश सचमुच दर्शनीय हो उठा था। उन्होने तीन मिनटमे जो कुछ कह दिया, उसने उनके तीस वर्षकी साधना परसे सशयका कोहरा हटाकर उनके अनेकान्त प्रेरित चिन्तनको निमिष भरमें उजागर कर दिया।

प्राय सुननेमें आता है कि पण्डितजी तो मुनि-विरोधी हैं। वे तो साधुओको नमस्कार भी नही करते। परन्तु मेरा अनुभव बिलकुल दूसरा है। पण्डितजी आचार्य सहिताके मर्मज्ञ और परीक्षा प्रधानी, आस्थावान् व्यक्ति है। अन्धभक्ति या मूढभक्ति अवश्य उनके भीतर नही है। वे पच परमेष्ठीकी वन्दना करते समय लोकके सर्व साधुओको जिस आस्थासे त्रिबार नमन करते है उसी आस्थासे उन साधुओके लिए उनका साक्षात् नमस्कार हमेशा निवेदित है जो साधु, आचार सहिताके अनुसार 'ज्ञान-ध्यान और तप' में लगे हुए है। मैंने उन्हें स्वर्गीय आचार्य शिवसागर महाराजके सघमे विनयपूर्वक परामर्श करते हुए देखा है। आचार्य श्री विद्यासागर महाराजके चरणोमे तो वे एकाधिक बार पहुँचे हैं। उन्होंने अत्यन्त भक्तिपूर्वक महाराजसे न केवल चर्चायें की है वरन् उन्हे आहार भी दिया है। पूज्य समन्तभद्र महाराजके पास भी पडितजी गये है। इस प्रकार वे जिनवाणी और जिनदेवके भक्त तो है ही। वीतरागी गुरुके प्रति भी उनके मनमे अपार श्रद्धा और भक्ति है।

'विद्वान्' विद्याके धनीका नाम नहीं है। इस शब्दसे जो सामान्य चित्र हमारे मस्तिष्कमें बनता है वह ज्ञान, मनन, साधना और निस्पृहतासे सवारा हुआ एक सरस चित्र होता है। पण्डित कैलाशचन्द्रजीके व्यक्तित्वमें उस चित्रके वे सारे रंग अपने पूरे समन्वय और पूरी अस्मिताके साथ परिलक्षित होते हैं। उनका लेखन बहु-आयामी है। सिद्धान्तके गूढ़तम रहस्योंको उन्होंने बालबोध भाषामें प्रस्तुत किया है। एक ओर 'सत्प्ररूपणा' जैसा नवनीत उनकी लेखनीसे प्रसूत हुआ वही दूसरी ओर सागार-अनगार धर्मामृत और गोम्मटसार जैसे महान् ग्रन्थोकी अवतारणा भी उनकी साधनासे सुबोध भाषामें उपलब्ध हुई है। उनका मौलिक लेखन और चिन्तन भी अपनी जगह विपुल और खरा है। उनकी साधनाकी वरिष्ठता नापनेका हमारे पास एक सरल आधार है कि आज, उन्हीके सामने, उनके शिष्योके शिष्य, अपने शिष्योका जीवन सवारनेमें सलग्न है। इस प्रकार विद्या-व्यसनी समाजकी चार-चार पीढियाँ एक साथ जिसे प्रणाम करती हो, उस व्यक्तित्वके प्रति झुक जाना मस्तकका ही सौभाग्य है।

●

मेरे पूज्य चाचाजी

अमरचन्द्र जैन, सतना

आज सबके परमादरणीय पंडित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीसे परिचय प्राप्त करनेका कभी सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, ऐसा मुझे याद नही आता। मैट्रिककी परीक्षा देकर जिस वर्ष उत्तीर्ण हुआ, स्कूल-कालेज खुलते ही पिताजीने मेरी कालेजी पढ़ाईकी तैयारी कर दी और एक दिन मेरे बनारस जानेका कार्यक्रम निर्धारित करके मुझे गाडीपर बैठा दिया। उस अनिश्चित अभियानका एकमात्र सम्बल था मेरे हाथ में एक पत्र, जिसे देते हुए पूज्य पिताजीने ये शब्द कहे थे कि "बनारस जाकर अपने कैलाशचन्द्र चाचाजीको यह पत्र दे देना, और जैसा वे बतायें सो करना।"

बनारसमें पहली बार मिलनेके बाद तबसे आजतक जैसा निश्छल वात्सल्य, जैसी कृपा और अनुग्रह, जैसी ममता और अपनापन, उनसे मुझे और मेरे परिवारको मिला, और मिल रहा है, वह किसी विद्वान्से समाजके किसी सदस्यको मिलना सम्भव नही था। गुरुसे शिष्यको भी उसकी उपलब्धि सहज नही थी। उसकी अजस्र धारा तो कोई पितृव्य, चाचा, दादा ही अपने बेटो, भतीजोपर बरसा सकता है। वही अनुपम उपलब्धि मुझे उनसे हुई और इसलिए मेरे लिए वे कभी बडे भारी विद्वान्के नाम-जामसे पडित महापुरुष नही दिखे। न ही कभी "गुरु" का सभ्रम पूर्ण आतकमय व्यक्तित्व मेरी निगाहे उनमें देख पाई। यह सब महानताएँ उनमे है और दिनो-दिन उनके व्यक्तित्वमें इनका उत्कर्ष होगा, परन्तु मेरे लिए तो वे सदैव ही निपट अपने, सहज सीधे, चाचा जी रहे हैं। मुझे यह भी ज्ञात है कि उनकी इस अजस्र प्रेम-परसादीका मैं अकेला हकदार नही हूँ। मेरे कुछ और भी भागीदार हैं। परन्तु हममेंसे प्रत्येक हमेशा यह समझता है कि चाचा जी पर, उनके लाड प्रेम और स्नेह पर, उसका ही एकच्छत्र अधिकार है। सबके लिए अपनेपन की यह पूर्णानुभूति प्रदान करना सचमुच उनके विशाल व्यक्तित्वकी विलक्षण विशेषता है।

पडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और मेरे पिताजीका उनके विद्यार्थी जीवनसे ही भाई-भाई जैसा स्नेह और सम्मानसे भरा सम्बन्ध रहा, जो आज तक निरन्तर वर्धमान होता चला जा रहा है। इस सम्बन्धका उल्लेख करते समय मैं 'सगे भाईकी तरह' जानबूझकर नही लिख रहा हू क्योकि सगे भाइयोमें ऐसे निश्छल और निःस्वार्थ सम्बन्ध, कमसे कम मेरे जमानेमें देखनेमें नही आते और यदि कही देखनेमें आते भी है, तो इतने दीर्घकाल तक उनका चलना तो नितान्त असम्भव ही है।

कहाँ तो मेरे पूर्वजोका यह गरिमामय प्रभामंडल, और कहाँ मैं, धर्म और साहित्यके मामलेमें निपट अनपढ, दफ्तरका बाबू, जिसे आठो याम अपने कामसे काम। जब मैं बनारस पढ़ने गया, तब तक मैंने अपने पिताजीके मुखसे भी 'धर्म-प्ररूपणा' नही सुनी थी। चाचाजीके मुखसे ही पहली बार मैंने प्रवचन और व्याख्यान सुने। उन्हींसे कुछ थोडा-सा ग्रहण कर पाया। उन्हींके सहारेसे वह मनोबल जीवन में प्राप्त हुआ जिसके रहते साधनाके क्षेत्रमें अपने रुकपनेका अनुभव तो होता है, उसपर लज्जा या पश्चात्ताप नही। उनके जीवनको अपने लिए आदर्श और मार्गदर्शक जीवन मानकर उनसे जो कुछ भी सीखनेका प्रयास किया है, उसका एक छोटा अश भी मेरे पल्ले पड जावेगा, तो मेरे लिए यह भव सार्थक हो जावेगा। उनके किस गुणकी चर्चा करूँ—ममतामें मातृत्वके समकक्ष, लाड-प्यार देनेमे पितासे भी बडे, अनुशासनमें मृदुता पर कलईकी तरह चढी हुई कठोरता और हित चिन्तनामें सन्त-सी निर्मलता। इन सारे गुणो को एक साथ जोडकर निस्पृहता और उदारताके साँचेमें ढालनेपर जो व्यक्तित्व बनेगा, वह है मेरे चाचाजीका व्यक्तित्व।

जबसे सुना समाज उनका अभिनन्दन करने जा रहा है, मैं बेचैन हूँ कि अभिनन्दनकी उस मालामें कमसे कम एक सुमन, या कमसे कम एक पखुडी मेरी भी हो, जो प्रतीक बने श्रद्धा और विनयकी उन भावनाओ की, जिन्हें शब्दो में व्यक्त करना मेरे लिए सचमुच सम्भव नही है।

●

विद्यावारिधि शास्त्रीजी

पं० शिखरचन्द्र शास्त्री, ईसरीबाजार (बिहार)

पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री यथानाम तथागुण हैं। आपने जीवनभर विद्याकी आराधना की है। आपका कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है। आपकी वाचन, प्रतिपादन एव लेखन-शैलीकी मोहकताके कारण आपको चतुरस्रवी कहा जा सकता है। आपके द्वारा की गई जिनवाणीकी सेवा 'इदानीमप्येषा बुधजनमराळै परिचिता' का स्मरण कराती है।

पूज्य वर्णीजीके जीवनकालमें आप उदासीनाश्रममें प्राय आते रहे थे। आपकी सिद्धान्त सम्बन्धी चर्चाओमें उन्हे बडा आनन्द आता था। वर्णीजी कहते थे कि पण्डितजी इस उक्तिको पूर्णत चरितार्थ करते है

'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।'

पूज्य वर्णीजीकी अन्तिम समाधिके समय आपका पूर्ण सहयोग रहा। आपके मधुर सामायिक पाठ तथा स्तोत्रपाठसे पूज्य वर्णीजीके शरीरमें अपार पीडा रहनेपर भी उसकी अनुभूति नही होती थी। वे नयी चेतनताका अनुभव करते थे।

अध्ययन, अध्यापन, लेखन तथा भाषण—ये चारो ही आपके जीवनके अग बन गये हैं। आप त्यागमार्गी पण्डित हैं। आप जिनवाणी रूप कैलाशपतिके ऊपर उदित होते हुए अपूर्व शान्ति सुखदाता चन्द्र हैं। मैं उनके प्रति अपना आदर-भाव व्यक्त करता हूँ।

●

कृतज्ञ कारंजा गुरुकुल परिवार

पं० माणिकचन्द्र चवरे, कारंजा और पं० माणिक चन्द्र भिसीकर, बाहुबली

मैंने सर्वप्रथम विद्वद्वर कैलाशचन्द्रजीको अपनी विद्यार्थी अवस्थामे ५ मार्च १९३० को कारंजा गुरुकुलमें देखा था। तब वे बिजनौर रथयात्राके लिये पण्डित देवकीनन्दनजीको बुलाने आये थे। उसके पूर्व मैंने उनकी विद्वत्ताके विषयमें बहुत कुछ सुना था, पर जब मैंने अपनी संस्थाके संरक्षक स्वाध्यायपण्डित प्रद्युम्न साहूके साथ उनकी गोम्मटसारकी गहन और गूढ चर्चा प्रत्यक्षत सुनी, तब मैं उनकी विद्वत्तासे अत्यन्त प्रभावित और प्रसन्न हुआ था। उन दिनो मेरे मनमे वाराणसी जाकर आपसे अध्ययन करनेकी अनेक बार इच्छा हुई। पर मुझे यह सुयोग नही मिल सका।

आपके द्वारा लिखित और सुसपादित अनेक ग्रन्थोंसे आपकी विद्वत्ताके दर्शन होते हैं। सागरके डा० पन्नालाल साहित्याचार्य, आ० अमृतचन्द्र रचित 'लघु तत्व स्फोट'का हिन्दी अनुवाद कर रहे थे। उस समय यह निश्चय हुआ कि इसका आद्योपान्त वाचन बाहुबली (कुभोज) में किया जाय। एतदर्थ मुझे भी उनके साथ लगभग अढाई सप्ताह तक रहनेका सयोग प्राप्त हुआ। उस समय आपने हस्तलिखित प्रतिके आधार पर कई अशुद्ध पाठोको शुद्ध करनेमें तथा अनेक दुरूह पाठोके आशयको समझानेमें अपनी सातिशय प्रतिभाका प्रकटन किया। इसी समय मुझे आपके व्यक्तित्वकी अनेक अमूर्त तथा जीवत घटनाओका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। यद्यपि उन्होने अपने मुखसे कभी अपने विषयमें नही कहा, लेकिन उनके सहपाठी प० जगन्मोहनलालजीसे मुझे बहुतेरी बातें ज्ञात हुई। उनकी विशेषताओका प्रत्यक्ष दर्शन अत्यन्त सुखद रहा। मैंने उनमें निरामय निश्छलता, सन्तुष्ट परोपकारिता, उद्यमशीलता, सादगीपूर्ण पवित्रता, दृष्टिसम्पन्न ज्ञानपरायणता पाई। इस समय मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि आपको निर्दोष जिनवाणीके किसी भी अगका अवमूल्यन स्वप्नमें भी इष्ट नही। यह उन्हे असह्य है। परमागमका मूल्याकन परमागमके रूपमे होना चाहिये। वक्ता समय या विषयके अनुसार गौण-मुख्यरूपसे कथन करे, यह बात दूसरी है परन्तु आप जिनवाणीका सदा समादर चाहते है।

यद्यपि वाराणसीसे कारजा काफी दूर है, पर पण्डितजीने हमारे निमत्रणोको सदैव स्वीकार किया हैं और वे आत्मीयतापूर्वक यहाँ पधारे है। उन्होने प्रामाणिक सलाहकारके रूपमें हमें अपनी सस्थाओकी विशेषत एलोरा गुरुकुलकी अनेक पेचीदी समस्याओको सुलझानेमें समयोचित और समुचित मार्गदर्शन दिया हैं। एतदर्थ गुरुकुल परिवार आपका कृतज्ञ है।

आपकी प्रामाणिक ज्ञान साधना अद्भुत रूपसे धारावाही तथा अखण्ड रही है। आपका सुसंस्कृत व्यक्तित्व समाजके लिये आदर्श एव वरदानस्वरूप रहा है। मेरी हार्दिक भावना है कि आप निरामयरूपसे दीर्घजीवी रहें और आपके परिपक्व अनुभवोसे समाज लाभ उठाता रहे।

●

शत-शत वन्दन

स्वतंत्र जैन, सूरत

गुरुजीकी हम क्या बात करे, क्या लिखे? हम जैसे अगणित शिष्यो पर आपके ऐसे उपकार हैं जिनसे हम जीवन भर भी ऋणमुक्त नही हो सकते।

शिष्योकी बात छोड़िये, वे समाजको अपने जीवनमे देते ही रहे है। आपको बडी बडी शक्ति तथा प्रलोभन भी नही डिगा सकी हैं। ऐसे ठोस सत्यवादी एव व्यापक ईमानदारके प्रति हम नतमस्तक है।

पण्डितजी बड़े स्पष्टवादी है। वे आगमके अनुकूल ही प्रवचन करते हैं। इसलिये उन्होंने शिथिलाचारी मुनियो और उनके पोषकोको सदा खरी बातें सुनाई है। वे मुनिधर्ममें किसी प्रकारकी बिसगति नही चाहते। सत्यके प्रशसक एव प्रतिपादक अपने गुरुवरको मैं शतशत वदन करता हूँ।

●

कंजूस और उदार व्यक्तित्व

डॉ० रमेशचन्द जैन, बिजनौर (उ० प्र०)

पण्डितजी स्याद्वाद महाविद्यालयके इतिहासमे पिछले पचास वर्षसे अपनी सम्पूर्ण आभाके साथ उगने हुए सूर्यके रूपमे अधिष्ठित रहे है। इस महाविद्यालयकी स्मृति आते ही पण्डितजीकी छवि अकित हो जाती है। वस्तुत स्याद्वाद और पण्डितजी एक दूसरेके पूरक हो गये हैं। किसी सस्थाके प्रति इतना ओतप्रोत जीवन्त पुरुष मैंने आज तक नही देखा। वहांका छात्र होनेके कारण मुझे उनको अनेकों रूपोमे देखनेका अवसर प्राप्त हुआ है। और बदलते प्रसगोंमें जितना उन्हे नकारनेका प्रयत्न किया गया है, उतनो ही अधिक मात्रामे उनके साथ सम्बन्धोकी सुदृढता घनीभूत हुई है। आजकी नवीन पीढ़ीके अनुशासनहीन वातावरणका देखकर उनके कठोर अनुशासनकी अनेक बार याद आई है और अपने पर्यावरणको किस प्रकार अनुशासित करना चाहिये, इसका अमूर्त सन्देश उनसे प्राप्त हुआ है।

छात्र कोई छोटासे छोटा ही अपराध क्यो न करे, उसे उनका सामना अवश्य करना होता था और अपनी स्थिति स्पष्ट कर अथवा उनसे दण्ड प्राप्त कर आनेके बाद ही अपराधी छात्रको मुक्तिकी सांस मिलती थी। विद्यालयका छात्र दिनभर अथवा रातमे कही भी रहे, सर्वत्र उसके मस्तिष्कमे पण्डितजी रूपी अप्रत्यक्ष साक्षी विद्यमान रहते थे।

विद्वत्ता, वक्तृता और लेखन—तीनोकी दृष्टिसे उनकी सरस्वती अद्वितीय है। विषयको सरल एव सुस्पष्ट करना और अपने विचारोको छाप श्रोतापर छोड देना, उनकी निजी विशेषता है। उनकी वाणीका जादू बडेसे बडे कोलाहलमे भी नीरवता ला देता है और सुनने वाला उनकी दो टूक बातोको सुनकर उनपर विचार करने और कार्य करनेको मजबूर होता है।

यथार्थवादिता उनकी वाणीकी विशषता है। स्याद्वाद प्रचारिणी सभा, काशीकी एक सभामें वक्ताओका विषय था 'यदि मेरे पास अमृतकुम्भ होता'। अनेक वक्ताओने अमृतकुम्भके विषयमे व्याख्यान किये। किसीने कहा कि मेरे पास अमृतकुम्भ होता, तो मैं राजा श्रेणिकको पुन पृथ्वीपर ले आता, किसीने कहा कि मैं राजा कुमारपालको जीवित कर देता, इत्यादि। अन्तमे जब पण्डितजी अध्यक्षीय भाषण देने खडे हुए और उन्होने अमृतकुम्भ पर सामान्य प्रकाश डाला, तो कुछ श्रोताओंने उनसे स्पष्ट कहा कि यह बताइये कि आपके पास अमृतकुम्भ होता तो आप क्या करते? पण्डितजीने तत्काल उत्तर दिया—मैं तो किसीको नही पिलाता, सारा अमृत मैं ही पीकर अपनेको अमर कर लेता। यह उनकी यथार्थवादिताका एक दृष्टान्त है।

पण्डितजीमे कजूसी और उदारताका विचित्र सयोग उपस्थित है। लक्ष्मीको व्यय करनेमे, चाहे निज कार्यके लिये ही हो, बद्धमुष्टि रहना उनका स्वभाव है और अपनी इसी विशेषताके कारण प्राय वे छात्रो तथा अन्य सम्पर्कमे आने वाले व्यक्तियोकी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष आलोचनाकी परिधिमे आ जाते है। यह सब होते हुए भी उन्होने लक्ष्मीका सग्रह करनेमें कभी अन्यायका आश्रय नही लिया। परिश्रमसे उपार्जित अपनी सीमित सम्पदामें ही वे सुखी हैं।

पण्डितजी लक्ष्मीको व्यय करनेमें जितने अनुदार है, उतने ही सरस्वतीकी सुरभिको फैलानेमें उदार हैं। यही कारण है कि भारतवर्षके कोने कोनेमें उनका शिष्य समुदाय फैला हुआ है।

पण्डितजी एक कुशल पत्रकार हैं, और सहस्रों लेखोके जनक हैं। वे सच्चे मार्गदर्शक हैं। मेरे ऊपर उनकी विशेष अनुकम्पा रही है। वे हमारे प्रेरणा स्रोत बने रहे है, यही मुझ जैसे अनेक शिष्योकी कामना है।

●

विद्यागुरुका नमन

डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, मंत्री, विद्वत्परिषद्, सागर

सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री दिगम्बर जैन विद्वानोमे मूर्धन्य विद्वान् है। श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीके प्राचार्य अथवा प्राणाचार्य रहनेके कारण आप हजारो विद्वानोके गुरुत्वको प्राप्त हैं। वक्तृत्व और लेखन कलाके धनी पण्डितजी जिस समारोहमे पहुँच जाते है, वह गौरवशाली हो जाता है। हृदयके सरल और विद्यार्थियोके बीच अपना समग्र जीवन बितानेवाले पण्डितजी विद्यार्थीका मानस परखनेमें अत्यन्त निपुण है। जो विद्यार्थी आपकी अन्त परीक्षामे उत्तीर्ण हो जाता है, आप उसके जीवन निर्माणमें पिताका काम करते हैं। सदा उसके शिर पर वरदहस्त रखते है।

बेजोड समीक्षक—मैंने देखा है कि अध्यापनके अतिरिक्त समयमे आप निरन्तर अध्ययनरत रहत हैं। जहाँ आप मौलिक साहित्यके निर्माता है, वहाँ अन्य साहित्यकारोंके द्वारा लिखित साहित्यके बेजोड समीक्षक भी हैं। देखा जाता है कि कितने ही समीक्षक विद्वान् ग्रन्थकी साज-सज्जा देख तथा प्रस्तावनाके दो चार पन्ने पलटकर अपना समीक्षा लेख लिख देते है। परन्तु आप सम्पूर्ण ग्रन्थका अध्ययन किये विना किसी ग्रन्थकी समालोचना नही करते। समालोचना देरसे प्रकाशित हो, इसकी आप चिन्ता नही करते। समालोचना करते समय आप निजी लेखकोका भी सकोच नही करते। जो बात उन्हें अनुचित दिखती है, उसका वे बराबर उल्लेख करते है। दूरस्थ लेखककी कृतिमें गुण भी होते है और दोष भी। पण्डितजी अपने समीक्षा लेखमे दोनोका उल्लेख करते है।

मुखर सपादक—जैन सदेशके आप सम्पादक है और आप उसक सम्पादकीय लेख इतनी निर्भयता और औचित्यको लेकर लिखते हैं कि विचारक पाठक आकृष्ट हुए बिना नही रहता। भाषण देते समय यथार्थ बातको कहनेमे आप कभी पीछे नही हटते।

अध्ययनशील गवेषी—अपने शिष्यजनोको किसी अच्छे काममे प्रोत्साहित करने तथा उन्हे आगे बढानेका आप सदा ध्यान रखते हैं। वे सफल पत्रकार, टीकाकार और मौलिक ग्रन्थनिर्माता हैं। प्राभृत सग्रह, न्यायकुमुदचन्द्रोदय, सागार धर्मामृत, अनागारधर्मामृत, उपासकाचार तथा जीवकाण्ड आदिकी प्रस्तावनाए पण्डितजीकी अध्ययनशीलताको प्रकट करती है और जैनधर्म तथा जैनसाहित्यका इतिहास १-२ भाग आपके गवेषणात्मक अध्ययनको अभिव्यक्त करते है। आपकी जैनधर्म रचना पुरस्कृत रचना है तथा सर्वत्र बडे आदरके साथ पढी जाती है।

डाटनेवाले गुरु—मैं सन् १९३० मे स्याद्वाद महाविद्यालयमे छह माह रहा। उस समय मुझे आपसे राजवार्तिक पूर्वार्द्ध पढनेका अवसर मिला। छात्रको अपना पाठ तैयार कर ही पण्डितजीके पास जाना पडता था। पाठ सुने बिना वे अगला पाठ नही पढाते थे। यदि छात्रने कदाचित् अपना पाठ तैयार नही किया, तो उसपर वह डांट पडती थी जिसे वह जीवन भर याद रखता था। सभवत इसी प्रवृत्तिने उनके शिष्योंको अध्ययनशील बनाया है। यही वृत्ति दोनोकी ही प्रतिष्ठामे साधन बनी है।

पण्डितजी और संस्थायें—पण्डितजी दिगम्बर जैन संघ, मथुरा और भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्-परिषदके सस्थापकोंमेसे एक है । आप दो बार विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष रह चुके हैं । सोनगढ़ तथा ललितपुर के अधिवेशनमे आपके महत्त्वपूर्ण अध्यक्षीय भाषण हुए हैं । गोपालदासजी बरैया और गणेशप्रसादजी वर्णी शताब्दी समारोह विद्वत्परिषद् की ओरसे मनाये गये, इसमें आपके ही प्रस्ताव मार्गदर्शक रहे है । वर्तमानमे आप विद्वत्परिषद्में सरक्षक है तथा सदा मार्गदर्शन करते रहते हैं । आपका मार्गदर्शन विद्वत्परिषद्के सरक्षणमे महत्त्वपूर्ण कार्य करता हैं ।

विद्यागुरुका अभिनन्दन—विद्वज्जनोके अभिनन्दनकी परम्परा बहुत प्राचीन है । वीरसेन स्वामीने धवलाके प्रारम्भमे लिखा है कि षट्खण्डागमकी रचना होनेपर भदन्त पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यका अभिनन्दन देवोके द्वारा किया गया था । उसी प्राचीन परम्पराको अब पुन नवीन रूप दिया जा रहा है । इस परिप्रेक्ष्यमें हजारो विद्यार्थियोके जीवननिर्माता प० कैलाशचन्द्रजीका अभिनन्दन न होना खटकनेवाली बात थी । यह प्रसन्नताकी बात है कि पण्डितजीके ही अनेक शिष्योंने इस कार्यको हाथमे लिया है । इस सन्दर्भमे मैं अपने विद्यागुरु पूज्य पण्डितके प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हुआ उनके दीर्घायु होनेकी कामना करता हू और पण्डितजीका निम्नलिखित आर्या द्वारा नमन करता हूँ ।

सहृदयताकुलभवन, विद्यापाथोधिमन्दर परमम् ।
कृतिपाटवसपूर्णं नमामि कैलाशचन्द्र तम् ॥

●

आदर्श अध्यापक एवं सफल साहित्यकार

महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, उज्जैन

पण्डित-वरेण्य सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्रीको मैं एक आदर्श अध्यापक एव शिक्षा-शास्त्रीके रूपमे देखता हूँ । उन्होंने एकान्त साधनाके रूपमे पैतालीस वर्षो तक श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीकी सेवा कर उसका सर्वांगीण अभ्युदय किया है । महाविद्यालयसे सेवानिवृत्त होनेके पश्चात् भी वे आजकल अधिष्ठाताके रूपमें उसकी सेवा कर रहे है ।

गुरुत्वका तात्त्विक निरूपण करते हुये महाकवि कालिदासने मालविकाग्निमित्रमे कहा है कि कुछ व्यक्ति केवल विषयको भलीभाति जानते है और कुछ विषयको दूसरोको सिखानेमे चतुर होते है । किन्तु जो व्यक्ति दोनो प्रकारकी कलाओमे चतुर हो, वही शिक्षक शिरोमणिकी प्रतिष्ठा प्राप्त करने योग्य है

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसस्था, सक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभय साधु स शिक्षकाणा, धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥

इसी प्रकार अध्यापकके मौलिक गुणोंकी ओर सकेत करते हुए कालिदास कहते है कि जो अध्यापक नौकरी प्राप्त कर लेनेपर शास्त्रार्थसे भागता है, दूसरोके उगली उठानेपर भी चुप रहता है और केवल पेट पालनेके लिये विद्या पढाता है, ऐसे लोग पण्डित नही, ज्ञान बेचनेवाले वणिक् है ।

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागम केवलजीविकायै, त ज्ञानपण्य वणिज वदन्ति ॥

कविकुल शिरोमणिने श्रेष्ठ गुरुके जो गुण ऊपर वर्णित किये हैं, वे गुरुवर्य प० कैलाशचन्द्रजीमें पूर्णत पाये जाते है । मुझे प० कैलाशचन्द्रका साक्षात् दशवर्ष तक शिष्य होनेका गौरव प्राप्त है और मैं

नि:संकोच यह कहनेकी स्थितिमे हूँ कि विषयका प्रौढज्ञान और छात्रोको सुन्दर रीतिसे उसका प्रदान—इन दोनो कलाओमें प० जी सिद्धहस्त है। वे जातिसे वणिक् अवश्य है किन्तु ज्ञानपण्यवाले वणिक् नही। उन्होने जो कुछ भी अर्थ, संस्थामे प्राप्त किया है, उससे अनेक गुना अर्थ संस्थाको उपार्जित करके दिया है

"सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रस रवि।"

इस विद्यालयकी एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है—राष्ट्रसेवाकी भावना पैदा करना। इस विद्यालयके अनेक छात्रोने १९४२ के राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनमे सक्रिय भाग लिया जिनमें मेरा नाम भी सम्मिलित है। फलस्वरूप मुझे जेल-यात्राके साथ कुछ वर्षोंके लिए अध्ययन स्थगित कर देश भ्रमण करना पडा।

प० कैलाशचन्द्रजी अपने जीवनके प्रारम्भसे ही राष्ट्रीय भावनाओमे ओतप्रोत रहे है। वे सदैव शुद्ध खादीके वस्त्र पहिनत है। उनके ही सौजन्यसे स्याद्वाद महाविद्यालयमे राष्ट्रीय भावनाका वातावरण रहा। इसी कारण १९४२ मे यह महाविद्यालय राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनके प्रमुख केन्द्रोमे गिना जाता था। उस समय शहरके सभी मुद्रणालयोपर शासनने अपना अधिकार कर लिया था किन्तु स्याद्वाद महा-विद्यालयने मुलतानी मिट्टीमे बने बिना मूल्यके देशी मुद्रणालयोमे प्रतिदिन हजारो पर्चो को छपाकर शहरमे राष्ट्रीय आन्दोलनको जागृत रखा। पण्डितजी सदैव ऐसी राष्ट्रीय गतिविधियोको प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपम प्रोत्साहित करते रहते थे।

प० कैलाशचन्द्रजी आदर्श अध्यापक होनेके साथ एक सफल साहित्यकार भी है। वे भारतीय ज्ञानपीठ, जीवराज ग्रन्थमाला आदि अनेक जैन साहित्य प्रकाशक सस्थाओके सम्पादक नियामक आदि तो है ही, स्वय भी उन्होने जो उच्चकोटिका साहित्य निर्माण किया, उसके आधारपर सफल साहित्यकारोमे उनकी प्रतिष्ठा है।

पण्डितजीने अभीतक १२ मौलिक ग्रन्थोकी रचना तथा १२ ग्रन्थोके सम्पादन और अनुवादके साथ सहस्राधिक सामाजिक एव शोधात्मक निबन्ध लिखे है। जैन साहित्यके इतिहासपर रचित उनके तीन मौलिक ग्रन्थ उनकी शोध प्रतिभाके निदशन है।

आप जैन विद्वानोकी नई पीढ़ीके जनक है। जैन विद्वानोकी समाज-सेवासे विमुखता एव निरन्तर हो रहे उनके अभावसे पीडित होकर पण्डितजीने जैन साहित्यका इतिहास, प्रथम भाग (वर्णी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन) के लेखकके दो शब्दमे लिखा था

"दिगम्बर जैन समाजमे भी चरित्रके प्रति तो आदरभाव है किन्तु ज्ञानके प्रति आदरभाव नही है। इसीसे जहाँ दिगम्बर जैन मुनिमार्ग वृद्धिपर है, वहाँ जैन पण्डित धीरे-धीरे समाप्तिकी ओर बढ रहे है। दिगम्बर जैन मुनिमार्गपर धन खर्च करनेमे तो श्रीमन्तोको स्वर्ग सुखकी प्राप्तिकी आशा है किन्तु दिगम्बर जैन विद्वानोके प्रति धन खर्च करनेमे उन्हे इस प्रकारकी कोई आशा नही है। फलत निर्ग्रन्थोंके प्रति धनिकोके द्रव्यका प्रवाह प्रवाहित होता है और गृही जैन विद्वानोको आजकी महगाईमे भी पेट भरने लायक द्रव्य भी कोई देना नही चाहता। इससे विद्वान् तैयार होते है और समाजसे विमुख होकर सार्वजनिक क्षेत्र अपना लेते है। वहाँ उन्हे धन, सम्मान—दोनो मिलते है।"

आदरणीय प० कैलाशचन्द्रजीका सम्मान कर हम उनमे निहित सरस्वतीके सम्मान द्वारा अपनेको कृतार्थ कर रहे है। मैं उन्हे अपनी आदराञ्जलि समर्पित करता हूँ।

●

विद्याव्यसनी एवं कर्मठ व्यक्तित्व

राजकुमार जैन, अ० भा० आ० चिकित्सा परिषद्, नई दिल्ली

यह एक निर्विवाद एव असदिग्ध तथ्य है कि विद्या-दानके द्वारा प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने असख्य छात्रोका भविष्य निर्माण किया है और उनके अन्धकारावृत पथको ज्ञान-पुजसे उद्भासित कर उन्हें योग्य, सक्षम एव विद्वान् बनाया है। पण्डितजीके असख्य शिष्योमेंसे मैं भी एक हूँ। उनके असाधारण व्यक्तित्वमे जहाँ मैंने कर्मठता ओर कर्मशीलताका अनुभव किया है, वही मैंने निश्छलता, उदारता और सहज सहृदयताका भी अनुभव किया है। वे एक सरल स्वभावी एव निस्पृही व्यक्तित्वके धनी हैं। उन्होने अपनी विशाल शिष्य परम्पराके द्वारा समाजमे जागृतिकी मशाल जलाई है जिससे विशाल जन साहित्यका नव-निर्माण एव पुनरुद्धार भी हुआ है। स्वय पण्डितजीने भी साधना-रत रहते हुए इस दिशामें जो योगदान किया है, वह उनकी सतत क्रियाशीलता एव विद्याभ्यासकी प्रतिमूर्ति है। पण्डितजीने अपने ज्ञान, गौरव, विलक्षण प्रतिभा एव साधनापूर्ण जीवनके द्वारा जो अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा श्लाघनीय एव अनुकरणीय है। नि सन्देह समाज उनकी सेवाओंसे उपकृत है और ऋणी है।

निश्छल एव कर्मठ व्यक्तित्वके धनी पण्डितजीके प्रति अपनी अभिनन्दनाजलि अर्पित करते हुए मैं उनके सुदीर्घ जीवनकी कामना करता हू। समाज उनके पथ-प्रदर्शनका लाभ उठाते हुए चिरकालतक अपनी ज्ञानपिपासाको शान्त करता रहे और अपनी साहित्यिक एव सास्कृतिक धरोहरकी रक्षा करता रहे, यही मगल कामना है।

एक कर्मयोगी

डॉ० सुरेशचन्द्र जैन, रायपुर, (म० प्र०)

प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री जैन समाजकी क्या, समूचे विश्वके लिए एक प्रेरणास्रोत हैं। स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमे पण्डितजीके चरणोमे इन पक्तियोके लेखकको चार वर्ष तक अध्ययनका स्वर्ण अवसर मिला है। इतने लम्बे छात्र जीवनमे पण्डितजीको बहुत ही नजदीकसे देखा है।

उनका जीवन पूर्ण सादगीसे भरा हुआ है। वे अपनी धुनके तो इतने पक्के है कि जिस कार्यको अपने हाथमे लेते है, उसको पूरा करके ही चैन लेते हैं। स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीके तो आप प्राण ही माने जाते थे। एक समयका प्रसग है कि पण्डितजीको अपनी सुपुत्रीकी अस्वस्थताके कारण बाराबकी (उ० प्र०) जाना था। यात्राके लिये बिस्तर वगैरह तैयार था। इसी बीच विद्यालयका जरूरी कार्य आ आनेसे वह बिस्तर बाराबकी न खुलकर विद्यालयके कार्य हेतु अन्यत्र ही खुला।

ऐसे कई प्रसग है जिनसे आपकी विद्यालयके प्रति अनूठी निष्ठा झलकती है। समयके तो इतने पक्के हैं कि उस समय हम छात्र लोग उन्हे विद्यालयमे देखकर अपनी घडी मिलाया करते थे।

आज जो उच्चकोटिके विद्वानोकी शृखला दृष्टिगोचर होती है, उसमें प्राय पण्डितजीकी ही शिष्यमण्डली है। आपकी छत्रछायामे जो भी थोडा-सा समय व्यतीत किया, उसने आपके निर्मल चरित्रसे बहुत कुछ पाया। वास्तवमे ऐसे विद्वानसे किसी वर्ग सम्प्रदाय या जाति विशेष नही, बल्कि सारी मानवता

ही लाभान्वित होती है। उनकी जैनधर्म नामक पुस्तक तो जैनेतर समाजके लिये भी एक निर्देश ग्रन्थ बन चुकी है। जयधवला आदि उच्चकोटिके ग्रन्थोंकी टीका कर आपने समाजके जनसाधारणके लिये जो उपकार किया है, उसको भावी पीढ़ियां कई सदियों तक स्मरण करेगी।

ऐसे निस्पृही विद्वान्‌के अभिनन्दनसे समाज स्वय ही गौरवान्वित रही है। मेरी कामना है कि पण्डितजी अपने उज्ज्वल जीवनकी शताब्दी मनाते हुए यशोवर्द्धन करें।

सहृदय पण्डितजी

राजनाथ रसोइया, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी

श्री स्याद्वाद महाविद्यालयके अधिष्ठाता पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बडे ही उच्चकोटिके विद्वान् और महापुरुष हैं वे महात्माके समान हैं। पण्डितजीका बोल-वचन बहुत ही सच और मधुर है। पण्डितजी द्वारा प्रदत्त पुस्तक रामचरित मानम हम लोगोको बहुत ही प्रिय है। उसे हम अपने घर ले गये तो हमारे गाँवके लोग बडे प्रेमसे उसको पढते हैं। हमारे घरके लोग पण्डितजीको बहुत ही आदरणीय मानते हैं।

एक घटना है कि हमारे पिता बहुत ज्यादा बीमार थे। पण्डितजीसे घर जानेकी छुट्टी माँगी, तो पण्डितजीने कहा—जाओ, देख आओ। अब अच्छे हो गये होगे। घर गये, तो पिताजी अच्छे हो गये थे। इस प्रकार पण्डितजीके वचन बहुत ही सच निकलते है। उनका भोजन शुद्ध और सादा चलता है। कई बार तो बिना नमकका ही भोजन कर लेते हैं, फिर बादमे याद आता है कि नमक नही पडा था। मगर पण्डितजी कुछ कहते नही है। अष्टमी-चतुर्दशीको एकाशन रखते है। जब पण्डितजी विद्यालयमे प्राचार्य थे, तो सुबह छह बजे ही ठडेके दिनोमे भी मन्दिर होकर गद्दीपर पढाने बैठ जाते थे। हम समस्त भृत्योंके प्रति पण्डितजीका अच्छा व्यवहार रहा है। वे हम लोगोंकी हर समस्याको सुनते है और उसको यथासभव पूरा करा देते है। वे समय-समयपर हमें हर साल कपडे तथा त्योहारोपर त्योहारी दिया करते है। जब पण्डितजीका साथ छोडनेकी बात आती है, तो आखोमे आँसू भर आते है।

मेरी दृष्टिमें पण्डितजी

डॉ० प्रेमसागर जैन, बड़ौत

गौर वर्ण, प्रशस्त ललाट, रोम-रोमसे झलकती प्रतिभा, पाण्डित्यके धनी, एक असाधारण व्यक्तित्व। प्रथम दर्शनमे ही मुग्ध रह जाना पडता है। मेरा भी यही हाल हुआ, जब स्याद्वाद महाविद्यालयमे पढने गया। सहज श्रद्धा उमगी, तो विनम्र हो जाना स्वाभाविक था। वैसे, संस्कृत विद्यालय विनयके प्रतीक होते है। और फिर वह समय ही कुछ ऐसा था, जिसमे अनुशासन भीतरसे फूटता था। पण्डितजी प्रधानाचार्य थे।

वहाँ मैं ९ वर्ष पढ़ा। पण्डितजी सफल अध्यापक थे। जो कुछ पढाते बालेके नीचे उतर जाता।

यह ही कारण है कि बहुत कुछ विस्मरण कर आनेके बाद भी बहुत कुछ याद है। आज बडी-बडी डिग्रियों और उपाधियोंसे सुशोभित अनेक मिल जाते हैं, किन्तु एक अच्छे अध्यापकका मिलना कठिन होता जा रहा है। यह मैं प्रतिदिन अनुभव करता हूँ। सच यह है कि भारतीय शिक्षाविद् भारतकी धरा, जलवायु और संस्कृतिको बिना समझे शिक्षाका रथ चलानेकी कोशिश करते है और फेल ही जाते हैं। अरबों रूपया व्यय करनेके बाद भी भारतीय शिक्षाका कोई 'फारमूला' नही बन पाया। यह एक खेदका विषय है। तो, पण्डितजीका अध्यापन अविस्मरणीय रहेगा।

जहाँ तक प्रधानाचार्यका सम्बन्ध है, उनमे प्रशासनिक सूझ-बूझ और प्रतिभा थी। पूरी संस्था उनके हाथमें थी। वे चाहते तो संस्थाके तानाशाह बन सकते थे, किन्तु उन्होंने सदैव लोकतन्त्रको तरजीह दी। मुझे स्मरण नहो कि उन्होंने छात्रोकी न्यायोचित माँगोको न माना हो। खुला वातावरण था। शिक्षा प्राप्त करने और विचार प्रगट करनेको खुली छूट थी। कही संकीर्णता नही, दबाव नही, शोषण नही। उस कालके संस्कृत विद्यालयोमे इतना खुलापन कही सम्भव नही था। यही कारण था कि हम केवल शास्त्र और ग्रन्थमे बन्धकर न रह सके, हम कुछ मौलिक चिन्तन और सृजनकी ओर बढे। मैं स्याद्वाद महाविद्यालयके वातावरणका सदैव ऋणी रहूँगा। पण्डित कैलाशचन्दजी उसके जन्मदाता थे।

अध्यापक वही है, जो अध्यापनसे बचे समयमें शोध-खोज, अन्वेषण, सम्पादन, ग्रन्थ-सृजन आदिमे अपना समय लगाता है। मैंने अपनी किशोरावस्थासे ही पण्डितजीको, छेदीलालके मन्दिरके नीचे बने भवनके एक प्रकोष्ठमे ग्रन्थोके घेरेमे घिरा देखा है। उन्होने धवला-जैसे ताडपत्रीय ग्रन्थोका सम्पादन और अनुवाद किया है। ग्रीष्मकी जलती दुपहरियो और शीतके कटकटाते जाडोमे, मैंने उनकी लौ का दीप सतत जलते देखा है। जेठकी एक दुपहरीमे, मैं छेदीलालजीके मन्दिरके उस उपर्युक्त प्रकोष्ठमें पहुँच गया। मुझे अपने शोध प्रबन्धके प्रथम खण्ड-'जैन भक्ति काव्यकी पृष्ठ-भूमि'के सम्बन्धमे पण्डितजीसे विचार-विमर्श करना था। पण्डितजीने एक घण्टे तक मुझे समझाया ही नही, अनेक दुर्लभ ग्रन्थोके उद्धरण भी दिये। अनुसन्धित्सुओके प्रति वैसा स्नेह और विद्वत्तापूर्ण निस्वार्थ दिग्दर्शन आज केवल कल्पना-सा लगता है। ऐसा लगता है कि युग बीत गया है। ऐसा लगता है कि भारतका गोल्ड समाप्त हो गया पर गोल्डनकी चकाचौंध है, जिसे विद्वत्ताके गगनचुम्बी सौध पर सजानेमे अहोभाग्य माना जाता है।

पण्डितजीने अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन-अनुवाद और मौलिक सृजन किया है। वे धर्म, इतिहास और संस्कृतिके माने-जाने विद्वान् हैं। उनके ग्रन्थ मनीषियो और साधारण जन—दोनोके बीच समान रूपसे समादृत है। इसका एक कारण है कि उनकी भाषा सहज-सरल सीधी और प्रवाह-पूर्ण होती है, तो उनके विचारो और भावोकी अनुवर्त्तिनी भी। उन्हे कही खीच-तान नही करनी पडती। भाषा स्वय उनके पीछे-पीछे चलती है। सहजगतिसे, उसकी सधी चाल, सभीके मनको मोह लेती है। उसे विद्वान् समझ लेता है, तो साधारण जन भी। पण्डित कैलाशचन्द्रजी दर्शन और धर्मकी टेढी-मेढी पगडण्डियो पर भी साधारण-से-साधारण जनको भी चलानेमे समर्थ हुए, उसका कारण उनकी भाषाकी सरलता और प्रवाह-मयता ही थी। गाधीजी एसी ही भाषा चाहते थे।

पण्डितजीके ग्रन्थोमें उनके गम्भीर अध्ययन और चिन्तनकी स्पष्ट छाप है। "आज"के यशस्वी सम्पादक श्री बाबूराव विष्णु पराडकरका कथन था कि पहले तो अनेकानेक ग्रन्थोंका वर्षो अध्ययन और मनन करना चाहिए, तभी लिखनेकी ओर प्रवृत्त होना श्रेयास्पद होता है। पण्डितजीने अपने जीवनका महत्त्वपूर्ण अश केवल अध्ययन और अध्यापनमें बिताया। इसके बाद ही वे सम्पादन और लेखनकी ओर

मुड़े, यह बात उनके सभी निकटवर्ती साथियो और छात्रोंको विदित है। जब लिखनेमें लगे, तो एक योबीकी तरह लिखते गये और लिखते जा रहे हैं।

जैन पण्डितोंने जिस निष्ठा और श्रमसे ताड़पत्रीय ग्रन्थोंका उद्धार, सम्पादन और अनुवाद किया, वह सराहनीय है। विदेशोंमें ऐसी लगन नही मिलती, यदि मिलती है तो डालरो अथवा पौण्डोमे उसकी कीमत हमारे लिए आश्चर्यका विषय होती है। एक बार एक विद्वान् पण्डित, सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्दजीके विरुद्ध धुआँधार बोल रहे थे। सार था कि पण्डितजीने धवलाके सम्पादनमे सहस्रो रुपया नाजायज ढगसे बचाया। मैं मौन था। 'निन्दा शब्द रसाल'से परिचित था। मैंने केवल इतना कहा कि पण्डितजीका यह काम यदि अमेरिका, इगलैण्ड अथवा जर्मन-जैसे देशमें सम्पन्न हुआ होता, तो उनपर गवर्नमेण्टकी ओरसे लाखों रुपया न्योछावर कर दिया जाता, हाथो-हाथ उठा लिया जाता और विश्वके मानचित्रपर उनका एक चमकता चित्र होता। जैन समाजने उनको क्या दिया? समुद्रको बूँदकी भेंटका क्या मतलब और क्या महत्त्व?

विगत २० वर्षोंमें जितना जैन लेखन हुआ, उसमे एक कमी है—मेरी दृष्टि मे। नही भी हो सकती। अपना-अपना दृष्टिकोण है। तुलनात्मक तत्त्वोकी बेहद कमी है। एक स्वस्थ और तटस्थ तुलना सदैव आदरणीय होती है। तुलनाके लिए जहाँ अनेक ग्रन्थोका पारायण करना होगा, वहाँ विदेशी दर्शन साहित्य और धर्म आदिका भी आलोडन करना आवश्यक हो जायेगा। जैन दर्शन अथवा सिद्धान्तका जगत्‌के क्षितिजपर प्रतिष्ठित करनेके लिए यह अनिवार्य है। वे विद्वान् जिन्हे जैन दर्शनका ठोस ज्ञान है, पश्चिमी दर्शन और दृष्टिसे नितान्त अस्पृष्ट है उन्हें करना होगा। तीव्रगामी यानोमे एकमेव होते विश्वमे यह एक अह महत्त्वकी बात है। उसके बिना हम कटे-कटे-से हो जायेंगे। मैंने पण्डितजीके 'जैन इतिहास'में अंग्रेज और जर्मन लेखकोके शतश उद्धरणोको ठीक प्रसगमें टचे देखा और उसका तर्कसम्मत खण्डन या मण्डन देखा तो प्रसन्नता हुई। यदि पण्डितजी अपने दर्शन और सिद्धान्तके ग्रन्थोमे भी तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनायें, तो कीर्तिमान स्थापित होगा। यह नि सन्देह सत्य है।

भाषण एक कला है, ऐसा मैं मानता हूँ। किन्तु यह भी मैं मानता हूँ कि जब उसके पीछे ग्रन्थ-गत ज्ञान और द्रवणशील हृदय होता है, तो उसमें निखार आता है। वह जमकर बोलता है और विभोर होकर बोलता है। सामनेका श्रोता-समूह विमुग्ध हो उठता है। हत-चेतन, अवाक्, मुँह-बाये वह भाषणकर्ताकी भाव तरगोके साथ उठता और गिरता है, हँसता और रोता है, उत्तेजित और शान्त होता है। मैंने अनेक ऐसे भाषणकर्ताओको देखा और सुना है। उसमें एक पण्डित कैलाशचन्द्रजी भी है। धर्म और दर्शनके टेढे-मेढे रास्तोंको पण्डितजी सहजगम्य ही नही, हरे-भरे भी बना देते हैं, जिसपर चन्द्रकिरणें छिटकती हैं और मलयानल बहता है। पण्डितजीको वाक्‌शक्ति जन्मसे मिली, ऐसा प्रतीत होता है। उनक बोलनका ढग अनुकरणीय है।

स्याद्वाद महाविद्यालयमे छात्रोकी एक सभा थी। उसका वार्षिक चुनाव होता था। बडी गरमागरमी रहती थी। उसके विधानमे साप्ताहिक बैठकका नियम था। उसमे छात्र हिन्दी और सस्कृतमे बोलते थे। बादमे अंग्रेजीमें भी बोलनेका प्रावधान हो गया था। मैंने उन सभाओमें बोलना सीखा। इतना सीखा कि स्याद्वाद विद्यालयके सात वार्षिकोत्सवोंमें मुझे प्रथम पुरस्कार मिला। अन्य अनेक पुरस्कार भी मिले। इस सबके प्रेरणासूत्र थे प० कैलाशचन्द्रजी। उन्होंने मुझे जैन सिद्धान्त पढाया और भाषण देना भी सिखाया।

पण्डितजीका एक रूप पत्रकारका रूप है। इसके माध्यमसे उन्होने जैनसमाजको अपना मार्ग दर्शन

दिया। उनके सम्पादकीय निर्भीकताके प्रतीक होते हैं। वे समाजसे कभी डरे नहीं, जो कहना था, कहा। प्रबुद्ध वर्ग सदैव उनके साथ रहा। समाजके कुछ लोगोंने उनका विरोध भी किया, किन्तु वे दबे नही। उनका जीवन सदैव गरिमापूर्ण और शालीन रहा। उन्होंने आवश्यकतासे अधिक पैसेकी कभी आकांक्षा नही की। उनके सादा जीवनके अनुरूप जो कुछ उन्हे कभी मिलता था, उसमें सन्तुष्ट थे। मैंने उन्हें कभी किसी सेठ अथवा सेट्ठि-पुत्र अथवा राजकीय पुरुषकी खुशामद करते नहीं देखा। वे बिकनेवाले जीव नही हैं। यदि ऐसा होता, तो वे अभी तक कभीके खरीदे जा चुके होते और फिर उनको लेखनीमें ऐसी निर्भीकता नही देखी जाती। उनका "पत्रकार" सदैव सजग और निर्भीक रहा। उनका यह रूप मुझे भाता है।

पण्डितजीका जीवन सात्त्विक और धर्ममय है। वे प्रतिदिन सात्त्विक और अल्पभोजन ही करते हैं। एक साधुके भोजनसे उनका आहार कही अधिक सादा होता है। सादा शाकाहार ही उनका जीवन है। ऐसा मैंने अनेक बार अपनी आँखोसे देखा है। रात्रि-भोजनका नितान्त निषेध है। हर परिस्थितिमें निषेध है। भारतीय ज्ञानपीठके एक लाख पुरस्कार समारोहके अवसरपर मुझे उनके साथ, लगभग चार वर्ष, एक साथ रहनेका सौभाग्य मिला है। वे दोपहरका ही भोजन कर पाते थे। शाम तो मीटिंगमें बीत जाती थी। रात्रिको सूखे मेवे और दूध लेकर सो जाते थे। देव दर्शनका ऐसा नियम कि उसके बिना नाश्ता तक नही करते। देवदर्शन भी ऐसा-वैसा नही कि मत्था टेका और भाग आये, लगभग एक घण्टा। पाँच मिनट बाद, मैं मन्दिरसे बाहर आ जाता और पचपन मिनट पण्डितजीकी प्रतीक्षा करता था। कभी-कभी उनसे अण्ट-शण्ट बोल जाता किन्तु वे सदैव मुसकराते ही रहते। बात-चीतसे विदित हुआ कि आदमी अभ्यासमे जीता है। मन तो कभी-कभी ही रमता है।

पण्डित कैलाशचन्द्र एक ऐसे पण्डित है, जिनके चेहरे पर कोई मुखौटा नही है। आजकी इस दुनियामे असली चेहरा लेकर घूमना कितना मुश्किल है। हर कोई जानता है। एक असमियाँ कविताका सार है, "मेरे चारो तरफ भीड है। मैंने हरेकके चेहरे पर नजर डाली, तो असली चेहरा किसीका न मिला। एक दूर खडे आदमीको मैंने समझा कि उसका चेहरा असली है। मैं उसके पास गया उसके चारो ओर घूमकर देखा तो मालूम पडा कि उसके पीछे बडी-बडी गुफाएँ हैं। मै फिर आकर अपनी जगह खडा हो गया और सोचने लगा कि क्या इन मुखौटा-चढे लोगोके बीचमें असली चेहरा लिये जिन्दा रह सकता हूँ।" किन्तु पण्डितजी जी रहे है और यह उनकी बहुत बडी जीत है। असलियत को छिपाना वे नही जानते, ऐसा उनका निष्कलुष हृदय है। आज के इस पैसा और सेक्सके युगमें मनसे कलुष हटा देना बहुत बडी बात है। मन और वाणीकी एकता कभी सम्भव नही रही। जो कर पाते थे, साधक कहलाते थे। मैं पण्डितजीको साधक तो नही कहता किन्तु उनका इस दिशामे सतत प्रयत्न, एक सद् प्रयत्न तो है ही। इससे उनके मनके पुनीत भाव उजागर होते है।

पैसा बहुत बडी चीज है। उसके बिना जीवन नही चलता। जिसने मनुष्यका शरीर पाया है, उसे पैसा जरूर चाहिए। महावीरने दुनियाके लोगोके लिए पैसेको नगण्य नही माना। किन्तु उसके सन्तुलनपर उन्होने बल दिया। उन्होने कहा कि जरूरतसे अधिक पैसा सकलित करना पाप है। पाप इसलिए कि वह समाज और व्यक्ति दोनोके लिए हानिकारक और विपत्तियो का जन्मदाता है। आज पैसेका युग है। महावीरने बहुत बडी बात कही थी, किन्तु जैनोने न उसे प्रचारित किया और न प्रसारित। जब मार्क्सकी थीसिस प्रकाशमे आई, तब भी जैन चुप रहे। उस समय उन्हें महावीरके सिद्धान्तोंसे विश्वको वाकिफ करना चाहिए था। इस सम्बन्धमे पण्डितजीसे बात हुई। उन्होंने कहा कि महावीरका यह सिद्धान्त कि "जरूरतसे अधिकका सकलन मत करो", एक सार्वभौम और सार्वकालिक तत्त्व था। पण्डित कैलाशचन्द्रजी स्याद्वाद

विद्यालयके प्राचार्य पदसे अवकाश ले चुके हैं। अब कोई पैसा उन्हे नही मिलता। मैंने पूछा कि क्या आप लडकेकी कमाईपर निर्भर हैं ? उन्होने कहा—नही। हमारा बैकमे इतना पैसा जमा है कि २०० रुपया माहवार ब्याजका आ जाता है। इससे अधिककी हमें आवश्यकता नही है।

पण्डितजीसे रमारानी और साहु शान्तिप्रसादने एकाधिक बार कहा कि अब, अवकाश-प्राप्तिके बाद, आप 'भारतीय ज्ञानपीठ' सम्भालिए। पण्डित जी ने इन्कार कर दिया। इस सन्दर्भमे उनका स्पष्ट मत है कि मैं अब कही नौकरी नही करूँगा। मुझे उसकी आवश्यकता नही है। पण्डितजी भारतीय ज्ञानपीठकी मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक है। इस दिशामे उनका सहयोग नितान्त अवैतनिक है। आज, जब भारतीय समाज पैसेकी चकाचौंधमे चौंधियाता जा रहा हो, पण्डितजीकी उसमे कोई आसक्ति नही। उनका यह निरासक्त भाव अभिनन्दनीय है।

पण्डितजी अपने सभी छात्रों, सम्बन्धियो, विद्वानो, समाजके जान पहचानके व्यक्तियोंसे प्रेम करते हैं, किन्तु मोह किसीसे नही। उसके भीतरका यह मोह-हीन रूप हम लोगोको सदैव चक्करमे डालता रहा है। किन्तु जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, पण्डितजी जैन होते हुए भी जगद्गुरु शकराचार्यकी इन पक्तियोका मूल रूपमे अमल करते हैं

का ते कान्ता, कस्ते पुत्र , समारोऽयं अतीव विचित्र ।

मैं पण्डितजीकी शतायुकी शुभ कामना करता हू।

●

जैन संस्कृतिके अग्रदूतके प्रति

धन्यकुमार सिघई, कटनी, म० प्र०

आजके पावन प्रसगपर विश्वविख्यात अँग्रेज साहित्यकारकी एक घटनाका स्मरण आ रहा है। एक समय प्रधान मन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू अपनी लदन यात्राके अवसरपर आग्ल मनीषी जार्ज वर्नाडशासे उनके निवासपर मिलने गये। विशुद्ध शाकाहारकी चर्चाके समय शॉ ने प्रशसात्मक शब्दोंमे नेहरूजीसे कहा कि आपके भारतमे बहुत अच्छी चीजे है। गाँधी है, आप हैं, जैन धर्म है। इस कथनसे किस भारतीयका मस्तक गौरवसे ऊँचा नही होता। ऐसी है हमारी गरिमापूर्ण अहिंसामयी परम्परा। और उसीके परिवर्धक और प्रसारक है हमारे पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री।

अतीत कालमें समय-समय पर असाधारण पाण्डित्य एव प्रगल्भ प्रतिभासम्पन्न पुरुषोने हमारे देशमे जन्म लिया है। जैन वाङ्मयकी विभिन्न प्रकारकी रचनाओसे समयके अनुसार साहित्य सृजनकर उन्होने जिनवाणी माताका कोष समृद्ध किया है। मेरी मान्यता है कि उसी शृखलामे यदि आचार्य प्रवर युगमनीषी प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीको रखूं, तो मेरी दृष्टिसे कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। उनकी असाधारण मेधावी प्रवृत्तियोने जैन ससार और विश्वको कुछ ऐसी विशिष्ट कोटिकी रचनायें दी है जो सहज सम्भव नही हैं। आपकी एक दर्जनसे अधिक मौलिक रचनायें आपके गम्भीर अध्ययन, अनुशीलन एव अनुभवके प्रमाण हैं। जहाँ विशद ग्रन्थोके सम्पादन, अनुवाद, टीका आदि की विवेचनाका प्रश्न है, वहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि ग्रन्थराज जयधवला जैसे महान् आगमग्रन्थकी टीका आपके द्वारा सम्पन्न हो रही है।

आपने अनेक ग्रन्थोकी गवेषणापूर्ण सरल सुबोध टीका कर सर्व सुलभ बनाया है। जैन दर्शनपर खोजपूर्ण निबन्धों एव सामयिक धार्मिक प्रश्नोके समाधान स्वरूप अपने सैकडो लेखों द्वारा समाजके जिज्ञासुओंको

सन्तुष्ट किया है। जैन सदेशके सम्पादकीयके अग्रलेखोंका अपना अलग महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। बिना किसी पक्षपातके वस्तुतत्त्वका निर्भीकतासे प्रतिपादन करना उनकी अपनी विशेषता है। मेरे लिये उनकी कृतियों एव कार्योंकी समीक्षा करना अत्यन्त कठिन है। इनकी जैन जगत् की सेवायें अनुपमेय हैं। केवल भावी पीढ़ी या इतिहासकार ही उनकी सेवाओका मूल्याकन करनेमें समर्थ हो सकेगा। इतना अवश्य कह सकता हूँ कि आपकी रचनाये आपके सिद्धान्तोके गहन पाण्डित्यकी प्रतीक है।

काशीका स्याद्वाद महाविद्यालय और आपका व्यक्तित्व एक दूसरेके पूरक बन गये हैं। ४५ वर्षके प्रधानाचार्यत्वके बाद पिछले ७ वर्षोंसे आप अधिष्ठाता पदपर रहकर आज भी विद्यालयकी सेवामे सलग्न हैं।

विद्यालयके अतिरिक्त, आप अनेक उपयोगी धार्मिक, सास्कृतिक कार्यों, शोध एव परामर्श मण्डलोमे व्यस्त रहते है। आपके कुशल दूरदर्शिता पूर्ण नेतृत्व एव मार्गदर्शनका अनेक सस्थानोंको पूरा-पूरा लाभ मिलता है। साहित्य सृजनमे आपकी विशेष रुचि है। आपका अधिकाश समय लेखन, सम्पादन, अनुवाद व टीका करनेमे व्यतीत होता है। लेखन कलामे आप जितने सिद्धहस्त है, उतना ही आपका वाणीपर अधिकार है। घण्टो अपनी ओजस्वी वाणीसे बडेसे बडे समुदायको सम्बोधित कर आप मत्र मुग्धकर प्रभावित करते हैं। आप जितने बडे विद्वान् है, उतनी ही आपके जीवनमे सादगी है और सरलता है। आडम्बरहीन जीवन ही उन्हे विशेष प्रिय है।

निस्पृहता आपम कूट-कूटकर भरी है। धार्मिक, सामाजिक आयोजनोमे आप कभी भेंट स्वीकार नही करते। निष्काम भावसे धर्म तथा समाज सेवाका निर्वाह प्रारम्भिक जीवनसे ही निरासक्त वृत्तिसे कर रहे हैं। वर्तमानमे यह अप्रतिम अनुकरणीय आदर्श है जिसके दर्शन हमे व्यक्तिमें कदाचित् ही अन्यत्र मिलते है। ऐसे सकल्पके धनी व्यक्ति इस भौतिक युगमे विरले हैं। उन्होने समाजसे लेनेकी अपेक्षा उसे दिया ही दिया है।

कुछ स्मृतियाँ —हमारी स्मृति जहा तक जाती है, हमे पण्डितजीका स्नेह एव कृपाभाजन होनेका सौभाग्य प्राप्त है। उनका हमारे परिवारसे सम्पर्क रहा है। हमें ऐसा कोई अवसर याद नही जब पण्डित जीने हमारे पारिवारिक, धार्मिक उत्सवो या वैवाहिक मागलिक प्रसगोमें भाग न लिया हो। उनका आशीर्वादात्मक वरदहस्त सदैव हमारे ऊपर रहा है। वे हमारे परिवारके अभिन्न अग, अग्रज और कर्णधार रहे है। अनेक बार यात्राओमे उनके साहचर्य एव सत्सगके लाभसे भी लाभान्वित हुए है। ऐसी अनेक रोचक, सरस प्रवासकी स्मृतियाँ है जो हमारे स्मृति पटलपर निधि स्वरूप सुरक्षित हैं। उनमें एक ऐसी अविस्मरणीय घटना है जिसका उल्लेख करना अनुचित न होगा।

पण्डितजीके विद्यार्थी जीवनकी घटना है। आप आदरणीय पण्डित जगन्मोहनलालजीके सहपाठी थे। पण्डितजीके पिता श्री बाबा गोकुलचन्द्र ब्रह्मचारी धर्म प्रचार हेतु पन्ना स्टेटके अचलमें बसे ग्रामोका भ्रमण कर रहे थे। दूर-दूर तक फैले वनो के बीचमे छोटी-छोटी ग्रामीण बस्तियोंमें जैन समाजके परिवार बसते थे। रियासत होनेसे आवागमनके विशेष साधन सुलभ न थे। कभी-कभी रियासतकी डाक सेवा बस आती थी। राज्य कर्मचारियोकी कृपासे बसमे कभी-कभी कुछ यात्रियोको यात्राकी सुविधा मिल जाती थी। वह भी मार्ग अधूरे बने होनेके कारण बीचमें ही यात्रीको मार्गमें छोड देती थी। दुर्गम पहाडी वन-वीथियोके द्वारा अभीष्ट स्थानोमें पहुँचनेके लिये काफी कठिनाईका सामना करना पडता था। दैववशात् बाबा गोकुलचन्द्रजी भ्रमण करते-करते एक ग्राममें सख्त बीमार हो गये। प० जगन्मोहनलालजीको किसी तरह पिताजी की बीमारीकी सूचना मिली। वे जैसे-तैसे कठिनाइयोंका सामना करते हुए पता लगाकर वन्य मार्गोंसे उस

गाँवमें पहुँच सके। जंगली स्थान होनेसे मार्गमें हिंसक पशुओं एव शेरोका भय बराबर बना रहता था। पिताजीको २० लघनें हो चुकी थीं। देह टूट चुकी थी। ग्रामीण वैद्य २० मील दूरपर रहते थे। चिकित्साकी समुचित व्यवस्था न पाकर और स्थिति गम्भीर देखकर इन्होंने एक पत्र अपने महाध्यायी मित्र श्री कैलाशचन्द्र जीको मुरैना विद्यालयके पतेपर पिताजीकी गम्भीर स्थितिका जिक्र करते हुए छोड दिया। जब उन्हें इनका पत्र मिला, वे मित्रके सकटसे विचलित हुए। पैसा पासमें नही था। जटिल समस्या थी। केवल एक अगूठी सोनेकी अगुलीमें थी। अन्ततोगत्वा कोई चारा न देखकर उसीको गिरवी रखकर मित्रकी महायतार्थ वे मुरेनासे चल पडे। चूकि हमारे परिवारसे बाबा श्री गोकुलचन्द्र जी का सम्बन्ध था, अत वे चलकर सीधे कटनी आये और यहां इन्होने बाबाजीकी बीमारीकी सूचना दी। हमारे घर भी उनकी अस्वस्थताका समाचार आया था। पर उस गाँवका पूरा-पूरा पता ठिकाना न मालूम होनेसे हमारे ताऊ व चाचाजी वगैरह कोई सहायता न कर सके। किन्तु कृतसकल्प प० श्री कैलाशचन्द्रजी ग्रामका पता लगाते-लगाते सतना स्टेशनसे पन्ना रियासतके उस दुर्गम जगली ग्राममें अनेकानेक कठिनाइयो को पारकर, पद यात्रा तथा घोडेकी सहायतासे पहुँच गये। जब उनकी पण्डित जगन्मोहनलाल जीसे भेंट हुई, तो उनके नेत्र भर आये। गम्भीर वस्तु स्थितिके समय इनके साहस और सान्त्वनाने जो कार्य किया, वह किसी महौषधिसे कम नही था। शनै शनै बाबाजी स्वस्थ हुए। उनका समाज सेवा एव जिन धर्म प्रचारका कार्य यावत् जीवन चलता रहा। श्री सिद्ध क्षेत्र कुडलपुरमे उनके द्वारा स्थापित श्री महावीर उदासीन आश्रम आज भी वर्तमान है। श्रद्धेय पण्डित जगन्मोहनलालजी आज भी उनके जीवन स्मारक हैं जो गृह त्यागकर निस्पृह जीवन यापनका व्रत लेकर जैन-ससारकी महती सेवा कर रहे हैं। ऐसे महर्षि-सम महामानवको मेरा शत-शत प्रणाम।

अनुपम निधि

सेठ भागचन्द्र सोनी, अजमेर

पण्डितजी समाजकी अनुपम निधि हैं, उनका सम्मान समाजका सम्मान है, जिनवाणीका सम्मान है।

वाग्देवी सरस्वतीके महान् उपासक पण्डितजी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोके यशस्वी रचयिता तथा सम्पादक, प्रखर पत्रकार एव कुशल ओजस्वी उपदेष्टा है। उनकी वाणीमें ओजपूर्ण माधुर्य, लेखनीमें तर्कपूर्ण गवेषणात्मक शैली तथा समाजको दिशा देनेकी अद्भुत क्षमता है।

पूज्य क्षु० श्री १०५ गणेशप्रसादजी वर्णीके शब्दोमें 'स्याद्वादके प्राण' पण्डितजी वस्तुत स्याद्वादके प्राण हैं। इन्होंने अपनी क्षमतापूर्ण साधनासे श्री स्याद्वाद महाविद्यालयको विशाल वटवृक्षके रूपमे पल्लवित पुष्पित किया है। उनकी यश-सुरभि आज उनके हजारो शिष्य सर्वत्र बिखेर रहे हैं। दूसरी ओर जैनधर्मके शाश्वत सिद्धान्त स्याद्वादके वे प्रखर प्रबल उपदेष्टा तथा रचनाकार है। स्याद्वादके प्राणका स्याद्वादके प्रति समर्पण भावना श्लाघनीय ही नही, अपितु अभिनन्दनीय है।

पण्डितजीका और मेरा सामाजिक सौहार्द है। बल्कि कहना न होगा कि उनका सामाजिक स्नेह अन्तरगसे है। वे एकाधिक बार अजमेर पधारकर अपनी मृदुवाणीसे अजमेर वासियोको उपकृत कर चुके हैं। उनका निश्छल अनुराग मेरे स्मृति पटलपर सतत बना रहता है।

पण्डितजी चिरायु हो, समाजका चिरकाल तक मार्गदर्शन करें, यही श्रीमज्जिनेन्द्र देवसे प्रार्थना है।

महान् मानवरत्न

भगवानदास शोभालाल जैन, सागर, (म० प्र०)

ज्ञान समान न आन जगतमें, कोऊ सुखको कारण।
यह परमामृत जन्म-जरा-मृत्यु, रोग निवारण॥

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, न्यायतीर्थका अखिल भारतीय स्तर पर अभिनन्दन सम्पूर्ण जैन समाजके लिए बडे ही गौरवकी बात है। आप जैन सिद्धान्तके मूर्धन्य विद्वान् हैं। उनकी गणना भारतके उच्चकोटिके विद्वानोंकी शृङ्खलाको सुशोभित कर रही है।

'गुणोकी सर्वत्र पूजा हुआ करती है।' इसी भावोक्तिपूर्ण तथ्यको लेकर, जैन-अजैन जो भी आपसे परिचित है, सभीको उनकी गुण गरिमापर गर्व है।

पण्डितजी हिन्दी-संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओके ज्ञाता, जिनवाणी माताके अनन्य उपासक, सरस्वतीके वरदपुत्र, विद्यावारिधि, जैनधर्म, दर्शन एव साहित्यके प्रकाड विद्वान्, साहित्य मनीषी, सफल सम्पादक, ग्रन्थकार, रचनाकार, टीकाकार तथा जैन धर्मके गूढ रहस्योके ज्ञाता, ओजस्वी वक्ता एव प्रवचन कर्ता है। वह साहित्यकी विविध-विधाओसे श्री-सम्पन्न है।

पण्डितजीकी संस्थागत, सतत साहित्यिक सेवाएँ सदैव चिर स्मरणीय रहेंगी। उनके जीवनका अधिकाश समय अध्ययन, मनन एव चिन्तनमे व्यतीत हुआ और वही क्रम अभी भी उनके जीवनके दैनिक कार्योंमे समाहित है। इससे बढकर उनके जीवनकी विलक्षणता और क्या हो सकती है? वास्तवमे वह सादा जीवन उच्च विचारके प्रबल पोषक और ज्ञानगगामें अवगाहन करनेवाले महान् मानव रत्न है।

धर्मके प्रचार एव प्रसारमें उन्होने अपना सारा जीवन ही समाजको समर्पण कर दिया है और इस उक्तिको सिद्ध कर दिया है कि ज्ञानके समान सुखका साधक अन्यत्र मिलना सभव नही है।

इन्ही आत्मिक प्रसूनोके द्वारा हम श्रद्धेय पण्डितजीके सम्मानमें अपनी भाव वन्दना समर्पित करते हुए श्रीवीर प्रभुसे उनके स्वस्थ जीवन एव दीर्घायुकी मगल कामना करते हैं।

●

महाविद्वान् पण्डितजी

सत्यन्धरकुमार सेठी, उज्जैन, (म० प्र०)

वास्तवमे जैन-समाजके महाविद्वान्, चिन्तक और मनीषी प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्य बनारसका अखिल भारतीय स्तपर अभिनन्दन एक अनुकरणीय प्रयास है। मैं इस अभिनन्दनको एक आदर्श अभिनन्दन मानता हूँ। यह ऐसे व्यक्तित्वका अभिनन्दन है जिसने अपने जीवनका हर क्षण माँ भारतीकी सेवामे, उसकी साधनामे अर्पित किया है। ऐसा अभिनन्दन समाज व राष्ट्रके लिए गौरवकी बात है।

भारत देश सदैव विद्वानोका गढ रहा है। ये समाजके एक सजग प्रहरी होते हैं। इनके पवित्र और आदर्श जीवनसे समाज और राष्ट्रके जीवनका निर्माण होता है। प्राचीन भारतमे जैन समाजमें हरयुगमें ऐसे विद्वान् होते रहे हैं जिनके चिन्तनसे और आदर्श साहित्य-सर्जनसे भारतीय राष्ट्रकी आदर्श

उल्लेखनीय सेवायें हुई हैं। उनमें महाविद्वान् प० टोडरमलजी, जयचन्दजी, प० सदासुखजी, द्यानतरायजी, भागचन्दजी, टेकचन्दजी आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान पीढ़ीमें भी अनेक विद्वान् पैदा हुए हैं जिनमें प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका उच्चतम स्थान है। पण्डितजीसे मेरा साक्षात् परिचय बहुत कम हुआ है, लेकिन उनके आदर्श जीवनसे और उनकी विद्वत्तासे मैं काफी प्रभावित हूँ। मैं जानता हूँ कि उन्होने जैन-साहित्य व समाजके लिए जो सेवायें अर्पित की है वे इतिहासके पन्नोंमें स्मरणीय रहेंगी।

पण्डितजी समाजमे एक निर्भीक, स्पष्टवादी एव नि स्वार्थ वक्ता हैं। उनकी वाणीमें ओज है, आदर्श है। वे समाजमें एक ऐसे विद्वान् है जिन्होने कभी भी अपने जीवनको किसी भी व्यर्थके विवादमें नही उलझाया है। वे एक विशुद्ध आगमपथी विद्वान् है। उनके विचार पथभेदोसे ऊपर उठे हुए हैं। वे नही चाहते कि समाजमें इस तरहके विवाद पनपें। वे एक वीतराग मार्गके पोषक है और शिथिलाचार-के घोर विरोधी है। वे चाहते हैं कि जैनधर्म आदर्श बना रहे। उनके विचारोंमें जैनधर्म एक आडम्बर-विहीन धर्म है। पण्डितजीकी धार्मिक आस्था अडिग है। वर्तमान साधु सस्थामें भी उनकी आस्था है, लेकिन उनमे व्याप्त शिथिलाचारको वे किसी भी कीमतमें सहन कर लेनेको तत्पर नही है।

जैनसन्देश पत्रके आप वर्षोंसे सम्पादक हैं। आपकी सम्पादकीय विचारधारा हमेशा समाजको सही मार्गदर्शन देती रही है। जैनसन्देश आदर्श सेवा एव उच्चकोटिका पत्र माना जाता है। इसका शोधाक तो आज शोधके विद्यार्थी और विद्वानोके लिए प्राणस्वरूप है। इस पत्रकी नीति वास्तवमें आपहीके कारण निष्पक्ष रही है। आपने कभी भी इस पत्रमें किसी विवादको महत्त्व नही दिया और न स्वय कभी किसी विवादमें पड़े।

सोनगढके पूज्य कानजी स्वामीको लेकर आज समाजमें काफी विवाद है। इसको लेकर आप पर भी कभी-कभी आक्षेप किये जाते हैं। लेकिन जहाँतक मेरा ख्याल है, आपने अपने आपको कभी भी इस विवादमे नहीं उलझाया। सही बातका समर्थन करना पक्षपात नहीं कहलाता। सोनगढके सम्बन्धमे भी आपने वहाँपर होनेवाले विशाल समारोहमें भी कुछ ऐसी बातोका डटकर विरोध किया था जो उन्होने वहाँपर विपरीत रूपमें देखी थी। सहारनपुरमें मैंने स्वय ही कानजी स्वामीके सम्बन्धमे पण्डितजीसे चर्चा की थी। तब भी उन्होने मुझे यही कहा था कि हमारा समर्थन किसी भी व्यक्ति विशेषका नही है, हमारा समर्थन सिर्फ वीतरागमार्ग और आगमका है। कई बार उनके विचारसे मैं भी सहमत नही होता, तब मैं बराबर उनसे पत्र व्यवहार करता हूँ और मुझे उनसे स्पष्टतया निर्भीकता पूर्वक समाधान मिलता है। इससे मालूम होता है कि वे अपने विचारोपर पूर्णत दृढ रहते है। उनकी स्पष्टवादिता और निर्भीकतासे मैं काफी प्रभावित होता हू।

पण्डितजीने कितने ही मौलिक और सिद्धान्तग्रन्थोका सम्पादन किया है और वर्तमान पीढीको मार्ग दर्शन देनेके लिये नव निर्माण भी किया है। आपके द्वारा रचित ग्रन्थोमे जैनधर्म नामा ग्रन्थका विशिष्ट स्थान है। यह आज देश और विदेशमे मान्यता प्राप्त है। अन्य ग्रन्थ भी पठनीय और मननीय है। आपको जन्म देनेका सौभाग्य उत्तरप्रदेशको मिला है लेकिन आज वे इतने सार्वभौमिक हैं कि हर प्रान्तका व्यक्ति आपको अपना मानता है और अनुभव करता है कि आप हमारे ही है। स्याद्वाद महाविद्यालय बनारससे तो आप वर्षोंसे सम्बन्धित रहे ही हैं लेकिन आपकी जैन समाजकी अन्य सस्थाओके लिये भी उल्लेखनीय सेवायें रही है। समाज सेवा भी हमेशा आपकी नि स्वार्थ रही है। महावीर जयन्ती जैसे समारोहो, दशलक्षण पर्व जैसे महान् पर्वो में धर्म प्रचारार्थ आप पधारते है लेकिन आपने कभी भी समाजसे

किसी भी रूपमें कोई आकाक्षायें प्रगट नही की हैं जबकि अन्य विद्वानोंकी स्थिति इसके विपरीत है। ऐसे महाविद्वान् पर हमें गर्व है और आस्था है। पण्डितजीका एक आदर्श चारित्रिक जीवन है। सात्त्विक खानपान है और सादा पहनावा है। उनमें न अहङ्कारके दर्शन होते है और न भावनायें। वास्तवमे, वे उच्चकोटिके महान् विद्वान् हैं। मैं उनको जैन समाजकी एक अमूल्य विभूति मानता हूँ। वर्तमानमें पण्डितजी जैसे विद्वानोका उद्गम होना सभव नही है। यह महाविद्वान् चिरञ्जीवी बनकर इस महान् वीतराग मार्गकी सेवा करते हुए अपने आपको अमर बनाये।

●

लोकप्रिय सम्पादक

हीराचन्द बोहरा, कलकत्ता

समाजके यशस्वी लेखक, उच्चकोटिके विद्वान् एव लोकप्रिय सम्पादक प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके द्वारा जैनधर्म, साहित्य व समाजके क्षेत्रमें जो उल्लेखनीय सेवायें हुई हैं, समाज उन्हें कभी बिस्मरण नही कर सकता। उनकी वक्तृत्व शैली, लेखन शैली एव प्रगाढ विद्वत्ताकी छाप अगणित व्यक्तियो पर पडी है। शास्त्रीजीने अपना समूचा जीवन ही सेवा हेतु अर्पित किया है। विद्याके प्रचारके क्षेत्रके अतिरिक्त जन सन्देशके सम्पादकके रूपमे उन्होने जिस निर्भीक, सुलझी हुई विचारधाराका परिचय दिया एव समाजको विघटनसे बचानेका सदा आह्वान किया, यह उनकी विशेषता है। शास्त्रीजी दीर्घायु हों, सदा नीरोग रहें और समाजको उनकी सेवाका लाभ सतत प्राप्त होता रहे। यही श्री वीर प्रभुसे मेरी प्रार्थना है।

आस्थाके प्रतीक

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

ससारमें व्यवहारकी उज्ज्वलता लिये तरह-तरहके चटकीले रगोंमें प्रकाशित होनेवाले विहगों, मराल-मालाओ और तदनुरूप अपने आपको व्यक्त करने वाले नर-नारियोंकी भी कमी नही है। शब्दोंकी रट लेने वाले खगोंकी भाषामे अपने व्यक्तित्वका प्रदर्शन करने वाले विद्वानोकी भी कमी नही दिखलाई पडती। इसी प्रकार चारित्रका दम्भ भरने वाले और अपनी श्रेष्ठताका ढिंढोरा पिटवाने वालोकी भी कमी नही है। किन्तु उन सबमे अलगसे लक्षित होनेवाला भी एक मानवीय व्यक्तित्व है जो अपनी आस्थाके शिखर पर सदा स्थिर रहने वाला है, जिसे अपनी आस्थाका स्वाभिमान है और जो प्रत्येक परिस्थितिमें अपनी सचाईको उजागर करने वाली आस्थाका प्रतीक है। ऐसे व्यक्तित्वका सघर्ष कम नही होता, किन्तु वह अडिग चट्टानकी भाँति झंझाओ, चक्रवातोकी चिन्ता कब करता है? उसके व्यक्तित्वका निर्माण आस्थाके उन सूत्रोंसे होता है जो कभी मिटना नही जानते और जो सदा अपराजेय होते हैं।

जैन समाजकी विद्वन्मण्डलीमें प्रमुख रूपसे व्याख्यानवाचस्पति प० देवकीनन्दनजी और प० चैनसुख-दासजीका बरबस स्मरण हो आता है, जिनकी प्रखरता सत्यके खरेपनमें चमकती हुई भासमान होती थी और जो आस्थाके पक्षधर थे। उनकी जैसी निर्भीकता, स्पष्टता और खरापन आज भी गुरुवर्यमें परिलक्षित होता है। समाज और देशमें चाहे जैसे विचारोकी आँधी चलती हो, समय-समय पर झझावातोकी प्रबलता लक्षित होती हो, किन्तु उनके विचारोमें सदा एकरसता है—समरसता है। वे

वीतरागताके प्रबल पक्षधर हैं। कोई कुछ भी कहे और कुछ भी माने, वह बडे-से-बडा साधु, त्यागी भी कहा जाता हो, पर जिनवाणीके सामने वे किसीके आगे सिर नहीं झुका सकते। यह एक ऐसी विशेषता है जो किसी विरलेमें ही लक्षित होती है। मेरे गुरुवर्य ऐसे ही विरले हैं।

प्रभावक वक्तृता और प्रभावोत्पादक लेखन, साथ ही शास्त्रीय ग्रन्थोका सम्पादन, अनुवाद आदिका कार्य सब एक साथ सफलतासे करने वाले बहुत कम देखे जाते हैं। आपमें ये सभी विशेषताए एक साथ पाई जाती हैं। लेखनमें भी स्पष्टता, निष्पक्षता और प्रामाणिकता आपके विशेष गुण हैं। एकके बाद एक कर अनेक पीढ़ियाँ बीतती जायेंगी, परन्तु आपके गुण सरस्वती-मन्दिरमें प्रवेश पाने वालोंके लिए, जैन आस्थाकी देहरी पर चढ़ने वालेके लिए, सदा दीपकके प्रकाशकी भाँति स्पष्ट आलोक प्रदान करते रहेंगे। और इसी-लिये युग-युगो तक आस्थाके प्रतीकको हम अपने स्मृतिमन्दिरमें सजो कर रखेंगे—भावी पीढ़ीके पथ-प्रदर्शन व प्रेरणा-प्राप्ति हेतु।

●

सतत अभिनन्दनीय पंडितजी

डा० ज्योतिप्रसाद जन, लखनऊ

'पडित' शब्द इधर कुछ विवादका विषय बन गया है और कई ऐसे अर्थोंमें भी प्रयुक्त होने लगा है जो शायद उपहासास्पद या अशोभनीय भी लगें। तथापि सच्चे पडित आज भी हैं, सदैव रहे हैं और होते रहेंगे। समादरणीय सिद्धान्ताचार्य पडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ऐसे ही यथार्थ पडित हैं। वर्तमान जैन शास्त्री पडितोंमें वह शीर्षस्थानीय हैं। वह अद्भुत पाण्डित्यके धनी, जैन साहित्यके गम्भीर अध्येता और परम सिद्धान्त मर्मज्ञ ही नहीं है, वरन् पुरातन शास्त्रकारोके हार्दको खोलकर सरल सुगम भाषा एव शैलीमें उसे प्रस्तुत करनेमें भी अत्यन्त प्रवीण हैं। एक कुशल अध्यापक होनेके साथ ही साथ वह एक प्रगतिशील सजग पत्रकार भी है, और एक आकर्षक वक्ता एव प्रवचनकार होनेके साथ-साथ विपुल एव विविध साहित्यके प्रणेता भी हैं। सिद्धान्तज्ञ या दार्शनिक विद्वान् बहुधा ऐतिहासिक दृष्टि-शून्य होते हैं, किन्तु हमारे पडितजी इस नियमके अपवाद हैं। उनके लेखनमे भी और भाषणोंमें भी एक सुलझी हुई समीक्षात्मकता, तुलनात्मक अध्ययन तथा स्वतन्त्र चिन्तन भी यत्र-तत्र प्रभूत दृष्टिगोचर होते है। उनका अध्ययन जैन शास्त्रो तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् जैनेतर दार्शनिक, धार्मिक एव लौकिक साहित्य और समसामयिक विचारधाराओंसे भी उन्होने स्वयको अवगत रक्खा। इसीसे उनके विचारोमे प्राचीनता और आधुनिकता, पुराने और नये, का स्वस्थ सामजस्य बहुधा प्राप्त होता है। पक्षका आग्रह उन्हें अभिभूत नहीं करता, सत्यका आग्रह ही उन्हे इष्ट रहा है। इसीलिए वह भिन्न या विरोधी विचारों अथवा सम्प्रदाय आदिकोमे जहाँ-कहीं कुछ उपादेय देखते है तो उसकी सराहना करनेमे सकोच नहीं करते, और स्वय अपनी परम्परामे जहाँ कोई असिद्ध, तर्क-हीन या अनुपादेय बात देखते हैं तो उसकी आलोचना करने या उसे अमान्य करनेमे भी नहीं चूकते। वह गुणग्राही है।

इसके अतिरिक्त, शोध-खोजके क्षेत्रमें जिस अनाग्रह दृष्टिकी अपेक्षा रहती है, वह उनमे भरपूर है। वीरसेनीय धवलाटीकाके रचनाकालको लेकर स्व० प्रो० हीरालालजीके साथ विचार-विरोधकी कहानी चौंतीस-पैंतीस वर्ष पुरानी हो गई। आदरणीय प्रोफेसर सा० से मतविरोध करना उस समय हमारा एक दुस्साहस ही शायद समझा गया था। उनके नाम, वैदुष्य और प्रामाणिकताकी धाकके कारण हमारा किसीने समर्थन नहीं किया, यहाँ तक कि स्व० मुख्तार सा० ने भी नहीं, जिन्हें हमारी बात जँच गयी थी। किन्तु

हमारे मतका खंडन भी आज तक किसीने नही किया। मुख्तार सा० एवं पंडितजी प्रभृति कोई-कोई विद्वान् इस मतभेदका उल्लेख अवश्य करते रहे। किन्तु उक्त घटनाके लगभग दो दशक बाद जब पंडितजीकी दृष्टिमें कुछ ऐसे सदर्भ आये जिनसे हमारा मत समर्थित होता था, तो शोधांक में प्रकाशित अपने एक लेखमें उन्होंने हमारे मतकी स्पष्ट पुष्टि कर दी। उस लेखसे यह भी विदित हुआ कि स्वय प्रो० हीरालालजीने भी यह स्वीकार किया था कि हरिवशकार जिनसेनसूरि (७८३ ई०) के सम्मुख धवलाटीका अवश्य रही थी। हमने धवलाका रचनाकाल ७८१ ई० सिद्ध किया था, जबकि प्रोफेसर सा० ने ८१६ ई० निर्णय किया था। पंडितजी के अनाग्रही शोधक दृष्टिके ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

हमारे साथ पडितजीका निकट परिचय एव घनिष्ठ सम्पर्क है। उनके दर्शनों प्रवचन और भाषण सुने हैं, जैन सदेशके उनके अग्रलेखोंको साधिक तीस वर्षसे बराबर पढते आ रहे हैं, उनके अन्यत्र प्रकाशित लेखो और पुस्तकाकार कृतियोंको भी प्राय सभीको पढा है। घण्टो उनसे चर्चा-वार्ता की है, उन्हें निकटसे देखा-समझा है, उनसे बहुत कुछ सीखा है, उनसे हमें सदैव बडे भाईका स्नेह मिला है। उनके मधुर व्यवहार, सरल हृदय तथा स्पष्टवादितासे उनका विरोध करनेवाले भी इन्कार नही करते। यो स्पष्टवादी स्वतन्त्रचेता समालोचकका विरोध करनेवाले तो होते ही रहते हैं—उनके भी हैं। परन्तु, विरोधसे घबराकर अपनी बात कहनेमे भी पडितजी कभी नही चूकते।

अपने प्रकाण्ड वैदुष्य, मधुर व्यवहार, निर्लोभ और सरलताके कारण पडितजी न केवल जैन समाज-मे ही पर्याप्त लोकप्रिय रहे है, वरन् जैनेतर विद्वत्समाजमे भी समादृत रहे हैं। जैन समाजके लिए उनमें एक तडप है, विशेषकर वर्तमान जैनोके जीवनमे धर्मभावका जो ह्रास होता जा रहा है और धर्मके नामपर जो विकृतियाँ उदयमें आ रही है उनसे वह क्षुब्ध हैं। उनके लेखोंमें वह क्षोभ बहुधा तीखा होकर उजागर होता है और अनेक पाठकोको भी क्षुब्ध कर देता है—कुछको सुधारकी प्रेरणा देकर तो कुछको विरोधकी। वैसे भी, पडितजीके सच्चे भक्त शायद थोडे ही हैं, क्योकि पडितजी न कूटनीतिज्ञ हैं और न चाटुकार, और शायद व्यवहारचतुर भी कुछ कम हैं। इसलिये जिसके साथ कुछ उपकार भी करते है, वह भी उनसे सतुष्ट नही होता। उनकी बाह्य वेषभूषाकी सादगी और अन्तरकी सरलता—'जहा अन्तो तहा बाहि, जहा बाहि तहा अन्तो' ने उन्हें दुनियादारीके लिए कुछ निरर्थक-सा बना दिया। सन्तोषी प्रकृति और सयमी जीवन होते हुए भी व्यावहारिक उदारताकी कमीने उनके प्रशसकोकी सख्या सीमित रखी है। गुण होते हैं तो दोष भी कुछ होते हैं। पडितजीमें भी दोनो हैं—पूर्ण निर्दोष तो कोई होता ही नही, सिवाय वीतराग भगवान् के। जो गुणग्राही हैं, वे दोषों पर दृष्टि नही डालते, गुणोको ही ग्रहण करते हैं, और उन्हीके आधारसे व्यक्ति विशेषका मूल्याकन करते हैं। पडितजीके जो दोष या त्रुटियाँ हैं वे वैयक्तिक हैं, किन्तु उनके जो गुण हैं, जैन विद्या, साहित्य, सस्कृति और समाजके लिए उनकी जो अमूल्य सेवायें और देनें हैं, उन्होने वर्तमान युगीन जैन पडितो, विद्वानो, साहित्यकारो, पत्रकारो, शिक्षको, प्रवक्ताओ और समाज उद्बोधकोमें उन्हे जो अग्रस्थान प्रदान किया है, वह स्थायी महत्त्वका है।

●

धर्मशास्त्र मथ सब जग जानो

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला

साढूमलकी महावीर पाठशालामे प्रवेशिका उत्तीर्णकर मैं स्याद्वाद महाविद्यालयमें प्रविष्ट हुआ और २९ जुलाई १९२८ को प्रात धर्माध्यापकजी प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्रीकी कक्षामें सागार धर्मामृत लेकर उपस्थित हुआ। मैंने देखा कि लम्बी बीमारीमे उभरते, खांसते-खखारते और दुर्बल अध्यापकजी बिना पुस्तकके ही पढ़ा रहे हैं। बडी कक्षाके छात्रोमे जाना कि कर्मकाण्ड वगैरह भी इसी तरह पढाते है, क्योकि वे मुरैना सिद्धान्त विद्यालयके दिग्गज विद्वानोके शिष्य हैं।

यद्यपि विद्यालय गृहपतिको अन्य अध्यापकसे क्या, धर्माध्यापक (प्रधानाध्यापकजी) से भी अधिक वेतन तथा सुविधाए देकर तथा प्रबन्ध सभामे अलग रखकर धर्माध्यापककी समुचित गरिमाको स्वय दबाये था। तथापि दूसरोकी नजरमे अल्पज्ञ या अज्ञ बनकर भी अपने कर्तव्य स्वार्थको सर्वोपरि करके चलनेवाले धर्माध्यापक प० कैलाशचन्द्रजीने अपने ज्ञानकी पुष्टि तथा वक्तृताका ऐसा विकास किया कि दो वर्ष बाद जब काशी विश्वविद्यालयके मानद जैन धर्म प्राध्यापकके पदके लिये प० कैलाशचन्द्रजीके साथ आचार्य एव वयसा प्रौढ बडे छात्र भी अभ्यर्थी हुए थे, तब प्रोफेसर स्व० बैरिस्टर चम्पतरायने उन आचार्यो की अपेक्षा प० कैलाशचन्द्रजीके पक्षमे अपनी सस्तुति की। तदनुसार इनकी काशी विश्वविद्यालयमे नियुक्ति हुई। आचार्यमन्य छात्रोने भी उनकी विद्वत्ताका लोहा मान लिया।

पडितजीके सहाध्यायी स्व० प० राजेन्द्रकुमारजी इस समय तक भा० दि० जैन शास्त्रार्थ सघके द्वारा अपना प्रभाव उत्तर भारतमे जमा चुके थे। इन्होने एक ओर अपने साथियो स्व० प० अजितकुमार शास्त्री, प० चैनसुखदासजी, प० जगन्मोहनलालजी और प० कैलाशचन्द्रजीको साथ लिया, वही दूसरी ओर अपने अग्रज सहाध्यायियो (स्व० प० तुलसीराम वाणीभूषण, प० अर्हद्दासजी पानीपत, आदि) को भी प्रतिष्ठित किया था। स्व० लाला शिब्बामलजी रईस, अम्बाला छावनीकी विशालहृदयता, जिन धर्म-प्रेम और सीमित किन्तु, समय पर दत्त दानने वेदविशारद स्व० प० मगलसेनके अभिभावकत्वमे विकसित 'सघ' को अल्प कालमें ही 'महासभा' और 'परिषद्' से आगे कर दिया था, क्योकि आर्य समाजके साथ सफल शास्त्रार्थो को करनेके समान ही 'सघ' धार्मिक आयोजनो और धर्मगुरुओके विहारमे आयी बाधाओका निवारण करनेमे भी अग्रणी था। फलत सामाजिक सम्पर्क और दिशा बोध देनेके लिए सघने जब 'जैन दर्शन' पत्रिकाको प्रकाशित किया, तो पडित कैलाशचन्द्रजीका पत्रकारिताका प्रारम्भ हुआ, और 'जैन सदेश' साप्ताहिकके द्वारा तो समाजके समस्त पत्रोने प० कैलाशचन्द्रजीको मूर्धन्य सम्पादक रूपमें स्वीकार किया, भले ही कतिपय स्थितिपालक उनके विचारोसे असहमत थे। किन्तु इससे शास्त्रीजीके प्रभावका विस्तार ही हुआ क्योकि दशलक्षण पर्व आदिमें शास्त्र प्रवचन और व्याख्यानके लिए इतने निमत्रण मिलते थे कि विद्यालयके अधिकारियोको विवश होकर मना ही करना पडता था।

स्याद्वाद महाविद्यालयमें उच्चतम प्राच्य-शिक्षणके आदर्शको पूज्यवर श्री १०५ गणेशवर्णीने स्वय आदर्श न्यायाचार्य बनकर कार्यान्वित किया था। जब स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी अधिष्ठाता हुए, तो इन्होने स्व० सेठ माणिकचन्द्र जे० पी० के विचारोंसे सहमत होकर न्यायतीर्थ, शास्त्री आदिके साथ पाश्चात्य उच्च शिक्षा (बी० ए०, एल-एल० बी०) का विद्यालयमे सूत्रपात किया था। परिवर्तित परिस्थिति वश जब ब्रह्मचारीजीने अधिष्ठातृत्व छोडा, तो पुन पूज्य श्री १०५ गणेशवर्णी महाराज अधिष्ठाता हुए। इन्होने स्याद्वाद महाविद्यालयके शिक्षण लक्ष्यको सिद्धान्तशास्त्री, आचार्य और एम० ए० तक पहुँचा दिया।

विद्यालयकी इस उत्तम शैक्षणिक उपलब्धिमें पंडितजीका प्रधानाचार्यत्व निश्चित ही धर्म द्रव्य था। इसी-लिये वर्णीजी स्याद्वाद विद्यालयके प्राण कहकर समाजमें इनका परिचय देते थे।

पण्डितजीके प्राचार्यत्वमें स्याद्वाद महाविद्यालयने सन् १९३९ में जैन समाजका प्रथम आचार्य एवं एम० ए० निकलते ही उभय-शिक्षणकी असभवता छात्रोंके मनसे विदा हो गई। इसी समयसे स्व० साहु शान्तिप्रसादजी द्वारा स्थापित मूर्तिदेवी छात्रवृत्तियाँ मिलते ही स्याद्वाद महाविद्यालयसे आचार्यके साथ एम० ए०, एस० एम० सी०, इंजीनियरिंग करनेवालोंकी बाढ आ गई। यदि इस युगको स्याद्वाद महा-विद्यालयका और पंडितजीका स्वर्णयुग कहा जाये, तो समुचित ही होगा। इस अन्तरालमें अनेक छात्रोंने आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी० तो किया ही, बहुतसे उन प्राक-छात्रोंने भी आचार्यके शेष खडोंको पूर्णकर प्रौढावस्थामे एम० ए० और पी-एच० डी० किया और स्याद्वाद महाविद्यालयके गौरवको बढाया जो परिस्थितिवश अपूर्ण प्राच्य-शिक्षण ही छोडकर चले गये थे अथवा जो जैन समाजके अन्य विद्यालयोंका पूर्ण शिक्षण (न्यायतीर्थ और शास्त्री-मुम्बई) करके अध्यापनार्थ वाराणसी भेजे गए थे।

स्व० प० सुखलालजी सघवी प्रज्ञाचक्षु इस शतीके चतुर्थ दशकमे काशी विश्वविद्यालयके प्राच्य विद्यालयमे जैन दर्शनके व्याख्याता होकर आये थे और विद्यालयसे लगे जैन मन्दिरकी धर्मशालामें रहते थे। उन्हे व्युत्पन्न तथा प्रौढ जैन विद्वानोका समागम इष्ट था क्योकि वे 'वाचक'के बिना अपना बौद्धिक जीवन चला ही नही सकते थे। जैन शास्त्रोंके प्रौढ पडित, प्रभावक वक्ता और निष्पक्ष शोधक प० कैलाशचन्द्रजी तथा इनके अनगामी क्षयोपशमशाली, प्रभविष्णु और आर्थिकाय उन्निनीषु स्व० प० महेन्द्रकुमारका समागम प्रज्ञाचक्षुजीके लिए 'स्वात्पतितरत्नवृष्टि'के समान था। उस समय प्रज्ञाचक्षुजीका मत था कि समन्तभ-द्रादि ही जैन न्यायके आदि प्रतिष्ठापक सर्वोपरि आचार्य है। फलत इन्होने 'न्यायकुमुदचन्द्र'के सम्पादन तथा प्रकाशन का सुझाव दिया जिसे उक्त दोनो विद्वानोने स्वीकार किया। इस प्रकार प० कैलाशचन्द्रजीके सम्पादकत्व रूप की व्यक्ति प्रारभ हुई। सतत स्वाध्याय, दीर्घचिन्तन एव निष्पक्ष दृष्टिके कारण इनकी शोधकता तथा प्रसाद गुण पूर्ण शैलीकी प्रशसा आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार, डा० उपाध्ये, प० नाथूराम प्रेमी आदि तत्कालीन प्रमुख शोधको और सम्पादकोंने भी की थी। यद्यपि शास्त्रीजीने स्याद्वाद महाविद्या-लयकी कक्षाओसे बचे पूरे दिनका सदुपयोग करनेकी दृष्टिसे ही जिनवाणी-सेवा प्रारभ की थी, तथापि आप उन लोगोके कृतित्वके भी प्रशसक रहे हैं, जिन्होने आजीविका या आय बढाने की दृष्टिसे साहित्य सृजन को अपनाया क्योकि निदान लौकिक (आयवृद्धि) होनेपर भी वे सतत स्वाध्यायके शुभका बन्ध तो करते ही हैं।

पडितजीकी क्षमतासे प्रेरित होकर भा० दि० जैन सघने भी जयधवलाके प्रकाशन और सम्पादन को अपने कार्यक्रममे लिया। इसी समय वर्णी ग्रन्थमाला व भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना हुई और पडितजी उनकी प्रवृत्तियोसे भी सबधित रहे। स्पष्ट है कि इस अर्द्ध-शतीकी समस्त जैन-प्रवृत्तियोसे साक्षात् या परपरया पडितजीका सम्बन्ध रहा है क्योंकि अपने कार्यको करना सबको यथा-शक्ति सहयोग देना और किसीको रुष्ट न करना आपकी प्रकृति है। स्व० प० राजेन्द्रकुमारजीके शब्दोंमें 'हाजिरमें हुज्जत नहीं, गैर की तलाश नहीं, भाई कैलाशचन्द्रजीकी अपनी असाधारणता है।

पडितजी स्याद्वाद महाविद्यालयके जीवनदानी हैं। विद्यालयने ग्यारह वर्षकी वयमें भर्ती करके इन्हें जैन वाङ्मयका ज्ञान दिया और इसके बाद कुछ समय मुरैना तथा कुछ समय अस्वस्थताके कारण घर रहनेके बाद १९२७ से आज तकका पूरा समय इन्होंने इस विद्यालयको दिया है। इनका प्राचार्यत्व स्याद्वाद

महाविद्यालय का भी मध्याह्न रहा है। इस सबके पीछे पंडितजीका धर्मशास्त्रका अध्ययन, धर्मशास्त्र का अध्यापन, धर्मशास्त्र का प्रवचन, धर्मशास्त्र पर लेखन, तथा इसका ही चिन्तवन, आदि हैं। अड़सठ वर्ष की वयमें विद्यालयसे सेवानिवृत्त होकर भी उक्त समस्त प्रवृत्तियाँ यथावत् चल रही हैं। यत विद्यालयके लिए उपयुक्त प्राचार्य नही मिला है अत विद्यालयके अधिष्ठातृत्वके सिवा, शैक्ष्य प्राचार्यो के स्थितीकरणके लिए वे बडी कक्षाओंका अध्यापन भी करते है। 'एके (धर्मशास्त्र या स्याद्वाद महाविद्यालय) साधै सब (धर्म, समाज, सघ, साहित्य आदि) सधै'का निदर्शन इनका जीवन है। तुलसीदासके लिए' सिया-राम मय सब जग जानी' था, तो इनके लिए भी 'धर्मशास्त्र मय सब जग जानी' है। अत उन्हें 'करो प्रणाम जोर जुग पाणी।"

●

श्रद्धेय पंडितजी

नरेन्द्रप्रकाश जैन, जैन इण्टर कालेज, फिरोजाबाद, उ० प्र०

आजसे बीस वर्ष पूव 'जनसन्देश' में प्रकाशनार्थ 'जैनसमाज और देवमूढता' नामक अपना पहला लेख मैंने श्रद्धेय पण्डितजीके पास भेजा था और चाहा था कि उसके ५० रिप्रिंट्स भी मुझे मिल जाये। व्यक्तिगत परिचय न होनेसे लेख छपेगा या नहो, इस बारेमें तो दुविधा थी ही, फिर रिप्रिंट्स पानेकी क्या उम्मीद हो सकती थी। लेकिन मेरी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा, जब चौथे या पाँचवें दिन ही लेखकी स्वीकृतिका पत्र मुझे मिला, जिसमे सन्देशके लिए आगे भी बराबर कुछ-न-कुछ लिखत रहनेका स्नेहपूण आग्रह था। उसके कुछ दिन बाद ही सन्देश मिला। उसमें मेरा लेख तो था ही, पडितजीने उसी सन्दर्भमे अपना सम्पादकीय भी लिखा था। शीर्षक था—'देवमूढतासे बचिये'। मुझे रिप्रिंट्स भी प्राप्त हुए, मेरे मनमें उस वक्त प्रसन्नताके साथ ही सुखद आश्चर्यके भी भाव थे। आज ऐसे कितने सम्पादक है जो नवोदित लेखकोंको इस तरह प्रोत्साहन देते हो ?

श्रद्धेय पडितजीसे बादमें "मोरेना विद्यालयका नवोन्मेष कुछ सुझाव" शीर्षक सन्देशमे प्रकाशित मेरे एक लेखपर स्व० प० मक्खनलालजी शास्त्रीकी प्रतिक्रियाको लेकर पत्र-व्यवहार हुआ। उन्होने उस समय मुझे वाद-प्रतिवादमे बचनेकी सलाह दी। सोनगढ़ सम्बन्धी आशकाओ एव आक्षेपोके मेरे एक पत्रके उत्तरमें तो उन्होने जैनसन्देशमे लगातार दो सम्पादकीय लिखे, जिन्हे व्यापक सराहना मिली। सम्पादकीय नोटके साथ उन्होने मेरे पत्रको भी छाप दिया। अपने नोटमे उन्होने मेरे दृष्टिकोणको सन्तुलित बताया था। इस सम्बन्धमें अपने एक पत्रमे उन्होने अपने शिष्यसे प्राप्त टिप्पणीके आधारसे मेरे फल्टनमें हुए भाषणोकी प्रशसा की थी। मतभेद रखनेवालोके प्रति भी ऐसा औदार्य आज कितने विद्वानोमें पाया जाता है।

पिछले वर्षो से मेरा उनसे साक्षात्कार अनेक बार हुआ है। उन्हें निकटसे देखने-जाननेके बाद मेरी यह पक्की राय है कि वे किसी गुट या पथमे बँधे हुए नही है तथा स्वतन्त्र रूपसे जैसा वे सोचते है, उसे व्यक्त करनेमें कभी संकोच नही करते। सत्य-प्रतिपादन करनेमें वह निर्भीक है। इस या उस पक्षके लोग क्या कहेंगे, सोचेंगे, इससे वह विचलित या प्रभावित नही होते।

आजतक मेरे किसी पत्रका उत्तर मुझे न मिला हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। पत्रोत्तरमें ऐसी तत्परता कम ही देखनेको मिलती है। उनके उत्तर सक्षिप्त किन्तु युक्तियुक्त होते हैं। पत्र पानेवालेको उनसे आत्मीयताकी झलक मिलती है। सबको अपनत्व देना पडितजीका एक बहुत बडा गुण है।

श्रद्धेय पण्डितजीकी लेखनीका भक्त तो मैं बचपनसे ही हूँ। उनकी प्रवाहपूर्ण सीधी-सरल भाषाका पाठकपर अच्छा प्रभाव पड़ता है। वह कठिनसे कठिन बातको इस तरह लिखते हैं कि वह बालककी भी समझमें आ जाए। उनके व्यंग्य शिष्ट और सपाट होते हैं। कभी-कभी चुभते तो हैं, किन्तु जख्म नहीं करते। उन सरीखे लेखकका पाना जैनसमाजका सौभाग्य है।

●

निरभिमानी व्यक्तित्व

महेन्द्र कुमार 'मानव', छतरपुर

सन् १९४० की जुलाईमें मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें बी० ए० प्रथम वर्षमें प्रवेश लिया था। निवासकी व्यवस्था स्याद्वाद विद्यालयमें की थी। तब प्रथम बार प० कैलाशचन्द्रजीके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लेकिन विशेष परिचयमें आनेका अवसर नहीं मिला था क्योंकि १५ दिन बाद ही मैं प्रयाग चला गया था।

फिर जब-जब काशी आता रहा तब-तब पण्डितजीके दर्शन करता रहा। पण्डितजीका व्यक्तित्व बड़ा सरल और सौम्य है। कुछ लोगोंके व्यक्तित्व ओढ़े हुए होते हैं, कोई पाण्डित्य ओढ़ लेता है, कोई अफसरियत ओढ लेता है, कोई पद ओढ लेता है। पण्डितजी पण्डित है लेकिन उन्होंने पाण्डित्यको ओढ़ा नहीं है। इसीलिए वे बहुत ही निरभिमानी हैं।

पण्डितजीने बहुतसे ग्रन्थ लिखे हैं, बहुतसे ग्रन्थोंका सम्पादन किया है। लेकिन उनकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाए रखनेके लिए उनकी एक ही पुस्तक 'जैनधर्म' काफी है। इस पुस्तकमें पण्डितजीने सागरमें सागर भर दिया है। विशाल जैन वाङ्मयका मन्थन कर उन्होंने इस पुस्तकमें नवनीतको जुटा दिया है। इससे पण्डितजीके गहन अध्ययनका पता चलता है। यदि कोई जैन धर्मका जिज्ञासु हो, तो यह पुस्तक उसकी जिज्ञासाको पूरी कर सकती है। इसी प्रकार उनकी पुस्तक 'जैन साहित्यका इतिहास पूर्व पीठिका' है। इस पुस्तकको पढनेके बाद सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि पण्डितजीने पुस्तकको लिखनेमें कितना परिश्रम किया है। पण्डितजीका प्रवचन सुननेका कई बार अवसर मिला। समाज द्वारा पण्डितजीको जगह-जगह प्रवचनके लिए आमन्त्रित किया जाता है। पण्डितजीने खजुराहोके भगवान् शान्तिनाथके मन्दिरके प्रांगणमें प्रवचन किया। उनका प्रवचन हृदय पर इतना प्रभाव छोडनेवाला था कि लगता था कि यह प्रवचन समाप्त ही न हो। वह प्रवचन हमारे मन, इन्द्रियों और आत्मा—सबको तृप्त कर रहा था। पण्डितजी स्वयं यदि अध्यात्मरसमें डूबे न हो तो दूसरोंको भी उस रसमें डुबा नहीं सकते। यह शक्ति उन्होंने अपनी साधनासे अर्जित की है।

उनके प्रवचनकी दूसरी विशेषता यह है कि वह सम्प्रदाय या पक्षसे बँधा नहीं होता। उसे कोई भी धर्मावलम्बी सुन सकता है और समान आनन्द ले सकता है।

पण्डितजी चिरायु हो और मानव समाजकी सेवा करते रहें—यही कामना है।

●

जादूगर पण्डितजी

रतनलाल कटारिया, केकडी

मेरे प्रिय जैन लेखकोंमें—श्री मुख्तार सा०, प्रेमीजी और डॉ० ए० एन० उपाध्येजी जो सब दिवगत हो चुके हैं—के बाद विद्वत् सम्राट्, साहित्यचक्रवर्ती प० कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ही प्रमुख हैं। मैं इनकी रचनाओंको अत्यन्त मनोयोग पूर्वक रुचिके साथ एक ही बारमें आद्योपान्त पढ़ जाता हूँ। जो मजा एक मनोरजक उपन्यासके पढनेमें आता है, उससे भी कई गुना ज्यादा आनन्द और रसास्वादन इनकी कृतियोंके अध्ययनमे आता है। ये अध्यापनके भी जादूगर हैं। इन्होने अपना सारा जीवन इसीमें व्यतीत किया है। इनके द्वारा शिक्षित हजारो शिष्य इनका नाम रोशन कर रहे हैं। ये अध्ययनके भी जादूगर हैं। इनका शास्त्राध्ययन मामूली चलता-सा नही है किन्तु मार्मिक, ठोस और गम्भीर है जिसमें शोध-खोज तुलनात्मक ऐतिहासिक विकासक्रम परक दृष्टि, रहस्योद्घाटन, चिन्तन-मनन, विश्लेषण, समीक्षण, त्रुटि-निष्कासन, समन्वयीकरण, विचार-विमर्श आदि अनेक तत्त्व हैं। इसीके आधारपर वे कलमके जादूगर बने और दो दर्जनसे अधिक ग्रन्थोका प्रणयन किया। इसी तरह ये शास्त्रके वाचनके भी जादूगर है। शास्त्रकी गद्दीपर बैठकर शास्त्र बाँचनेवालेमें जो गुण आगममें बताये हैं, उसके ये अधिकारी हैं।

उत्तर प्रदेशके बिजनौर जिलेमें नहटोर ग्रामके लाला मुसद्दीलालजी अग्रवालके घर कनिष्ठ पुत्रके रूपमे सवत् १९६० सन् १९०३ कार्तिक शुक्ल १२ को आपका जन्म हुआ था। आपकी धर्मपत्नीका नाम बसती देवी हैं जिनसे एक पुत्र रत्न है जो विवाहित हैं और उच्च पदपर है। उनके अनेक गुणोकी मैं यहाँ पुनरावृत्ति नही करना चाहता। मैं माँ सरस्वतीसे प्रार्थना करता हूँ कि आप शतायु हो तथा समाजको आपका हितकारी मार्गदर्शन एव साहित्य भडारको आपके ज्ञानरत्न बराबर मिलते रहे।

खण्ड १ :: Section 1

व्यक्तित्व और कृतित्व
Person & Works

रुहेलखण्डके बिजनौर जनपद्की जैन विभूतियाँ

पं० श्रेयासकुमार शास्त्री, किरतपुर (बिजनौर)

रुहेलखण्डका क्षेत्र और जैन संस्कृति—उत्तरप्रदेश राज्यके बरेली राजस्व संभागके सात जिले (बरेली, बिजनौर, मुरादाबाद, बदायू , रामपुर, पीलीभीत, और शाहजहाँपुर) अठारहवी सदीके मध्यके लगभग रुहेले पठानोके ससर्गके कारण रुहेलखण्ड कहलाते हैं। इसके पूर्वके ८-९ सौ वर्षो तक यह क्षेत्र कटेहरिया राजपूतोके कारण कटेहर कहलाता था। इसके पूर्व भी यह क्षेत्र महाभारत कालसे लेकर आठवी-नवमी सदी तक पाचाल देशका उत्तरी भाग माना जाता था। इस क्षेत्रके विभिन्न भागोंमे अति प्राचीन कालसे ही जैनोके धर्मायतन, तीर्थस्थान तथा सास्कृतिक केन्द्र रहे है। यहाँ अनेक स्थानोंपर जैन रहते थे। पिछले सौ वर्षो मे तो इस क्षेत्रने जैनधर्म और समाजके प्रगतिपथमे अनेक मीलके पत्थर दिये है। इस क्षेत्रके विभिन्न जिले गगा नदी और हिमालयी पर्वताचलके मध्यवर्ती तराई और मैदानी भागोमें बसे है।

इस क्षेत्रके साथ जैन संस्कृतिका सम्बन्ध प्राय भारतीय इतिहासके प्रारम्भसे ही रहा है। अयोध्यामें जन्मे भगवान् आदिनाथने अपने मुनिजीवनमे मध्य हिमालयके इन पवित्र प्रदेशोमें तपस्या की और केवलज्ञान प्राप्तिके बाद हस्तिनापुरके साथ इस प्रदेशमें भी विहार कर उपदेश दिया। अन्तमे, वे रुहेलखण्डके मैदानी भागोमे धर्मविहार करते हुए कुमायू गढवाल होते हुए कैलाश पर्वत पर गये और वहाँसे सिद्ध हुए। उनके पुत्र चक्रवर्ती उनका निर्वाण महोत्सव मनाने इसी मार्गसे होकर कैलाश गये थे। दशवी सदीमें जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराणके पर्व १६, २५, २९ और ३२ मे भगवान्‌के उपदेश तथा भारतकी दिग्विजयके प्रकरणमे इस क्षेत्रका पाचालके रूपमे नाम दिया गया है। हरिवशपुराणके सर्ग ११ मे पाचाल देश और उसके उत्तरवर्ती हिमायस्थ पहाडी प्रदेशोका वर्णन किया गया है।

भगवान् ऋषभदेव और भरत चक्रवर्तीके उपरान्त अनेक चक्रवर्तियोने भी इस क्षेत्रपर शासन किया। इतिहाससे ऐसा प्रतीत होता है कि बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथका इस क्षेत्रसे कुछ अधिक सम्बन्ध रहा है। जिनप्रभ सूरिने बताया है कि पाचाल देशकी महानगरी शखावतीमें भगवान् नेमिनाथका प्राचीन तीर्थ था। यहाँ भगवान्‌की प्रतिमाके साथ ही उनकी शासन देवी सिंहवाहिनी अम्बिका देवीकी मूर्ति भी प्रतिष्ठित थी। नेमिनाथका जीवनकाल ईसा पूर्व इक्कीसवी सदीके लगभग बैठता है।

यह शखावती भगवान् पार्श्वनाथ (८७७-७७७ ई० पू०) की तपोभूमि और ज्ञानकल्याणक भूमि भी रही। इसके समीपवर्ती भीमाटवी महावनमे शबर असुरने पूर्व वैर-वश उनपर घोर उपसर्ग किया। धरणेन्द्र पद्मावतीने इस उपसर्गका निवारण किया। इस कथाका विस्तृत विवरण पासणाहचरिउमे मिलता है। यह नगरी, इसीलिए, अहिच्छत्र कहलाने लगी। इसके बाद ही, पार्श्वनाथ केवली हुए और यहीपर उन्होने अपने धर्मोपदेश प्रारम्भ किये। इस घटनाके कारण ही रुहेलखण्डका यह स्थान तीर्थक्षेत्र बना। इस क्षेत्र पर बने विशाल कूपका जल अनेको रोगोको शान्त करता है। अत अहिच्छत्रको अतिशय क्षेत्र भी माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि पात्रकेसरी स्वामीको भी सम्यग्दृष्टि यही प्राप्त हुई थी। इसे कण्व ऋषिकी जन्मभूमि भी कहा जाता है।

यद्यपि इस क्षेत्रमें जैनोंकी विरलतासे लगभग एक हजार वर्ष तक यह स्थान अज्ञात एव उपेक्षित-सा पडा रहा है, फिर भी पात्रकेसरी स्वामी कथा (सातवी सदी), बृहत्कथा कोश (दसवी सदी), पुण्यास्रव-कथा कोश तथा विविधतीर्थ कल्प (चोदहवी सदी), आराधनासार कथाकोश (सोलहवीं सदी) तथा

अहिच्छत्र पार्श्वनाथ स्तोत्र (अठारहवीं सदी) के माध्यमसे जैन आचार्योंने इसे सातवी शताब्दीसे अठारहवी सदी तक जीवित रखा है। वर्तमान में, यह स्थान रुहेलखण्डके बरेली जिलेकी आवला तहसीलके अन्तर्गत रामनगर गावके पास है। यह लखनऊ-सहारनपुर रेलमार्गपर स्थित आवला ग्रामसे छह मील दूर है। यहाँ लगभग छह सौ वर्षोंसे चैत्र मासमें एक मेला लगता है। इसका उल्लेख विविधतीर्थ कल्पमें किया गया है। यह आज भी गरिमामय रीतिसे लगाया जाता है। इस नगरीके इतिहासके लिये रुहेलखण्ड कुमायूँ जैन डायरेक्टरी (स० डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, १९७०) देखना चाहिए। इससे पता चलता है कि यह स्थान कभी एक महानगर था जिसे अतीतके दो हजार वर्षो मे नौ-नौ बार बसाया और उजाड़ा गया।

इस क्षेत्रके बिजनौर जिलेके दो अन्य स्थान भी जैन सस्कृतिसे ऐतिहासिक रूपसे सम्बन्धित हैं। इस जिलेमें पारसनाथ किला नामक स्थान है जो नगीनाके पास बढापुर गाँवसे तीन मील पूर्वमे प्राचीन बस्तीके खण्डहरोके रूपमें आज उपलब्ध है। यहाँ एक प्राचीन दुर्गके भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। ऐसा माना जाता है कि पारसनाथ किला भगवान्की तपोभूमि एव देशनाभूमि रहा होगा। यह स्थान हस्तिनापुरसे अहिच्छत्रके मार्गमे पडता है। फलत यह सम्भव है कि पार्श्वनाथ भीमाटवी पहुँचनेके पूर्व इस स्थान पर कुछ समय रहे हों। आज यह स्थान उपेक्षित दशामें अपने दिन बिता रहा है। इस स्थानकी व्यवस्थित पुरातात्त्विक शोधबीन अत्यन्त आवश्यक है। इतिहास-प्रेमी बन्धुओको इस दिशामे प्रयत्नकर इस क्षेत्रके इतिहासपर प्रकाश डालना चाहिए।

कुछ समय पूर्व हुए अल्प पुरातात्त्विक गवेषणसे यहाँ अनेक जैन प्रतिमाएँ व पट्ट प्राप्त हुए हैं। इनमेंसे एक पट्टपर ब्राह्मी लिपि तथा प्राकृत भाषामें सवत् १०६७ का उल्लेख है। इस सवत्को यदि वीर निर्वाण सवत् माना जाय, तो यह पट्ट छठी सदीका प्रमाणित होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह किला क्षेत्र भी प्राचीन कालसे विख्यात है।

बिजनौर जिलेका दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान मोरध्वज किला है जो आज नजीबाबाद कोटद्वारा मार्गपर छह मील उत्तरपूर्वमें एक प्राचीन दुर्गके भग्नावशेषके रूपमे विद्यमान है। कहते है कि इसका निर्माण ध्वजवशी राजा मयूरध्वजने कराया था। इसके भीतर स्थित एक ऊँचे टीलेको शीगिरिके नामसे पुकारा जाता है। सम्भव है, यह श्रीगिरि या श्रीगृहका अपभ्रश हो और वहाँ एक उत्तुङ्ग जिनालय रहा हो। यह शोधका विषय है क्योकि किलेके खण्डहरोंसे अनेक प्राचीन कलावशेष तथा देवमूर्तियाँ प्राप्त हुए हैं। इसी जनपदमें महर्षि कण्वका आश्रम, शत्रुताल तीर्थ और अन्य स्थान है।

इसी प्रकार रुहेलखण्डके अन्य जिलोमे भी अनेक प्राचीन स्थल पाये जाते हैं। इनकी सन्तोषजनक खोज आवश्यक है। लेकिन उपरोक्त विवरणमे यह स्पष्ट है कि वर्तमान रुहेलखण्डके विभिन्न जनपदोमें जैन सस्कृतिका ऐतिहासिक कालसे ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस दृष्टिसे इस क्षेत्रका अतीत गौरवमय रहा है। यही कारण है कि वर्तमान कालमें भी इस क्षेत्रने इस सस्कृतिके उन्नायकोको जन्म देकर अपनी प्राचीन गरिमाको बनाये रखा है।

रुहेलखण्डकी जैन विभूतियाँ—अपनी प्राचीन गरिमाके अनुरूप रुहेलखण्डने उन्नीसवी-बीसवी सदीमें ऐसी अनेक प्रतिभाएँ प्रदान की है जिन्होने जैन समाज और संस्कृतिके साथ राष्ट्रका नाम भी प्रकाशित किया है। यह रुहेलखण्डका ही सौभाग्य है कि इस क्षेत्रमें बीसवीं सदीमें ऐसे धनपति और विद्यापति हुए हैं जिन्होने एक-दूसरेके सहयोगसे अनेक क्षेत्रोंमें महनीय कार्य किये हैं। इस क्षेत्रमे जन्म लेनेवाले जैन बन्धुओंने राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, सास्कृतिक एव औद्योगिक क्षेत्रमे

राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति उपार्जित की है। इस क्षेत्रका वर्तमान युग और इतिहासकी कितनी ही महत्त्वपूर्ण घटनाओंसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है जिससे यहांकी प्रगतिशीलता एव मार्गदर्शन क्षमता प्रकट होती है। यद्यपि इस क्षेत्रमें जैनोकी सख्या पर्याप्त अल्प (०—०४ प्रतिशत) है, लेकिन उनके कार्यक्षेत्र और सेवाक्षेत्र इतने व्यापक हैं कि वे समस्त जैन समाज एव राष्ट्रको प्रभावित करते रहे हैं।

रुहेलखण्डकी प्रमुख जैन विभूतियोंको अवतरित करनेमे बिजनौर जिलेका नाम अग्रणी रहेगा। यहाँ जन्मे प्रसिद्ध उद्योगपति साहू शान्तिप्रसादजी व श्रेयान्सप्रसादजी, साहू जुगमन्दिरदास, प्रसिद्ध साहित्यिक लाला राजेन्द्रकुमारजी तथा उनके अनुज इन्जीनियर व्यापारी तथा समाजसेवी जगतप्रसादजी एव प्रसिद्ध देशभक्त बाबू रतनलाल एडवोकेट तथा बाबू नेमीशरणके नाम कभी नही भुलाये जा सकते।

बिजनौर जनपदने ही अनेक विश्रुत विद्यापतियोंको भी जन्म दिया है। नहटौरमे जन्मे प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीको कौन जैन नही जानता ? वहीके श्री प्रेमचन्द्रजी डिब्रूगढमे एक कालेजमे प्राचार्य हैं। किरतपुरके प० श्रेयासकुमार शास्त्री भी उनके ही शिष्य हैं। मुरादाबादके पण्डित चुन्नीलाल, मुशी मुकुन्दलाल, प० पन्नालाल बाकलीवाल, वैद्य शकरलाल तथा वैद्य विष्णुकान्तके नाम क्षेत्रीय समाजके अतिरिक्त समस्त जैनसमाजको गौरवान्वित करते है। हम यहाँ केवल बिजनौर जिलेकी कुछ विभूतियोकी ही चर्चा करेगे।

साहू परिवारके सदस्य—बिजनौर जिलेके नजीबाबाद नगरके साहू परिवारके अनेक सदस्योने जैनसमाजको अनेक रूपोमे गौरवान्वित किया है। साहू जुगमन्दिर दास अपने समयके प्रसिद्ध सुधारक और समाजसेवी रहे हैं। उनकी हाजिर-जवाबी, मेहमान-नवाजी, खुशमिजाजी और मिलनसारीकी कोई मिसाल नही। साहू श्रेयासप्रसादजी वर्तमानमे बम्बईमें रहते हैं और अपने विविध औद्योगिक कारबारको देखते हुए सम्पूर्ण जैनसमाजके केन्द्रबिन्दु बने हुऐ हैं। आपकी सामाजिक गतिविधियाँ देशके कोने-कोने तक फैली हुई है। साहू शान्तिप्रसादजी डालमिया उद्योग समूहके सचालक रहे है। वे जैनसमाजके रत्न रहे हैं। एक ओर साहू जैन ट्रस्टकी स्थापनासे उन्होने शिक्षा और सस्कृतिके प्रसारमे योगदान किया है और साधनहीन छात्रोको अध्ययनके लिए सहायता की है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठके माध्यमसे साहित्यिक जगत्को नयी आशाकिरण प्रस्तुत की। ये दोनो ही सस्थायें उनके ऐसे स्मारक हैं जो जैनधर्म और सस्कृतिकी परम्पराको प्रसारित करनेमे लगे हुए हैं। पच्चीस सौवें महावीर निर्वाणोत्सव वर्षमे उन्होने जैनसम्प्रदायोकी एकताके लिए अथक प्रयास किये और उत्सवको सफल बनाया। अबतक आपके माध्यमसे एक करोडसे भी अधिककी राशि छात्रवृत्ति, सस्था-निर्माण, तीर्थ-सरक्षण तथा अन्य सामाजिक, धार्मिक कार्यों के लिए प्रदान की जा चुकी है। ऐसा कहा जाता है कि साहू जी समाजके भामाशाह थे, कल्पवृक्ष थे। वे समाजमे नव-जागरणका विहान फूकनेवाले प्राणवायु थे। वे जैनसमाजके एक युगका प्रतिनिधित्व करते थे। उनके अधूरे कार्यको अब उनके अग्रज साहू श्रेयासप्रसादजी देख रहे हैं। दोनो ही साहू बन्धुओका प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अनेक प्रकारके शैक्षिक एव सास्कृतिक कार्यों में पण्डितजी उनके अप्रतिम सलाहकारके रूपमे रहते हैं।

ला० राजेन्द्रकुमारजी तथा जगतप्रसादजीने बिजनौरके वर्द्धमान डिग्री कालेजकी स्थापनामें सहयोग दिया है। साहू रमेशचन्द्रजी भी टाइम्स ऑव इण्डिया पत्र-समूहके व्यवस्थापक बनकर अनेक रूपोमें जैनसमाज और देशकी सेवा कर रहे हैं।

प० कैलाशचन्द्र शास्त्रीके जन्मस्थान नहटौरकी ख्यातिमे भी अनेक महनीय विभूतियोका योगदान रहा है। रायबहादुर बाबू द्वारकादासजी अपनी इन्जीनियरिंगकी श्लाघनीय सेवाके बावजूद भी सदैव

नहटौरका ध्यान रखते थे। उन्होंने ही पण्डितजीको अध्ययनके लिए प्रेरित किया, बाहर भिजवाया। इनके वंशजोंने ही नहटौरमें जैन कालेज खुलवाया। वे प्रखर समाज-सुधारक तथा समाजसेवी थे। वे गुप्तदानी भी थे और लोगोंको आगे बढ़ानेमें मार्गदर्शक सहयोग देते थे।

नहटौरकी ही एक अप्रतिम विभूति पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री हैं जिन्होंने अपने अध्ययन-अध्यापन, साहित्य निर्माण तथा मार्गदर्शक गुणोंके कारण इस क्षेत्रका नाम प्रशस्त किया है। वस्तुत बिजनौर जिलेके दो परिवारोंने मणिकाचन-सयोगकी उक्ति चरितार्थ की है। ये हैं—साहू परिवार और लाला मुसद्दीलालका परिवार। एक परिवार धनकुबेर था, तो दूसरा विद्यापति प्रमाणित हुआ। एक ही क्षेत्रमें लक्ष्मी और सरस्वतीका यह सयोग विरल ही देखा जाता है। इनका जीवन इसी ग्रन्थमें अन्यत्र दिया गया है। पडितजी समाजके लिए सूर्यसम प्रकाशस्तम्भ तथा सुमेरुसम उत्तुङ्गता प्रदान कर रहे हैं।

रुहेलखण्ड क्षेत्रने अखिल भारतीय जैन सस्थाओके सस्थापन और अभिवर्धनमे काफी योगदान किया है। मुरादाबादके पण्डित चुन्नीलालजी आदि महासभाके सस्थापको (१८९१) में है। दिगम्बर जैन परिषद्का सर्व प्रथम अधिवेशन भी १९२४ मे साहू जुगमन्दिरदास की अध्यक्षतामें नजीबाबादमें हुआ था। यह एक सुधारवादी सस्था रही है और इसने समाजकी अनेक कुरीतियोको दूर करनेमे अग्रणी कार्य किया है। बिजनौर जिलेकी समस्त विभूतियाँ (इनमे लेखक भी सम्मिलित है) इस परिषद्के अभिवर्धनमे प्रारम्भसे ही सक्रिय रही है। रुहेलखण्ड-कुमायूँ जैन परिषद्की स्थापनामे भी मा० उग्रसेनजीके साथ बिजनौरके बाबू रतनलालजी एडवोकेटका प्रमुख हाथ रहा है। उनकी प्रेरणासे ही इस क्षेत्रकी एक जैन डायरेक्टरी प्रकाशित की गई है।

यद्यपि जैन अग्रवाल समाजके लिये दस्तूरुल अमलका विधान १९२५ मे धामपुरमे बनाया गया था, पर उसकी कार्यरूपमे परिणति जिला दि० जैन परिषद्के नहटौरके १९४१ के अधिवेशनमें पारित सशोधित प्रस्तावके बाद ही सम्भव हुई। इसके अनुसार दहेज प्रथा तथा अन्य कुरीतियोपर अकुश लगाया जा सका। यह प्रस्ताव लेखकके मन्त्रित्वकालमे बडे साहस और श्रमके बाद पारित किया जा सका। यह क्षेत्रीय जैन समाजके लिये नवजागरण का प्रथम सकेत था।

सामाजिक कार्योके अतिरिक्त, यह क्षेत्र स्वतत्रता सग्रामियोका भी गढ रहा है। इस क्षेत्रकी जैन समाज इस दिशामें भी काफी आगे रही है। रामपुरके कल्याण कुमार शशि, धनौराके शान्तिस्वरूप कुसुम, अयोध्याप्रसादजी गोयलीय, जुगल किशोर मुख्तार, ज्योतिप्रसादजी प्रेमी, बाबू शान्तिचन्द्र तथा अन्य कवियो, ज्ञानियो, जैन पत्र-सम्पादको, साहित्य सृष्टाओने इस दिशामें जो योगदान किया है, वह इस क्षेत्र की कीर्तिको चिरस्मरणीय बना रहा है। इस दिशामें बाबू रतनलाल एडवोकेटका योगदान कौन भूल सकता है जिन्होने अनेको बार जेल यात्रा भी की है। वस्तुत न केवल निकट अतीतमे ही, अपितु वर्तमानमे इस क्षेत्रके प्रभूत जैन बन्धु देश और समाजकी भी प्रगतिमे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। बिजनौर, नजीबाबाद एव नहटौर आदि स्थानोमे अनेक जैन शिक्षण सस्थाये कार्यरत है, जन पाठशालाये है, अनेक समाजसेवी सस्थायें हैं जो समाजकी अमूल्य सेवा कर रही है। हमें इनके सचालको पर गर्व है। हमारी कामना है कि इस क्षेत्रमें जैन सस्कृतिकी मशाल को अविरत जलाते रहनेके लिए ऐसी ही विभूतियाँ सदा अवतरित होती रहे।



स्याद्वाद महाविद्यालय के प्राचायत्व क प्रारम्भ म सिद्धान्ताचाय
(सन १९२७)



श्रीमती बसन्तीदेवी धर्मपत्नी सिद्धान्ताचार्य



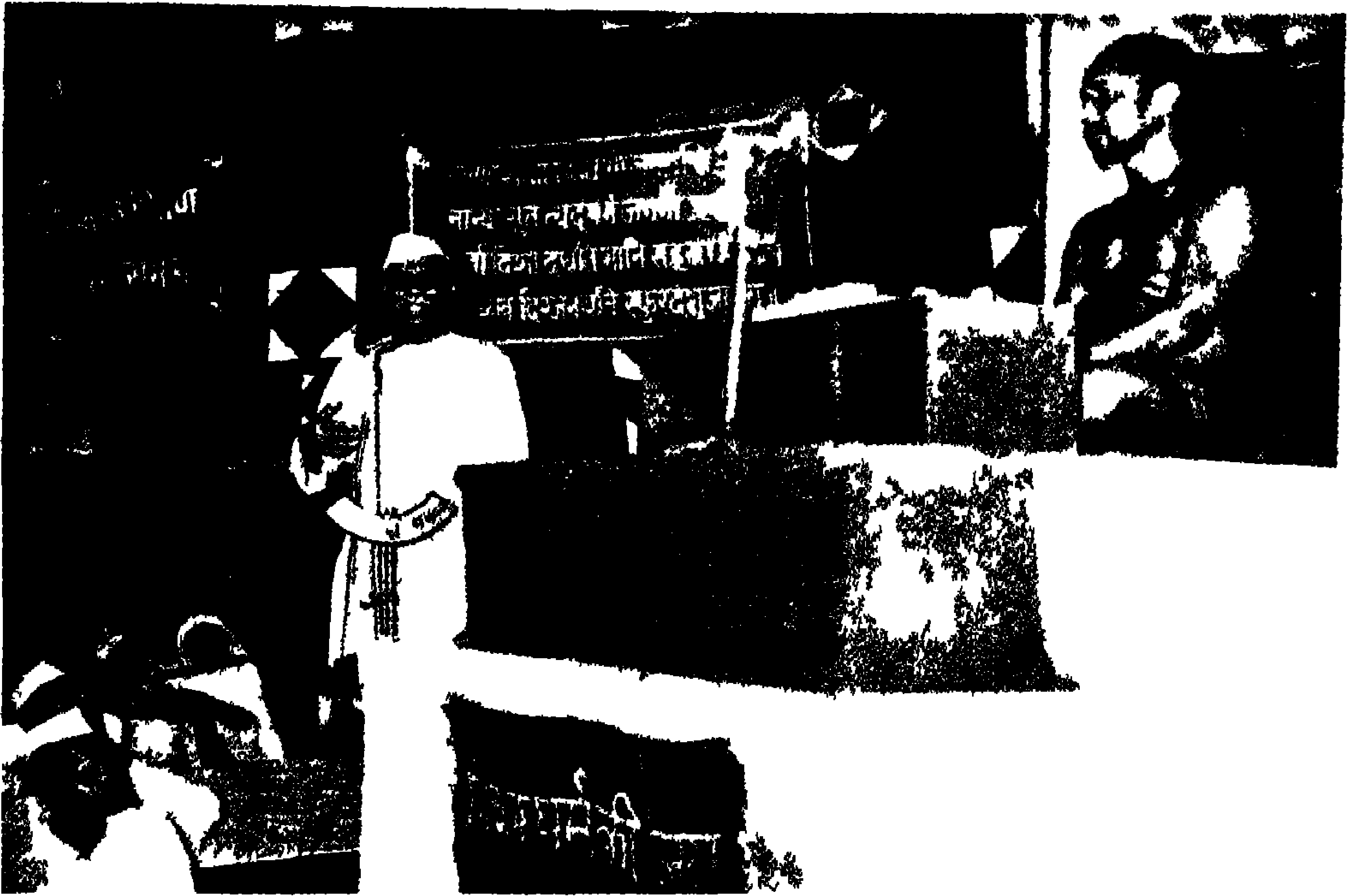
अपनी प नी सौ० वस तीदेवी पत्र सुपाश्वकुमार पत्रव ा सौ० सरोज पौत्रो (रजन एव सजीवकुमार) पौत्रवधू सौ० पभा एव प्रपौत्र चि० रवि के साथ सिद्धा ताचाय जी



पूज्य श्री १०८ आचाय समन्तभद्र जी महाराज के साथ शास्त्रचर्चा में अन्य विद्वन्मडली सहित सिद्धान्ताचाय



बा० देवकुमार–शोधसस्थान म आयोजित. सिद्धान्ताचाय–सम्मान को मगध विश्वविद्यालय के कुलपति से ग्रहण करते हुए सिद्धान्ताचाय



I, १०८ मनि विद्यान जी के सा नध्य म आयाजित श्र जिन द्र वर्णी व सम्मान समारोह म
बाल आश्रम दि ली म भाषण दत हुए



दिगम्बर जैन मदिर जनरलगज कानपुर में दशलक्षणपर्व प्रवचन करत हुए



आचाय श्री १०८ समन्तभद्र जी महाराज को आहार देत हुए सिद्धा ताचाय जी



दि॰ जैन समाज एकता-सम्मेलन म समाजप्रमुख, साहु शान्तिप्रसाद सेठ राजकुमार सिंह आदि के साथ दिल्ली म



विद्वत्परिषद् क सागर अधिवेशन क अध्यक्ष अपन शिष्य आचाय नमिचन्द्र शास्त्री आदि अन्य अध्यक्षो के साथ



सागर की आगमवचनिका म विद्वन्मण्डली के साथ लीन, सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री



पूज्यवर श्री १०५ गणेश वर्णी जी रुग्णावस्था में भी अत्यन्त शान्त और अडिग थे ।
उनकी समाधिचर्या मे रत श्री बाबू छोटेलाल सरावगी के साथ
कैलाशचन्द्र जी शास्त्री



पार्श्वनाथ वर्णी शान्तिनिकेतन, ईसरी में अपने गुरु प० वंशीधर जी आदि के साथ
पूज्य श्री १०५ वर्णीजी के प्रवचन में

मेरा जीवन-क्रम

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

स्वय अपने सम्बन्धमें कुछ लिखते हुए बडी कठिनाईका अनुभव होता है। प्रत्येक मनुष्यमें गुणोके साथ कुछ दोष भी होते ही है। मेरेमे भी दोष है किन्तु इतना आत्मबल नही कि कविवर बनारसीदासजीकी तरह उन्हें जनताके सामने रख सकूँ। फिर भी, अपना यत्किंचित् परिचय देता हूँ।

मेरा जन्म वि०स० १९६०के कार्तिकमासमे शुक्लपक्ष की द्वादशी को हुआ था। उस समय मेरी माता घरमे एकाकी थी। सब परिवार हस्तिनापुरके वार्षिक मेलेमें गया था। जन्मस्थान उत्तर प्रदेशके बिजनौर जिलेमे नहटौर नामक कस्बा है। वहाँ जैनोकी सख्या जिलेमे सबसे अधिक है। मकानसे एकदम लगा जैनमन्दिर है और उसीके सामने जैन पाठशाला का मकान है। जब वहाँ मन्दिर नही बना था, तब हमारे ही घरमें मन्दिर था। आज भी पक्की पुख्ता वेदी हमारे घरमे स्थित है। उस भाग को काममे नही लाया जाता और द्वार सदा बन्द रहते है। यह उस समयके धार्मिक आदरभाव का एक नमूना है।

मेरी माता पढना-लिखना नही जानती थी। उस समय स्त्रियो को पढ़ाना अच्छा नही माना जाता था। किन्तु थी धार्मिक और समझदार। उनके पिता साहूकारी करते थे और गोम्मटसारके ज्ञाता थे। जब मैं पढ लिख गया, तो वे शास्त्र चर्चा करते थे। मेरे पिताजी बहुत साधारण लिखना-पढ़ना जानते थे। वे मुसद्दीलाल पसारीके नामसे कस्बे और देहातमें प्रसिद्ध थे। उनकी पसारे की दुकान थी और खूब चलती थी। किन्तु वे इतने उदार थे कि उन्होंने कभी सचय नही किया।

मेरी शिक्षा कस्बेके प्राइमरी स्कूलमे हुई। उस समय हमारे प्रदशमें उर्दू का ही चलन था। किन्तु मुझे हिन्दी लिवाई गई। कुछ लोगोने कहा भी कि यह हिन्दी पढ़कर क्या करेगा। किन्तु कहा है कि जैसी भवितव्यता होती है, वैसी ही सहायक सामग्री भी मिल जाती है। जैन पाठशालामे मैं धार्मिक शिक्षा लेता था। मन्दिरमे शास्त्र सभा होती थी। अपनी माताके साथ मैं जाता था और पुराण सुना करता था। अपनी माताके धार्मिक जीवन का मुझपर बहुत प्रभाव पडा।

उसी समय हस्तिनापुरमे जैन गुरुकुल स्थापित हुआ था और उसमे मुझे प्रवेश करानेकी बात चली थी। उस साल भी मेरा परिवार हस्तिनापुरके मेलेमें गया था। वहाँ मैंने सुना कि प० गोपालदासजी बरैया आये है। वह शास्त्र प्रवचन करते हैं और शास्त्र देखे विना घण्टो बोलते है। यह सुनकर मेरे बाल मनमे यह जिज्ञासा हुई, क्या मैं भी ऐसा शास्त्र बाँच सकूँगा? हमारे कस्बेमे एक बाबू द्वारकाप्रसाद थे। वह कलकत्तामे गैरीसन इन्जीनियर थे। उन्हे सरकारकी ओरसे रायबहादुरीकी उपाधि मिली थी। बडे शिक्षा प्रेमी और उदार थे। अपने कस्बेके कई होनहार असमर्थ बालकोको सहायता देकर उन्होने योग्य बनाया था। वह जब भी नहटौर आते थे, जैन पाठशालामे पधारते थे और बालकोकी परीक्षा लेते थे, मिष्ठान्न वितरण करते थे। उसी अवसरपर मैं उनकी दृष्टिमे आ गया। शिक्षाप्रेमी होनेसे वह काशीके स्याद्वाद महाविद्यालयसे भी परिचित थे। उन्हीके प्रयत्नसे मेरा प्रवेश महाविद्यालयमे हुआ।

उस समय मेरी अवस्था ग्यारह वर्षकी थी। सबसे छोटा पुत्र होनेके कारण मैं तबतक भी अपनी माँके पास सोता था। जीवनमें प्रथम बार मुझे माँका वियोग सहना पडा। किन्तु मेरे बडे भाई मुझे पहुँचाने गये थे और रेलयात्राका आकर्षण था, अत वियोग खला नही। किन्तु जब मेरे भाई मुझे विद्यालय

में प्रविष्ट कराकर घर लौटने लगे, तो मेरे धैर्यने जवाब दे दिया। इसके बाद क्या हुआ, कैसे मैं विद्यालयमें रह गया, इसका विवरण अन्यत्र प्रकाशित हुआ है। उसकी पुनरावृत्ति मैं नही करना चाहता।

स्याद्वाद महाविद्यालयमें मैंने छह वर्ष तक अध्ययन किया। उस समय छात्र बडी लगनसे पठन-पाठन करते थे। बडे छात्र छोटे छात्रोंको पढ़ाते थे और बडे छात्रोमें यह प्रतिस्पर्धा रहती थी कि किसके पास अधिक छात्र पढ़ने जाते है। समय विभाग नही था। अत छात्र पहलेसे ही कक्षामें जमकर बैठ जाते थे कि पहले हम पढ़ेंगे। आपसमें लडाई-झगडा तक हो जाता था। रात्रिमें पढनेके लिए विद्यालयकी ओरसे देसी तेल मिलता था। अत रात्रिमे अधिक समय तक पढनेके लिए छात्र एक-दूसरका तेल भी चुरा लेते थे। अनेक छात्र जल्दी सो जाते थे और दूसरोंके सो जानेपर जागकर पढते थे। रातभर किसी न किसीका दीपक जलता था। मुझे भी प्रारम्भसे ही पढ़नेमें आनन्द आने लगा था। अत मैं भी रातके १२ बजे जागकर पढने लगा। उस समय विद्यालयके सस्थापक बाबा भागीरथजी वर्णी विद्यालयमे ही रहते थे। उन्होने एक दिन मुझे बुलाकर कहा, "हम तुम्हें नही रखेंगे, तुम्हारे घर भेज देंगे।" मैं काँप उठा कि क्या कसूर हुआ। तब बोले—इस तरह पढोगे, तो बीमार पड जाओगे। अभी तुम बालक हो। यह सुनकर मुझे शान्ति मिली। यह उस समयकी पठन-पाठनकी स्थिति थी। पडित जीवन्धरजी, प० चैनसुखदासजी, प० रमानाथजी, प० दयाचन्द्रजी, प० दरबारीलालजी (सत्यभक्त), प० कवँरलालजी, ये उस समयके बडे विद्यार्थी थे। प० तुलसीरामजी, प० घनश्यामदासजी, प० गोविन्दरायजी पढते भी थे और अध्यापकी भी करते थे। पूज्य प० गणेशप्रसादजी वर्णी भी आते रहते थे। ब्र० शीतलप्रसादजी भी अधिष्ठाताके रूपमें जब-तब आया करते थे और सब व्यवस्था देखते थे।

सन् १९२० मे महात्मा गाधीने असहयोग आन्दोलन चलाया। सन् २१ की वसन्तपचमीको विद्यालयके समीप ही काशी विद्यापीठकी स्थापना हुई। प० उमरावसिंहजी तब ब्र० ज्ञानानन्द होकर विद्यालयमें रहते थे। उन्होंने अहिंसा प्रचारिणी सभाकी स्थापना करके अहिंसा नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। मैं उसका प्रूफ देखता था। राष्ट्रीयताके प्रभावमे आकर विद्यालयके छात्रोने भी सरकारी परीक्षाका बहिष्कार किया। उसी साल मैं भी न्यायतीर्थकी परीक्षा देनेवाला था। उसके त्यागके साथ ही मैं विद्यालय त्यागकर घर आ गया और मोरेनाके जैन सिद्धान्त विद्यालयमें जैन सिद्धान्तका अध्ययन करने चला गया। तबतक काशीके महाविद्यालयमें जैनधर्मके अध्ययनकी समुचित व्यवस्था नही थी। साहित्य, व्याकरण और जैनन्यायका पठन-पाठन जोरसे चलता था।

उस समय गुरुवर्य गोपालदासजीके द्वारा स्थापित मोरेना विद्यालय की समाजमें बडी प्रतिष्ठा थी। गुरुजीके प्रधान शिष्य प० माणिक चन्द्रजी न्यायाचार्य, प० वशीधरजी न्यायालकार और प० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री वहाँके अध्यापक थे। इन्ही तीनोके पास मैंने गोम्मटसार, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, त्रिलोकसार और पचाध्यायी का अध्ययन किया। प० जगन्मोहनलालजी और प० फूलचन्द्रजी मेरे सहाध्यायी थे।

दो वर्ष तक अध्ययन करनेके पश्चात् मेरी नियुक्ति स्याद्वाद महाविद्यालयमें धर्माध्यापकके पद पर हुई। एक वर्ष अध्यापन करनेके बाद मैं अस्वस्थ हो गया और मुझे विद्यालय छोड देना पडा। लगभग तीन वर्ष मैं कास रोगसे पीडित रहा। उस तीव्र असाताके उदयमें मेरी जिनभक्तिने ही मेरी रक्षा की। लौकिक चिकित्सा करनेके साथ ही मैं ससार रूपी महारोगके सिद्धहस्त चिकित्सक भगवान् जिनेन्द्रदेवको अपनी करुण गाथा प्रतिदिन सुनाता था और आश्वस्त होता था। जब मैं स्वस्थ हुआ तो मेरी धर्मात्मा माता मुझे मेरी पत्नीके साथ अहिच्छत्र, सोनागिर और श्रीमहावीरजीके वन्दन कराने ले गई। उसके पश्चात् मैं अपने

व्यवसायमें लगा और दुकानदारी करने लगा। मुझे व्यवसाय करते एक वर्ष ही हुआ था कि मेरे पास स्याद्वाद महाविद्यालयसे पत्र पहुँचा कि आपका स्थान रिक्त है। आप आना चाहें, तो आ सकते हैं। इस तरह मैं भाग्यवश पुन: बनारस पहुँच गया। इस घटनाने मुझे भाग्यवादी बना दिया। मुझे अपनी आजीविका के लिए किंचित् भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा। इसमें मेरा केवल वही प्रयत्न काम आया जो मैंने विद्यार्जनमें किया था। यदि मैं अपने प्रथम एक वर्षके अध्यापन कालमें सफल न होता, तो मुझे तीन वर्षके पश्चात् कौन स्मरण करता? किन्तु मेरा भाग्य मेरे साथ था। उसने ही मुझे मेरे जीवन-पथपर लाकर खड़ा किया और इस तरह मैंने जो आठ वर्ष तक परिश्रमपूर्वक विद्याध्ययन किया था, उसका उपयोग हो सका। अन्यथा आज कौन मुझे जानता? इसे मैंने श्री स्याद्वाद महाविद्यालय और जिनका यः जन्मस्थान है, उन सुपार्श्वनाथ भगवान्की शुभ भक्तिका ही प्रसाद माना है और उन्हींके पाद-पंकजमें मेरा जीवन बीता है। यहाँ रहकर मैंने क्या नहीं पाया? सभी कुछ तो पाया—विद्या, पत्नी, सन्तान, सुख-समृद्धि, यश-सम्मान।

वाराणसी विद्याकी राजपुरी है। संस्कृतके विद्वानोंकी खान है। यहाँ रहकर मेरा समस्त जीवन पठन-पाठन और लेखनमें ही बीता है। घर और विद्यालयके सिवाय मेरी अन्यत्र उठ-बैठ नहीं रही। यहाँ मेरा कोई शत्रु नहीं, तो मित्र भी नहीं। छात्रोंसे मैंने सदा ही एक-सा व्यवहार किया और जान-बूझकर किसीके साथ पक्षपात नहीं किया। मेरे विद्यार्थी प्रायः बुन्देलखण्डके होते थे। मेरे सहाध्यायी भी वहींके थे। फलतः उन्हींके साथ मेरा विशेष सम्पर्क रहा। यतः विद्वान् बुन्देलखण्डमें ही होते हैं, अतः आज भी मेरे सुपरिचित मुझे बुन्देलखण्डका समझते हैं।

यहाँ रहते हुए मैं समाजके सम्पर्कमें भी आया। सबसे प्रथम मुझे शास्त्र-प्रवचनके लिए कलकत्ता रथयात्रा महोत्सव पर जाना पड़ा। उस समय कलकत्तामें पं० झम्मनलालजी, पं० गजाधरलालजी, पं० श्रीलालजी आदि विद्वान् बसते थे। मेरी प्रथम शास्त्रसभामें ये सब उपस्थित थे। मुझसे एक प्रश्न किया गया जो मेरे लिए एकदम नया था। किन्तु मैं घबराया नहीं और मैंने अपनी बुद्धिसे जो उत्तर दिया, वह ठीक निकला। इससे मेरा साहस बढ़ा। उस समय जीवदया प्रचारिणी सभाके मंत्री पं० बाबूरामजी भी उपस्थित थे। जब मैं शास्त्र बाँचकर उठा, तो उन्होंने मेरी पीठ ठोंकी। मैं पास हुआ।

उस समय जैन मित्रमण्डल, धर्मपुरा, दिल्ली महावीर जयन्ती बड़े ठाठसे मनाता था और विद्वानो-का वहाँ जमघट रहता था। उसमें सम्मिलित होना सौभाग्य माना जाता था। मुझे भी वह सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह मेरा प्रथम सार्वजनिक भाषण था। अतः तैयारी करके गया था। सभापतिके आसनपर बैरिस्टर चम्पतराय विराजमान थे। मेरे भाषणके मध्यमें मण्डलके प्रधान मंत्री बा० उमरावसिंहजीने सभापतिसे कहा—बड़ा जमा हुआ भाषण हो रहा है। जब मैंने यह कहकर भाषण समाप्त किया कि मैं थक गया हूँ, तो बैरिस्टर सा० तत्काल बोले—आप बोलते-बोलते भले ही थक गये हों, हम लोग तो सुनते-सुनते नहीं थके।

उसी साल मुझे धर्मपुरा, दिल्लीसे दशलक्षणीका निमंत्रण मिला और सबसे प्रथम मानपत्र भी मुझे वहींसे मिला। यह घटना सन् १९२४ की है। इस तरह मैं धीरे-धीरे समाजके सम्पर्कमें आया और मुझे उससे प्रोत्साहन मिलता गया।

मेरे बाल सहाध्यायी पं० राजेन्द्रकुमारजी उस समय अम्बाला छावनीमें लाला शिब्बामलजीकी पुत्री चम्पावतीको पढ़ाते थे। चम्पावतीका स्वर्गवास होनेपर उनकी स्मृतिमें एक ट्रैक्टमाला स्थापित की गई, और उसमें मुझे भी एक ट्रैक्ट **अहिंसा** शीर्षक लिखना पड़ा। सम्भवतया वह मेरा प्रथम लेखन कार्य था।

बादको अम्बाला छावनीमें शास्त्रार्थ सघकी स्थापना हुई और उससे एक पाक्षिक पत्र जैनदर्शन प्रकाशित हुआ। मैं सहायक सम्पादक बनाया गया। तब मुझे लेख लिखनेका अभ्यास नही था। एक लेख लिखनेमें घटों बीत जाते थे। बादको तो जब सघने साप्ताहिक पत्र जैनसन्देश प्रकाशित किया, मैं उसका सम्पादक बना और मुझे उसके लिए प्रति सप्ताह सम्पादकीय लिखना पडा। इस तरह मैं लेखक बना।

प्रारम्भसे ही मेरी यह नीति रही कि जो कुछ लिखा जाय, वह व्यक्तिगत राग-द्वेषसे ऊपर उठकर लिखा जाय। फिर भी, अपनी कमजोरियोके कारण मेरे लेखनमें कभी-कभी कटुता भी आ जाती थी। मरी नीति सदा माध्यम-मार्गी रही। मैं न तो प्रत्येक सुधारका विरोधी था और न समर्थक। मैंने जैन शास्त्रोंका निष्पक्ष रीतिसे जो अध्ययन किया था उससे मेरा एक दृष्टिकोण बन गया था—आगमके विपरीत लिखना नही ओर रूढिको मान्यता देना नही। अपने इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर मैं सामाजिक विषयोपर तथा धार्मिक चर्चाओंपर लिखता रहा हूँ। जैन जातियोमे परस्पर विवाह सम्बन्धका मैं पक्षपाती हूँ। प० आशाधरजीने सागार-धर्मामृतमें लिखा है—"साधर्मीको ही कन्या देनी चाहिये जिससे उसके धार्मिक सस्कार नष्ट न हो।" अत मुझमे जातिकी अपेक्षा धर्मका ही पक्षपात विशेष रहा है। मैंने जातिवादको भी प्रश्रय नही दिया। जा जैन धर्मावलम्बी है, वह मेरा सजातीय है। यही मेरी श्रद्धा है। हाँ, खान-पानमे शुद्धताका पक्षपाती रहा हूँ। किन्तु मुनियोके द्वारा आहारदान देनेवालेसे कराई जाने-वाली शूद्रजल त्यागकी प्रतिज्ञाका मैं विरोधी हूँ। मैं इसे शास्त्र-सम्मत नही मानता। प० आशाधरजीने सत् शूद्रको आहारदान देनेका अधिकारी माना है। हरिजनोके सम्बन्धमें भी मैं प० आशाधरजीके मतका अनुयायी हूँ कि आचार-शुद्धि और शारीरिक शुद्धिके साथ शूद्र भी धर्मसाधनका यथायोग्य अधिकारी हो सकता है। आजके बदलते समयमे हमे परम्परागत रूढिसे चिपका न रहकर शास्त्रसम्मत परिवर्तनको अपनानेमे ही हित है, यह मेरी दृष्टि रही है। मैंने सन्देशके द्वारा वर्तमान मुनिमार्गमे बढते शिथिलाचारका विरोध किया है। इससे मुनियोके भक्त मुझे मुनि-विरोधी मान सकते हैं। किन्तु कोई जैन धर्मानुयायी मुनिमार्गका विरोधी नही हो सकता। मुनिमार्ग आत्मकल्याणके लिए है। उसे अपनाकर मुनिमार्ग विरोधी क्रियाएँ करनेसे आत्मकल्याण तो सम्भव नही है, मुनिमार्गपर भी दूषण आता है।

लगभग तीन दशकोसे सोनगढके विरुद्ध प्रचार चला है। मेरी दृष्टिसे उस प्रचारमे साधर्मीवात्सल्य का लेश भी नही है। जिस व्यक्तिने स्वत प्रेरित होकर दि० जैनधर्मको स्वीकार किया, मूर्तिपूजा विरोधी सम्प्रदायका गुरु होते हुए सौराष्ट्रमे दिगम्बर जैन मन्दिरोकी श्रृंखला खडी कर दी, जिस सौराष्ट्रमे दिगम्बर जैन नाममात्रको थे, उसे दिगम्बर जैनोका गढ बना दिया, उस व्यक्तिके प्रति विरोधियोके चित्तमे थोडा-सा आदर-भाव न होना क्या धर्मका परिचायक है? ऐसे व्यक्तिका जिन्होने बहिष्कार किया, जिनवाणीकी अवमानना की, उन्हें क्या कहा जाये, समझमें नही आता? यह सब दिगम्बर जैनधर्मके लिए महान् हानि-कारक है। अनुचित बातोका विरोध होना चाहिये किन्तु उन्हें दिगम्बर जैन न माननेमे क्या तुक है? आज समयसारकी चर्चा सर्वत्र है निमित्त-उपादानको साधारण-जन भी जानने लगे हैं। जो सोनगढ विरोधी हैं, वे आज भी धर्मज्ञानसे शून्य जैसे है। उनमे शास्त्रीय चर्चाके प्रति रुचि नही है, क्योकि वे उससे अनजान हैं।

यह सब मैं अपने अभिप्रायानुसार लिख रहा हूँ क्योंकि मुझे अपना अन्तरग परिचय भी तो देना है। जैनधर्म एक सत्यनिष्ठ धर्म है। उसका सच्चा अनुयायी किसीके भी साथ अन्याय नही कर सकता। न तो वह सत्यका अपलाप कर सकता है और न सत्यका आरोपण कर सकता है। किन्तु खेद है कि आज धर्ममें भी राजनीति घुस गई है और राजनैतिक पार्टियोंकी दलबन्दीकी तरह धर्ममें भी दलबन्दी चल पडी

है। अब धार्मिक प्रश्नोंका निर्णय शास्त्रके आधारपर न करके दलबन्दीके आधारपर किया जाता है, इससे धर्मको भी क्षति पहुंच रही है। नई पीढ़ी धर्मसे विमुख होती जाती है और उस ओर हमारा ध्यान नहीं है। अस्तु।

जैनसाहित्य और उसके रचयिता आचार्यों के इतिवृत्तके सम्बन्धमें स्व० नाथूरामजी प्रेमी और स्व० प० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी देन अपूर्व है। ये दोनों ही सस्कृतके पठित पडित नही थे। किन्तु दोनोंने ही स्वत अभ्यास करके ऐसी सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त की थी कि सस्कृत-प्राकृतके शास्त्रोमेंसे मतलबकी बात पकड लेते थे। और मुख्तार साहबकी सूझ-बूझ और अनुसन्धान शैली तो बेजोड थी। प्रेमीजीने तथा मुख्तार साहबने जैनहितैषीमें अनेक लेख जैनसाहित्य और जैनाचार्यों के सम्बन्धमें लिखे जो बादको पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए। प्रेमीजीने स्व० सेठ माणिकचन्द्रजी बम्बईकी स्मृतिमें एक ग्रन्थमाला स्थापित की और उसमे अनेक अप्रकाशित ग्रन्थोको प्रकाशित करके जैन साहित्यकी श्रीवृद्धि की। उसी ग्रन्थमालासे आचार्य समन्तभद्रका रत्नकरण्डश्रावकाचार मुख्तार साहबकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाके साथ प्रकाशित हुआ। आचार्य समन्तभद्र और उनके कृतित्वके सम्बन्धमे तथा टीकाकार प्रभाचन्द्रके सम्बन्धमें मुख्तार साहबने अपने जीवनभरकी शोध सामग्रीके साथ प्रकाश डाला था। उसको पढकर मेरी रुचि जैनसाहित्य और उसके इतिहासकी ओर हुई तथा मुख्तार साहबके द्वारा अनेकान्त पत्रके प्रकाशनके साथ मैं उस ओर अधिकाधिक रुचि लेने लगा। जब प० सुखलालजी और प० बेचरदासजीके सम्पादकत्वमें सिद्धसेनके सन्मतितर्कका प्रकाशन गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबादसे हुआ, तो प्रेमीजीकी भावना हुई कि किसी दिगम्बर ग्रन्थका सम्पादन भी इसी रूपमे होना चाहिये। तब उन्होंने मुझे और स्व० प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यको आचार्य प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रका भार सौंपा। उसी समय मैंने न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागमे प्रकाशित उसकी प्रस्तावना लिखी जिसे प्रेमीजीने पसन्द किया था।

सन् ४१ मे भा० दि० जैन सघने वाराणसीमे श्री जयधवल सिद्धान्त ग्रन्थके प्रकाशनके लिए जयधवला कार्यालय स्थापित किया। उसमे मेरे सिवाय प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजी कार्य करते थे। इससे पूर्व प० फूलचन्द्रजी धवल नामक सिद्धान्त ग्रन्थके सम्पादनका काम कर चुके थे, अत उन्हे ऐसे कार्यका विशेष अनुभव था। प्रथम खण्डके प्रकाशनके बाद प० महेन्द्र-कुमारजी तो पृथक् हो गये किन्तु प० फूलचन्द्रजीके साथ मैं लगा रहा। उसी समयके लगभग उज्जैनके साहित्यप्रेमी सेठ लालचन्दजीकी ओरसे जैनधर्म पर सर्वश्रेष्ठ रचनाके लिए पारितोषिककी घोषणा हुई और मैंने जैनधर्म पुस्तक लिखकर वह पारितोषिक प्राप्त किया। उसके अबतक चार सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। सन् ५३ के लगभग श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमालाने जैनसाहित्यके इतिहास निर्माणकी एक योजना चालू की। उसमें रहकर मैंने जैनसाहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिका तथा जैनसाहित्यका इतिहास लिखा जो उक्त ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ।

एक तरहसे बनारसमे जयधवला कार्यालयको स्थापनाके साथ ही मेरे साहित्यिक जीवनका सूत्रपात होता है। श्री स्याद्वाद महाविद्यालय प्रात काल छह बजेसे ग्यारह तक लगता था। अत सन् ४१ से मेरी यह नियमित चर्या रही है कि प्रात कालका समय पढानेमे और सायकालका समय लेखनमें अभी तक भी बीतता रहा है।

डॉ० हीरालालजीके स्वर्गवासके पश्चात् भारतीय ज्ञानपीठके अन्तर्गत मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सहायक सम्पादकका भार मुझे वहन करना पडा और डॉ० ए० एन० उपाध्येके स्वर्गवासके पश्चात् श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरके सम्पादकका भार भी मुझे ही वहन करना पडा है। इस तरह मेरा समस्त

जीवन पठन-पाठन और सम्पादन-लेखनमें ही बीता । और इन पंक्तियोंके लेखनके समय भी वह क्रम चालू है, क्योंकि अभी मेरा पुरुषार्थ बना है और मुझसे खाली बैठा नहीं जाता है ।

अपने उक्त जीवनके प्रकाशमे जब मैं अपने जीवनको एक पडितके रूपमें आँकता हूँ तो मुझे अपने पंडित जीवनपर असन्तोष नही होता । यदि मैं पडित न बनकर साधारण गृहस्थ ही रहा होता तो मेरे जीवनका उपयोग भी अपने पारिवारिक झझटोमे ही बीतता । न मैं आत्माको जानता, न परमात्माको जानता । समस्त जीवन "नोन तेल लकडी" की चिन्तामें ही बीत जाता । भगवान् महावीर और उनकी वाणीके पठन-पाठनमें, आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, नेमिचन्द्र, अकलकदेव, वीरसेन स्वामी, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अमृतचन्द्र आदि महान् आचार्योके ग्रन्थरत्नोंका आलोडन करनेमें जो सुख मिला है, उसे मैं लेखनीसे लिखनेमें असमर्थ हूँ । खेद यही है कि मैंने अपने ज्ञानका उपयोग आत्महितमे नही किया । यह जानते हुए भी कि मैं द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे भिन्न एक स्वतन्त्र चेतन द्रव्य हूँ, मुझे ससार, शरीर और भोगोंसे आन्तरिक विराग नही होता और इस परसे मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि मेरी आत्मासे मिथ्यात्वका पर्दा हटा नही है, यद्यपि जीवनभर मैंने सच्चे देवशास्त्र गुरुकी ही श्रद्धा की है, उसीकी प्राप्तिके लिए मैं प्रयत्नशील हूँ और आप सबका आशीर्वाद चाहता हूँ ।

आज जैनसमाज एक व्यापारी समाज है और सब तीर्थंकर, जिन्होने जैनधर्मका प्रवर्तन किया, क्षत्रिय थे । धीरे-धीरे क्षत्रियोंसे जैनधर्म लुप्त हो गया । हिन्दू समाजकी तरह जैनसमाजमे ब्राह्मण जाति नही रही है । ब्राह्मण जातिका कार्य ही हिन्दू धर्मका सरक्षण और प्रचार है । जैनसमाजमें यह कार्य प्राय ससारत्यागी मुनिगण और आचार्य करते थे । धीरे-धीरे उनका भी लोप होनेसे समाजके सामने कठिनाई उपस्थित हुई । तब सस्कृतके महाविद्यालय स्थापित करके विद्वानोकी परम्परा चालूकी गई । इस परम्पराने लगभग सात दशकों तक समाजमे धार्मिक शिक्षा और धर्मोपदेशका कार्य किया । सस्कृत और प्राकृतके ग्रन्थोंका भाषानुवाद किया और इस तरह जैनसाहित्यका भी सरक्षण और सवर्धन किया । किन्तु सामयिक परिस्थितिके बदलनेसे अब इस विद्वत्परम्पराका भी अन्त सन्निकट प्रतीत होता है । क्योकि अब इस मार्गमे न तो आर्थिक ही आकर्षण रहा है और न लौकिक ही । महगाईकी अत्यधिकताके कारण एक परिवारके निर्वाहके लिये जितना अर्थ आवश्यक है उतना समाजसे मिलता नही है । अत छात्र भी धार्मिक शिक्षाकी ओर ध्यान न देकर लौकिक शिक्षामें ही रुचि रखते हैं । किन्तु आजका पण्डित उनका सन्तोष नही कर सकता । इस स्थितिसे विषम समस्या पैदा हो रही है । जब तक जैनसमाज जैन विद्वानके पोषणके लिये आवश्यक आर्थिक व्यवस्था नही करेगा तब तक इस परम्पराका चालू रखना अशक्य होता जायेगा । अत समाजको इधर ध्यान देना चाहिये । और एक विद्वानको ५००) से कम वेतन नही देना चाहिये । यदि ऐसा हो जाये तो इस क्षेत्रमें आकर्षण बढ़ सकता है । उसके अभावमें जैनसमाजके सामने विषम समस्या पैदा हो जायेगी ।

वस्तुत जैनधर्म आत्मकल्याणके लिये है, जीविकाके लिये नही है । किन्तु गृहस्थाश्रममें रहनेवालेका जीवन निर्वाह तो आत्मकल्याणसे हो नही सकता । अत उसे जीवन निर्वाहके लिये धनकी आवश्यकता है । आजीविकाके अन्य साधन अपनानेसे रुचि उधर ही लग जाती है । अत धार्मिक क्षेत्रमें कार्य करनेवाले विद्वानों का उपयोग उसी ओर रहे, इसके लिये उन्हें जीविकाकी ओरसे निराकुल करना ही चाहिये । साथ ही विद्वत्ताके योग्य-सम्मान भी उन्हें दिया जाना चाहिये । स्कूल कालिजोंमें अध्यापकोंकी जो स्थिति होती है वही स्थिति जैन विद्वानकी जब तक नही होगी तब तक यह समस्या सुलझ नहीं सकती ।

मेरा यह अनुभव है कि विद्वानको सम्मान दो कारणोंसे मिल सकता है । एक निरीहवृत्ति और दूसरे विद्वत्ता । निरीहवृत्ति तब तक सभव नही है जब तक जीवन निर्वाहके योग्य आजीविका न हो । और उसके

लिये यह भी आवश्यक है कि विद्वान केवल परीक्षा पास न हो, किन्तु उसे जिनागमका रहस्य भी ज्ञात हो, भाषणकलामें भी कुशल हो और शास्त्रीय प्रश्नोका उत्तर शास्त्राधारसे देनेकी क्षमता हो। इसके लिये उसे शास्त्राभ्यासी होना आवश्यक है।

आजकल तो छात्रोंमें शास्त्राभ्यासकी रुचि नहीं पाई जाती। कक्षामें पढ़ते समय भी वे अन्यमनस्क रहते हैं। परीक्षामें नकल करके पास होते हैं। ऐसी स्थितिमें उन्हें विषयका ज्ञान कैसे सम्भव है। और उसके अभावमें वे कैसे समाज पर अपना प्रभाव डालनेमें सक्षम हो सकते हैं। अत दोनों ही ओरसे अपनी-अपनी त्रुटियोंको दूर करने पर ही समस्याका हल निकल सकता है। उसके बिना परिस्थितिमें सुधार सम्भव नही है। आशा है समाज इधर ध्यान देगा तथा विद्वान बननेके इच्छुक भी ध्यान देंगे।

जीवनकी एक झलक : पण्डित कैलाशचन्द्रजी

सतीशकुमार जैन, असिस्टेंट कमिश्नर (वन), भारत सरकार, नई दिल्ली

अपनोंके विषयमे अधिक जानते हुए भी अधिक नही लिखा जा सकता। यही स्थिति मेरी भी है। जिन्हें सदैव जीवनमें सर्वाधिक सम्मान दिया है, उनके विषयमें क्या लिखा जाये, क्या छोडा जाये, यही ऊहापोहकी स्थिति बनी रहती है।

जन्म और मातापिता—छोटेसे कस्बेमे साधारण परिवारमें लाला मुसद्दीलाल जैनके कनिष्ठ पुत्रके रूपमे जन्मे बालक कैलाशचन्द्रके विषयमें किसको यह पूर्वाभास हो सकता था कि भविष्यमे यह बालक देशके अग्रणी विद्वानोंमे भी आदरपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

पण्डितजीका जन्म उत्तरप्रदेशके आमो और खण्डसारीके लिये पर्याप्त प्रसिद्ध कस्बे नहटौर (जिला-बिजनौर) मे कार्तिक शुक्ला द्वादसी, सवत १९६० (सन् १९०३) मे हुआ। हम नहटौर वालोको गर्व है कि सरलस्वभावी एव जैनदर्शनके उद्भट विद्वान् सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजीका जन्म इसी मिट्टीमे हुआ है। पण्डितजी का समूचा परिवार सरल स्वभावके लिये सारे नहटौरमे प्रसिद्ध था। पिता श्री मुसद्दी-लालजी, अत्यन्त हसोड प्रकृतिके सरल स्वभावी तथा सन्तुष्ट व्यक्ति थे। प० जीके ज्येष्ठ भ्राता स्व० श्री शिखरचन्द्रजी समाज-सेवा, भजनोके गायन, पर्युषण पर्व पर प्रभातफेरीके सचालन तथा लतीफेबाजीके लिये प्रसिद्ध थे। उनके मकानसे सलग्न श्री दिगम्बर जैन मन्दिरके चबूतरे पर सायकालको बैठकर बच्चे एव वयस्क समान रूपसे उनकी रोचक वर्णन शैलीका आनन्द उठाते थे। पण्डितजीके मार्गदर्शनमे श्री शिखरचन्द्र जीका विशेष हाथ रहा।

शिक्षा-दीक्षा और जीवन चरित्र—पण्डितजीकी आरम्भिक धार्मिक शिक्षा स्थानीय जैन पाठशालामे, जो मन्दिरजीके ठीक सामने थी, आरम्भ हुई। जैन समाजके ख्यातिप्राप्त धर्मप्रेमी रायबहादुर द्वारकाप्रसाद जैन, गेरिसन इन्जीनियर, जो सेवा निवृत्त होनेके पश्चात् नहटौरमे ही अपने विशाल भवनमे रहने लगे थे, बालकोकी धर्म एव हिन्दी परीक्षा लिया करते थे। रायबहादुर साहब बालक कैलाशचन्द्रके जैन धर्म, हिन्दी प्रेम तथा सुन्दर व्यक्तित्वसे अधिक प्रभावित हुए और उन्हीके सुझाव पर श्री शिखरचन्द्रजी आपको स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीमे प्रविष्ट करानेके लिये तैयार हो गये। सन् १९१५ की भाद्रपद मासकी कृष्ण चतुर्थी, आपके वहाँ प्रवेशका प्रथम दिन थी। उस समय पण्डितजीकी अवस्था १० वर्षकी थी और भाई शिखरचन्द्रजीकी १८ वर्ष। इस कारण उनके साथ वाराणसी जाने मे पण्डितजीको घर पर कोई घबराहट नही हुई थी।

उस समय स्याद्वाद महाविद्यालयका प्रबन्ध प० उमरावसिहजीके हाथोमें था, जो पण्डित गोपाल-दासजी बरैयाके पाँच मुख्य शिष्योमें से एक थे। उमरावसिहजी वहाँ सन् १९१८ तक रहे, उसके पश्चात् उन्होने ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर ब्र० ज्ञानानद नाम धारण कर लिया था। प० उमरावसिहजीका अनुशासन कठोर था। नहटौरमे पक्षीके समान स्वच्छद रहनेवाले बालक कैलाशचन्द्रका मन यहाँ तीन दिनमे ही उचाट हो गया। शिखरचन्द्रजी तब तक वही रुके हुए थे। पण्डितजीने उनसे नहटौर वापिस ले चलनेका प्रबल आग्रह किया। विद्यालयमे उन्हे तीन दिन तीन वर्षसे भी अधिक लम्बे लगे। घरके स्वच्छन्द वातावरण एव परिवार वालोकी अविकल स्मृतिने इन्हे विकल कर दिया। श्री शिखरचन्द्रके नहटौर जानेका नाम लेते ही पण्डितजीके मनमे गहरी उदासी छा जाती थी। वह पिंजरेमे बन्द पक्षीके समान छटपटाने लगे। उनके मुख

पर उदासी एवं आँखोंमें आँसू अन्तत सहोदरसे भी सहन न हुए और वह उन्हें घर वापिस ले चलनेके लिये सहमत हो गये। पण्डितजीकी प्रसन्नताका पारावार न रहा। लेकिन समस्या यह थी कि उस कठोर अनुशासन एव देख-रेखमें से निकलकर बिना किसीको पता चले स्टेशन तक कैसे पहुंचा जाये। दोनों भाई विद्यालयके अधिकारियों तथा विद्यार्थियोकी आँखोंसे बचकर वहाँसे निकल भागनेका उपाय सोचने लगे। बहुत देर तक माथापच्ची करनेके पश्चात् विद्यालयकी सन्ध्याकी प्रार्थनाके पश्चात् भाग निकलनेका कार्यक्रम निश्चित किया गया। प्रार्थनाके समय स्वय प० उमरावसिंहजीकी उपस्थितिमें छात्रोंकी हाजिरी ली जाती थी। पण्डितजीको आशा थी कि प्रार्थनामें उपस्थित रहनेके कारण अधिकारी उनकी ओरसे निश्चिन्त हो जायेंगे और वह बेखटके वहाँसे निकल सकेंगे। योजनानुसार सध्या आनेपर प्रार्थनाके पश्चात् भाई श्री शिखरचन्द्र अपना बोरिया-बन्धना उठाकर विद्यालयसे रवाना हुए। आँख बचाकर उछलते हुए हृदयसे बालक कैलाशचन्द्र भी एक-दो-तीन हो गया। किन्तु सकटको कहाँ टलना था। विद्यालयके फाटकसे कुछ ही पग आगे जाने पर एक कर्मचारीसे भेंट हो गयी। दोनोंके चेहरोंपर बदहवासी देखकर उसे कुछ शक हुआ और उसने घूरकर पूछा, "कहाँ जा रहे हो। बालक कैलाशचन्द्र इसपर कुछ सकपकाया, किन्तु साहस पूर्वक उत्तर दिया, "भाईको पहुँचाने जा रहे है।" सन्तुष्ट होकर कर्मचारी आगे बढ गया। एक मोर्चा तो फतह कर लिया गया था। एक तेज चलनेवाला इक्का लेकर स्टेशन पहुँच गये किन्तु पता चला कि रात्रिमे कोई भी गाडी घरकी ओर नही जाती। विवश होकर मुसाफिरखानेमें बिस्तर बिछाकर भाईके साथ लेटना पडा। भाई तो शीघ्र ही गहरी नीदमे मशगूल हो गये किन्तु पण्डितजीको नीद भली प्रकार न आई। पुकारनेका भारी शब्द सुनकर दोनोकी ही आँख खुल गयी और सामने देखकर दोनोकी ही हैरानी हो गयी। प० उमरावसिंहजी दो यमदूतो सहित सशरीर पकडनेके लिए तैयार खडे थे। झटसे उन्होंने पण्डितजीको उठाया और इक्केमे सवार होकर विद्यालय ले चले। भाई शिखरचन्द्र विवशतासे कुछ न कर सके और अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे विदा किया। लगभग १५ दिन तक पण्डितजीका मन खिन्न रहा। इस बीचमे प० उमरावसिंह पत्रिकाओंके चित्रो द्वारा उनका मनोरजन करनेका प्रयत्न करते रहे।

पण्डितजी मानते है कि यदि प० उमरावसिंह उस समय उनकी ओरसे उदासीन हो जाते तो उनके प्रारम्भिक जीवनकी यह घटना उनके भविष्यके जीवनपर गहरा पर्दा डाल देती। प० उमरावसिंहकी भाँति शिक्षा सस्थाओके कितने प्रबन्धक अथवा अध्यापक इस प्रकार अपने कर्तव्यका पालन करते हैं?

तरुणावस्थामे पण्डितजी राष्ट्रीय भावनाओंसे प्रभावित हुए बिना न रह सके। सन् १९२१ मे आपने कलकत्ताकी न्यायतीर्थकी सरकारी परीक्षाका बहिष्कार महात्मा गान्धी द्वारा चलाये गये असहयोग आन्दोलनके कारण किया। उस समय विद्याध्ययन छोडकर कुछ समय नहटौर ही रहे। किन्तु वहाँ मन न लगनेपर पुन सन् १९२१ में मोरेनामें जैनसिद्धान्त विद्यालयमें, जिनका कालान्तरमें गोपालदास जैन विद्यालयके रूपमे नाम पडा, अध्ययनके लिए आये। वहाँ १९२३ तक रहे और वहींसे शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९२३में स्याद्वाद विद्यालयमें आप अध्यापक नियुक्त होकर आये। आरम्भमे वहाँ एक वर्ष ही कार्य किया था कि अस्वस्थ होनेपर महाविद्यालयसे नहटौर वापिस चले गये। दिसम्बर १९२७ मे अनुरोधपर आप पुन स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमे आये। १९३१मे यहाँसे बगाल सस्कृत एसोसियेशनकी न्यायतीर्थ परीक्षा प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण की। ४ दिसम्बर १९७२ मे अवकाश प्राप्त करनेके समय तक आप वहाँके सफल एव यशस्वी प्रधानाचार्य रहे।

तत्कालीन युगकी कुछ बातें—मेरे प्रश्न करनेपर कि उस समय विद्यार्थियोंमें पढ़नेके प्रति कितनी लगन थी, पण्डितजीने बतलाया कि स्याद्वाद महाविद्यालयमें विद्यार्थी एक-दूसरेको बिना विदित हुए पढ़ते थे।

वे छिप-छिपकर रात्रिमें पढ़ना आरम्भ करते थे । अतएव वह भी रात्रिमें १२ बजे उठकर पढ़ने बैठ जाते थे । बाबा भागीरथ वर्णी, जो उस समय यहाँके संरक्षक थे, तथा प० उमरावसिंहके कहनेपर कि इससे स्वास्थ्यपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, पण्डितजीने इतनी रातसे उठकर पढ़ना बन्द किया । पण्डितजीके विचारमें विद्यार्थी अब उतनी लगनसे शिक्षा ग्रहण नही करते । इसी सन्दर्भमें पण्डितजीने एक रोचक बात और बतलाई कि उस समय पढ़ाईके लिये जितना तेल मिलता था, वह रात्रिभरकी पढाईके लिए पर्याप्त नही होता था, अतएव विद्यार्थी एक-दूसरेका तेल चुरा लिया करते थे । विद्यार्थियोकी यह अजब चोरी थी ।

उस समय शिक्षा देनेमें स्वार्थ एव भ्रष्टाचार नही था । त्याग एव नि स्वार्थ सेवाका ही वातावरण था । प० गोपालदासजी विद्यालयसे बिना कुछ लिये ही वहाँ शिक्षा देते थे । इस सद्वृत्तिका पण्डितजी पर पूर्ण प्रभाव पडा है और इसी कारण उनको धनका मोह कभी नही हुआ । अपने सम्पूर्ण अध्यापनकालमे आप केवल आवश्यक वेतन लेकर ही स्याद्वाद महाविद्यालयको विकसित करने एवं योग्यसे योग्य छात्र निर्माण करनेमें जुटे रहे । पण्डितजी जैसे ख्यातिप्राप्त एव प्रखर विद्वान्के लिये किसी धनाढ्य सस्थामे अच्छेसे अच्छा वेतन पाना कोई कठिन कार्य नहीं था ।

व्यक्तित्व और सार्वजनिकता—पर्यूषण पर्व पर नहटौरमें पण्डितजीके कभी-कभी शास्त्र प्रवचन करने पर वहाँकी जैन समाजमें विशेष उल्लास रहता था । कठिन प्रसगोंका विवेचन होने पर बहुधा मैं बाल सुलभ जिज्ञासासे समाधान हेतु पण्डितजीसे लम्बे प्रश्न किया करता था और पण्डितजी थे कि गद्‌गद मनसे कठिन विषयोको सरल रूपमें मेरेमे हृदयगम करानेका प्रयत्न करते थे । नवयुवक वर्गकी धर्ममे आस्था ऐसे विद्वानोंके सहयोगसे ही पनप सकती है ।

पण्डितजीका सर्वप्रथम सार्वजनिक भाषण सन् १९३४ मे धर्मपुराकी जैन सभामे हुआ । उसी समय आपको सर्वप्रथम मानपत्र भी भेंट किया गया था । इस प्रकार दिल्लीमें ही आपका सार्वजनिक जीवन आरम्भ हुआ । तबसे आपका सार्वजनिक जीवन अनवरत रूपसे अधिकसे अधिक गौरवपूर्ण बनता जा रहा है ।

स्याद्वाद महाविद्यालयके तो पण्डितजी प्राण ही बन गये हैं । देशमें अधिकाश जैन विद्वान इसी विद्यालयसे उत्पन्न हुए । आपके सरल स्वभाव एव सादे जीवनकी विद्यालयके विद्यार्थियों पर गहरी छाप रही है । लगभग ६०० से अधिक विद्यार्थी आपसे शिक्षा प्राप्तकर देशमें अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानो पर कार्य कर रहे हैं । अनेक सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् पण्डितजीके शिष्य रहे हैं । अभी तक भी उनकी पण्डितजीमें गहरी श्रद्धा है ।

विद्यार्थियोंमे गुरुजनोंके प्रति आदरभाव आप उनके उचित अध्ययन एव जीवनके उत्कर्षके लिये आवश्यक मानते हैं । उसी परम्परामें अभी तक भी अपने गुरुओंमें बशीधरजी न्यायालकार, प० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य एव पण्डित देवकीनन्दनजीके प्रति आपकी अपार श्रद्धा है ।

पण्डितजीने एक पूर्व घटना बहुत विनोदपूर्वक सुनाई । सन् १९३४ में आप खुरजामे एक प्राचीन शास्त्र देखना चाहते थ । उसकी व्यवस्थासे सम्बन्धित एक महानुभाव यह नही चाहते थे कि उस शास्त्रको कोई देखे । पण्डितजीने पत्र लिखा तो उत्तर आया कि मैं उस समय खाली नही रहूँगा । इस कारण आनेका कष्ट न करें । फिर भी पण्डितजी खुरजा गये । उनको देखते ही महानुभावने कहा कि मैंने तो पहलेही आपको न आनेके लिये पत्र लिख दिया था । रात्रिमें पण्डितजीने मन्दिरमें शास्त्र प्रवचन किया । सारे श्रोता उससे प्रभावित हुये और वह सज्जन भी । फिर उन्होंने उमगसे उस शास्त्रको पण्डितजीको दिखाया । उस समय रूढ़ियाँ इतनी कठिन थी कि योग्य विद्वानोंको भी प्राचीन शास्त्रोंको प्रकाशमें लानेके लिये कठिनाईका सामना करना पड़ता था ।

मौलिक लेखक और अनुवादक—जैन शिक्षा एवं साहित्यमें पण्डितजीकी देन अपूर्व है। पं० नाथूरामजी प्रेमीकी प्रेरणासे आप साहित्य सृजनकी ओर प्रवृत्त हुये। स्व० पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके साथ न्यायकुमुदचन्द्रका सम्पादन किया और उसकी विस्तृत भूमिका लिखी। पं० फूलचन्द्रजीके साथ भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघसे प्रकाशित जयधवलाका लगभग १३ खण्डोंमें आपने सम्पादन किया। सन् १९४८ में उज्जैनके एक प्रसिद्ध विद्याप्रेमी स्व० से० लालचन्द्र सेठीने जैन धर्मपर सर्वोत्तम पुस्तकके लिये १००० रुपयेका पुरस्कार घोषित किया था। जैन धर्मकी विशेषताओंको समाहित करते हुए आपने जैनधर्म नामक पुस्तकको लिखा और वह पुरस्कार आपको ही मिला। जैन साहित्य जगत्मे पण्डितजीका नाम वास्तव में इस पुस्तक द्वारा ही अमर हुआ। यह पुस्तक वाराणसी, सागर आदि विश्वविद्यालयोंमें पाठ्य पुस्तकके रूपमे मान्य है। इनके अतिरिक्त जैन साहित्यका इतिहास व उसकी पूर्वपीठिका (ग्रन्थ), जैन न्याय, तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका, दक्षिण भारतमे जैनधर्म, अनागार धर्मामृत, सागार धर्मामृत, गोम्मटसार जीवकाड और कर्म-काण्ड, भगवती आराधना, चरणानुयोग प्रवेशिका, नमस्कार महामंत्र, भगवान ऋषभदेव, सोमदेव उपासका-ध्ययन आदि आपके द्वारा लिखित उच्चकोटिके ग्रन्थोमे आपका गहन अध्ययन एवं विशद पाण्डित्य पूर्णरूपेण परिलक्षित है। 'भगवान् महावीरका अचेलक धर्म' भी आपकी अमूल्य रचना है।

पत्रकार और सम्पादक—जैन पत्रकारिताके क्षेत्रमें भी पंडितजीकी सेवायें बहुमूल्य हैं। भारतवर्षीय दि० जैन संघ, मथुराके द्वारा आपकी पत्रकारिता मुखरित हुई। इस सस्थाके लिये पण्डितजीने अनथक कार्य किया है और अभीभी इससे बेहद लगाव है। इसके आप कर्णधार हैं और प्रकाशन विभागके मंत्री हैं। संघने सर्वप्रथम जैनदर्शन पत्र प्रकाशित किया। सन् १९३९ मे जैनसन्देशका प्रकाशन आरम्भ करने पर आप उसके सम्पादक बने। इस पत्रके सम्पादकीय वक्तव्योंके रूपमें आपके सैंकडों लेख प्रकाशित हुए हैं। पत्रकारिताके क्षेत्रमे पण्डितजीने कभी अपने हृदयकी आवाजके विरुद्ध नही लिखा। जाँचकर, परखकर, विचार मन्थन द्वारा जो आपको उचित लगा, निर्भीक भावसे उसीको लिखा, प्रतिपादित किया। इसी कारण कभी-कभी पण्डितजी आलोचनाके शिकार रहे हैं, किन्तु उससे वह किंचित भी अपने स्वतंत्र लेखनके प्रति प्रभावित नही हुए हैं।

पण्डितजीकी विशेषतायें—वाल्यावस्था से अब तक पण्डितजीको सुननेका मुझे अनेको बार अवसर मिला है। अनेक अवसरोपर निकट बैठकर उनके अन्तरगको छूनेका भी अवसर मिला है। किन्तु पाया है कि उनके विचारोमे पूर्ण स्वतन्त्रता है—पण्डितजी पूर्णरूपेण परम्परावादी नही हैं, किन्तु वे समयकी माँगके अनुसार धर्ममूल्योमे अथवा सिद्धान्तोके परिवर्तनके बिल्कुल हामी नही हैं। वह मानते है कि नि सन्देह महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म अवश्य ही कठोर है किन्तु जैन धर्मके मूल्योंको मूलरूपसे जीवित रखनेके लिए उसको तो वैसे ही स्वीकारना आवश्यक होगा।

पण्डितजी अधिक सस्थाओमें व्यस्त होकर अपना अमूल्य समय खोनेके पक्षमें नही है। फिर भी, वे कुछ महत्त्वपूर्ण सस्थाओसे सबधित है। भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् परिषद्की स्थापनामें, जो वीर शासन-महोत्सवके समय १९४४ में स्थापित हुई थी, आपका मुख्य हाथ रहा है और आप उसके सरक्षक हैं। भारतीय ज्ञानपीठकी परामर्श समितिके आप सदस्य तथा मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला एवं जीवराज जैन ग्रन्थ-माला, शोलापुरके आप सम्पादक है।

सुन्दर व्यक्तित्वने पण्डितजीके प्रभावशाली वक्तृत्वको चार चाँद लगाये हैं। वाणीकी मिठास हृदयमें गहराई तक उतरती जाती है। शास्त्र-प्रवचन हो अथवा विशाल सार्वजनिक आयोजन, श्रोतागण विभोर

होकर आपके स्पष्ट एवं अगाध सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञानयुक्त विद्वत्तापूर्ण वक्तव्योंको सुनते अघाते नहीं। आपकी भाषण शैली विद्वत्तापूर्ण एव विशिष्ट है। व्यावहारिक पुट देकर गूढसे गूढ प्रकरणका विश्लेषण भी वे इस प्रकार करते है कि जन-साधारणको भी वह सहज गम्य हो जाता है। जैनसमाजके कदाचित् ही ऐसे विशाल स मेलन होते हैं जहाँ आप निमन्त्रित न किये जाते हो। अनेक सार्वजनिक अवसरो पर जैनसमाजने आपका हृदयसे सम्मान किया है। १९४६ में सिवनीकी जैनसमाज द्वारा आपको सिद्धान्त-रत्नकी उपाधिसे तथा १९६३ में जैन सिद्धान्त भवन आराके हीरक जयन्ती महोत्सव पर सिद्धान्ताचार्यकी उपाधिसे विभूषित किया। सरस्वतीके इस उपासकने लक्ष्मीके प्रति कभी भी मोह नही रखा। कहा जाए तो उसके प्रति विरक्त ही रहे हैं। आपने स्याद्वाद महाविद्यालयके सम्पूर्ण अध्यय कालमे केवल आवश्यक वेतन लेकर ही सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत किया है। साथ ही, उसमेंसे नहटौरके परिवारके प्रति आर्थिक उत्तरदायित्वका निर्वाह भी किया है। अनेक धनिष्ठ व्यक्ति आपकी किसी भी आर्थिक इच्छाकी पूर्ति करना अपना सौभाग्य मानते किन्तु पण्डितजी धनकी लालसाके प्रति सदैव निस्पृह ही रहे हैं। नहटौर आनेपर वहाँके व्यक्ति कभी आपसे विनोदमे पूछ लेते थे कि पण्डितजी, आपका जैसा यश है, उससे आप अच्छा आरामका जीवन व्यतीत करनेका प्रयास क्यो नही करते, तब मुस्कराहट भरे चेहरेसे पण्डितजीका उत्तर हुआ करता था, "काहेके लिए।"

पण्डितजी जैसा सन्तोषी व्यक्ति मैंने अपने सार्वजनिक जीवनमें अभी तक नही पाया हे। साधारण भोजन मिल जायें, बस यह पर्याप्त है। आर्थिक स्थितिके ही प्रति नही, विषम पारिवारिक स्थितिमे भी पण्डितजी पूर्ण सन्तोषी रहे हैं। पत्नी बसन्ती बाईके दीर्घकालसे अर्द्ध-विक्षिप्त होनेपर भी पण्डितजीके निजी जीवनमे दु ख अथवा विषाद कभी नही आया है। आपके एकमात्र सुपुत्र श्री सुपार्श्व जैन, हैव्वी इन्जीनियरिंग कारपोरेशन राँचीमें अच्छे बडे पदपर नियुक्त है, किन्तु आपका मन, धर्म एव विद्या केन्द्र, वाराणसीमें ही लगता है। परम सन्तोषी वृत्तिसे आपका जीवन जिनवाणीको समृद्ध करने तथा अधिकसे अधिक विद्वान् उत्पन्न करनेके लिए अर्पित रहा है। आपके अनेक शिष्य विश्वविद्यालयो अथवा महा-विद्यालयोमे प्राचार्य अथवा अध्यापक पदो पर कार्य कर रहे है। मेरे मनमें एक कसक अभी भी रह-रहकर उठ जाती है कि पण्डितजीके शिष्यके रूपमें सस्कृतमें जैनधर्मका अध्ययन किया होता तो मेरा जीवन भी धन्य हो जाता।

जैसा देखा, जैसा सुना

श्रीकान्त गोयलीय, डालमियानगर

जैन जागरणके अग्रदूतके लेखक श्रीगोयलीयजीके शब्दोमें, 'बीसवी शताब्दी रूपी वधूका डोला अभी आया भी नही था कि उसके स्वागत समारोहके लिये समूचे भारतमें इस छोरसे उस छोर तक उत्साहकी लहर दौड गयी। जनतामें सेवा, तप, त्याग, बलिदानके भाव अकुरित हो उठे। वह अपने साथ राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक चेतना दहेज स्वरूप लायी जैन समाजमें भी होड-सी मच गयी। राजा लक्ष्मणदास आदि महासभाकी स्थापना कर ही चुके थे। पण्डित गोपालदासजी बरैया भी मुरैनामे आसन मारकर बैठ गये और न्यायाचार्य गणेशप्रसादजी व बाबा भागीरथजी वर्णी बनारसमें धूनी रमा बैठे। इनके द्वारा स्थापित स्याद्वाद विद्यालयमें प० कैलाशचन्द्रजीको विद्यार्थी, स्नातक एव प्राचार्य होनेका गौरव प्राप्त है। जिस

विद्यालयसे आप पिंड छुड़ाना चाहते थे, वही स्याद्वाद विद्यालय आपके चरणोंकी रज पाकर सुगंधमय हो गया। भारतकी सभी दिशाओंमें विद्यालयकी प्रशस्ति गूंज उठी। विद्यालयमें प्रवेश करते समय आपके कुछ दिन अत्यन्त उद्विग्नतामें बीते। आपने अपने बडे भाई साहबके सहयोगसे वहाँसे चतुराईसे भाग जानेमें ही अपना हित देखा। और यदि पण्डितजीको उस रातमें गाडी मिल गयी होती, तो श्री स्याद्वाद विद्यालयका वर्तमान स्वर्ण-युग हमें देखनेको नहीं मिलता, जैनवाङ्मयको सम्भवत आपके मेधावी शिष्य नही मिलते तथा आपकी कलमका रस—माधुर्य चखनेको नही मिलता। रेलवेकारिणीने बडी कृपा की है हमारे जैन-समाजपर कि पडितजीको रातमे गाडी नही मिली।

पिताजी आपकी प्रशसा करते हुए अघाते नहीं थे जब आपका जिक्र आता, पिताजी कहते, "प० कैलाशचन्द्रजी बहुत स्वाभिमानी व्यक्ति है। बहुत उदार हैं, खाने-पीनेका बहुत बढिया शौक रखते हैं। बाल-बच्चोंके विवाहमे आपका खातिर-तवाजह और सुरुचिपूर्ण मीनू देखते बनता है। शादी-विवाहमें विश्वविद्यालयके प्रोफेसर, प्रिंसिपल जौक-दर-जौक आगे रहते है। आप बहुत पापुलर हैं। मेहमानके लिए बिस्तरा रिजर्व रखते है। घरपर आए-गएका खाना-पीना, आदर-सत्कार बहुत चावसे करते है। तबीयत-मे सुलझा हुआ मजाका हे आप जैसे विद्वान् हमारे यहाँ कहाँ है। स्याद्वाद विद्यालयके लिए आपने सब कुछ अर्पण कर दिया।

× × ×

आइए वाराणसी चले। भगवान् पार्श्वनाथकी जन्मभूमि। भदैनीके लिए रिक्शा कर लेते हैं। घबडाइये नही, थोडी देरमे भदैनी तीर्थ आ जायेगा, जहाँ गगा स्याद्वाद विद्यालय एव प० कैलाशचन्द्रजी-को प्रतिदिन प्रतिपल प्रणाम करती है। लीजिए, भदैनी आ गया। यही उतर जाइये। इसी गलीमें हमारे योगी तपस्वी रहते है। हाँ, यही सामने (लाल ईंटोवाली) ऊँचाई पर पाँव बढ़ाइये। तपस्वी-सन्त ऊँचाई पर रहकर ही तपस्या साधना करते हैं। विशाल दरवाजेसे अन्दर चलें। देखा, "आइये-आइये", मधुर कठ और मुक्त मुस्कानसे आपका स्वागत हो रहा है। आपको अपने पास बहुत प्यारसे बैठाया गया है। जी, शिरपर गाधी टोपी, बहुत सुन्दर मुख, गौर वर्ण, स्वाध्याय और सामायिकमे डूबी हस्ती और और तेजस्वी आँखोपर चश्मा, अधरोपर नाचती हुई मधुर मुस्कुराहट, सयमित एव गर्भित वाणी, खादीकी वास्कट, कुर्ता, धोती और कपडका जूता पहने हुए जो दिव्य पुरुप दिख रहे हैं, यही आचार्योंके आचार्य, सतोमे सत वन्दनीय श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री हैं।

बहका वक्त है, आपके लिए पण्डितजी गरमागरम जलेबी लायेंगे। आपको इतने प्यारसे जलेबी खिलायेंगे कि आप बहुत भावुक हो जायेंगे। लगेगा गलेमे जलेबीका रस दुगना हो गया है। आपसे कुशल-क्षेम पूछेंगे, आपके आनेके अभिप्रायको यथाशीघ्र पूरा करेंगे। अपने बारेमे अपने साहित्य सृजनके बारेमे नहीके बराबर चर्चा करेंगे। बहुत जाननेकी कोशिश करियेगा, तो अति सक्षेपमे जानकारी देकर चुप हो जायेंगे। आपके भोजनका वक्त हो गया ह, पण्डितजी आपको स्वादिष्ट भोजन खिलानेके लिए, रसोइयेको आदेश देकर पुन आपके पास बैठ गये है। भोजन आपको बहुत प्रेमसे करायेंगे।

आपके प्रमुख शिष्य बाबू चेतनलालजीके शब्दोमें, "पण्डितजी ऐसा सन्तोषी और गुणी व्यक्ति मिलना मुश्किल है।" आपका आचरण मुनियो जैसा हे। हमेशा नपी-तुली भाषामें अपने शब्दोंको कहना और सलाह दना, आपका स्वभाव है।

वे अपने शिष्योके हितके लिए हमेशा चिन्ता करते है। आपके पढाये हुए शिष्य, बारोजगार और

खुशहाल रहें, इसके लिए आप कोई कोर-कसर अपनी ओरसे नही छोडते । आपने हमेशा देना सीखा है । आपके शिष्यगण आपके कठोर अनुशासन, समयकी पाबन्दी और पढाई-आचरणके प्रति सख्ती देख, आपके श्रीचरणोंमें मुग्धभावसे झुके रहते हैं । सार्वजनिक समारोह हो, आपके प्रतिष्ठित एव बहुत उच्च पदपर आसीन आपके शिष्य, आपकी चरणरज अपने भालपर लगानेमे गौरव महसूस करते हैं । आप सुबह पाँच बजेकी गाडीसे प्रवाससे आये है, पर ठीक ६ बजे नियत समयपर पण्डितजी विद्यालय आ जायेंगे ।

पण्डितजीके अनुशासन एव कार्य-चुस्तीने पूरे भारतवर्षमें स्याद्वाद विद्यालयकी पताका आज लहरा दी है । रविबाबूका स्मरण करनेसे शातिनिकेतन, योगिराज अरविन्दका स्मरण करनेसे पाडिचेरी आश्रमका ध्यान आता है । इसी भाँति पण्डितजीका स्मरण करनेसे श्री स्याद्वाद विद्यालय (वाराणमी) की स्मृति मानस-पटलपर अकित होती है । आपके लिए श्री स्याद्वाद विद्यालय ओढ़ना-बिछौना रहा है । आपके प्रवचनोंकी पूरे भारतवर्षमें धूम मची है । जहाँ जाते हैं, वहीका समाज आपके तप, त्याग, ज्ञान और चारित्र-से मुग्ध होकर आपको अपने सर-आँखोपर बिठाता है । समाजसे अपने लिए कभी कुछ स्वीकार नही करेंगे । हाँ, पत्र-पुष्प श्री स्याद्वाद विद्यालयके लिए ग्रहण कर सकते हैं ।

आपकी हार्दिक इच्छा रहती है, समाजका आपपर न्यूनतम व्यय हो । समाजके चाहनेपर भी आप प्रथम श्रेणीका मार्ग-व्यय स्वीकार नही करेंगे । आप अन्तरग-बहिरगसे सादगीमे विश्वास करते हैं ।

आपके प्रिय शिष्योने मुझे बताया है, पण्डितजी अपने कमरेमे विभिन्न तरहका मेवा-मिश्री रखते हैं । आपके पास जानेपर स्नेह, आशीर्वाद तथा ज्ञान तो मिलता ही है, साथमे बहुभाँतिके मेवे भी प्रसाद-स्वरूप ग्रहण करनेको मिलते हैं ।

× × ×

आपका धर्मशास्त्र पर प्रवचन सुननेको सुअवसर जिन्हें मिला है, वे जानते हैं, पण्डितजी कैसे धीरे-धीरे साधारण ज्ञाताको ज्ञान और धर्मकी अतल गहराईमे ले जाते है । श्रोता वर्ग उनकी वाणीकी सरलता, भाषापर सयम तथा ज्ञान-गाभीर्य देख मुग्ध हो जाता है । पण्डितजी नपे-तुले शब्दोमे धर्म एव समाज तथा शास्त्रकी बातें प्रवाहमे कह जाते है । समाज बारम्बार धन्य होकर साधुवाद करता है । आप अपनेसे पूर्व वक्ताके वक्तव्यमें नही पडते ।

श्री स्याद्वाद विद्यालयके मन्दिरमे आपको सामायिकमे लीन होते देखा है । दीन-दुनियासे बेखबर । बस, तद्गुण लब्धयेके ध्यानमे अपनेको आत्मसात् किये हुए ।

डालमियानगरमें सिद्धचक्रका पाठ हुआ । आरतीके समय आप वेदीके निकट सजदेके आलममे गोया खडे थे, लगा आपही भगवान्की वाणी सुन रहे है । तभी आपने उस दिन सभामे कहा था, "जिनदर्शन करते समय प्रतिमामे तुम्हें अपना रूप दिखे । यही जिनदर्शनका लक्ष्य होना चाहिये ।"

डालमियानगरकी धरती आपकी चरण-धूलसे अनगिनत बार भाग्यशाली हो चुकी है । इस जन्मके यहाँ शादी-ब्याहमे पधारे हुए हैं स्थानीय पण्डितजी शादीकी रस्में, पूजा करवा रहे है । आप चुपचाप पूजा वेदीके पास बैठे रहेंगे, पण्डितजीके गुणदोष नही निकालेंगे, अपितु उसे प्रोत्साहन देते है ।

दावतमें चुपचाप बहुत शान्त स्वभावसे भोजन ग्रहण करेंगे । जिन खाद्य-वस्तुओंको आप स्वीकार नही करते हैं, उसे चुपचाप धीरेसे इस तरहसे सरका देते हैं कि बगलमे बैठे व्यक्तिको आभास भी नही मिलता है ।

मुझे आपका स्नेह और आशीर्वाद ग्रहण करनेका निरन्तर गौरव रहा है। आपका प्यार और दुलार मुझे मगलाप्रसाद पुरस्कारके समान सुख देता है।

आपके गौरवशाली शिष्योंमें श्री खेतमलालजी जैन, डॉ० भागचन्द्रजी जैन, डॉ० नेमिचन्द्रजी जैन शास्त्री, डॉ० राजारामजी जैन इत्यादि प्रमुख हैं। अन्य भाग्यशाली शिष्य भी आपपर कुरबान रहते हैं। आपकी प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावालासे अनुज जैसी आत्मीयता है।

पण्डितजीके सुपुत्र श्री सुपार्श्वकुमारजी जैन, चार्टड एकाउण्टेण्ट राँचीमें बहुत ही ऊँचे पदपर हैं। पण्डितजीने अपने हाथसे पोतेके विवाह-सुखको लूटा है, चखा है।

आपने प्रसिद्ध पुस्तक 'जैनधर्म' में बहुत सरल शब्दोमें जैनदर्शनका गूढ तत्त्व प्रस्तुत किया है, एक सुलझे हुए गाइडकी भाँति, सभी चिन्तकोसे परिचय कराया है। वैदिक धर्म और हिन्दू धर्मका तुलनात्मक विश्लेषण, जैनधर्मका दर्शन, आध्यात्मरूपी मणिरत्नोको आप जैसा अनुभवी, अध्ययनशील तथा कुशल गोताखोर ही हिन्दीके सरस्वती-मन्दिरमें पेश कर सकता था।

हमने इन्द्रभूति गौतम गणधर और कुन्दकुन्दाचार्यको नही देखा है, पण्डितजीको देख लिया, सब कुछ देख लिया। यह हमारे लिये गौरवकी बात है। हम उस युगमें रह रहे है जिस युगमें हमारे पण्डितजी कैलाशचन्द्रजी रह रहे है। हमें भी वही हवा लग रही है जो पण्डितजीके तपस्वी शरीरका स्पर्श कर सुगन्धमय हो रही है। आइये, आज हम पण्डितजीके भव्य ललाटपर अक्षत, पुष्प और रोलीका टीका लगाकर स्वयको सम्मानित करे।*

●

पण्डितजी : प्रवृत्तियाँ और विचारधारा

सम्पादक

आदरणीय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके जीवन की झलकसे स्पष्ट है कि वे विविध प्रकार की प्रतिभाओ और प्रवृत्तियोंके धनी रहे है। दोनों ही दृष्टियोंसे, उनका क्षेत्र व्यक्तिसे लेकर विश्व तक व्यापक रहा है। उनकी विभिन्न सामाजिक, सास्कृतिक एव साहित्यिक प्रवृत्तियोंको सक्षेपमें, निम्न आठ रूपोमें वर्गीकृत किया जा सकता है —

(१) अध्ययन-अध्यापन
(२) मौलिक लेखन
(३) सम्पादन और अनुवादन
(४) जैन सदेश का सपादन
(५) प्रशासन एव मार्गदर्शन
(६) भ्रमण और धर्म प्रचार
(७) शोध प्रवृत्ति
(८) राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ।

उनके विषयमें उनके व्यक्तियोने अपने सस्मरण लिखते समय उनकी इन प्रवृत्तियोका अपनी-अपनी दृष्टिसे रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। उन्हें समग्रत सकलित सारके रूपमें देना पण्डितजीके व्यक्तित्वके बहुमुखी रूपके अनुरूप ही होगा। ये प्रवृत्तियाँ उनकी विचारधाराके विविध रूपो को मूलरूपमें प्रकट करती हैं।

१. अध्ययन-अध्यापन—पण्डितजीका अध्ययन काल १९२३ तक अर्थात् उनके बीस वर्षकी

* तीर्थकर, १९७८ से साभार सक्षेपित।

वैसे तर्क माना जा सकता है जब उन्होंने अध्ययन छोडकर अध्यापनको अपना जीविका-साधन और स्याद्वाद महाविद्यालय काशी को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। उन्होंने मुख्यत धर्म ग्रन्थो का अध्ययन किया। लेकिन सिद्धान्त ग्रन्थों पर उपलब्ध टीकाग्रन्थ न्यायशास्त्रीय मान्यताओ तथा जैनेतर मान्यताओके खडन-मंडनके आकर ग्रन्थ है, फलत वे क्रमश सिद्धान्तशास्त्रीके साथ साथ दर्शन व न्यायशास्त्री भी बनते गये। इसी का फल है कि उन्होंने जन न्याय पर एक स्वतत्र ग्रन्थ ही हिन्दीमें प्रस्तुत किया। स्याद्वाद महाविद्यालयके अब तकके लगभग १३०० स्नातकोमसे लगभग ९०० स्नातक पण्डितजीके ही शिष्य रहे है जिनमेंसे आज अनेक जैन धर्म व समाजके शैक्षिक, सास्कृतिक एव राष्ट्रीय क्षेत्रोमें अग्रणी बने हुए हैं।

अध्यापनके साथ अध्ययनकी वृत्ति आपके साथ अविनाभावके रूपमें रही है। यही कारण है कि आपकी वाक्‌शक्ति और प्रवचनशक्ति इतनी ग्राह्य एव सक्षम बन सकी है। कौजर बैंकनने ठीक ही कहा है कि अध्यापन और भाषणके लिए कई गुना और कई बार अध्ययन करना पडता है। अध्ययन-अध्यापनकी इस प्रवृत्तिम उन्हे सस्कृतमय धर्मशिक्षाकी जटिलताको अनुभव-गम्य करनेमे सहायता दी जिससे उन्हे भावी पीढीके हितक लिए सिद्धान्त ग्रन्थोके हिन्दीमें अनुवाद और सम्पादनकी प्रेरणा मिली। यही नही, अपनी अध्ययनशील प्रवृत्तिके कारण उन्हे जैनधर्म सम्बन्धी जैनेतर प्राच्य एव पाश्चात्य भ्रामक मान्यताओ का भी भान हुआ जिसे दूर करनेके लिए उन्होंने और भी गहनतर अध्ययन और सृजनात्मक लेखन किया।

यद्यपि ४७ वर्षों के बाद १९७२ में उनके अध्यापनकी जीविकावृत्ति औपचारिक रूपसे समाप्त हो गई है, फिर भी उनकी अध्ययनवृत्ति अभी भी पूर्ववत् है जो विगत अनेक वर्षों से उनके अनेक प्रकारके प्रकाशित व अप्रकाशित लेखोके रूपमें प्रकट होती रहती है।

अध्यापक होनेके कारण स्पष्टत ही उनका सारा जीवन जैन विद्यालयोके अपने सहयोगी अध्यापको, विद्यार्थियो तथा शिक्षणदात्री सस्थाओ तथा परीक्षा पद्धतियोसे सम्बन्धित रहा है। अपने सम्पादकीय लेखोके माध्यमसे इन क्षत्रोमे सम्बन्धित समस्याओपर उन्होने अनेक बार प्रकाश डाला है। एक ओर जहाँ वे शिक्षको और शिक्षार्थियोके कर्तव्य और उत्तरदायित्वकी वर्तमान अवस्थामे चिन्तित हैं, वही वे शिक्षकोकी आर्थिक दुरवस्था एव समाज द्वारा उनके हितोंकी उपेक्षावृत्तिसे रोषपूर्ण भी दिखते है। व शिक्षणको मानवके जीवन निर्माणका माध्यम मानते हैं, फिर भी उसे व्यवहारिक जीवनसे असबद्ध या विलग्नित रूपमें नही देखना चाहते इसीलिये उन्हे जैन विद्यालयोके लिए सुयोग्य विद्वानोके वर्तमान अभावकी स्थिति अखरती है और वे इस दिशामें पर्याप्त सुधार चाहते है। वे विद्यार्थियोकी वर्तमान मनोवृत्ति व प्रवृत्तिसे भी दुखी है और उनकी अध्ययन वृत्तिको जगाना चाहते है। उन्हें परीक्षा पद्धति एव परीक्षकोकी अभ्युक्तियोमे भी कुछ क्षोभ है क्योकि प्रश्नपत्रोमें ऐसी विधिसे प्रश्न पूछे जाते है जो अध्ययन-विधि व विषयपर या तो आधारित नही होते या उन्नत बौद्धिक स्तरपर चले जाते है। इसीलिये सन् १९७४ में ही उन्हे भारतकी भावी शिक्षापर लिखना पडा था। जिसमे सामाजिक परिवेशसे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य तकका व्यापक लक्ष्य निहित था। पण्डितजी यह मानते है कि आज धार्मिक शिक्षाका स्तर गिर रहा है। इसे बनाये रखनेके लिये विद्वानोकी परम्परा-का सरक्षण आवश्यक है। इस अर्थ-प्रधान युगमें पाण्डित्यका न्यूक्लियन एव सवर्धन उन्हें इसलिये भी अभीष्ट है कि इसीसे मूलभूत सिद्धान्तोकी व्याख्या एव सुरक्षा हो सकती है। इसके लिये वे विद्यालयोंमें कार्यरत् विद्वानोकी आर्थिक स्थितिको सुधारनेके पक्षधर रहे है। वह स्वतत्रचेता विद्वान् हैं और नयी पीढीसे भी पक्षातीत व्याख्या एव मार्गदर्शनकी आशा रखते है।

२. मौलिक लेखन—यह माना जाता है कि अध्ययनशील अध्यापक बिना लेखनी चलाये रह नही सकता। ऐसी लेखनी व्यक्तिको विचार एव अवधारणकी शक्ति, ज्ञानकी मशालको जन-जन तक पहुँचानेकी

वृत्ति तथा ज्ञान-पिपासुओंकी तृष्णाको शान्त करनेकी उत्कट इच्छाको व्यक्त करती है। यह प्रवृत्ति ज्ञानकी दुरूहताको सरलतामें भी परिवर्तित करती है। वर्तमान अंग्रेजी प्रधान युगमें संस्कृतके धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्यको पण्डितजीने हिन्दी भाषामें अनेक प्रकारसे प्रस्तुत किया है जिससे जैनधर्म सम्बन्धी ज्ञान उन लोगों तक भी पहुँच सके जो न संस्कृत-प्राकृत जानते हैं और न अंग्रेजी ही। इन दो भाषाओंको जानने वालोंकी संख्या ही कितनी? यह उनका बड़ा उपकार है कि उन्होंने अपने एक दर्जनसे भी अधिक मौलिक कृतियोंके द्वारा जैनधर्म, संस्कृति व साहित्यके विषयमें साधारण एवं प्रगत जनोंको जानकारी देनेका सफल प्रयास किया है। इनकी सहायतासे लोगोंको यह जानकारी हुई कि एतद्विषयक मान्यताओंका आधार क्या है और उन्हें किसी प्रकार सही रूपमें लिया जाना चाहिये। जैन न्याय, जैन साहित्यका इतिहास और जैनधर्म लिखकर उन्होंने अनेक विषयोंपर अपनी गरिमामय लेखनी चलाई है। उनके द्वारा लिखित मौलिक पुस्तकोंका विवरण अन्यत्र दिया गया है।

पण्डितजीके मौलिक लेखनके लिये उनका विषयोंका चुनाव तो महत्त्वपूर्ण है ही, इसके अतिरिक्त इसके लिये जो वैचारिक परिपुष्टता, समुचित भाषा प्रवाह और सरलता तथा अभिव्यक्तिकी स्पष्टता आवश्यक है, वे भी अनेक साहित्यमें भलीभाँति परिलक्षित होते हैं। यही नहीं, जिस तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययनकी आजका नवविद्वान् चर्चा करता है और जिसके आधारपर वह अपने गुरुजनकी पीढ़ीको अनेक प्रकारसे आलोचित करता है, वह पण्डितजीकी कृतियोंमें कूट-कूट कर भरा है। उनका आशय है कि बिना इस प्रकारके अध्ययनके वास्तविक और तथ्यपूर्ण ज्ञान प्रस्तुत ही नहीं किया जा सकता। अनेक लोगोंको यह आपत्ति हो सकती है कि उनके लेखनमें केवल भारतीय अध्ययन या समीक्षण ही पाया जाता है, पश्चात्य नहीं। सम्भवतः वे अपने शिष्योंसे ही इस कमीको पूरा करनेकी आशा रखते हैं। वैसे यह कहना असंगत न होगा कि उन्होंने भारतीय अध्ययनको ही अपना केन्द्र-बिन्दु बनाया है क्योंकि उनका अध्यापन, लेखन तथा चिन्तन भारतीय परिवेशमें ही हुआ है। उसीकी स्पष्टता उन्हें अभिप्रेत रही है। साथ ही, पाश्चात्य विचारधाराका क्षेत्र लेखनयुगमें उतना प्रवहमान भी नहीं हो पाया था। फलतः आधुनिक दृष्टिसे स्वतः सीमित क्षेत्रमें जो भी उन्होंने लिखा है, उसके विषय और कलाकी सभीने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसे पाण्डित्यकी अपूर्णता कहकर नकारा नहीं जा सकता।

मौलिक लेखनकी अनेक विशेषताओंमें लेखककी स्वयंके मतावमतको व्यक्त करनेकी तथा उसको पुष्ट करनेकी क्षमताका गुण महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः स्वतंत्र मतोंका पुनः स्थापन ही ज्ञानके क्षेत्रका विस्तार करना है। इसके अन्तर्गत चिरप्रतिष्ठित तथ्यों व घटनाओंका पुनर्मूल्यांकन तथा नवीन व स्वतंत्र मतवादका प्रस्थापन एवं पुराने मतवादका नवीन तथ्यों व विचारोंके आधारपर खंडन-मंडन आदिका समाहरण होता है। पण्डितजी द्वारा लिखित मौलिक ग्रन्थोंमें ये सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। वे केवल प्राचीन साहित्यके संक्षेपण मात्र नहीं हैं। यही कारण है कि उनके कुछ ग्रन्थोंका अन्य भारतीय भाषाओंमें भी अनुवाद किया गया है। उन्होंने मौलिक ग्रन्थोंके रूपमें लगभग ३७०० पृष्ठोंका साहित्य सृजन किया है।

३ **सम्पादन और अनुवाद**—अनेक विद्वान् सम्पादन और अनुवादनकी प्रक्रिया साथ-साथ करते हैं। सम्पादनकी प्रक्रिया अनुवादन कार्यके लिए इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि जब तक मूलपाठ शुद्ध एवं सर्वमान्य नहीं होता, उसका सही अर्थ कैसे किया सकता है? सम्पादनमें ग्रन्थकी मूल प्रतियोंकी खोज तथा उनके पाठ-भेदोंका अध्ययन कर शुद्ध पाठका निर्धारण किया जाता है। पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने प्रमेयकमल-मार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र नामक न्याय ग्रन्थोंको इसी विधिसे सम्पादित किया है। सम्पादनकी प्रक्रियामें मूलग्रन्थोंके लेखक सम्बन्धी विवरण और समीक्षा भी प्रस्तुत की जाती है जिसके लिए विशेष अध्ययनकी

आवश्यकता होती है। प्राच्य विद्याओंके प्राचीन ग्रन्थोंमें लेखक सम्बन्धी जानकारी एक दुष्कर कार्य है क्योंकि उनके लेखक 'यथा.कार्ये'में विश्वास करते थे। यही कारण है कि अनेक लेखकोंके जीवन व समयके सबंधमें अबतक मतभेद चल रहे हैं।

अनुवादका उद्देश्य जटिल एव अन्य भाषाओंमें उपलब्ध ग्रन्थ या विषय-वस्तुको सरल जनभाषामें प्रस्तुत कर लोकोपकारकी भावनाको मूर्तरूप देना है। भारतमें पाश्चात्य विद्याके प्रसारमे अंग्रेजीके अनेक विषयोंके ग्रथोंका भारतीय भाषाओमें अनुवाद किया गया है। इसी प्रकार, पाश्चात्य जगत्को भारतीय विद्याओंसे परिचित करानेके लिए अनेक भारतीय ग्रन्थोका अंग्रेजीमें अनुवाद हुआ है। उच्च शिक्षाका माध्यम पर्याप्त समय तक अंग्रेजी होनेके कारण भारतीय विद्याओके सम्बन्धमें अनेक पुस्तकें भी मौलिकत अंग्रेजीमें लिखी गई हैं। वस्तुत भारतीय विद्याओके महत्त्वका आभास भी हमें पाश्चात्य लेखको तथा अंग्रेजीके ग्रन्थोंसे ही हुआ है। सम्भवत भारतीय विद्याओके साहित्यके जनभाषाओमें अनुवादकी प्रेरणाका यही स्रोत रहा है जिससे भारतवासी अपने ऋषियो व आचार्योके ज्ञानको पढ सकें, जान सकें। सस्कृत एवं प्राकृत भाषाके लोकभाषा न बन पानेमें अनेक कारण रहे हैं। पर उसमें निबद्ध ज्ञान आज भी अनेक दृष्टियोसे अद्वितीय माना जाता है। जैन विद्याओंसे सम्बन्धित सस्कृत-प्राकृतके ग्रन्थोका स्थान भी इसी कोटिमे आता हैं। अत उस ज्ञानको बहुजन सुलभ बनानेके लिए उनका जनभाषान्तरण आवश्यक हो गया। दो-तीन सौ वर्ष पहले राजस्थानमें अनेक विद्वानोंने तत्कालीन भाषामे आगम ग्रन्थोकी टीकाएँ लिखी थी। उसी परम्परामें वर्तमान पीढ़ीके अनेक जैन विद्वानोने आजकी भाषामे यह कार्य किया है। पण्डित कैलाशचन्द्रजी भी ऐसे विद्वानोमें प्रमुख हैं। आपने जयधवलाके समान आगम ग्रन्थोके तेरह खण्डो सहित लगभग सत्ताईस ग्रन्थोका सम्पादन और अनुवाद किया है। इस प्रकारका कुछ कार्य आज हाथमें भी है।

अनुवादकी सफलताके लिए सम्बद्ध भाषाओंके ज्ञानके साथ भाव-प्रवाह और भाषा-प्रवाहकी प्राकृतिक गति आवश्यक है। अच्छा अनुवाद वह माना जाता है जिसमें यह पता ही न चले कि पाठ्यवस्तु मूल है या भाषान्तरकृत है। मूल लेखकके गूढ व जटिल अन्तर्विचारोको समझकर उसे सुबोध भाषा देना अनुवादक-की स्वयकी प्रतिभा होती है। इस दृष्टिसे निश्चय ही पण्डितजी सम्पादन-अनुवाद कलाके उत्कृष्ट कोटिके धनी है। उनके द्वारा इस कोटिमे प्रणीत ग्रन्थोंकी सूची उनकी कृतियोंके अन्तर्गत दी गई है। उनके द्वारा सम्पादित-अनूदित साहित्यकी अनुमानित पृष्ठसख्या ८००० से अधिक होगी।

४ 'जैन सन्देश'का सम्पादन—ग्रन्थोके सम्पादन-अनुवादके अतिरिक्त, 'जैन सन्देश'के समान साप्ताहिक पत्रका सम्पादन भी पण्डितजीकी एक प्रखर प्रवृत्ति रही है। यह जैन धर्मकी प्रतिष्ठा बढाने, जैन समाजको सगठित करने तथा सामाजिक धार्मिक समस्याओंके समय समुचित मार्गदर्शन करनेमें सदैव अग्रणी रहा है। १९३९ में प्रारम्भ इस पत्रने जैन जगत्में अपने सम्पादकके कारण अपना एक विशिष्ट स्थान बना रखा है। इसके सामान्य एव सम्पादकीय लेखोंकी कोटिमें आकर्षण रहा है, नवीनता रही है। सम्पादककी पक्षातीत विचारधारा पत्रकी शक्ति बनी हुई है। यही कारण है कि यह पत्र समाजके अनेक झझावातोंके बावजूद भी अपना सुदृढ आधार बनाए हुए ह। पत्र सम्पादनके लिए आवश्यक बहुमुखी सूचनाओका सधारण-समीक्षण, समय-समयपर आनेवाली सैद्धान्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओके तथ्यपूर्ण विश्लेषणकी क्षमता एव पक्षातीत स्वतत्र मार्गदर्शनकी प्रवृत्ति पण्डितजीमें निश्चय ही विद्यमान है। इसके सम्पादकीय लेखोंके माध्यमसे उन्होंने अपनी विचारधाराओको बडे स्पष्ट व साहसपूर्ण ढगसे व्यक्त किया है और समाजका विश्वास अर्जित किया है। अपने पुष्ट एव आगम सम्मत विचारोंके कारण उन्हें पर्याप्त विरोधका भी सामना करना पड़ा है। आज भी वे अपनी इसी वृत्तिके कारण अनेक

वर्गोंके कोपभाजन बने हुए हैं। लेकिन पण्डितजी सिद्धान्तोंकी सरक्षा एवं व्याख्याकी तुलनामें कुछ व्यक्तियोंकी उपेक्षाओं या प्रहारोंको सहना अधिक पसन्द करते हैं।

उन्होंने अपने सम्पादकीय लेखोंमें समय-समयपर आई अनेक सामाजिक समस्याओंपर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने मुनि चन्द्रसागरजी, अभिनन्दनसागरजी, पुस्तक विक्रेता तथा शिथिलाचारी त्यागियोंकी प्रवृत्तियोंको आगम विरुद्ध बताकर आर्ष मुनिधर्मके पालनका पक्ष लिया है। मुनियो द्वारा पदवी या उपाधिग्रहणकी परम्पराको भी वे उचित नही मानते। अपनी इन विचारधाराओंके कारण समाजके कुछ वर्गमें उनके प्रति जो रोष है, उसका अनुभव लेखकको भी अनेक स्थानोपर हुआ है। समय-समयपर पण्डितजीने सामयिक समस्याओपर भी अपनी चिन्ता व्यक्त की। शिखरजीके जल प्रदूषण, तीर्थक्षेत्रोके झगडे, दहेज प्रथा, जबलपुर काण्ड, दशलक्षण और कषाय, 'सरिता और ब्लिट्ज'में जैन धर्म और समाजसे सम्बन्धित प्रकाशित सामग्री और ऐसी ही अन्य समस्यायें उनके प्रखर विचारोकी अभिव्यक्तिके माध्यम बनी है। वे विद्वानोके सगठन, दि० जैन सघ, 'जैन लिखाओ' आन्दोलन, महिलाओके स्वावलम्बन, मूर्तिपूजन, शाकाहार, दिवाभोजन, गजरथके समान सामाजिक और धार्मिक उत्सव, कारजा गुरुकुल एव जैन सिद्धान्त भवन जैसी सस्थाओ तथा आचार्य तुलसीके समाज सुधारक आन्दोलनके पक्षधर हैं।

वर्तमान स्थितिकी समीक्षा करते हुए उनकी मान्यता है कि जैनोसे जैनधर्म छूटता जा रहा है। उन्हें हवाका रुख एव समयको पहचाननेका सकेत पण्डितजीने कई बार दिया है। वे जैन धर्म और सस्कृतिके प्रचारकी आवश्यकता अनुभव करते है और इस प्रयत्नमें सभी प्रकारसे सहयोग करते है। वे वर्तमान मुमुक्षुओ तथा अ-मुमुक्षुओकी स्थितिसे पर्याप्तत चिन्तित है और उन्होने दोनोको ही सयम बरतनेका तथा आगमोको सही रूपमें लेनेका सुझाव दिया है। उनकी मान्यता है कि समाजमें पैसोकी वर्षा होती है पर उनका समुचित उपयोग होना चाहिए। पण्डितजी जैन धर्मको स्वतन्त्र मानते हैं तथा भारतके सभी सम्प्रदायोंके बीच सौमनस्य एव समन्वयका विचार प्रस्तुत करते हैं। वे समाजको शुद्ध, दृष्टिको निर्मल तथा वादविवाद-हीन बनानेका आग्रह करत हैं।

पण्डितजी यह मानते हैं वीतरागता ही सच्चा धर्म है और जीवनका लक्ष्य है। इसे प्राप्त करनेके लिए सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चरित्र दोनो आवश्यक हैं। व्यवहारमार्गसे ही निश्चयमार्गकी दिशा मिलती है। इन विचारोको पुष्ट करनेके लिए उन्होने समय-समयपर उत्पन्न मतवादोकी समीक्षा की है। भावलिंगकी प्रमुखताको स्वीकार करते हुए भी वे द्रव्यलिंगकी पूर्ण उपेक्षाके पक्षधर नही हैं। उसीके अनुरूप जहाँ एक ओर वे मूलशकर देसाईकी टीकाकी आलोचना करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे कानजी स्वामीके कट्टर विरोधकी भर्त्सना भी करते हैं। उनका मत है कि धर्म और विज्ञानके बीच तथाकथित रूपसे दृष्टिगोचरभेदक रेखाकी विधिवत् विवेचनाके लिए एक ज्ञान-विज्ञान अकादमी होनी चाहिए। वे शास्त्र सभाओकी उपयोगिता स्वीकार करते है और सिद्धान्त ग्रन्थोके अध्ययनका अधिकार सभी जिज्ञासुओके लिए मानते है। धार्मिक दृष्टिसे वे नारीको विषकी बेल ही मानते हैं, पर उसकी प्रगतिके लिए पर्याप्त उत्सुक प्रतीत होते हैं। उन्होने आचार्य पद, दिगम्बरत्व, बन्ध और मोक्षका उपाय, भूतार्थ और अभूतार्थ, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, आचार्योंकी प्रामाणिकता, पठनीयशास्त्र, नियतिवाद और सर्वज्ञता आदिके समान वर्तमानमें अनेक विवादग्रस्त समस्याओ-पर अपनी तीक्ष्ण और तर्कसगत लेखनी चलाई और अपने विद्वद्वर्गको प्रभावित किया है।

"जैनसन्देश" का प्रारम्भ भारतीय स्वातन्त्र्यके आन्दोलनके युगमें हुआ था। स्वतन्त्रता एक मौलिक राष्ट्रीय समस्या थी जिससे प्रत्येक भारतवासी मन, वचन व कार्यसे आन्दोलित रहा है। "जैनसन्देश" इससे अछूता कैसे रह सकता था? उसने गाधीजीके अहिंसात्मक आन्दोलनके राष्ट्रीय प्रयोगका प्रचण्ड

समर्थन किया और समय-समयपर लेख और लेखमालाएँ लिखी। उन्होने हिन्दू-मुसलमान, ईसाई और अन्य जातियोंके बीच एकताके सवर्द्धनमें लेख लिखे एव पाकिस्तानवादी विचारधाराको क्षोभ और अनिष्टकी दृष्टिसे देखा। उन्होंने ग्रामोद्योग और अम्बर चरखाका समर्थन किया, भू-दानको भी उन्होने सराहा। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बेकारी, डांवाडोल राजनीतिक स्थितियोंने उन्हें सदैव चिन्तित किया है। राष्ट्रभाषाके प्रश्नपर भी उन्होने अपने विचार व्यक्त किये हैं और उन्होंने हिन्दीको इस पदपर प्रतिष्ठित करनेकी वकालत की। लेकिन वे सस्कृत-निष्ठ हिन्दीके पक्षपाती नही रहे। वे व्यापक राष्ट्रीय हितको विचार कर कार्य करनेवाले नेताओ तथा जनतत्रीय पद्धतिके पोषक हैं। उन्हे देशभक्त, समाजसेवक तथा प्रश्रुत विद्वानोकी क्षति प्रकृतिकी क्रूरता ही लगती हे क्योकि इन क्षतियोकी पूर्ति दुरूह ही प्रतीत होती है। पण्डितजीने जैन सदेशमें अपने सपादकीय कालमें कोई ९०० सपादकीय और अनेक लोकप्रिय तथा शोध लिखे है। इनकी सूची पृथक्से दी जा रही है। इनके सपादित सकलनसे लगभग ४००० पृष्ठका साहित्य निर्मित हो सकता है।

५ प्रशासन—स्याद्वाद विद्यालयमें अध्यापनके साथ ही उन्हे प्राचार्यके रूपमें उसका सभी दृष्टियोसे प्रशासन भी करना पडा है। आधुनिक प्रशासन कलाके सिद्धान्तोके अनुसार, अच्छे प्रशासकमें कुछ अनिवार्य गुण होने चाहिये। उसे समय-समयपर वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'के समान रूप प्रदर्शित करने चाहिये। मौन भावसे सभी प्रकारकी अभिव्यक्तियाँ अडिग होकर सुननी चाहिये और निष्पक्षभावसे समस्याओपर निर्णय देने चाहिये। वे यूनियनविहीन अनुशासन-प्रिय युगके प्रशासक रहे हैं और इसलिये उन्हे अनुशासनको कठोरतासे प्रतिष्ठित करना अभीष्ट रहा ह। उनके अनुशासन-प्रेमके शिकार अनेक स्नातक हुए है पर वे आज भी पण्डितजीके प्रति अपनी श्रद्धा रखते हैं। उनका मत है कि कुमार और युवावस्थाके प्रारभ में मनुष्यमे वह वैचारिक परिपक्वता नही आ पाती जो उसे सम्पूर्ण हिताहित एव दूरदृष्टिके विचारकी क्षमता प्रदान कर सके। इसलिये इस अवस्थामें अनुशासन एव नियत्रण तो आवश्यक है ही, मार्गदर्शन भी आवश्यक है।

स्याद्वाद महाविद्यालयके प्राचार्य होनेके कारण विद्यार्थियोके अतिरिक्त अध्यापकोपर भी पण्डितजीका प्रभाव रहा है। उनकी समयकी पाबन्दी, दूरसे दिखती हुई गम्भीर मुद्राके बीच बिजली-सी क्षणिक मुस्कुराहट गहन विद्वत्ताकी छापसे सभीके मनमे उनके प्रति आदरभाव और अनुकरणीयता रही है। मुझे लगता है कि १९६० के बाद इस दिशामे काफी परिवर्तन आया होगा जो १९७२ तक तो दबी चिनगारी के रूपमे रहा, पर उनकी सेवानिवृत्तिके बाद उस परिवर्तनने विस्फोटक रूप ग्रहण करना प्रारम्भ किया। अब विद्यालय पुन अपने पूर्ववत् अनुशासित एव अध्ययन-अध्यापन परायण रूपको तो नही प्राप्त कर सकता, पर समुद्रमे आई लहरे उनकी चतुरता एव प्रशासनिक क्षमतासे शान्त हो गई है।

बहुतेरे लोग अनुशासन एव नियत्रणमे कठोरताको पसन्द नही करते। मुझे दिल्लीमे विद्यालयके ही एक भूतपूर्व प्रबन्धक मिले। उनकी उद्वेलित अभिव्यक्तियोसे मुझे इस तथ्यका आभास हुआ। पर मैं मानता हूँ कि शिक्षा जगत्की अनेक समस्याओका मूल कारण इन दिशामे उत्पन्न लोचशीलता ही है। यह असीम हो गई है और शिक्षा जगत्से यह शब्द लुप्त हो गया लगता है। मुझे लगता ह कि पण्डितजी भी इस स्थितिसे परम क्षुब्ध होंगे।

प्रशासनके उत्तम गुणो और उनके परिपालन करानेकी क्षमताके कारण ही वे पैतालिस साल तक एक ही सस्थामें बने रहे। स्थानकी यह अपरिवर्तनीय एव स्थिरता शायद काशीका प्रभाव और आकर्षण हो, पर इससे काशी गौरवान्वित ही हुई। यहांसे जैनधर्म और सस्कृतिका प्रकाश भारतमे चतुर्दिक् फैला।

विद्यालयके प्रशासनके अतिरिक्त वे अनेक सस्थाओके भी अनौपचारिक मार्गदर्शी प्रशासक बने

रहे हैं। ये सस्थायें उनके इस गुणका आज भी उपयोग करती हैं। प्रकृतिके नियमके अनुरूप उन्हें भी अपने इस उत्तम गुणके पारितोषिकके रूपमें अनेक बार प्रहार सहने पड़े हैं, पर उन्होंने सहिष्णुता तथा स्थिति-स्थापकताकी शक्तिसे उनपर विजय पायी और अपने उत्तम प्रशासकीय गुणका परिचय दिया।

६ भ्रमण और धर्म प्रचार—जो व्यक्ति लेखक, प्रशासक या मार्गदर्शी हो, उसकी प्रतिष्ठाका व्यापक प्रसाद स्वाभाविक ही है। फिर पण्डितजी तो काशीकी अखिल भारतीय जैन-सस्थाके संचालक थे। अत उनपर विद्याध्ययन और अध्यापनके अतिरिक्त परोक्ष रूपसे जैनधर्म और सस्कृतके प्रचार-प्रसारका उत्तरदायित्व भी रहा है। यह कहनेमे कोई सकोच नही है कि उन्होने इस उत्तरदायित्वका भी सक्षमतासे आदर्शरूपमे निर्वाह किया है। इससे जहाँ जैनधर्मकी प्रतिष्ठा बढी है, वहाँ स्याद्वाद महाविद्यालयकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ हुई है। वर्ष १९२७ मे १९७९ तक उन्होंने ४६ बार दशलक्षण पर्वपर विभिन्न क्षेत्रोंकी यात्राये की हैं और विद्यालयको १,१६००९ ०० रु० मे भी अधिककी राशि प्राप्त कराई है। उनके भ्रमण-क्षेत्रोमें उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बम्बई बिहार, असम, बगाल, राजस्थान, पजाब और दिल्ली प्रमुख रहे हैं। उन्होंने महावीर जयन्ती पर भी अनेक स्थानोका भ्रमण किया है। अनेक धार्मिक एव राष्ट्रीय महत्त्वके अवसरोपर रेडियो प्रसारण किये हैं। अनेक सामाजिक एव धार्मिक उत्सवो एव सस्थाओके धार्मिक अधिवेशनोपर भी अनेक स्थानोकी यात्रा की है। दक्षिण भारत भी उनके लिए अछूता नही रहा। इस प्रकार पर्वों, उत्सवो, अधिवेशनो तथा अनेक अवसरोपर पण्डितजीका लगभग प्रतिवर्ष दशमाश समय इसी कार्यके लिए व्यतीत होता रहा है। इससे जैनधर्म व उसके विविध अगोका प्रचार-प्रसार तो हुआ ही है, स्याद्वाद महाविद्यालयकी प्रतिष्ठामे भी चार चाँद लगे हैं।

भ्रमणकी यह प्रवृत्ति पण्डितजीके जीवनका एक अग बन गयी है। प्रारम्भमे उनकी यह वृत्ति सामाजिक व धार्मिक स्तरो तक ही सीमित थी, पर अब वह शैक्षिक स्तरपर भी पहुँच गई है। यही कारण है कि पिछले अनेक वर्षो मे उन्होने अनेक विश्वविद्यालयीय स्तरकी जैन विद्या सगोष्ठियो एव सस्थागत विचारगोष्ठियोमें भाग लेकर जैन विद्याओके ज्ञानके प्रसारके अतिरिक्त उसके उच्चस्तरीय सवर्धन एव सप्रसारणमें भी योगदान किया है। इससे यह भी अनुभव हुआ है कि नवीन जैन विद्याके अधिकारियोंके लिए प्राचीन जैन विद्याके अधिकारियोका सहयोग और मार्गदर्शन इस सवर्धनको और भी प्रभावक बना सकता है।

७ शोध प्रवृत्ति—अध्ययन-अध्यापनमे रत व्यक्तियो एव विद्वानोमे प्राचीन और नवीन विषयोपर शोधकी प्रवृत्ति, ज्ञानकी अभिवृद्धि, विचार और चिन्तन शक्तिकी क्षमता तथा उपयोगिताको प्रकट करती है। यह विलुप्त एव पुरातन ज्ञानको प्रकाशित करती है तथा नये क्षितिजोका अन्वेषण करती है। इससे पुरातनकी गरिमाकी अभिवृद्धिका मान होता है और ज्ञानके प्रवाहकी निरन्तरता पुष्ट होती है। पाश्चात्य देशोमे तो अध्यापन और शोध—दोनों प्रवृत्तियाँ अविनाभाव रूपसे चलती है। शोध-लेखनकी प्रवृत्तिको भी प्रेरित करती है। फलत विद्वानके लिए शोध-प्रक्रियामे लगना एक सहज वृत्ति है। पण्डितजीमें भी इस प्रवृत्तिके दर्शन प्रारम्भसे पाये जाते हैं। इसीके फलस्वरूप उन्होने जैनधर्म तथा उसके अनेक विषयो व आचार्यों के सम्बन्धमें ऐतिहासिक, पुरातत्त्वीय एव समीक्षात्मक लेख और ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना तथा अनेकान्त, जैनसन्देशके शोधाक, जैनसिद्धान्त भास्कर और ऐसी ही अनेक पत्रिकाओमें प्रकाशित उनके तीन दर्जनसे अधिक शोध-लेख उनकी इस प्रवृत्तिको पुष्ट करते हैं। यही नही, उनके अनेक ग्रन्थोंमें वर्णित विषय-वस्तुकी विवेचना भी उनके गहन अध्ययन और मननको प्रकट करते है। 'जैनसाहित्यका इतिहास' तो इस दृष्टिसे एक सर्वविदित ग्रन्थ है। शोधवृत्तिके साथ-साथ उनमें स्मरणशक्ति तथा अभि-

व्यंजना शक्ति भी प्रचुर परिलक्षित हुई है जिनका उल्लेख युवाचार्य महाप्रज्ञजीके समान मनीषीने अपनी अभीप्सामें व्यक्त किया है। उनकी इस वृत्तिके कारण कुछ लोग उन्हें 'जैनधर्मका इन्साइक्लोपीडिया' ही मानते हैं। इसीलिए अनेक देशी और विदेशी विद्वान् अपने शोधकार्यमें उनसे सदा मार्गदर्शन लेने आते हैं। यह सही है कि उन्होने शोधकार्यके माध्यमसे आजके विश्वविद्यालयोंसे कोई उपाधि नही प्राप्त की है, पर उनकी अनेकों प्रस्तावनायें और ऐतिहासिक निबन्ध आजकी किसी भी पी-एच० डी० के शोधप्रबन्धसे निश्चित रूपसे उत्कृष्ट कोटिमें आती हैं। उनमें जो अध्ययनका गाम्भीर्य और अभिव्यक्तिकी मनोहरता है, वह आजके प्रबन्धोमें कहाँ मिलती है ? हमें इस बातकी प्रसन्नता है कि उनके अनेक शिष्य भी इसी प्रकारकी गभीर शोध दिशामें लगे हुए हैं और जैन दर्शन तथा सस्कृतिके अज्ञात, दुरूह एव उपगूहित अगोका उद्घाटन कर रहे है। वर्तमानमें, आकस्मिक रूपमें उठने वाले अनेक सैद्धान्तिक महत्वके प्रश्नो पर उनके लेख इस दिशामें मननीय हैं। पडितजी आज भी अपनी इस प्रवृत्तिको जीवन्त रूपमें चला रहे हैं।

८ राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ—जैन समाज भारतीय राष्ट्रका ही एक अग है। अत उसका विद्वद्वृन्द अपने समाजको राष्ट्रीय समस्याओंके समय उसमे सक्रिय भाग लेनेके लिये सदैव प्रेरित करे, यह स्वाभाविक ही है। इसीके अनुरूप पडितजीने भी अनेक प्रकारकी राष्ट्रीय समस्याओ पर अपने विचार व्यक्त कर समाजको मार्गदर्शन दिया है। उन्होने स्वातत्र्य आन्दोलनके अवसर पर अनेक प्रकारसे प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रेरणायें देकर विद्यालयके स्नातकोमें राष्ट्रीय चेतनाको पनपाया है। उन्होने राष्ट्र भाषाके रूपमें हिन्दीका सदा समर्थन किया है। अहिंसा एव सर्वधर्म समभाव पर उनकी लेखनी चली है। भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्तिके अवसरपर सर्वधर्म-प्रार्थनाके अन्तर्गत जैन प्रार्थनाओके प्रसारणके लिये उन्हें ही चुना गया। महावीर निर्वाणोत्सवकी रजतशतीमें जैन गीताके रूपमें सकलित 'समण सुत्त' का हिन्दी गद्यानुवाद भी उन्होने ही किया है। उसके सकलनमें भी उनका योगदान अमूल्य रहा है। भारतमें समय-समय उत्पन्न होनेवाली राष्ट्रीय समस्याओं पर समाजको उचित कर्तव्य निभाने एव समुचित मनोवृत्ति प्रदर्शित करनेके लिये उन्होने सदैव आदेश लिये है। यही कारण है कि राष्ट्रीय विपत्तियोके समय तन, मन व धनसे राष्ट्र की सहायता और सेवा करने वालोमें जैन समाजको अग्रणीके रूपमें माना जाता है।

इस सूक्ष्मदर्शी सक्षेपणके आधार पर पडितजीकी बहुविध प्रवृत्तियोके दूरदर्शी महत्वका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

पण्डितजी और बुन्देलखण्ड

डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी, छतरपुर

स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीके भावात्मक एव भौतिक बीजारोपणमे बुन्देलखण्डकी ही अनेक विभूतियोका हाथ रहा है। गतदर्थ एक ओर जहाँ उन्होने जीवनाथ मिश्र जैसे विद्वानोकी गर्हा सुनी, वही उन्हें अम्बादास शास्त्रीके समान पण्डितोंका प्रोत्साहन भी मिला। १२ जून, १९०५ के दिन विद्यालयके प्रथम छात्रोंमें इसी क्षेत्रके छात्र रहे है। फलत बुन्देलखण्डके बालको और पालकोमे काशीके प्रति अविरत अनुराग बना रहे, यह स्वाभाविक भी है। यही कारण है कि काशीके दूरवर्ती होनेपर भी इस विद्यालयमें बुन्देलखण्डके छात्रोकी सख्या सदैव दो-तिहाईके लगभग रही है। इस निष्कर्षकी पुष्टि विद्यालयकी स्वर्णजयन्ती स्मारिका,

१९५५ में प्रकाशित ३७० स्नातकोंकी सूचीमें लगभग २४० के इस क्षेत्रके होनेके तथ्यसे होती है। यहाँ बुन्देलखण्डका अभिप्राय बृहत्तर बुन्देलखण्डसे लेना चाहिये जो बुन्देली भाषाका क्षेत्र है। इसमें वर्तमान मध्यप्रदेशका विन्ध्यक्षेत्र, महाकोशल, कुछ मालव क्षेत्र तथा उत्तरप्रदेशके कुछ जिले समाहित होते हैं और इसीलिये यह सम्भव हो सका है कि आज इस क्षेत्रके प्रत्येक नगर और अच्छे ग्राममे इस विद्यालयका स्नातक पाया जाता है। यही नही, कही-कही तो स्नातक पीढियाँ तक पाई जाती है। ये सभी स्नातक जहाँ अपने काशी वासके प्रति गर्वका अनुभव करते हैं, वही अपने क्रिया-कलापोंसे काशीको गौरवान्वित भी कर रहे हैं। इस कथनमे प्राकृतिक नियमानुसार, अपवादोकी कमी नही हैं।

उपरोक्तसे स्पष्ट है कि स्याद्वाद विद्यालयका विद्यार्थी समुदाय बुन्देलखण्ड बहुल रहा है। इसीलिये वहाँके अध्यापको और अधिकारियोकी यहाँके छात्रोंके प्रति एक विशेष प्रकारकी अनुरागात्मक भावना तथा विद्यादानके प्रति सजीवता पाई जावे, इसे सहज प्रकृति ही मानना चाहिये। १९२७ से विद्यालयके प्रधानाध्यापक और वर्तमान अधिष्ठाता पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्रीको तो इस क्षेत्रके विद्यार्थियोंसे और प्रगाढ स्नेह सभावित है क्योंकि उन्हें बुन्देलखण्डके ही कुछ विद्वानोंने काशीमे पढ़ाया है। इसके अतिरिक्त, इस क्षेत्रके स्नातकोंने उनके साथ स्याद्वाद महाविद्यालयमें अध्ययन और अध्यापन भी किया है। इस तरह बुन्देलखण्ड क्षेत्र स्याद्वादके वर्तमान अधिष्ठाताकी गुरुभूमि, सहपाठी भूमि, सहकर्मी भूमि तथा विद्यार्थी भूमि है। अनेक तीर्थक्षेत्रोके कारण यह धार्मिक आस्थाकी भूमि तो है ही। इन कारणोसे पण्डितजीके मनमे अन्य क्षेत्रोकी तुलनामें इस क्षेत्रके स्नातकोके प्रति बहुगुणित अनुराग और सद्भावना रही है। उन्होने इसे अगणित अवसरो पर अनेक उत्सवो एव व्यक्तिगत सम्पर्कोंमे व्यक्त भी किया है। इस क्षेत्रके विद्यार्थियोंने यह अनुभव किया है कि पण्डितजी न केवल विद्यागुरु ही है अपितु वे जीवनगुरु भी है। उनके आशीर्वादात्मक सहयोगसे इस क्षेत्रके अनेक विद्यार्थी भारतके विभिन्न प्रदेशोंमे नियोजित होकर आपकी गाथाका परोक्ष विवरण देते है। पूर्वसे पश्चिम तथा उत्तरसे दक्षिण किसी ओर भी प्रमुख नगरमे जाइये, आपको इस क्षेत्रका विद्वान् अवश्य मिलेगा।

इस क्षेत्रके प्रति अपार आकर्षणका ही यह फल है कि इस क्षेत्रके जिस किसी भी उत्सवमें आपको आमन्त्रित किया जाता है आप उसमे अत्यत सजीवताके साथ सम्मिलित होते हैं। दशलक्षण, महावीर जयती, गजरथोत्सव, धर्मचक्र स्वागत आदि पर आपने जबलपुर, ललितपुर, द्रोणगिर और सतना, जैसे अनेक स्थानो पर अपने प्रवचन दिये है। आपकी इन यात्राओके समय आपकी क्षेत्रीय शिष्टमण्डलीकी प्रभा देखते ही बनती है। यह अपने जीवन उपकर्ता तथा सस्कर्तासे आज अधिक जीवन्त प्रेरणा लेती है क्योकि विद्यार्थी जीवन तो परोक्षत ही प्रभाववादी रहा होगा। उस समय इतनी मानसिक या बौद्धिक परिपक्वता कहाँ रहती है जो स्थायी प्रभाव कर गुणोका अनुकरण कर सके। वह तो विद्रोहका जीवन होता है।

पण्डितजीने अपने जीवनमे दोनो प्रकारके बुन्देलखडोके शिष्य देखे है विद्रोही और अनुयायी। सम्भवत जो विद्यार्थी जीवनमे विद्रोही थे, वे आज या तो उनके उत्कट अनुयायी बन गये है या फिर प्रचण्ड विद्रोही हो गये है। पर आदर्श जीवनदर्शन देने और पालने वालेके लिए यह स्थिति तो सामान्य ही है। फलत आपका आशीर्वाद दोनोको समान रूपसे मिलता रहता है। मुझे याद है कि एक बार स्याद्वाद महाविद्यालयमे यह प्रश्न एक जटिल रूप लिये हुये था कि सस्कृतके साथ अग्रेजी पढ़ी जाय या नही, अनेक विद्यार्थियोंकी इस बातमे रुचि रही है कि आजीविकाके क्षेत्रकी सम्भावनाओको उन्नत करनेके लिए धार्मिक शिक्षाके साथ लौकिक शिक्षाकी उपाधियाँ भी होनी चाहिये। इस रुचिका एक और भी प्रेरणा स्रोत था। उस समयके जैन विद्यालयोके अनेक प्रमुख जैन विद्वान केवल लौकिक शिक्षा ही ले रहे थे।

स्याद्वादके तत्कालीन विद्यार्थियोंको ऐसा लगने लगा था कि संस्कृत शिक्षा इतनी हेय है कि हमारे गुरुजनोंकी संतति उससे दूर ही रखी जा रही है। सामान्यतः यह भी मान्यता रही है कि इस क्षेत्रके लोग निर्धन हैं और विद्यालयमें मुख्यतः निःशुल्क व्यवस्थायें होनेसे ही प्राय यहांके लोग आते हैं। इसलिये संस्कृत शिक्षा असमर्थोंकी शिक्षा मानी गई। चूंकि हमारे गुरुजन तुलनात्मकतः समर्थ रहे हैं, अतः वे अपनी संततियोंको असमर्थोंको दी जाने वाली शिक्षा क्यों दिलाये। एक ओर हमें संस्कृत शिक्षाके माध्यमसे शिक्षाकी अर्थ-करताके प्रति उदासीन बनाया जा रहा था, वहीं दूसरी ओर व्यक्तिगत जीवनमें हमारे गुरु मात्र अर्थकरी शिक्षाके पोषक हो रहे थे। इस स्थितिमें उस समयके स्याद्वादी विद्यार्थियोंमें निश्चित ही अपनी निर्धनताका बोध हुआ था। और वे भी अपनी पूर्वकर्मोपार्जित नीच गोत्रकी प्रकृतिको काशीमें भस्मकर उच्चगोत्री बननेकी दिशामें सोचने लगे थे। विद्यालयके गुरु और प्रशासक होनेके नाते इस समस्याके उदारता पूर्वक समापनमें जो रुचि विद्यार्थियोंने अपेक्षितकी थी, उसके दर्शन अनेक वर्षों बाद ही हो सके जब विद्यालयमें प्रवेश चाहने वालोंकी संख्यामें कमी होने लगी। विद्यालयके विद्यार्थियोंके लिए इस नीतिक परिवर्तनमें पूज्य बाबा वर्णीजीका योगदान भी भुलाया नहीं जा सकता। वे स्वयं बुन्देलखण्डके थे और उन्हें अपने ही क्षेत्रके विद्यार्थियोंसे अपार प्रेम था। प्रारम्भमें तो वे भी इस नई दिशाको माननेकी दिशामें आनेवाली अनेक तथाकथित आशंकाओंसे परेशान हुये थे पर उन्होंने वर्तमानकी तुलनामें उज्ज्वल भविष्यकी आभाको अधिक महत्व दिया। और उसके बाद विद्यालय प्रशासन उदारतापूर्वक धार्मिक शिक्षाके साथ लौकिक शिक्षाके लिए अनुज्ञा दी। भाग्यसे, उसी समय पूर्ति छात्रवृत्ति की योजना चली जिसमें दोनों प्रकारकी शिक्षा लेनेवालोंका छात्रवृत्ति दी जाती थी। छात्रवृत्तिका प्राय पूरा अंश ही विद्यालयमें ऐसे छात्रोंको निःशुल्कताकी सुविधासे वंचित करनेका दण्ड देकर प्राप्त किया। फलतः दोनों दिशाओंकी शिक्षा लेने वाले विद्यार्थी विद्यालयके परोक्ष सहायक भी बने। अब तो संस्कृत विश्वविद्यालयने भी अपने पाठ्य-क्रमोंका आधुनिकीकरण कर दिया है। फलतः यह समस्या ही नहीं रही। उपरोक्त नीति परिवर्तनकी प्रक्रियामें अनेक छात्रोंने भाग लिया था और प्रारम्भमें विद्यालय प्रशासन संभवतः उनसे खिन्न भी रहा। पर इसे पण्डितजीकी उदारता ही समझिये कि इन विद्रोही विद्यार्थियोंको निर्दण्ड ही विद्यालयमें रहने दिया गया। मुझे इस बातकी प्रसन्नता है कि मेरी पीढ़ी उन्हीं दिनोंकी है और मेरे विद्यार्थी जीवन कालके कुछ पूर्ववर्ती और कुछ उत्तरवर्ती वर्षोंके लगभग दस वर्षोंके समयमें विद्यालयमें जो उभयथा प्रशिक्षित वर्ग निकला, उसका बहुभाग ही आज समाजका विभिन्न क्षेत्रोंमें अग्रणी बना हुआ है। यद्यपि उनमेंसे कुछ तो केवल अग्रणी अर्थकर ही रह गये हैं। उनका सामाजिक दृष्टिकोण विशुद्ध व्यक्तिवादमें सीमित हो गया है। इनकी उच्च गोत्री प्रकृतिका बन्ध हो गया है। मुझे ऐसा लगता है कि इस नये अर्थकरी शिक्षा ग्राहक वर्गसे पण्डितजीको कुछ निराशा तो दी होगी, पर वे उस पीढ़ीसे पूर्णतः निराश हों, ऐसा सोचना किंचित् दुःसाहस ही होगा। इस पीढ़ीके अनेक लोग न केवल भारतमें ही, अपितु विदेशोंमें भी काशी और 'स्याद्वाद'की कीर्ति-पताका फहरा रहे हैं और जैन संस्कृतिको नव संस्कृत भाषामें प्रसारित कर रहे हैं।

यह एक प्रकरण है जब बुन्देलखण्डके विद्यार्थियोंने अपने गुरुवरका गम्भीर मौन देखा और उनकी अन्तः सहानुभूति पाई। उनका यह अन्तरंग आशीर्वाद हमपर आज तक अविरतसे छाया हुआ है। यही हमें उनके उपकारोंको अविस्मरणीय बताता है। बुन्देलखण्डके स्याद्वादी स्नातकोंने अनेक अवसरोंपर अपनी कृतज्ञताको व्यक्त करनेके लिए अपने गुरुवरको अभिनन्दित किया है। द्रोणगिरमें तो उन्हें विद्यावारिधि का उपाधिसे भी विभूषित किया गया। यही उनका एक अभिनन्दन १९५५ में भी किया गया था जब वहाँ बीस वर्षकी गजरथ विहीन समाजका प्रथम गजरथोत्सव आयोजित हुआ था। उस समारोहमें अनेक विदेशी

विद्वान् भी उपस्थित थे । जबलपुरमें भी क्षेत्रीय स्याद्वादियोंने उनको एक अभिनन्दनपत्र समर्पित कर अपनेको कृतार्थ किया था ।

एक ओर जहाँ क्षेत्रीय शिष्यमण्डली अपने विद्यागुरुके कारण गौरवका अनुभव करती है, वहीं पण्डितजी भी समय-समयपर इस क्षेत्रके स्याद्वाद स्नातकोंके प्रति अपने भावभीने उद्गार व्यक्त करते रहते हैं । पूज्य वर्णीजीके समाधिमरणके समय वे वहाँ उपस्थित थे । उस समय उन्होंने अपने जीवनके लिये एक परमावश्यक व्रत ग्रहण किया था—लौकिक कल्याणके साथ ही पारलौकिक कल्याणके हेतु भी समाजकी मनोभूमि विशुद्ध करनेके लिए पूज्य वर्णीजीके उपदेशोंको और अधिक रूपमें प्रचारित करनेका व्रत लिया था । तभीसे बुन्देलखण्डमें उनके आवागमनकी पारम्बारता कुछ बढ गयी । वर्णीजीने एक समय पण्डितजीसे कहा था, जब तक संस्थामें एक रुपयेका भी फण्ड रहे और जब तक एक भी छात्र रहे, तब तक आप विद्यालय चलाते रहे । वर्णीजी द्वारा सौंपा गया यह उत्तरदायित्व वे आजतक निभा रहे हैं । यह उन जैसे समर्थ व्यक्तित्वका ही काम है जिससे हमारे क्षेत्रीय लोग लाभान्वित हो रहे हैं । इन्हे ही सम्बोधित करते हुए पण्डितजीने एकबार द्रोणगिरमें कहा था, "मैंने अपने जीवनमें अभी तक अनेक जगह अभिनन्दनके कार्यक्रम देखे है, मेरे भी हुए है । परन्तु यह जो अभिनन्दन बुन्देलखण्डके छात्रो द्वारा आयोजित हुआ है, वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । गुरुके प्रति जो निष्ठा मैंने बुन्देलखण्डके छात्रोमे देखी, वह अन्यत्र देखनेमे नही आई । लघु सम्मेदशिखर कहे जानेवाले द्रोणगिरमे यह सम्मान निश्चय ही महत्वपूर्ण है । मेरी मान्यता है कि ऐसे सम्मान मेरे या किसी व्यक्तिके न होकर विद्वत्तामात्रके प्रति होने चाहिये । द्रोणगिरिकी तपोभूमि वर्णी वाणीके प्रचारके लिये सर्वाधिक उपयुक्त है । आप सभी स्नातक द्रोणगिरिके विद्यालयको समर्थ बनावे और यहाँके छात्रोंको पढनेकी प्रेरणा और साधन देते रहे । यही मेरा आपसे विनम्र अनुरोध है ।"

इन उद्गारोसे स्पष्ट है कि एक ओर पण्डितजी इस क्षेत्रके स्नातकोंकी गुरुनिष्ठासे सन्तुष्ट हैं, वहीं वे इस बात पर किंचित् उद्विग्न भी है कि द्रोणगिरिका विद्यालय दम तोड रहा है । इस विद्यालयको जीवन-दान देनेकी उनकी प्रेरणा यह संकेत देती है कि इस विद्यालयके लिये उनके समान ही कोई जीवनदानी इस क्षेत्रमें होना चाहिये जो इस तपोभूमिको विद्याभूमि बना सके और इसको प्रकाशित कर सके । क्या बुन्देलखण्डके स्नातक अपने गुरुकी इस प्रेरणाको मूर्तरूप दे सकेंगे ?

सम्पादकीय लेखोंकी विषयवारसूची

इस सूचीमें उन लेखोंको सम्मिलित नही किया गया है जो प्रतिवर्ष विभिन्न जैन पर्वों या उत्सवोंपर लिखे गये। इनमें पर्यूषण, क्षमावणी, रक्षाबन्धन, श्रुतपचमी, दीपावली, वीरशासन जयन्ती, अक्षय तृतीया, महावीर जयन्ती एवं पत्रकी वर्ष समाप्तिपर लिखे गये लेख आते हैं। इनकी सख्या लगभग एक दर्जन प्रति वर्ष होती है और २८ वर्षमे इनकी सख्या ३३६ के लगभग है। यहाँ पण्डितजी द्वारा लिखित लगभग ६०० सम्पादकीय, लोकप्रिय तथा शोधलेखोकी विषयवार सूची दी जा रही है।

(अ) शिक्षा, शिक्षार्थी, शिक्षक तथा शिक्षण सस्थाएँ, परीक्षा और परीक्षा-पद्धति

१	४ जनवरी ४०	अध्यापकोका उत्तरदायित्व और महत्त्व
२	८ फरवरी ४०	नये अध्यापकोकी समस्या
३	१५ फरवरी ४०	शिक्षा सस्थाओका जीवन
४	६ जून ४०	शिक्षा सस्थाओके एकीकरणमे कठिनाइयाँ
५—७	५-१२-१९ दिसम्बर ४०	शिक्षाका आदर्श १,२,३
८	८ अगस्त ४१	हमारे बोर्डिंग हाउस
९.	९ जनवरी ४२	शिक्षाका उद्देश्य मनुष्य बनाना है।
१०	१६ जुलाई ४२	परीक्षकोके रिमार्क
११	२३ जुलाई ४२	हमारे सस्कृत विद्यालय
१२—१३	२०-२९ अगस्त ४२	हमारे सरस्वती भवन १, २
१४	२६ जनवरी ४२	सस्कृत कालेज जयपुर और जैन छात्र
१५	२१ सितम्बर ४२	माणिकचन्द्र परीक्षालयका परीक्षाफल
१६	२० दिसम्बर ४४	भारतकी भावी शिक्षा
१७.	२५ जनवरी ४५	आज विद्वानोकी कमी क्यों है ?
१८	२६ दिसम्बर ५६	पण्डित वर्ग और जैनसमाज, १, २
१९	३ जुलाई ५८	काशी विद्यालयका भवन गिरा
२०.	१० जुलाई ५८	छात्र और छात्रवृत्तियाँ
२१.	२५ अगस्त ६०	सस्कृत शिक्षालयोंपर एक दृष्टि
२२.	१० नवम्बर ६०	विद्वानोंकी स्थिति
२३.	२७ जुलाई ६१	सस्कृत साहित्यका पठन-पाठन
२४—२५.	६-१३ जुलाई ६१	नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षाकी आवश्यकता १, २
२६.	१० मई ६२	सस्कृत शिक्षा एक समस्या
२७.	२८ जून ६३	शिक्षा की दशा
२८.	११ अक्टूबर ६२	विद्वान् और आजीविका

२९.	७ मार्च ६३	पाण्डित्यकी सार्थकता
३०	२८ जुलाई ६३	शिक्षा और उसका गिरता स्तर
३१.	६ फरवरी ६९	गुरुकुल इसे कहते हैं
३२.	१० जुलाई ७०	संस्कृत और धार्मिक शिक्षाकी स्थिति
३३.	८ फरवरी ७३	विद्वानोंकी परंपराका संरक्षण आवश्यक
३४	२६ जून ७८	पैसा और पण्डित
३५.	१४ जून ७९	आजकी शिक्षा और परीक्षा
३६.	२७ जुलाई ७८	जैन परंपरामें पण्डित और उनका योगदान
३७	१४ जून ७९	आजकी शिक्षा-दीक्षा
३८.	२९ जून ६७	संस्कृत शिक्षालयोंके लिये कठिन समस्या

(ब) सामाजिक समस्याएँ और संस्थाएँ

१	११ जनवरी ४०	समाजसेवा
२	१४ मार्च ४०	जातीय सभायें
३	२१ मार्च ४०	होली
४	४ अप्रैल ४०	हमारे भोले ढेले
५	३० मई ४०	संघका प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया
६	४ जुलाई ४०	जैन समाज और धर्मप्रचार
७.	८ अगस्त ४०	आगामी जनगणना अपनेको जैन लिखाइये
८-९	२६ सितम्बर ४०	सम्मेदशिखर तेरापन्थी कोठीकी रिपोर्ट १,२
१०	१० अक्टबर ४०	तारण समाज और उसके धर्मगुरुओंसे
११	२४ अक्टूबर ४०	तारण समाज और मूर्तिपूजा
१२	१६ जनवरी ४१	मुनि चन्द्रसागरजीका बहिष्कार
१३	२३ जनवरी ४१	इन्दौर काण्डका उत्तरदायित्व किसपर ?
१४	१३ फरवरी ४१	प्रकृत बहिष्कार और हम
१५	२० फरवरी ४१	श्री सावरकरके वक्तव्य से सावधान
१६	११ मार्च ४१	हमारा जैन लिखाओ आन्दोलन
१७	२० मार्च ४१	सर हुकमचन्द्र और इन्दौर काण्ड
१८.	२७ मार्च ४१	सुधार और सुधारक
१९.	१७ अप्रैल ४१	परित्यक्त स्त्रियोंकी माँग
२०	२४ अप्रैल ४१	महावीरजी पर उपद्रव
२१	५ जून ४१	परिषद अधिवेशनका वितंडा
२२	३ जुलाई ४१	धर्मप्रचारमें समाजका सहयोग
२३	२१ अगस्त ४१	हाय रे मोह
२४	२८ अगस्त ४१	मध्यम वर्गकी ऊँची रहन-सहन
२५.	११ सितम्बर ४१	मूर्तिपूजा

२६	१८ सितम्बर ४१	स्वास्थ्य प्रचारकी आवश्यकता
२७	९ अक्टूबर ४१	विधवाके बैंक कौन ?
२८.	२९ जनवरी ४२	समयको पहचानो
२९	१६ अप्रैल ४२	संगठनमें बाधक कौन ?
३०	३० अप्रैल ४२	सुन्दरलालजीका पत्र सघके विरुद्ध प्रोपेगेंडाका भण्डाफोड
३१	१८ जून ४२	दहेजकी प्रतिक्रिया
३२	२ जुलाई ४२	सघ समितिके निर्णय १, २
३३	९ जुलाई ४२	तीर्थक्षेत्रोंके झगडे
३४	२९ अक्टूबर ४२	जैनधर्मके प्रचारकी आवश्यकता
३५	५ नवम्बर ४२	मन्दिरोंमें कलह
३६	३ दिसम्बर ४२	तीर्थक्षेत्रोंके झगडे
३७	१४ जनवरी ४२	महँगी
३८	२१ जनवरी ४३	वाह् रे हम ?
३९	२८ जनवरी ४३	हमारे आन्दोलन
४०	८ अप्रेल ४३	महँगीमें फिजूलखर्ची
४१	२९ अप्रेल ४३	हमारा सामाजिक सगठन
४२	१३ मई ४३	साहुजीका भाषण
४३	२० मई ४३	युवकोका दायित्व
४४	१० जून ४३	कुछ महत्त्वपूर्ण दान
४५.	१७ जून ४३	नया हिन्दू विरासत कानून
४६	२४ जून ४३	महिलाये स्वावलम्बी बनें
४७	५ अगस्त ४३	स्तुत्य प्रस्ताव
४८	१९ अगस्त ४३	प्रकृतिका प्रकोप
४९	२६ अगस्त ४३	मन्दिरोंके झगडे
५०.	१५ अक्टूबर ४३	परोपदेशे पाण्डित्यम्
५१	११ नवम्बर ४३	हमारी खुदगर्जी
५२	२५ नवम्बर ४३	हवाका रुख पहचानो
५३.	९ दिसम्बर ४३	विद्वत् परिषद्की आवश्यकता·
५४	२३ दिसम्बर ४३	उदार घोषणा
५५	३० दिसम्बर ४३	पचायतोंकी महत्ता
५६	४ मई ४४	हमारा सामाजिक क्षेत्र
५७	११ मई ४३	कलकत्तेमे एक जैन केन्द्रकी आवश्यकता
५८	१५ जून ४४	कारंजा आश्रम
५९.	२२ जून ४४	दानकी वर्षा
६०.	२९ जून ४४	मालवामें युवक सगठन
६१.	६ जुलाई ४४	जैनेन्द्रजीका भाषण।

६२.	२९ सितम्बर ४४	अहिंसा प्रचारका एक अवसर
६३.	५ अक्टूबर ४४	जैनोंकी कानूनी स्थिति
६४	१२ अक्टूबर ४४	यह अँधेरा क्यो ?
६५	३० नवम्बर ४४	तीर्थक्षेत्रोंकी समस्या
६६	७ दिसम्बर ४४	प्रान्तीय सगठनोंकी आवश्यकता
६७	२१ दिसम्बर ४४	मधुवनमें जहरीले पानीसे सावधान
६८	२५ जनवरी ४५	फिर वही वितण्डा
६९	८ फरवरी ४५	बहिष्कारका समर्थन किन्तु प्रकारान्तरसे
७०	१५ फरवरी ४५	विद्वानोंसे
७१	८ मार्च ४५	प्रो० हीरालालजीके उत्तर
७२	१५ मार्च ४५	विद्वत् परिषद्का अधिवेशन
७३	२२ मार्च ४५	शिखरजीका पानी
७४	५ अप्रैल ४५	आज जैनत्व मिट रहा है
७५	२८ नवम्बर ५७	बम्बईकी दुखद घटना
७६	२४ अप्रैल ५८	आज द्रव्य ही सब कुछ है
७७	१७ जुलाई ५८	रात्रि भोजन छोडिये
७८	१४ अगस्त ५८	हमारी शक्तिका ह्रास
७९	४ दिसम्बर ५८	बालिकाओंका स्तुत्य साहस
८०	११ सितम्बर ५८	दिया तले अधेरा
८१	३० अक्टूबर ५८	समय रहते सावधान हो जाना ही हितकर है
८२.	२२ जनवरी ५९	दोषी कौन, निन्दक या अन्धभक्त
८३	५।१२ फरवरी ५९	यह जैन सन्देशका नही, जैनधर्मका बहिष्कार है
८४	१९ मार्च ५९	जबलपुर काण्ड पर एक दृष्टि
८५	२० अक्टूबर ६०	जैनो और हिन्दुओमें एकता
८६	१७ नवम्बर ६०	सच्ची और खरी बातें
८७	१ दिसम्बर ६०	जनगणनाके सम्बन्धमे
८८	८ दिसम्बर ६०	अतिशय क्षेत्र महावीरजी
८९	१५ दिसम्बर ६०	जातीयताका विष
९०	५ जून ६१	एकता और सगठनकी बाते
९१.	१९ जून ६१	जैनोसे जैनधर्म छूटता जाता है
९२	२६ जून ६१	सार्वजनिक क्षेत्रमें जैनधर्म कैसा होना चाहिये ?
९३	२ फरवरी ६१	मूर्तिपूजक होना गर्वकी वस्तु
९४	१६ फरवरी ६१	विवाह आदि अवसरो पर रात्रिभोजन बन्द कीजिये
९५	९ मार्च ६१	तीर्थ-यात्रा
९६	१६ मार्च	विवाह नही, सौदेबाजी
९७	६ अप्रैल ६१	शाकाहारके प्रचारकी आवश्यकता

९८.	२० अप्रैल ६१	हमारे तीर्थक्षेत्र
९९.	२५ मई ६१	दहेज लेना-देना, मांगना जुर्म
१००	८ जून ६१	सस्था और व्यक्ति
१०१	२२ जून ६१	ब्लिट्ज पत्रकी रिपोर्ट
१०२	२९ जून ६१	ये पुस्तक विक्रेता त्यागी
१०३	३ अगस्त ६१	बेपतवारकी नाव
१०४	७ सितम्बर ६१	परिषद्के लिये उपयोगी सुझाव
१०५	२४ दिसम्बर ६१	फीरोजाबादका महोत्सव
१०६	४ जनवरी ६२	आदर्श सामूहिक विवाह
१०७	११ जून ६२	हमारे सास्कृतिक आयोजन
१०८	१५ मार्च ६२	ये अखिल भारतवर्षीय सस्थाएँ
१०९	२६ अप्रैल ६२	सघका अधिवेशन
११०	३ मई ६२	दि० जैन सघ, १९४०
१११	१४ जून ६२	देवमूढतासे बचिये
११२	२१ जून ६२	श्रुतकी रक्षा कीजिये
११३	२८ जून ६२	वैवाहिक समस्याये
११४	२८ जुलाई ६२	शिथिलाचारका विरोध और समर्थन
११५	९ अगस्त ६२	अत्यन दुखद घटना
११६	१ सितम्बर ६२	कल्याणकी बात
११७	८ नवम्बर ६२	बादरायण नही, साक्षात् सम्बन्ध
११८	१३ दिसम्बर ६२	हमें अपना लोक-व्यवहार सुधारना चाहिये
११९	३१ जनवरी ६२	असद् व्यवहारसे धर्मकी रक्षा नही हो सकती
१२०	७ मार्च ६२	बाहुबली प्रतिष्ठा महोत्सव
१२१	१५ अप्रैल ६२	अभिनन्दनसागरजी विचार करे
१२२	१६ मई ६२	कुमायूँसे धार्मिक जाग्रति
१२३	१३ जून ६२	धर्मप्रेम बनाये धर्महानि
१२४	४ जुलाई ६२	शाकाहार बनाम मासाहार
१२५	२६ सितम्बर ६२	दशलक्षण बीतने ही कषायकी बौछार
१२६.	५ दिसम्बर	समयकी गति पहचानिये
१२७	२६ दिसम्बर ६२	जनगणनामे जैन
१२८	२ जनवरी ६४	हम सब जैन हैं
१२९	९ जनवरी ६४	दक्षिण भारतको मत भूलिये
१३०	१६ जनवरी ६४	एक सुन्दर सास्कृतिक महोत्सव जै० सि० म० आराकी हीरक जयती
१३१	३० जनवरी ६४	कारजामे सघ अधिवेशन
१३२	६ फरवरी ६४	कारजाका सास्कृतिक महोत्सव
१३३	५ मार्च ६४	दो पचकल्याणक महोत्सव (शिखरजी और वाराणसी)

१३४	६ अगस्त ६४	विद्वानोंसे नम्र निवेदन
१३५.	८ अक्टूबर ६४	मँहगाई बनाम भ्रष्टाचार
१३६.	१९ नवम्बर ६४	भारतीय जैन साहित्यकार ससद
१३७.	१७ सितम्बर ६४	धर्मप्रचारकी कुछ मूलभूत बाते
१३८.	२४ दिसम्बर ६४	महासभाका प्रस्ताव
१३९	३१ सितम्बर ६४	आचार्य तुलसीके तीन सुझाव
१४०	२१ जनवरी ६५	भा० दि० जैन परिषद्
१४१	११ मार्च ६५	तीन पचकल्याण (गौहाटी, सिवनी, मथुरा)
१४२	१ अप्रेल ६५	सम्मेदशिखरके प्रश्नपर दि० जैन समाज का आह्वान
१४३	६ मई ६५	धर्मकी ओटमे
१४४	१३ मई ६५	सम्मेदशिखरके सम्बन्धमे
१४५	२७ मई ६५	पिछड़े हुए जैन
१४६	३ जून ६५	बोगस कार्यके सम्बन्धमे
१४७	१० जून ६५	यदि बाढ ही खेतको खाये तो ?
१४८	८ जुलाई ६५	जैन युवकोसे
१४९	१८ नवम्बर ६५	सेठ राजकुमारसिंहजीका वक्तव्य और प्रतिक्रिया
१५०	१८ नवम्बर ६५	सद्भावनाकी आवश्यकता
१५१	२५ जनवरी ६६	गन्दी सरिताका गन्दा लेख
१५२	१७ फरवरी ६६	दि० जैन समाजका ताशकन्द सम्मेलन
१५३	२४ फरवरी ६६	सामाजिक वातावरणमें स्वच्छताकी आवश्यकता
१५४	३ मार्च ६६	समाज विचार करे
१५५	१७ मार्च ६६	सुधारका मूल-सगठन
१५६	२५ अप्रैल ६८	मेरठमें
१५७	२ मई ६८	भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् परिषद्
१५८	१५ जून ६८	जीवनसे धर्म वहिष्कृत होता जाता है
१५९	२० जून ६८	एक प्रश्न
१६०	२७ जून ६८	सामयिक चेतावनी
१६१	२८ जून ६८	मुनिचर्या पर भी काल का प्रभाव
१६२	१८ जुलाई ६८	उत्तरी गगा
१६३	२५ जुलाई ६८	एक आदर्श मत्री
१६४	१९ सितम्बर ६८	सराकोद्धारका कार्य
१६५	२६ सितम्बर ६८	सर्वोच्च महामुनिकी पूजा
१६६	१० अप्रैल ६९	दि० जैन समाजके सामने अनेक मौलिक समस्याएँ
१६७	१ मई ६९	शूद्रजल त्यागकी प्रतिज्ञामे कुछ तथ्य नही है
१६८	१९ जून ६९	जैन जातियाँ और वैवाहिक सम्बन्ध
१६९.	३ जुलाई ६९	आचार्य पद प्रतिष्ठा

१७०.	३१ जुलाई ६९	दो उल्लेखनीय घटनाएँ
१७१.	१४ अगस्त ६९	जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान
१७२.	२३ अक्टूबर ६९	दि० जैन सम्मेलन
१७३.	२० नवम्बर ६९	जनगणना
१७४.	१६ जनवरी ६९	आचरणमें ह्रास क्यो ?
१७५	२३ जनवरी ६९	समयकी माँग
१७६	२० जनवरी ६९	तीर्थरक्षाके लिए एक अ० भा० सम्मेलनकी आवश्यकता
१७७.	२० जनवरी ६९	सराक जातिका धर्मप्रेम
१७८.	९ अप्रैल ७०	स्त्री और पुरुषका चिन्तनीय सम्पर्क
१७९	४ जून ७०	आगमका यह अपलाप क्यो ?
१८०	२० अगस्त ७०	जैन लिखाओ, जैन बनो
१८१	५ नवम्बर ७०	२५०० वी निर्वाण जयन्ती कब से ?
१८२.	२६ नवम्बर ७०	बुन्देलखण्डके तीर्थरक्षकोसे
१८३	१५ जनवरी ७०	कन्या किसे देना चाहिये ?
१८४	१२ फरवरी	एक पथ दो काम
१८५.	१९ फरवरी ७०	जयपुर में
१८६	५ मार्च ७०	बाहुबली महोत्सव
१८७	७ जनवरी ७१	बुन्देलखण्ड प्रान्तीय तीर्थक्षेत्र कमेटी होनी चाहिये
१८८	१० जून ७१	२५०० मे निर्वाणोत्सवक स्मृतिमें
१८९	२२ जुलाई	कथनी और करनीमे इतना अन्तर क्यो ?
१९०	१८ नवम्बर ७१	नारी की उठती हुई स्थिति
१९१.	६ मार्च ७२	महाराष्ट्र प्रदेशमे
१९२	३० जुलाई ७२	भावी पीढी की चिन्तनीय स्थिति
१९३	३ अगस्त ७२	मुनिमार्ग की बिगडती स्थिति
१९४	२४ अगस्त ७२	हस्तिनापुरके उद्यानमे
१९५	३१ अगस्त ७२	गृहस्थ भी आरातीय होते थे
१९६	१६ नवम्बर ७२	क्रियात्मक अहिंसा प्रचार की आवश्यकता
१९७	३० नवम्बर ७२	करुणाभाव और मोह
१९८	१४ जून ७३	क्या भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता बढ रही है ?
१९९	१८ जनवरी ७३	ब्रह्मदेवसूरि का ब्रह्माणुव्रत
२००	८ मार्च ७३	धार्मिक प्रवास
२०१	१२ अप्रैल ७३	भगवान् महावीर के चरित की समस्या
२०२	२६ अप्रैल ७३	एक विचारणीय सुझाव
२०३	१४ जनवरी ७४	अन्य राज्य भी गुजरातका अनुकरण करें
२०४	३१ जनवरी	सघके सम्बन्धमें
२०५	२१ फरवरी	सघके प्रस्तावो पर एक दृष्टि

२०६.	२३ जनवरी ७५	दिगम्बर परम्परा व साहित्य पर मेरी श्रद्धा
२०७	४ अप्रैल ७५	जैनतीर्थ और पन्थभेद
२०८	३१ जुलाई ७५	दो भट्टारकोंका पदारोहण
२०९	४ नवम्बर ७६	सामयिक और आवश्यक अपील
२१०	२ दिसम्बर ७६	विवेकसे काम लीजिये
२११	६ जनवरी ७७	मुमुक्षुजन विचार करें
२१२	१० फरवरी ७७	समाजपर एक दृष्टि
२१३	२४ फरवरी ७७	धर्मप्रचार ही हमारा लक्ष्य है
२१४	१७ मार्च ७७	दृष्टिको निर्मल बनाइये
२१५	३० जून, ७७	समाज शुद्धिकी आवश्यकता
२१६	१ दिसम्बर ७७	धर्मरक्षाका उपाय बहिष्कार नही है
२१७	२२ फरवरी ७९	समयसे शिक्षा लीजिये
२१८.	१५ मार्च ७९	शास्त्रार्थसे समस्याका हल नही
२१९	४ अप्रैल ७९	उत्तर और दक्षिण
२२०.	१९ जनवरी ७८	धार्मिकके बिना धर्म नही
२२१	२ नवम्बर ७८	लोकेषणासे बचनेमें ही हित
२२२	२८ जून ५६	दहेज तथा आदर्श सामूहिक विवाह योजनापर विचार
२२३	५ जुलाई ५६	जैन साहित्यका प्रकाशन और उसकी समस्याये
२२४	१२ जुलाई ५६	सागरकी सस्थायें और समाज
२२५	६ दिसम्बर ५६	सामाजिक स्थितिपर विचार कीजये
२२६	८ नवम्बर ७९	पीछो और कमण्डलु
२२७	१० नवम्बर ७७	स्याद्वाद महाविद्यालयके तीन मास
२२८	२८ जुलाई ७७	जैन विद्याके एक विशिष्ट विद्वान् वशीधर भट्ट
२२९	२९ दिसम्बर ७७	समयको पहचानिये
२३०	९ फरवरी ७८	भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्
२३१	२९ जून ७८	एलोरामे पचकल्याणक
२३२.	२ नवम्बर ७८	एक पुण्यस्मरण तथा निवेदन
२३३	१७ मई ७७	ये जन्म जयन्तियाँ

(स) शास्त्रीय और धार्मिक लेख

१.	१४ दिसम्बर ३९	शास्त्राज्ञा और रीतिरिवाज
२.	१८ सितम्बर ४१	क्या शास्त्र सभायें बेकार है ?
३	३० अक्टूबर ४१	सिद्धान्त ग्रन्थोका प्रकाशन और उसका विरोध
४-९	२ दिसम्बर ४१	सिद्धान्त शास्त्र और उनके अध्ययनका अधिकार १,२,३,४,५,६
१०	१७ दिसम्बर ४२	जैनिदण्डनम् या मूर्खमण्डनम्
११.	४ फरवरी ४३	जैनिदण्डनम्के सम्बन्धमें

१२	६ फरवरी ५९	पं० मक्खनलालजीके आरोपोंका उत्तर
१३.	१२ दिसम्बर ५७	सोनगढ़ चर्चा
१४.	७ नवम्बर ५७	जैनतत्त्वज्ञान प्रगति
१५-६	६ जून ५८	क्या कुदेवपूजा शास्त्रविहित है ? १, २,
१७-८	२० जून ५६	जिनभक्तिका माहात्म्य १, २,
१९	३१ जुलाई ५६	देव और कुदेव
२०	७ अगस्त ५६	पूजा और भक्ति
२१	२५ दिसम्बर ५८	वीतरागशासनमें भेदका कारण
२२.	९ जून ६०	श्रद्धा बनाम विवेक
२३.	९ जुलाई ६०	त्यागधर्मके पथिकोंसे
२४.	६ अक्टूबर ६०	वैराग्य या अनुराग
२५	१३ अक्टूबर ६०	पथभ्रष्ट मुनिवेशियों के सम्बन्ध में
२६	२९ दिसम्बर ६०	आचार्य पद
२७	१२ जनवरी ६१	आ० कुन्दकुन्द का आम्नाय
२८	२ फरवरी ६१	मूर्तिपूजक होना गर्व की वस्तु
२९	१५ जून ५६	धार्मिक सिद्धान्त और विज्ञान (ज्ञानविज्ञान एकेडेमी
३०	२१ जून ५६	धार्मिक प्रवचनोंकी बाढ़
३१.	१६ मार्च ५६	सिद्धान्त और आचरण
३२	२१ अक्टूबर ६२	निश्चय और व्यवहार
३३	२७ सितम्बर ६२	निश्चयनय और व्यवहार
३४	२८ फरवरी ६३	निश्चय और व्यवहार
३५	३० मार्च ६३	अध्यात्म पर जोर
३६.	१६ मई ६३	सैद्धान्तिक चर्चा
३७	२० जून ६३	जैन ग्रन्थकारोंकी प्रामाणिकताएँ
३८	१ अगस्त ६३	क्या टोडरमलजी अप्रमाण पुरुष थे ?
३९	७ नवम्बर ६३	सर्वज्ञ की चर्चा क्यों ?
४०	९ अप्रैल ६४	पथभेदजन्य अशान्तिको दूर करनेका उपाय
४१	२१ मई ६४	पन्थभेदजन्य अशान्ति पर
४२-४४	२८ मई ६४	निश्चय और व्यवहार १, २, ३
४५	२ जुलाई ६४	क्या द्रव्यलिंगी और भावलिंगीकी पहिचान अशक्य है
४६-४८	१६ जुलाई ६१	जिनशासनमें सर्वत्र भावका महत्व है ? १, २, ३
४९	२० अगस्त ६४	द्रव्यलिंगी और भावलिंगीकी पहचानके सम्बन्धमें
५०	१९ सितम्बर ६४	कषाय और धर्म
५१	२२ अक्टूबर ६४	चारों अनुयोगोंके शास्त्र पठनीय हैं
५२	२१ जनवरी ६५	सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी पहिचान
५३.	५ फरवरी ६५	क्या रत्नत्रय मोक्षका परम्परा कारण है ?

५४.	२४ जून ६५	तथोक्त नियतिवाद और सर्वज्ञता
५५.	१५ जुलाई ६५	जैसा केवलीने जाना, वैसा अवश्य होगा, क्या यह मान्यता मूलत गलत है ?
५६.	२९ जुलाई ६५	व्यवहार धर्मके उपदेशकी आवश्यकता
५७	२० अगस्त ६५	सिद्धो में चारित्र और सुख
५८	२ दिसम्बर ६५	क्या तीर्थंकरोकी त्रिकालज्ञता हेतुकी बात है ?
५९	३-१० नवम्बर ६६	धर्म और पुण्य १, २
६०	६ जून ६८	क्या व्यवहार रत्नत्रय मोक्षका मूल कारण है ?
६१	३१ अक्टूबर ६८	देवशास्त्र-गुरु और सम्यग्दर्शन
६२	१९ दिसम्बर ६८	स्वरूपाचरण और सिद्धोंमें चरित्र
६३	३ जुलाई ६९	आचार्य पद प्रतिष्ठा
६४	१० जुलाई ६९	दिगम्बरत्वमे चिह्न क्यो ?
६५	२४ जुलाई ६९	निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी
६६-६७	१३ मार्च ६९	क्षुल्लकका वेष और आचार १, २
६८	२१ मार्च ७०	क्या चरित्रहीनको सम्यक्त्वकी प्राप्ति सभव है
६९	४ जून ७०	आगमका यह अपलाप क्यो ?
७०	९ जुलाई ७०	सम्यक् चरित्रके बिना मुक्ति नही, किन्तु सम्यक् दर्शनके बिना सम्यक् चरित्र नही ।
७१	६ अगस्त ७०	चरित्रकी उपयोगिता
७२	१२ नवम्बर ७०	आ० कुन्दकुन्दका महत्व
७३	६ मई ७१	द्रव्यलिंगीका अर्थ
७४	१३ मई ७१	द्रव्यदृष्टि सम्यग्दृष्टिका अर्थ
७५	२४ जून ७१	क्या रत्नत्रय बन्धका कारण है ?
७६	१ जुलाई ७१	क्या देश रत्नत्रय सम्पूर्ण रत्नत्रयका विपक्ष है ?
७७	६ अगस्त ७१	बन्धका उपाय मोक्षका उपाय नही हो सकता
७८	३ सितम्बर ७१	क्या व्यवहारको मिथ्या और निश्चयको सत्य कहना धृष्टता है
७९	२ दिसम्बर ७१	भूतार्थ और अभूतार्थका अर्थ
८०	२६ अगस्त ७१	अशुभसे बचकर शुभमे लगना भी सरल नही है
८१	१३ मार्च ७२	क्या सम्यक्त्वसे पूर्व अष्टमूलगुणधारण आवश्यक है
८२	२० मार्च ७२	क्या अष्टमूल गुण धारण किये बिना सम्यग्दर्शन नही हो सकता ?
८३	२८ मई ७२	शास्त्रविरुद्ध शिथिलाचारका पोषक कौन ?
८४	३ अगस्त ७२	मुनिमार्गकी बिगडती हुई स्थिति
८५	१४ सितम्बर ७२	वीतरागता ही सच्चा धर्म है
८६.	५ अक्टूबर ७२	ज्ञान व चरित्रका पक्ष लेने मात्रसे कल्याण नही होगा
८७	२१ जून ७३	सिद्धान्तका घात तो मत कीजिये
८८.	२९ मार्च ७३	वीतरागी देव ही पूज्य है

८९.	२८ फरवरी ७१	समयसार समीक्षापर
९०.	१९ सितम्बर ७४	वीतरागता ही सच्चा धर्म
९१.	४ जनवरी ७९	क्या एलाचार्य भी कोई पद है ?
९२.	२६ अप्रैल ७९	एलाचार्य पद कल्पना
९३.	६ जनवरी ७७	मुमुक्षुजन विचार करें
९४.	११ जनवरी ७९	जिनशासनमें मिथ्यादृष्टि
९५	१० मई ५६	सिद्धान्त और आचरण
९६.	२ अगस्त ५६	कानजी स्वामीका विरोध
९७.	६ सितम्बर ५६	मूलशंकर देसाईकी तत्त्वार्थसूत्रकी समीक्षा
९८.	२५ अक्टूबर ५६	मोक्ष और निर्वाण एक मध्यरेखा
९९	७ जून ५६	भारतीय और जैन संस्कृति
१००.	१० जनवरी ८०	भट्टारक पद के सम्बन्ध में
१०१.	२१ फरवरी ८०	कानजी स्वामी दि० जैन मुनि नही है
१०२	२८ फरवरी ८०	नैतिकता और धार्मिकता
१०३	१७ नवम्बर ७७	संवर और निर्जरा अनुप्रेक्षा
१०४	१७ नवम्बर ७७	भ० महावीरका अचेतन धर्म
१०५	१२ अप्रैल ७९	भ० महावीरकी देन
१०६.	८ फरवरी ७९	जीव और कर्म

(द) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय

१	२ मई ४०	गान्धी और अहिंसा
२-३	२३ मई ४०	हम और अहिंसा १, २
४	२५ जून ४०	अहिंसा के क्षेत्रमे गाधीजीका एक और कदम
५-६.	५ सितम्बर ४०	अहिंसाके सिद्धान्तका प्रयोग १, २
७	१७ अक्टूबर ४०	भारतका रोग नेतागिरी
८-९	२८ नवम्बर ४०	हिन्दू और मुसलमान १, २
१०	६ फरवरी ४१	देशी ईसाई और मुसलमान
११	१३ मार्च ४१	भारतीय राष्ट्रका इतिहास
१२	२० मार्च ४१	रगमें भग
१३-१५	१८ जनवरी ४०	बेकारीकी समस्या कैसे सुलझे १,२,३ (अम्बर चरखा)
१६	१५ मई ४१	हक मन्त्रिमण्डलपर आरोप
१७-८	२३ मई ४१	भारत और उसके शासक १,२
१९	२६ जून ४१	मि० जिन्नाका पाकिस्तान
२०	२ अक्टूबर ४१	अभागा भारत
२१.	६ नवम्बर ४१	हमारी दासताका कारण
२२-२४.	१३ नवम्बर ४१	गान्धी और अहिंसा १, २, ३

२५.	१५ जनवरी ४२	देशकी राजनीतिक स्थिति
२६.	९ अप्रैल ४२	ब्रिटिश योजनायें और हम
२७	३० अप्रैल ४२	समझौतेका प्रयत्न असफल
२८.	३१ मई ४२	अहिंसासे ही देशकी रक्षा
२९	२० अगस्त ४२	अन्नकी मँहगाई
३०	८ अक्टूबर ४२	अन्नकी मँहगाई
३१	१० दिसम्बर ४२	धर्म और देश
३२	११ फरवरी ४३	पाकिस्तान या गुलामी
३३.	२४ मार्च ५६	हिन्दी और सस्कृत
३४	२२ मई ५८	नेहरुजीकी उद्विग्नता
३५	७ नवम्बर ५८	डाँवाडोलराजनीतिक परिस्थिति
३६	१९ नवम्बर ५८	जुग जुग जियो जवाहरलाल
३७	११ मई ६०	सतविनोवाका नया प्रयोग
३८	२ जून ६०	नये प्रयोगकी सफलता
३९	२ नवम्बर ६१	अतिवृष्टिसे हाहाकार
४०	८ फरवरी ६२	अष्टग्रही योगमें भय क्यो ?
४१	२२ फरवरी ६२	गोवा अभियान और अहिंसा
४२	१५ मार्च ६२	भारतके चुनावोपर एक दृष्टि
४३	१५ नवम्बर ६२	देशपर सकट
४४	२२ नवम्बर ६२	भारतीयता जाग उठी
४५	३ जनवरी ६३	अहिंसक प्रतिरोधका प्रश्न
४६	१८ अप्रैल ६३	राष्ट्रपतिका भाषण एक चेतावनी
४७	२३ मई ६३	राजनीतिक उथलपुथल
४८	१८ जुलाई ६३	क्या देशमें भ्रष्टाचार है ?
४९	४ जून ६४	राष्ट्रके महान पुत्रका देहावसान
५०	१८ जून ६४	नेहरूके उत्तराधिकारीका अभिनन्दन
५१	१९ नवम्बर ६४	पण्डित नेहरू और उसके बाद
५२	८ फरवरी ६६	राष्ट्रपर पुन सकट
५३	२९ मई ६९	राष्ट्रपतिकी स्वर्गयात्रा
५४	१३ अगस्त ७०	स्वतत्रताके २३ वर्षोंमें
५५	२२-२-७१	बगलादेशमे खूनकी होली
५६	३ जून ७१	बगलादेश और पाकिस्तान
५७	३ मार्च ७१	देशपर एक दृष्टि
५८	२४ मार्च ७७	जनतंत्र जयवंत हो
५९	१७ जनवरी ८०	मदर टैरेसाको नोबुल पुरस्कार
६०	१ दिसम्बर ६६	देशदशा
६१	२२ जून ६७	मुस्लिम यहूदी संघर्ष

(य) व्यक्तिविशेष

१.	१३-१२-५६	साहित्य तपस्वी मुख्त्यारसाहब
२.	१२-२-५९	सूर्य अस्त हो गया (सरसेठ हुकमचन्द्र)
३.	१९-५-६०	मेरे माता-पिता
४.	२० अक्टूबर ६०	दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी
५	१६-३-६१	गुरुवर गोपालदासजी
६	१८-५-६१	दो महापुरुषोंकी शताब्दी
७.	१४-४-६१	सूर्य अस्त हो गया
८.	१-२-६२	स्व० पं० लालारामजी
९	४-६-६४	राष्ट्र के महान पुत्रका अवसान (नेहरूजी)
१०	८-२-६६	स्व० बाबू छोटेलालजी
११	३०-५-६८	स्व० प० अजितकुमारजी जैन
१२	९-११-६९	साहित्य महारथीकी स्वर्गयात्रा
१३.	१३-२-६९	स्व० प० चैनसुखदासजी
१४	२-२-६९	एक विभूति उठ गई
१५	३-२-७२	स्व० आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी
१६	४-५-७२	स्व० प० मिलापचन्द कटारया
१७	१८-८-७७	पूज्य महिलारत्नका वियोग
१८	१०-९-७७	दि० जैन समाजरूपी प्रासाद कलशविहीन
१९	८-१-६१	आचार्य तुलसीगणिका सघ और उसके कार्य
२०	२३-१०-७५	डॉ० उपाध्ये भी स्वर्गवासी हुए
२१	१०-५-७८	प्रज्ञाचक्षु मनीषीका स्वर्गवास
२२	२५-५-७८	छोटे वर्णीजी
२३	१८-१०-७९	स्व० प० राजेन्द्रकुमारजी
२४	७-२-८०	एक महान् विद्वान का वियोग
२५	२०-२-७५	एक नये नक्षत्रका उदय (विद्यासागरजी)

(र) लोकप्रिय लेख

१-२०.	जैनसंदेश ४०-४१	हमारी तीर्थयात्रा, २० लेख
२१	स्वर्ण जयती सस्मरण, १९५५	स्याद्वाद महा०का प्रारम्भिक इतिहास
२२-२३	जैनसंदेश, १४-२१ जून ५६	विज्ञान तथा अन्धविश्वास, १, २
२४	,, ५ जुलाई ५६	अपराध कारण और निवारण
२५	,, १२ जुलाई ५६	बिक्रीकर
२६	चिदानन्द स्मृतिग्रन्थ, १९७४	सम्यग्दर्शन का महत्व
२७	महावीर स्मृतिग्रन्थ, १९७५	महावीर का दर्शन और धर्म
२८	महासमिति बुलेटिन, १० ७९	श्रमणपरम्पराकी प्राचीनता
२९	तीर्थंकर, नवं०-दि० १९७८	णमो लोए सव्वसाहूण

(ल) शोध-लेख

१	आचार्य यतिवृषभ और उनकी कृतियाँ,	१, २८ (जै० म० शो०)
२	कुछ आचार्योंके कालक्रम पर विचार	५, १७७ ,,
३	भट्टारक ज्ञानभूषण नामके दो ग्रन्थकार	७, २२८ ,,
४,	यशस्तिलकमें आगत कुछ भौगोलिक नाम	८, २७६ ,,

५ विचारणीय ऐतिहासिक प्रसंग ४, १५१ (जै० स० शो०)
६ सिद्धसेन गणिकी टीका पर तत्त्वार्थवार्तिकका प्रभाव १०, ३३८ ,,
७ आचार्य सोमदेव और उनका युग १६, १७७ ,,
८ स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके अकलंक सरस्वती भवनमें वर्तमान कुछ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी लेखक प्रशस्तियाँ १४, ११८ ,,
९ भगवान् पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता १२, ५४ ,,
१० स्व० श्री नाथूराम प्रेमीके छह पत्र १५, १६० ,,
११ कर्मपथ हिन्दी ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ २२, ४६ ,,
१२ १२-१३ वी सदीके कुछ ग्रन्थकार २५, ८ ,,
१३ द्रव्यसग्रह उसके कर्ता और टीकाकार २५, ८ ,,
१४ प० आशाधरजीका वैदुष्य २१, १० ,,
१५ श्रीपालमत ढढ्ढाकृत पञ्चसग्रह २६, ६३ ,,
१६ अनेकान्त और स्याद्वाद ३८, ५६४ ,,
१७ भद्रबाहु श्रुतकेवली—विजय राजेन्द्र सूरिस्मा० २०१३
१८ स्याद्वाद और सप्तभग , प्रेमी अभि० ग्रन्थ, १९४६
१९ श्रुतज्ञान और उसका वर्ण्य विषय, बरैया अभि० ग्रन्थ, १९६७
२० शब्दनय, वर्णी अभि० ग्रन्थ, १४७६
२१ सिद्धसेनका अभेदवाद और दिगम्बर परम्परा, छोटेलाल स्मृतिग्रन्थ, १९६७
२२ जैन दर्शन, चन्दाबाई अभि० ग्रन्थ, १९५४
२३ अनेकान्तवाद, कानजी अभि० ग्रन्थ, १९६४
२४ भारतीय आचार मे प्राकृत वाड्मयका योगदान २६, २, १७-३५ (जैनसि० भास्कर)
२५ अनेकान्त और स्याद्वाद २९ किरण १, ८-१३
२६ आचार्य कुन्दकुन्द कृत परिकर्म २३, २, १५-२२
२७ एक साम्प्रदायिक चित्रण १५, १, ६
२८ जैनधर्म में योग ३, २,
२९ दिगम्बर जैन ग्रन्थो की एक बृहत् सूची, ५, ४, २१९
३० देवकुमारजी की दानशीलता १८, १, ७
३१. धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति, स्वरूप और व्याख्या २७, १, २, १-७७
३२ नय विवरणके सम्बन्धमें ६, २, १२३
३३. पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद ६, ४, २१६
३४ भट्टाकलकका समय ४, ३, १६५
३५. आचार्य शाकटायनका काल-निर्णय जैन, स० २-९-४३
३६ सयत शब्द, जैन सदेश, २१-९-४०
३७-४० जैन आम्नाय १, २, ३, ४, जैन सदेश
४१ आचार्य अमृतचन्द्रके एक नवीन ग्रन्थकी उपलब्धि लघुतत्व स्फोट, जैन सदेश, १-७-७६

पण्डितजीकी कृतियाँ

(अ) मौलिक कृतियाँ

नाम	पृष्ठ संख्या	प्रकाशक	प्रकाशनवर्ष
१. जैनधर्म	४३६	जैनसंघ, मथुरा	१९४४
२ जैन न्याय	३६४	भारतीय ज्ञानपीठ	१९६८
३. जैन साहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिका	७१२	वर्णी ग्रन्थमाला	वि०सं० २४८९
४. जैन साहित्यका इतिहास—१	४९८	,,	,, २५०२
५ जैन साहित्यका इतिहास—२	३९६	,,	,, २५०२
६ नमस्कार महामंत्र	९६	जैनसंघ	
७ भगवान ऋषभदेव	१२३	,,	,, २४७९
८ करणानुयोग प्रवेशिका	—	—	—
९ चरणानुयोग प्रवेशिका	—	—	—
१० तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी टीका	२५६	भारतवर्षीय दि० जैनसंघ चौरासी मथुरा	प्रथम २४६६
		जैनसंघ	१९५२
११ दक्षिण भारतमें जैनधर्म	—	—	—
१२. प्रमाणनय निक्षेप	६३	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट	१९७०
१३ भगवान महावीरका अचेलक धर्म	—	—	—

(ब) संपादित व अनुवादित कृतियाँ

१४. जयधवला खण्ड १–१३ (संपादन व सहसंपादन) जैनसंघ

(१) १९७४, (२) १९४८, (३) ५४, (४–५) ५६, (६–७) ५८,
(८) ६१, (९) ६३, (१०) ६७, (११) ६८, (१२) ७१, (१३) ७२

नाम	पृष्ठ संख्या	प्रकाशक	प्रकाशनवर्ष
१५. सत्प्ररूपणा सूत्र		वर्णी ग्रन्थमाला	१९७१
१६ नयचक्र	२७६	भारतीय ज्ञानपीठ	
१७ सागारधर्मामृत		,,	
१८ अनागारधर्मामृत	७३४	,,	१९७७
१९. गोम्मटसार जीवकाण्ड	५०४	,,	१९७८
२० गोम्मटसार कर्मकाण्ड		,,	
२१. उपासकाध्ययन	५३९	,,	१९६४
२२ समणसुत्तका हिन्दी गद्यानुवाद		सर्वसेवासंघ	१९७६
२३. न्यायकुमुदचन्द्रकी भूमिका		भारतीय ज्ञानपीठ	१९३८
२४ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	४९१	परमश्रुतप्रभावकमण्डल अगास	१९६०
२५ भगवती आराधना—१		जै० सं० संरक्षक संघ, शोलापुर	
२६ भगवती आराधना—२	९५१	,, ,,	१९७८
२७ कुन्दकुन्द प्राभृत-संग्रह	३२८	,, ,,	१९६०
२८ भगवान महावीरका जीवनचरित	१६	वीर सेवा० मं० ट्रस्ट	१९७५
२९. कल्याणमन्दिर	२२४	श्री मामचन्द्र जैन ट्रस्टी	१९७०

जैनधर्म : एक समीक्षा

डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर, जबलपुर

प्राचीन समयमें धर्म और दर्शनके विद्वान् आचार्योंसे अपेक्षा की जाती थी कि वे स्वसमय और पर समय (अपने सम्प्रदायके शास्त्र और दूसरे सम्प्रदायोके शास्त्रो) के ज्ञाता हो। परन्तु दूसरे सम्प्रदायोके ग्रन्थोका अध्ययन प्राय खण्डन करनेकी दृष्टिसे ही किया जाता था। उसमें वस्तुनिष्ठ दृष्टि प्राय नहीं होती थी। उन्नीसवी शताब्दीमें पाश्चात्य विद्वानोंने भारतीय साहित्यका जो अध्ययन किया, उसमें खण्डनकी दृष्टि प्राय नही थी। अत धर्म और दर्शनके अध्ययनमें स्वस्थ निष्पक्षताका उदय हुआ। उनकी प्रेरणासे भारतीय विद्वानोमें भी एक दूसरेके मतोको सहानुभूतिसे समझनेकी भावना उत्पन्न हुई। फलस्वरूप ऐसे ग्रन्थोकी आवश्यकता अनुभव हुई जिनमें विभिन्न परम्पराओके आधारभूत सिद्धान्तोंका परिचय सरल भाषामें प्राप्त हो। जैन विद्याके क्षेत्रमें जार्ज बूलरका 'दि सेक्ट आफ दि जैनाज', श्रीमती स्टीवेन्सनका 'दि हार्ट आफ जैनिज्म', श्री पूरणचन्द्र नाहरका 'दि एपी टोम आफ जैनिज्म' और जुगमन्दरलाल जैनीका 'आउट लाइन्स आफ जैनिज्म' नामक ग्रन्थोका इस दृष्टिसे उल्लेखनीय स्थान है। ये सब अंग्रेजीमें थे, अत बहुसख्यक भारतीय अध्येताओके लिए दुर्गम थे। साथ ही इनमें पहले तीन मुख्यत श्वेताम्बर सम्प्रदायसे प्राप्त सामग्री तक सीमित थे और चौथा केवल दर्शन पक्षको प्रस्तुत करता था। अत राष्ट्रभाषामें जैन परम्पराके विविध पक्षोको सरल रूपमे प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता बनी रही। श्रद्धेय प० कैलाशचन्द्रजीका 'जैनधर्म' इस आवश्यकताकी पूर्तिका सफल प्रयास सिद्ध हुआ।

सन् १९४८ में इसका पहला सस्करण स्व० सम्पूर्णानन्दजीके प्राक्कथनके साथ प्रकाशित हुआ और उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उज्जैनके श्री लालचन्द्रजी सेठीने और फिर उत्तर प्रदेश सरकारने उसे पुरस्कृत किया। अनेक महाविद्यालयो और विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रममें उसे स्थान मिला। दो वर्षोंमें ही उसका दूसरा परिवर्तित सस्करण प्रकाशित हुआ और वह भी शीघ्र ही समाप्त होनेसे पाँच वर्ष बाद तीसरा सशोधित सस्करण निकला। समीक्षकोके सुझावोपर पूरा ध्यान देकर पण्डितजीने प्रत्येक सस्करणमें ग्रन्थके स्वरूपको परिश्रम पूर्वक निखारा। सन् १९६३ मे शोलापुरकी जीवराज जैन ग्रन्थमालाने श्री प्रेमचन्द्र देवचन्द्र शाह द्वारा किया गया इसका मराठी अनुवाद प्रकाशित किया तथा अगले ही वर्ष इसी ग्रन्थमालामें श्री अण्णाराम मिर्जी द्वारा किया गया कन्नड अनुवाद भी प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थमें लगभग चार सौ पृष्ठोमे जैन परम्पराका सर्वांगीण परिचय मिल जाता है। पहले अध्यायमे जैनधर्मके प्रवर्तक तीर्थंकरोके परिचयके साथ भारतके विभिन्न प्रदेशोमे जैन परम्पराकी उन्नतिका सक्षिप्त, साधार विवरण है। दूसरे अध्यायमे दर्शनके क्षेत्रमें जैनोके विशिष्ट योगदान-अनेकान्तवादके परिचयके साथ द्रव्य, तत्त्व, कर्म और ईश्वर सम्बन्धी विचारोका विवेचन है। तीसरे अध्यायमे गृहस्थों और मुनियोके आचरणके नियमोके विवेचनके साथ गुणस्थानोकी चर्चा है। चौथे अध्यायमें दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनो सम्प्रदायोके साहित्यका सक्षिप्त विवरण देते हुए पच्चीस प्रमुख आचार्योंका परिचय दिया गया है। पाँचवें अध्यायमे चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्यकलाके क्षेत्रमें जैनोकी उपलब्धियोकी चर्चा है। छठे अध्यायमें जैनोंके विभिन्न सम्प्रदायोंका परिचय है। सातवें अध्यायमे प्रमुख जैन वीरोके परिचयके बाद जैन पर्वों और तीर्थक्षेत्रोका विवरण है तथा अन्य सम्प्रदायोमें जैनोके विषयमें प्रचलित भ्रान्त धारणाओको दूर करनेका प्रयत्न भी किया है। विभिन्न प्रसिद्ध ग्रन्थोके कुछ भावपूर्ण सुभाषित वचनोंसे इस अध्ययन और ग्रन्थको समाप्त किया गया है। प्रत्येक अध्यायमें आधारभूत प्राकृत और सस्कृत उद्धरणोंके अतिरिक्त

पाश्चात्य और जैनेतर भारतीय पण्डितोंके अभिमतोके सन्दर्भ भी दिये गये है जिनसे विस्तृत अध्ययनके इच्छुक लाभ उठा सकते है।

प्राचीन भारतीय इतिहासकी सामग्री दो शताब्दियोंके विद्वानोंके परिश्रमके बाद भी अनेक विषयोमें परिपूर्ण नही हो पायी है। अत अनेक आचार्यों, ग्रन्थो और क्षेत्रोके सम्प्रदाय और समयके विषयमें परस्पर-विरोधी विवरण विभिन्न ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसलिए सम्भव है कि इस ग्रन्थके कुछ विवरण भी मतभेदका विषय बनें। परन्तु इसमें सन्देह नही कि विद्वान लेखकने यथासम्भव निष्पक्ष रूपसे सब उपलब्ध सामग्रीका उपयोग किया ह। न्यायकुमुदचन्द्र और जयधवला जैसे कठिन ग्रन्थोंके सम्पादनमें अनेक वर्ष व्यतीत करनेके बाद भी, पण्डितजीने इस ग्रन्थमें अत्यन्त सुबोध भाषाका प्रयोग किया हैं, यह भी उनकी विशेष सफलता हैं। वे एक प्रथितयश वक्ता है, वक्तृत्वके आवश्यक गुणोमें सुबोधताका स्थान पहला हैं। पण्डितजीके इस ग्रन्थको पढ़ते समय अनेक बार अच्छा भाषण सुनने जैसा आनन्दका अनुभव होता है।

'जैनधर्म' एक ऐसा ग्रन्थ है जो जैन और जैनेतर—दोनोके लिये उपयोगी है। वर्तमान समयके जैन युवक जिन्हें प्राचीन भाषाओंके अध्ययनका अवसर नही मिलता या उसमे रुचि नही होती, इसके द्वारा विशाल प्राचीन साहित्यके सारभागसे परिचित हो सकते है और अधिक अध्ययनके लिये प्रेरित हो सकते है। जैनेतर विद्वान भी इस ग्रन्थ द्वारा जैन परम्पराके विविध अगोका साधार परिचय सक्षिप्त समयमे प्राप्त कर सकते है। विभिन्न सम्प्रदायोमें सौमनस्यके साथ परस्पर परिचय बढानेकी दिशामे इस ग्रन्थकी बडी उपयोगिता है।

●

जैन साहित्यका इतिहास : एक समीक्षा

महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषण, उज्जैन

जैन साहित्यके इतिहासके लेखनकी ओर जैन विद्याके पण्डितोने उतना ध्यान नहीं दिया जितना आवश्यक था। यही कारण है कि भारतीय साहित्यमे जैन साहित्यका अतिशय महत्त्व होते हुए भी इसके प्रति भारतीय विद्याके विद्वानोका झुकाव कम रहा है।

सबसे पहले जर्मन भारतविद् डॉ० विण्टरनित्सने जर्मन भाषामे भारतीय भाषाका इतिहास लिखा जिसके एक सक्षिप्त अध्यायमे जैन साहित्यका विवरण है। इस ग्रन्थका अग्रेजी तथा हिन्दी भाषाओमे अनुवाद हुआ है। श्री मोहनचन्द्र दलीचन्द देसाईने गुजराती भाषामे 'जैन साहित्य नो इतिहास' नामक ग्रन्थ लिखा जो जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स, बम्बईसे प्रकाशित है। आजकल कुछ जैन साहित्यके और भी इतिहास प्रकाशित हुए हैं। किन्तु इन सभी ग्रन्थोमे श्वेताम्बर जैन साहित्यको ही प्रधान रूपमे अपनाया गया है। अभी तक दिगम्बर जैन साहित्यका कोई क्रमबद्ध इतिहास नही था।

प० कैलाशचन्द्रजीने लिखा है, "दिगम्बर जैन समाजमें सर्वप्रथम इस विषयकी ओर प० नाथूराम प्रेमी तथा प० जुगलकिशोरजी मुख्तारका ध्यान गया। इन दोनों आदरणीय व्यक्तियोने अपने पुरुषार्थ और लगनके बलपर अनेक जैनाचार्यो और जैन ग्रन्थोके इतिवृत्तोंको खोजकर जनताके सामने रखा। आज के जैन विद्वानोंमेंसे यदि किन्हीको इतिहासके प्रति अभिरुचि है तो, उसका श्रेय इन्ही दोनो विद्वानोंको है। कमसे कम मेरी अभिरुचि तो इन्हीके लेखोंसे प्रभावित होकर इस विषयकी ओर आकृष्ट हुई।"[1]

1 प० कैलाशचन्द्र शास्त्री जैन साहित्यका इतिहास—पूर्व पीठिका, लेखक—के दो शब्द, पृष्ठ १५।

हमें यह सूचित करते हुए प्रसन्नता और गौरवका अनुभव होता है कि जैनधर्म और दर्शनके प्रसिद्ध विद्वान पण्डितप्रवर श्री कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने दि० जैन साहित्यका इतिहास तीन भागोमें लिखकर उस कमीको बहुत कुछ पूरा किया। ये तीन भाग हैं (१) जैन साहित्यका इतिहास-पूर्वपीठिका, (२) जैन साहित्यका इतिहास-प्रथम भाग तथा (३) जैन साहित्यका इतिहास द्वितीय भाग। ये तीनो ग्रन्थ श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालासे क्रमश १९६३, १९७५ तथा १९७६ में प्रकाशित हुए हैं।

जैन साहित्यका इतिहास पूर्वपीठिका विवरण

सन् १९५४ मे जैन साहित्यके इतिहासको लिखे जानेकी एक रूप-रेखा स्व० प० महेन्द्र कुमारजी तथा प० फूलचन्द्रजी शास्त्रीके साथ प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने तैयार की थी जो पुस्तिकाके रूपमे प्रकाशित कर दी गयी थी। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी रूपरेखाके अनुसार लिखा गया है। इसका खोजपूर्ण प्राक्कथन भारतीय विद्याओके प्रसिद्ध विद्वान डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने लिखा है। इस ग्रन्थमें जैनधर्मकी मूल स्थापनासे लेकर सघभेद तकके सुदीर्घ काल तकका इतिहास लिखा गया है। इसमे श्रमण-परम्पराका इस देशमे जिस प्रकार विकास हुआ, उसका विवेचन किया गया है।

डॉ० अग्रवालने अपने 'प्राक्कथन'मे जिन महत्त्वपूर्ण तथ्योकी ओर सकेत किया है, वे इस प्रकार हैं

१ जैनधर्मकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

२ भागवतमे इस बातका उल्लेख है कि महायोगी भरत, ऋषभके शतपुत्रोमें जेष्ठ थे और उन्हींके नामसे यह देश भारत वर्ष कहलाया।

३ जैन और कुछ जैनेतर विद्वान भी सिन्धुघाटी सभ्यताकी पुरुषमूर्तिकी नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्राके आधारपर उसे ऐसी प्रतिमा समझते है जिसका सम्बन्ध किसी तीर्थंकरसे रहा है।

४ इस देशमे प्रवृत्ति और निवृत्तिकी दो परम्परायें ऋषभदेवके समयमे प्रचलित थी। निवृत्ति परम्पराको मुनि परम्परा कहा जाता था। ऋग्वेद (१०-१७) में सात वातरशना मुनियोका वर्णन है। वातरशनाका वही अर्थ है जो दिगम्बरका है।

५ श्रमण परम्पराके कारण ब्राह्मण धर्ममे वानप्रस्थ और सन्यासको प्रश्रय मिला।

पूरे ग्रन्थको चार खण्डोमे विभाजित किया गया है (१) जैनधर्मके इतिहासकी खोज, (२) प्राचीन स्थितिका अन्वेषण, (३) ऐतिहासिक युगमें तथा (४) श्रुतावतार।

'जैन धर्मके इतिहासकी खोज' नामक खण्डमें पाश्चात्य विद्वानोमे जैन धर्मके सम्बन्धमे मतभेद, याकोबी और बूहलरकी खोजें तथा जैन धर्मकी प्राचीनतापर प्रकाश डाला गया है। पाश्चात्य विद्वानोमे कोलबुक, स्टीवेन्सन और थामसका विश्वास था कि बुद्ध, जैन धर्मके सस्थापकका विद्रोही शिष्य था। किन्तु उससे भिन्न मत एच० एन० विलसन, वेबर और लार्सनका था। उनके मतानुसार जैनधर्म बौद्ध धर्मकी एक प्राचीन शाखा थी।

'प्राचीन स्थितिका अन्वेषण' नामक खण्डमें वेद, आरण्यक, उपनिषद् और सिन्धुघाटीकी सभ्यतामें श्रमण-सस्कृतिके तत्त्वोंका अन्वेषण किया गया है जिसमें ऋग्वेदमें प्राप्त पणि, वातरशना (दिगम्बर), शिश्नदेव, हिरण्यगर्भ (जिसकी तुलना ऋषभदेवसे की गयी है) आदिकी समीक्षा की गयी है। डॉ० राधाकृष्णन्के अनुसार वेदोमें ऋषभदेव आदि तीर्थंकरोके नाम पाये जाते हैं। भागवतमें ऋषभदेवका चरित्र वर्णित है। इस खण्डमें जैन पुराणोमें श्री कृष्ण, बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथकी ऐतिहासिकता, द्रविड़ सभ्यता और जैनधर्म आदिका विस्तारके साथ वर्णन है।

'ऐतिहासिक युग' नामक खण्डमें भगवान् पार्श्व एव महावीरके जीवनका सम्पूर्ण विवरण, भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त, अर्द्धफालक सम्प्रदाय, सघ भेदके मूल कारण वस्त्रपर विचार, गोशालकका जीवनवृत्त आदिका सविस्तार वर्णन है।

'श्रुतावतार' नामक खण्डमें, आगमसकलना, जैन आगम और दिगम्बर परम्परा, बारह अग, दृष्टिवाद अगका लोप, दृष्टिवादमें वर्णित विषय, ३६३ मत, श्वेताम्बर परम्परामें श्रुत भेद, एकादश अगोका परिचय, पूर्वोमे अंगोकी उत्पत्ति, उपाग, छेदसूत्र, मूलसूत्र तथा पइन्ना आदिका वर्णन है।

इस प्रकार जैन साहित्यके इतिहासकी पूर्व पीठिकामें जैन साहित्यका निर्माण जिस पृष्ठभूमिपर हुआ है, उसका चित्रण करनेके लिये जनधर्मके प्राग् इतिहासको खोजनेका प्रयत्न किया गया है। जैन साहित्यके इतिहासका चित्रण तो आगेके दो भागोमें है।

जैन साहित्यका इतिहास—प्रथम भाग

इस ग्रन्थमें दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थोका विस्तारके साथ परिचय दिया गया है। यह ग्रन्थ दो भागोमें विभक्त है। प्रथम भागके चार अध्याय है और द्वितीय भागको पचम अध्यायके रूपमें निबद्ध किया गया है।

प्रथम अध्यायके तीन परिच्छेदमेसे प्रथम परिच्छेदमे 'कसाय पाहुड', उसके रचयिता आचार्य गुणधर, उनके उत्तराधिकारी आर्यमक्षु और नागहस्ती, कसायपाहुडकी गाथा सख्या, शैली, विषय परिचय तथा कर्म सिद्धान्तका वर्णन है।

द्वितीय परिच्छेदमें छक्खण्डागम (षट्खण्डागम), उसका रचनाकाल, रचनास्थान, रचयिता आचार्य पुष्पदन्त और भूतबली, ग्रन्थका नाम सतकर्म प्राभृत, तीर्थंकर महावीरकी वाणीसे इसका सम्बन्ध और स्रोतका विवरण है। इस ग्रन्थमें निम्न पाँच खण्डोका विषय परिचय दिया गया है

१ जीवट्ठाण, २ खुद्दाबन्ध, ३ बन्धसामित्तविचय, ४ वेदनाखण्ड तथा ५ वर्गणाखण्ड।

तृतीय परिच्छेदमें महाबन्ध नामक छठ खण्डका विस्तारके साथ परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्यायमें चूर्णि साहित्यका वर्णन है। दिगम्बर परम्परामें मूल सिद्धान्त ग्रन्थोके कुछ ही समय पश्चात् चूर्णि साहित्य लिखा गया। बीज पदरूप गाथा सूत्रोपर ये चूर्णिसूत्र, वृत्तिका कार्य करते हुए भी अनेक नये तथ्योको सूत्र रूपमें प्रस्तुत करते है। उदाहरणार्थ, 'कसाय पाहुड', पर आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्र लिखे हैं। इस अध्यायमें चूर्णिसूत्रोकी रचना और व्याख्यान शैली, उनका ऐतिहासिक महत्त्व, यतिवृषभकी रचनायें, चूर्णिसूत्रोंकी विषयवस्तु आदिपर अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्यायके दो परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें आचार्य वीरसेन द्वारा रचित छह खण्डोपर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण सस्कृतमिश्रित प्राकृत भाषामे धवला नामक टीकाका विस्तारके साथ वर्णन है। टीकाका नामकरण, महत्त्व, प्रामाणिकता, व्याख्यान शैली, विषय-परिचय, आचर्य वीरसेनका परिचय, उनका समय और उनकी रचनायें आदिका इसमें समहार है। द्वितीय परिच्छेदमें जयधवला नामक टीकाका विवरण है। यह टीका धवला टीकाके पश्चात् महत्त्वपूर्ण टीका है। यह टीका कसायपाहुड पर लिखी गई है और इसके टीकाकार हैं आचार्य वीरसेन और उनके योग्य शिष्य आचार्य जिनसेन। जयधवला टीकाको साठ हजार श्लोकप्रमाण बतलाया गया है। उसे तीन स्कधोंमें विभाजित किया गया है। प्रदेश विभक्ति पर्यन्त प्रथम स्कन्ध, सक्रम, उदय और उपयोग पर्यन्त द्वितीय स्कन्ध तथा शेष भाग तृतीय स्कन्ध।

तृतीय परिच्छेदमें छक्खंडागमकी अन्य टीकाओका विवरण है। वीरसेन स्वामीकी प्रसिद्ध धवला टीकाके अतिरिक्त छक्खंडागम पर अन्य टीका भी लिखी गई। कुन्द-कुन्दने परिकर्म टीका, शामकुण्डने

पद्धति टीका, तुम्बलूराचार्यने चूडामणि टीका, बप्पदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति और सुप्रसिद्ध तार्किक समन्तभद्रने संस्कृत टीका लिखी है।

चतुर्थ अध्यायमें अन्य कर्म साहित्यका वर्णन है। छक्खंडागम, कसायपाहुड आदि मूल आगम ग्रन्थोंके अतिरिक्त कर्मविषयक अन्य प्राचीन साहित्य भी उपलब्ध है। यह साहित्य आगमानुसारी है और इसका रचनाकाल विक्रमकी पाँचवी शताब्दीसे लेकर नवम शताब्दी तकका है। इस अध्यायमें प्राचीन कर्म साहित्यका इतिहास प्रस्तुत है। यहाँपर कर्म प्रकृति, बृहत्कर्मप्रकृति, शतक चूर्णि सित्तरी, कर्मस्तव, प्राकृत पंचसंग्रह आदि ग्रन्थोंका विचार किया गया है।

इस ग्रन्थके द्वितीय भाग रूप पंचम अध्यायमें उत्तरकालीन कर्मसाहित्यपर विचार किया गया है जो इस प्रकार है लक्ष्मणसुत डड्ढा कृत पंचसंग्रह, अमितगतिकृत संस्कृतपंचसंग्रह, विक्रमकी ११वी शताब्दीके दक्षिणके आचार्य नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार, (दो भाग जीवकाण्ड तथा कर्मकाण्ड) तथा लब्धिसार क्षपणा सार, देवसेनकृत भावसंग्रह, गोविन्दाचार्य रचित कर्मस्तववृत्ति जिनवल्लभगणि रचित षड्शीति, देवेन्द्रसूरि रचित नवीन कर्मग्रन्थ (कर्म विपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक), श्रुतमुनिकी रचनायें भावत्रिभंगी तथा आस्रवत्रिभंगी, पंचसंग्रहकी प्राकृत टीका, सिद्धान्तसार, सकल कीर्तिका कर्मविपाक आदि।

जैन साहित्यका इतिहास द्वितीय भाग

इस ग्रन्थमे भूगोल, खगोल तथा द्रव्यानुयोग (अध्यात्म और तत्त्वार्थ) विषयक साहित्यका इतिहास है। इसे पाँच अध्यायोमे विभक्त किया गया है। प्रथम अध्यायमे भूगोल-खगोल विषयक साहित्य, द्वितीय अध्यायमें द्रव्यानुयोग (अध्यात्म) विषयक मूल साहित्य, तृतीय अध्यायमे अध्यात्म विषयक टीका साहित्य, चतुर्थ अध्यायमे तत्त्वार्थ विषयक मूल साहित्य तथा पंचम अध्यायमे तत्त्वार्थ विषयक टीका साहित्यका विस्तारके साथ वर्णन है।

भूगोल-खगोल विषयक साहित्यमे तिलोयपण्णत्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, बृहत्क्षेत्र समास, बृहत्संग्रणी, नेमिचन्द्रकृत त्रिलोकसार, माधवचन्द्र त्रैविद्यकृत त्रिलोकसार टीका, जम्बूदीप पण्णत्तिसंग्रह, सिंहसूरिरचित संस्कृतलोकविभाग, तथा प्रवचनसारोद्धारका वर्णन है।

द्रव्यानुयोग (अध्यात्म) विषयक साहित्यमें आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी रचनायें—दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत, सूत्रप्राभृत, बोधप्राभृत, रयणसार, बारह अणुवेक्खा, समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और नियमसार, पूज्यपाद देवनन्दि और उनकी रचनायें—इष्टोपदेश और समाधितंत्र, जो-इन्दु योगीन्दु और उनकी रचनायें—परमात्मप्रकाश तथा योगसारका वर्णन है।

अध्यात्म विषयक टीका साहित्यमे, टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि और उनकी रचनाएँ—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसार, समयसार-टीका (आत्मख्याति), प्रवचनसार-टीका (तत्वदीपिका तथा पञ्चास्तिकाय-टीका (तत्वप्रदीपिका-वृत्ति), पद्मनन्दिकृत निश्चयपञ्चाशत्, टीकाकार जयसेन और कुन्दकुन्दके समयसार तथा पञ्चास्तिकायपर रचित उनकी टीकाये, प्रभाचन्द्रकृत समयसार टीका, टीकाकार पद्मप्रभ मलधारिदेव और कुन्दकुन्दके नियमसारपर उनकी टीका, आशाधरकी इष्टोपदेश टीका, टीकाकार ब्रह्मदेव और उनकी परमात्मप्रकाश-टीका तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका एवं अध्यात्मरसिक उपाध्याय यशोविजय तथा उनके अध्यात्मसार और अध्यात्मोपनिषद्का वर्णन है।

तत्त्वार्थ विषयक मूल साहित्यमें आचार्य कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार तथा नियमसार एवं आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थसूत्रका वर्णन है।

तत्त्वार्थविषयक टीका साहित्यमे आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि और उनकी रचनाएँ—जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैनाभिषेक, छन्द शास्त्र और समाधिशतक, आचार्य अकलकदेव और उनका तत्त्वार्थवार्तिक, आचार्य सिद्धसेनगणि और उनकी तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, मुनि नेमिचन्द्र रचित द्रव्यसग्रह, प्रभाचन्द्र कृत तत्त्वार्थवृत्तिटिप्पण, टीकात्रय (प्रवचनसार, पचास्तिकाय तथा समयसार पर टीकाएँ) और द्रव्यसग्रहवृत्ति, आचार्य नरेन्द्रसेन और उनका सिद्धान्तसार-संग्रह, बृहत्प्रभाचन्द्रकृत लघुतत्त्वार्थसूत्र, प्रभाचन्द्ररचित अर्हत्प्रवचन, माघनन्दि योगीन्द्र रचित शास्त्रसारसमुच्चय, ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसग्रह-टीका, भास्करनन्दि कृत तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति, तत्त्वार्थसूत्रकी दो अप्रकाशित टीकाये, तत्त्वार्थसूत्रकी हरिभद्रीय टीका तथा श्रुतसागर सूरि और तत्त्वार्थसूत्र पर उनकी श्रुतसागरीवृत्तिका विवरण है।

इस प्रकार तीन भागोमें निबद्ध जैन साहित्यके इस सम्पूर्ण इतिहासमे जैनधर्मकी मूल स्थापनासे लेकर सघभेद, जैनागम साहित्य—कसायपाहुड, षट्खण्डागम, महाबन्ध, चूर्णियाँ, उनकी धवला और जयधवला तथा अन्य टीकायें, अन्य कर्मसाहित्य, भूगोल, खगोल, द्रव्यानुयोग, तत्त्वार्थसाहित्य और उनकी टीकाओ—प्रटीकाओ पर विस्तारके साथ विचार किया गया है।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमे अभी तक यत्र-तत्र बिखरे हुए सूत्रोको जोडकर दिगम्बर जैन साहित्यका जो एक क्रमबद्ध इतिहास लगभग १६०० पृष्ठोमें प्रस्तुत किया गया है, वह इतिहास, साहित्य और शोध साहित्य-सभी दृष्टियोंसे अत्यन्त महनीय है। पण्डितजीकी भाषा अत्यन्त सरल एव शैली सीधी विषयका प्रतिपादन करनेवाली है। जो भी कथन इस ग्रन्थमे निबद्ध है, वे सभी अत्यन्त प्रामाणिक रूपसे प्रस्तुत किये गए हैं। यत्र-तत्र समान श्वेताम्बर साहित्यकी भी तुलना की गई है। ग्रन्थके अन्तमें अकारादि क्रमसे ग्रन्थ एव ग्रन्थकर्ताओंकी सूची भी दी गई है।

आदरणीय कैलाशचन्द्र शास्त्रीने प्रथमबार जो दि० जैन साहित्यका व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत किया है, उसके लिये वे न केवल जैन साहित्यके इतिहासमे प्रत्युत भारतीय साहित्यके इतिहासमे सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

●

जैन न्याय : एक समीक्षा

अन्यायी

सामान्यत पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीको धार्मिक विषयोका विद्वान् माना जाता है। उन्होने स्याद्वाद महाविद्यालयमें हमारे जैसे लोगोको धर्म या सिद्धान्त ग्रन्थ ही पढाये है। इसलिये उनके द्वारा रचित जैन न्याय देखकर प्रथम दृष्टिमें आश्चर्य ही होता है। इस ग्रन्थको पढनेसे पता चलता है कि वे वास्तवमे न्यायतीर्थ भी हैं। धार्मिक मान्यताओके लिए आगम या श्रद्धाका ही महत्त्व है। सम्भवत तर्क और बुद्धि इस क्षेत्रमे उतने उपयोगी प्रमाणित नही होते। लेकिन आगमोके सिद्धान्तोको बौद्धिक धरातल पर स्पष्टत सुविचरित करनेके लिए उत्तर भागमें न्यायशास्त्रका विकास किया गया है और उनपर पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। यह बौद्धिक ऊहापोह निश्चित ही सिद्धान्तोकी तुलनामें जटिल होता है और सामान्य जनकी समझमें कठिनाईसे ही आता है। यहाँ दृश्य जगतके माध्यमसे अदृश्य जगतकी धारणाये या तत्त्व सिद्ध किये जाते हैं। इस क्षेत्रमे अनुमान मुख्य योगदान करता है। यह मानवके अन्तर और बाह्यके सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षणकी प्रवृत्तिका द्योतक होता है। निर्दोष अनुमानके लिए यह प्रवृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म और तीक्ष्ण होनी चाहिये। जैन न्यायके रचयिताके नाते सर्वप्रथम हमें लेखककी इस वृत्तिका

परिचय तो मिलता ही है। इस ग्रन्थको पढ़नेसे पता चलता है कि लेखकने पूर्वाचार्यों द्वारा रचित न्याय-ग्रन्थोंका गम्भीर आलोडन किया है और उसे सहज बोधगम्य भाषामें विषयवार प्रस्तुत किया है। प० गोपीनाथ कविराजके अनुसार जैन न्यायके कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षोको समझनेके लिए यह ध्यानपूर्वक लिखी गई पुस्तक लेखकके तीक्ष्ण अध्ययन और सुस्पष्ट लेखनकी कलाका फल है।

प्रस्तुत पुस्तकके लिए लेखकको १९२१ में प्रेरणा मिली थी और तबसे विचारोको कार्यरूपमे परिणत करनेमें कोई पच्चीस वर्ष लग गये। न्यायके समान असामान्य विषयकी पुस्तकका प्रकाशन भी एक समस्या माननी चाहिये। यही कारण है कि उसे प्रकाशित होनेके भी बीस वर्षका समय लग गया। प्रसन्नता इस बातकी है कि इसे भारतीय ज्ञानपीठ जैसी विश्रुत सस्थाने १९६६ में प्रकाशित किया जिससे यह अधिकाधिक पाठकोकी दृष्टि और परखमें पहुँच सके। इस पुस्तकके पूरकके रूपमे दलसुख भाई मालवणियाका आगम युगका जैनदर्शन भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ जो प्रमाण-व्यवस्था युगकी पूर्ववर्ती न्यायतन्त्रकी मान्यताओको प्रस्तुत करता है।

सामान्यत जैनदर्शनके सम्बन्धमे अनेक ग्रन्थ हिन्दी और अग्रेजीमे लिखे गये है जिनमे लोक-व्यवस्था प्रमेयनिरूपण, कर्मसिद्धान्तके साथ-साथ प्रमाण-मीमासा भी दी गई है। लेकिन ऐसे ग्रन्थोमे प्रमाणोका सामान्य विवरण ही मिल सकता है, पूर्ण शास्त्रीय विवरण नही। यह ५०–१९४ पृष्ठोका सीमित रहे है। फलत जैन प्रमाण-मीमासाके सम्बन्धमे हिन्दीमें एक विशिष्ट ग्रन्थकी आवश्यकता रही है। प्रस्तुत ग्रन्थने उस कमीको पूरा किया है, यह नि सन्देह कहा जा सकता है। इसका ३०० पृष्ठीय विवरण जैन प्रमाणशास्त्रकी पुष्ट आधारशिलाका काम करता है।

विषय-विवरण

ग्रन्थके विवरणको विषयवार सात अध्यायोमें प्रस्तुत किया गया है १ पृष्ठभूमि, २ प्रमाण, ३ प्रमाणके भेद, ४ परोक्ष प्रमाण, ५ श्रुतके दो उपयोग, ६ प्रमाणका फल और ७ प्रमाणाभास। इनमें प्रथम चार अध्याय ग्रन्थका ८५ प्रतिशत कलेवर बनाते है। यहाँ ग्रन्थके प्रमुख पाँच अध्यायोकी विषय वस्तुपर विचार किया गया है। प्रथम अध्यायमें भारतीय और जैन न्यायका ऐतिहासिक विवरण देते हुए इसके प्रारम्भ व विकासमें आ० कुदकुद, उमास्वाति, स्वामी समतभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, पात्रकेसरी, भट्ट अकलक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, वादिदेव, हेमचन्द्र और यशोविजय सूरि आदि प्रमुख आचार्योंके योगदानका अनेक उद्धरणो सहित निरूपण किया गया है। यद्यपि उन्होने जैन दर्शनके समान जैन न्यायके विकासको चार काल कोटियोमें वर्गीकृत नही किया है, फिर भी उनके विवरणसे ये काल कोटियाँ स्वत स्पष्ट हो जाती है। आ० समन्तभद्र, अकलक और विद्यानन्दके योगदानको विशेषत निरूपित करते हुए प्रत्यक्ष परोक्षकी परिभाषा, प्रमाण लक्षण तथा प्रमाण फल आदिकी चर्चा करते हुए उनके न्याय साहित्य-का सक्षिप्त परिचय भी दिया है। इस अध्यायमें विभिन्न दर्शनोके मूल ग्रन्थो तथा सम्बन्धित साहित्यके ३५ सन्दर्भ दिये गये है। इनके आधारपर लेखककी गहन अध्ययनशीलता अध्ययनको सक्षिप्त व रोचक रूपमें प्रस्तुत करनेकी क्षमता एव तुलनात्मक अध्ययनकी प्रेरक प्रवृत्तिका सहज ही भान हो जाता है।

द्वितीय अध्यायमें ७२ सन्दर्भोंके माध्यमसे प्रमाण और प्रामाण्यपर विचार किया गया है। जैन दार्शनिको द्वारा ४-१२ वी० सदी तक दी गयी प्रमाणकी विभिन्न परिभाषाओका विवेचन करते हुए 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' की विशेष चर्चा की गयी है। अनधिगत और अपूर्व पदोके सम्बन्धमें विद्यमान मतवादोकी शास्त्रीय विवेचना करते हुए यह बताया गया है कि जहाँ दिगम्बर परम्परामें धारावाहिक ज्ञानकी प्रमाणताके विषयमें विवाद है, वही श्वेताम्बर परम्परा उसे प्रमाण ही मानती है।

वह गृहीतग्राहीके समान अगृहीतग्राहीको भी समान रूपमे प्रमाण मानती है। हेमचन्द्रकी प्रमाण-मीमांसाका विवरण इसका प्रमाण है। निष्कर्षतः उन्होने बताया कि 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्' का मत दोनों परम्पराओंमें स्वीकार्य है।

सैद्धान्तिक परिभाषाकी समीक्षाके उपरान्त अन्य दर्शनोंमे स्वीकृत प्रमाणकी परिभाषाकी भी शास्त्रीय समीक्षा की गयी है। इन्द्रियार्थ-सयोग स्वरूप सन्निकर्षको प्रमाण माननेवाले नैयायिकोंके मतकी समीक्षामे साधकतमत्वकी बात कहकर उसे शास्त्रीय अप्रमाणता दी गयी है। हा, सन्निकर्षको ज्ञानोत्पत्तिमे सहकारी कारण अवश्य स्वीकृत किया गया है। सन्निकर्षकी अप्रमाणिकताके विषयमे प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोके तर्कोंको लेखकने व्यवस्थित कर रोचक बना दिया है। इसी सन्दर्भमे चक्षुकी अप्राप्यकारित्व सम्बन्धी मान्यताको शका-समाधानके माध्यमसे निर्देशित किया गया है। इन प्रकरणोको पढकर बीसवी सदीका सामान्य शिक्षित व्यक्ति भी पदार्थके दर्शन और ज्ञानकी तत्कालीन प्रक्रियाको भलीभाँति समझ सकता है। इसी प्रकार ज्ञानकी उत्पत्तिमे कारकसाकल्य, इन्द्रियवृत्ति तथा ज्ञातृव्यापारकी साधकतमत्वताका प्रस्तुत अध्यायमे खण्डन किया गया है। ये सब साधक है, साधकतम नही। इसलिए इनको प्रमाणका मूल लक्षण नही माना जा सकता। ये ज्ञानकी प्रमाणतामे द्वितीयक साधकके रूपमे ही रहते है।

ज्ञानके प्रमाणको माननेवाले जैनोके लिए ज्ञान शब्दमे सम्यक् ज्ञान ही अभीष्ट होता है, मिथ्याज्ञान नही। मिथ्याज्ञानोमे विपर्ययज्ञानको लेकर सात प्रकारके ख्यातिवाद प्रचलित है जिनके उत्तरमे जैनोने इसे विपरीतार्थख्यातिवादके रूपमे मान्यता दी है। विभिन्न ख्यातिवादोके खण्डन-मण्डनको सामान्य जनको समझानेके लिए लेखकने शास्त्रीय मन्तव्योको अत्यन्त ही सरल भाषामे प्रस्तुत कर यह प्रदर्शित किया है कि न्यायके समान जटिल विषयको भी सरल भाषाके माध्यमसे समझा जा सकता है।

ज्ञानके प्रमाण माननेपर ज्ञानको अभिलक्षणित करना आवश्यक है। प्रमाण होनेके लिए ज्ञानको सर्वप्रथम सम्यग् होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह निराकार होता है, बौद्धोंके समान अर्थाकार नही। यह प्रतिनियत सामर्थ्यके कारण प्रतिनियत अर्थको जानता है। इसी प्रकार ज्ञान स्वसंवेदी होता है, मीमांसक और नैयायिकोके अनुसार परोक्ष या ज्ञानान्तरवेद्य नही। यह साख्योके समान जड भी नही होता, चेतन होता है।। ज्ञानमें प्रामाण्यकी उत्पत्ति परत ही होती है। स्वत नही। ज्ञानके इन अभिलक्षणोंसे सम्बन्धित तर्कोंको भी सहज भाषामें प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्यायमे ७५ सन्दर्भोंके माध्यमसे प्रमाणके भेदो तथा सम्बन्धित प्रकरणोके अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमाणका शास्त्रीय विवरण दिया गया है। यद्यपि स्थानाग, अनुयोगद्वार आदि ग्रन्थोमे व्यवसाय, हेतु तथा प्रमाणको पर्यायवाची मानकर नैयायिकादि सम्मत तीन या चार प्रमाणोका उल्लेख मिलता है, फिर भी पाच ज्ञानोको प्रमाण माननेकी प्रक्रियाका प्रारम्भ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमे ही मानना चाहिए। प्रमाणके भेदोकी इस ऐतिहासिकताके परिप्रेक्ष्यमें लेखकके 'प्रमाणकी चर्चा दार्शनिक युगकी देन है', कथनमे कुछ सशोधन अपेक्षित है। यही नही उमास्वातिने अपनी स्वतत्र बुद्धिका परिचय देते हुए पूर्वमे जैन ग्रन्थोमे वर्णित लौकिक परम्परामे परिभाषित प्रमाणोकी आगमिक परिभाषा दी है तथा पाच ज्ञानोको दो प्रमाणोंमे समाहित कर मति श्रुतको परोक्ष निरूपित किया। इससे दो प्रमुख समस्याएँ उठी जिनका समाधान कुछ अशोमें सिद्धसेनने और पूर्ण अशोमें अकलकदेवने किया। अकलकने स्पष्टत प्रत्यक्षको लौकिक और पारमार्थिक भेदोमें विभाजित कर भारतीय न्यायकी पारिभाषिक शब्दावलीमें जहाँ एकरूपता स्थापित की, वही स्मृति आदिको शब्द-ससर्गपूर्वक होनेपर परोक्षमें और अन्यथा लौकिक अनिन्द्रिय प्रत्यक्षमे समाहित किया। श्रुत तो परोक्ष है ही। इन्द्रियजन्य ज्ञानको उन्होने प्रत्यक्षमें ही समाहित कर दिया। यह पद्धति ही उत्तरवर्ती जैन न्यायविदोंने

अपरिवर्तित रूपसे अपनायी है। इस प्रकार ज्ञानको प्रमाण मानकर जैनोंने दो प्रमाणोंके अन्तर्गत प्राय उन सभी प्रमुख प्रमाणोंको मान्यता दी जो अन्य दार्शनिकोंने माने हैं। इस प्रकार जैन दार्शनिकों द्वारा सात प्रत्यक्ष और पाँच परोक्ष कुल बारह प्रमाण माने गये है। यही नही, जैन दार्शनिकोने उन दर्शनोंकी पर्याप्त समीक्षा की है जो इससे कम प्रमाण मानते हैं। साथ ही ऐसे मतोंकी भी परीक्षा की है जो अर्थापत्ति, अभाव आदि अतिरिक्त प्रमाणोको मानते हैं। इस परीक्षा और समीक्षाका लेखकने अच्छा विवरण प्रस्तुत किया हैं।

इस अध्यायमे प्रसगवश अन्य प्रकरण भी दिये गए हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्रिय प्रकरणमें नैयायिक सम्मत इन्द्रियोकी नितान्त पौद्गलिकताका खण्डन करते हुए भावेन्द्रिय रूप योग्यतापूर्वक शक्तिको उद्भासन, सर्वज्ञताकी सिद्धि तथा ईश्वरवादका खण्डन इनमे प्रमुख है। इन प्रकरणोका विवेचन मुख्यत न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा अष्टसहस्रीपर आधारित है। ज्ञानके प्रमाण माननेपर ज्ञानोत्पत्तिमे कारणभूत इन्द्रिय और मनके अतिरिक्त कुछ लोग पदार्थ और प्रकाशको भी इसमें कारण मानते हैं। लेकिन जैन उसे स्वीकार नही करते। इसमे सम्बन्धित तर्कवादका सक्षेपण भी यहाँ दिया गया है। प्रत्यक्ष प्रमाणके विवरणमें साव्यवहारिक प्रत्यक्षके अन्तर्गत मतिज्ञानके भेदोमें अवग्रहके विषयमे लेखकने दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओका सक्षेपण और विभेद प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार उन्होने दर्शन और अवग्रहसे सम्बन्धित अकलक और सिद्धसेनकी मान्यताओकी भी विवेचना की है। ये प्रकरण लेखककी उदार और तीक्ष्ण दृष्टिके द्योतक है। ऐसे सुक्ष्म विभेदोका ज्ञान गहन अध्येता ही कर सकता है। यही नहीं, उन्होने भावी अध्येताओके लिए इन प्रकरणोको गम्भीरतासे अध्ययन करनेका सुझाव भी दिया है क्योकि दोनो मान्यताओका अन्तर सूक्ष्म हैं।

परोक्ष प्रमाणकी विशद विवेचना करने वाला चतुर्थ अध्याय जैन न्यायका सबसे बड़ा अध्याय है जो ग्रन्थका लगभग एक तिहाई भाग है। इसके अन्तर्गत परोक्षके पाँच भेदोका सागोपाग शास्त्रीय विवेचन किया गया है। बौद्धोके तर्कोका खण्डन करते हुए स्मृति और प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताका पोषण, नैयायिकों एव मीसामकोंके उपमानका सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमे अन्तर्भाव, साध्य-साधनके अभिनाभाव सम्बन्धरूप व्याप्ति ज्ञानात्मक तर्कशास्त्रकी प्रमाणता तथा व्याप्तिकी प्रत्यक्षग्राहयता, पचावयवी अनुमानकी प्रमाणता तथा हेतु भेदविषयक सक्षिप्त विवेचनके बाद दो तिहाई अध्यायमें आगम या श्रुत प्रमाणसे सम्बन्धित विविध प्रकारके विवरणो एव समस्याओका निरूपण है।

श्रुतमे शब्दकी मुख्यता है। पर कुछ लोग शब्दको प्रमाण नही मानते, इसे अनुमानमे समाहित करते है। जैनोका मत है कि शब्द और अनुमानमें विषयभेद, सामग्रीभेद, अन्वयवतिरेकाभाव, वक्तृइच्छा वाच्यताके कारण भेद स्पष्ट है। बौद्धोके लिए जैनोका उत्तर है कि शब्द और अर्थमे प्रतिनियत योग्यता सम्बन्ध है। यह चक्षुकी तरह अर्थमात्रको प्रकाशित करता है। यह अर्थज्ञानमें प्रत्यक्षादिकी तरह निमित है, अत प्रमाण है। इसी प्रकार जैन मीमासकोकी तरह न तो शब्दार्थ-सम्बन्धको नित्य मानते हैं और न बौद्धोकी तरह अन्यापोहात्मक मानते हैं। इस विषयमें लेखकने शास्त्रीय तर्क प्रतितर्कोको अत्यन्त दक्षतासे उपस्थित किया है। इसी प्रकार शब्दका विषय सामान्य है या विशेष ? इस प्रश्नके उत्तरमें जैन इसे सामान्यमात्र न मानकर सामान्य-विशिष्ट विशेष मानते हैं।

मीमासक शब्दके अर्थ प्रतिपादकत्व गुणकी व्याख्याके लिये अनेक प्रमाणोसे शब्दकी नित्यता निरूपित करते हैं। इसके विपरीत, जैन शब्दमे सादृश्यमूलक प्रत्यभिज्ञानके अभाव तथा अन्य तर्कोसे उसे अनित्य सिद्ध करते हैं। शब्दकी अनित्यताके आधारपर जैनोने वेदके अपौरुषेयवादका भी खण्डन किया है क्योंकि

लौकिक और वैदिक—दोनों ही प्रकारके शब्द स्वरूप, संकेतग्रहणकी दृष्टिसे एकसमान ही होते हैं। इसी तरह स्फोटवाद भी विचारसरणिमें उचित नही ठहरता। मीमांसक और वैयाकरणोंके मतके विरुद्ध, जैनोकी मान्यता यह रही है कि संस्कृतके साथ-साथ प्राकृत और अन्य भाषाओके शब्द भी वाचक होते हैं, क्योंकि ये सभी शब्द अनादिकालसे प्रयोग, धर्मसाधनत्व, विशिष्ट पुरुष वाचकत्व एवं विशिष्टार्थ गमकत्वके समान रूपसे शुद्ध हैं।

इन्ही शब्दोके आधार पर श्रुतज्ञान होता है। जो मन और श्रवणेन्द्रियका विषय है। इसके दो भेद हैं—अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत। इनकी परिभाषाओंके विषयमें पूज्यपाद और अकलकके मतोकी समीक्षासे लेखकने श्रुत ज्ञानोको अक्षरात्मक ही बताया है। इस विषयमे लेखकने विद्यानन्दके अर्थकी भी चर्चा की है जिन्होंने प्रारम्भिक मतभेद प्रदर्शित कर अन्तमे अकलककी मान्यताको पुष्ट किया है। श्वेताम्बर मान्यता भी श्रुतज्ञानको शब्दज ही माना है। विशेषावश्यकभाष्यके प्रकरणके विवरणकी समीक्षा मे लेखकने परोपदेश या ग्रन्थरूप शब्दको श्रुतज्ञान (द्रव्यश्रुत) मानते हुए भी एकेन्द्रियोके भावश्रुत बतलाया है जो आगमिक मान्यताकी व्याख्याके लिए है। दोनो ही मान्यताएँ इस विषयमे एकमत हैं कि शब्दयोजना सहित ज्ञान श्रुतज्ञान ही होता है लेकिन इसमे मतभेद है कि शब्दयोजना सहित ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। लेखक का मत है कि इस मतभेदमे विशेष तथ्य नही है। केवल दृष्टिभेदका ही अन्तर है। इस विषयमे श्वेताम्बर ग्रन्थोके आलोडनके अनुसार अक्षर सज्ञाक्षर, व्यञ्जनाक्षर (द्रव्यश्रुत) और लब्ध्यक्षर (भावश्रुत) के भेदसे तीन प्रकारके होते हैं लेकिन दिगम्बर परम्परा लब्ध्यक्षरको अनाक्षरात्मक मानती है।

श्रुतज्ञानके भेदोकी चर्चा करते हुए लेखकने बताया है कि एक ओर जहा श्वेताम्बर परम्परामे श्रुतके चौदह भेद माने गये हैं, वहाँ दिगम्बर परम्परामे केवल चार भेदो (अक्षर, अनाक्षर, अगबाह्य, अगप्रविष्ट) का ही उल्लेख है, लेकिन अन्य भेद इस परम्पराको मान्य हो सकते हैं।

इस प्रकार ८६ सन्दर्भोंके इस अध्यायमे लेखकने अनेक जटिल विषयोका केवल विवरणात्मक अध्ययन ही नही, अपितु तुलनात्मक अध्ययन भी दिया है। कई स्थानो पर लेखकने अपने स्वतन्त्र चिन्तन-को भी प्रकट किया है।

पचम अध्यायमे श्रुतके दो विशिष्ट प्रकारके उपयोगोका ४९ सन्दर्भोंके आधार पर शास्त्रीय विवरण दिया गया है स्याद्वाद और नयवाद। ये दोनो पद्धतियाँ हैं। इन सन्दर्भोंमे समन्तभद्र, अकलक, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रके न्याय ग्रन्थ प्रमुख हैं। इन ग्रन्थोंका समय-परिसर ही अनेकान्त स्थापन युग कहा जाता है। मालवणियाजीने स्याद्वादके मूल अनेकान्तवादके अनेक रूपोकी आगमकालीनता प्रदर्शित की है और प्रस्तुत ग्रन्थके लेखकने इसके आगेका सक्षेपण किया है। इन दोनो ही विषयो पर अनेक लेखकोने अपने ग्रन्थोमें व्यावहारिक दृष्टिसे प्रकाश डाला है पर न्यायशास्त्रीय दृष्टिसे इन्हें प्रकाशित करनेका श्रेय जैन न्याय के ही लेखकको है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके विवरणमे ज्ञात होता है कि सशयके विषयभूत वस्तुके धर्म सात ही प्रकारके हो सकते है। यही कारण है कि स्याद्वाद सप्तभग-मय होता है। अकलकके अनुसार अनेक-धर्मात्मक वस्तुका बोध करानेके लिए प्रवर्तमान शब्दकी प्रवृत्ति दो रूपसे होती है क्रमसे या यौगपद्यसे। यौगपद्य कथन प्रमाण होता है और क्रमिक कथन नय कहा जाता है। इन दोनो ही कथनभेदोकी अपनी-अपनी सप्तभगी होती है। इन सप्तभगोमे दो सामान्य पदोका उपयोग किया जा सकता है—स्यात् और एव। इससे कथनके दो भेद हो जाते हैं। स्यादस्ति जीव, स्यादस्त्येव जीव। कुछ आचार्योका कथन है कि इन दोनो कथनोमें विशेष अन्तर नही है। लेकिन कुछ आचार्य 'स्यादस्ति जीव' की शैलीको सकला-देशी स्याद्वादी प्रमाण मानते हैं और 'स्यादस्त्येव जीव' की शैलीको एवकार होनेके कारण नय मानते हैं।

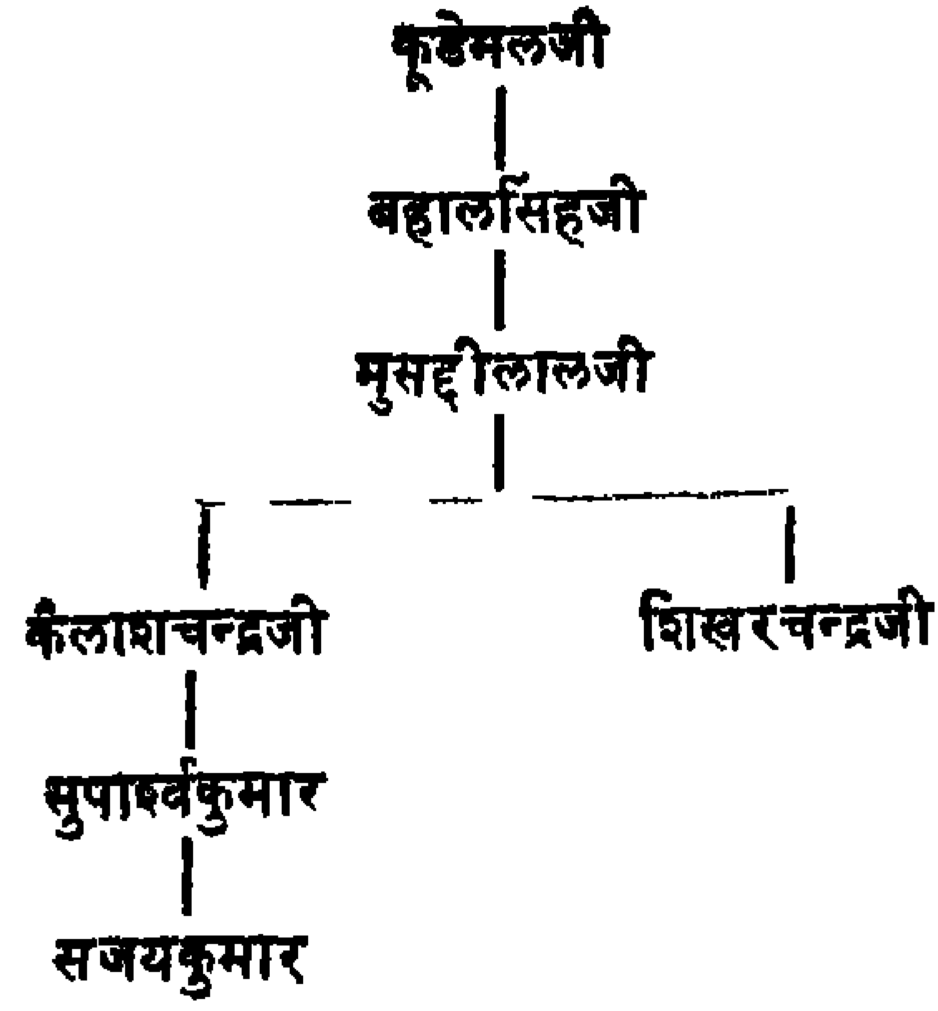
नय वाक्यमें एवकार अनिवार्य होता है, प्रमाणवाक्यमें नही। इन दोनों ही शैलियोको दर्शनके क्षेत्रमें पर्याप्त स्थान मिला है और जैनदर्शनकी समन्वय दृष्टि सामने आई है। इन मूलभूत चर्चाओंके अतिरिक्त, स्याद्वाद-के सात भगों एव नयके सात भेदोका भी संक्षेपण इस अध्यायमें है। इस विवरणमें अनेक स्थानों पर पुनरुक्ति दोष आया है जो सरलतासे दूर किया जा सकता था। फिर भी, इस विवरणसे लेखककी अपार सक्षेपण शक्तिका पता तो चलता ही है।

उपसंहार

विद्वान् लेखकने जैन न्यायके उपरोक्त प्रमुख विषयोका विवरण विभिन्न दर्शनोके ६७ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो तथा ३१७ सन्दर्भोंके आधारपर दिया है। लेखकके अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयन न्यायशास्त्रके ग्रन्थोकी जटिलतासे उत्पन्न उदासीनताकी स्थितिको दूर करनेके लिए विद्यार्थियों तथा ज्ञानप्रेमी जिज्ञासुओंके हितको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। लेखकने यह स्पष्ट बताया है कि इसका आधार शास्त्रीय ग्रन्थ और मान्यतायें हैं। अत इस ग्रन्थमें मौलिकताका विशेष प्रश्न ही नही उठता। हाँ, लेखकने जटिल विषयोको हिन्दी भाषामे रोचक रूपसे प्रस्तुत करनेमे और न्यायशास्त्रके प्रति रुचि जगानेमें अवश्य ही सफलता प्राप्त की है। यही नही, ग्रन्थके अध्ययनमे यह भी स्पष्ट है कि न्यायशास्त्रका अध्ययन अन्य दर्शनोके ज्ञानके विना सभव नही है, अत अध्येताओको विभिन्न दर्शनोका अध्ययन कर अपनी बौद्धिक प्रतिभाका विकास करना चाहिये। इससे तुलनात्मक दृष्टिकी समीचीनताके लिये आवश्यक तीक्ष्ण एव गहन अध्ययनकी प्रेरणा मिलती है। वस्तुत गहन अध्ययन ही हमारे विचारोको परिपक्वता एव सरल अभिव्यजनीयता प्रदान करता है। लेखकका यह ग्रन्थ इस तथ्यका स्वत प्रमाण है।

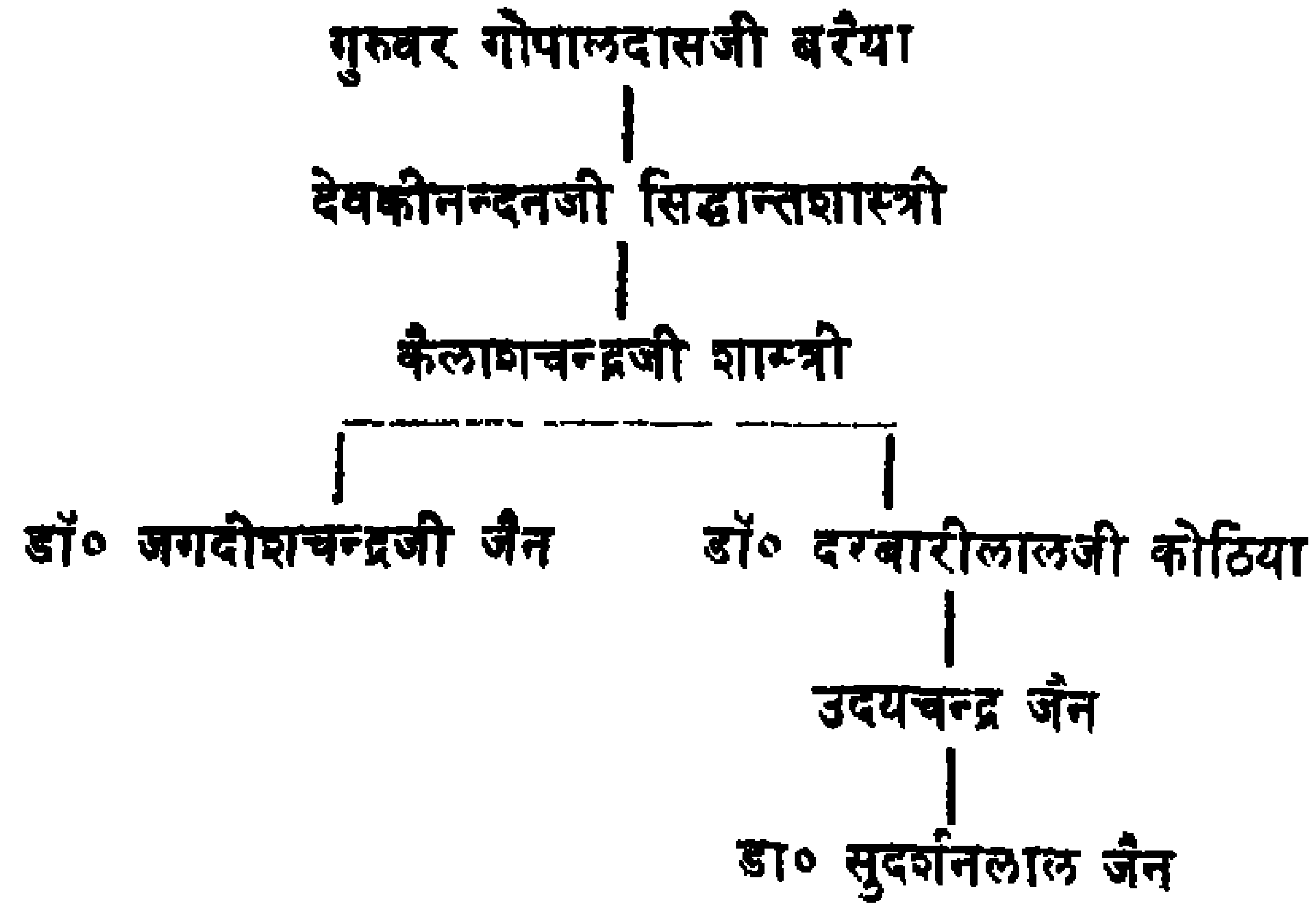
उपरोक्त विवरणके समय विभिन्न स्थानोपर यह भी सकेत किया गया है कि लेखक जटिल विचारोको सरल भाषामे प्रस्तुत करने तथा उनके सक्षेपणकी कलामे सिद्धहस्त है। यही नही, अनेक अवसरोपर उसने अपने स्वतत्र विचार प्रस्तुत किये हैं। ये उनकी मौलिक चिन्तनशीलताके प्रतीक हैं। प्रस्तुत समीक्षक न्यायशास्त्रको बौद्धिक परीक्षण, पद्धतिशास्त्र मानता है। इस शास्त्रके विभिन्न विवरणोंके अध्ययनसे उसे प्रतीत हुआ है कि आगमकालसे लेकर अठारहवी सदी तक विभिन्न न्यायशास्त्रियोंने भिन्न-भिन्न विषयोपर अपने पूर्ववर्ती विचारकोके मतोकी समीक्षा की और उनमे आवश्यकतानुसार सशोधन, परिवर्धन और परिवर्तन किया है। उन्होने विचार और ज्ञानके प्रवाहको सदैव प्रवहमान रखा है। क्या बीसवीं सदीका विद्वद्वर्ग और प्रबुद्धवर्ग भी अपने इस दायित्वको निभा रहा है?

पण्डित कैलाशचन्द्रजीका वंशवृक्ष



●

पण्डितजीका विद्यावृक्ष



●

कर्मशास्त्र : मनोविज्ञानकी भाषामें

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ

दर्शनके क्षेत्रमे शाश्वत और अशाश्वत—दोनों चर्चनीय रहे हैं। इन दोनोके तीन रूप उपलब्ध होते हैं—१ शाश्वतवाद, २ अशाश्वतवाद, ३ शाश्वत-अशाश्वतवाद। जैनदर्शनने तीसरा विकल्प मान्य किया। जगत्में जिसका अस्तित्व है, वह केवल शाश्वत नही है, केवल अशाश्वत नही है, शाश्वत और अशाश्वत—दोनोका सहज समन्वय है। तत्वकी दृष्टिसे जो सिद्धान्त है, उसपर मैं काल-सापेक्ष विमर्श करना चाहता हूँ।

कर्म भारतीय दर्शनमें एक प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। उस पर लगभग सभी पुनर्जन्मवादी दर्शनोमें विमर्श प्रस्तुत किया है। पूरी तटस्थताके साथ कहा जा सकता है कि इस विषयका सर्वाधिक विकास जैन-दर्शनमे हुआ है। इस विषय पर विशाल साहित्यका निर्माण हुआ है। विषय बहुत गभीर और गणितकी जटिलतासे बहुत गुम्फित है। सामान्य व्यक्ति उसकी गहराई तक पहुँचनेमे काफी कठिनाई अनुभव करता है। कहा जाता है, आईस्टीनके सापेक्षवादके सिद्धान्तको समझनेवाले कुछ विरले ही वैज्ञानिक हैं। यह कहना भी सत्यकी सीमासे परे नही होगा कि कर्मशास्त्रको समझनेवाले भी समूचे दार्शनिक जगत्में कुछ विरले ही लोग हैं।

कर्मशास्त्रमें शरीर-रचनासे लेकर आत्माके अस्तित्व तक, बन्धनसे लेकर मुक्ति तक—सभी विषयो पर गहन चिन्तन और दर्शन मिलता है। यद्यपि कर्मशास्त्रके बड़े-बड़े ग्रन्थ उपलब्ध हैं, फिर भी हजारो वर्ष पुरानी पारिभाषिक शब्दावलीको समझना स्वय एक समस्या है। और जब तक सूत्रात्मक परिभाषामें गुँथे हुए विशाल चिन्तनको पकडा नही जाता, परिभाषासे मुक्त कर वर्तमानके चिन्तनके साथ पढ़ा नही जाता और वर्तमानकी शब्दावलीमे प्रस्तुत नही किया जाता, तब तक एक महान् सिद्धान्त भी अर्थशून्य जैसा हो जाता है।

आजके मनोवैज्ञानिक मनकी हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं। मनोविज्ञानको पढने पर मुझे लगा कि जिन समस्याओ पर कर्मशास्त्रियोने अध्ययन और विचार किया था, उन्ही समस्याओ पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विचार कर रहे हैं। यदि मनोविज्ञानके सन्दर्भमें कर्मशास्त्रको पढा जाए, तो उसकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं, अनेक अस्पष्टताएँ स्पष्ट हो सकती हैं। कर्मशास्त्रके सन्दर्भमें यदि मनोविज्ञानको पढ़ा जाए, तो उसकी अपूर्णताको भी समझा जा सकता है और अब तक अनुत्तरित प्रश्नोंके उत्तर खोजे जा सकते हैं।

वैयक्तिक भिन्नता

हमारे जगत्में करोडो-करोड मनुष्य है। वे सब एक ही मनुष्य जातिसे सबद्ध हैं। उनमे जातिगत एकता होने पर भी वैयक्तिक भिन्नता होती है। कोई भी मनुष्य शारीरिक या मानसिक दृष्टिसे सर्वथा किसी दूसरे मनुष्य जैसा नही होता। कुछ मनुष्य लम्बे होते है, कुछ बौने होते है। कुछ मनुष्य गोरे होते हैं, कुछ काले होते है। कुछ मनुष्य सुडौल होते हैं, कुछ भद्दी आकृतिवाले होते हैं। कुछ मनुष्योंमें बौद्धिक मन्दता होती है, कुछमें विशिष्ट बौद्धिक क्षमता होती है। स्मृति और अधिगम क्षमता भी सबमें समान नही होती। स्वभाव भी सबका एक जैसा नही होता। कुछ शान्त होते है, कुछ बहुत क्रोधी होते हैं। कुछ प्रसन्न प्रकृतिके होते हैं, कुछ उदास रहनेवाले होते हैं। कुछ निस्वार्थवृत्तिके लोग होते है, कुछ स्वार्थ-

परायण होते हैं। यह सब वैयक्तिक भिन्नता प्रत्यक्ष है। इस विषयमें कोई दो मत नही हो सकता। कर्मशास्त्रमें वैयक्तिक भिन्नताका चित्रण मिलता ही है। मनोविज्ञानने भी इसका विशद रूपमे चित्रण किया है। उसके अनुसार वैयक्तिक भिन्नताका प्रश्न मूल प्रेरणाओके सम्बन्धमे उठता है। मूल प्रेरणाएँ (प्राइमरी मोटिव्स) सबमें होती हैं, किन्तु उनकी यात्रा सबमें एक समान नही होती। किसीमें कोई एक प्रधान होती है तो किसीमें कोई दूसरी प्रधान होती है। अधिगम क्षमता भी सबमें होती है, किसीमे अधिक होती है और किसीमें कम। वैयक्तिक भिन्नताका सिद्धान्त मनोविज्ञानके प्रत्येक नियमके साथ जुडा हुआ है।

मनोविज्ञानमें वैयक्तिक भिन्नताका अध्ययन आनुवशिकता (हेरिडिटी) और परिवेश (एन्वाइरर्नमेंट) के आधार पर किया जाता है। जीवनका प्रारम्भ माताके डिम्ब और पिताके शुक्राणुके सयोगसे होता है। व्यक्तिके आनुवशिक गुणोका निश्चय क्रोमोसोमके द्वारा होता है। क्रोमोसोम अनेक जीनो (जीन्स) का एक समुच्चय होता है। एक क्रोमोजोममे लगभग हजार जीन माने जाते हैं। ये जीन ही माता-पिताके आनुवशिक गुणोंके वाहक होते हैं। इन्हीमे व्यक्तिके शारीरिक और मानसिक विकासकी क्षमताएँ (पोटेन्शिएलिटीज्) निहीत होती है। व्यक्तिमे ऐसी कोई विलक्षणता प्रगट नही होती, जिसकी क्षमता उनके जीनमें निहीत न हो। मनोविज्ञानने शारीरिक और मानसिक विलक्षणताओकी व्याख्या आनुवशिकता और परिवेशके आधार परकी है, पर इससे विलक्षणताके सबधमे उठनेवाले प्रश्न समाहित नही होते। शारीरिक विलक्षणता पर आनुवशिकताका प्रभाव प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। मानसिक विलक्षणताओके सम्बन्धमे आज भी अनेक प्रश्न अनुत्तरित हैं। क्या बुद्धि आनुवशिक गुण है अथवा परिवेशका परिणाम है? क्या बौद्धिक स्तरको विकसित किया जा सकता है? इन प्रश्नोका उत्तर प्रायोगिकताके आधार पर नही किया जा सकता। आनुवशिकता और परिवेशसे सबद्ध प्रयोगात्मक अध्ययन केवल निम्न कोटिके जीवो पर ही किया गया है या सभव हुआ है। बौद्धिक विलक्षणताका सम्बन्ध मनुष्यसे है। इस विषयमे मनुष्य अभी भी पहेली बना हुआ है।

कर्मशास्त्रीय दृष्टिसे जीवनका प्रारम्भ माता-पिताके डिम्ब और शुक्राणुक सयोगमे होता है, किन्तु जीवका प्रारम्भ उनसे नही होता। मनोविज्ञानके क्षेत्रमे जीवन और जीवका भेद अभी स्पष्ट नही है। इसलिए सारे प्रश्नोके उत्तर जीवनके सन्दर्भमें ही खोजे जा सकते है। कर्मशास्त्रीय अध्यायमें जीव और जीवनका भेद बहुत स्पष्ट है, इसलिए मानवीय विलक्षणताके कुछ प्रश्नोका उत्तर जीवनमें खोजा जाता है और कुछ प्रश्नोका उत्तर जीवमें खोजा जाता है। आनुवशिकताका सम्बन्ध जीवनसे है, वैसे ही कर्मका सम्बन्ध जीवसे है। उसमें अनेक जन्मोके कर्म या प्रतिक्रियाएँ सचित होती हैं। इसलिए वैयक्तिक योग्यता या विलक्षणताका आधार केवल जीवनके आदि-बिन्दुमे ही नही खोजा जाता, उससे परे भी खोजा जाता है, जीवनके साथ प्रवहमान कर्म-सचय (कर्मशरीर) में भी खोजा जाता है।

कर्मका मूल मोहनीय कर्म है। मोहके परमाणु जीवमें मूर्च्छा उत्पन्न करते है। दृष्टिकोण मूर्छित होता है और चरित्र भी मूर्छित हो जाता है। व्यक्तिके दृष्टिकोण, चरित्र और व्यवहारकी व्याख्या इस मूर्च्छाकी तरतमताके आधारपर ही की जा सकती है। मेक्डूगलके अनुसार व्यक्तिमें चौदह मूल प्रवृत्तियाँ और उतने ही मूल सवेग होते हैं।

मूल प्रवृत्तियाँ	मूल सवेग
१ पलायन वृत्ति	भय
२ संघर्ष वृत्ति	क्रोध
३ जिज्ञासा वृत्ति	कुतूहल भाव
४. आहारान्वेषण वृत्ति	भूख

५ पित्रीय वृत्ति	वात्सल्य, सुकुमार भावना
६. यूथ वृत्ति	एकाकीपन तथा सामूहिकताभाव
७ विकर्षण वृत्ति	जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव
८ काम वृत्ति	कामुकता
९. स्वाग्रह वृत्ति	स्वाग्रहभाव, उत्कर्ष भावना
१० आत्मलघुता वृत्ति	हीनता भाव
११ उपार्जन वृत्ति	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
१२ रचना वृत्ति	सृजन भावना
१३ याचना वृत्ति	दु ख भाव
१४ हास्य वृत्ति	उल्लसित भाव

कर्मशास्त्रके अनुसार मोहनीय कर्मकी अठाइस प्रकृतियाँ है और उसके अठाईस ही विपाक है। मूल प्रवृत्तियो और मूल सवेगोके साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

मोहनीय कर्मके विपाक	मूल सवेग
१ भय	भय
२ क्रोध	क्रोध
३ जगुप्सा	जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव
४ स्त्री वेद ५ पुरुष वेद ६. नपुसक वेद	कामुकता
७ अभिमान	स्वाग्रहभाव, उत्कर्ष भावना
८ लोभ	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
९ रति	उल्लसित भाव
१० अरति	दु खभाव

मनोविज्ञानका सिद्धान्त है कि सवेगके उद्दीपनसे व्यक्तिके व्यवहारमें परिवर्तन आ जाता है। कर्मशास्त्रके अनुसार मोहनीय कर्मके विपाकसे व्यक्तिका चरित्र और व्यवहार बदलता रहता है।

प्राणी जगत्की व्याख्या करना सबसे जटिल है। अविकसित प्राणियोकी व्याख्या करनेमें कुछ सरलता हो सकती है। मनुष्यकी व्याख्या सबसे जटिल है। वह सबसे विकसित प्राणी है। उसका नाडी-सस्थान सबसे अधिक विकसित है। उसमे क्षमताओके अवतरणकी सबसे अधिक सभावनाएँ है। इसलिए उसकी व्याख्या करना सर्वाधिक दुरूह कार्य है। कर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मानसशास्त्र (साइकोलोजी), शरीर-शास्त्र (एनेटोमी) और शरीरक्रिया शास्त्र (फिजियोलाजी) के तुलनात्मक अध्ययनसे ही उसको कुछ सरल बनाया जा सकता है।

मानसिक परिवर्तन केवल उद्दीपन और परिवेशके कारण ही नही होते। उनमे नाडी-सस्थान, जैविक विद्युत्, जैविक रसायन और अन्त स्रावी ग्रन्थियोंके स्रावका भी योग होता है। ये सब हमारे स्थूल शरीरके अवयव है। इनके पीछे सूक्ष्म शरीर क्रियाशील होता है और उसमे निरतर होनेवाले कर्मके स्पदन परिणमन या परिवर्तनकी प्रक्रियाको चलू रखते हैं। परिवर्तनकी इस प्रक्रियामे कर्मके स्पदन, मनकी चचलता,

शरीरके संस्थान—ये सभी सहभागी होते हैं। इसलिए किसी एक शास्त्रके द्वारा हम परिवर्तनकी प्रक्रियाका सर्वांगीण अध्ययन नहीं कर सकते। ध्यानकी प्रक्रिया द्वारा मानसिक परिवर्तनों पर नियन्त्रण किया जा सकता है, इसलिए योगशास्त्रको भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। अपृथक्त्व अनुयोगकी शिक्षाप्रणालीमें प्रत्येक विषय पर सभी नयोंसे अध्ययन किया जाता था, इसलिए अध्येताको सर्वांगीण ज्ञान हो जाता था। आजकी पृथक्त्व अनुयोगकी शिक्षा प्रणालीमें एक विषयके लिए मुख्यत तद् विषयक शास्त्रका ही अध्ययन किया जाता है, इसलिए उस विषयको समझनेमें बहुत कठिनाई होती है। उदाहरणके लिए, मैं कर्मशास्त्रीय अध्ययनको प्रस्तुत करना चाहता हू। एक कर्मशास्त्री पाँच पर्याप्तिके सिद्धान्तको पढता है और वह इसका हार्द नही पकड पाता। पर्याप्तियोकी सख्या छह होती है। भाषा पर्याप्ति और मन पर्याप्तिको एक माननेपर पर्याप्तियोंकी सख्या छह होती है। भाषा पर्याप्ति और मन पर्याप्तिको एक माननेपर वे पाँच होती हैं। प्रश्न है भाषा और मनकी पर्याप्तिको एक क्यो माना जाए? स्थूल दृष्टिकोणमें भाषा और मन दो प्रतीत होते हैं। भाषाके द्वारा विचार प्रकट किये जाते हैं और मनके द्वारा स्मृति, कल्पना और चिन्तन किया जाता है। सूक्ष्ममें प्रवेश करनेपर वह प्रतीति बदल जाती है। भाषा और मनकी इतनी निकटता सामने आती है कि उसमें भेदरेखा खीचना सहज नही होता। गौतम स्वामीके एक प्रश्नके उत्तरमें भगवान् महावीरने कहा—वचनगुप्तिके द्वारा मनुष्य निर्विचारताको उपलब्ध होता है। निर्विचार व्यक्ति अध्यात्म-योगध्यानमें ध्यानको उपलब्ध हो जाता है। विचारका सम्बन्ध जितना मनसे है, उतना ही भाषासे है। जल्प दो प्रकारका होता है—अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प। बहिर्जल्पको हम भाषा कहते हैं। अन्तर्जल्प और चिन्तनमें दूरी नही होती। चिन्तन भाषात्मक ही होता है। कोई भी चिन्तन अभाषात्मक नही हो सकता। स्मृति, कल्पना और चिन्तन—ये सब भाषात्मक होते हैं। व्यवहारवादके प्रवर्तक वाटसनके अनुसार चिन्तन अव्यक्त शाब्दिक व्यवहार है। उनके अनुसार चिन्तन-व्यवहारकी प्रतिक्रियाएँ वाक्-अगोमें होती हैं। व्यक्ति शब्दोको अनुकूलनसे सीखता है। धीरे-धीरे शाब्दिक आदतें पक्की हो जाती हैं और वे शाब्दिक उद्दीपकोसे उद्दीप्त होने लगती हैं। बच्चोकी शाब्दिक प्रतिक्रियाएँ श्रव्य होती हैं। धीरे-धीरे सामाजिक परिवेशके प्रभावसे आवाजको दबाकर शब्दोको कहना सीख जाता है। व्यक्त तथा अव्यक्त शिक्षा-दीक्षाके प्रभावसे शाब्दिक प्रतिक्रियाएँ मौन हो जाती हैं। वॉटसनके चिन्तनको अव्यक्त अथवा मौनवाणी कहा है।

सत्यमें कोई द्वैत नही होता। किसी भी माध्यमसे सत्यकी खोज करनेवाला जब गहरेमें उतरता है और सत्यका स्पर्श करता है, तब मान्यताएँ पीछे रह जाती हैं और सत्य उभरकर सामने आ जाता है। बहुत लोगोका एक स्वर है कि विज्ञानने धर्मको हानि पहुचाई है, जनताको धर्मसे दूर किया है। बहुत सारे धर्म-गुरु भी इसी भाषामें बोलते हैं। किन्तु यह सत्य वास्तविकतासे दूर प्रतीत होता है। मेरी निश्चित धारणा है कि विज्ञानने धर्मकी बहुत सत्यस्पर्शी व्याख्या की है और वह कर रहा है। जो सूक्ष्म रहस्य धार्मिक व्याख्या ग्रन्थोमें अ-व्याख्यात हैं, जिसकी व्याख्याके स्रोत आज उपलब्ध नही हैं, उनकी व्याख्या वैज्ञानिक शोधोके सन्दर्भमें बहुत प्रामाणिकताके साथ की जा सकती है। कर्मशास्त्रकी अनेक गुत्थियोको मनोवैज्ञानिक अध्ययनके सन्दर्भमें सुलझाया जा सकता है। आज केवल भारतीय दर्शनोके तुलनात्मक अध्ययन-की प्रवृत्ति ही पर्याप्त नही है। दर्शन और विज्ञानकी सम्बन्धित शाखाओंका तुलनात्मक अध्ययन बहुत अपेक्षित है। ऐसा होनेपर दर्शनके अनेक नये आयाम उद्घाटित हो सकते हैं।

●

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

आचार्य रामूर्ति त्रिपाठी, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

जैन चिन्ताधाराकी विशेषताएँ

चार्वाकको छोडकर हिन्दू सस्कृतिमें ऐसी कोई चिन्ताधारा नही है जो जन्म-मरणकी शृखला न मानती हो। ब्राह्मण, बौद्ध एव जैन—तीनो ही धारायें इसे स्वीकार करती हैं। इन सबमें केवल मीमांसा-धारा ही ऐसी ब्राह्मणवर्गीय चिन्ताधारा है जो शृखलाका समुच्छेद नही मानती। अन्यथा और सभी धारायें जन्म-मरणकी शृखला भी स्वीकार करती हैं और उसका समुच्छेद भी। यह दूसरी बात है कि इनमेंसे जहाँ हीनयानी बौद्ध धारा अनात्मवादी है, वहाँ शेष आत्मवादी। जैन चिन्ताधारा न तो चेतना और पदार्थके विकल्पमें पदार्थवादी है और न ही बौद्धोकी भाँति अनात्मवादी। निष्कर्ष यह है कि वह आत्मवादके प्रति आस्थावान् है और जन्म-मरणकी शृखला स्वीकार करती हुई उसका समुच्छेद भी मानती है। जैन चिन्ता-धारा उन लोगोमे महमत नही है जो चरम पुरुषार्थके रूपमें समुच्छेद या आभावात्मक स्थितिकी घोषणा करते है। अन यह न तो इस प्रश्न पर कि जीवनका चरम लक्ष्य मोक्ष क्या और कैसा है, अनात्मवादी हीनयानी बौद्धोसे सहमत है और न ही आत्मवादी न्याय तथा वैशेषिकसे। क्योकि जहाँ एक ओर अनात्म-वादी हीनयानी समुच्छेदके अनन्तर शून्य ही शून्यकी घोषणा करता है, वहाँ आत्मवादी न्याय-वैशषिक समुच्छेदके बाद भी आत्माकी स्थिति मानता हुआ उसे प्रस्तरवत् ज्ञानशून्य स्वीकार करता है। साख्य पातञ्जलकी भाँति आत्मवादी होता हुआ भी समुच्छेदके अनन्तर निरानन्द स्वरूपावस्थिति मात्र भी उसे चरम पुरुषार्थके रूपमें इष्ट नही है। वह वेदान्तियो और आगमिकोंकी भाँति चरमस्थितिको स्वरूपावस्थान तो मानता है, चिदानन्दमय स्वभावमें प्रतिष्ठित तो स्वीकार करता है परन्तु द्वैतवादियोकी भाँति किसी अति-रिक्त परमेश्वरको नही मानता। अन्तत अद्वैतवादियोकी भाँति चिदानन्दमय स्वरूपावस्थानको ही पुरुषका चरम पुरुषार्थ मोक्ष स्वीकार करता हुआ भी अपनेको इस अर्थमें विशिष्ट कर लेता है कि वह आत्माको मध्यम परिमाण स्वीकार करता है, न अणु परिमाण, न ही महत् परिमाण। वह मानता है कि आत्मा अनादि परम्परायात आवरक कर्ममलसे आच्छन्न रहकर जन्म-मरणके दु सह चक्रमें कष्ट भोगता रहता है। इसी चक्रसे मुक्त होनेके लिए जैन तीर्थंकरोने मोक्षमार्गका विचार करते हुए जो कुछ कहा है, प्रस्तुत सूत्र उसीका निदर्शक है।

मुक्तिका अर्थ 'स्व-भाव' प्राप्ति

दु खसे मुक्ति सभी चाहते है पर यह मुक्ति क्षणिक भी हो सकती है और आत्यन्तिक भी। आत्यन्तिक मुक्ति इस चिन्ताधाराके अनुसार तभी सम्भव है जब साधक स्वभावमे स्थित हो जाय। इस धाराके अनुसार 'स्व' भावमें प्रतिष्ठित होनेमें बाधक है आवरण कर्म। यदि इनका क्षय हो जाय, तो आत्मा स्वरूपमें स्थित हो जाय, स्व भावमें आ जाय। उसका स्व भाव सच्चिदानन्दयता ही है। यही आत्यन्तिक सुख है क्योकि इसके बाद कर्मोंकी उपाधि लगनेवाली नही है। कर्मोका आत्यन्तिक अभाव ही तो मोक्ष है। दु खका अनुभव इन्ही कर्मोंके कारण तो होता है। जहाँ कर्मोका क्षय हो गया, वहाँ दु ख

कहाँ ? इतना ही नहीं, वहाँ स्वभावका सुख, प्रतिबन्धकके निराकृत होनेसे, व्यक्त हो जाता है। अत वस्तुत मोक्ष अभावात्मक नहीं, स्व-भावात्मक है। इसीलिए यह स्वाभाविक है, अर्जित नहीं। एक बात और समझनी चाहिये। यह मोक्ष या स्वभाव सुख नया पैदा नहीं होता जिससे उसमें नाश सम्भावित हो। सूर्य पर बादल आ जाय तो अन्धकार और हट जाय, तो प्रकाश पर बादल हटनेका अर्थ यह नहीं कि उस सूर्यमें नया प्रकाश उत्पन्न हो गया है जो पहले अविद्यमान था। बादलकी भाँति एक बार यदि कर्मावरण हट गया, तो यह बादलोपम कर्मावरण फिर आनेवाला नहीं है। साथ ही, स्वभावका सहज सुख व्यक्त हो गया, तो वह फिर जानेवाला नहीं है। साथ ही, तत्वत वह कहीं और से नया आया हुआ भी नहीं है, स्व-भाव सुख है। सुखात्मा स्वभावका उन्मेष है। यही मोक्ष है। इसके अस्तित्वमें तर्कसे अनुभव अधिक प्रमाण है।

मोक्षमार्ग प्रतिपादक सूत्रकी व्याख्या केवल ज्ञानमार्गसे मुक्ति नहीं

इसी मोक्षका मार्ग है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चरित्र। पूर्व पूर्वसे उत्तरोत्तरका उन्मेष सम्भव है। पर उत्तरोत्तरसे पूर्व पूर्वका अस्तित्व निश्चय है। सूत्रकारने इन तीनोको सम्मिलित रूपमे मोक्षमार्ग कहा है। सूत्रमें दो पद हैं—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तथा मोक्षमार्ग, दोनो ही सामासिक पद हैं। दर्शनज्ञानचारित्राणि द्वन्द्व समास है, अत समासघटक प्रत्येक पद प्रधान है। फलत द्वन्दके आदिमें विद्यमान सम्यक् शब्दसे सभीका स्वतन्त्र सम्बन्ध है। इस प्रकार सूत्रके एक अशका अर्थ है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र। मोक्षमार्गका अर्थ स्पट है—मोक्षका मार्ग। अभिप्राय यह कि ये तीनो सम्मिलित रूपमे मोक्ष मार्ग हैं। इस दृष्टिसे तीनो एक है। इसीलिए सूत्रमे विशेषणका बहुवचनान्त होना और विशेष्यका एक वचनान्त होना 'वेदा प्रमाणम्'की भाँति साभिप्राय और सार्थक है। निष्कर्ष यह है कि मोक्षमार्गके प्रति तीनोकी सम्मिलित कारणता है।

कुछ लोगोकी धारणा है कि अनुभव और शास्त्रीय प्रमाण यह बताते है कि बध मात्र अज्ञानसे होता है और मोक्ष मात्र ज्ञानसे, अत तीनोकी सम्मिलित कारणता अविचारित-रमणीय है, विचारित सुस्थ नहीं। नि सन्देह ज्ञानसे अज्ञान निवृत होता है और अज्ञाननिवृत्तिसे बन्ध दूर होता है। साख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञानसे बन्ध तथा अन्यथाख्यातिसे मोक्ष मानता ही है। न्याय दर्शन भी तत्त्वज्ञानसे मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष कहता है। मिथ्याज्ञानसे दोष, दोषमे प्रवृत्ति, प्रवृत्तिसे जन्म और जन्मसे दुखकी सन्तति प्रवहमान होती है। इसी सर्वमूल मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानसे होती है। वैशिषक भी मानते हैं कि इच्छा और द्वेषसे धर्माधर्म और उनसे सुखदुखात्मक ससार होता है। यहाँ छहो पदार्थोंका तत्त्वज्ञान होते ही मिथ्याज्ञान निवृत्त होता है। बौद्धोका द्वादशाग प्रतीत्य समुत्पादवाद प्रसिद्ध है ही और इसका मूल अविद्या है, अन्यथा ज्ञान। तत्वज्ञानसे इसकी निवृत्ति होनेपर समस्त दुखचक्र समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जैन सिद्धान्त भी है। यहाँ मिथ्यादर्शन, अविरति आदि बन्ध हेतु है। इस प्रकार जब सर्वत्र ज्ञानमात्रको ही मोक्षका व्यजक माना गया है, तब यहाँ भी केवलज्ञानको हेतु मानना चाहिए। ज्ञानके साथ दर्शन और चरित्रको नहीं। यह कहना कि समकालोत्पादके कारण दर्शन, ज्ञान और चरित्र भिन्न है ही नहीं, अमान्य है। अनुभव तथा प्रमाण और परिणाम भेदसे सिद्धभेदका निराकरण समकालोत्पाद मात्र हेतुसे सभव नहीं है। समकालोत्पादकता तो दो सीगोमे भी है, क्या इसीलिए वे एक हो जायेगे। अभिप्राय यह है कि दर्शन, ज्ञान तथा चरित्र तीन हैं, एक नहीं। अत उक्त रीतिसे इन तीनोकी सम्मिलित मोक्षमार्गता माननेकी जगह केवलज्ञानको ही मोक्ष मार्ग मानना चाहिए। वेदान्त भी कहता है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति'।

जैन चिन्तक इसका उत्तर देते हुए यह कहते हैं कि यह ठीक है कि ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है परन्तु जिस प्रकार सायनका श्रद्धापूर्वक ज्ञानकर उपयोग या सेवन किया जाय, तभी आरोग्यरूप पूराफल मिलता है, उसी प्रकार श्रद्धा और ज्ञान पूर्वक, निष्ठाके साथ किया गया आचरण ही अभीष्ट फल पैदा करता है। जिस प्रकार अज्ञानियोकी क्रिया व्यर्थ है, उसी प्रकार क्रियाहीनका ज्ञान व्यर्थ है और उसके लिए दोनो ही व्यर्थ है, जिसमें निष्ठा या श्रद्धा नहीं है। इस प्रकार अभीष्ट फलकी प्राप्तिके निमित्त श्रद्धा, ज्ञान तथा चरित्र-तीनो सम्मिलित कारणता है।

तीनोकी सम्मिलित कारणताका निश्चय हो जानेके बाद एक-एक घटकके स्वरूपपर विचार अब प्रसग प्राप्त है।

सम्यक्दर्शन

सम्यक् एक निपात शब्द है जिसका अर्थ होता है प्रशसा। कभी-कभी मिथ्या या असम्यक्के विरोधमे भी इसका प्रयोग होता है। इस प्रकार सम्यक् विशेषण विशेष्योंमें सम्भावित मिथ्यात्वकी निवृत्ति फलत उनकी प्रशस्तता अथवा अभ्यर्हताका भी द्योतक है। सम्यगिष्टार्थतत्त्वयो' के अनुसार सम्यक् शब्दका अर्थ, इष्टार्थ अथवा तत्त्व भी होता है। पर निपात शब्द अनेकार्थक होते हैं। अत प्रसगानुसार प्रशस्त अर्थ भी लिया जा सकता है। यो तत्त्व अर्थ भी लिया जा सकता है जिसका अभिप्राय तत्त्व दर्शन भी किया जा सकता है।

'दर्शन' शब्द दर्शन भाव या क्रियापरक तो है ही, दर्शन साधन-परक तथा दर्शनकर्त्ता-परक भी है। अर्थात् दर्शन क्रिया तो दर्शन है ही, वह आत्मशक्ति भी दर्शन है जिस रूपमे आत्मा परिणत होकर दर्शनका कारण बनाती है। स्वय दर्शन आत्मस्वभाव है, अत वह कर्त्ता आत्मासे भी अभिन्न है। अभिप्राय यह है कि तत्त्वत दर्शन आत्मासे भिन्न नही है। तथापि, स्वभावकी उपलब्धिके निमित्त जब आत्मा और दर्शनमें थोडा भेद मानकर चलना पडता है तब उसे भाव और कारणरूप भी माना जाता है।

'दर्शन' शब्द दृशि धातुसे बना है। अत यद्यपि इसे भाव परक माननेपर 'देखना'के ही अर्थमें मानना उचित प्रतीत होता है, तथापि चूंकि धातुये अनेकार्थक होती हैं, अत यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान ही लिया गया है। इसीलिए सम्यक् दर्शनको स्पष्ट करते हुए श्री उमास्वातिने उसका अर्थ तत्वार्थ श्रद्धान ही किया है। यो दर्शनका अर्थ श्रद्धान ही है, पर कही कोई अतत्त्वार्थका भी श्रद्धानका विषय न बना ले, इसीलिए तत्त्वार्थका स्पष्ट प्रयोग किया गया है। तत्त्वार्थमे भी दो टुकडे है, तत्त्व तथा अर्थ। तत्त्वका अर्थ है—तत्का धर्म। भाव मात्र जिस धर्म या रूपके कारण है, वही रूप है तत्त्व। अर्थका अर्थ है ज्ञेय। इस प्रकार तत्त्वार्थका अर्थ है—जो पदार्थ जिस रूपमे है, उसका उसी रूपसे ग्रहण। श्रद्धान भी भाव कर्म तथा करण व्युत्पत्तिक है। निष्कर्ष यह है कि तत्त्व रूपसे प्रसिद्ध अर्थोंका श्रद्धान ही तत्त्व श्रद्धान है।

यह सम्यक दर्शन सराग भी होता है और वीतराग भी। पहला साधन ही है और दूसरा साध्य भी है। प्रथम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यसे जिसका स्वरूप अभिव्यक्त होता है, वह सराग दर्शन है तथा मोहनीयकी सात कर्म प्रकृतियोका अत्यन्त निवास होनेपर आत्मविशुद्धिरूप वीतराग सम्यकग्दर्शन होता है। उभयविध सम्यक् दर्शन स्वभावत भी सभव है और परोपदेश वश भी। निसर्गज सम्यक् दर्शनके लिए अन्तरगकारण है, दर्शन मोहका उपशम, क्षय या क्षयोपशम। यदि साधकमें दर्शन मोहका क्षयोपशम हो, तो बिना उपदेशके ही तत्त्वार्थमें श्रद्धा हो जाती है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जर, एव मोक्ष सात तत्त्व हैं। अधिगमज सम्यक दर्शनके निमित्त दो हैं, प्रमाण तथा नय। अभिप्राय यह है कि तत्त्वार्थ

विषयक श्रद्धा नैसर्गिक भी है और नैमित्तिक भी। एक अन्य दृष्टिसे सम्यक दर्शनके तीन भेद भी हैं। १ क्षायिक २ औपशमिक ३. क्षायोपशमिक।

सम्यक्ज्ञान

ज्ञान पाँच प्रकारके हैं, मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय तथा केवल। मत्यावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे अर्थोका मनन मति है। श्रुतावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय, वह श्रुत है। ये दोनो ही ज्ञान परोक्ष माने जाते है। परोक्ष इसलिये कि इन ज्ञानोमें ज्ञानस्वभाव आत्माको स्वेतर इन्द्रिय तथा मनकी अपेक्षा होती है। अत ये दोनो पराधीन होनेसे परोक्ष हैं। अवधि, मन पर्यय तथा केवल-ये तीनो प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—देश प्रत्यक्ष तथा सर्व प्रत्यक्ष। देश प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—अवधि और मन पर्यय। सर्वप्रत्यक्ष एक ही है—केवल ज्ञान। व्यवहितका प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान, दूसरोके मनोगतका ज्ञान मन पर्यय तथा सर्वावरणक्षय होनेपर केवल ज्ञान होता है। अनन्त धर्मात्मक वस्तुका पूर्ण स्वरूप प्रमाणसे अर्थात् सम्यक् ज्ञानसे आता है और उसके एक-एक धर्मका ज्ञान कराने वाले ज्ञानाशको नय कहते हैं। वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो और फिर अनेक प्रकारका है। वस्तुत प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म होते है। उन सब धर्मोमे सयुक्त अखण्ड वस्तुको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते है और उसके एक धमको जानने वाले ज्ञानको नय कहते है। इसी ज्ञानकी प्राप्ति करनेके लिये योगी जन तप करते हैं। ज्ञानपूर्वक आचरण करनेवालेको किसी भी कालमें कर्मबन्ध नही होता। निष्कर्ष यह है कि प्रमाण तथा नयो द्वारा जीवादितत्त्वोंका सशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय रहित यथार्थबोध सम्यक्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक्चारित्र

दर्शन तथा ज्ञानकी भाँति चारित्र भी भाव, करण तथा कर्म व्युत्पत्तिक शब्द है। सामान्यत इसे कर्मव्युत्पत्तिक समझा जाता है चर्यत इति चारित्रम्। जो चर्यमाण हो, वही चरित्र है। आचरण ही चरित्र है। सस्मरणका मूलकारण है राग-द्वेष। इसकी निवृत्तिके लिये कृतसकल्प विवेकी पुरुपका शारीरिक और वाचिक बाह्य क्रियायोसे और अभ्यन्तर मानस क्रियासे विरक्त होकर स्वरूप स्थिति प्राप्त करना सम्यक्चारित्र है।

सिद्धावस्था तक पहुँचनेके लिए साधकको अपनी नैतिक उन्नतिके अनुसार क्रमश आगे बढना पडता है। मोक्ष मार्गके इन सोपानोको गुणस्थान कहते हैं। किसी न किसी रूपमें इन स्थानो या सोपानोका उल्लेख सभी साधन धाराओंमें है। इन चौदह गुणस्थान या सोपानोमें मिथ्यात्वसे सिद्धि तकका मार्ग है। ये चौदह सोपान हैं—मिथ्यात्व→ग्रन्थिभेद→मिश्र→अविरत→सम्यक्दृष्टि (सशयनाश होनेपर सम्यक् श्रद्धाका उदय) →देशविरति, प्रमत्त → अप्रमत्त → अपूर्वकरण → अनिवृत्तिकरण → सूक्ष्मसाम्पराय → उपशान्तमोह→ क्षीणमोह (मोक्षावरणकर्मोके नाशसे उत्पन्न दशायें)—सयोग केवल (इस सोपानमे साधक अनन्तज्ञान तथा अनन्त सुखसे देदीप्यमान हो उठता है)—अयोग केवल (अन्तिमदशा)। यहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तश्रद्धा तथा अनन्तशान्ति उपलब्ध होती है। तत्वत चारित्र आत्माका स्वरूप ही है, अत उसकी अभिव्यक्ति दर्शन और ज्ञान गत सम्यक्त्वसे ही होती है।

इस चरित्र स्वभावकी अभिव्यक्तिके लिए अणुव्रत तथा महाव्रत विहित है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। राग-द्वेषके कारण पाँच महापाप होते हैं—हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील तथा परिग्रह। इनसे विरति साध्य है। इसी विरतिसे होनेवाला माध्यस्थभाव ही सम्यक्चरित्र है। यह दो

प्रकारका है—सर्वदेशविरति तथा एकदेशविरति। पाँचों पापोका यावज्जीवन सर्वथा त्याग सकल चरित्र है और एक देशत्याग देशचरित्र है। सर्वदेशविरतिमे यति या साधु निरत होता है और एकदेशविरतिमें श्रावक या गृहस्थ। श्रावकोके बारह व्रत हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत। एकदेश-विरतिसे सर्वदेशविरतिकी ओर बढा जाता है, माध्यस्थभावकी ओर उठा जाता है, उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। इस स्थितिमें पाँचमहाव्रत होने लगते है, करने नही पडते। पाँचमहाव्रत पाँच महापापोका निरोध है और वस्तुत देखा जाय तो ये पाँच महापाप हिंसा ही हैं। अत अहिंसा ही महाव्रतोंमें प्रमुख है। जैनधर्मका हृदय यही अहिंसा है। अहिंसा की नही जाती, हिंसा नही की जाती है। अहिंसा फलित होती है। हिंसा निवृत्त हो जाय तो जो शेष रह जायगा, वही अहिंसा होगी। अत अहिंसा निषेधात्मक है, यह समझना ऐकान्तिक सत्य नही है। हिंसाका निषेध आचारमें ही नही होना चाहिये, विचारमें भी होना चाहिये। विचारगत हिंसा ही एकान्त दर्शन है और अहिंसा अनेकान्त दर्शन। इस प्रकार समूचा जैनधर्म अपने आचार और विचारमें अहिंसा ही है।

हिंसाकी विवृत्ति राग-द्वेषकी निवृत्ति है। अत रागद्वेषमे रहकर अहिंसा करनी अहिंसामें ही हिंसा करनी है। रागद्वेष हीनकी हिंसा भी अहिंसा है। अत सर्वावरणमूल हिंसा ही है। रागद्वेष ही है। इस पर विजय प्राप्त करने वाला जिन है। हिंसाके विपयमें ठीक ही कहा है

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वहिंसैतत ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृत शिष्यबोधाय ।।

आत्माके शुद्धोपयोग रूप परिणामोके घात करनेके कारण असत्यवचनादि सभी पाप हिंसात्मक ही है। असत्यादि भेदोका पापरूपमें कथन महज मन्दबुद्धिवालोके लिये है। हिंसाको और स्पष्ट करते हुये कहा गया है

यत्खलु कसाययोगात् प्राणाना द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्यकरण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।।
अप्रादुर्भाव खलु रागादीना मवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेतिजिनागमस्य सक्षेप ।।

जैनागमका सक्षेप और सार यही है कि रागादि भावोका प्रकट होना ही हिंसा है और उनका अप्रकट, शान्त या उच्छिन्न हो जाना ही अहिंसा है। कषाय (रागादि) वश अपने और परके भावप्राण तथा द्रव्यप्राणका घात करना हिंसा है। इस हिंसाके चार रूप है—स्वभावहिंसा, परभावहिंसा, स्वद्रव्यहिंसा, परद्रव्यहिंसा। अभिप्राय यह है कि मूल हिंसा रागद्वेष ही है। इसका प्रकाश बाह्य हिंसा है। साधकको दोनो पर ही बल देना है। भीतर अनासक्ति हो, तो बाहरी परिग्रह अवश्य अपरिग्रह है। पर अपरिपक्व कषाय-वालेको बाह्य परिग्रह प्रभावित करता है। अत भीतर और बाह्य-दोनोसे साधना करनी चाहिये, आचरण करना चाहिये।

अत साधकको चाहिये कि पहले वह असम्यक् दृष्टि बने। देशचरित्र धारण करने पर वह पचम गुणस्थानवर्ती हो जाता है। जब सकलचरित्र धारण करने लग जाता है, तब वह छठे गुणस्थान पर पहुँच जाता है। इन तीनो प्रथम, पञ्चम, षष्ठ गुणस्थानवाले जीव परिणामोकी विशुद्धिसे च्युत होनेपर दूसरे तीसरे गुणस्थानको प्राप्त होते हैं और परिणामोकी विशुद्धि तथा चारित्रकी वृद्धि होने पर सातवेंसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोंकी ओर बढते हैं। पहले, चौथे, पाँचवे और तेरहवें गुणस्थानका काल अधिक है, शेषका

कम। इस सारी साधनाको अहिंसाकी साधना कह सकते हैं। आचारमें अहिंसाके दो रूप हैं—सयम और तप। सयमसे कर्म पुद्‌गलोंका सवरण तथा तपसे सचितका क्षय होता है। इस प्रकार आत्माके सारे आवरण नष्ट हो जाते हैं। निराकृत आत्मस्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है।

उपसहार

निष्कर्ष यह है कि सबसे पहले सम्यक्‌दर्शन अर्थात् जीवाजीवादि सात तत्त्वोंमें श्रद्धा रखे। यह श्रद्धा नैसर्गिक भी हो सकती है और अर्जित भी। जैसे भी हो, श्रद्धावान् होकर सातो तत्त्वोका सम्यक्‌ज्ञान प्राप्त करें। अर्थात् पहले श्रद्धावान् होना फिर श्रद्धागोचर तत्त्वोका ज्ञान करना और तदनन्तर यथाशक्ति श्रावक व्रत या मुनिव्रत धारण करना चाहिये। जो व्यक्ति परिस्थितियोंसे विवश है, वह विरक्ति या अनासक्तिकी दृढता के लिये विचार ही करता रहे। विचार करते-करते चारित्र धारण करनेकी क्षमता उत्पन्न हो जाती है। बिना पूर्ण चरित्रके ध्यान या समाधिकी सिद्धि सम्भव नही है। उत्पादित और बलानीत अनासक्ति को स्वभावगत करनेके लिए निरन्तर विचार करते रहना ही एक साधन है। मनन या सम्यक्‌ज्ञान ही मार्ग है। इस प्रकार साधक जितना ही विषयकी ओरसे विमुख होगा, आत्माकी ओर उतना ही उन्मुख होगा। ज्यो-ज्यों आत्मचिन्तन करता है, त्यो-त्यो आत्मानुभूति होने लगती है, त्यो-त्यो ससार उसे नीरस लगने लगता है। इस तरह आत्मिक शान्तिकी वृद्धि और तेजकी समृद्धि आने लगती है। इस ध्यान या समाधिमे जो सुख मिलता है, वह अनिर्वचनीय है। आनन्दावस्थामें प्रतिष्ठित योगी कोटि-कोटि भव सञ्चित कर्मोको क्षणमात्रमे भस्म कर देता है। आत्मासे परमात्मा बन जाता है।

इस प्रकार आलोच्य सूत्रोक्त रत्नत्रय असिद्ध दशामे मार्ग है, साधन है, आत्माकी ही परिणति रूप है। यही वेदान्तियोके श्रवण, मनन, निदिध्यासन है। गीतामे इसे प्रणिपात, परिप्रश्न तथा सेवाके रूपमे कहा गया है। भावना, विवेक तथा तन्मूलक आचारके सम्मिलित प्रयाससे ही व्यक्तिमे निहित परमात्मात्मिक सम्भावनाओका विकास होता है, आत्मा परमात्मा बन जाता है। वस्तुत ये दर्शन, ज्ञान चरित्र आत्मस्वभाव ही है जो आत्माकी ही परिणत शक्तियां है, इन्होस स्वभाव खुलना है। ठीक ही है— स्वभावसे ही स्वभाव पाया जाता है, तभी तो वह स्वय प्रकाश है। स्वभाव न कहीं जाता है और न कहीसे आता है, स्वभावके ही रूपान्तरित साधनात्मक रूपमे स्वभावका ही सहज रूप उपलब्ध हो जाता है।

जैन-परम्परामें सन्त और उनकी साधना-पद्धति

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

जैन सन्त लक्षण तथा स्वरूप

सामान्यत भारतीय सन्त साधु, मुनि, तपस्वी या यतिके नामसे अभिहित किए जाते हैं। समयकी गतिशील धारामें साधु-सन्तोंके इतने नाम प्रचलित रहे हैं कि उन सबको गिनाना इस छोटेसे निबन्धमें सम्भव नही है। किन्तु यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि जैन-परम्परामें साधु, मुनि तथा श्रमण शब्द विशेष रूपसे प्रचलित रहे है। साधु चारित्रवाले सन्तोके नाम हैं[1]—श्रमण, सयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दन्त या यति। बौद्ध परम्पराके श्रमण, क्षपणक तथा भिक्षु शब्दोका प्रयोग भी जैनवाङ्मयमें जैन साधुओंके लिए दृष्टिगत होता है। हमारी धारणा यह है कि साधु तथा श्रमण शब्द अत्यन्त प्राचीन है। शौरसेनी आगम ग्रन्थोमे तथा नमस्कार-मन्त्रमे 'साहू' शब्दका ही प्रयोग मिलता है। परवर्ती कालमे जैन आगम ग्रन्थोमे तथा आचार्य कुन्दकुन्द आदिकी रचनाओमे साहू तथा समण दोनो शब्दोके प्रयोग भली-भाँति लक्षित होते है।

साधुका अर्थ है[2]—अनन्तज्ञानादि स्वरूप शुद्धात्माकी साधना करनेवाला। जो अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोका साधक है, वह साधु कहा जाता है। 'सन्त' शब्दसे भी यही भाव ध्वनित होता है क्योंकि सत्, चित और आनन्दको उपलब्ध होनेवाला सन्त कहलाता है। इसी प्रकार जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग, सुख-दु ख, प्रशसा-निन्दा, मिट्टीके ढेले, स्वर्ण और जीवन-मरणके प्रति सदा समताका भाव बना रहता है, वह श्रमण है[3]। दूसरे शब्दोमें जिसके राग-द्वेषका द्वैत प्रकट नही होता, जो सतत विशुद्धदृष्टिज्ञप्ति-स्वभाव शुद्धात्म-तत्त्वका अनुभव करता है, वही सच्चा साधु किंवा सन्त है। इस प्रकार धर्मपरिणत स्वरूपवाला आत्मा शुद्धोपयोगमे लीन होनेके कारण सच्चा सुख अथवा मोक्ष-सुख प्राप्त करता है। साधु-सन्तोकी साधनाका यही एकमात्र लक्ष्य होता है। जो शुद्धोपयोगी श्रमण होते हैं, वे राग-द्वेषादिसे रहित धर्म-परिणति स्वरूप शुद्ध साध्यको उपलब्ध करनेवाले होते है, उन्हे ही उत्तम मुनि कहते है। किन्तु प्रारम्भिक भूमिकामें उनके निकटवर्ती शुभोपयोगी साधु भी गौण रूपसे श्रमण कहे जाते हैं। वास्तवमें परम जिनकी आराधना करनेमें सभी जैन सन्त-साधु स्व-शुद्धात्माके ही आराधक होते है क्योकि निजात्माकी आराधना करके ही वे कर्म-शत्रुओका विनाश करते है।

साधुके अनेक गुण कहे गए हैं। किन्तु उनमें मूल गुणोका होना अत्यन्त अनिवार्य है। मूलगुणके बिना कोई जैन साधु नही हो सकता। मूलगुण ही वे बाहरी लक्षण हैं जिनके आधारपर जैन सन्तकी

---

१. समणोत्ति सजदोत्ति य रिसिमुणिसाधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामाणि सुविहिदाण अणगार भदत दतोत्ति॥ मूलाचार, गा० ८८६

२. "अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूप साधयन्तीति साधव।"—धवला टीका, १, १, १

३ समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥ प्रवचनसार, गा० २४१

परीक्षाकी जाती है। यथार्थमें निर्विकल्पतामें स्थित रहने वाले साम्य दशाको प्राप्त साधु ही उत्तम कहे जाते हैं। परन्तु अधिक समय तक कोई भी श्रमण-सन्त निर्विकल्प दशामें स्थित नही रह सकता। अतएव सम्यक् रूपसे व्यवहार चारित्रका पालन करते हुए अविच्छिन्न रूपसे सामायिकमें आरूढ होते है। चारित्रका उद्देश्य मूलमें समताभावकी उपासना है। क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर-दोनो परम्पराओमें मुनियोके चारित्रको महत्त्व दिया गया है। चारित्र दो प्रकारका कहा गया है—सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र। प्रथम सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट जिनागममें प्रतिपादित तत्त्वार्थके स्वरूपको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना तथा शकादि अतिचार मल-दोष रहित निर्मलता सहित नि शकित आदि अष्टाग गुणोका प्रकट होना सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। द्वितीय महाव्रतादिसे युक्त अट्ठाईस मूलगणोका संयमाचरण है[1]। परमार्थमे तो श्रमणके निर्विकल्प सामायिक संयम रूप एक ही प्रकारका अभेद चारित्र होता है। किन्तु उसमे विकल्प या भेदरूप होनेसे श्रमणोके मूलगुण कहे जाते हैं। दिगम्बर परम्पराके अनुसार सभी कालके तीर्थंकरोके शासनमे सामायिक संयमका ही उपदेश दिया जाता रहता है। किन्तु अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा आदि तीर्थंकर ऋषभदेवने छेदोपस्थापनाका उपदेश दिया था[2]। इसका कारण मुख्य रूपमे घोर मिथ्यात्वी जीवोका होना कहा जाता है। आदि तीर्थमे लोग सरल थे और अन्तिममें कुटिल बुद्धि वाले। अठाईस मूलगुण इस प्रकार कहे गए हैं[3] पाँच महाव्रत, पांच समिति, पाच इन्द्रियोका निरोध, छह आवश्यक, केशलोच, नग्नत्व, अस्नान, भूमिशयन, दन्तधावन-वर्जन, खडे होकर भोजन और एक बार आहार। श्वेताम्बर परम्परामे भी पाँच महाव्रतोको अनिवार्य रूपसे माना गया है। पाँच महाव्रतो और पाच समितियोंके बिना कोइ जैन मुनि नही हो सकता। 'स्थानागसूत्र'मे दश प्रकारकी समाधियोमे पाँच महाव्रत तथा पाँच समितिका उल्लेख किया गया है[4]।

पाँच महाव्रतोंमे सब प्रकारके परिग्रहका त्याग हो जाता है। जहाँ सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग है, वहाँ सभी वस्त्रोंका भी त्याग है। कहा भी है—सम्पूर्ण वस्त्रोका त्याग, अचेलकता या नग्नता, केशलोच करना, शरीरादिसे ममत्व छोडना या कायोत्सर्ग करना और मयूरपिच्छिका धारण करना—यह चार प्रकारका औत्सर्गिक लिंग है[5]। श्वेताम्बरोंके मान्य आगम ग्रन्थमे भी साधुके अठाईस मूलगुणोमेसे कई बाते समान मिलती है। "स्थानागसूत्र"मे उल्लेख है—'आर्यो।' मैंने पाँच महाव्रतात्मक, सप्रतिक्रमण और अचेलधर्मका निरूपण किया है। आर्यो। मैंने नग्नभावत्व, मुण्डभाव, अस्नान, दन्तप्रक्षालन-वर्जन, छत्र-वर्जन, पादुका-वर्जन, भूमि-शय्या, केशलोच आदिका निरूपण किया है[6]। श्वेताम्बर-परम्परामे साधुके मूलगुणोकी

---

१. जिणणाणदिट्ठिसुद्ध पढम सम्मत्तचरणचारित्त।
 बिदिय सजमचरण जिणणाणसदेसिय त पि॥ चारित्तपाहुड, गा० ५

२ बावीस तित्थयरा सामाइयसजम उवदिसति।
 छेदुवट्ठावणिय पुण भयव उसहो य वीरो य॥ मूलाचार, गा०५३३

३. वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाण।
 खिदिसयणमदतधावण ठिदिभोयणमेगभत्त च॥
 एदे खलु मूलगुणा समणाण जिणवरेहिं पण्णत्ता॥ प्रवचनसार, गा० २०८-२०९

४ ठाणांगसुत्त, स्था० १०, सूत्र ८

५ अच्चेलक्क लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहण।
 एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे॥ भगवती आराधना, गा० ८२

६ मुनि नथमल उत्तराध्ययन-एक समीक्षात्मक अध्ययन, कलकत्ता, १९६८, पृ० १२८

संख्या सामान्यत छह मानी गई है[1]। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने मूलगुणोंकी संख्या पाँच और छह दोनोंका उल्लेख किया है सम्यक्त्वसे सहित पाँच महाव्रतोंको उन्होंने पाँच मूलगुण कहा है[2]। इन पाँच महाव्रतोंके साथ रात्रिभोजन-विरमण मिलाकर मूलगुणोंकी संख्या छह कही जाती है।

वास्तवमें जैन साधु-सन्तोंका सच्चा स्वरूप दिगम्बर मुद्रामें विराजित वीतरागतामें ही लक्षित होता है। अतएव सभी भारतीय सम्प्रदायोमें समानान्तर रूपसे दिगम्बरत्वका महत्त्व किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार किया गया है। योगियोंमें परमहंस साधुओंका स्थान सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। आजीवक श्रमण नग्न रूपमें ही विहार करते थे। इसी प्रकार हिन्दुओंके कापालिक साधु नागा ही होते हैं जो आज भी विद्यमान हैं। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती ह। भारतीय सन्तोंकी परम्परा वैदिक और श्रमण—इन दो रूपोमे अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रवाहित रही है। इसे ही हम दूसरे शब्दोंमें ऋषि-परम्परा तथा मुनि-परम्परा कह सकते हैं। मुनि-परम्परा आध्यात्मिक रही है जिसका सभी प्रकारसे आर्हत संस्कृतिसे सम्बन्ध रहा है। ऋषि-परम्परा वेदोको प्रमाण माननेवाली पूर्णत बार्हत रही है। श्रमण मुनि वस्तु-स्वरूपके विज्ञानी तथा आत्म-धर्मके उपदेष्टा रहे है। आत्म-धर्मकी साधनाके बिना कोई सच्चा श्रमण नही हो सकता। श्रमण-परम्पराके कारण ब्राह्मण धर्ममे वानप्रस्थ और सन्यासको प्रश्रय मिला[3]। जैनधर्ममें प्रारम्भसे ही वानप्रस्थके रूपमे ऐलक, क्षुल्लक (लगोटी धारण करने वाले) साधकोका वर्ग दिगम्बर-परम्परामें प्रचलित रहा है। सन्यासीके रूपमे पूर्ण नग्न साधु ही मान्य रहे हैं।

केवल जैन साहित्यमें ही नही, वेद, उपनिषद्, पुराणादि साहित्यमें भी श्रमण-सस्कृतिके पुरस्कर्ता 'श्रमण'का उल्लेख तपस्वीके रूपमें परिलक्षित होता है[4]। इन उल्लेखोंके आधारपर जैनधर्म व आर्हत मतकी प्राचीनताका निश्चित होता है। इतना ही नही, इस काल-चक्रकी धारामें अभिमत प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवका भी सादर उल्लेख वैदिक वाङ्मय तथा हिन्दू पुराणोंमें मिलता है। अतएव इनकी प्रामाणिकतामें कोई सन्देह नही है। पुराण-साहित्यके अध्ययनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भिक्षुओंके पाँच महाव्रत या यम सर्वमान्य थे[5]। 'जाबालोपनिषद्'का यह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है कि निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रही, नग्न-दिगम्बर साधु ब्रह्म मार्गमे सलग्न है[6]। उपनिषद्-साहित्यमें 'तुरीयातीत' अर्थात् सर्वत्यागी सन्यासियोका

१ विशेषावश्यक भाष्य, गा० १८२९

२ सम्मत्त समेयाइ महव्वयाणुव्वयाइ मूलगुणा। वही, गा० १२४४

३. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैन साहित्यका इतिहास, पूर्व पीठिकासे उद्धृत, पृ० १३

४ "तृदिला अतृदिलासो अद्रयो श्रमणा अशृथिता अमृत्यव।"—ऋग्वेद, १०, ९४, ११

"श्रमणो श्रमणस्तापतो तापसो" बृहदारण्यक, ४, ३, २२

"वातरशना ह वा ऋषय श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवु"—तैत्तिरीय आरण्यक, २ प्रपाठक, ७ अनुवाक, १—२तथा—तैत्तरीयोपनिषद् २,

"वातरशना य ऋषय श्रमणा उर्ध्वमन्थिन।"—श्रीमद्भागवत ११, ६, ४७

"यत्र लोका न लोका श्रमणो न श्रमणस्तापसो।"—ब्रह्मोपनिषद्

"आत्मारामा समदृश प्रायश' श्रमणा जना।"—श्रीमद्भागवत १२, ३, १८

५. अस्तेय ब्रह्मचर्यञ्च अलोभस्त्याग एव च।
व्रतानि पच भिक्षूणामहिंसा परमात्विह॥ लिंगपुराण, ८९, २४

६. "यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तद् ब्रह्ममार्गे।"—जाबालोपनिषद्, पृ० २६०

जो वर्णन किया गया है, उनमें परमहस साधुकी भाँति अपनी उत्तम चर्या लिए हुए आत्म-ज्ञान-ध्यानमें लीन दिगम्बर जैन साधु कहे जाते हैं। सन्यासीको भी अपने शुद्धरूपमें दिगम्बर बताया गया है। टीकाकारोने 'अवधूत' का अर्थ दिगम्बर किया है[१]। भर्तृहरिने दिगम्बर मुद्राका महत्त्व बताते हुए यह कामनाकी थी कि मैं इस अवस्थाको कब प्राप्त होऊँगा ? क्योंकि दिगम्बरत्वके बिना कर्म-जजालसे मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नही है[२]।

साधना-पद्धति

यथार्थमें स्वभावकी आराधनाको साधना कहते हैं। स्वभावकी आराधनाके समय समस्त लौकिक कर्म तथा व्यावहारिक प्रवृत्तिगौण हो जाती है, क्योकि उसमें राग-द्वेषकी प्रवृत्ति होती है। वास्तवमें प्रवृत्तिका मूल राग कहा गया है। अत राग-द्वेषके त्यागका नाम निवृत्ति है। राग-द्वेषका सम्बन्ध बाहरी पर-पदार्थोंसे होनेके कारण उनका भी त्याग किया जाता है, किन्तु त्यागका मूल राग-द्वेष-मोहका अभाव है। जैसे-जैसे यह जीव आत्म-स्वभावमें लीन होता जाता है, वैसे-वैसे धार्मिक क्रिया प्रवृत्तिरूप व्रत-नियमादि सहज ही छूटते जाते हैं। साधक दशामें साधु जिन मूल गुणो तथा उत्तर गुणोको साध्यके निमित्त समझकर पूर्वमे अगीकार करता है, व्यवहारमें उनका पालन करता हुआ भी उनसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति नही मानता। इसीलिए कहा गया है कि व्यवहारमें बन्ध होता है और स्वभावमें लीन होनेसे मोक्ष होता है। इसीलिए स्वभावकी आराधनाके समय व्यहारको गौण कर देना चाहिए[3]। जिनकी व्यवहारकी ही एकान्त मान्यता है, वे सुख-दुखादि कर्मोंमे छूटकर कभी सच्चे सुखको उपलब्ध नही होते। क्योकि व्यवहार पर-पदार्थोंके आश्रयमे होता है और उनके ही आश्रयसे राग-द्वेषके भाव होते है। परन्तु परमार्थ निज आत्माश्रित है, इसलिए कर्म-प्रवृत्ति छुडानेके लिए परमार्थका उपदेश दिया गया है। व्यवहारका आश्रय तो अभव्य जीव भी ग्रहण करते हैं। व्रत, समिति, गुप्ति, तप और शीलका पालन करते हुए भी वे सदा मोही, अज्ञानी बने रहते है[४]। जो ऐसा मानते हैं कि पर-पदार्थ जीवमें राग-द्वेष उत्पन्न करते हैं, तो यह अज्ञान है। क्योकि आत्माके उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषका कारण अपने ही अशुद्ध परिणाम है, अन्य द्रव्य तो निमित्तमात्र हैं। परमार्थमें आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्य निमित्तकी अपेक्षा मात्र नित्य, अभेद एक रूप है। उसमें ऐसी स्वच्छता है कि दर्पणकी भाँति जब जैसा निमित्त मिलता है वैसा स्वय परिणमन करता है, उसको अन्य कोई परिणमाता नही है। किन्तु जिनको आत्मस्वरूपका ज्ञान नही है, वे ऐसा मानते हैं कि आत्माको परद्रव्य जैसा यह परिणमन करता है। यह मान्यता अज्ञानपूर्ण है क्योकि जिसे कार्यके पुरुषार्थका पता होगा, वही अन्य द्रव्यकी

१ ''सन्यास षड्विधो भवति—कुटिचक्र बहूदकहस परमहस तुरीयातीत अवधूश्रुति।—सन्यासोपनिषद्,१३
तुरीयातीत—सर्वत्यागी तुरीयातीतो गोमुखवृत्या फलाहारी चेति गृहत्यागी देहमात्रावशिष्टो दिगम्बर कुणपवच्छरीरवृत्तिक ।

२ एकाकी निस्पृह शान्त पाणिपात्रो दिगम्बर ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षम ॥ वैराग्यशतक, ५८, वि० स० १९८२ का सस्करण

३. ववहारादो बधो मोक्खो जम्हा सहावसजुत्तो ।
तम्हा कुरु त गउण सहावमाराहणाकाले ॥ नयचक्र, गा० २४२

४ वदसमिदीगुत्तिओ सीलतव जिणवरेहि पण्णत्त ।
कुव्वतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥ समयसार, गा० २७३

क्रियाको बदलकर उसे शक्तिहीन कर सकता है, परन्तु सभी द्रव्य अपने-अपने परिणमनमें स्वतन्त्र हैं। उनको मूलरूपसे बनाने और मिटानेका भाव करना कर्तृत्वरूप अहंकार है, घोर अज्ञान है[1]।

जैनदर्शन कहता है कि एकान्तसे द्वैत या अद्वैत नहीं माना जा सकता है। किन्तु लोकमें पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ इहलोक-परलोक, अन्धकार-प्रकाश, ज्ञान-अज्ञान, बन्ध-मोक्षका होना पाया जाता है, अत व्यवहारसे मान लेना चाहिए। यह कथन भी उचित नही है कि कर्मद्वैत, लोकद्वैत आदिकी कल्पना अविद्याके निमित्तसे होती है क्योकि विद्या अविद्या और बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था अद्वैतमें नही हो सकती है। हेतुके द्वारा यदि अद्वैतकी सिद्धि की जाए, तो हेतु तथा साध्यके सद्भावमे द्वैतकी भी सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार हेतुके बिना यदि अद्वैतकी सिद्धिकी जाये, तो वचन मात्रसे द्वैतकी सिद्धि हो जाती है[2]। अतएव किसी अपेक्षासे द्वैतको और किसी अपेक्षासे अद्वैतको माना जा सकता है, किन्तु वस्तु-स्थिति वैसी होनी चाहिए क्योकि आत्मद्रव्य परमार्थसे बन्ध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है। इसी विचार-सरणिके अनुरूप परमार्थोन्मुखी होकर व्यवहारमार्गमें प्रवृत्तिका उपदेश किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्दका कथन है—साधु पुरुष सदा सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका सेवन करें। परमार्थमें इन तीनोंको आत्मस्वरूप ही जानें[3]। परमार्थ या निश्चय अभेद रूप है और व्यवहार भेद रूप है। जिनागमका समस्त विवेचन परमार्थ और व्यवहार—दोनो प्रकारमे किया गया है। येही दोनो अनेकान्तके मूल है।

साधना : क्रम व भेद

जिस प्रकार ज्ञान, ज्ञप्ति, ज्ञाता और ज्ञेयका प्रतिपादन किया जाता है, उसी प्रकारसे साधन, साधना, साधक और साध्यका भी विचार किया गया है। साधनसे ही साधनाका क्रम निश्चित होता है। साधनका निश्चय साध्य-साधक सम्बन्धसे किया जाता है। सम्बन्ध द्रव्य क्षेत्र, काल और भावके आधारपर निश्चित किया जाता है। जहाँ पर अभेद प्रधान होता है और भेद गौण अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी प्रत्यासत्ति होती है, उसे सम्बन्ध कहते है। स्वभाव मात्र स्वस्वामित्वमयी सम्बन्ध-शक्ति कही जाती है। साधनाके मूलमे यही परिणमनशील लक्षित होती है। जैनदर्शनके अनुसार मनुष्यमात्रका साध्य कर्म-क्लेशमे मुक्ति या आत्मोपलब्धि है। अपने असाधारण गुणसे युक्त स्व-परप्रकाश आत्मा स्वय साधक है। दूसरे शब्दोंसे शुद्ध आत्माकी स्वत उपलब्धि साध्य है और अशुद्ध आत्मा साधक है। आत्मद्रव्य निर्मल ज्ञानमय है जो परमात्मा रूप है[4]। इस प्रकार साध्यको सिद्ध करनेके लिए जिन अन्तरग और बहिरग निमित्तोका आलम्बन लिया जाता है, उनको साधन कहा जाता है और तद्रूप प्रवृत्तिको साधना

---

१ अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञान स्वय किल भवन्नपि रज्यते य।
पीत्वा ज्ञान दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया गा दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम्॥
—समयसारकलश श्लो० ५७

२ कर्मद्वैत फलद्वैत लोकद्वैत च नो भवेत्।
विद्या विद्याद्वय न स्याद् बन्धमोक्षद्वय तथा॥
हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैत स्याद्धेतुसाध्ययो।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैत वाङ्मात्रतो न किम्॥ आप्तमीमासा प० २, का० २५–२६

३. दसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्च।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाण चेव णिच्छयदो॥ समयसार, गा० १६

४ जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बभु परु देहह म करि भेउ॥ परमात्मप्रकाश, १, २६

कहते हैं। जैनधर्मकी मूलधुरी वीतरागता है। वीतरागताकी परिणतिमें जो निमित्त होता है, उसे ही लोकमें साधन या कारण कहा जाता है। वीतरागताकी प्राप्तिमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र व तप साधन कहे जाते हैं। इनको ही जिनागममें आराधना नाम दिया गया है[1]। आराधनाका मूल सूत्र है—वस्तु-स्वरूपकी वास्तविक पहचान। जिसे आत्माकी पहचान नही है, वह वर्तमान तथा अनुभूयमान शुद्ध दशाका बोध नहीं कर सकता। अतएव सकर्मा तथा अबन्ध—दोनो ही दशाओका वास्तविक परिज्ञान कर साधक भेद-विज्ञानके बलपर मुक्तिकी आराधनाके मार्गपर अग्रसर हो सकता है।

जैनधर्मकी मूलधारा वीतरागतासे उपलक्षित वीतराग परिणति है। उमे लक्षकर जिस साधना-पद्धतिका निर्वचन किया गया है, वह एकान्तत न तो ज्ञानप्रधान है, न चारित्रप्रधान और न केवल मुक्ति-प्रधान। वास्तवमें इसमें तीनोंका सम्यक् समन्वय है। दूसरे शब्दोमें यह कहा जा सकता है कि यह सम्यक् दर्शन-ज्ञानमूलक चारित्रप्रधान साधना-पद्धति है। यथार्थमें चारित्र पुरुषका दर्पण है। चारित्रके निर्मल दर्पणमें ही पुरुषका व्यक्तित्व सम्यक् प्रकार प्रतिबिम्बित होता है। वास्तवमें चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है—ऐसा जिनागममे कहा गया है। मोह, राग-द्वेषसे रहित आत्माका परिणाम साम्य है[2]। जिस गुणके निर्मल होनेपर अन्य द्रव्योंसे भिन्न सच्चिदानन्द विज्ञानघनस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्मचैतन्यकी प्रतीति हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव रूपमे भेद-विज्ञान युक्त जो है, वही सम्यग्ज्ञान है तथा राग-द्वेष व योगकी निवृत्ति पूर्वक स्वात्म-स्वभावमे सलीन होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनो साधन क्रमसे पूर्ण होते हैं। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी पूर्णता होती है, तदनन्तर सम्यग्ज्ञानकी और अन्तमें सम्यक्-चारित्रमें पूर्णता होती है। अतएव इन तीनोकी पूर्णता होनेपर ही आत्मा विभाव-भावो तथा कर्म-बन्धनोसे मुक्त होकर पूर्ण विशुद्धताको उपलब्ध होता है। यही कारण है कि ये तीनो मिलकर मोक्षके साधन माने गए हैं। इनमेंसे किसी एकके भी अपूर्ण रहनेपर मोक्ष नही हो सकता।

जैनधर्म विशुद्ध आध्यात्मिक है। अत जैन साधु-सन्तोंकी चर्या भी आध्यात्मिक है। किन्तु अन्य सन्तोंसे इनकी विलक्षणता यह है कि इनका अध्यात्म चारित्रनिरपेक्ष नही है। जैन सन्तोका जीवन अथसे इति तक परमार्थ चारित्रसे भरपूर है। उनकी सभी प्रवृत्तियाँ व्यवहार चारित्र सापेक्ष होती हैं। दूसरे शब्दोमें जैन सन्त समन्वय और समताके आदर्श होते हैं। उनमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रका समन्वय तथा सुख-दुःखादि परिस्थितियोंमें समताभाव लक्षित होता है। उनका चारित्र राग-द्वेष, मोहसे रहित होता है। इस प्रकार अन्तरग और बहिरग—दोनोंसे आराधना करते हुए जो वीतराग चारित्रके अविनाभूत निज शुद्धात्माकी भावना करते हैं, उन्हें साधु कहते हैं[3]। उत्तम साधु स्वसवेदनगम्य परमनिर्विकल्प समाधिमें निरत

---

१. उज्जोवणमुज्जवण णिव्वहण साहण च णिच्छरण।
दसणणाणचरित्त तवाणमाराहणा भणिदा ॥ भगवती आराधना, अ०१, गा० २

२. चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ प्रवचनसार, गा० ७

३ "आभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा य कर्ता वीतरागचारित्राविनाभूत स्वशुद्धात्मान साधयति भावयति स साधुर्भवति।"

—बृहद्द्रव्यसग्रह, गा० ५४ की व्याख्या

तथा—

दसणणाणसमग्ग मग्ग मोक्खस्स जो हु चारित्त।
साधयदि णिच्चसुद्ध साहू स मुणी णमो तस्स ॥—द्रव्यसग्रह, गा० ५४

रहते हैं। ज्ञानानन्द स्वरूपका साधक साधु आत्मानन्दको प्राप्त करता ही है। अत. सर्वक्रियाओंसे रहित साधुको ज्ञानका आश्रय ही शरणभूत होता है। कहा भी है—जो परमार्थ स्वरूप ज्ञानभावमें स्थित नहीं हैं, वे भले ही व्रत, सयम रूप तप आदिका आचरण करते रहें, किन्तु यथार्थ मोक्षमार्ग उनसे दूर है। क्योंकि पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ क्रियाओंका निषेध कर देने पर कर्मरहित शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति होने पर साधु आश्रय-हीन नही होते। निष्कर्म अवस्थामें भी स्वभाव रूप निर्विकल्प ज्ञान ही उनके लिए मात्र शरण है। अत उस निर्विकल्प ज्ञानमें तल्लीन साधु-सन्त स्वय ही परम सुखका अनुभव करते है[1]। दु खका कारण आकुलता है और सुखका कारण है—निराकुलता। प्रश्न यह है कि आकुलता क्यों होती है? समाधान यह है कि उपयोगके निमित्तसे आकुलता-निराकुलता होती है। उपयोग क्या है? ज्ञान-दर्शन रूप व्यापार उपयोग है। यह चेतनमें ही पाया जाता है, अचेतनमें नही क्योकि चेतना शक्ति ही उपयोगका कारण है। अनादि कालसे उपयोगके तीन प्रकारके परिमाण हो रहे हैं। यद्यपि परिणाम आत्माकी स्वच्छताका विकार है। किन्तु मोहके निमित्तसे यह जैसा-जैसा परिणमन करती है, वैसी-वैसी परिणति पाई जाती है। जिस प्रकार स्फटिक मणि श्वेत तथा स्वच्छ होती है, किन्तु उसके नीचे रखा हुआ कागज लाल या हरा होनेसे वह मणि भी लाल या हरी दिखलाई पडती है, इसी प्रकार आत्मा अपने स्वभावमें शुद्ध, निरञ्जन चैतन्यस्वरूप होनेपर भी मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अव्रत—इन तीन उपयोग रूपोंमे अनादि कालसे परिणत हो रही है। ऐसा नही है कि पहले इसका स्वरूप शुद्ध था, कालान्तरमें अशुद्ध हो गया हो। इस प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति तीन प्रकारके परिणाम—विकार समझना चाहिए[2]। इनसे युक्त होने पर जीव जिस-जिस भावको करता है, उस-उस भावका कर्ता कहा जाता है। किन्तु प्रवृत्तिमें चेतन-अचेतन भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये इन दोनोको एक मानना या अपना मानना अज्ञान है और जो इन्हें (पर पदार्थोंको) अपना मानते हैं, वे ही ममत्व बुद्धि कर अहकार—ममकार करते है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्तृत्व तथा अहकारके मूलमें भोले प्राणियोंका अज्ञान हो है। इसलिये जो ज्ञानी है, वह यह जाने कि पर द्रव्यमें आपा मानना ही अज्ञान है। ऐसा निश्चय कर सर्व कर्तृत्वका त्याग कर दे[3]। वास्तवमें जैन साधु किसीको भी, यहाँ तक कि भगवान्‌को भी अपना कर्ता नही मानता है। कर्मकी धाराको बदलनेवाला वह परम पुरुषार्थी होता है। सतत ज्ञान-धारामें लीन हो कर वह अपने आत्म-पुरुषार्थके बल कर मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करता है। आत्म-स्वभावका वेदन करता हुआ जो अपनेमे ही अचल व स्थिर हो जाता है, अपने स्वभावसे हटता नही है, वही साधु मोक्षको उपलब्ध होता है।

जैन साधुका अर्थ है—इन्द्रियविजयी आत्म-ज्ञानी। ऐसे आत्मज्ञानीके दो ही प्रमुख कार्य बतलाये हैं—ध्यान और अध्ययन। इस भरतक्षेत्रमें वर्तमान कालमें साधुके धर्मध्यान होता है। यह धर्मध्यान उस

---

१ निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनय सन्त्यशरणा।
तदा ज्ञाने ज्ञान प्रतिचरितमेषा हि शरणम्
स्वय विन्दन्त्येते परममृत तत्र निरत ॥ समयसारकलश श्लोक १–४।

२ उवओगस्स अणाइ परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्त अण्णाण अविरदिभावो य णायव्वो ॥—समयसार, गा० ८९

३ एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एव खलु जो जाणदि सो मुचदि सव्वकत्तित्त ॥—वही, गा० ९७

मुनिके होता है जो आत्मस्वभावमें स्थित है। जो ऐसा नही मानता है, वह अज्ञानी है, उसे धर्मध्यानके स्वरूपका ज्ञान नही है[१]। जो व्यवहारको देखता है, वह अपने आपको नही लख सकता है। इसलिये योगी सभी प्रकारके व्यवहारको छोड कर परमात्माका ध्यान करता है। जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहारमें सोता है, वह आत्मस्वरूप-चर्यामें जागता है। किन्तु जो व्यवहारमें जागता है, वह आत्मचर्यामें सोता रहता है[२]। स्पष्ट है कि साधुके लौकिक व्यवहार नही है और यदि है, तो वह साधु नही है। धर्मका व्यवहार सघमे रहना, महाव्रतादिकका पालन करनेमें भी वह उस समय तत्पर नही होता। अत सब प्रवृत्तियोकी निवृत्ति करके आत्मध्यान करता है। अपने आत्मस्वरूपमें लीन हो कर वह देखता—जानता है कि परमज्योति स्वरूप सच्चिदानन्दका जो अनुभव है, वही मैं हूँ, अन्य सबसे भिन्न हूँ। आचार्य कुन्दकुन्दका कथन है—जो मोह-दलका क्षय करके विषयसे विरक्त हो कर मनका निरोध कर स्वभावमें समवस्थित है, वह आत्माका ध्यान करनेवाला है[३]। जो आत्माश्रयी प्रवृत्तिका आश्रय ग्रहण करता है, उसके ही परद्रव्य-प्रवृत्तिका अभाव होनेसे विषयोंकी विरक्तता होती है। जैसे समुद्रमें एकाकी सचरणशील जहाज पर बैठे हुए पक्षीके लिए उस जहाजके अतिरिक्त अन्य कोई आश्रयभूत स्थान नही है, उसी प्रकार ज्ञान-ध्यानसे विषय-विरक्त शुद्ध चित्तके लिए आत्माके सिवाय किसी द्रव्यका आधार नही रहता। आत्माके निर्विकल्प ध्यानसे ही मोह-ग्रन्थिका भेदन होता है। मोह—गाँठके टूटने पर फिर क्या होता है ? इसे ही समझाते हुए आचार्य कहते है—जो मोह-ग्रन्थिको नष्ट कर, राग-द्वेषका क्षय कर सुख-दु खमें समान होता हुआ श्रामण्य या साधुत्वमें परिणमन करता है, वही अक्षय सुखको प्राप्त करता है[४]।

जिनागममें श्रमण या सन्त दो प्रकारके बताये गए है—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। जो अशुभ प्रवृत्तियोंसे राग तो नही करते, किन्तु जिनके व्रतादि रूप शुभ प्रवृत्तियोमे राग विद्यमान है वे सराग चारित्रके धारक श्रमण कहे गए हैं। परन्तु जिनके किसी भी प्रकारका राग नही है, वे वीतराग श्रमण है[५]। किन्तु यह निश्चित है कि समभाव और आत्मध्यानकी चर्या पूर्वक जो साधु वीतरागताको उपलब्ध होता है, वही कर्म-क्लेशोंका नाशकर सच्चा सुख या मोक्ष प्राप्त करता है, अन्य नही। इस सम्बन्धमें जिनागमका सूत्र यही है कि रागी आत्मा कर्म बाँधता है और राग रहित आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है। निश्चयमे जीवोके बन्धका सक्षेप यही जानना चाहिए[६]। इसका अर्थ यह है कि चाहे गृहस्थ हो या सन्त, सभी राग-

१ भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
त अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥—मोक्षपाहुड, गा० ७६

२ जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥—मोक्षपाहुड, गा० ३१

३ जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाण हवदि झादा ॥ प्रवचनसार, गा० १९६

४ जो णिहदमोहगठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्ज समसुहदुक्खो सो सोक्ख अक्खय लहदि ॥ वही, गा० १९५

५. असुहेण रायरहिओ वयाइरायेण जो हु सजुत्तो।
सो इह भणिय सराओ मुक्को दोहुण पि खलु इयरो ॥ नयचक्र, गा० ३३१

६. रत्तो बंधदि कम्म मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बधसमासो जीवाण जाण णिच्छयदो ॥ प्रवचनसार, गा० १७९

द्वेषके कारण संसार-चक्रमें आवर्तन करते हैं और जब रागसे छूट जाते हैं, तभी मुक्तिके कगारपर पहुँचते हैं। केवल साधु-सन्तका भेष बना लेनेसे या बाहरसे दिखने वाली सन्तोचित क्रियाओंके पालन मात्रसे कोई सच्चा श्रमण-सन्त नही कहा जा सकता। जिनागम क्या है? यह समझाते हुए जब यह कहा जाता है कि जो विशेष नही समझते है, उनको इतना ही समझना चाहिए कि जो वीतरागका आगम है उसमें रागादिक विषय-कषायका अभाव और सम्पूर्ण जीवोकी दया-ये दो प्रधान हैं। फिर, हिंसाका वास्तविक स्वरूप ही यह बताया गया है कि जहाँ-जहाँ राग-द्वेष भाव हैं, वहाँ-वहाँ हिंसा है और जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नही है। श्रमण-सन्त तो धर्मकी मूर्ति कहे गए हैं। वे पूज्य इसीलिए हैं कि उनमें धर्म है। धर्मका आविर्भाव शुद्धोपयोगकी स्थितिमें ही होता है जो वीतराग चारित्रसे युक्त साक्षात् केवलज्ञानको प्रकट करनेवाली होती है। यथार्थमें निश्चय ही साध्य स्वरूप है। यही कहा गया है कि बाह्य और अन्त परमतत्त्वको जानकर ज्ञानका ज्ञानमें ही स्थिर होना निश्चयज्ञान है[१]। यथार्थमे जिस कारणसे परद्रव्यमे राग है, वह ससारका ही कारण है। उस कारणसे ही मुनि नित्य आत्मामें भावना करते हैं, आत्मस्वभावमें लीन रहनेकी भावना भाते हैं[२]। क्योकि परद्रव्यमे राग करनेपर रागका सस्कार दृढ होता है और वह वासनाकी भाँति जन्म-जन्मान्तरो तक सयुक्त रहता है। वीतरागताकी भावना उस सस्कारको शिथिल करती है, उसकी आसक्ति से चित्त परावृत्त होता है और आसक्तिसे हटनेपर ही जैन साधुकी साधना प्रशस्त होती है। आचार्य समन्तभद्रने अत्यन्त सरल शब्दोमें जैन साधुके चार विशेषणोका निर्देश किया है—जो विषयोकी वाछासे रहित, छह कायके जीवोके घातके आरम्भमे रहित, अन्तरग और बहिरग परिग्रहसे रहित तथा ज्ञान-ध्यान-तपमे लीन रहते है, वे ही तपस्वी प्रशसनीय हैं[3]। इस प्रकार अध्यात्म और आगम—दोनोकी परिपाटीमें जैन सन्तको ध्यान व अध्ययनशील बतलाया है। ध्यानसे ही मन, वचन और काय—इन तीनों योगोंका निरोध होकर मोहका विनाश हो जाता है।

जैन-परम्परामें ससारका मूल कारण मोह कहा गया है। मोहके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोहके कारण ही इस जीवकी मान्यता विपरीत हो रही है। सम्यक् मान्यताका नाम ही सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व, अज्ञान और असयमके कारण ही यह जीव ससारमें अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है। अतएव इनसे छूट जानेका नाम ही मुक्ति है। मुक्ति किसी स्थान या व्यक्तिका नाम नही है। यह वह स्थिति है जिसमें प्रतिबन्धक कारणोके अभावसे व्यक्त हुई परमात्माकी शक्ति अपने सहज, स्वाभाविक रूपमें प्रकाशित होती है। दूसरे शब्दोमें यह आत्मस्वभाव रूप ही है[४]। इस अवस्थामें न तो आत्माका अभाव होता है और न उसके किसी गुणका नाश होता है और न ससारी जीवकी भाँति इन्द्रिया-

१ बहिरंत परमतच्च णच्चा णाण खु ज ठिय णाणे।
त इह णिच्छयणाण पुव्व त मुणह ववहार ॥—नयचक्र, गा० ३२७

२ जेण रागो परे दव्वे ससारस्स हि कारण।
तेणावि जोइओ णिच्च कुज्जा अप्पे समावण ॥—मोक्षपाहुड, गा० ७१

३. विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रह।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥—रत्नकरण्डश्रावकाचार, १, १०

४ ज अप्पसहावो मूलोत्तरपयडिसचिय मुयइ।
त मुक्ख अविरुद्ध दुविह खलु दव्वभावगय ॥—नयचक्र, गा० १५८

क्षीन प्रवृत्ति होती है; किन्तु समस्त लौकिक सुखोंसे परे स्वाधीन तथा अनन्त चतुष्टययुक्त हो अक्षय, निराबाध, सतत अवस्थित सच्चिदानन्द परब्रह्मकी स्थिति बनी रहती है।

आध्यात्मिक उत्थानके विभिन्न चरण

वर्तमानमें यह परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर रूपसे दो मुख्य सम्प्रदायोंमें प्रचलित है। दोनों ही सम्प्रदायोंके साधु-सन्त मूलगुणों तथा छह आवश्यकोंका नियमसे पालन करते हैं। दिगम्बर-परम्परामें मूलगुण अट्ठाईस माने गए हैं, किन्तु श्वेताम्बर-परम्परामें मूलगुणोंकी संख्या छह है। दोनों ही परम्पराएँ साधनाके प्रमुख चार अंगों (सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप) को समान रूपसे महत्त्व देती हैं। इसी प्रकार दर्शनके आठ अंग, ज्ञानके पाँच अंग, चारित्रके पाँच अंग और तपकी साधनाके बारह अंग दोनोंमें समान हैं। तपके अन्तर्गत बाह्य और अन्तरंग—दोनों प्रकारके तपोंको दोनों स्वीकार करते हैं। बहिरंग तपके अन्तर्गत काय-क्लेशको भी दोनों महत्त्वपूर्ण मानती हैं। दश प्रकारकी समाचारी भी दोनोंमें लगभग समान है। समाचार या समाचारीका अर्थ है—समताभाव। किन्तु दोनोंकी चर्याओंमें अन्तर है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि श्रमण-सन्तोंके लिए प्रत्येक चर्या, समाचारी, आवश्यक कर्म तथा साधनाके मूलमें समता भाव बनाये रखना अनिवार्य है। इसी प्रकार मोह आदि कर्मके निवारणके लिए ध्यान-तप अनिवार्य माना गया है।

यह निश्चित है कि भारतकी सभी धार्मिक परम्पराओंने साधु-सन्तोंके लिए परमतत्त्वके साक्षात्कार हेतु आध्यात्मिक उत्थानकी विभिन्न भूमिकाओंका प्रतिपादन किया है। बौद्धदर्शनमें छह भूमियोंका वर्णन किया गया है। उनके नाम हैं—अन्धपृथग्जन, कल्याणपृथग्जन, श्रोतापन्न, सकृदागामी, औपपातिक या अनागामी और अर्हत्। वैदिक परम्परामें महर्षि पतंजलिने योगदर्शनमें चित्तकी पाँच भूमिकाओंका निरूपण किया है। वे इस प्रकार हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। वहीं एकाग्रके वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत चार भेदोंका वर्णन है। निरुद्धके पश्चात् कैवल्य या मोक्षकी उपलब्धि हो जाती है। "योगवाशिष्ठ" में चित्तकी चौदह भूमिकाएँ बताई गई है। आजीवक सम्प्रदायमें आठ पेडियोंके रूपमें उनका उल्लेख किया गया है, जिनमेंसे तीन अविकासकी तथा पाँच विकासकी अवस्थाकी द्योतक है। उनके नाम हैं—मन्दा, खिड्डा, पदवीमसा, उजुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। जैन-परम्परामें मुख्य रूपसे ज्ञानधाराका महत्त्व है—क्योंकि सत्यके साक्षात्कार हेतु उसकी सर्वतोमुखेन उपयोगिता है। जिनागम-परम्परामें ज्ञानको केन्द्रमें स्थान दिया है। अतः एक ओर ज्ञान सत्यकी मान्यतासे संयुक्त है और दूसरी ओर सत्यकी मूल प्रवृत्तिसे सम्बद्ध है। इसे ही आगममें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय कहा गया है। दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी साधनामें विवेककी जागृति आवश्यक है। आत्मानुभूतिसे लेकर स्वसंवेद्य निर्विकल्पक ज्ञानकी सतत धारा किस प्रकार केवलज्ञानकी स्थितिको उपलब्ध करा देती है—यही संक्षेपमें जैन श्रमण—सन्तोंकी उपलब्धि-कथा है। इस ही गणित तथा तर्ककी भाषामें जिनागममें भावोंकी चौदह अवस्थाओंके आधार पर चौदह गुणस्थानोंके रूपमें विशद एवं सूक्ष्म विवेचित किया है जो जैन गणितके आधार पर ही भली-भाँति समझा जा सकता है। इन सबका सारांश यही है कि चित्तके पूर्ण निरोध होते ही साधक एक ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है जहाँ साधन, साध्य और साधकमें कोई भेद नहीं रह जाता। इस स्थितिमें ध्यानकी सिद्धिके बल पर योगी अष्टकर्म रूप मायाका उच्छेद कर अद्वितीय परमब्रह्मको उपलब्ध हो जाता है जो स्वानुभूति रूप परमानन्द स्वरूप है। एक बार परमपदको प्राप्त करनेके पश्चात् फिर यह कभी मायासे लिप्त नहीं होता और न इसे कभी अवतार ही लेना पड़ता है। अपनी शुद्धात्मपरिणतिको उपलब्ध हुआ श्रमण योगी स्वानुभूति रूप परमानन्द दशामें अनन्त काल तक निमज्जित रहता है। अतएव श्रमण-सन्तोंकी साधनाका उद्देश्य शुद्धात्म तत्त्व रूप परमानन्दकी स्थितिको उपलब्ध होना कहा जाता है।

उनके लिए परमब्रह्म ही एक उपादेय होता है, शुद्धात्मतत्त्वरूप परमब्रह्मके सिवाय सब हेय है। इसलिये उपादेयताकी अपेक्षा परमब्रह्म अद्वितीय है। शक्ति रूपसे शुद्धात्मस्वरूप जीव और अनन्त शुद्धात्माओंके समूह रूप परब्रह्ममें अंश-अंशी सम्बन्ध है। परब्रह्मको उपलब्ध होते ही वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, उनमें और परब्रह्ममें कोई अन्तर नही रहता है। यही इस साधनाका चरम लक्ष्य है।

सन्तोकी अविच्छिन्न परम्परा

सक्षेपमें, जैन श्रमण-सन्तोकी परम्परा आत्मवादी तप-त्यागकी अनाद्यनन्त प्रवहमान वह धारा है जो अतीत, अनागत और वर्तमानका भी अतिक्रान्तकर सतत त्रैकालिक विद्यमान है। भारतीय सन्तोंकी साधना-पद्धतिमे त्यागका उच्चतम आदर्श, अहिंसाका सूक्ष्मतम पालन, व्यक्तित्वका पूर्णतम विकास तथा सयम एव तपकी पराकाष्ठा पाई जाती है। साधनाकी शुद्धता तथा कठोरताके कारण छठी शताब्दीके पश्चात् भलेही इसके अनुयायिओकी सख्या कम हो गई हो, किन्तु आज भी इसकी गौरव-गरिमा किसी भी प्रकार क्षीण नही हुई है। केवल इस देशमें ही नही, देशान्तरोमे भी जैन सन्तोके विहार करनेके उल्लेख मिलते हैं। पालि-ग्रन्थ "महावश"के अनुसार लकामें ईस्वीपूर्व चौथी शताब्दीमें निर्ग्रन्थ साधु विद्यमान थे। सिहलनरेश पाण्डुकामयने अनुरुद्धपुरमे जैनमन्दिरका निर्माण कराया था। तीर्थंकर महावीरके सम्बन्धमें कहा गया है कि उन्होने धर्म-प्रचार करते हुए वृकार्थक, वाह्लीक, यवन, गान्धार, क्वाथतोय, समुद्रवर्ती देशो एव उत्तर दिशाके तार्ण, कार्ण एव प्रच्छाल आदि देशोमें विहार किया था। यह एक इतिहासप्रसिद्ध घटना मानी जाती है कि सिकन्दर महान्के साथ दिगम्बर मुनि कल्याण एव एक अन्य दिगम्बर सन्तने यूनानके लिए विहार किया था। यूनानी लेखकोके कथनमे बेक्ट्रिया और इथोपिया देशोमें श्रमणोके विहारका पता चलता है। मिश्रमें दिगम्बर मूर्तियोका निर्माण हुआ था। वहाँकी कुमारी मेन्टमरी आर्यिकाके भेषमें रहती थी[2]। भृगुकच्छके श्रमणाचार्यने एथेन्समें पहुँचकर अहिंसाधर्मका प्रचार किया था। हुएनसाँगके वर्णनसे स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है कि सातवी शताब्दी तक दिगम्बर मुनि अफगानिस्तानमें जैनधर्मका प्रचार करते रहे हैं[3]। जी०एफ० मूरका कथन है कि ईसाकी जन्म शतीके पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीनमें जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकडोकी सख्यामें चारो ओर फैलकर अहिंसाका प्रचार करते थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथोपियाके पहाडो व जगलोमें उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे। वे अपने आध्यात्मिक ज्ञान और त्यागके लिए प्रसिद्ध थे जो वस्त्र तक नही पहनते थे[4]। मेजर जनरल जे० जी० आर० फर्लांगने भी अपनी खोजमें बताया है कि ओकसियना केस्पिया एव बल्ख तथा समरकन्दके नगरोमें जैनधर्मके केन्द्र पाए गए है, जहाँसे अहिंसाधर्मका प्रचार एव प्रसार होता था[5]। वर्तमानमें भी मुनि सुशीलकुमार तथा भट्टारक चारुकीर्तिके समान सन्त इसे जीवित रखे हुए हैं।

विगत तीन सहस्र वर्षोमे जैनधर्मका जो प्रचार व प्रसार हुआ, उसमें वैश्योंसे भी अधिक ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोका योगदान रहा है। भगवान महावीरके पट्टधर शिष्योंमें ग्यारह गणधर थे जो सभी ब्राह्मण

१ आचार्य जिनसेन हरिवशपुराण, ३, ३-७

२ डा० कामताप्रसाद जैन दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, द्वितीय सस्करण, पृ० २४३

३ ठाकुरप्रसाद शर्मा हुएनसागका भारतभ्रमण, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९२९, पृ० ३७

४. हुकमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४

५ साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलीजन्स, इन्ट्रोडक्शन, १९९७, पृ० ८

थे। जैनधर्मकी परम्पराके प्रवर्तक जिन चौबीस तीर्थंकरोंका वर्णन मिलता है, उससे निश्चित है कि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। केवल तीर्थंकर ही नहीं, समस्त शलाका पुरुष क्षत्रिय कहे जाते हैं। प्रत्येक कल्पकालमें तिरेसठ शलाकाके पुरुष होते हैं। इसी प्रकार जैनधर्मके परिपालक अनेक चक्रवर्ती महाराजा हुए। जहाँ बड़े-बडे चक्रवर्ती राजाओंने इस देशकी अखण्डताको स्थापित कर शान्तिकी दुन्दुभि बजाई थी, वहीं महाराजा बिम्बिसार (श्रेणिक), सम्राट् चन्द्रगुप्त, मगधनरेश सम्प्रति, कलिंगनरेश खारबेल, महाराजा आषाढसेन, अविनीत गंग, दुर्विनीत गंग, गंगनरेश मारसिंह, वीरमार्तण्ड चामुण्डराय, महारानी कुन्दब्बे, सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम, कोलुत्तु ग चोल, माहसतुग, त्रैलोक्यमल्ल, आहवमल्ल, बोप्पदेव कदम्ब, सेनापति गंगराज, महारानी भीमादेवी, दण्डनायक बोप्प और राजा सुहेल आदिने भी इस धर्मका प्रचार व प्रसार किया है। पाँचवी-छठी शताब्दीके अनेक कदम्बवंशी राजा जैनधर्मके अनुयायी थे। राष्ट्रकूट-कालमें राज्याश्रयके कारण इस धर्मका व्यापक प्रचार व प्रसार था। अनेक ब्राह्मण विद्वान् जैनदर्शनकी विशेषताओंसे आकृष्ट होकर जैनधर्मावलम्बी हुए। मूलसंघके अनुयायी ब्रह्मसेन बहुत बडे विद्वान् तथा तपस्वी थे। 'सन्मतिसूत्र' तथा 'द्वात्रिंशिकाओं' के रचयिता सिद्धसेन ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे जो आगे चलकर प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। वत्सगोत्री ब्रह्मशिवने सम्पूर्ण भारतीय दर्शनोंका तुलनात्मक अध्ययन कर 'समयपरीक्षा' ग्रन्थकी रचना की जो बारहवी शताब्दीकी रचना है। भारद्वाज गोत्रीय आचण्ण 'वर्द्धमानपुराण'के रचयिता बारहवी शताब्दीके कवि थे। दसवी शताब्दीके अपभ्रंशके प्रसिद्ध कवि धवलका जन्म भी विप्रकुलमें हुआ था। कुतीर्थ और कुधर्मसे चित्त विरक्त होनेपर उन्होंने जैनधर्मका आश्रय लिया और 'हरिवंशपुराण' की रचना की। दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आचार्य कर्नाटकदेशीय पूज्यपादका जन्म भी ब्राह्मणकुलमें हुआ था। इस प्रकारसे अनेक विप्र साधकोंने वस्तु-स्वरूपका ज्ञान कर जैन साधना-पद्धतिको अंगीकार किया था।

●

तत्त्वार्थकी दिगम्बर टीकाओंमें आगम और निर्ग्रन्थताकी चर्चा

दलसुख मालवणिया

ला० द० भारतीय विद्यामन्दिर, अहमदाबाद

तत्त्वार्थसूत्र ऐसा ग्रन्थ है जो प्राचीन है और उसकी टीकाएँ कालक्रमसे लिखी गई है। अतएव इस कालक्रममें आगम और निर्ग्रन्थताकी धारणाओमें किस प्रकार परिवर्तन हुआ तथा इस आधार पर श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेद किस प्रकार उत्तरोत्तर बढता गया, इसके जाननेके लिये ये टीकायें उत्तम साधन हैं। यहाँ तत्त्वार्थकी पूज्यपादसे लेकर श्रुतसागर तककी दिगम्बर-टीकाओके आधारसे इस प्रश्नकी चर्चाकी जाती है जिससे जैनागमोके प्रामाण्य और उनके विच्छेदके प्रश्नके विषयमें प्रकाश मिलेगा और श्वेताम्बर-दिगम्बर-सम्प्रदायके विषयमें अन्य जानकारी भी मिलेगी। यह सामग्री एकत्र करना इसलिये जरूरी है कि अब तक श्वेताम्बर-दिगम्बर-सम्प्रदायका पूरा इतिहास हमारे समक्ष आया नही है।

यहाँ मैंने एकादशजिने (९-११) और ऐसे अन्य सूत्रोकी व्याख्याकी चर्चा नही की है। इस लेखका उद्देश्य सीमित है। अतएव सम्पूर्ण सामग्री देना अभिप्रेत नही। केवल साधक रूपसे दोनो सम्प्रदायोंके बीचकी खाई किस तरह बढी है, यह दिखाना अभिप्रेत है। केवलि कवलाहार यदि न माना जाय, तो तदनुसार अन्य मान्यताको भी सशोधित करना पडता है। उसी कोटिमें एकादश जिने जैसे सूत्र आते हैं। इन सब मतभेदकी चर्चा अन्य विद्वानोने भी की है, अतएव उसे यहाँ दोहराना अभिप्रेत नही है।

तत्त्वार्थ सूत्र १ २० में श्रुत मतिपूर्वं द्वय नेकद्वादशभेदम्—इतना ही कहा था। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकारको आगमके मूल दो भेद—अग और अगबाह्य मान्य थे। अगके बारह और बाह्यके अनेक भेद समत थे। स्पष्ट है कि उमास्वाति (भी) तक आगमकी यह स्थिति थी और उनके समय तक आगमके अस्तित्वकी या प्रामाण्यके विषयमें कोई मतभेदकी सूचना हमे प्राप्त नही होती। उमास्वाति दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, यह विवादका विषय हो सकता है किन्तु उनका तत्त्वार्थसूत्र उभयमान्य प्रमाण ग्रन्थ है, यह तो निश्चित है। यही कारण है कि दोनो परम्पराओने इसपर टीकायें लिखी हैं और जहाँ परम्परा भेदसे मालूम हुआ, वहाँ टीकाकारोने अपने मनकी पुष्टि करनेका प्रयत्न भी किया है। टीकाकारोमे मतभेद हो सकता है किन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि उक्त आगम—विषयक सूत्रकी व्याख्यामे कोई मतभेद नही है। इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि आगमके अग-अगबाह्य भेद और उसके सूत्र सूचित उपभेदके विषयमें दोनो परम्पराएँ एकमत हैं।

तत्त्वार्थकी भाष्यटीकाके स्वोपज्ञ होनेमें विवाद है, फिर भी अनेक विद्वान् उसे सर्वार्थसिद्धिसे प्राचीन मानते हैं। उसमे अगबाह्योंकी गिनती है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वदन, प्रतिक्रमण, कायव्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्याया, दशा, कल्पव्यवहारौ, निशीथ, ऋषिभाषितानि और अन्तमे एव-मादि लिखा है तो अन्य भी कुछ थे, यह फलित होता है। अगप्रविष्ट में आचारको लेकर दृष्टिवाद तक बारह अग गिनाये है। उसमें दृष्टिवादके विच्छेदकी कोई सूचना नही है। यह भी स्पष्टीकरण है कि

भगवान्‌ने जो प्रवचन किया, उसको आधार बनाकर गणधरोंने अंगोंकी रचना की। अंगबाह्यकी रचना गणधरके बादके आचार्योंने की।

सर्वार्थसिद्धिमें बारह अंग नामत गिनाये हैं और अंगबाह्यमें दशवैकालिक और उत्तराध्ययनके नामत गिनाकर आदि कह दिया है। वहाँ दृष्टिवादके पाँच भेद नामत गिनाकर पूर्वगतके चौदहों भेदोंको नामत गिनाया है। वक्ताके विषयमें वही बात कही है जो भाष्यमें निर्दिष्ट है और विशेषमें अंगके प्रामाण्यकी सूचना दी है—'तत् प्रमाण, तत्प्रामाण्यात्' और दशवैकालिक आदिके भी प्रामाण्यको, 'तत् प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजल घटगृहीतमिव' बताया है। इससे स्पष्ट है कि दशवैकालिक आदिका भी प्रामाण्य पूज्यपादको मान्य है। आचार्य पूज्यपादने आगमविच्छेदकी कोई चर्चा नही की।

लेकिन आगमोमें प्रतिपादित विषयोंको लेकर परम्परा भेद हो गया था, यह आचार्यपूज्यपादके निम्न कथनसे स्पष्ट होता है "कवलाभ्यवहारजीविन केवलिन, इत्येवमादिवचन केवलिनामवर्णवाद। मासभक्षणाद्यनवद्याभिधान श्रुतावर्णवाद"। ६–१३।

स्पष्ट है कि श्वेताम्बरोकी आगमवाचनामें केवलीके कवलाहारका प्रतिपादन है। उसे केवलीका अवर्णवाद पूज्यपादने बताया है और श्वेताम्बरोकी आगमवाचनामें मासाशनकी आपवादिक सम्मति दी गई है, उसे भी श्रुतावर्णवाद आचार्यने माना। इस प्रकार हमें आगमवाचनाके विषयमें मतभेद होनेकी सूचना तो पूज्यपादने दी है किन्तु दशवैकालिक आदि या आचारांग आदिके विच्छेदकी कोई सूचना नही दी। स्पष्ट है कि वाचनामें मतभेदका प्रारम्भ है, किन्तु उस मतभेदके कारण आगमको विच्छिन्न मानना अभी शुरू नहीं हुआ है।

परिग्रहके कारण पुलाक आदि विरतोकी निर्ग्रन्थ मानना या नही, इस प्रश्नके विषयमें भी पूज्यपाद स्पष्ट हैं—"त एते पचापि निर्ग्रन्था चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसग्रहादिनयापेक्षया सर्वेपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते" (९–४६)। स्पष्ट है कि आधुनिक कालमें श्वेताम्बर साधुको श्रवक-उपासक कोटिमे जो रखा जाता है, वसा मत पूज्यपादका नही था। यह परिस्थिति बादमे घटित हुई है। इसकी प्रतीति हमें तत्त्वार्थके अग्रिम सूत्र (९–४७) की सर्वार्थसिद्धिसे भी होती है। वहाँ पुलाक और बकुशकी सामायिक और छेदोपस्थापन चारित्र पूज्यपादने भाष्यकी तरह ही माना है और पूज्यपादने भाष्यके समान ही "भावलिंग प्रतीत्य सर्वे पच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति, द्रव्यलिंग प्रतीत्य भाज्या।" (९–४७) यह स्वीकार करके परिग्रहधारीको भी भावलिंगीश्रमण निर्ग्रंथ तो माना ही है। स्पष्ट है कि अभी यह मतभेद तीव्र नही हुआ जिससे दो सम्प्रदाय स्पष्टरूपसे भिन्न ही माने जावें।

आचार्य अकलकने आचारांग आदि बारह अंगोके क्या विषय हैं, इसका विस्तृत वर्णन किया है। उसे पढ़कर यह लगता है कि उनके सम्मुख जो आगम थे, उनकी वाचनामें आज उपलब्ध श्वेताम्बर आगमोंकी वाचनासे पर्याप्त मात्रामें भेद है। उससे यही कल्पना हो सकती है कि आगमोकी सुरक्षाका और नई नई रचना करनेका जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परामे प्रयत्न हुआ, वैसे कई और भी प्रयत्न हुए होगे। एक यह भी कल्पनाकी जा सकती है कि जिस प्रकार आधुनिक कालमें अनुपलब्ध दृष्टिवादके विषयोकी चर्चा परम्परासे या तत्तत् देशोके नामकरणको लेकर प्रतिपाद्य विषयकी चर्चा की जाती है, वैसे ही आचार्य अकलकने भी किया हो। लेकिन एक बात निश्चित है। अकलकने भी राजवार्तिकमें आगमके विच्छेदकी कोई सूचना नही दी है।

एक ध्यान देनेकी बात आचार्य अकलकने कही है। यह अंगबाह्यके कालिक-उत्कालिक भेदकी है। ऐसे ही भेद श्वेताम्बर-परम्परामे भी प्रसिद्ध हैं और नदी आदि सूत्रोंमें उल्लिखित हैं। सर्वार्थसिद्धिमें इन

भेदोंका कोई उल्लेख नही, अतएव हो सकता है कि यह विभाजन पूज्यपाद और अकलंकके बीचके कालमें हुआ हो। श्वेताम्बरोंमें भी अगबाह्यके ये भेद प्राचीन आगमोंमें दिखाई नहीं देते। नंदी (९२-९४), अनुयोग (४) और पाक्षिक सूत्रमें ये भेद किये गये है। इससे भी फलित होता है कि अगबाह्यके ये भेद उमास्वामि तक तो विशेषरूपसे प्रसिद्ध नहीं थे। सभव यह है कि सामायिक आदिको मिलाकर जब तक स्वतंत्र एक आवश्यक सूत्र माना नही गया, तब तक ये भेद भी प्रसिद्धिको प्राप्त नही हुए। यही कारण है कि तत्त्वार्थभाष्यमें सामायिक आदि स्वतत्र ग्रन्थ माने गये हैं और इसी परम्पराका अनुसरण दिगम्बर-मान्य धवला आदिमें भी देखा जाता है। स्पष्ट है कि अनुयोगद्वारकी रचनाके पूर्व ही कभी ये कालिक-उत्कालिक भेद प्रसिद्ध हुए और उन्हे सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परामें अकलकने अपनाया है।

अगबाह्यमें आचार्य अकलकने 'तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकधा' कहकर चर्चाको समाप्त किया है। स्पष्ट है कि उनके सम्मुख अगबाह्यमें उत्तराध्ययनका विशेष महत्त्व हे। अग-अगबाह्यके विच्छेदको भी कोई चर्चा अकलकने नही की। इससे यह परिणाम तो निकल ही सकता है कि उन आगमोंकी कोई वाचनाको वे विद्यमान मानते थे चाहे वह वाचना आज उपलब्ध श्वेताम्बर वाचनासे भिन्न ही क्यो न हो। सर्वथा भिन्न होनेकी सम्भावना भी कम ही है। अधिकाश समान हो, तो कोई आश्चर्य नही।

पूज्यपादने केवलि आदिके अवर्णवादकी जो चर्चा की है, उससे बादकी भूमिका आचार्य अकलकमें देखी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन आगमके भाष्यादि टीका ग्रन्थ पूज्यपादके समक्ष नही आये किन्तु अकलकने देखे है। यही कारण है कि उन्होने अवर्णवादकी चर्चामे कुछ नई बातें भी जोडी हैं। तत्त्वार्थ-सूत्रकी (६-१३) व्याख्यामें आचार्य अकलक कहते हैं, "पिण्डाभ्यवहारजीविन केवलदशा निर्हरणा अलाबू-पात्रपरिग्रहा कालभेदवृत्तज्ञानदर्शन केवलिन इत्यादिवचन केवलिष्ववर्णवाद।" सर्वार्थसिद्धिमें तो केवला-हारका निर्देश कर आदि पद दे दिया था, तब यहाँ वस्त्र, पात्र और ज्ञानदर्शनके क्रमिक उपयोगको लेकर आदि वचन दिया है। स्पष्ट है कि अब वस्त्र और पात्रको लेकर जो विवाद दिगम्बर-श्वेताम्बरोंमे हुआ है, वह भी निर्देशयोग्य माना गया और निर्युक्ति और भाष्यमें ज्ञानदर्शनके क्रमिक उपयोगकी जो सिद्धसेनके विरोधमें चर्चा है, वह भी उल्लेख्य योग्य हो गई। अब दोनो सम्प्रदायोका मतभेद उभर आया है—ऐसा कहा जा सकता है। इसी प्रकार श्रुतावर्णवाद प्रसगमें भी अन्य बातें निर्देश योग्य हो गईं "मासमत्स्यभक्षण मधु-सुरापान वेदनार्दितमैथुनोपसेवारात्रिभोजनमित्येवमादि।" स्पष्ट है कि ये आक्षेप भाष्यको लेकर ही अर्थात् श्वेताम्बरो द्वारा मूलकी जो व्याख्या की जाने लगी, उससे असमति बढती गई।

सघके अवर्णवादको पढकर वह अवर्णवाद जैनोके द्वारा ही किया गया हो, ऐसा सर्वार्थसिद्धिसे फलित नही होता। सर्वार्थसिद्धिमे लिखा है, "शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावन," इससे यह आक्षेप अजैनो द्वारा ही किया जा सकता है, यह स्पष्ट है। किन्तु आचार्य अकलकने जो यह लिखा, "एते श्रमणा शूद्रा अस्नानमला-दिग्धागा अशुचयो दिगम्बरा निरपत्रपा" उससे स्पष्ट होता है कि यह आक्षेप करनेमें श्वेताम्बर भी शामिल है। प्रतीत होता है कि दोनो सम्प्रदायोकी खाई उत्तरोत्तर बढती जा रही है। फिर भी, इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि समग्रभावसे आगमविच्छेद या उसके अप्रामाण्यकी चर्चा अकलकने की नही की। इससे इतना तो कहा जा सकता है कि मूल आगमोको लेकर अभी विवाद खडा नही हुआ होगा।

पुलाकादिके विषयमें पूज्यपादने (९-४६) उनको श्रावक नही माना जा सकता, निर्ग्रन्थ ही वे कहे जायेगें, यह स्पष्ट किया था और कहा था, "गुणभेदादन्योन्यविशेषेऽपि नैगमादिनयव्यापारात् सर्वेपि हि भवन्ति", किन्तु आचार्य अकलकने इस चर्चा को और स्पष्ट किया कि ये गुणहीन हैं, अतएव निश्चयनयसे

निर्ग्रन्थ नहीं हैं किन्तु संग्रहविनयसे हैं, "यद्यपि निश्चयनयापेक्षया गुणहीनेषु न प्रवर्तते तथापि सग्रहव्यवहारनय-विवक्षावशात् सकलविशेषसग्रहो भवति ।" जिस ग्रन्थकी टीका अकलक कर रहे हैं, उसके विरुद्ध तो वे जा नही सकते थे, अतएव निर्ग्रन्थ कहनेमें उन्हें कोई बाधा नही किन्तु स्पष्ट किया कि ये नाम मात्रके निर्ग्रंथ हैं। उनमें निर्ग्रन्थके गुण नही। सर्वार्थसिद्धिमें गुणका तारतम्य मानकर पुलाकादिको निर्ग्रन्थ माना जबकि यहाँ केवल नाममात्रसे माना है और भग्नव्रत निर्ग्रन्थके बाह्य रूपको भी लेकर उन्हें श्रावक शब्दवाच्य नही माना जा सकता, यह भी अकलकने कहा है, "यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रन्थशब्दो वर्तते, श्रावकेपि स्यादिति अतिप्रसग । नैष दोष । कुत ? रूपाभावात् निर्ग्रन्थरूपाभावात्, निर्ग्रन्थरूपमत्र न प्रमाण, नच श्रावके तदस्ति, इति नातिप्रसग ।"

यहाँ एक बात और ध्यान देना जरूरी है। पूज्यपादने मात्र इतना ही कहा था कि पुलाकादि व्रतोका पालन पूर्णरूपसे नही करते। इसी आधारपर अकलकने भी पूज्यपादका अनुसरण ही किया है।

आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी आगमके अग-अगबाह्यका प्रामाण्य स्वीकृत किया है (१२०-४) और "सत्य श्रुत सुनिर्णीतासभवाद्बाधकत्वत ।" (१२०-६५) इस अनुमानसे भी प्रामाण्य सिद्ध किया है और अन्तमें कहा है

प्रोक्तभेदप्रभेद तच्छ्रुतमेव हि तद्दृढम् ।
प्रामाण्यमात्मसात्कुर्यादिति नश्चिन्तयात्र किम् ॥ १२० ८३ ॥

तत्त्वार्थके उक्त दिगम्बर टीकाकारोके मतसे आगमके आचारादि अग्रप्रविष्ट और दशवैकालिक आदि अगबाह्यका प्रमाण्य ह, इतना तो सिद्ध होता ही है और इन टीकाकारोंने आगमविच्छेदकी कोई चर्चा भी नही की। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे अपने काल तक उनके अस्तित्वके विषयमें भी सदिग्ध नही थे। अर्थात् ही जिनग्रन्थोको वे नामत स्वीकार करते है। उनका अस्तित्व भी उनके काल तक निश्चित रूपसे था ही, विच्छेदका प्रश्न ही नही उठता।

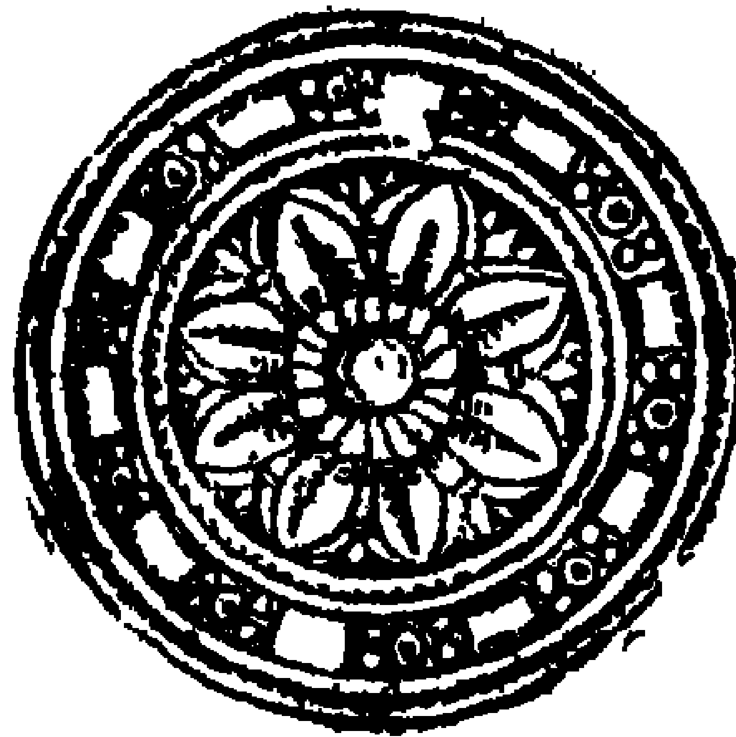
आचार्य विद्यानन्दकी पुलाकादिकी चर्चामें स्पष्ट रूपसे वस्त्रादिकी चर्चाने स्थान पाया है। वहाँ मूर्च्छा और बाह्य वस्तुग्रहणके कार्यकारणकी चर्चा भी है और निर्ग्रन्थका बाह्यरूप यथाजात ही हो सकता है। अतएव वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ नही कहे जा सकते। पुलाकादिको व्यवहारसे और निश्चयसे भी निर्ग्रन्थ कह सकते है किन्तु वस्त्रधारीको नहीं, यह स्पष्टीकरण श्वेताम्बर-दिगम्बरके सम्प्रदायभेदका स्पष्ट रूपसे व्यक्त करता है। उन्होने कहा है

पुलाकाद्या मता पच निर्ग्रन्था व्यवहारत निश्चयाच्चापि नैर्ग्रन्थ्य सामान्यस्याविरोधत । वस्त्रादिग्रन्थसंपन्ना ततोऽन्ये नेति गम्यते—तत्त्वार्थश्लोक ९-४६, १।

"रत्नत्रयोपेत श्रमणगण सघ" (६-१३) यह व्याख्या सघकी पूज्यपादने की थी। अकलकने भी यही व्याख्या मानी है। साथ ही, दिगम्बर मुनि अकेले भी विचरण करते हैं, इस दृष्टिसे समाधान भी किया है कि एक व्यक्तिका भी सघ हो सकता है। इसके लिए आधार भगवती आराधना (गा० ७१४) है। विद्यानद भी यही कहते है। किन्तु श्रुतसागरने सघकी जो व्याख्या की है, वह है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-पात्राणा श्रमणाना, परमदिगम्बराणा गण समूह सघ उच्यते।' (६-१३) स्पष्ट है कि श्वेताम्बर मुनियोके समुदायको सघ नही कहा जा सकता। केवलिके अवर्णवादके विषयमें श्रुतसागरने लिखा है, "केवलिन किल केवलज्ञानिन कवलाहारजीविन, तेषा च रोगा भवति, उपसर्गश्च सजायते, नग्ना भवन्त्येव पर वस्त्राभरणमण्डिता दृश्यन्ते।" इत्यादि ६-१३। इससे इनकी श्वेताम्बर शास्त्रकी विशेष जानकारी प्रगट होती ह।

श्रुतके अवर्णवादके विषयमें श्रुतसागरने लिखा है—"मांसभक्षणं, मद्यपानं, मातृस्वस्रादिमैथुन अलगालने महापापमित्यादि" ६–१३। इससे मातृमैथुन और अलगालनमें महापापकी जो बात लिखी है, उसके मूलकी तलाश करना जरूरी है। बहनके साथ मैथुनकी बात सभवत युगलिक चर्चा लेकर है और ऐसी चर्चाका निर्देश जिनसेन आदिके दिगम्बर पुराणोमे वर्णित नही है। श्वेताम्बर आगमो और पुराणोमें है।

वस्त्रके विषयमें भगवती आराधनाके अनुसार अपवाद मानकर भी श्रुतसागरने श्वेताम्बरोके विषयमे यह लिखा है, "अमुमेवाधार गृहीत्वा जैनाभासा केचित् सचेलत्व मुनीना स्थापयन्ति तन्मिथ्या, साक्षान्मोक्षकारण निर्ग्रन्थलिगमितिवचनात्। अपवादव्याख्यान तु उपकरणकुशीलापेक्षया कर्तव्यम्" (६-४९)। स्पष्ट है कि अब श्वेताम्बर जैन नही किन्तु जैनाभासकोटिमें गिने जाने लगे थे। यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करना जरूरी है कि पूज्यपादसे लेकर श्रुतसागर तक किसीने भी आगमविच्छेदकी चर्चा क्यो नही की ? मेरे विचारसे इसका कारण यह हो सकता है कि इन सभीने यह चर्चा तो की ही है कि आगम अनादि निधन है। श्वेताम्बर भी इसे मानते ही हैं। जब अनादि निधनका समर्थन किया और तत्तत्समयमे पुन पुन आगमोका आविर्भाव स्वीकृत किया, तब आगमके विच्छेदकी चर्चा अप्रासगिक ही होगी। यह दिगम्बर-परपरामे, आगम विच्छिन्न हुए, ऐसा न कहकर आगमधर नही रहे, ऐसी भावनाको बल दिया है। अतएव आगम विच्छेदकी चर्चा पूज्यपादादि आचार्योंने उठाई न हो, यह सभव है। नदीचूर्णिमें हम देखते हैं कि वहाँ इस विषयमें दो मत हैं—एक है, दुष्कालके कारण आगम विप्रनष्ट हुए और दूसरा है—आगमके अनुयोगधर विनष्ट हुए। दिगम्बर ग्रन्थोंमे श्रुतावतारकी चर्चामे आगमधरोकी बात कही जाती है—यह प्रमाण है कि उनके मतमें आगमधरका विच्छेद मान्य हो, न कि आगमोका। अतएव पूज्यपादादि आचार्य आगम विच्छेदकी चर्चा न करें, यह स्वाभाविक है।



समयसारके भाष्य आत्मख्यातिकी मुद्रित प्रतियोंमें एक महत्त्वपूर्ण पाठमें एकरूपताकी आवश्यकता

पण्डित माणिकचन्द्र चवरे, का॰ जा

आचार्यश्री कुन्दकुन्दके समयप्राभृत परमागमके अद्भुत भाष्यकार आचार्यश्री अमृतचन्द्रके आत्मख्याति भाष्यके गाथा सप्तक क्रमाक ३९ का ३५५ जो भाष्य मुद्रित नाना प्रतियोमे प्रकाशित हुआ है, वह लिपिकारोके प्रमादसे अन्यान्य रूपमे प्रकाशित हुआ है। उस पाठमें एक धारा नही रह पायी। आ० अमृतचन्द्र भाववाही समर्पक रचना तथा शब्दरचनाके लिये पूर्ण समर्थ भावप्रभु और भाषाप्रभु रचनाकार है। कही भी रचनामें शिथिलता या यद्वातद्वा प्रवृत्ति नही है। विकल्पके लिये गु जायश ही नही है। इनका एक-एक शब्द नपा तुला है। पदप्रयोगही नही, शब्दप्रयोग, शब्दोमे अक्षर-प्रयोग तक सूत्ररचनाकी तरह यथास्थान औचित्यपूर्ण ही है।

भाष्यका निम्नलिखित एक अश है जिस पाठमे सुधार होकर भविष्यके प्रकाशनोमे एक धारा और एकरूपता होना नितान्त आवश्यक है। आशा है विज्ञ प्रशस्त अध्यवसायी और पण्डितगण योग्य निर्णय करेंगे।

बम्बईकी रायचन्द्र जैन शास्त्रमालासे प्रकाशित और महेन्द्रप्रिंटर्स, सराफा (जबलपुर) द्वारा मुद्रित प्रतिमे पृष्ठ ४३७ पर वह पाठ निम्न प्रकार है

"यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मक कर्म करोति, दु खलक्षणमात्मपरिणामात्मक चेष्टानुरूप कर्मफल भुक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति, तत परिणामपरिणामिभावेनतत्रैव कर्तृकर्म-भोक्तृभोग्यभोग्यत्वनिश्चय ।"

"तथाऽत्मापि चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मक कर्म करोति, दु खलक्षणमात्मपरिणामात्मक चेष्टानुरूप कर्मफल भुक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति, तत परिणामपरिणामिभावेन तत्रव कर्तृकर्म-भोक्तृभोग्यत्वनिश्चय ।"

बम्बईकी इस प्रतिके पहले मुद्रित प्रतियोमे तथा अनन्तर प्रकाशित प्रतियोमे यह अश भिन्न-भिन्न रूपसे मुद्रित होता गया। उन सब प्रकाशनोकी तालिका पाठकोके विचारार्थ सलग्न है। इसे पाठभेद कहनेके लिये हिम्मत नही होती। यह मूलमे लिपिकारके प्रमादवश ही यह मुद्रण गलत रूपसे चला आ रहा सा प्रतीत होता है। विचार पूर्वक भविष्यके लिये उसमें सुधारको अतीव आवश्यकता है। उसमे सुधार किये बिना अर्थमें पूर्णरूपेण यथार्थता नही आ सकती। ध्यान देने योग्य पद है चेष्टारूप "और चेष्टानुरूप।"

यह प्रकरण कर्ताके सम्बन्धमे है। वह जो कर्म (क्रिया) करता है और जो जो कर्मफल भोगता है, वह किस प्रकारका होता है? इसे व्यवहार दृष्टि और परमार्थ दृष्टिसे कैसा समझना चाहिये? यहाँ इसका दृष्टान्तपूर्वक पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण किया गया है।

कर्ताके द्वारा किया जाने वाला कर्म (क्रिया-व्यापार) जो जो होता है, वह चेष्टारूप होता है या चेष्टानुरूप होता है, इसका सूक्ष्म विचार पूर्वक निर्णय होना आवश्यक है। विचार करनेपर यह स्पष्ट

तालिका—१ समयसार गाथा ३४९–३५५ के भाष्यकी भिन्न-भिन्न रूपता

पुस्तिका मुद्रणस्थान	पाठ			
बम्बई	दृष्टान्त — यथा — शिल्पी — चेष्टानुरूप — कर्म करोति ।	दुःखलक्षण	—	चेष्टानुरूपं कर्मफल भुक्ते ।
दिल्ली	दार्ष्टान्ति — तथा — आत्मा — चेष्टानुरूप — कर्म करोति ।	,	—	चेष्टानुरूप कर्मफल भुक्ते ।
सोनगढ	दृष्टान्त — यथा — शिल्पी — चेष्टारूप — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टारूप कर्मफल भुंक्ते ।
	दार्ष्टान्ति — तथा — शिल्पी आत्मा— चेष्टारूप — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टारूप कर्मफल भुक्ते ।
कलकत्ता	दृष्टान्त — यथा — शिल्पी — चेष्टानुरूप — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टानुरूपं कर्मफल भुक्ते ।
	दार्ष्टान्ति — तथा — आत्मा — चेष्टारूपं — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टारूप कर्मफल भुक्ते ।
कारजा	दृष्टान्त — यथा — शिल्पी — चेष्टारूप — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टारूप कर्मफल भुक्ते ।
	दार्ष्टान्ति — तथा — आत्मा — चेष्टारूप — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टारूप कर्मफल भुक्ते ।
मेरठ	दृष्टान्त — यथा — शिल्पी — चेष्टानुरूप — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टानुरूपं कर्मफल भुक्ते ।
(मूलमात्र)	दार्ष्टान्ति — यथा — आत्मा — चेष्टारूपं — कर्म करोति ।	,	—	चेष्टानुरूप कर्मफल भुक्ते ।
सम्भाव्य	दृष्टान्त — यथा — शिल्पी — चेष्टारूपं — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टानुरूपं कर्मफल भुंक्ते ।
पाठ	दार्ष्टान्ति — तथा — आत्मा — चेष्टारूपं — कर्म करोति ।	,,	—	चेष्टानुरूपं कर्मफलं भुंक्ते ।

दृष्टिमें आ सकता है कि जो जो क्रिया-व्यापार होता है, वह स्वय चेष्टारूप ही होता है न कि चेष्टानुरूप। क्योंकि क्रिया-व्यापारसे भिन्न चेष्टा कोई स्वतन्त्र वस्तु नही होती। अत दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनो जगह पर—

"चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मक कर्म करोति।"

ऐसा ही पाठ निर्दोष प्रतीत होता है। यहाँ 'चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मक कर्मकरोति' यह पाठ ठीक नही मालूम होता। आ० अमृतचन्द्रकी रचनाका अध्ययन और प्रकरणका मनन करनेके अनन्तर सहज ही यह ख्यालमे आवेगा। चेष्टा कोई अलग-पृथक् हो और क्रिया-व्यापार रूप कर्म कोई स्वतत्र हो, ऐसा नही है। अत 'चेष्टाके अनुरूप इस अर्थमें शब्द प्रयोग कोई अर्थ नही रखता। इस प्रकार कर्म (क्रियाव्यापार रूप) का खुलासा करते समय 'चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मक कर्मफल भुक्ते'—ऐसा पाठ होना चाहिये। क्योंकि सुख-दुख-रूप जो जो कर्मफल होता है, वह पूर्वमे किये गये भले-बुरे (चेष्टारूप) कर्मके अनुरूप होता है। फल कोई चेष्टारूप नही होता। ऐसी मेरी धारणा है। यदि माना भी जावेगा, तो कर्मके स्वरूपमे और कर्मफलके स्वरूपमे अन्तर नही रहेगा। अत कर्मको सुनिश्चित रूपसे चेष्टारूप और कर्मफलका स्वरूप स्पष्ट करते समय चेष्टानुरूप ऐसा प्रयोग दृष्टान्त और दार्ष्टान्त-दोनो जगहपर करना योग्य होता। और ऐसा पाठ बम्बई-दिल्ली तथा मेरठकी (सार्थ) नयी प्रतिमे मुद्रित भी है।

तालिकाको सूक्ष्मतासे देखनेमे यह सहज स्पष्ट हो जावेगा कि मुद्रित प्रतियोमे एकरूपता नही है। मैं आशा करता हूँ कि विज्ञ अध्यवसायी पण्डितगण इस विषयमे अपना अभिप्राय तथा मनन प्रगट करनेका अनुग्रह करेंगे और प्रकाशक सावधानी पूर्वक आगामी आवृत्तियोमे सुधार अवश्य करेंगे। जिससे अर्थग्रहणमे निर्दोषता आवेगी। रसहानि तथा अर्थहानि भी नही होगी। क्या ही अच्छा होगा यदि आत्मख्याति के तालबद्ध-लयबद्ध अद्भुतगद्य अशका भी प्राचीन शुद्ध प्रतियोके आधारसे शुद्ध सस्करण हो।



संग्रहवृत्तिके असंग्रहवृत्तिकी ओर

अगरचन्द्र नाहटा, बीकानेर

विश्वके समस्त प्राणियोमे मानव एक विचारशील और विशिष्ट प्राणी है। मनकी विशेष शक्तिके द्वारा उसने नये आविष्कार किये, अनेक प्रकारके चिन्तन और कार्यों द्वारा विष और अमृत घोला। इसीलिये शास्त्रकारोने मनुष्यको ही सबसे ऊँचे और नीचे पदोका अधिकारी माना। फलत वह सातवे नरक तक नीचे और ऊँचेसे ऊँचे मोक्ष तकको पा सकता है। मानसिक और शारीरिक शक्तिमे समय-समय पर बहुत अधिक उत्थान और पतन यानी क्रान्ति हुई और उस विकास परम्पराका इतिहास बहुत ही रोचक एव ज्ञानवर्धक है।

अन्य प्राणियोकी अपेक्षा सग्रह और असग्रह वृत्ति भी मनुष्योमे ही अधिकसे अधिक परिमाणमे पाई जाती है। सग्रहके साधन और सरक्षणमे उपाय भी सबसे ज्यादा उसीको प्राप्त एव ज्ञात है और उसीने सग्रहवृत्तिके लाभालाभका सबसे अधिक चिन्तन व अनुभव करके असग्रह वृत्ति या त्यागकी ओर सबसे अधिक प्रगति की है। प्रस्तुत लेखमे मानवकी इन दोनो प्रकारकी वृत्तियोके विकासका सक्षिप्त इतिहास जैन दृष्टि-कोणसे उपस्थित किया जा रहा है, क्योकि जैनधर्ममे अपरिग्रहको सबसे अधिक महत्त्वका स्थान मिला है। जैन तीर्थंकरो आदिने त्यागकी उच्चतमभूमिकाका स्पर्श किया और प्रत्येक जैनीके लिये परिग्रहका परिमाण तथा इच्छा व मुच्छीका सकोच आवश्यक माना गया है। हिंसा आदिकी तरह ही परिग्रहको पाप और अपरिग्रहको धर्म माना गया।

कोई भी प्राणी जन्म लेते समय शरीरके अतिरिक्त कोई भी वस्तु साथ लेकर नही आता। अत स्वभावत वह अपरिग्रही-सा है क्योकि जाते समय भी सग्रहकी हुई कोई भी वस्तु साथ नही ले जाई जा सकती। सग्रहवृत्ति सप्रयोजन है। ज्यो-ज्यो मनुष्यकी आवश्यकतायें और इच्छाये बढती हैं, वह अधिका-धिक सग्रहकी ओर प्रवृत्त होता है। और जब सग्रहीत या असग्रहीत पदार्थोंकी मुर्छा या ममत्वका त्याग कर देता है, तब वह अपरिग्रही, निवृत्त या त्यागी कहलाता है। जैनधर्म निवृत्ति या त्याग प्रधान है। भोगोंसे हटकर त्यागकी ओर बढना ही जैनधर्मका सन्देश है क्योकि भोग व सग्रहवृत्ति चचलता, विषमता, बन्ध और अशान्तिके कारण है और समत्वका अधिकाधिक विकास जैनधर्मकी साधनाका मुख्य ध्येय है।

जैनग्रन्थोके अनुसार, विश्वके उत्थान और पतनकी प्रधानताको लक्ष्यमें रखते हुए इन युगोको अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामोसे विभाजित किया गया है। उत्सर्पिणी कालमें क्रमश उत्थान और अव-सर्पिणीमें क्रमश अवनति होती जाती है। प्रत्येक कालके ६-६ चक्र याने आरे होते है। वर्तमानमे अव-सर्पिणी याने अवनति काल चल रहा है। प्राणियोका देह मान, आयु शक्ति आदिमे क्रमश ह्रास होता जा रहा है। प्रथम तीन आरोके समय क्रमश ह्रासमान होते हुए भी उनमे जीवन एक साँचेमे ढला हुआ था। वह युगलिक काल था अर्थात् स्त्री और पुरुष युग्मके रूपमें साथ ही जन्म लेते, वयस्क होने पर उनमे स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध होता और फिर युगलिकको जन्म देकर ही वे मर जाते। ऐसा कहा गया है कि उस समय शरीर व आयुका परिमाण बहुत अधिक था पर उनकी इच्छाएं, आवश्यकताएँ, आहार आदि बहुत ही कम थे। कल्पवृक्षोंसे ही उनकी आवश्यकताओकी पूर्ति हो जाती थी। खानेको फल और पहननेको

कपड़े, आभूषण इत्यादिकी पूर्ति इस प्रकारके वृक्षोंसे ही हो जाती थी, उन्हें संग्रह करने और संरक्षण करनेकी कोई आवश्यकता व चिन्ता न थी। जब, जो, जितनी आवश्यकता हुई, उन वृक्षो द्वारा उनकी पूर्ति हो जाती। इस तरहका एक सांचेमें ढला हुआ-सा जीवन व्यतीत होनेसे उसे भोग-भूमिका काल कहा गया है। असि, मसि, कृषि आदि कर्मोंकी उत्पत्ति होने पर उत्तरवर्ती समयको कर्मभूमि काल कहा गया है।

ज्यों-ज्यों उन वृक्षोकी फलदायी शक्ति कम हुई और युगलिकोकी क्षुधा आदि आवश्यकतायें बढी, तो ईर्ष्या, कलह, द्वेष आदि बढनेके साथ चोरी और संग्रहवृत्ति भी बढी। परम्परासे प्राप्त अपने वृक्षोके फलोसे जब उनकी इच्छाओकी पूर्ति न होती (क्योंकि पहलेकी अपेक्षा वे फल काल कम देने लगे थे), तो दूसरोके हिस्सेके वृक्षोंसे भी लाभ उठानेकी वृत्ति जागी। सब समय एक समान उत्पादन नही होनेसे संग्रहकी आवश्यकता भी हो आई क्योकि जिस समयमें आवश्यकताके अनुरूप सामग्री न मिले, उस समयके लिए कुछ कठिनाई व असुविधा प्रतीत होने लगी। इससे सभी प्रकारकी अनैतिकता व अपराध भी बढे।

क्रमश तीसरे आरेके अन्तमें ऐसी विषम और क्रान्तिकारी परिस्थितिमे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवका जन्म हुआ। इन्होंने अपने युगमे एक अपूर्व क्रान्ति की, क्योकि वह सक्रान्ति काल था। इधर मनुष्योकी सन्तानोकी अधिकता होनी प्रारम्भ हुई, तो उत्पादनके साधन भी बढाने आवश्यक हो गये। "आवश्यकता ही अविष्कारकी जननी है" के सिद्धान्तानुसार भगवान ऋषभदेवने कृषि असि, मसि आदि समस्त कर्म, कला-कौशल स्त्री-पुरुषोको सिखाये। उन्होने पुरुषोको बहत्तर और स्त्रियोकी चौसठ कलाओको पाठ पढाया। उत्पादन और जनसख्या-दोनोकी अभिवृद्धि हुई। अपनी-अपनी शक्ति और बुद्धिके अनुपातमे उत्पादन आदिकी कमी-बेशी होनेसे लोगोकी आर्थिक स्थितिमे विषमता आई। किसीने अपनी मानसिक व शारीरिक शक्तियोका उपयोग कर आवश्यकताओसे अधिक उत्पादनकर बहुत बडा सग्रह कर लिया तो कोई व्यक्ति इस क्षेत्रमें पिछड गये। इस तरह सग्रहवृत्तिका सूत्रपात होकर क्रमश आवश्यकतायें बढी और उनसे भी बहुत अधिक इच्छायें बढी। आवश्यकताओकी पूर्ति तो फिर भी हो सकती है क्योकि जीवन सीमित है और शक्तियोका विकास अपरिमित है। पर इच्छाये तो आकाशके समान अनन्त है। अत उनकी पूर्ति होना असभव है। एक इच्छाकी पूर्ति हुई तो दूसरी अनेक प्रकारकी इच्छाये जाग उठेंगी। अब सग्रह केवल अपने लिये ही नहो, परिवार बढनेसे सारे परिवारके लिये भी बढाना आवश्यक हो गया। फिर सभी व्यक्ति एक समान उत्पादन कर नही सकते, इसलिये जो उत्पादन करनेमे समर्थ है, उन्हे उनके लिए भी चिन्ता होनी स्वाभाविक है। फिर जब सन्तानके प्रति ममत्व या मोह बढता गया, तो उन्हे व उनकी सततिके लिये-इस तरह कई पीढियोके लिये सग्रह करनेकी प्रवृत्तिने जोर पकडा। मनीषी व्यक्तियोने सग्रहीत धन या पदार्थोंकी तीन गतियाँ बतलायी हैं—दान, भोग और विनाश। भोगके लिये आय सीमित है और अधिक भोग रोग आदि दोषोका कारण है, इसलिये दान धर्मको खूब महत्व दिया गया है, क्योकि भोग और दानके रूपमे उपयोग न हुआ तो सग्रहका तीसरा मार्ग विनाश ही होगा, चाहे वह किसी भी तरहसे हो। स्वेच्छासे नही, तो अनिच्छासे भी सग्रहीत वस्तुओको किसी भी तरह छोडना होगा ही। अत उनका दान करके ही सदुपयोग क्यों न किया जाय?

ऋषभदेवके पहले जो युगलिक जीवन था, उसमें न अतिभोग था, न योग था, न उग्र पाप था, न धर्ममय जीवन था। अनैतिकता व पाप न होकर एक सांचेमे ढला हुआ-सा जीवन था। मनकी कुलषित वृत्तियाँ न थी। इसलिये उनके लिए देवगतिका ही विधान मिलता है। इधर जब पाप प्रवृत्तियाँ पनपी, तो धर्मकी आवश्यकता हो उठी, इसलिये नरक और मोक्षके द्वार खुल गये। कर्ममय जीवनके साथ धर्ममय

जीवनका सम्बन्ध लगा हुआ है। उसी विकसित शक्तिकी दिशा मोड़कर उसे सत्कर्ममें लगा दिया जाय, तो जीवनोत्थान अवश्यम्भावी है। इसीलिये कहा गया है—'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा'। जो अधिकसे अधिक सग्रह कर सकता है, वह अधिकसे अधिक त्याग भी कर सकता है, वृत्ति या शक्तिकी दिशा भर बदलनेकी बात है।

विश्वमें जो भी सघर्ष है, अनीति या अधर्म है, उसका प्रधान कारण सग्रह या ममत्व है। किसी वस्तुपर मैंने अपनापन आरोपित कर दिया, तो उसे मैं दूसरोंको न लेने दूँगा, न दूँगा ही। उसके लिए युद्ध, द्वेष, कलह-सभी कुछ किये जाते हैं। जो वस्तु मेरी नही है, पर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा हो गई, तो उसके प्रति मेरा ममत्व जगा और फिर जिस किसी भी प्रकारसे, दूसरेका विनाश करके भी, उसकी प्राप्तिका प्रयत्न मेरे द्वारा किया जायगा। सभी युद्ध द्वेष, अशान्ति और अनैतिकता इसी परिग्रहपर आधारित हैं। शान्ति प्राप्तिका उपाय सीमित ममत्वका परित्याग है। जीवनोपयोगी किसी भी वस्तुपर व्यक्ति विशेष या देश विशेषका अधिकार न होकर यदि वह सबके लिए सुलभ हो जाय, व्यक्ति सयम, त्यागकी ओर बढते हुए दूसरोंके लिए उन वस्तुओंको मुक्त कर दे, उनसे अपनापन हटा ले, तो अशान्ति स्वय हट जावेगी।

ममत्वको दूर करनेके दो तरीके हैं—ममत्वका परिहार और ममत्वका विस्तार। समत्वकी ओर बढनेके लिए ममत्वका परिहार तो करना ही होगा, पर यदि हम सीमित ममत्वको हटाकर उसका विस्तार करते हुये समस्त प्राणियोको अपना परिवार ही मान ले, तो उसका परिणाम भी समत्वमें ही परिणत होगा। कोई वस्तु हमारी नहीं, सारे समाज, राष्ट्र व देशकी है और हम सब उसीके अग हैं। या जो भी व्यक्ति है, वे अपने ही हैं, ऐसा मान लेनेसे अलगाव, विषमताका भाव हटकर अशान्तिके कारण नष्ट हो जायेगें। "त्याग करते हुए भोग करो" इस उपनिषद् वाक्यका सन्देश भी यही है कि त्यागका लक्ष्य भुलाया न जाय, भोगोमें आसक्ति बढाई न जाय, वस्तुओ व धनके हम ट्रस्टी बनकर रहें—गान्धीजीका यही सन्देश था।

जैनधर्ममें मुनि जीवनके लिए असग्रही जीवन बितानेके कठोर नियम है। कलके भोजनका भी मुनि आज संग्रह करके नही रख सकता। उसके लिए रुपये-पैसेका तो स्पर्श भी निषिद्ध है। उच्च जीवनमें तो दिगम्बरत्व ही अपनाया जाता है। शरीरके सिवा मयूर-पिच्छी कमण्डलुके समान धर्मोपकरणोंके अतिरिक्त और कोई चीज उसके पास नही रहती। वह भिक्षावृत्तिसे आहार ग्रहण करता है, वह भी हाथमे ही। कोई पात्र भी नही रखा जाता। दूसर प्रकारके स्थविरकल्पी साधुओंके आचारमें वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरणोकी कुछ छूट रहती है। गृहस्थके लिए सर्व सग या सग्रहका परित्याग सम्भव नही, पर उसके लिए भी परिग्रहका परिमाण करना पांचवां अणुव्रत है। वह अपनी इच्छाओको सीमित कर ले उन्हे आवश्यकताओसे अधिक बढ़ने न दे। उनको और भी सीमित करनेके लिये अणुव्रतोके साथ गुणव्रत और शिक्षाव्रत जोडे गये हैं, जिनमें सुबहसे शाम और शामसे सुबह तकके भोगोपभोगका परिमाण चौदह नियमोंके द्वारा किया जाता है।

जैन मुनियोने वस्तुओपर जो व्यक्तिका ममत्व है उस ममत्वको हटानेका बहुत अधिक प्रयत्न किया है। उन्होंने देखा कि एक-एक इच भूमिके लिए एक ही माताकी कोखसे जन्मे हुए भाई-भाई भी परस्परमें लडते हैं। राजा आदि अधिपति तो उसे अपनी ही बपौती मानते हुए बडे-बडे युद्ध तक करते हैं, जिनमें लाखों व्यक्तियोंके प्राणोकी और लाखो करोडोका धन व वस्तुओका विनाश होता है और जल्दी राजगद्दी प्राप्त करनेके लिए पुत्र पिताको मार डालता है। इस तरहकी विध्वसलीलाको देखकर उनका हृदय सिहर उठा और उन भूमिपतियोंको सम्बोधित करते हुए उन्होंने जो मगलमय वाणी प्रसारित की, उसके दो नमूने

यहाँ दिये जा रहे हैं। अठारहवीं शताब्दीके कविवर धर्मसिहने बहुत ही सुन्दर दृष्टान्तो द्वारा 'धरतीकी धणियाप' याने मालकीपन कैसा, इसको सुन्दर ढगमें प्रचारित किया है

धरतीकी धणियाप किसी ? भोगती किते भू किता, भोगवसी, माहरी माहरी करइ मरे।
एही तजि पातला उपरि, कूकर मिलि केई भूवै ॥१॥
धप ही धरणी केतुइ धुसि धरि, अपणाइत केई भूवै।
धोबी तणी शिला परि धोबी हूपति, हू-पति करै हुवै ॥२॥
इण हल किया किता पति आगै, परतिख किता किता पर पूठ।
वसुधा प्रगट दीसती वेश्या झूझे भूप भुजगसू झूठ ॥३॥
पातल सिला वेश्या पृथ्वी, इण च्यारा री रीति इसी।
ममता करै मरै सो मूरख कह, धर्मसी धणियाप किसी ॥४॥

एक दूसरे राजस्थानी कविने भी कहा है कि जिस भूमिके लिए तुम इस धन-जनका बेहद सहार करनेपर तुले हुए हो सोचो तो सही कि इस भूमिको कौन साथ लेकर गया है ? बडे-बडे राजाओंने इसे अपनामानकर महाभारत जैसे युद्ध किए, पर अन्तमे उन्हे भी जाना पडा, पर भूमि तो यही की यही पडी रही, कोई भी साथ न ले जा सका

कहो भोम कुण ले गया ?
एण भोम उपरे राम रावण हिण अडीया,
एण भोम उपरे बहु चक्र वै रण पडिया।
एण भोम उपरे गये वाणवली बारह,
एण भोम उपरे खपे खोहण अठारेह।
सौला सोवत सौ सूरिमा, दर्जोधन सग्रहि दिया।
एतला राजा होई गया, कहो भोम कुण ले गया ॥१॥

इसी तरह समस्त पौद्गलिक पदार्थोंको, यथावत शरीर तकको ममताको हटानेके लिए, उन्होंने उनकी विनश्वरता व उनके सग्रह व ममत्व द्वारा होनेवाली खराबियोके विरुद्ध खूब साहित्य लिखा व प्रचार किया और असग्रह वृत्तिकी ओर बढनेके लिए प्रेरणा-दायक सदेश दिया। जरूरत उसके आचरणकी ही है। विश्वकी अशान्तिका मूल कारण यह सग्रहवृत्ति ही है। उसीके कारण हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि सारे दुर्गुण, वैर-विरोध एव युद्ध पनपते हैं। इसीलिए असग्रहवृत्तिकी ओर बढना ही परम शान्तिका मार्ग है। सग्रह, परिग्रह व भोग ही भवभ्रमण हेतु है और असग्रह, असग, अपरिग्रह व आसक्ति त्याग ही शान्ति एव कल्याणदायक है। सुधीजन इसपर स्वय सोचें, समझें और श्रेयकी ओर बढें।

विष्णुसहस्रनाम और जिनसहस्रनाम

लक्ष्मीचन्द्र सरोज, एम० ए०, जावरा, म० प्र०

हिन्दुओके विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रके समान जैनो मे भी सहस्रनाम स्तोत्र प्रसिद्ध है। प्राय दोनों समाजोंमें भक्तजन प्रतिदिन सहस्रनाम-स्तोत्र पढते है। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू समाजमे यह स्तोत्र पूजनके पश्चात् पढते है और जैन समाजमे यह स्तोत्र पूजनकी प्रस्तावनामे पढते है। असुविधा या शीघ्रताके कारण जो जिनसहस्रनाम पढ नही पाते हैं, वे भी प्रतिदिन जिनसहस्रनामके लिये अर्घ्य तो चढाते ही हैं। पर्युषण या दशलक्षण पर्वमें तो प्राय सभी स्थानो पर पूजनकी प्रस्तावनामे जिनसहस्रनाम पढनेकी और उसके प्रत्येक भागकी समाप्ति पर अर्घ्य या पुष्प चढाने की भी परम्परा है। यद्यपि जिनसहस्रनाममें जिन भगवानके और उनके गुणोको व्यक्त करने वाले एकहजार आठ नाम है, तथापि इसकी ख्याति सहस्रनामके रूपमे वैसे ही है जैसे मालामें एक सो आठ मोती या दाने होने पर भी हिन्दू लोग उन्हें सौ ही गिनते है, अथवा उपलब्ध सतसइयो मे सात सौ से अधिक छन्द होने पर भी उन्हें सात सौ ही गिनते है।

प्रस्तुत प्रसंगमे उल्लेखनीय यह भी है कि हिन्दू धर्ममे विष्णुसहस्रनामके समान शिवसहस्रनाम या गोपालसहस्रनाम और सीतासहस्रनाम भी मिलते है। इसी प्रकार जैनोमें भी जिनवाणीमे सग्रहीत लघुसहस्र-नाम भी पठनार्थ मिलता है।

संज्ञा और रचयिता दोनो सहस्रनामोकी सज्ञा सार्थक है। विष्णुसहस्रनाममें भगवान विष्णुके एक हजार नाम है और जिनसहस्र नाममे भागवान जिनके एक सहस्र नाम है। विष्णुसहस्रनामके रचयिता महर्षिवर वेदव्यास है। यह उनके अमर ग्रन्थ महाभारतके आत्मानुशासन पर्वमे भीष्म-युधिष्ठिर सम्वादके अन्तर्गत है। जिनसहस्रनाम-स्तोत्रके रचयिता आचार्य जिनसेन हैं, जो कीर्तिस्तम्भके सदृश अपने आदि पुराण के लिये सुप्रसिद्ध है।

छन्द, प्रस्तावना और समापन दोनो सहस्रनाम स्तोत्र सस्कृत भाषाके उस अनुष्टुप् छन्दमें है जो आठ अक्षरोके चार चरणोसे बना है। दोनो सहस्रनाम स्तोत्रोमे अपनी प्रस्तावना है और अपना समापन है। पर जहां विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रकी प्रस्तावना मे तेरह और समापन मे बारह श्लोक हैं वहां जिनसहस्र-नाम स्तोत्रकी प्रस्तावनामे तेतीस और समापनमे तेरह श्लोक है। विष्णुसहस्रनाममे कुल १४२ श्लोक है और जिन सहस्रनाममे कुल १६७ श्लोक है।

दोनो सहस्रनाम अपने-अपने धर्म और देवताकी देन को सँजोये है। दोनो की अपनी शिक्षा और सस्कृति है, पर विष्णुसहस्रनाममें जहा लौकिक प्रवृत्ति भी लक्षित होती है, वहाँ जिनसहस्रनाममे अलौकिक निवृत्ति ही लक्षित हो रही है। जहा विष्णुसहस्रनाममें कर्तृत्वभाव मुखरित हो रहा है, वहाँ जिनसहस्र-नाम प्रस्तुत प्रसगमें मौन है। उसमें आद्योपान्त वीतरागताका ही गुजन हो रहा है। चूकि दोनो स्तोत्र भक्तिमूलक है और भक्तिमें भगवानका आश्रय लेना ही पडता है, अतएव विचारके धरातलमें दोनों ही सहस्रनाम भक्तिके प्रकाशस्तम्भ है। जहाँ विष्णुसहस्रनाममे एकमात्र विष्णु ही सर्वोपरि शीर्षस्थ है, वहाँ जिनसहस्रनाममें सभी जिनेन्द्रोको पूर्णतया सर्वशक्तिसम्पन्न अनन्तदर्शन-ज्ञान-बल-सुखसम्पन्न समझनेकी

सुस्पष्ट स्वीकृति है। विष्णुसहस्रनाममें वर्णित एक हजार नाम भीष्म युधिष्ठिरको सुनाते हैं, जिन सहस्रनाममें उल्लिखित एक हजार आठ नाम जिनसेन पाठकोंके लिये लिखते हैं, पर उन्होंने भी समापनके दसवें श्लोकमें संकेत किया है कि इन नामोंके द्वारा इन्द्रने भगवानकी स्तुति की थी।

विष्णुसहस्रनामकी प्रस्तावनामे कहा गया है कि विष्णु जन्म,मृत्यु आदि छह विकारोंसे रहित हैं, सर्वव्यापक है, सम्पूर्ण लोक-महेश्वर हैं, लोकाध्यक्ष हैं। इनकी प्रतिदिन स्तुति करने से मनुष्य सभी दुखोंसे दूर हो जाता हैं

अनादिनिधन विष्णु सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्ष स्तवन्नित्य सर्वदु खातिगो भवेत्॥

जिन सहस्रनामकी प्रस्तावनामे कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान वीतराग, क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं। आप अजर और अमर, अजन्म और अचल तथा अविनाशी है, अत आपके लिये नमस्कार है। आपके नाम का स्मरण करने मात्रसे हम सभी परम शान्ति और अतीत सुख-सन्तोष तथा समृद्धि को प्राप्त होते हैं। आपके अनन्त गुण है

अजराय नमस्तुभ्य नमस्ते अतीतजन्मने।
अमृत्यवे नमस्तुभ्य अचलायाक्षरात्मने॥
अलमास्ता गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणा।
त्वन्नाम स्मृतिमात्रेण परम श प्रशास्महे॥

विष्णुसहस्रनामके समापनमे कहा गया है कि जो पुरुष परम श्रेय और सुख पाना चाहता हो, वह भगवान् व्यास द्वारा कहे गये विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रका प्रतिदिन पाठ करे

इम स्तव भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम्।
पठेत् य इच्छेत्पुरुष श्रेय प्राप्तु सुखानि च॥

जिनसहस्रनामके समापनमें भी आचार्य जिनसेनने लिखा है कि इस स्तोत्रका प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पाठ करने वाला भक्त पवित्र और कल्याणका पात्र होता है। विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रका समापन अनुष्टुप् छन्दमें ही हुआ है पर जिनसहस्रनामस्तोत्रका समापन अनुष्टुप्मे अन्य छन्दमें हुआ है। दोनो ही स्तोत्र सार्थ मिलते हैं, अतएव सस्कृतविद् सुधी पाठक ही नही, अपितु हिन्दी भाषी भी दोनो स्तोत्रोका आनन्द ले सकते है।

समानता, असमानता एव कलात्मकता

दोनो सहस्रनामोमें जहाँ कुछ समानता और असमानता है, वहाँ कुछ कलात्मक न्यूनाधिकता भी है। यह उनके रचयिताओकी अभिरुचि है, पर दोनोकी भगवद्भक्ति अनन्य निष्ठाकी अभिव्यक्ति करती है। स्थविष्ठ, स्वयभू, सम्भव, पुण्डरीकाक्ष, सुव्रत, हृषीकेश, शकर, धाता, हिरण्यगर्भ, सहस्रशीर्ष, धर्मयूप जैसे शब्द दोनो स्तोत्रोमे मिलते हैं। देवताओकी नामावलीमें ऐसे शब्द आ जाना अस्वाभाविक नही है। कारण, एक तो प्रत्येक भाषाके अपने शब्दकोषकी सीमा है और दूसरे एक धर्म, एक व्यक्ति, एक साहित्य, एक सस्कृति अपने अन्य समीपस्थ धर्म, व्यक्ति, साहित्य और सस्कृतिसे प्रभावित हुये बिना रह नही सकती है। फिर यह तो भाषा है।

नामावलीकी समानताके सूचक कतिपय उदाहरण यहाँ सतर्क, सजग होकर देखें। प्रत्येक उदाहरणमें प्रथम पक्ति विष्णुसहस्रनामकी है और द्वितीय-तृतीय पक्ति जिनसहस्रनामकी है। भगवान्के नामोंके आधार

पर भक्तोंमें भावनात्मक एकताकी अभिवृद्धिकी बात भी देश और कालको दृष्टिमें रखते हुये निस्संकोच कही जा सकती है।

(१) स्वयम्भू शम्भुरादित्यः पुण्यकराक्षो महात्मन. ।
श्रीमान् स्वयम्भू वृषभू सम्भव. शम्भुरात्मनः ।।

(२) अप्रमेयो हृषीकेश. पद्मनाभोऽमरप्रभु' ।
स्तवनार्हो हृषीकेशो जितेन्द्रिय कृतक्रिय ।।

(३) अनिर्विण्ण स्थविष्ठोऽभूर्धर्मयूपो महामख ।
धर्मयूपो दयारागो धर्मनेमिर्मुनीश्वर ।।

(४) अनन्तगुणोऽनन्तश्रीर्जितमन्युर्भयापह
जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तक ।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारण

(५) श्रीद श्रीश श्रीनिवास श्रीनिधि श्रीविभावन' ।
श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्र चतुरास्य चतुर्मख ।।

प्रबुद्ध पाठक देखेगें कि पाचवे उदाहरणकी प्रथम पक्ति और चतुर्थ उदाहरणकी द्वितीय पक्ति पढते हुये लगता है कि एक ही पोशाकमे सडक पर दो विद्यालयोंके विद्यार्थी जा रहे है और साहित्यकी दृष्टिसे अनुप्रास अलङ्कार तो सुस्पष्ट है ही।

विष्णुसहस्रनामकी नामावलीमे विभाजन नही है, पर जिनसहस्रनामकी नामावली दस विभागोंमें विभाजित है। विष्णुसहस्रनामकारने शायद इसलिये विभाजन नही किया कि विष्णुके सभी नाम पृथक् पृथक है ही, परन्तु जिन सहस्रनामकारने शायद इसलिये सौ-सौ नामोंका विभाजन कर दिया कि जिससे श्लोक पाठसे थकी जनताकी जिह्वाको, वाणीको कुछ विश्राम मिले और अर्घ्य चढानेमें भी यत्किंचित् सुखानुभूति हो।

हिन्दू धर्मकी एक प्रमुख विशेषता समाहार शक्ति भी है। उसमे एक ईश्वरके तीन रूप-ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी शक्तियोमे हैं और विष्णु भगवान्के चौबीस अवतार भी हैं। इनमे ऋषभदेव और बुद्ध भी हैं। इसी उदात्त भावनाका सूचक विष्णुसहस्रनामका निम्नलिखित श्लोक है जिसमें अनेक लोगोंका एकत्रीकरण या पुण्यस्मरण किया गया है

चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गति ।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेद विवेकवान् ।।

इस श्लोकमे राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धको जहाँ स्मरण किया, वहाँ सालोक, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य गतिके साथ मन, बुद्धि अहँकार और चित्तको भी दृष्टिमें रखा तथा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष पुरुषार्थोंके साथ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदको भी नही भुलाया। यह श्लोक अनुप्रास अलकारका भी ज्वलन्त निदर्शन है।

अणुर्बृहत्कृश स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान् ।
अधृत स्वधृत. स्वास्य प्राग्वशो वशवर्धन' ।।

अणु, बृहत्, कृश, स्थूल, गुणभृत, निर्गुण, अधृत, स्वधृत जैसे विरोधी सार्थक शब्दोंको अपनेमें समेटे हुये यह श्लोक विरोधाभास अलकार प्रस्तुत कर रहा है, यह कौन नहीं कहेगा? विष्णुसहस्रनाममें

तीर्थंकर, श्रमण, वृषभ, वर्धमान शब्दोंका प्रयोग हिन्दी और जैन विद्वानोंके लिये विशेषतया दर्शनीय, पठनीय और चिन्तनीय है '

वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदर ।
वर्धना वर्धमानश्चविविक्त श्रुतिसागर ।
मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रद
आश्रम श्रमण क्षाम सुपर्णो वायुवाहन ।।

जिनसहस्रनाम स्तोत्रमे स्थविष्ठादिशतकका चतुर्थ श्लोक पुन पुन पठनीय है। इसमे भगवान जिनेन्द्रका गुणगान करते हुये कहा गया है कि जिनेन्द्रदेव पृथ्वीसे क्षमावान है, सलिल-से शीतल है, वायुसे अपरिग्रही हैं, और अग्निशिखा सदृश उर्ध्वधर्मको धारण करनेवाले हैं। सुप्रसिद्ध उपमानोसे अपने आराध्य उपमेयकी अभिव्यक्तिकी यह विशिष्ट शैली किसके हृदयको स्पर्श नही करेगी ?

क्षान्तिर्भाक् पृथ्वीमूर्ति शान्तिर्भाक् सलिलात्मक ।
वायुमूर्तिरसगात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधृक् ।।

इसी प्रकार श्रीवृक्षादिशतके आठवेसे ग्यारहवे श्लोकोमे और महामुन्यादिशतके आरम्भिक छह श्लोकोंमे कवि-कुल-भूषण जिनसेनने 'म, वर्णके शब्दोकी झडी लगाकर प्रबुद्ध पाठकोको भी चमत्कृत कर दिया है। उदाहरणस्वरूप महामुनि तीर्थकर विषयक निम्नलिखित श्लोक देखिये, जो अनुप्रास अलकारका एक श्रेष्ठतम उदाहरण है

महामुनिर्महामौनी महा ध्यानी महादम ।
महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामख ।।

जिनसहस्रनाम-स्तोत्रमे जितने भी श्लोक है, वे जिनके ही विषयमे है, उनमे योगमूलक निवृत्ति है, भोगमूलक वह लोक प्रवृत्ति नही है जो विष्णुसहस्रनामके पुष्पहस, ब्राह्मणप्रिय जैसे शब्दोके प्रयोगमे हैं।

दिग्वासादिशतका प्रथम श्लोक जिनचर्याका एक उत्कृष्ट उदाहरण है

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थो निरम्बर ।
निष्किचनो निराशसो ज्ञानचक्षुरमोमुह ।।

दिशाये जिनके वस्त्र है और जिनका हवा भोजन है, जो बाहर भीतरकी ग्रन्थियो (मनोविकारो) से रहित है, स्वय आत्माके वैभव सम्पन्न होनेसे ईश्वर हैं और वस्त्रविहीन है, अभिलाषाओ और आकाक्षाओसे रहित हैं, ज्ञानरूपी नयनवाले है और अमावस्याके अन्धकार सदृश अज्ञान-मिथ्यात्व-दुराचारसे दूर है, ऐसे जिन ज्ञानाब्धि, शीलसागर, अमलज्योति तथा मोहान्धकारभेदक भी है। जिन सहस्रनाममें ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, ब्रह्मयोनि, प्रभविष्णु, अच्युत, हिरण्यगर्भ, श्रीगर्भ, पद्मयोनि जैसे नाम भी जिन (जितेन्द्रिय) के बतलाये गये हैं।

जिनसहस्रनाममे जिनको प्रणव , प्रणय , प्राण , प्राणद , प्रणतेश्वर " कहा गया है। इसके अनुरूप ही विष्णुसहस्रनाममे "वैकुण्ठ , पुरुष , प्राण , प्राणद , प्रणव , पृथु ,, कहा गया है। जिनसहस्रनाम स्तोत्रमें जहाँ "प्रधानमात्मा प्रकृति , परम , परमोदय ,, कहा गया है, वहाँ विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रमे "योगायोगविदा नेता प्रधानपुरुषेश्वर " कहा गया है। जिनसहस्रनाममे "सदागति सत्कृति सत्ता सद्भूति सत्यपरायण " कहा गया। "सदायोग सदाभोग सदातृप्त सदाशिव ,, भी कहा गया है।

इस प्रकार दोनो स्तोत्रोंके शब्दों, अर्थों और भावोंमें पर्याप्त साम्य उपलब्ध होता है और यह संकुचित स्वार्थ पर आधारित साम्प्रदायिक व्यामोहसे ऊपर उठकर भावनात्मक एकता और धार्मिक सहिष्णुताकी ओर इंगित करता है। धर्मकी धरा पर जातिका नही, गुण और कर्मका ही महत्त्व है। जैनधर्मके प्रचारक तीर्थंकर जैन (वैश्य) नही, अपितु क्षत्रिय ही थे।

अनन्यभक्तिनिष्ठा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

यह श्लोक विष्णुसहस्रनामका आमुख ही है पर यह उसमे नही है। इसमें जैसे भक्तकी भगवान विषयक अनन्य निष्ठाकी अभिव्यक्ति हुई ह, वैसे ही जिनसहस्रनामके निम्नलिखित श्लोकमें भी जिनसेन या जिनभक्तकी अनन्यनिष्ठा प्रगट हुई है

त्वमतोऽसि जगद्बन्धु, त्वमतोऽसि जगद्भिषक्।
त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धित॥

संक्षेपमें दोनो ही सहस्रनाम अपनेमें अनन्य निष्ठाको आत्मसात् किये हैं और भगवानके एक नही, अनेक नामोके लिये स्वीकृति दे रहे है। दोनो ही प्रतिदिन पढे जाने पर भक्तोके लिये लोक-परलोकके कल्याणकी बात कह रहे हैं। सारणी १ मे उपरोक्त विवेचनका संक्षेपण किया गया है।

सारणी १. जिनसहस्रनाम और विष्णुसहस्रनाम

		जिनस०	विष्णुस०
१	रचयिता	जिनसेन	वेदव्यास
२	श्लोक संख्या	१६७	१४२
३	प्रस्तावनामें श्लोक	३३	१३
४	समापनमें श्लोक	१३	१२
५	छन्द	अनुष्टुप्	अनुष्टुप्
६	अलंकार	उपमा, अनुप्रास बहुल	उपमा-अनुप्रास बहुल
७	नाम	१००८	१००८
८	उद्देश्य	परमश्रेय, अलौकिक निवृत्ति	परमश्रेय, किंचित् शुभ लौकिक प्रवृत्ति
९	विभाजन	दश अध्याय	———
१०	अभिव्यक्ति	वीतरागता	ईश्वरके प्रति कर्तव्यभाव

Jain Psychology

Prof. T.G. Kalaghatgi, Dharwar (Karnataka)

The Jain psychology may be considered to be academic and rational psychology It did not use the method of experiment. It relied on introspection and the insight of the seers. The problems of modern psychology have developed in a more exact and measurable direction. However, it is only possible to show a few similar developments in the psychological investigations in the Jainas, ancient Indian and western thought

Jainism is a realistic philosophy It gives a dichotomous division of categories into soul and non-soul, the living and the non-living From the noumenal point of view, the soul is pure and perfect. It is pure consciousness, it is characterised by *Upayoga* [1] Upayoga is that by which a function is served It is also described as that by which a subject is grasped [2] It is the source of experience All the three aspects-cognitive, conative and effective, spring from it Upayoga is of two types-formless, anakār and possessed of form or sākār This distinction is analogeus to the indefinite and define cognition, which may in turn, be characterised as 'Darshana' and 'jñāna'

Attempts have been made to interpret Upayoga as a resultant of consciousness and an inclination arising from it It would be after to state that upayoga is the conative drive which gives rise to experlence This may be likened to the 'horne' of the modern psychologists [3] The hormic force determines experience and behaviour The conscious experience takes the form of perception and understanding. It operates even in the unconscious level of animal behaviour But the horme expressed and presented by the Jain philosophers could not be presented in terms of modern psychology, because their problems were mainly epistemological tempered with metaphysical speculation, However, they were aware of the fact that there is a purposive force which actuates and determines experience This is clear from the distinction between 'jñāna' and 'darshana' as sakar and anakar upayoga Cetana is a fundamental quality of soul It is pure consciousness, a kind of flame without smoke It is eternal, although it gets manifested in the course of evolutionary process of life in the empirical sence

Jainas recognise various forms of consciousness They make distinction in consciousness as knowing, as feeling and as experiencing the fruits of 'karma' and willing [4] Conation and feeling are closely allied. As a rule, we have first feelling, next conation and then knowledge

The Unconscious:—The idea of the unconscious has been popoularised by Froudians It has developed in two aspects—the psychological and metaphysical The Jainas were aware of the uncoscious The Nandisūtra [5] gives a picture of the unconscious in

the example of earthenpet. The Budhists also recognised the unconsious life. It is called 'vidhimutta' while 'vidhichitta' is the waking consciousness.

The concept of karma presented by the Jainas may aptly be compared to the collective or the arche types of the collective unconscious, although karma theory has a metaphysical flavour Jung says that it is possible to find the karma aspect in the arche-types of the collective unconscious [6]

Sense Experience :—In the *Pramāna Mimāmsā*, 'pratyaksha' has been defined as that which is immediate and lucid 'Indriya Pratyaksha' is the cognition which is immediate and direct and arised out of sense organs There are five types of sensing organs-visual, auditory, tactual, elfactory and gustatory [7] But the experience that does not need the sense organs and is immediate, is 'anindriya pratyaksha' It is the real 'pratyaksha' It is of three types 'awadhi, manahparyaya and keval'

Sense organs are conditions of sense perception They are instruments in which we get sense experience like the carpenter's axe [8] Perception of a particular object is, in fact, due to the destruction and subsidence of the knowledge obsuring karmas It also depends on the competency of the appropriate psychical factor The psychic factor is the selective attention which may be referred to as mental set This is possible when all psychic impediments are partially and wholly removed through the destruction and subsidence of knowledge obscuring karmas

Stages of Sense Perception —The Jainas have made a significant contribution to the analysis of the stages of sense perception There are four stages in it avagraha, ihā, avāya and dhāranā The earlier stage like avagraha, develops into subsequent stages and all of them partake of the same essential nature [9] Avagraha is the first simples stage in sense experience It is the stage of sensation Ihā, cognition of objects in empirical experience is not complete with more awareness at the sensational stage It is the tendency towards organising the specific features of the object If may be referred to as associative integration of sensory elemenys experienced in the stage of sensation. Avāya leads from the stage of associative integration to the stage of interpretation Perception is the interpretation of the sensation The interpretation of sensory experience is through avaya which may be called perceptual judgement as 'this is Jar' It may be compared to the a perception involved in the perceptual experience Dhārnā as the stage perception is important in that it forms the final determination of the object, retention of the object thus formed and recognition of the object in future occasions [10] However, sense perception is concrete psychosis involving these processes which are combined and used to give a coherent experience

Supersense Experience —The Jainas say that empirical experience is not direct as it is acquired indirectly through the sense organs and mind It is 'indriya pratyaksha But the soul in its real nature, is pure, perfect and coincident The knowledge of the soul is vitiated by the veil of karma. Once the veil is removed, it gets perfect knowledge directly without the help of sense organs and the mind. That is supernormal

perception. This consists of three types avadhi, manahparyaya and kevala In avadhi, we apprhend objects which are beyond the reach of the sense organs However, in avadhi, we perceive only such things as have form and shape [11] Things without shape or form like soul and dharma cannot be perceived by it This can be compared with clairvoyance Modern psychical researches have provided examples of this type of experiences Prof. Rhime carried out experiments with a pack of zener cards and arrived at astonishing results The psychic phenomenon called French sensitiveness, sometimes called psychometry, may be included as a form of avadhi although in psychometry, sense organs and mind to play a part

Āvashyaka Niryukti gives a description of Manahparyaya as cognition of the mental states of others without the instrumentality of the sense organs and mind This type of cognition is not common and not possible for all The homeless ascetics acquire this capacity through merit and by the practice of physical and mental discipline only in this karma bhūmi. Even the Gods are not competent to get it.

In the west, Prof Oliver Lotze carried out experiments on telepathy when he was professer of physics. The Duke University has been foremost in the study of these problems At present, extra sensory perception like claivoyance and telepathy is accepted as a fact.

Jainas declare that the soul in pure form is pure consciousness and knowledge. But it is obscured by the veil of karma just as one is obscured by the clouds When such a veil is removed, omniscience dawns that is 'kevala Jñāna', a stage of perfect knowledge and of kaivalya' It is gained by the total destruction of four types of karmas The total description of mohaniya karma is followed by a short interval of time called 'muhūrta', which is about 48 minutes Then the other karmas are also destroyed The soul shines in all its splendour and attains omniscience It intuits all substances with all their modes Nothing remains unknown in omniscience It is the perfect manifestation of the pure and the real nature of the soul when the obstructive and obscuring veils of karma are removed [12]

References

1. Tattwārthādhigama Sūtra 2 9 and Bhāshya on the same Panchāstikāya Sār, 27, Dravyasamgraha Jivo Upayogamae,
2. Gommatsār Jivkānda, chapter xx, 672
3. Kalaghatgi, T.G Some Problems in Jaina Psychology, 1961
4 Panchāstikāya Sar, 38
5 Nandisūtra, 34
6 Jung, G C Two Essays in Analytical Psychology, page 76, see footnote
7 Pramāna Mimāmsā 1,1,29 and commentary
8 ibid, 1,1,21 and commentary
9. ibid · 1,1,29 and commentary
10. Tattwārtha Sūtra Bhāshya 1,15
11. Nandi Sūtra, 46
12. Āvashyaka Niryukti, 77,

जैन मनोविज्ञान

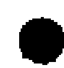
प्रो० टी० जी० कालाघाटगी, धारवाड़ (कर्नाटक)

जैन मनोविज्ञान को बौद्धिक एव तार्किक मनोविज्ञान माना जा सकता है। इसका विकास प्रयोगो पर आधारित नही है, इसके परिणाम आज के मनोविज्ञान की तुलना में अधिक यथार्थ तथा मापनीय भले ही न लगें, फिर भी इससे प्राच्य और पाश्चात्य अनेक मनोवैज्ञानिक विचारधाराओ का कुछ साम्य प्रदर्शित किया जा सकता है। जैन मनोविज्ञान का विकास जैन मनीषियो की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिणाम है।

ैतवादी जैन दर्शन में जीव को उपयोगमयी बताया गया है। यह ज्ञान-दर्शनात्मक है और अनुभूति का साधन है। यह आधुनिक मनोविज्ञानियो के प्रयोजनवादी 'होर्मे' के समकक्ष है। यह एक शक्ति है जो अनुभव और व्यवहार को निर्धारित करती है। लेकिन उपयोग तो बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रक्रिया है। जैन अनुभूति क्रियावृत्ति एव ज्ञान की श्रृखला मानते है। जीवके अतिरिक्त, जैन अचेतनको भी मानते है, जिसका विकास आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक दोनो रूपो मे हुआ है। कर्म सिद्धान्त इसका एक रूप है जिसमें कुछ आध्यात्मिकता भी है।

हमारे लिए ज्ञान के दो स्रोत है इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। शरीर के पाँच सवेदनशील अवयवो के माध्यम से हमें तत्काल साक्षात् ज्ञान होता है। यह ज्ञानावरणी कर्म के क्षय से होता है। इसमें कुछ मानसिक घटक भी कार्यकारी होता है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के रूप में चार चरणो में होता है। हमारे अनुभवो को सगत बनाने में इन चारो चरणों का सयुक्त योगदान रहता है।

जैन का कथन है कि इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान सीधा नही होता। शुद्ध आत्मा या जीव को ही कर्मपट पूर्णत दूर होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही सीधा ज्ञान होता है क्योकि शुद्ध जीव ज्ञान-दर्शनमय है। शुद्ध जीव के ज्ञान को 'अधिसामान्य अवगम' कहते हैं। यह अवधि, मन पर्यय और केवल के रूप में तीन प्रकार का होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान एव दूरबोध के रूप में अवधि और मन पर्ययको आज की भाषा में समझा जा सकता है। आठो कर्मों के निराकरण के बाद केवल ज्ञान या सर्वज्ञता प्राप्त होती है। इसके अन्तर्गत सभी पदार्थों की सभी पर्यायो का अन्तर्ज्ञान होता है। वर्तमान मनोविज्ञान में इस अन्तर्ज्ञान के समकक्ष अभी कोई तथ्य सामने नही आया है।



बोधकथा

कहाँ तक आपका शासन व अधिकार ?

नेमीचन्द्र पगेरया, बंबई

उन दिनों मिथिलामें राजा जनकका राज्य था। राजा जनक अपनी न्याय प्रियता और धर्म प्रेमके लिये दूर दूर तक प्रसिद्ध थे। वे वैराग्य और निस्पृहिताके आदर्श माने जाते थे। अपनी देह तकको वे पर जानते थे और उसके प्रति भी उदासीन रहते थे। इसी कारण विद्वान उन्हें विदेह सम्बोधित कर बहुसम्मान किया करते थे। वास्तवमें, वे घरमें ही वैरागकी जीवित मूर्ति थे।

उनके राज्यमें चार विद्यापीठ व अनेक गुरुकुल थे। एक समय दो गुरुकुलोंके ब्रह्मचारियोंमें आपसमें वाद-विवाद हुआ, फिर हाथापाई और मारपीट होने लगी। अन्तमें एक गुरुकुलके स्थानको क्षति करनेकी शिकायत राज-अधिकारियों तक पहुँची। फलत उनके एक प्रमुख नेता वटुको आरक्षणने कैदकर राजा जनकके सामने प्रस्तुत किया। जब उस नयुवक निर्भीक वटुने कथित आरोप स्वीकार किया, तो राजा जनकने उसे अपने राज्यसे बाहर निकालनेका कडा दण्ड सुना दिया।

वटु शास्त्रज्ञ भी था। वह विनम्रतासे बोला, "हे राजन्, मुझे पहिले बताइये कि आपका शासन व अधिकार कहाँ तक है जिससे कि मैं उस शासनकी सीमासे परे चला जाऊँ।" दरबारियोंकी दृष्टिमें यह प्रश्न साधारण था, किन्तु राजा जनक असाधारण विद्वान थे और वे सोच समझकर ही उत्तर दिया करते थे। उन्होंने सोचा, तो पाया कि प्रकृतिके जल, थल, नभ, सूर्य, चन्द्र आदि अनेक उनके शासन व अधिकारसे परे हैं। व सब एकदम स्वतन्त्र हैं। फिर सोचा, तो पाया कि उनके भवन, उपवन व कोषधन भी पर हैं जिसका वर्तन व परिवर्तन उनके अधिकारमें नहीं हैं। फिर पुरजन, परिजन व स्वजन की बात ही क्या? वे तो स्पष्ट पर हैं। फिर और भी गहराईमें उतरे, तो पाया कि उनका स्वयका तन, यौवन और जीवन-क्षण भी उनके शासन व अधिकारके घेरेमें नहीं है। यह तथ्य जानकर उनका मुखमण्डल गम्भीर हो गया। फिर वटुसे धीरे बोले, "हे विद्वान् वटु, तुमने ऐसा प्रश्न पूछा है कि मैं निरुत्तर-सा हो गया हूँ। सच पूछो, तो मेरे शासन और अधिकारमें न कोई भू-कण है और न तुच्छ तृण और न स्वल्प क्षण ही हैं। इन्हे अपना व अपने शासनका मानना केवल अज्ञान और अहंकार है।"

वह वटु विनय पूर्वक बोला, "हे धर्मज्ञ राजन्, आपके प्रत्येक शब्द परमार्थमें डूबे खरे सत्य हैं, किन्तु मैं तो आपकी दण्ड व्यवस्थाकी प्रतीक्षा में हूँ।"

राजा जनक धीरे और गम्भीर वाणी में बोले, "तो सुनो, वटु, तुम अपने गुरुकुल जावो और पठन-पाठनमें चित्त दो। बस, याद रखो कि आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। तुम शान्तिमें अध्ययन चाहते हो, तो दूसरोंके प्रति भी उसके प्रतिकूल आचरण न होने दो।"

वह वटु विनयपूर्वक बोला, "हे महाभाग, मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि आपकी आज्ञाका जीवन पर्यंत अक्षरशः पालन करूँगा।" और वह राजाको योग्य नमस्कार कर अपने गुरुकुलकी ओर गया।

राजाके ज्ञान-चक्षु वटुके निमित्तसे खुले और वटुकी आचरण दृष्टि राजाके निमित्तसे खुली। सच है—परस्परोपग्रहो जीवानाम्। वही वटु एक दिन मिथिलाका परम विद्वान व राजपुरोहित हुआ।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें प्रोषधोपवास चर्चा

रतनलाल कटारिया, केकडी राजस्थान

परीक्षाप्रधानी आचार्य समन्तभद्र का रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक ग्रन्थ जैनाचार विषयक एक महत्व-पूर्ण कृति है जिसे प्राय आगमके समान कोटिका माना जाता है। इसकी विषयवस्तु 'चारित्त खलु धम्मो' पर आधारित है। यह अनेक स्थानोंसे अनेक रूपमे प्रकाशित हुआ है, पर हम यहाँ वीर सेवा मन्दिर, दिल्लीसे प्रकाशित प्रतिके आधार पर ही उसमे वर्णित प्रोषधोपवास सम्बन्धी कुछ चर्चा करेंगे। इसका १०९ वाँ श्लोक, पृष्ठ १४६ निम्न प्रकार है

चतुराहारविसर्जनमुपवास प्रोषध सकृद् भुक्ति ।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १०९ ॥

"चार प्रकार का आहार त्याग उपवास है, एक बार का भोजन प्रोषध है और उपवास करके आरम्भ का आचरण करना प्रोषधोपवास है।"

इस श्लोकार्थ के आधार पर टीकाकारने अपनी प्रस्तावनामे इस श्लोकके क्षेपक होने का सन्देह किया है। उनके मतानुसार ग्रन्थमे प्रोषधोपवास को कथन १०६ वें श्लोकमे किया है

पर्वण्यष्टम्या च ज्ञातव्य प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणा प्रत्याख्यान सदिच्छाभि ॥ १०६[1] ॥

इसमे बताया गया है कि पर्वणी (चतुर्दशी) तथा अष्टमी में सदिच्छासे जो चार आहार का त्याग किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास समझना चाहिये। टीकामे भी निम्न वाक्यके द्वारा इसे लक्षण ही सूचित किया है—अथेदानी प्रोषधोपवासलक्षण शिक्षाव्रत व्याचक्षाण प्राह—। इसके बाद चतुराहार विसर्जन श्लोकमे भी प्रोपतोपवास का लक्षण बतलाया गया है। इसकी उत्थानिकामें टीकाकारने लिखा है अधुना प्रोषधोपवा-सस्तल्लक्षण कुर्वन्नाह। परन्तु प्रोषधोपवासका लक्षण तो पहिले ही किया जा चुका है, फिरसे उसकी क्या जरूरत हुई, इसका कोई स्पष्टीकरण टीकामे नही है। इसके सिवा, धारणक और पारणकके दिनोमे एक भुक्तिकी जो कल्पना टीकाकारने की है, वह उसकी अतिरिक्त कल्पना है। प्रोषध का अर्थ सकृद् भुक्ति और प्रोषधोपवासका अर्थ सकृद् भुक्ति पूर्वक उपवास-किसी अन्य ग्रन्थमे देखनेमें नही आया। यह अर्थ प्रोषध-

---

१ मुख्तार सा० ने जो सदिच्छाभिः पाठ माना है, वह ठीक नही है। सदेच्छाभिः पाठ देकर यह बताया है कि किसी मास विशेषकी अष्टमी-चतुर्दशीको ही उपवास करनेका नियम नही है, प्रत्युत जीवन पर्यंतकी अष्टमी-चतुर्दशीको उपवास करनेका नियम है। इच्छाभि का विशेष अर्थ है—कोरा चार आहारोका त्याग ही उपवासमे पर्याप्त नही है, किन्तु आहारादिकी इच्छा, विषय कषायोंका त्याग प्रत्याख्यानके साथमें आवश्यक है। मुख्तार सा० ने सत् इच्छाका विधान किया है किन्तु ग्रन्थाकार सत् और असत्—सभी प्रकारकी इच्छाओका यहाँ परित्याग करवा रहे है। अन्य ग्रन्थकारोंने भी इस प्रसगमें सदा पाठ ही माना है। अत यहाँ सदेच्छाभिः पाठ ही होना चाहिये।

प्रतिमाके श्लोक १४० के भी विरुद्ध है। अतः यह चतुराहार विसर्जन श्लोक आश्चर्य नही, जो ग्रन्थमें किसी तरह प्रक्षिप्त हो गया हो और टीकाकार को उसका ध्यान भी न रहा हो।

इस श्लोक पर और भी कुछ विद्वान इसी तरहके क्षेपक होने का आरोप करते है, किन्तु मेरे विचार मे यह सब ठीक नही है। यह श्लोक मूल का ही अग है और स्वामी समन्तभद्रकृत ही है। किसी भी प्राचीन अर्वाचीन प्रतिमें इस श्लोक का अभाव नही पाया जाता। अगर यह क्षेपक है, तो यह दूसरे किस ग्रन्थका मूल श्लोक है और कौन इसका कर्ता है, यह स्पष्ट होना चाहिये। अन्यथा किसी श्लोकको क्षेपक कह देना अतिसाहस है।

इस श्लोक की रचना शैली एक विशेषता को लिये है जो इसे समन्तभद्र की ही कृति सिद्ध करती है। इसमें जो लक्षण बाधने का ढग है, वह रत्नकरण्डश्रावकाचारके सिवा अन्य किसी भी श्रावकाचारमे नही पाया जाता। इसकी अद्वितीयता निम्न है—इसमें यद्के साथ 'आचरण' शब्द न देकर 'आचरति' क्रिया दी है और यद् की जोडका स शब्द देकर लक्षण बाधा है। यह शैली रत्नकरण्डश्रावकाचारमे अन्यत्र भी पाई जाती है, यथा,

(१) न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृति, स्वदारसन्तोषनामापि ॥ ५९ ॥

(२) निहित वा पतित वा, सुविस्तृत वा परस्वमविसृष्ट।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥ ५७ ॥

(३) स्थूलमलीक न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद् वदन्ति सन्त, स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ५५ ॥

(४) सकल्पात्कृतकारितमननाद् योगत्रयस्य चरसत्वात्।
न हिनस्ति यत् तदाहु, स्थूलवधाद्विरमण निपुणा ॥ ५३ ॥

(५) अन्यूनमनतिरिक्त याथातथ्य विना च विपरीतात्।
नि सन्देह वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन ॥ ४२ ॥

(६) स्वय शुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यता यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ ॥

इसतरह यह सुतरा सिद्ध है कि यह श्लोक क्रमाक १०° रत्नकरण्डश्रावकाचार का ही अग है और स्वामी समन्तभद्रकृत हो है। अब जो आपत्तियाँ की गई है, उनका भी निरसन निम्न प्रकार किया जा सकता है

(१) टीकाकारने जो श्लोक १०६ की उत्थानिकामें 'प्रोषधोपवासलक्षण शिक्षाव्रत प्राह' लिखा है, वह ठीक है। उसका अर्थ यह है कि प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रत का कथन करते है। शिक्षाव्रतके चार भेद हैं। उनमेसे यहाँ प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रत का कथन किया है। अत नाम या भेद अर्थमे यहाँ लक्षण शब्द का प्रयोग किया गया है। यही शैली आगेके वैयावृत्त शिक्षाव्रत की उत्थानिकामें इस प्रकार दी है "इदानी वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूप प्ररूपयन्नाह।" श्लोक १०९ की टीकामे चतुराहार पदकी व्याख्या इस प्रकार की है—चत्वारश्च ते अहाराश्चाशन-पान-स्वाद्यलेह्यलक्षणा। इसमें भी लक्षण शब्द भेद अर्थमें ही दिया है।

श्लोक न० १०९ की उत्थानिकामें जो "प्रोषधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह" लिखा है, उसका अर्थ है कि "प्रोषधोपवास" ऐसा जो पद है उसका लक्षण कहते हैं।" इस तरह दोनों उत्थानिका वाक्य अपनी जगह सही हैं। दोनोंका अर्थ जुदा जुदा है, अत पुनरुक्तिका आरोप मिथ्या है।

(२) श्लोक न० १०६ में 'पर्वण्यष्टम्यां च' पदमें पर्वणी मूल शब्द बताया गया है, यह गलत है। मूल शब्द पर्वन् (नपुसक लिंग) है उसका सप्तमी विभक्तिके एक वचनमें पर्वणि रूप बनता है जबकि पर्वणी शब्दमे ईकार बडा है और वह स्त्रीलिंग शब्द है तथा यह प्रथमा विभक्तिका द्वि वचन है। अगर वह यहां होता, तो 'पर्वण्यामष्टम्या च' ऐसा पद बनता। इसमें छन्दोभंग ही होता। अत यह ठीक नही है। टीकाकार ने भी मूल शब्द पर्वन् ही माना है और उसी का अर्थ चतुर्दशी किया है। उसी का सप्तमीके एक वचनमे पर्वणि रूप दिया है। (३) श्लोक न० १०९ मे जो प्रोषधका अर्थ सकृद्भुक्ति दिया है, उसीके आधारसे टीकाकारने धारणक और पारणकके दिन एकाशन की बात कही है। उनकी यह कोई निजी कल्पना नही है। प्रोषधका अर्थ सकृद्भुक्ति अन्य ग्रन्थोमें नही पाये जानेसे ही वह आपत्तिके योग्य नही हो सकता। समन्त-भद्रके ऐसे बहुतसे प्रयोग है जो अन्य ग्रन्थोंमें नही पाये जाते। जैसे

चेत कलुषयता श्रुतिरवधीना दु श्रुतिर्भवति ॥ ७९ ॥

रत्नकरण्ड श्रावकाचारके इस श्लोकमे अवधि शब्द शास्त्र अर्थमे प्रयुक्त किया गया है, यह अनूठा है।

(आ) चौथा शिक्षाव्रत वैयावृत्य बताया है और उसीमें अर्हंतपूजा को गर्भित किया है (श्लोक ११९)। यह निराला है।

(इ) श्लोक क्रमाक ९७ के आसमयमुक्तिमुक्त पदमे आये समय शब्दकी जो व्याख्या श्लोक ९८, "मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्ध पर्यंकबन्धन चापि। स्थानमुपवेशनं वा समय जानन्ति समयज्ञा," में की गई है, वैसी अन्यत्र नही पाई जाती।

(ई) श्लोक न० २४ मे गुरुमूढताके लिये पाखण्डिमोहनम् शब्द का प्रयोग भी अद्वितीय है।

(उ) श्लोक न० १४७ मे मुनिवन, भैक्ष्याशन, चेल, खण्डधर आदि कथन भी अनुपम हैं।

(ऊ) स्वयम्भूस्तोत्रमे चारित्रके लिये उपेक्षा शब्दका प्रयोग श्लोक ९० मे किया गया है।

(ऋ) आज सामायिक शब्दका ही प्रचार है, किन्तु इस अर्थमें रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सर्वत्र सामयिक शब्दका ही प्रयोग किया गया है, कही भी सामायिक शब्दका नहो। यह भी एक विशेषता है।

(४) श्लोक १०९ प्रोषधप्रतिमाके श्लोक १४० के विरुद्ध बताया जाता है, यह भी ठीक नही है क्योंकि प्रोषधप्रतिमाके श्लोकमें जो प्रोषधनियम विधायी पद दिया है, उसके नियम शब्दके अन्तर्गत श्लोक १०६ से ११० तकका सारा प्रोषधोपवासका कथन आ जाता है। अत यह श्लोक १०९ किसी तरह विरुद्ध नही पडता, अपितु उसका पूरक ठहरता है।

अब मैं श्लोक १०९ के अर्थ पर आता हूँ। आज तक इस श्लोकका पूरा वास्तविक अर्थ सामने न आ पानेसे यह श्लोक लोगोको कुछ अटपटा सा लगता है। मैंने इस पूरे श्लोकका जो अर्थ निश्चित किया है, वह इस प्रकार है, विद्वान् इस पर गम्भीरतासे विचार करें

इस श्लोकमे कोई भी पाठान्तर नही पाया गया है। सिर्फ कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीकामें शुभचन्द्राचार्यने इसके चतुराहारविसर्जन पदकी जगह चतुराहारविवर्जन पद दिया है, जो सामान्य शब्द भेदको लिये हुये है, किसी अर्थ भेदको लिये हुए नही।

केशवके ग्रन्थमें जो इस श्लोकका अर्थ दिया गया है, उसमें पूर्वार्द्धका अर्थ तो ठीक है, किन्तु उत्तरार्द्धका अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि उत्तरार्द्धके अर्थमें जो उपवास करके आरम्भका आचरण करना प्रोषधोपवास है, ऐसा बताया है, उसके अनुसार कोई ग्रन्थकार आरम्भ करनेका उपदेश नहीं दे सकता और न ऐसा प्रोषधोपवासका लक्षण कहा जा सकता है।

मेरे विचारमें 'स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचारति' इस उत्तरार्द्धके उपोष्यारम्भ पदका अर्थ उपवास-सम्बन्धी आरम्भ-अनुष्ठान लेना चाहिये। योगसारप्राभृत (अमितगति प्रथम कृत) के श्लोक १९ अधिकार ८ में आरम्भ शब्दका अर्थ धर्मानुष्ठान दिया है। उपवाससे सम्बद्ध हो जाने पर आरम्भ अपने आप धर्मानुष्ठान हो जाता है। यहाँ उपवास विषयक आरम्भके आचरणको प्रोषधोपवासका लक्षण बताया है। ग्रन्थकारने इस श्लोकमें और इससे पूर्वके तीन श्लोकोंमें जो उपवासविषयक कर्त्तव्य बताये हैं, वे सब इस उपोष्यारम्भ पदमें आ जाते है। इस छोटेसे पदमें उपवास सम्बन्धी सारे क्रियानुष्ठान गर्भित कर लिये गये है, इसीसे इस लक्षणात्मक श्लोकको अन्तमें रखा है। उपोष्यारम्भ पदके द्वारा प्रकारान्तरसे ग्रन्थकारने यह भी सूचित किया है कि यहाँ अन्य सब गार्हस्थिक आरम्भ त्याज्य है। सिर्फ आहारका त्याग करना ही उपवास नहीं है, किन्तु लौकिक आरम्भोका त्याग करना भी साथमे आवश्यक है। ऐसा अन्य ग्रन्थकारोने भी इस प्रसगमें लिखा है

(क) पुरुषार्थसिद्धयुपाय—मुक्तसमस्तारम्भ (श्लोक १५२)

(ख) अमितगति श्रावकाचार-विहाय सर्वमारम्भमसयमविवर्धक (१२।१३०) सदोपवास परकर्ममुक्त्वा (७।७०), सदनारम्भनिवृत्तैराहारश्चतुष्टय सदा हित्वा (६-८८)

(ग) सकलकीर्तिकृत सुदर्शन चरित—त्यक्त्वारम्भगृहोद्भव (२।७२)

(घ) रइधूविरचित पासणाह चरिउ-सवरु किज्जइ आरम्भकम्मि (५।७)

(ङ) जयसेनकृत धर्मरत्नाकर-आरम्भजलपानाभ्या मुक्तोऽनाहार उच्यते (१३०/)

(च) रत्नकरण्डश्रावकाचारके श्लोक १०७ मे भी उपवासमे आरम्भका त्याग बताया है।

उपोष (उप+उष्) शब्द उपवासका पर्यायवाची है, इसके आगे योग्य अर्थमें यत् प्रत्यय करने पर उपोष्य बना है। वही यहाँ उपोष्यारम्भ पदमें समझना चाहिये। "उपवास करके" इस अर्थका वाची शब्द यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिये।

चर्चित श्लोकके पूर्वार्द्धमें जो प्रोषधका अर्थ ग्रन्थकारने सकृद् भुक्ति दिया है, उसका समर्थन इसी ग्रन्थके 'सामयिक बहनीयाद् उपवास' चैक भुक्ते वा' से भी होता है। इसमे बताया है कि एक भुक्ति और उपवास अर्थात् प्रोषधोपवासके दिनोंमें सामायिकको दृढ करना चाहिये। श्लोकमे जो वा शब्द दिया है, उसका तात्पर्य यह है कि सामायिकको अन्य विशेष दिनोंमें भी दृढ किया जाना चाहिये। इस श्लोकमें जो उपवास और एक भुक्ति अलग-अलग पद दिये हैं, वे उपवास और प्रोषध अर्थात् प्रोषधोपवासके वाची हैं। इससे प्रोषधः सकृद् भुक्ति. इस पदका अच्छी तरह समर्थन होता है और यह श्लोक समन्तभद्रकृत ही है, यह भी सम्यक् सिद्ध होता है। जिन्होंने प्रोषधका अर्थ पर्व किया है, वे ग्रन्थकार प्रोषधोपवास शब्दसे आठ प्रहारका ही उपवास अभिव्यक्त कर सके हैं। १२ और १६ प्रहरके उपवासके लिये उन्हे अतिरिक्त श्लोकोंकी रचना करनी पड़ी है। इसके विपरीत, स्वामी समन्तभद्रने प्रोषधका सकृद्भुक्ति अर्थ करके इसके बल पर प्रोषधो-

पवास शब्द मात्रसे ही १२ और १६ प्रहरके उपवासका कथन अभिव्यक्त कर दिया है। यह उन जैसे प्रवचन-पटु अद्वितीय रचनाकारका ही काम है।

इस प्रसग में संस्कृत टीकाकारने जो आरम्भका अर्थ सकृद्भुक्ति किया है, वह भी अनोखा है और शब्दशास्त्रादिक से किसी तरह सगत नही है।

पं० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत के अध्याय ७ श्लोक ५ तथा उसके स्वोपज्ञभाष्यमें प्रोषधोपवास के चार भेद किये हैं-आहारत्याग, अग सस्कारत्याग, सावद्यारभत्याग, और ब्रह्मचर्य (आत्मलीनताका पालन)। इसी प्रकारका कथन श्रावक प्रज्ञप्ति और प्रशमरतिप्रकरणादिकी टीकामे श्वेताम्बराचार्योंने भी किया है। इस दृष्टि से जब मैंने रत्नकरण्डश्रावकाचारका अध्ययन किया, तो उसके प्रोषधोपवास विषयक श्लोक १०६ से १०८ में मुझ ये चारो भेद परिलक्षित हुये हैं। जिसका खुलासा इसप्रकार है

पर्वण्यष्टम्याच ज्ञातव्य प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्याणा प्रत्याख्यान सदेच्छाभि ॥ १०६ ॥

इस श्लोकमे आहारत्यागका कथन है।

पचाना पापानामल क्रियारभगधपुष्पाणाम्।
स्नानाजन-नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ १०७ ॥

इस श्लोक मे अगसस्कारत्याग तथा सावद्यारभत्याग का कथन है।

धर्मामृत सतृष्ण श्रवणाभ्या पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालू ॥ १०८ ॥

इस श्लोक मे ब्रह्मचर्य (आत्मलीनता, ध्यान) का कथन है।

सम्भवत इसीके आधार पर उत्तरवर्ती दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थकारो ने उक्त चार भेदो की परिकल्पना की है। वस्तुत इस १५० श्लोक परिणाम छोटे से ग्रन्थमें स्वामी समान्तभद्रने गागरमें सागर भर दिया है। इस ग्रन्थ को जितनी वार पढो उतनी ही वार कुछ नया ज्ञातव्य पाठकको अवश्य मिलता है। इसकी यह विशेषता अन्य श्रावकाचारो में प्राय नही पाई जाती।

इस ग्रन्थ के अन्य कुछ श्लोको पर भी कतिपय विद्वान् क्षेपकत्वका सन्देह करते है। प्रसगोपात्त यहाँ उनकी भी चर्चा उपयुक्त होगी

मातगो धनदेवश्री वारिषेणस्तत पर।
नीलो जयश्च सम्प्राप्ता पूजातिशयमुत्तमम् ॥६४॥
धनश्री सत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथाश्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥६५॥
मद्यमासमधुत्यागै महाणुव्रतपचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणा श्रमणोत्तमा ॥७६॥

इन श्लोको पर छन्दभिन्नत्वके कारण क्षेपकत्वका आरोप किया जाता है। यह ठीक नही है। छन्द-भिन्नत्व तो प्रथम परिच्छेद और अन्तिम परिच्छेदके अन्तिम श्लोकोमे भी पाया जाता है, अत यह हेतु अकार्यकारी है। कवि लोग कभी-कभी परिच्छेदके अन्त में छन्द भिन्नता कर देते है। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ-जहाँ छन्द भिन्नत्व हो, वहाँ प्राय परिच्छेदकी समाप्ति समझना चाहिये। यही बात यहाँ के

तीन श्लोकोंके लिये हैं। पहिले श्लोकमें अहिंसादि पाँच व्रतोंमे प्रसिद्ध होनेवाले पुरुषोंके क्रमश नाम दिये हैं। उसी विषयमें दूसरे श्लोकमें बदनाम होनेवालोंके नाम दिये है। बदनामीका वाचक दूसरे श्लोकमे कोई शब्द न होनेसे और बिना उसके सगति न बैठनेसे समीचीन धर्मशास्त्रकी प्रस्तावना पृष्ठ ७१ पर यथाक्रम पाठकी जगह अन्यथासम पाठकी परिकल्पना की गई है किन्तु यह ठीक नही है। मेरे विचारमें यहाँ उपाख्येया की जगह अपाख्येया पाठ होना चाहिये जो बदनामीका वाचक है। इस सामान्य शब्द परिवर्तनके द्वारा ही इष्टार्थकी प्राप्ति होती है। प्रतिलिपिकारोके प्रमादसे अप का उप हो जाना बहुत कुछ सम्भव है। इससे यथाक्रमम् पाठका लोप भी नही करना पडेगा।

अब रहा मूल गुणोका वाची तीसरा श्लोक, वह तो बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि उसके आगेके श्लोकमे जो यह बताया है कि "अनुबृंहणात् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्या ।।६७।। इसलिये अगर गुणोका ही वर्णन करनेवाला श्लोक नही होगा, तो गुणोकी वृद्धि और गुणव्रतका कथन ही कदापि सम्भव नही होगा। जिस तरह बिना पिताके पुत्र नहीं होता, उसी तरह बिना गुणोंके गुणव्रत सम्भव नही। अत यह श्लोक ग्रन्थका नितान्त आवश्यक अग है। किसी तरह भी क्षेपक नही है।



मोक्ष महलकी परथम सीढ़ी
समकित

नीरज जैन, सतना

अनादि कालीन ससार परिभ्रमणके घनघोर अन्धकारमे भटकते हुए भव्य जीवके लिए, सम्यग्दर्शन प्रकाशकी प्रथम किरण है। यह भव-भ्रमण के अपार-पारावारमें निमग्न, निराश्रित और निराश पथिकके लिए दिशा-सूचक ज्योति स्तम्भ है। ऐसा अति दुर्लभ सम्यग्दर्शन जिन्हें उपलब्ध हो गया है वे प्रणम्य हैं। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग"के विख्यात सूत्र द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकताको ही मोक्ष मार्ग कहा गया है। इनके विपरीत, समन्तभद्रने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको ससारका मार्ग निरूपित किया है (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३)।

तथापि मोक्ष मार्गकी प्राप्तिके लिए इन तीनोमे भी सम्यग्दर्शनकी विशेषता आचार्योंने स्वीकार की है। स्वामी समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनको मोक्ष मार्गमे कर्णधार घोषित किया (श्लोक ३१)। इसी प्रकार कुन्दकुन्द आगमके प्रवक्ता टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रने अपने ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' (श्लोक २१) में सम्यग्दर्शनकी महिमा स्थापित करते हुये लिखा है कि इन तीनोमें प्रथम, समस्त प्रकारके उपायोंसे सम्यग्दर्शन भले प्रकार अगीकार करना चाहिये, क्योकि इसके होते हुए ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

ससार सागरसे मोक्षके लिए ऐसे खेवटिया सम्यग्दर्शनकी महिमा अनेक ग्रन्थोंमें गाई गई है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीका की प्रस्तावनाके रूपमें श्रीमान् पंडित पन्नालाल जी साहित्याचार्यने सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमे बहुविध विचार किया है। सस्कृत साहित्यकी बात मैं नही जानता, परन्तु हिन्दीमे इसके पूर्व, सम्यग्दर्शन पर इतना विश्लेषणात्मक लेखन एक साथ कही देखनेको नही मिला था। इसमें पण्डितजीने चारों अनुयोगोंकी कथनकी अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन पर विचार किया है।

दिगम्बर जैन प्रबुद्ध समाजमें 'सम्यग्दर्शन' ही आज सबसे अधिक चर्चित विषय है। सम्यग्दृष्टि जीवकी उपलब्धियाँ क्या-क्या है? उसके कौन-कौनसे विकार दूर हो गये है? उसे अपनी यह स्थिति बनाये रखनेके लिए क्या-क्या करणीय है? आदि आदि प्रश्नो पर समाजमे और समाचार पत्रोमें प्राय चर्चा चलती रहती है। सम्यग्दृष्टि जीवकी वीतरागता, उसका चारित्र, उसकी अबन्धक दशा और उसकी आत्मानुभूतिके प्रश्नको लेकर प्राय खीचतान भी होती रहती है।

इस निबन्ध मे इन्ही बातो पर विचार किया जायेगा।

विचार करनेके लिए यदि हम शास्त्रोका वर्गीकरण करें, तो हमे पता लगता है कि सम्यग्दृष्टि जीव और उसकी उपलब्धियोको लेकर एक तो हमारे पास निर्ग्रन्थ मुनिराजो और आचार्यों द्वारा प्रणीत परम्परा है। इस परम्परामें, निर्ग्रन्थ अवस्थासे पहिले तक, सम्यग्दृष्टि को, न तो शुद्धात्मानुभूतिसे युक्त मानते है, न शुद्धोपयोगी मानते है, न ही उसमें रत्नत्रयका प्रारम्भ मानते है, और न ही उसे सिद्धके समान अबन्धक कहते है। आचार्योंकी इस परम्परामें भगवान् कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, अमृतचन्द्र, जयसेन, जिनसेन आदिके नाम गिनाये जा सकते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीवके गुणगानमें दूसरी परम्परा, गृहस्थ ग्रन्थकारो की है। इस परम्परामें पञ्चाध्यायी प्रणेता पण्डित राजमलजी (ई० १५४६-१६०४), आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी, गुरुवर्य पण्डित गोपालदासजी बरैया, कविवर बनारसीदासजी आदि है। इन ग्रन्थकारोने सम्यग्दृष्टिको वीतराग परिणति सयुक्त शुद्धोपयोगी, अबन्धक और रत्नत्रय-धारी भी किसी अपेक्षासे माना है।

यह 'छोटे मुंह बडी बात' हो सकती है, परन्तु जितना ही मैं आज समाजमे प्रचलित, एकागी और विवक्षा-रहित धारणाओको सुनने-समझने की कोशिश करता हूँ, उतना ही मुझे ग्रन्थकारोका यह वर्गीकरण विचारणीय और महत्वपूर्ण लगता है। यद्यपि पण्डित दौलतरामजी और बाबा गणेशप्रसाद जी वर्णी जैसे विचारकोकी सख्या भी कम नही है जिन्होने आचार्य प्रणीत, आर्ष और चारो अनुयोगोमे समर्थित परम्परा को ही अपनी लेखनी द्वारा प्रतिपादित किया, और इस प्रकार उचित अपेक्षा पूर्वक वस्तुस्वरूपका कथन करके स्याद्वादकी प्रतिष्ठा की है।

मेरा यह मन्तव्य कदापि नही है कि उपरोक्त गृहस्थ ग्रन्थकारोने शास्त्र-विरुद्ध या अवास्तविक प्ररूपणा की है, परन्तु ऐसा लगता है कि या तो उन्होने हमारी बुद्धिपर भरोसा करके, हर जगह अपनी विवक्षा को स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नही समझी या फिर कही-कही हम ही उनकी विवक्षाको पकडनेमें चूक कर रहे है।

उपरोक्त गृहस्थ ग्रन्थकारोके 'पञ्चाध्यायी' और 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ये दो ही प्रमुख ग्रन्थ है। एक दुर्भाग्य यह भी रहा है कि ये दोनो ही ग्रन्थ अधूरे एव अपूर्ण है। दोनो ग्रन्थकार जिनवाणीकी पावन धारा मे आकण्ठ अवगाह कर रहे थे। दोनोने अपनी अद्भुत कथन-क्षमता और अगाध ज्ञान लेकर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर सकल्प पूर्वक लेखनी उठाई थी और उनका बहुत समृद्ध, सागोपाग वर्णन करनेका प्रयास प्रारम्भ किया था, परन्तु दोनोका कार्य ऐसी मझधारमे अधूरा छूट गया कि अकेले सम्यग्दर्शनका भी पूरा गुणगान उनकी लेखनीसे प्रसूत न हो पाया। फिर भी, सम्यकत्वके विषयमे दोनो ही विद्वानोने जितनी सूक्ष्मतासे, जैसी विलक्षणता पूर्वक, विपुल सामग्री प्रस्तुत की है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि यदि उनकी लेखनी ज्ञान और चारित्र पर भी चल पाती तो हमे रत्नत्रयकी अत्यन्त सुगम, अत्यन्त सरल और अत्यन्त सागोपाग, तर्क-पूर्ण व्याख्या प्राप्त हो गई होती। हमारा दुर्भाग्य था कि ऐसा नही हो पाया।

कई बार ऐसा लगता है कि इन गृहस्थ ग्रन्थकारोने सम्यग्दर्शनका महत्व प्रतिपादन करते हुए, अपनी श्रेणीके अव्रती सम्यग्दृष्टियोके प्रति कुछ अधिक ही उदारता दिखाई है। इस समझका प्रतिफल यह हुआ है कि आज सम्यग्दर्शनकी तथाकथित महिमाके ऐसे-ऐसे अर्थ लगाये जा रहे है, जिनके सामने ज्ञान और चारित्र की महिमाका सर्वथा लोप-सा होता दिखाई देता है। शुद्धात्मानुभूति और शुद्ध उपयोगकी लुभावनी, अबन्धक दशाका आश्वासन, जिन्हे गृहस्थी पालते हुये, व्यापार चलाते हुये और लडते-झगडते तथा विषय-कषायोका आनन्द लेते हुये भी प्राप्त है, वे लोग व्रतादिक की शुभ परिणतिको साक्षात् बन्ध करानेवाली और हेय मान बैठे हैं। सैकडो, और शायद हजारो लोगोने धारण किये हुए व्रत और ली हुई प्रतिज्ञाये तक, बन्ध तत्व समझकर, त्याग दी है। त्यागके त्यागकी यह हवा सक्रामक रोगकी तरह एकान्त शास्त्राभ्यासी, नवजिज्ञासुओमें फैल रही है। अब साधकको जैसे ही सम्यग्दर्शन होकर आत्मा झलक मारने शुरू करती है, वैसे ही वह, जहाँ रमा है वही, अपनी उन्ही प्रवृत्तियोके बीच, अपने आपको 'जिनेश्वरका लघुनन्दन' समझने लगता है। राज, रमा, वनितादिक जेरस, तेरस, बेरस लागे' वाली स्थितिकी उसे आवश्यकता ही नही प्रतीत होती। खेदकी बात यह है कि तब उसे अपनी रागद्वेष रूप वर्तमान विकारी परिणति पर जरा भी खेद नही होता, उल्टे उसे अव्रती होनेकी एक महिमा सी लगती है। उसीका गौरव लगता है।

अव्रती सम्यग्दृष्टिका वैभव और उपलब्धियाँ गिनाते समय कई बार तो हम यह भी भूल जाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव चारों ही गतियोंमें पाये जाते हैं, तब पशुमें अथवा नारकी जीवमें वह सारी महत्ता कैसे सगत बैठेगी, जिसे चतुर्थ गुणस्थान पर बिना विवक्षा विचारे, हम थोपते चले आ रहे हैं। इस दृष्टिसे भी प्रकृत विषय पर विचार किया जाना आवश्यक है।

सम्यक्त्वके आठ अग

प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये चार भाव सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे कारण होते है। इन्हे हम समकितकी जड भी कह सकते है। वास्तवमे, इन्ही चार भावोके उत्तरोत्तर विकासका नाम ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके जो आठ गुण या अग,—नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना कहे गए है, वे भी इन्ही चार भावोसे प्रगट और पुष्ट होते है। इनका परस्परमे ऐसा ही सम्बन्ध है।

१—'प्रशम' गुण हमारी कषायगत तीव्रताको हटाकर हमारे भीतर समता भाव उत्पन्न करता है। समताकी मृदु भूमिमे ही स्वके अस्तित्वका बोध होता है। अपने ही अस्तित्वके प्रति हमारी अनादिकालीन शकाओ या भ्रान्त धारणाओका निराकरण होकर हमारे भीतर नि शकित नामका पहला गुण प्रगट होता है। यही गुण, आगे चलकर एक ओर तो उत्तरोत्तर बढते हुए प्रशम भावसे पोषण प्राप्त करता रहता है, और दूसरी ओर यह अपने प्रसादसे पाँचवे उपगूहन अगको पोषित करता रहता है।

२—'सवेग भाव' ससार परिभ्रमण से भयभीत होकर उसकी परिपाटीको तोडनकी छटपटाहटका नाम है। सवेगके आते ही समस्त सासारिक उपलब्धियाँ और उपाधियाँ असुहावनी और कष्टकर लगने लगती है। उनके प्रति आकर्षण या उनकी प्राप्तिकी आकाक्षा हमारे भीतर शेष न रह जाय, सम्यक्त्वका यह नि काक्षित नामका दूसरा गुण है। यह गुण आगे जाकर एक ओर तो निरतर बढते हुए प्रशम भावमे पोषित होता चलता है, दूसरी ओर यह स्थितिकरण नामके छठे गुणको पोषण प्रदान करता है। जितना दृढ सवेग भाव होगा, उतनी ही दृढता हमारे नि काक्षित गुणमें होगी, और यह जितना दृढ होगा, उतना ही हम अपने आपको यश, ख्याति, लाभ पूजादि चाहसे बचाकर रख सकेंगे। इनसे बचे बिना 'स्व' के अथवा 'पर' के स्थितिकरणकी कल्पना भी नहीकी जा सकती।

३—'अनुकम्पा' तृतीय भाव है जो मिथ्यात्वके नाशमे सहायक होता है। अनन्तानन्त ससारी जीवोके अनादिकालीन दु ख समुदायका विचार करके, उनकी पीडासे द्रवित होकर, सबके दु ख निवारणकी कामना, अनुकम्पा है। दया भावमें, पर दु ख कातरता जोड देने पर, इस भावकी सही परिभाषा घटित होती है। अनुकम्पा प्रगट होते ही समस्त जीवो, और विशेषकर दुखियों-पीडितोमे, हमारे निर्विचिकित्सा नामका तीसरा गुण प्रगट होता है। ग्लानि, घृणा, जुगुप्सा आदिका भाव हमारे मनसे निकल जाता है। यह गुण इधर तो निरन्तर अनुकम्पासे पोषण पाकर वृद्धिगत होता है और उधर अपने प्रसादसे वात्सल्य नामके सातवे गुणको बढाता और दृढ करता है।

४—'आस्तिक्य' चौथा सबसे महत्वपूर्ण भाव है। इसीकी दृढताके सहारे कुदेव, कुश्रुत और कुगुरुकी अनादि मान्यताके हमारे अनुबन्ध खण्डित होते हैं, हमें 'अमूढ-दृष्टित्व' नामका सम्यग्दर्शनका चौथा गुण प्राप्त होता है। स्व और परकी यथार्थ मान्यता के बिना यह आस्तिक्य गुण उत्पन्न हो ही नही सकता। आस्तिक्यकी दृढताके बिना, मूढ-दृष्टियाँ मिथ्याकल्पनाएँ कभी नष्ट नही हो सकती। हमारे भीतर आस्तिक्य की नीव जितनी गहरी होगी, हमारा अमूढदृष्टित्व भी उतना ही सबल और पुष्ट होगा।

यह अमूढ़दृष्टित्व एक ओर तो सदैव आस्तिक्यसे शक्ति ग्रहण करके सबलता प्राप्त करता है, और दूसरी ओर 'प्रभावना' नामके आठवें गुणको आधार प्रदान करता है। आस्तिक्यके अनुरूप अमूढ़-दृष्टित्व, और अमूढ़-दृष्टित्वके अनुरूप ही प्रभावना हमारे भीतर प्रतिष्ठित हो सकते हैं। इस प्रका सम्यक्त्व उपजानेमें कारणभूत ये चार भाव ही सम्यक्त्वके आठ गुणोंको शक्ति प्रदान करके निर्मलता और सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर इन चारोकी उपयोगिता समाप्त नही हो जाती, वरन् वह उत्तरोत्तर बढती जाती है और समकितवान जीवके जीवनमे इनका समावेश और महत्व निरन्तर बना रहता है।

इन निशकित आदि आठ गुणोंसे ही समकितका अस्तित्व है। जैसे शरीरके आठ अग ही शरीरको पूर्णता प्रदान करते है, वैसे ही ये आठ गुण सम्यग्दृष्टि जीवका वैचारिक व्यक्तित्व बनाते है। नि शकित और नि काक्षितकी स्थिति दोनो पैरो जैसी है। इनके बिना व्यक्ति न टिक सकता है और न एक पग चल ही सकता है। निर्विचिकित्सा और अमूढदृष्टित्व हमारे दोनो हाथोकी तरह हैं, जो मलशुद्धिसे लेकर चन्दन-तिलक तक सारी क्रियायें करते हुए भी शरीरकी शुचिताको बनाये रखते हैं। स्थितिकरण अग पृष्ठ भाग-पीठकी तरह है। शरीरमें मेरुदण्डकी तरह समकितमे यह अग भी पूरे व्यक्तित्वको स्थिरता और आधार प्रदान करता है। उपगूहन अगकी स्थिति नितम्ब भागकी तरह है। जमकर बैठ जानेमे अत्यन्त उपयोगी होकर भी यह अग प्रच्छन्न रहकर ही शोभा पाता है। हमारा वक्ष वात्सल्यका प्रतीक है। वात्सल्यकी उत्पत्ति, स्थिति और विकास सब कुछ हृदयमे ही होता है। वह तर्कसे, ज्ञानमे या बुद्धिमे बहुत ज्यादा सचालित नही होता। शाब्दिक वात्सल्यके बजाय लोकमे भी हार्दिक भावनायें या छातीमे लगाकर वत्सलता जताना ही सच्चे वात्सल्यका प्रतीक है। प्रभावनाका स्थान मस्तिष्कके समान निरर्थक है, उसी प्रकार मार्ग-प्रभावनाको आधार बनाए बिना, न समकित सच्चा समकित हो सकता है, न धर्म यथार्थ धर्म हो सकता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके अविनाभावी ये आठ गुण ही समकितवान जीवको एक अभूतपूर्व व्यक्तित्व प्रदान करते है। इनमेसे कोई एक गुण भी यदि विकसित न हो पाये, तो वह अग-हीन सम्यग्दर्शन, अनादि ससार परिपाटीका छेद करनेमे उसी प्रकार असमर्थ होता है जैसे कम अक्षरोवाला मत्र वाछित कार्यकी सिद्धिमे अकार्यकारी होता है।

नि शकित गुण हमारी मनोभूमिको मृदुता प्रदान करता है। नि काक्षित और निर्विचिकित्सा उसमेसे राग द्वेषका उन्मूलन करते हैं, अमूढ-दृष्टित्वसे मोहका परिहार होता है। शेष चार गुण हमारे व्यक्तित्वको शुचिता, सस्कार और आत्म-सयमकी ओर ले जाते हैं। तभी हमारा जीवन शल्य रहित हो जाता है, भय रहित हो जाता है। सक्लेश मुक्त हो जाता है। मिथ्या शल्य जानेसे भूतकालका अनादिसे लगा हुआ मल विसर्जित हो जाता है, माया शल्यके अभावमे वर्तमान जीवन प्रामाणिक और पवित्रता युक्त हो जाता है और निदान शल्य जानेसे भविष्यके अनुबन्ध तथा आसक्तियां टूटती है। इस प्रकार समकितकी निधि प्राप्त होते ही जीवके भूत, भविष्य और वर्तमान-तीनोमे पवित्रता आ जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीवकी प्रवृत्ति

समकितके उत्पादक भावो और गुणोकी उपरोक्त चर्चासे, यह बात स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही जीवको, एक साथ अनेक ऐसी अनुपम निधियाँ प्राप्त हो जाती है, जिनके आधार पर उसकी बाह्य और अभ्यतर, दोनो प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें बडे परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं। सयमरूप चारित्र भले ही अभी उसने धारण नही किया हो, परन्तु अब तकको सारी यद्वा-तद्वा प्रवृत्तियो और चपलताओको त्यागकर,

वह अविलम्ब ही एक विवेकपूर्ण जीवन शैलीसे बँध जाता है। उसकी मानसिक स्थिति इस संक्रान्तमें कुछ ऐसी हो जाती है, जैसी स्थिति वाग्दान् या सगाईके बाद कन्याकी अपने पितृगृहमें हो जाती है। सगाईके दिनसे बिदाके क्षणो तक वह कन्या, अपने जन्म गृहमें रहती है, हर्ष-विषाद, प्यार-प्रीति, भोजन-पान, धरा-उठाई—सब करती है, पर सगाईका सगुन चढ़ते ही, उसे अपने वर्तमान परिकरमें एक परायेपनका बोध होने लगता है। अब उसे अपना घर कही और दिखाई देता है। कल और आजकी उसकी प्रवृत्तिमें स्पष्ट अतर है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवकी प्रवृत्ति भी भिन्न ही हो जाती है। ससार, शरीर और भोगोंमें परायेपनकी, और स्वसम्पदाओमे अपनेपनकी धारणा, उसमे बडे परिवर्तन ला देती है।

करणानुयोगकी कसौटीपर परखें, तो समकित प्राप्त होते ही, इस जीवको अनादिकालसे निरन्तर बँधने वाली, कर्म प्रकृतियोमेंसे इकतालीस प्रकृतियोका बन्ध रुक जाता है[3]। इसका हेतु यही है कि इन्हे बाँधने वाले परिणाम और क्रिया-कलाप उस जीवकी परिणतिमेंसे तिरोहित हो जाते हैं। इसे निकषपर परखकर यदि हम देखें तो हमें स्पष्ट पता लग जाता है कि असयम दशाके रहते हुए भी, समकितवान जीवकी प्रवृत्तिमे बहुत परिष्कार हो जाता है। उसके मन, वचन, कार्यकी परिणति, पहिलेसे एकदम भिन्न हो जाती है।

उदाहरणके लिए, *नीच-गोत्र कर्मका बन्ध सम्यग्दृष्टि जीवको नहीं होता।* इसका *अर्थ हुआ* कि परनिन्दा, आत्मप्रशसा, तथा दूसरोके सद्‌गुणोंका आच्छादन और असद्‌का उद्‌भावन और अपने असद्‌का आच्छादन व सद्‌का उद्‌भावन उसके द्वारा नही होगा। विचारनेकी बात है कि इतने सूक्ष्म और सवेदनात्मक परिष्कार उसकी विचार पद्धतिका अग बन जाते है, तब उसकी प्रवृत्तिमें सकल्पी हिंसा, क्रूरता और दुष्ट अभिप्रायकी बात शेष रह जाये, यह कहाँ तक स भव है ? ऐसा ही आकलन अन्य कर्म-प्रकृतियोंके सम्बन्धमें करनेपर हमे सम्यग्दृष्टि जीवकी परिवर्तित परिणतिका सही अनुमान हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके प्रकार

स्वामित्वकी अपेक्षासे, अथवा सहचारी अन्य गुणोके परिणमनकी अपेक्षासे, सम्यग्दृष्टि जीवोकी अनेक श्रेणियाँ होती है। मोटे रूपमें इन्हें चौथेसे लेकर दशमें गुणस्थान तक सात श्रेणियोंमें बाँटा गया है। भगवान कुन्दकुन्द समयसारमें द्रव्यानुयोगकी मुख्यतासे व्याख्या कर रहे थे, उनका श्रोता समुदाय, रत्नत्रय-धारी साधु समुदाय ही था, इसलिए वहाँ उन्होने प्राय उन्ही उत्तम पात्रोंके अनुसार बातकी है। सम्यग्दृष्टि या ज्ञानीके लिए कुन्दकुन्द द्वारा प्रयुक्त महानतापूर्ण विशेषणोंके प्रभामण्डलमें, जब हम अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, तब अपनी वर्तमान दशाका परिष्कार करके, तदनुरूप उत्कर्षकी ओर अग्रसर होनेकी बजाय, हम अपनी वर्तमान उदयाभिभूत, विकारी परिणतिमे ही, उन सारी महानताओका स्वामित्व अपनेमें देखने लगते हैं। उस प्रभामण्डलको अपने चहुँ ओर ढूँढने लगते हैं, देखने लगते हैं या समझने लगते हैं। बस, यही भ्रम हमारे भीतर बहुत सी गुलत-फहमीको उत्पन्न कर देता है।

भगवान कुन्दकुन्दका उपदेश तो चक्रवर्तीका लड्डू है। जिसमें इसके पचानेकी क्षमता नही होगी, खाते ही उसके बौरा जानेमे कोई शका नही है। कविवर बनारसीदासजीके साथ यही हुआ। वे जन्मत श्वेताम्बर थे। उन्होंने जब बिना किसी प्रारम्भिक अध्ययन-मननके समयसार उठा लिया, जैसा उसमें लिखा है, वैसा ही एकान्त रूपसे समझ लिया, तो जो दशा उनकी हुई, सो अर्द्धकथानकमे दर्ज है। आज भी हममेंसे अनेकोंके साथ यही हो रहा है। अन्तर केवल इतना है कि स्वीकार कर सकें, इतनी सरलता और इसका परिमार्जन कर सके इतना विवेक, ऐसा साहस, बनारसीदासजीके पास था, हमारे पास नही है।

भगवान कुन्दकुन्दने तो प्राय सौ टंचका कुन्दन ही अपनी दृष्टिमें रखकर हर जगह बात की है। उनका ज्ञानी तो पूर्व निराश्रव, वीतरागी, अबंधक और निष्कम्प परिणति वाला है (समयसार गया १६६) इनके हार्दको प्रगट करनेके लिए जयसेन आचार्यने सम्यग्दर्शनको 'सराग' और 'वीतराग'—इन दो प्रकारोंमें विभक्त करके चौथेसे छठवें गुणस्थानके जीवोंको—जो बुद्धिपूर्वक रागादि रूप परिणतिमे प्रवृत्त है—सराग सम्यग्दृष्टि कहा। और सातवें तथा उससे उपरके गुणस्थानोके जीवोंको, जहाँ बुद्धिपूर्वक रागादिरूप परिणतिका सर्वथा अभाव है—वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा। इस प्रसगमें उन्होने एक मार्गदर्शन और हमें दिया कि समयसार पढते समय सम्यग्दृष्टि या ज्ञानीका अर्थ मुख्यत वीतराग सम्य दृष्टि ही करना चाहिये।

पूज्यपाद स्वामीने प्रशम सवेगादिककी अभिव्यक्ति लक्षणवाला 'सराग सम्यग्दर्शन' और आत्माकी विशुद्धि मात्रको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' कहा है। राजवार्तिकमें अकलक देवने, सातो प्रकृतियोके आत्यतिक क्षय होने पर प्रगट होनेवाली, आत्मविशुद्धिको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' माना ह। समयसारके टीकाकार त्रिगुप्तिरूप अवस्थाको ही वीतराग सम्यग्दर्शनकी सज्ञा देते हैं। समयसार तात्पर्यवृत्तिमे, जयसेनाचार्यने अशुभ कर्मके कर्त्तापनेको छोडनेवालेको 'सराग सम्यग्दृष्टि' तथा शुभ और सब प्रकारके कर्मोंके कर्त्तापनेको छोडकर निश्चय चारित्रकी अविनाभूत दशाको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' कहा है (गाथा ९७)।

दूसरी ओर, पचाध्यायीकार ग्रन्थके दूसरे अध्याय (श्लोक ८२५-३१) में कहते है कि 'सम्यक्दर्शनमे जो 'सराग' 'वीतराग' आदि भेद देखता है, वह मिथ्यादृष्टि है,' परन्तु उन्होने ग्रन्थमें सम्यक्त्वका विशद विवेचन करते हुए नाना अपेक्षाओंसे अपनी बात समझाई है।

सम्यग्दर्शनके विविध लक्षणोका समन्वय करते हुए डा० पन्नालाल साहित्याचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी भूमिकामें उसके पाँच लक्षण माने हैं

१ परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति, २ तत्त्वार्थ श्रद्धान, ३ स्व-पर श्रद्धान। ४ आत्माका श्रद्धान ५ सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्राप्त श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति।

उनका यह कथन विशेष मननीय है कि—इन पाँच लक्षणोमेसे पाँचवाँ लक्षण जो करणानुयोगका सम्यग्दर्शन है, वही साध्य है। शेष चार उसके साधन है। जहाँ इन चारोको सम्यग्दर्शन कहा है वहाँ कारणमें कार्यका उपचार ही समझना चाहिये।

सम्यक्त्वके साथ चारित्रकी व्याप्ति

आचार्योंकी स्थापित परम्परामें सम्यग्दर्शनकी चारित्रके साथ विषम व्याप्ति स्वीकार की गई है। इसी कारण चौथे गुणस्थानवर्ती, अविरत सम्यग्दृष्टि जीवको, न तो रत्नत्रयधारी माना गया है, और न ही उसे मोक्षमार्गकी उपलब्धि मानी गई है। आचार्योंने सयमाचरण चारित्रके तीन भेद किये है—देश चारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र। पाँचवाँ गुणस्थान ही चारित्रका प्रथम सोपान कहा गया है। वहींसे जीवको मोक्षमार्गका एकदेश प्रारम्भ होता है।

कुन्दकुन्दकी चारित्रपाहुडकी आठवी गाथाके सहारेसे, स्वरूपाचरण चारित्रकी सगति, चौथे गुणस्थानमें बैठानेका प्रयत्न, कुछ विद्वानोने किया है, परन्तु भगवान्की मूल शब्दावलीमे 'सम्यक्त्वचरण चारित्र' शब्द आया है, स्वरूपाचरण नही। सस्कृत टीकाकार श्रुतसागर सूरिने 'यच्चरति यत्प्रतिपालयति यति' लिखकर, उस सम्यक्त्वचरण चारित्रको मुनियोके लिए साध्य बताकर, स्पष्ट ही चौथे गुणस्थानमें उसकी सभावनाका निषेध कर दिया है। अगली गाथाकी टीकामें भी उन्होने 'ये सूरय' शब्द रखकर

अपनी बात स्पष्ट कर दी है। पण्डित राजमलजीके पूर्व, अर्थात् आजसे चारसौ वर्ष पहिले तक, स्वरूपाचरण नामका जैन आगममें कहीं कोई उल्लेख भी नहीं था। पंचाध्यायीकार पं० राजमलजीने अनन्तानुबन्धीके अभावमें, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिको भी, चारों गतियोंमें पाये जानेवाले स्वरूपाचरण चारित्रका सर्वप्रथम विधान किया है। उन्होंने प्रारम्भसे ही दर्शन-ज्ञान-चारित्रको अविनाभावी होनेसे अखण्ड ही स्वीकार किया है[1]। इसीके ही सहारेसे पण्डित टोडरमलजीने चौथे गुणस्थानमें स्वरूपाचरण चारित्रकी व्यवस्था दी है। एक जगह उनका कथन है—'तहाँ जिनका उदय तैं आत्मा कै सम्यक्त्व न होय, स्वरूपाचरण चारित्र न होय सकै, ते अनन्तानुबन्धी कषाय हैं'[2]। तथा अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है—'बहुरी इस मिथ्याचारित्र विषै स्वरूपाचरण रूप चारित्रका अभाव है[3]।'

पं० गोपालदासजी बरैयाने चारित्रगुणके मूलतः स्वरूपाचरण और संयमाचरण—ऐसे दो भेद करके, फिर संयमाचरणके तीन भेद किये हैं[4]। उन्होने पर मैं इष्टानिष्ट निवृत्तिपूर्वक निज स्वरूपमे प्रवृत्ति ही इसका लक्षण बताया है। इस प्रकार उन्होने चारित्रको तीनकी जगह चार भेदोंमें बाँटा है।

पण्डित दौलतरामजीने छहढालाम देश-चारित्रके साथ भी स्वरूपाचरणका विधान नहीं किया, वरन् सकल-चारित्रके वर्णनके बाद, निर्विकल्प दशामे ही उसका विधान मुनियोके वर्णनमें किया ह[5]।

यह स्वरूपाचरण चारित्र जो भी हो, पर यह वह तत्त्व नहीं है जिसे हम रत्नत्रयका एक अग कह सकें। भले ही यह चौथे गुणस्थानमें सम्यक्त्वके साथ ही उत्पन्न होकर, अविनाभाव रूपसे रहता है,। पर चारित्र गुणकी निर्मलतासे आत्माको जो विशिष्ट उपलब्धियाँ होती है, उनका शतांश भी प्रकट करानेकी शक्ति इस स्वरूपाचरणमे नहीं है। यह तो सम्यक्त्वकी ही एक विशेषतारूप विकास है। पण्डित मक्खनलाल जीने भी इस स्थितिको स्पष्ट करते हुए लिखा है

'सम्यग्ज्ञान होने पर यह नियम नहीं है कि चारित्र भी हो। चौथे गुणस्थानमे सम्यग्ज्ञान भी हो जाता है परन्तु सम्यक्‌चारित्ररूप सयम वहाँ नहीं है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्‌चारित्र हो भी, अथवा नहीं भी हो, नियम नहीं है[6]। पण्डित टोडरमलजीने भी स्वरूपाचरणकी असमर्थता और मोक्षमार्गमे सयमाचरणकी अनिवार्यता स्वीकार करते हुए लिखा है, 'तातै अनन्तानुबंधीके गएँ किछू कषायनिकी मंदता तो हो है, परन्तु ऐसी मन्दता न होय जाकरि कोई चारित्र नाम पावै। यद्यपि परमार्थ तै कषायका घटना चारित्रका अश है, तथापि व्यवहार तै जहाँ ऐसा कषायनिका घटना होय जाकरि श्रावकधर्म वा मुनि-धर्मका अगीकार होय, तहाँ ही चारित्र नाम पावै है'[7]।

इतना ही नहीं, पण्डितजीने यह भी स्पष्टतया निर्देशित कर दिया है कि सयमरूप चारित्रकी साधना किये बिना जीवको मोक्षमार्ग बनता ही नहीं है। उन्होने स्वतः प्रश्न उठाया—"जो असयत सम्यग्दृष्टि कै तौ चारित्र नाही, वाकै मोक्षमार्ग भया है कि न भया है। ताका समाधान—

१. पचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ७६४, ६७।
२. मोक्षमार्ग प्रकाशक (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, प्रथमावृत्ति सन् १९११), अध्याय २, पृष्ठ ५५।
३ मोक्षमार्ग प्रकाशक, वही, अध्याय ४, पृष्ठ १९९।
४ गुरु गोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ १३९।
५. छहढाला, दौलतराम।
६. पंचाध्यायी, अध्याय २ श्लोक ७६७ का भावार्थ।
७ मोक्षमार्ग प्रकाशक, वही, अध्याय ९ पृष्ठ ४८४।

'मोक्षमार्ग वाकी होसी, यह तो नियम भया। तातैं उपचार तैं वाकै मोक्षमार्ग भया भी कहिये। परमार्थ तैं सम्यक् चारित्र भएँ ही मोक्षमार्ग हो है। असयत सम्यग्दृष्टि के वीतराग भावरूप मोक्षमार्गका श्रद्धान भया, तातैं वाकौं उपचार तै मोक्षमार्गी कहिये, परमार्थ तै वीतराग भावरूप परिणमें ही मोक्षमार्ग होसी। बहुरि प्रवचनसार विषैं भी तीनोंकी एकाग्रता भएँ ही मोक्षमार्ग कह्या है। तातैं यह जानना तत्त्व श्रद्धान बिना तौ रागादि घटाएँ मोक्षमार्ग नाही, अर रागादि घटाए बिना तत्त्व-श्रद्धान-ज्ञान तैं भी मोक्षमार्ग नाही। तीनो मिलै साक्षात् मोक्षमार्ग हो है[१]।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथमे स्वरूपाचरण चारित्र और सयमाचरण चारित्रकी सगतिको दृष्टिमें रखनेसे विरोध या विवादका निराकरण हो जाता है।

शुद्धोपयोग

उपयोगके अशुभ, शुभ और शुद्ध, ऐसे तीन भेद करते समय, आचार्योंने सातवे गुणस्थानसे ही शुद्धोपयोगका अस्तित्व माना है। छठवे गुणस्थान तक शुभ और चौथेमे नीचे, मिथ्यात्वके सद्भावमें, अशुभ उपयोगकी ही चर्चा है। आचार्य जयसेनने प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिमे पहिले, दूसरे तथा तीसरे गुणस्थानोंमें तारतम्यसे घटता हुआ अशुभ उपयोग बताया है। चौथे, पाँचवे तथा छठवें गुणस्थानोमे तारतम्यसे बढता हुआ शुभ उपयोग कहा है, और सातवेंमे लेकर बारहवें तक छह गुणस्थानोमे तारतम्यसे बढ़ता हुआ शुद्ध उपयोग लिखा है। तेरहवें एव चौदहवे गुणस्थानोंको शुद्धोपयोगका फल निरूपित किया है[३]।

अमृतचन्द्र आचार्यने भी प्रवचनसारकी टीकामें, परद्रव्य सयोग कारणसे होनेवाले जीवके समस्त उपयोगको, अशुद्ध कोटिमें लेकर, विशुद्धि-सक्लेश रूप उपरागके वशीभूत, उसे शुभ और अशुभ नाम दिया है। उन्होंने दर्शनमोह और चारित्रमोह, इस प्रकार समस्त मोहनीय कर्मकी उदय दशामे, जीवको अशुभ उपयोगी और क्षयोपशम दशामे शुभोपयोगी कहा है। आचार्यने शुद्धोपयोगका विधान परद्रव्यानुवृत्तिके अभावमे, अशुद्ध उपयोगसे विमुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यके आश्रय रूप अवस्थामे किया है[२]। गुणस्थान परिपाटीसे बिठाने पर अमृतचन्द्राचार्य और जिनसेनाचार्यकी उपरोक्त दोनो व्यवस्थायें एक रूप ही विधान प्रस्तुत करती पाई जाती हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवकी वृहद्द्रव्यसग्रहकी टीकामें ब्रह्मदेवने भी इसी प्रकार प्रथम तीन गुणस्थानोमें परम्परासे शुद्धोपयोगका साधक रूप शुभोपयोग और अनन्तर जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसे युक्त एकदेश शुद्धनयके आलम्बन रूप शुद्धोपयोग निरूपित किया है।[४] इस प्रकार गुणस्थान परिपाटीमें मिथ्यादृष्टि जीवको शुभ उपयोगका और सम्यग्दृष्टिको सातवे गुणस्थानसे पूर्व शुद्धोपयोगका विधान आचार्योंने कही भी नही किया।

प० टोडरमलजीने मिथ्यादृष्टि जीवको भी शुभ उपयोगका विधान करते हुए एक जगह लिखा है—'शुभोपयोग तैं स्वर्गादि होय, वा भली वासना तै वा भला निमित्त तै कर्मका स्थिति अनुभाग घटि जाय,

---

१ वही, अध्याय ९, पृष्ठ ४४८।

२ प्रवचनसार, अध्याय, १ गाथा ९ (तात्पर्यवृत्ति टीका)।

३, प्रवचनसार, अध्याय, २ गाथा ६४–६७ (आत्मख्याति टीका)।

४, बृहद् द्रव्य-सग्रह, गाथा ३४ की सस्कृत टीका।

तो सम्यक्त्वादिकी भी प्राप्ति हो जाय'।[1] इसी बातको एक अन्य प्रसंगमें वे लिखते हैं—तातैं मिथ्यादृष्टि-का शुभोपयोग तौ शुद्धोपयोगको कारण नाहीं'।[2]

सातवें गुणस्थानसे नीचे चौथे आदिमें शुद्धोपयोगका विधान पण्डितजीके कुछेक स्थलोंसे प्रगट माना जाता है। जैसे उन्होंने कहा—'ऐसैं यह बात सिद्ध भई—जहाँ शुद्धोपयोग होता जानैं, तहाँ तौ शुभ कार्य-का निषेध ही है, अर जहाँ अशुभोपयोग होता जानैं' तहाँ शुभ कौं उपाय करि अंगीकार करना युक्त है।[3]

परन्तु प० टोडरमलजी भी उपयोगको आचार्य प्रणीत, उपरोक्त करणानुयोग सम्मत शास्त्रोक्त व्यवस्थाका ही विधान वास्तवमें करना चाहते थे। ऊपरके उद्धरणोमे जो कुछ भी उन्होने कहा है वह उपयोगकी नही, योगकी स्थिति है। यहाँ उनका तात्पर्य जीवके परिणामोंसे नही, वरन् उनके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे है। त्रियोगकी ऐसी शुभ प्रवृत्ति उनका लक्ष्य है, जिसके बलपर अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव भी स्वर्गमें नवमें ग्रैवेयक तककी पात्रता प्राप्त कर लेता है। अपनी विवक्षाको पण्डितजी ग्रन्थमें आगे चलकर स्पष्ट करना चाहते थे। एक जगह उन्होंने लिखा है—"करणानुयोग विषै तौ रागादि रहित शुद्धोपयोग, यथाख्यात चारित्र भएँ होय, सो मोहका नाश भएँ स्वयमेव होगा।" नीचली अवस्थावाला शुद्धोपयोग साधन कैसे करैं। अर द्रव्यानुयोग विषै शुद्धोपयोग करने ही का मुख्य उपदश है, तातैं यहाँ छदमस्थ जिस काल विषै बुद्धि-गोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्य रूप परिणामनिको छुडाय, आत्मानु-भवनादि कार्यनि विषै प्रवर्तै तिसकाल नाको शुद्ध उपयोगी कहिये। यद्यपि यहाँ केवल-ज्ञान गोचर सूक्ष्म रागादिक है तथापि ताकी विवक्षा यहाँ न कही, अपनी बुद्धि-गोचर रागादि छोडे, तिस अपेक्षा याकों शुद्धो-पयोगी कह्या है। ऐसैं ही स्व-पर श्रद्धानादिक भये सम्यक्त्वादि कहे, सो बुद्धि-गोचर अपेक्षा निरूपण है। सूक्ष्म भावनिकी अपेक्षा, गुणस्थानादि विषै सम्यक्त्वादिका निरूपण करणानुयोग विषैं पाइये है।[4]

इस प्रकार पण्डितजीके कथनका निराकरण स्वय उनके ही कथनसे हो जाता है। वास्तवमें निचली दशामें शुद्धोपयोगका विधान पण्डितजीने कही किया ही नही है। सर्वत्र उनका कथन योगोंपर ही घटित होता है। भक्ति आदि शुभ तथा हिंसादिक अशुभ कार्यों परसे ही उन्होने शुभ-अशुभ उपयोगका विधान किया है। उदयगत परिणामोकी अपेक्षा उनका निरूपण है ही नही।

पण्डित जगन्मोहनलालजीने, अपने ग्रन्थ 'अध्यात्म अमृतकलश' में शुद्धोपयोगकी व्युत्पत्ति-मूलक व्याख्या तीन प्रकारसे करके आगमसे उसकी विधिपूर्वक सगति बिठाई है।[5]

१—'शुद्धे आत्मनि य उपयोग स शुद्धोपयोग' ऐसा शुद्धोपयोग चौथे गुणस्थानसे आत्म-चिन्तनके क्षणोमे माना जा सकता है।

२—'शुद्धश्चासौ उपयोग रागादिविरहित स शुद्धोपयोग' ऐसे शुद्धोपयोगकी स्थिति, सातवें गुण-स्थानसे ही प्रारम्भ हो सकेगी।

१ मोक्षमार्ग प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय (प्रथमावृत्ति–१९११), अध्याय-सात, पृष्ठ २९०
२ वही, अध्याय–सात, पृष्ठ ३६२।
३. वही, अध्याय–सात, पृष्ठ २९१।
४. मोक्षमार्ग प्रकाशक, वही, अध्याय–८, पृष्ठ ४०५।
५ अध्यात्मकलश, जगन्मोहनलाल शास्त्री।

३—'शुद्धः पूर्णज्ञानरूप. उपयोग स शुद्धोपयोग' जीवका शुद्ध, पूर्णज्ञानरूप उपयोग, सो शुद्धोपयोग है। यह परिभाषा ग्यारहवें-बारवें गुणस्थानमें ही सार्थक होगी, उसके पूर्व नहीं।

इस प्रकार विचार कर देखा जाये तो आचार्य प्रणीत आगमिक व्यवस्था ही सर्वत्र ठीक बैठती है। उसके विपरीत जहाँ, जो कहा गया है, वह किसी न किसी विशेष विवक्षाकी दृष्टिसे ही कहा गया है। उस विशेष विवक्षाको दृष्टिमें लाये बिना उस कथनका सही अर्थ समझनेमे भ्रम हो सकता है।

स्वानुभूति

हमारे पास 'स्व' का या 'पर' का, जो भी ज्ञान है, उसे हम चार कोटियोमें बाँट सकते हैं—सूचना, ज्ञान, विश्वास और अनुभव (इन्फार्मेशन, नालेज, बिलीफ एव एक्सपीरियेन्स)।

(अ) साधारण, ऊपरी सतही या काम चलाऊ ज्ञान, चाहे वह कितना ही पुष्कल और चारुवाक् सुशोभित क्यो न हो, सूचना, या 'इन्फार्मेशन' की कोटिमे आता है।

(ब) गहरे स्तरका, तुलनात्मक अध्ययन और मननसे युक्त, पूर्वापर सम्बन्ध और कार्य-कारण विवेककी निकष पर कसा हुआ, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव आदि सभी दूषणोसे रहित यही ज्ञान जब तलस्पर्शी होता हुआ, विधि-निषेधोंकी खराद पर चढकर आभा प्राप्त करेगा, तब उसे ज्ञान या 'नालेज' की सज्ञा मिलेगी।

(स) अभीप्सित वस्तु यही है, ऐसी ही है, इतनी ही है और इसके अतिरिक्त कुछ नही है, उससे 'कमो-बेश' भी नही है तथा इसके विपरीत भी नही है, ऐसी अडिग-आस्था अपने ज्ञान पर जब हमारे मनमे स्थापित हो जाये, तब उसी आस्थाका नाम विश्वास या 'बिलीफ' है।

(द) ज्ञानसे जानी हुई वस्तुकी प्रक्रियाको स्वय प्रयोग द्वारा देखना, उसके रसका आस्वादन करना या एक बार उसमेंसे होकर गुजरना ही अनुभव है। इसी दशाको 'एक्सपीरिएन्स' भी कहते है। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि यह अनुभव भी स्वानुभूति नही है। मात्र हमारे ज्ञानकी प्रयोग-सिद्ध अनुमोदनाका ही नाम यहाँ अनुभव है।

उदाहरणके लिए सुनीता एक लेडी डाक्टर है। प्रसव और प्रसव-सम्बन्धी निदान-चिकित्साकी विशेष योग्यता और डिग्री विदेशमे लेकर आई है। उसकी डिग्रियोंसे हमारे मन पर उसकी सूचना ज्ञान और विश्वासकी छाप तो पड सकती है परन्तु जहाँ तक उसके अनुभवकी बात है वहाँ हमारा मन उसकी योग्यताको स्वीकार करनेके लिए तैयार नही होगा। दो चार वर्ष अस्पतालमे काम करके जब डा० सुनीता अपनी देख-रेखमे सौ-पचास प्रसव कराकर दस-बीस आपरेशन करके और दो-चार सौ महिलाओकी निदान-चिकित्सा आदि करके अपनी विज्ञता एव कुशलताका प्रभाव अर्जित कर लेगी तभी हम उसे अनुभवी लेडी डाक्टरके रूपमें स्वीकार करेंगे। मजेकी बात यह है कि डा० सुनीताका यह प्रसव-अनुभव भी ज्ञानका उप-रोक्त चौथा प्रकार ही है। हम उसे अनुभव या एक्सपीरियेन्स कहेंगे परन्तु स्वानुभव या स्वानुभूति नही कह सकते। प्रसवका स्वानुभव डा० सुनीताको उसी दिन प्राप्त होगा जिस दिन वह भी माँ बनकर स्वत प्रसव की वेदना और मातृत्वकी गरिमाका अनुभव करेगी।

इसी प्रकार ज्ञान आराधन करता हुआ साधक भी, पचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्त तत्व और नौ पदार्थों के सम्बन्धमे पढता है, सुनता है, जानता है, उस पर विश्वास करता है और कई बार प्रयोगके द्वारा उसका अनुभव भी करता है। विशेषकर स्व-आत्माको लेकर वह अपने अर्जित ज्ञानके नाना विकल्पो द्वारा

अपने आपको शरीरादिसे पृथक्, और कषायादि विकारोंसे भी पृथक, देखने जाननेका प्रयत्न करता है। इसे ही सामान्यत अनुभव कहा जाता है। इस प्रक्रियामें कभी तो अपनी वर्तमान, कषाय-सम्पृक्त, उदयाभिभूत, आत्मपरिणतिको देखकर—"इसमें जिज्ञासा करने वाला, जानने देखने वाला जो तत्त्व है, वही मैं हूँ, ऐसे विधिपरक विकल्पो द्वारा तथा कभी यह उपजने-विनशने वाला शरीर मैं नही हूँ। ये रागादि विकारी भाव मेरी परिणति होते हुए भी पर निमित्तजन्य और उत्पन्नध्वसी होनेके कारण पर ही हैं, मैं नही हू" ऐसे निषेधपरक विकल्पोंके द्वारा साधक अपनी आत्माका अनुभव करता है। यहाँ मजेकी बात यह है कि इस निचली दशामें साधकका यह अनुभव भी ज्ञानकी उपरोक्त चौथी स्थिति मात्र ही है। शास्त्रोक्त शुद्धात्मानुभूति अथवा स्वानुभूतिके साथ 'अनुभव' की कोई सगति नही है।

आत्मा-अनात्माका ज्ञान चाहे जितना पुष्कल हो जाये उसके चिन्तनमें नाना विकल्पोका सहारा लेकर चाहे हम जितना गहरे डूब जायें किन्तु हमारी यह सारी प्रक्रिया जानने, देखने और अनुभव करनेके पर्यायवाची नामोसे जानी जाने वाली ज्ञानकी विकल्पात्मक परिणति ही होगी। परन्तु शुद्धात्मानुभूति विकल्पोके द्वारा उपलब्ध हो जाय ऐसा कोई उपाय है नही।

ऐसी 'स्वानुभूति' की सही परिभाषा तो तभी घटित होगी जब मन, वचन, कायके व्यापारो पर अकुश लगाकर त्रिगुप्तिपूर्वक तीन कषायोके झझावातमे सुरक्षित हमारी ज्ञान-ज्योति नयो और विकल्पोसे ऊपर उठकर ज्ञानमे प्रतिष्ठित होती हुई निष्कम्प होकर प्रकाशित हो। यह स्थिति अध्यात्म भाषाके अनुसार समस्त क्रियाओको तिरोहित करके जब हम अकेली ज्ञप्तिक्रियामें संलग्न होंगे तब बनेगी। आगम भाषाके अनुसार तीन कषायोके अभावमे सज्वलनके मन्दोदयके समय त्रिगुप्तिपूर्वक तीनो योगोकी सम्यक् सयोजना करते हुए कषायोका बुद्धिपूर्वक व्यापार एकदम रोक कर जब हम निर्विकल्प समाधिको उपलब्ध होगे तब ही हमारी आत्मामे स्वानुभूति प्रत्यक्ष होगी।

इस प्रकार, इस स्वानुभूतिका सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक अविनाभावी सम्बन्ध नही बैठता। सम्यग्दृष्टि जीव स्वानुभूतिसे युक्त और स्वानुभूतिसे रहित भी पाया जा सकता है। स्वानुभूतिकी उपलब्धि होगी, तो सम्यग्दृष्टिको ही, पर यह भी निर्धारित है कि किसी जीवको किसी भी समय अन्तर्मुहूर्तसे अधिक कालके लिए इसकी उपलब्धि कभी हो नही सकेगी। यह स्वानुभूति मोक्षमार्गी जीवको ही होती है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकताका नाम है। 'सम्यक्चारित्र' स्वरूप अवस्था बननेपर सयमी जीवको ही प्राप्त होता है। चौथे गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवको भी सम्यक्चारित्रसे रहित ही कहा गया है। वह वहाँ असयमी ही है। वीतराग भावके बिना शुद्धात्मानुभूतिकी उत्पत्ति असम्भव है। वस्तुमें शक्ति रूपसे विहित भावी पर्यायका, ज्ञानके द्वारा जान लेना अलग बात है, और उस पर्यायके प्रकट हो जानेपर उसका साक्षात्कार करना एक बिलकुल अलग बात है। एक अनगढ़ पाषाणखण्डको देखकर शिल्पी उसमे भगवान्‌की प्रतिमा बनानेकी सम्भावनाओंका आकलन कर लेता है। वह वास्तवमे उस चट्टानमे अपनी कल्पित कलाकृतिका, जिसे उसने अभी गढा नही है, दर्शन ही कर लेता है। वह तो यह भी कह सकता है कि प्रतिमा तो इस पाषाणमे है ही, मुझे प्रतिमाका निर्माण नही करना है। मुझे तो केवल उस प्रतिमाके अगप्रत्यगोपरसे अनावश्यक पत्थर छीलकर हटा देना है, ताकि आप भी उस मनोहारी छविका दर्शन कर सकें।

शिल्पीकी यह बात एक दृष्टिसे ठीक भी है, परन्तु चट्टानके भीतर प्रतिमाके दर्शनकी उसकी यह कल्पना, शिल्पीके ज्ञानका ही ताना-बाना है, अनुभवका नही। इसका कारण बहुत आसान है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानकी पर्यायोंको जाननेकी क्षमता, ज्ञानमें तो है, अनुभवमे नही। अनुभवकी सीमा रेखा तो वर्तमान प्रगट पर्यायके साथ बँधी है। अनगढ चट्टानके भीतर प्रतिमाकी छविका दर्शन करता हुआ भी शिल्पी

क्या चट्टानकी पूजा-अर्चना करके प्रभु-पूजनका आनन्द और सन्तोष प्राप्त कर सकता है ? इसी प्रकार वस्तु-स्वरूपको ठीक-ठीक समझता हुआ भी सम्यग्दृष्टि जीव, अपनी विकाररूप परिणति और उदयाभिभूत आत्मामें, अपने भीतर शक्ति रूपसे पड़े हुये, सिद्ध समान शुद्ध, बुद्ध, निर्मल, निराकार, निरंजन आत्माका दर्शन करता है, परन्तु यह उसके विलक्षण ज्ञान ही का फल है, अनुभवका नहीं। उसकी आस्थामें यह बात अडिग रूपसे पड़ी हुई है कि मेरा स्वरूप, मेरा शुद्ध द्रव्य ऐसा ही है, परन्तु अभी वर्तमानमें उसका अशुद्ध तथा विकारी परिणमन हो रहा है। विकारोंको हटा देनेपर मेरी भी ऐसी ही शुद्ध-पर्याय प्रगट हो जायेगी, जैसी सिद्ध भगवान्की हो गई है।

समयसारके टीकाकार जयसेनाचार्यने इसी प्रकार स्वानुभूतिको निश्चय, अभेद-रत्नत्रयके साथ ही स्वीकार किया है। अत उसकी उपलब्धि सप्तम गुणस्थानमें और उसके ऊपर ही उन्होंने स्वीकार की है। उनके शब्द है—'शुद्धात्मसुखानुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान वीतरागमिति। इद व्याख्यान स्वसंवेदनव्याख्यान-काले सर्वत्र ज्ञातव्यम्[1]।'

पण्डित राजमलजीने पञ्चाध्यायीमें स्वानुभूतिको मतिज्ञानके भेदमें लिया है। उन्होंने सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके साथ ही, स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमपूर्वक ही, सम्यग्ज्ञानका अस्तित्व माना है। उसका स्पष्ट निर्देश है कि—'वह आत्मानुभूति, आत्माका ज्ञान विशेष है, और वह ज्ञान विशेष, सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनोंसे अविनाभाव रखता है। सम्यक्त्व और स्वानुभूतिका सहभावीपना है, तो यह कहा जा सकता है कि स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, परन्तु वहां स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्व कह दिया गया है।[2]

पण्डितजीने चूँकि स्वानुभूतिको स्वानुभूत्यावरणके क्षयोपशमसे प्रकट होने वाली ज्ञानकी पर्याय माना है, इसीलिए उन्होंने सम्यग्दृष्टि जीवमें, निरन्तर, सदाकाल, स्वानुभूतिका अस्तित्व मानते हुए भी उसे लब्धि-उपयोगात्मक स्वीकार किया है। उनकी व्याख्याके अनुसार स्वानुभूतिको सम्यक्त्वके साथ लब्धि रूपसे सम व्याप्ति होते हुए भी, स्वानुभूतिकी उपयोगात्मक दशाके साथ सम्यक्त्वकी विषम व्याप्ति ही बनती है। स्वानुभूति उपयोगमें निरन्तर नहीं रहती।[3]

वास्तवमें, बुद्धिपूर्वक रागद्वेषकी परिणति और शुद्धात्मानुभूति एक साथ किसी जीवको हो जाय, बात समझमें नहीं आती। पञ्चाध्यायीकारने भी चतुर्थ आदि गुणस्थानोंको जघन्य पद लिखा है। आचार्य ज्ञानसागर महाराजने तो आत्मोपलब्धिके तीन भेद बताये है—(१) आगमिक आत्मोपलब्धि, (२) मानसिक आत्मोपलब्धि, (३) केवलात्मोपब्धि। जहाँ आगमिक आत्मोपलब्धि होती है, वहाँ शुद्धात्माके विषयका श्रद्धान होता है, पर तदनुकूल आचरण नहीं रहता। अध्यात्म शैलीमें उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहते तथापि आगमिक उसे शुद्धात्माके श्रद्धानसे सम्यग्दृष्टि कहते है। "शुद्धात्मा तो उसे भी जागी है, अत वह भी सम्यग्दृष्टि है।" अप्रमत्त साधुके मानसिक स्वात्मोपब्धि स्वीकार की गई है। केवल ज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्षरूपसे आत्माकी प्राप्ति केवल आत्मोपलब्धि है।[4]

आत्मानुभूतिका सीधा सम्बन्ध सवर और निर्जरासे जोड़ा जाना चाहिये। वही उसका अभीष्ट है। निर्जरा राग-व्यापार घटने पर ही प्राप्त होती है। पण्डित टोडरमलजीने इस सम्बन्धमें लिखा है—"बहुरि

१ समयसार, गाथा ९५ की तात्पर्यवृत्ति टीका।

२. पञ्चाध्यायी, अ—२, श्लोक ४०२-३।

३ वही, श्लोक ४०४।

४. समयसार, गाथा २८९, तात्पर्यवृत्तिकी हिन्दी टीका, पृ० २४२।

चौथा गुणस्थानविषैं कोई अपने स्वरूपका चिंतवन करै है, ताकै भी आस्रव बंध अधिक है, वा गुण श्रेणी निर्जरा नाही है। पंचम षष्ठम गुणस्थानविषैं आहार-विहारादि क्रिया होतैं, पर द्रव्य चिंतवनतैं भी, आस्रव बंध थोरा हो है वा गुणश्रेणी निर्जरा हुआ करै है। तातैं स्वद्रव्य परद्रव्यका चिंतवन तैं निर्जरा बंध नाही। रागादिघटैं निर्जरा है, रागादिक भयें बंध है।[1]

यही निराश्रव संवर-निर्जरा सम्यग्दर्शनका फल है। ग्रंथो और ग्रंथकारोंके कथन देख-सुनकर, उनपर समतापूर्वक, युक्ति, आगम और अनुमानका सहारा लेकर, उनकी विवक्षाएँ समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। विवेकके साथ अपने भीतर समताभाव जगानेका प्रयास करना चाहिए। इसी पुरुषार्थको 'मोक्षमार्ग' बताते हुये पण्डितजीने बड़े सरल शब्दोंमें उसकी संक्षिप्त व्याख्या की है।

'तातैं बहुत कहा कहिये, जैसे रागादि मिटावनेका श्रद्धान होय, सो ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसैं रागादि मिटावनेका जानना होय, सो ही जानना सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसैं रागादि मिटैं, सो ही आचरण सम्यक् चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।[2]



१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, वही, अ-७, पृ० २९७।

२. वही, पृ० ३०।

Refutation of Western Materialism on the Basis of Jaina Philosophy

Muni Mahendra Kumar B Sc (Hons)

Materialism is found expounded in the Western philosophy right from the period of the ancient Greek philosophers upto the present age Here we do not intend to go into discussion of its historical evolution and the minor differences in its various forms We shall only try to discuss it in general and compare it with the Jaina view

Definition of Matter :—Lenin gives the following difinition of matter "We ask, is a man given objective reality when he sees something red or feels something hard etc. or not ? If you hold that it is given, a philosophical concept is needed for this objective reality, and this concept has been worked out long, long ago This concept is matter Matter is a philosophical category designating the objective reality which is given to man by his sensations, and which is copied, photographed and reflected by our sensations, while existing independently of them [1] This definition of matter comes very close to the Jaina definition of *pudgala* viz "*pudgala* is that which possesess in itself the qualities of touch, taste, odour and colour " Even though the Jaina philosophy denies the possibility of perception[2] of the ultimate atoms (*parmānu*) of matter through sensory means, it accepts the quality of *mūrtatva*, being objectively existent even in a *paramānu* Also both the materialism and the Jaina philosophy recognise matter as an objective reality In the words of Lenin," the sole property of matter, with whose recognition Philosophical Materialism is bound up, is the property of being an objective reality, of existing outside our mind [3]

Reality of Soul —Whereas materialism and the Jaina philosophy hold similar views regarding the reality of matter, they differ from each other regarding the reality of soul. According to the Jaina metaphysical veiw, all the five *astikayas* including soul are ultimate realities, whereas according to materialism, only the matter is the ultimate reality, while reality of soul is denied. There is, however, a difference between the old materialism and the modern dialectical or scientific materialism Whereas the former considers soul or consciousness to be identical with matter,[4] the latter holds an opposite view Dialectical materialism as well as epiphenomenalism consider mind to be different from matter, all the same mind is not attributed a status of an ultimate reality In contrast to this, the Jaina philosophy asserts an independent existence of soul

Refutation of Materialism .—There are three important arguments adduced in proof of materialism

(i) The Methodological Argument,

(ii) The Mechanical Argument,

(iii) The Cosmological Argument[5]

We shall try to examine critically these arguments one by one.

The Methodological Argument.—Bahm[6] says that the assumption of an immaterial psychical substance which is persistent, independent and distinct from the body is prescientific and unscientific Whoever holds such view is still on the level of the nature-people, who conceive every process as the act of an invisible demon. Experience reveals nothing more than the body and its organs Everything which this organism does, and which transpires within it, must be conceived as the functions of its organs. The assumption of a psychical substance is a metaphysical dogma which is at once superfluous and untenable and which exact science must eliminate entirely

This argument readily wilts upon examining from epistemological and psychological points of view For the assertion that knowledge is essentially a characteristic of soul (or a psychical reality) is not a metaphysical dogma but an epistemological fact. That only "living beings" are capable of "knowing" is an empirical fact and at once serves as a criterion for distinguishing "life" from "matter" The whole process of "knowledge" cannot be fully explained merely on physiological basis Hence, a "psychical reality" is an empirical necessity Also, all the psychical processes such as thinking, experiencing, remembering, feeling and willing are unexplainable on mere physiological or material definitions. Thus, we have to assume a phychical substance distinct from the body, and as such, this assumption is neither unscientific nor contradictory to experience, as alleged by the above argument

The materialists try to endorse the methodological argument on the following line of reasoning

"At any rate experience never reveals any psychical substance distinct from the psychical processes, which must be regarded as substrate of our thinking, feelings, and willing It is charactristic of psychical processes that they always appear to us only as occurrences, as effects in which there is no room for a substantial substrate. If, however, inspite of this fact we speak of a soul or mind, our authority for this mode of speech really lies in what we have previously described fundamental apperception The function of judgement, once evolved, can only appropriate a thought-content in the form of subject and predicate So long as psychology uses this soul-concept in the same manner as the physicist speaks of magnetism and electricity, where magnetic and electric phenomena are most certainly all that is really given, so long as the soul is only regarded as the subject of psychical processes and is not considered as a self existant substance, this form of expression cannot be called unscientific As soon, however, as we assume a psychical substance apart from the body, having independent existence and even continuity of existence after death, we are then going beyond evidence given in psychical experience Every substance, however, no matter how thoroughly everything materialises, is eliminated from it, is still always represented to the mind under a material aspect Everything which persists must, by the very necessity of our ways of thinking, occupy space and hence be material. The assumption of a soul-substance, which materialism so strenuously and indeed so justly rejects, therefore, finally leads to materialism."[7]

This reasoning is, however, erroneous in itself It follows from the above statement that the materialist is at least ready to recon the existence of psychical processes Now it is as simple as anything to deduce the existence of a psychical realitv from the psychical processes For, the modern physics has shown that experience never reveals any physical substances distinct from the physical processes, and still it is only these processes which give the materialists (and other realists) a clue to the objectively real existence of matter In the same way, if psychical reality is deduced from the phychical processes, which are otherwise unexplainable, how it becomes unscientific and contrary to experience ?

There is another flaw in the above reasoning It is argued that everything which persists must, by the very necessity of our ways of thinking, occupy space and hence be material. This statement can be divided into two parts (a) that, which persists must occupy space, and (b) that which occupies space is material Deduction of (a) is based on the very necessity of our ways of thinking This is acceptable [8] But how (b) is deduced ? Extension in space does not necessarily mean materiality Hence it would be wrong to conclude that psychical reality is material The fact is that psychical reality does occupy space, but it is not material

Further, materialism is, in the words of W Jerusalem, proved to be unscientific thus "Strict scientific method, which aims to confine itself to the description of facts, teaches us that there is something given in our ordinary experiences as well as in our most profound emotions, which is essentially distinct from everything perceivable by sense, from everything material [9]

Again it may be added here that materialism is insufficient to explain the phenomena of extra-sensory perception, clairvoyance, telepathy, memory of previous births, etc Numerous instances of such pehnomena have certainly been known to have taken place and the parapsychologists all over the world are busy now-a-days with their investigations on these events Especially the cases of memory of previous lives which is termed as extra-cerebral-memory avowedly confirm the existence of the psychical reality distinct from body having independent existence and even continuing to exist after death [10]

Thus the methodological argument completetly falls to the grounds

2. *The Mechanical Argument* —The main argument put forward by the materalists to sustain their view is based on the law of the conservation of matter and energy (or mattergy) [11] According to this law, the total amount of matter and energy (or mattergy) always remains constant, it can neither be increased nor diminished All becoming consists only of the transmutation of energy into different forms. Now, the materialists contend that if we assume a psychical substance (mind or consciousness) as something distinct from body and non-physical, the above law gets violated For, if the life-energy, which is found to get increased as a result of the reactions of the physical substance (such as food, water, heat) is different from the physical energy, it

would mean that the energy in the form of increased life-energy is newly created (for it being non-physical it cannot be considered to be the transmutation of physical energy) Again if the non—physical mind causes the physiological motion, (such as contraction of muscles) through its own initiative, it would mean that new energy is created in the form of the physiological motion (for the resultant energy being physical, it cannot be considered as the transmutation of non-physical energy.) Thus, the above assumption contradicts the principle of the conservation of mattergy and it is therefore to be rejected as unscientific.[12]

Now this argument of the materialists can be disproved thus[13] The application and validity of the principle of the conservation of mattergy is limited to physical and chemical processes But this law is utterly inadequate for the explanation of vital processess The centralized organisation of all organic being, the remarkable adaptation of all parts to a common purpose, all this cannot be explained in physico-chemical terms As a matter of fact, the mechanical argument is not an argument, but merely a presupposition It is only by assuming from the start that every process i e, vital as well as physical can be explained and described according to the physico-chemical laws, that this protest of the materialists against the violation of the principle of the conservation of mattergy can have any meaning But if we are guided by the facts, rather than by a definite theory, we must concede that the principle of the constancy of energy contributes absolutely nothing toward simplifying and explaining what really takes place in the sphere of the organic and psychical The facts which have been established at this point, as well as the present stage of mental evolution, much rather reqire an entirely different principle of explanation As a matter of fact, this is conceded by noted scientists As Wundt[14] has shown, there is kind of creative synthesis active here, whose nature and governing principles still require more careful investigation The mechanical argument loses its force the moment we relinquish the materialist presupposition and abide by the most unassailable facts of our own experience

Further, when we examine the above argument in the light of the Jaina Philosophy, we at once get convinced of the former's futility It may be recalled here that according to the Jaina view

(a) Each of the five *astikāyas* constituting the universe is an independent reality.

(b) The principle of conservation is contained in the very definition of reality,[15] according to which it is created and destroyed with respect to its modes while it reamians constant with respect to its substance It follows, then, the *pudgala* (mattergy) ever remains *pudgala* and soul ever persists as soul, in spite of the incessant changes in their modes; that is to say, soul never transforms into matter nor matter transforms into soul

(c) Consequently, there are two independent principles of conservation. The principle of the conversation of *pudgala* and that of the conservation of soul According to the former, the total amount of *pudgala* (which would include both matter and all kinds of material energy) remains constant, while according to the later, the spiritual reality (which would include the soul and its energy) never perishes The former one is the same as the scientific law of the conservation of mattergy.

Now on the basis of these facts, the above contention of the materialists can easily be refuted. It can be seen that the vital processes are governed by both the soul's energy as well as physiological (physical) energy The former is inherent in the soul itself while the latter is obtained through transmutation of physical substances (food, water, et.) into the basic elements of the body (blood, chyme, semen etc) which subsequently get transformed into the form of physiological energy Now, in the above argument the term "life-energy" is used in the transmutation of food, etc, but it is clear that the processes involving such a transmutation are essentially *paudgalika* (or we may say mattergic) Hence the energy created thus cannot be considered to be different from physical energy In other words, the soul's energy cannot be created through the transformation of food etc It is, in fact, inherent in the soul itself When the vital energy of the body is said to get increased, it means that the physiological processes transmute food, etc into the basic elements of the body which serve as the sources of the physiological (physical) energy for carrying on the life-processes Thus, there is no question of creation of new energy and hence, the law of the conservation is not at all contradicted

Further, in the reverse process, when it is said that the soul causes the physiological movements through its own initiative, it does not mean that new energy is created in the form of physiological motion Actually the physiological motion is produced through the transmutation of the physiological energy already stored in the body. The soul's energy (or the will-power) inherent in the soul acting as a governing agent causes the transmutation to take place without itself being diminished Hence, in this case also, there is no contradiction of the law of the conservation and consequently, the materialist's argument becomes untenable

3 *The Cosmological Argument* —The materialists claim to base this argument on purely scientific facts The modern scientific theories, according to them, have proved that 'there was a time when our earth was a glowing gaseous nabulae At that time, organic life could not have existed upon it, there could have been no human beings and hence no mental activity It was only after the earth had sufficiently cooled off, and the conditions for the origin of organic life were given, that plant and animal-life cane into being from which man also was evolved at a later stage. Hence mental life came into existence with organic life and is limited to the presence of its physiological conditions There is no meaning, therefore, in assuming mind as something distinct from the organism because its origin is connected with the organism and they will certainly perish together" [16]

The modern materialists, on the basis of this theory of earth's formation, conclude that 4000 million years[17] ago, when the earth came into existence there was no life, and hence there was no existence of anything like soul or consciousness of mind It was 2900 millions years after the birth of the earth that life came into existence. The existence of mammals and birds extend over only to 60 million years while that of man only 1.5 million years Thus mind is only a very late production It should therefore be considered only as a qualitative transformation of matter itself, and not as an ultimate reality,

Now the cosmological argument can be shown to be invalid not only on logical basis but on scientific basis too Modern scientific investigations have made it clear that neither the universe nor "life" is merely confined to the earth[18] Not only this, but the recent researches tend to show that "life" is older than the "earth". The scientists of Bradford University have found in the meteorites some material identical to the one found in the living cells Commenting on this recent development, the critic of *The Times of India*[19] observes Is there life elsewhere in the universe and was there life before the earth was formed ? Sceptics and legend-lovers continue to say 'no' and would want a flying saucer with extra-terresterials in it taken to their door-step before they would believe any such thing But they have to think again new evidence has been gathered which shows that *life did evolve independently of wht t happend on the earth* Chemical analysis made at Bradford University shows that material identical with sporopollenin, which can only be formed insids living cell, has been found in meteorites The usual argument advanced here is that it is a contaminant But since the chemical forms four percent of the meteorites weight, the local contamination theory fails"

"Sporopollenin is the biological material that forms the outer coating of pollen grains. Ordinary physical processes could not have created it on the planet's surface because in such conditions it is unstable and quickly decomposes It is also felt that *the theory that life on the earth evolved by natural processes out of a prebiotic soup of inorganic chemicals is not necessarily tenable ; The Bradford* Researchers think that the earth wss *seeded with life from outside* from another world or worlds" Thus it can be seen that the cosmological argument has got subverted on the scientific basis

Now we shall try to clinch the cosmological argument on logical basis It is a matter of common experience that living objects essentially differ from material objects in that former possess "consciousness" where as the latter does not Now the law of material cause, which is accepted as a fundamental law in logic, states that the quality which is intrinsically non-existent in a substance cannot be created by any kind of transformation. But the above hypothesis of the qualitative transformation assumes the production of "life" from "matter" which essentially lacks "consciousness" Thus, it is inconsistant with the above law, and hence, it must be rejected as illogical.

Also the materialists leave unanswered the important question such as how and why consciousness was created from matter.[20] The eminent writer on the history of the universe, J G. Bennett, in his conclusive remarks on the 'Origin" of Life" expresses this thus.[21] "The conclusion that we are bound to draw from all these considerations is that the fortuitous origin and evolution of life and human culture on the earth must be rejected as contrary to the well-established laws of probability and thermodynamics

"This is, as is well recognised even by mechanistic biologist, not the only serious difficulty Inert matter is insensitive, life is sensitive When and how did sensitivity arise from insensitivity ? Again, man is conscious and entertains ideas of value and purpose Inert matter is unconscious and the whole argument in favour of mechanistic theories is that they do not require any assumptions as to conscious purposes at origin of life, How then could consciousness and purposefulness have arisen in a world from which they were previously totally absent"

Further he writes[22] · "The obvious difficulty of believing that sensitivity and consciousness could be produced by chemical reactions of inert matter, has led materialistic and mechanistic scientists to make the assumption that these properties must be associated with all matter and make themselves apparent when living bodies having a high degree of organisation, have evolved Such hypotheses are unsatisfactory inasmuch as they do not account for the transition from the 'atomic' to the 'organic' state of consciousness" Thus the cosmological argument is untenable on logical grounds too

Lastly, let us consider the argument in the light of the Jaina view The Jaina philosophy asserts that all substances including soul and matter have been existent in the universe since ever and will continue to exist till eternity[23] No new soul is ever created in the universe Infinite number of souls go on transmigrating from one life to another Thus birth of a new organism is nothing but transmigration of a soul from its previous life

It is also asserted by the Jaina theory that a suitable structure or matter is required to serve as a nucleus (or birth place) for the soul to take birth in The nucleus is called as *Yoni* There are different kinds of *Yonis* for different species The yonis may be composed of totally lifeless matter or of bodies of living organisms or of a combination of both[24] Formation of *yonis* takes place by the suitable combination of the ultimate atoms (*paramānus*) or the molecules (*skandhus*) which continually undergo the processes of "fusion" aud "fission" throughout the universe

Now the fact ascertained by the scientists that no life existed on the earth for a long time (nearly 3000 million years) after formation of the earth can be explained on the basis of the Jaina view as follows

It is highly probable that at the time of formation of the planet earth, the *yonis* were wanting and this condition might have prevailed over for a period of 3000 million years Also it is unlikely that during this period the environment could have been

congenial for sustenance and growth of living organisms. Hence, the earth would have remained devoid of living beings Later on, when as a result of the natural processes, the *yonis* would have been formed and also , the environment would have become amicable for sustaining life, the souls (already existing in other parts of the universe) would have started to take birth in the *yonis* and thus would have begun "life" on the earth Thus it can be said that the assertion of the Jaina philosophy that soul and matter are two independent substances having beginningless existence in the universe convincingly explain the origin of life on the earth without either contradicting the scientific facts or contravening the logical principles

Thus, all the three arguments adduced in proof of materialism are shown to be fallacious as well as inconclusive

Reference

1 *Materialism and Empirio-criticism*, p 84

2 *Sparśa-Rasa-Gandha-Varṇavān Pudgalah*, *Jain Siddhānta Dipikā* I 11

3 *Op cit*, p 184

4 Arch J Bahm Philosophy—An Introduction, Asia Publishing House, Bombay, 1964, pp. 192

5 W Jerusalem An Introduction to Philosophy, Macmillan, New York, 1926 p 142

6 Ibid, p 142

7 *Ibid*, pp 143-144

8. The Jain philosophy, in fact, asserts that extension in space is an inherent quality of all the realities except the space itself (i e , the ethers, matter and soul)

9 *Op Cit* p 145

10 The discussion of parapsychological researches in itself is an independent subject and is beyond the scope of the present art cle The reader however is referred to various books and journals published on the subject by different institutes of parapsychology

11 In modern science after the discovery of theory of relativity, the two separate laws of the conservation of mass and the conservation of energy have been conglomerated into a single law of the conservation of mass and energy (or mattergy)

12. W Jerusalem, *op cit*, pp. 142-143.

13 *ibid*, pp 146-147

14 Willhelm Max Wundt (1832-1920), the founder of experimental psychology and author of *Grundzugeder Physiologischen Psychologie*

15. *Umaswati* : Tattwarthsūtra, chapter 5

16 W Jarusalem, *op cit* p 143.

17. J G. Benkett : *The Dramatic Universe Vol* IV, Hodder Stoughton, London, 1966, pp. 120-21
18. Coronet, Vol. XXVI, No V p 30.
19. Dated, 30th August, 1969, Bombay
20. Cf. Bahm, *op. cit.*, p. 203.
21. *The Dramatic Universe*, Vol IV, pp. 113-114
22. *ibid*, pp 123
23. Many of the cosmological questions cannot be answered without accepting beginningless and endless existence of the fundamental substances
24 Umāswāti, Tattwārthsūtra, 2-32

लेखसार

जैनदर्शन के आधार पर पाश्चात्य भौतिकवाद का निराकरण

मुनिश्री महेन्द्रकुमार, बी० एस्सी० (ऑनर्स)

पाश्चात्य विचारधारा में यूनानी दार्शनिको के युग से लेकर आजतक जगत् और जीवन के सबंध में भौतिकवाद का ही मुख्यत आश्रय लिया गया है। इसके अनुसार आत्मा या चेतनत्व की प्रक्रिया भौतिक तत्त्वो या क्रियाओ का ही एक विकसित रूप माना जाता है। इस सिद्धान्त में तार्किक, यान्त्रिक तथा लोकवादी आधार पर शरीर और आत्मा की अभिन्नता प्रतिपादित की जाती है। विद्वान् लेखक ने इस लेख मे भौतिकवादियो के इन तीनो ही प्रकार के तर्कों को नवीन वैज्ञानिक परामनोविज्ञानी तथा अन्य ग्रहो की सरचना से सबधित तथ्यो के आधार पर तथा विशिष्ट बौद्धिक तर्कों के सहारे सारहीन प्रमाणित किया है। उन्होने बताया है कि द्रव्यमान तथा ऊर्जा के सरक्षण के नियम के समान आत्मोर्जा के सरक्षण का नियम भी होना चाहिये क्योकि शरीर और आत्मा स्वतन्त्र एव एक-दूसरे में अपरिवर्तनशील द्रव्य हैं। उमास्वाति के द्वारा प्रस्तावित योनियो के आधार पर उन्होने 'विश्व के उद्भव' के सिद्धान्त को भी जैन दर्शन सम्मत सिद्ध किया है तथा आत्मा के पृथक् अस्तित्व के विरोध मे दिये गये तर्कों को अपूर्ण बताया है।

Uttam Satya

Dr B S. Kulkarni, Dharwar

Real aim of man in Jain Religion Jain religion is one of the ancient religions of the world which explains systematically, logically, scientifically the existance of the universe and the working of "Jiva & Ajiva" "Matters". Jain philosophy can be explained in a simple sentence–the systematic working of "Saptatattwa" and "Śaḍdrawya" and this is the peculiarity and speciality of Jaina Philosophy The "Soul" having "Ananta Jñāna", "Ananta Virya", "Ananta Darśana", and 'Ananta Sukha" is immortal and indestructible In its pure form, the soul is without the bondage of births and deaths and rests in the "Siddha Śīla" which is at the top of Universe where there is no existance of "Ajeeva Matters" etc, in the form, as the Jaina Ācāryas put it, of "knowledge", To be in the "Siddha Śīla" is the main motto of Jivātmā But because of unavoidable nature of the "Jivātmā" through "Yoga", the "Ātmā" has become "Jīvātmā" having come in contact with the 'Ajiva Matters' Being 'Jivātmā', the soul wanders for inumerable years in this 'Saṁsāra' and for thousands of years it might have spent without any organs After this stage and getting organs whether it is one or five, it might have taken births in the four forms and taking these forms the soul might have or might be wandering taking births and deaths in this Universe, but this is not the real nature of the soul The real aim and object of the soul is, through its manly efforts to cut off the bondage of the 'Karma' and to achieve its original form and to rest in 'Siddhaśila' being 'Parmātmā', as 'Siddha' or 'Paramātmā' having the above said 'Ananta Catuṣṭaya'

To achieve this goal, the only convenient form is human form In other forms, the soul only enjoys or suffers mechanically the fruits of 'Śubha Karma' or 'Aśubha Karma' and after completion of the 'Ayukarma', it automatically goes to another form which it deserves, according to its own 'Karma' In these forms, there is no chance for the soul for human efforts The human form is achieved by the soul because of its lot of 'Śubhakarma' and it is only in this form the soul has the power of thinking Because of this thinking power, the soul can think of good and evil and can see the things critically and can come to a conclusion that the only means to lift him towards the path of liberation or solvation is only 'Dharma'

Definition of Dharma : When we say 'Dharma', it has become routine to believe that 'Dharma' means to follow some 'Vrata' (Vows), 'Niyamas' and worship of God and to give alms etc From practical point of view, the Jaina religion has encouraged this aspect but to attach one-self to the outword 'Vratas' only, the soul cannot lift

itself towards its real goal Having understood the secret of this, the Jain Acharyas have tried to preach the common people to enable them to uplift their souls Revered Umāswami in his 'Tattwārthasūtra'[1] has pointed out that the real 'Dharma' is one, which is having all the ten aspects told in the verse and following this 'Dharma' the 'Jivātmā' can become 'Paramātmā' This is the sum and substance of the verse

The soul in pure form is without any attachment and is in eternal or permanent pleasure But the man, through his five organs and four 'Kasāyas' forgets his real goal and does not remember the real things to do and takes it for granted that real 'He' means his outward body He is caught in the illusion and believes that his youth, his wife and children and his property are permanent and will give him pleasure for ever This means he believes in the things which are not permanent, which do not give him pleasures forever and also which will not lift his soul towards the real goal This means the man forgets the right and believes the 'False' and being in this condition he suffers in this 'Samsāra' For the sake of his physical pleasures, to achieve his selfish mottoes, he does not hesitate to decieve, to abuse, to beat, to kill other people or any being and with ego that he is the only hero or the best person, he follows the wrong path to achieve his ends, following the wrong paths He does not care to tell lies and he becomes a cruel man through anger All this means that the soul being caught in this 'Samsāra' becomes a victim to 'Kashāyas', untruth and forgets the above said real 'Dharma' having ten aspects Following this wrong path, this 'Jivātmā' goes round and round in the cycle of births and deaths through the four forms But the soul wishing for its welfare, it should put itself in the right path and should go on trying to follow the 'Dharma' having ten aspects This means the man should try to live without giving scope to hurt other beings and follow the non-injurious 'Dharma' If this effort is continuous, such souls can achieve a place in 'Siddhaśila' though after a long long period and taking good number of births and deaths

Now we can deal only with one aspect, out of the ten aspects of 'Dharma' viz, 'Uttama Satya' (Best Truth)

Uttama Satya When talking about truth, the very first question will be the problem of talking that is the capacity of talking Those beings which cannot talk, there is no problem of truth or untruth This problem comes only in the beings which are capable of talking Though the birds and beasts have all the five organs like man and though they understand what we talk, they have no capacity or the fortune to express their thinking or views in terms of words just like man They do produce voice but that voice does not change into the form of speech The 'Jaina Acāryas' have divided the 'Karmānus' into twenty divisions and have explained their action and effect etc Out of these 'Karmānus' 'Vacanarūpakarmāņu' is also one 'Karmānu dravya' It should be remembered here that 'Karmānu-dravya' is *matter* Because of this effect of 'Vacanarūpa Karmānu', the voice is produced The voice thus produced is turned into

words or speech only in the case of human beings The voice is produced from the bottom of noval on account of 'Vacana Karmānu', because of the special arrangement in the throat of the human beings, comes out in the form of speech or words. In this context, a verse of a Jain poet-Keshiraja, is worthy of mention.[2]

The meaning of these verse is that from rhe 'Prāna vāyu' which works as per the desire of the 'Jivātmā', at the bottom of noval organ, the voice is produced, like a voice from the trumpet (of a long tapering shape of a horn like shape) and its colour is *white* and its action is speech or word The fact that the poet has called the voice as *matter* having white colour is clear proof that poet and grammarian Keśirāja is a pure Jain and has taken this idea from the works of the Jaina Acāryas It should be remembered that the speech itself has become the main important medium for the development and progress of human civilization and culture 'Śabda' or speech-when taken in view of the nature of the soul, is pure and straight That is why Truth is described as one of the 'Dharma' of the soul by the Jain Ācāryas In this context, divine voice produced by the Tirthankaras may be remembered or mentioned here To explain this fact, a common experience may be given here If we observe the innocent children who have not under. stood the deceit, crookedness, selfishness etc, of the world, we see that those children always speak the truth, not only the truth but the naked truth, whatever that they have felt or whatever they have seen As we all know, children usually are described as Gods or on par with Gods in this world As one English author has said 'The heaven is full of children' In one word, we may say that 'God is Truth, Truth is God'

In following the Truth, which is 'Dharma' of the 'Ātmā', lies the welfare of soul, but as explained above, the mundane soul being after the 'Kaṣāyas' and having become a victim to selfishness, lust etc, looses the right path and right knowledge and turns to the other ways to fulfil his physical pleasures and falls into the ocean of sin To gain his ends, to fulfil his desires, the man diverts himself from the Truth and would be caught in the clutches of untruth or falsehood and thus he teases others and destroys them and also destroys himself

As we all know, that we become victims to the bad habits easily and we find it defficult to cultivate good habits This is what we see and experience in the day to day life. When a bad habit is continued, it becomes very difficult to escape from its bondage In the same manner, when once a man starts telling lies, it becomes his habit and he goes on telling lies without any discrimination between his own people or otherwise. He starts without any sense of shame to insult elders or youngsters and goes on using loose talks without caring for the person or situation He starts telling lies which create shocks and starts moving with ego and boasting himself as if, he were an unparalled man and for his little benefit, he does not mind to tell lies which may destroy the lives of others Thus speaking lies in various ways, he becomes a nuisance and due to his harsh and disagreeable talks, he becomes a means to harm a good number of human beings and beings in general But he does not succeed for a long time At last,

he is exposed and becomes a disgraceful and not worthy of belief in the society and his position becomes precarious We all know the proverb that to tell lies is a painful thing and does not bring pleasure The Jain Acharyas, who have studied minutely the various aspects of human mind have described the various ways of telling lies. When we study this, we will be surprised at the vast knowledge of the 'Ācāryas' in knowing the human mind. On knowing the bad side of the untruth, our minds tremble and automatically we will intend to come to the right path

After seeing the bad result of telling lies, now we can try to see the effect of telling the Truth The famous story of king 'Hariścandra', who tried his best to maintain his truthfullness though he had not only to suffer a lot of misery but also had to sell his wife, son and himself He proved that 'Truth is God, God is Truth' The truthful person achieves his own welfare as well as the welfare of others and becomes worthy of belief and he is loved and almost worshipped by the people Mahatma Gandhiji, who is rightly called the Farher of the Nation and who brought Independance to our Motherland, was an ardent follower of 'Truth' and 'Nonviolence'

One should speak truth, but sometimes speaking truth may bring some danger in certain cases That is why, we should try to speak truth, in such a way that it should not bring any violence, trouble and shock That is why it is said 'Satyam brūyāt priyam brūyāt' We can see a small example here A Doctor examines a patient and finds that the patient is on the verge of breathing his last Should the doctor, who understands this fact, tell the patient the naked truth that he would die within a short period ? If the doctor tells the truth, the patient might die on the spot Under such circumstances, a doctor should treat the patient without telling lies to make money but at the same time with patience, he should give treatment to the patient leaving the patient to his own fate

Another example–suppose a hunter is chasing a deer, when he is running after the deer, he looses the sight of the deer and asks a man about the deer The man knows in which direction the deer has gone In this case, what that man should do ? If he tells the truth, he will be responsible for the a death of the deer If he tells the wrong direction, he will be responsible for having told a lie Then what that man should do ? There are people who argue that there is no sin, if a lie is told to save a life But by telling a lie there will be the flow of bad Karma in the soul Under such circumstances, the only way left for an intelligent man is to keep mum, though he might get abuse from the hunter There is a proverb in Kannada that 'A marriage should be performed even telling Ten lies" There is no harm to perform a marriage But the marriage performed based on the falsehood, if it brings misery to the two souls, what is the benefit of such a marriage and who is responsible for this misery and sin? So it is always better to tell the truth and even telling the truth should be with caution and should bring pleasure to other beings The words of the person who speaks

truth are lovable and are like nector The persons who listen to such words of a truthful person, not only they enjoy but also get inspiration in their lives.

A story occuring in the 'literature' may be described here in short in this context Once a Jain monk was preachiog 'Dharma' to laymen A thief who listened to the preaching requested the monk to give him also a vow. The monk said, 'You leave your business of stealing' The thief said that it was the only means for his livelhood and denied to leave it Then the monk said, 'you take the vow of talking the Truth' The thief agreed One day the thief started to steal in the palace. On the way, the guard asked him 'Who are you and where are you going?' 'I am a thief, I am going to the palace to steal', the theif said A person who is entering the palace to steal, how can he tell this with such a courage ?He might be related to the king Thinking in this line, the guard allowed the thief to enter the palace. The thief stole the ornaments in the palace and left it Next day, when a search was made to find out the thief, this very thief was caught in a forest with all the ornaments When he was questioned, he told with courage, that the ornaments belonged to the palace and he had stolen them Looking at the courage and the manner in which the thief told the truth, the soldiers of the palace, with a notion that he must be a relative of the palace, did not arrest him Looking at himself, the thief thought his escape was only due to the Truth So, he knew the importance of the truth and afterwards, not only he left his wrong path but also he took up to the right path and in due course become a liberated soul

Lastly, we conclude this article, quoting the ideas of the famous Kannada poet Ranna (10th Century) in this behalf as described in his 'Ajitaṇātha Purāna'[8] Poet Ranna says that there are four categaries of people First one—They talk lovable words and the result of them is also lovable. Second category—Their talk is harsh, but the result is lovable Third cotery is their talk is lovable but the result is poisonous Fourth-category is—Their talk is harsh and the result is also harsh and shocking.

Out of these four categories, there is lot of danger to the society from the people belonging to the third and fourth categories. So, poet Ranna has cautioned to be careful about such people. People belonging to the second category may be all right but what we should try to achieve is to belong to the first category. Their lies the usefullness of the life The proverb in Kannada 'The person who knows how to talk and what to talk brings the Jewels and the person who does not know how to talk and what to talk brings the quarrel' Remembering this proverb, we should try to 'Talk' with full control over the tongue, words which bring pleasure to the people and thus try to mak our lives useful and pleasant both in this world and in, the so called, the other world.

The truth being the one aspect of the soul, the persons who follow up 'Satya Dharma', such souls do become 'Suddhātmā' and ultimately 'Paramātmā'. There seems no doubt in believing this principle which is preached by the 'Paramātmās' themselves 'Satyaṁ Vada, Dharmaṁ Cara'.

References

1 Umaswati Tattwasthsûtra, Chapter 9

2. Keshiraj Sabdamaṇi darpana Pithika Sandhi, Mangalore, poem 1.

"अनुकूल पवननिन् जी ।
वनिष्टदिम् नाभिमूलदोल् हट्ठुलेय पा ।।
गिनवोल् शब्दब्रह्मं ।
जनयिसुगुम् सकलमदर कार्यं शब्दम् ।।"

3 Ranna Ajitanathpurāna. (ed Ramanayacharya), Mysore, 1910, pp 162

साराश

उत्तम सत्य

डॉ० बी० एस० कुलकर्णी, कन्नड़ शोध संस्थान, धारवाड़

जैनधर्म एक प्राचीन धर्म है । इसमे छह द्रव्य और सात तत्त्वोकी प्रक्रियामे लोककी व्याख्या की गई है । इसमे आत्माको अनन्तचतुष्टयी बताया गया है । यही आत्मा लोकान्त में सिद्धशिला पर विराजता है । लेकिन ससारी आत्माकी गति विचित्र है । वह अनादि कालस चारो गतियोमे भटक रहा है । उसका उद्देश्य यह है कि वह अपने शुभ प्रयत्ना से कर्म-बन्धोंसे विलग होकर अनन्तचतुष्टयी रूपको प्राप्तकर परम सुखको प्राप्त करे और सिद्धशिला पर विराजे । अपनी बुद्धि के कारण मनुष्य सभी प्राणियोमे श्रेष्ठ है और वही अपने प्रयत्नोंसे यह लक्ष्य प्राप्त कर सकता है । उसकी लक्ष्य प्राप्ति केवल धर्मसे हो हो सकती है ।

सामान्यत धमको व्रतो और नियमोके रूपमें माना जाता है । लेकिन केवल इन बाह्य रूपोमे ही कर्मबध दूर नही होता । इसके लिए धर्मके मन-वचन-काय परिमार्जक उत्तम क्षमादिक दश रूपोका पालन आवश्यक है । इसमे उत्तम सत्य भी एक है । सत्यका सम्बन्ध विचारो और वचनो या भाषासे सबधित है । फलत यह प्रक्रिया केवल मनुष्य जातिसे सम्बन्धित है । मानवकी भाषा वचनरूप कर्माणुओके कारण होती है । ये वचन कर्माणु द्रव्य होते हैं और सफेद (नीरग) होते है । सत्यको आत्माका धर्म बताया गया है । भगवान्‌का वाणी 'दिव्य ध्वनि' कही गयी है । इन प्रकरणोमें शब्द शुद्ध और सरल होते है । ये बच्चोके समान सत्य होते हैं । लेकिन ससारी मनुष्यके शब्दोंमें यह शुद्धता कहाँ ? वह तो कषायोके चक्रमे सत्य शब्द भूल गया है । सत्यको इस इस प्रकार बोलना चाहिये जिससे दूसरोको कष्ट न हो । विषम परिस्थितियोंमें मौन ही श्रेयस्कर है । लेखकने महापुराणकी कथामे इस तथ्यको प्रमाणित किया है । लेखकने रन्न कविके अनुसार चार प्रकारके मनुष्योका भी निरूपण किया है प्रिय-प्रिय, कटु-प्रिय, प्रिय-कटु, कटु-कटु । हमे अन्तिम दो कोटियो के मनुष्योसे सावधान रहना चाहिये और स्वयको प्रथम कोटिका बननेका यत्न करना चाहिये । इसके लिए शुद्ध सत्य बोलनेका अभ्यास करना चाहिये । सत्य ही धर्म है, यह 'सत्य वद, धर्म चर' से भी प्रकट होता है । सत्यसे आत्मा परमात्मा बनता है ।

जैनधर्मका उद्गम क्षेत्र-मगध

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर (म०प्र०)

भारतके आद्यैतिहासिक कालमें मगध क्षेत्रकी प्राय अवमानना दृष्टिगोचर होती है। वैदिक आर्योंने मगधकी अपेक्षा पञ्चनन्द देश तथा उसके आगे मध्यदेशको वरीयता प्रदान की। वैदिक सूक्तोमें उन क्षेत्रोंके विषयमे सम्मानका भाव प्राप्त होता है। वहाँके पर्वतो, नदियो, जनपदो तथा नगरोके उल्लेख इस बातको सूचित करते है कि ई० पू० सातवी शतीतक भारतका उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र तथा मध्यदेश पुण्यभूमिके रूपमें मान्य थे।

वैदिक विचार परम्परा मगध क्षेत्रमें वैदिक कालके पश्चात् पहुँची। काशी तथा अङ्गके पूर्ववाले भू-भागमे स्थानीय स्वतन्त्र पम्म्परायें विकसित थी। यह क्षेत्र मध्यप्रदेशमें अमरकण्टकसे लेकर वस्तरतकके भू-भागकी अपक्षा सास्कृतिक दृष्टिसे अधिक उन्नत था। स्वतन्त्र चिन्तनके फलस्वरूप वहाँ आर्य परम्पराके प्रतिकूल अनेक विचार पल्लवित हो चुके थे। परवर्ती वैदिक साहित्यमे मगधके निवासियोको कीकट, व्रात्य आदि शब्दोसे सम्बोधित किया गया।

मगधका एक प्रसिद्ध आद्य ऐतिहासिक शासक जरासध हुआ। महाभारत तथा कतिपय पुराणोंमें इस प्रतापी शासकके बारेमे विस्तृत विवरण उपलब्ध है। आर्य सस्कृतिके अनुयायी राजाओसे जरासधकी विचारधारा अलग थी। राजनीतिक क्षेत्रसे जरासधकी यह विद्रोही परम्परा ऐतिहासिक कालमें भी देखनेको मिली है।

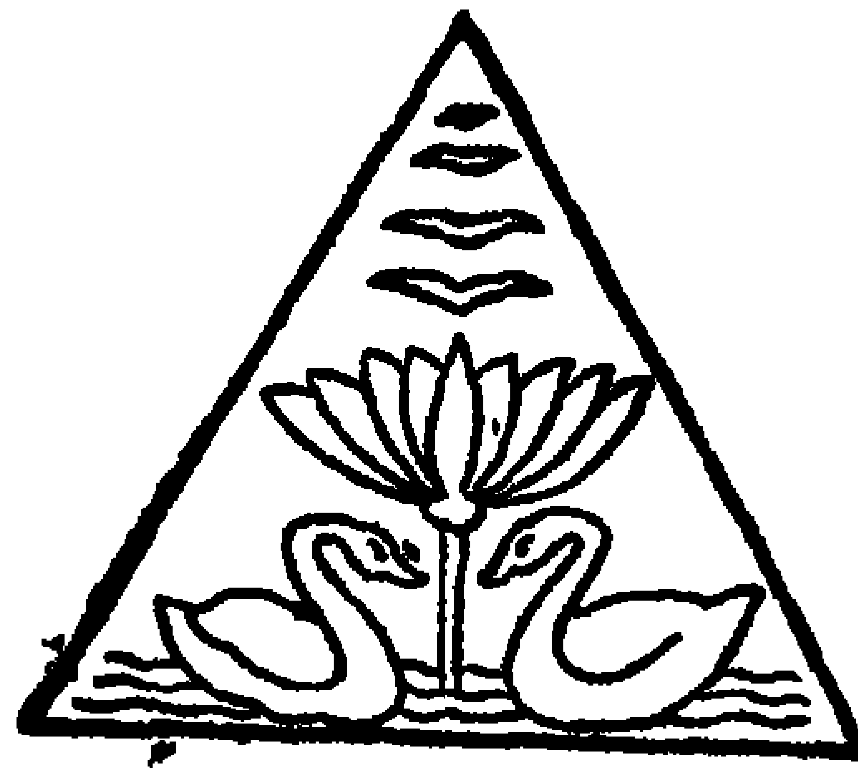
ई० पू० सातवी शतीके बाद मगध क्षेत्रका आर्थिक एव राजनीतिक विकास हुआ। व्यवसाय तथा व्यापारकी वृद्धिके फलस्वरूप मगधके अनेक नगर समृद्ध हो गये। इसका प्रभाव प्रशासन तथा अनेक सास्कृतिक क्षेत्रोपर पडा। शाक्य, लिच्छवि, मल्ल आदि गणोने शक्तिशाली गणतन्त्र शासन व्यवस्था चलायी। जनक, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी आदि प्रसिद्ध स्वतन्त्रचेता उनके पहले हो चुके थे। उनकी विचार परम्परा ऐतिहासिक कालमे भी मगध क्षेत्रपर व्याप्त रही। ई० पू० छठी शतीमे भगवान् महावीर तथा गौतम बुद्धका आविर्भाव हुआ। उनका मुख्य कार्यक्षेत्र मगध ही रहा। इन दोनो महानुभावोंके अतिरिक्त अन्य स्वतन्त्र विचारशील व्यक्तियोमें पुराण कश्यप, अजित केशकबली, प्रबुद्ध कात्यायन, आलारकालाम, रुद्रकरामपुत्र, मक्खलि गोशाल आदिके नाम उल्लेखनीय है। इन सभीने अपनी बुद्धि और ज्ञानके अनुसार पृथक्-पृथक् मतोकी स्थापना की। मक्खलिगोशाल, आजीवक सम्प्रदायके जन्मदाता हुए। गया तथा उसके आसपासका क्षेत्र स्वतन्त्र तार्किक विचारोका मुख्य केन्द्र बना। सिद्धार्थको वही सम्यक्ज्ञानकी प्राप्ति हुई। फिर गौतम बुद्धके रूपमे उन्होने एक नये धर्मको प्रारम्भ किया।

महावीर स्वामीके पहलेके अनेक जैन तीर्थकरोके जन्म, ज्ञान प्राप्ति तथा निर्वाण स्थल मगध क्षेत्रमें ही हैं। इस भू-भागमें विहारोके अत्यधिक सख्यामे हो जानेसे यह क्षेत्र बिहार कहलाया। बौद्धोके अतिरिक्त, जैनोके भी सघाराम राजगृह, पाटलिपुत्र, गया तथा अन्य अनेक स्थलोमें प्रतिष्ठित हुए। महावीर स्वामीने मगधकी प्रचलित लोक भाषामें अपने प्रवचन दिये। यह मागधी भाषा धीरे-धीरे अधिकाश भारतकी राजभाषा बन गयी। मौर्य सम्राट अशोकने इसी भाषामे अपनी राजाज्ञायें लिखायी। परवर्ती लेखोमें एक दीर्घ कालतक इसी भाषाका उपयोग होता रहा।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे विदित होता है कि उसके पहले सत्रह प्रमुख आचार्य हो चुके थे जिन्होंने धर्म तथा राजनय आदि विषयों पर अपने स्वतन्त्र मत स्थापित किये गये थे। प्रतीत होता है कि इनमेंसे अधिकांश आचार्य मगधके ही थे।

महावीर स्वामीके सन्देशका प्रचार जैन आचार्य परम्पराने विशुद्ध रूपमें किया। गुप्त शासन कालमें मुख्य राजधानी मगधके पाटलिपुत्र नगरमें रही। गुप्तकालके शासकोंने प्राकृतके स्थान पर संस्कृतको राज-भाषा बनाया। जैनाचार्यों तथा अन्य लेखकोंने समयकी माँगके अनुरूप अपनी रचनाओंका माध्यम संस्कृतको बनाया। इसी प्रकार, ब्राह्मी लिपिको देशकी मुख्य लिपि बनानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जैनाचार्योंके अलावा मगध क्षेत्रके समृद्ध जैन श्रेष्ठियोने जैन धर्मके विस्तारमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अनेक श्रेष्ठि महोदधि (बंगालकी खाडी)के मार्गसे दक्षिण-पूर्व एशियाके देशोमे व्यापारके लिए जाने लगे। विदेशोंसे अर्जित धनका विनियोग उन्होने देशके विभिन्न भागोमें जैनधर्मके प्रसार हेतु किया। उन जैन व्यापारियोंका दृष्टिकोण राष्ट्रवादी था। राष्ट्रकी राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नतिको उन्होंने अपने धर्मका अङ्ग मान लिया था।



खण्ड ३ : Section 3

साहित्य
Literature

जैन आगम साहित्य

साध्वी कनकश्री

जैन साहित्य आगम और आगमेतर— इन दो भागोमे विभक्त है। जैन वाङ्मय का प्राचीन भाग आगम कहलाता है।

आगम साहित्य चार विभागोमें विभक्त हैं— १ अग २ उपाग ३ छेद और ४ मूल। आगम-साहित्यका यह वर्गीकरण प्राचीन नही है। इसका प्राचीन वर्गीकरण अग-प्रविष्ट और अग-बाह्यके रूपमें उपलब्ध होता है।

अग-प्रविष्ट साहित्य महावीरके प्रमुख-शिष्य गणधरो द्वारा रचित होनेके कारण सर्वाधिक मौलिक और प्रामाणिक माना जाता है

अर्हत अपने अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके आलोकमें विश्व-दर्शन कर सत्य को उद्भासित करते है और गणधर शासन-हितके लिए उसे सूत्र रूपमे गूँथते है। वह विशाल ग्रन्थ-राशि सूत्र या आगमके नामसे पुकारी जाती है।[1]

अमितज्ञानी केवली तप, नियम और ज्ञानके वृक्ष पर आरूढ होकर भव्य जनोंको प्रबोध देने हेतु ज्ञान की वर्षा करते है और गणधर अपने बुद्धिमय पटमे उस सम्पूर्ण ज्ञान-वर्षाको ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार वे तीर्थ-हितकी दृष्टिसे तीर्थंकरकी वाणीको सूत्ररूपमे गूँथत है।[2] यही गणधर सन्दृब्ध साहित्य-राशि अंग प्रविष्ट कहलाती है। स्थविरोने जिस साहित्यकी रचना की वह अनग-प्रविष्ट है। द्वादशागी अग-प्रविष्ट है। उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण साहित्य अनग-प्रविष्ट है। ऐसा भी माना जाता है कि गणधरोंके प्रश्न पर भगवान्ने त्रिपदी-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश दिया। उसके आधार पर जो साहित्य रचा गया, वह अग-प्रविष्ट कहलाया और भगवान्के मुक्त व्याकरणके आधार पर जो साहित्य रचा गया, वह अनग-प्रविष्ट कहलाया।[3]

दिगम्बर साहित्यमें आगमोंके ये दो ही विभाग उपलब्ध होते है—अग-प्रविष्ट और अग-बाह्य।[4] अनग प्रविष्टके नामोमे अवश्य अन्तर है।

१ आ नि ९२— अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउण।
सासणस्स दियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तई॥

२ आ० नि० ८९-९० — तव नियमणाणरुक्ख आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठि भवियजण विबोहणट्ठाए॥
त बुद्धिमाएण पडेण गणहरा गिण्हिउ निरवसेस।
तित्थयर भासियाइ गथन्ति तओपवयणट्ठा॥

३ विशेषावश्यक भाष्य, ५५०—गणहर थेरककवा आएसा मुक्क वागरणतो वा।
धुव चल विसेसतो वा अगाणगेसु नाणत्त॥

४ तत्त्वार्थसूत्र, १-२० (श्रुतसागरीय वृत्ति)

श्वेताम्बर परम्परामें भी प्राचीन विभाग यही रहा है। स्थानांग, नन्दी आदिमें यही उल्लेख है। आगम विच्छेद कालमें पूर्वों और अंगोंके जो निर्यूहण या शेषांश बाकी रहे उन्हें पृथक् संज्ञाएँ मिली।

अंग-प्रविष्ट

अंग प्रविष्ट का स्वरूप सदा सब तीर्थंकरोंके समयमें नियत होता है। इसे द्वादशांगी या गणिपिटक भी कहते हैं। जैसा कि द्वादशांगी नामसे ही स्पष्ट है। अंग-साहित्य बारह विभागों या ग्रन्थोंमें विभक्त है, जो इस प्रकार है—

१. आचारांग	२ सूत्रकृतांग
३ स्थानांग	४ समवायांग
५. भगवती	६ ज्ञाताधर्मकथा
७ उपासकदशा	८ अन्तकृद्दशा
९ अनुत्तरोपपातिकदशा	१० प्रश्न-व्याकरण
११. विपाकश्रुत	१२ दृष्टिवाद

दृष्टिवाद वर्तमानमें अनुपलब्ध है।

अनंग-प्रविष्ट

अनंग-प्रविष्ट साहित्य तीन भागो विभक्त है—उपांग, मूल, और छेद-सूत्र। अनंग-प्रविष्ट साहित्य नियत नही होता।

उपांग

उपांग साहित्य का पल्लवन स्थविर-आचार्योंने अंग-साहित्यके आधार पर ही किया था, ऐसा उसके नाम और सख्या-साम्यसे प्रतीत होता है।
उपांग बारह हैं—

१ औपपातिक	२ राजप्रश्नीय
३ जीवाभिगम	४ प्रज्ञापना
५. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	६ सूर्यप्रज्ञप्ति
७ चन्द्रप्रज्ञप्ति	८ निरयावलिका
९ कल्पवतंसिका	१० पुष्पिका
११ पुष्पचूलिका	१२ वृष्णि-दशा

अंग-प्रविष्टके बारहवें अंग—दृष्टिवादके लुप्त हो जाने पर भी उसका उपांग "वृष्णिदशा कैसे सुरक्षित रह गया, यह भी शोध-विद्वानोंके लिए विचारणीय प्रश्न है।

मूल चार हैं

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, अनुयोगद्वार और नन्दी।

छेद सूत्र चार हैं

निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध।

कर्तृत्व

जैन-परम्परामें अर्हत् प्रोक्त, गणधर-सूत्रित, प्रत्येक बुद्ध सूत्रित, और स्थविर रचित वांङ्मयको प्रमाण-भूत माना है।[1] अत. आगम-वाङ्‌मयकी कर्तृताका श्रेय उन्हीं महनीय व्यक्तित्वों को उपलब्ध होता है।

अङ्ग-साहित्यके अर्थके उद्‌गाता स्वय तीर्थंकर हैं और उसके सूत्रयिता हैं प्रज्ञापुरुष गणधर।

शेष साहित्य प्रवाहित हुआ है चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और प्रत्येक बुद्ध आचार्यों और मुनियोंके मनीषा हिमालयसे।[2] आचार्य वट्टकेरने भी गणधर कथित, प्रत्येकबुद्ध कथित, श्रुतकेवली कथित और अभिन्नदश-पूर्वी कथित सूत्रो को प्रमाण माना है।[3]

इस दृष्टिसे हम इस तथ्य तक पहुँचते है कि वर्तमान अग प्रविष्ट साहित्य के उद्‌गाता हैं, स्वय भगवान् महावीर और रचयिता है उनके अनन्तर शिष्य आचार्य सुधर्मा।

अनग-प्रविष्ट साहित्य कर्तृत्वकी दृष्टिसे दो भागोंमें बँट जाता है—कुछेक आगम स्थविरो द्वारा रचित है और कुछ द्वादशागोसे निर्यूढ—उद्‌धृत हैं।

रचनाकाल

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, अग-साहित्यकी रचना गणधर करते है और उपलब्ध अग गणधर सुधर्माकी वाचनाके है। सुधर्मा स्वामी भगवान् महावीरके अनन्तर शिष्य होनेके कारण उनके समकालीन थे। इसलिए वर्तमान अङ्ग साहित्यका रचनाकाल ई० पू० छठी शताब्दी सिद्ध होता है।

अग-बाह्य साहित्य भी एक कर्तृक नही हैं, इसलिए उनकी एक सामयिकताकी तो कल्पना भी नही की जा सकती। फिर भी आगमोके काल—निर्णयकी दृष्टिसे हमारे पास एक ठोस आधार है। वह यह है कि श्वेताम्बर परम्परामें सर्वमान्य बत्तीस सूत्रोंका व्यवस्थित सकलन आचार्य देवर्द्धिगणीके सान्निध्यमें सम्पन्न हुआ था। उनका समय है ईसाकी चौथी शताब्दी। अत आगम-सकलनकी दृष्टिसे आगमोंका रचना-काल यही उपयुक्त ठहरता है। वैसे ईस्वी पूर्व छठी शताब्दीसे ईस्वी चौथी शताब्दी तकका समय आगम रचनाकाल माना का सकता है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात् आगमोंका मौलिक-स्वरूप नष्ट हो गया। अत उसे वर्तमानमें उपलब्ध आगम साहित्यकी प्रामाणिकता मान्य नही है।

दिगम्बर आम्नायमे आगम लोपके पश्चात् जो साहित्य रचा गया उसमे सर्वोपरि महत्त्व षट् खण्डा-गम और कषायप्राभृतका है।

जब पूर्वों और अगोके बचे-खुचे अशोकी भी लुप्त होनेकी सम्भावना स्पष्ट दिखाई देने लगी तब आचार्य धरसेन (विक्रम दूसरी शताब्दी) ने अपने दो प्राज्ञ शिष्यो—भूतबली और पुष्पदन्तको श्रुताभ्यास कराया। इन दोनोंने षट्‌खण्डागमकी रचनाकी। लगभग इसी समयमे आचार्य गुणधरने कषाय-प्राभृतकी रचनाकी। ये पूर्वोके शेषाश है, इसलिए इन्हें पूर्वोंसे उद्‌धृत माना जाता है। ये ही दिगम्बर परम्पराके आधारभूत ग्रन्थ हैं।

१ अर्हत्प्रोक्त गणधरदृब्ध प्रत्येकबुद्धदृब्ध च।
स्थविरग्रथितच तथा, प्रमाणभूत त्रिधा सूत्रम्॥

२ द्रोणसूरि, ओ नि पृ ३

३ मूलाचार, ५८०—सुत्त गणधरकथिद, तहेव पत्तेय बुद्धकथिद च।
सुदकेवलिणा कथिद अभिण्णदशपुव्विकथिद च॥

श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार तीव्र गतिसे ह्रासकी ओर बहती श्रुतस्रोतस्विनीको समय-समय पर होनेवाली आगम-वाचनाओंके माध्यमसे बचा लिया गया। फलत नाना परिवर्तनोंके बावजूद भी वर्तमानमे उपलब्ध श्रुतांशकी मौलिकता असदिग्ध है। इसी विश्वासके आधार पर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा ४५ आगम-सूत्रोंको प्रमाणभूत मानती है तथा स्थानकवासी और तेरापथी परम्पराएँ ३२ सूत्रो को। प्रकीर्णकोके अतिरिक्त ३२ सूत्रोंकी प्रामाणिकतामें तीनों ही परम्पराएँ एक मत है। प्रस्तुत निबन्धके माध्यमसे हमें श्वेताम्बर-परम्परा सम्मत इन्ही ३२ आगम ग्रन्थोंको आधार मानकर कुछ चर्चा करनी है।

मैं एक-एक आगम-ग्रन्थका औपचारिक परिचय देनेका प्रयत्न न कर सीधे तथ्योके प्रागणमे उतर जाना चाहती हूँ। ताकि हम आगम-साहित्यकी प्रदेय-भूमिकाओं पर समग्रतासे विचार कर सकें।

आगमोकी भाषा

दूसरोंके साथ सम्पर्क स्थापित करनेका सशक्त माध्यम है भाषा। भाषाका प्रयोजन है, अपने भीतरके जगत्को दूसरोके भीतरी जगत्मे उतार देना। इस दृष्टिसे भाषा एक उपयोगिता है। किन्तु उस समय भाषा मात्र उपयोगिता न रहकर अलङ्करण और बडप्पनका मानदण्ड बन गई। विद्वान लोग उस सस्कृत भाषामे बोलने लगे, जो जनसाधारणके लिए अगम भाषा थी।

महावीरका लक्ष्य था—सबको जगाना। सबको जगानेके लिए सबके साथ सम्पर्क साधना आवश्यक होता है। मात्र आभिजात्य भाषा या पण्डितोकी भाषा जन-सामान्यके साथ सम्पर्क स्थापित करनमे सहयोगी नही बन सकती। अत महावीरने जन भाषाको ही जन-सम्पर्कका माध्यम बनाया। वह थी उस समयकी लोक भाषा-प्राकृत। वह भाषा मगधके आधे भागमे बोली जाती थी, अत वह अर्द्धमागाधी भी कहलाती थी[1]। अर्धमागधी उस समयकी प्रतिष्ठित भाषा थी। वह आर्य-भाषा मानी जाती थी। उस भाषाका प्रयोग करनेवाले भाषा-आर्य कहलाते थे।[2]

प्राकृतका अर्थ है—प्रकृति-जनताकी भाषा। भगवान् महावीर जनताके लिए, जनताकी भाषामे बोले थे, अत वे जनताके बन गए।

प्राकृत भाषामें निबद्ध होते हुए भी जैन आगम साहित्यको भाषाकी दृष्टिसे दो युगोमे बांट सकते हैं। ई० पू० ४०० से ई० १०० तकका पहला युग है। इसमे रचित अङ्गोकी भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तकका है। इसमे रचित या निर्यूढ आगमोकी भाषा जैन-महाराष्ट्री प्राकृत है।

वैसे समकालीन ग्रन्थोकी प्राकृत भाषामें भी परस्पर पर्याप्त भिन्नता है। जैसे सूत्रकृतागकी भाषा दूसरे ग्रन्थोकी भाषासे भिन्न ही पड जाती है। उसमे ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए है, जो व्याकरणके नियमोसे सिद्ध नही होते। इससे सूत्रकृतागकी प्राचीनता सिद्ध होती है। आचाराग प्रथम और द्वितीयकी भाषाका प्रवाह तो एकदम बदल गया है।

शैली

आगम ग्रन्थोमें गद्य, पद्य और चम्पू—इन तीनो ही शैलियोका प्रयोग हुआ है। आचाराग (प्रथम) चम्पू-शैलीका उत्कृष्ट उदाहरण है। फिर भी किसी ग्रन्थमें आदिसे लेकर अन्त तक एक ही शैलीका निर्वाह

१ समवाओ, ३४ १

भगव च ण अद्धमागदीए भासाए धम्म माइक्खइ।

२ पन्नवणा १।६२

भासारिया जे ण अद्धमागहाए भासाए भासति।

हुआ हो ऐसा नहीं लगता। यहाँ तक कि एक ही ग्रन्थकी शैलीमें विभिन्न स्थलों पर पर्याप्त अन्तर आ गया है। ज्ञाताधर्मकथाके प्रथम अध्ययनको पढ़नेसे लगता है, हम 'कादम्बरी' की गहराईमें गोता लगा रहे हैं।

आठवें नौवें और सोलहवें अध्ययनमें आजकी उपन्यास शैलीके बीज प्रस्फुटित होते प्रतीत होते हैं। अन्यत्र एकदम साधारण शैली भी अपनायी गयी है।

गद्य भागके बीच या अन्तमें गद्योक्त अर्थको पद्य-सग्रहमें गूथा गया है। ऐसी शैली उपनिषदोकी रही है। जैसे प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेष श्लोक

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता। त वेद्य पुरुष वेद (यथा) मा वो मृत्यु परिव्यथा ॥ (प्रश्नो० ६।५।६) तुलना करें—

चउत्थ पय भवइ, भवइ य इत्थ सिलोगो—पेदेइ हियाणुसासण सुस्सूसइ त च पुणो अहिट्ठए।

नयमाण—भएण मज्जइ, विणयसमाही आययट्ठीए ॥[1]

अनुष्टुभ् या अन्य वृत्तो वाले अध्ययनोके अन्तमें भिन्न छन्द वाले श्लोकोका प्रयोग कर आगम-साहित्यमे महाकाव्य शैलीका भी सस्पर्श हुआ है।

आगम ग्रन्थोमे छन्दकी दृष्टिसे "चरण" मे अक्षरोकी न्यूनाधिकता भी उपलब्ध होती है। वैदिक युगमे भी ऐसा होता था। वहाँ जिस चरणमें एक अक्षर कम अधिक हो उसे क्रमश निचित और भूरिक कहा जाता है[2] तथा जिस चरणमे दो अक्षर कम या अधिक हो उसे क्रमश विराज और स्वराज्य कहा जाता है।[3]

विषय वस्तु और व्याख्या

आचार्य आर्यरक्षितने व्याख्याकी सुविधाके लिये आगम-ग्रन्थोको चार अनुयोगोमे विभक्त कर दिया। जैसे—द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग[4]। इस वर्गीकरणके पश्चात् अमुक-अमुक आगमोकी व्याख्या अमुक-अमुक दृष्टिकी प्रधानतासे की जाने लगी। वैसे सम्पूर्ण आगम-वाङ्मय विशुद्ध अध्यात्म-धाराका प्रतिनिधित्व और प्रतिपादन करता है फिर भी उसमें अनेकानेक विषयोकी पूर्ण स्पष्टता और उन्मुक्तताके साथ प्रस्तुति हुई है। आयुर्वेद, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, शिल्प, सगीत, स्वप्न-विद्या, वाद्य-यन्त्र, युद्ध-सामग्री आदि समग्र विषयोकी पर्याप्त जानकारी हमें आगमोसे प्राप्त हो सकती है।

एक ही स्थानागमे कम-से-कम १२०० विषयोका वर्गीकरण हुआ है। भगवतीसूत्र तो मानो प्राच्य-विद्याओका आकर ग्रन्थ है। विषय वैविध्यकी दृष्टिसे विद्वानोने स्थानाग और भगवतीको विश्वकोष जैसा महत्त्व दिया है।

आगमोमे ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तोंका प्रतिपादन हुआ है, जो आधुनिक विज्ञान-जगत्में मूलभूत सिद्धान्तोके रूपमे स्वीकृत है। जहाँ तक मैंने पढा और जाना है, स्थानाग या भगवती जैसे एक ही अगका

१ दशवैकालिक ९।४।२१

२ ऋक् प्रातिशाख्य, पाताल १, "एतन्न्यूनाधिका सैव निचृदूनाधिका भूरिक।"

३ शौनक ऋक् प्रातिशाख्य, पाताल १७।२—

विराजस्तूत्तरस्याहुर्द्वाभ्या या विषये स्थिता।
स्वराज्य एव पूर्वस्य या कश्चैन गता ऋच् ॥

४ आवश्यककथा, श्लोक १७४

सांगोपांग परिशीलन कर लेनेसे हजारों विविध प्रतिपाद्योंके भेद-प्रभेदोंका गम्भीर ज्ञान तथा साथ ही भारतीय ज्ञान-गरिमा और सौष्ठवका अन्तरंग परिचय प्राप्त हो सकता है।

क्या आगम साहित्य नीरस है ?

जर्मन विद्वान् डॉ विन्टरनित्जने लिखा है—"कुछ अपवादोके सिवाय जैनोंके पवित्र-ग्रन्थ धूलकी तरह नीरस, सामान्य और उपदेशात्मक है। सामान्य मनुष्योकी हम उनमें आज तक भी बहुत कम रुचि पाते हैं। इसलिये वे विशेषज्ञोके लिये ही महत्त्वपूर्ण हैं। वे सामान्य पाठकोकी रुचिका दावा नही कर सकते।[1]

डॉ. विन्टरनित्जके इस कथनमें आंशिक सचाई हो सकती है, पर उनके इन विचारोसे मैं सर्वथा सहमत नहीं हूं। क्योकि वे विशेषज्ञोंके लिये ही महत्त्वपूर्ण है—इन विचारोका निरसन स्वय डॉ विन्टर-नित्जकी अग्रिम पंक्तियोंसे हो जाता है। आगे उन्होने लिखा है—जैनोने हमेशा यह ध्यान रखा है कि उनका साहित्य जनता तक पहुचे, इसीलिये उन्होंने सैद्धान्तिक ग्रन्थ व प्राचीन साहित्य प्राकृत-भाषामें लिखा।[२] अत वे मात्र विशेषज्ञोके लिये ही उपयोगी हो, ऐसा नही लगता। हां प्राकृत भाषाके अध्ययन-अध्यापनकी परम्परा छूट जाने या उसकी लोक-भाषाके रूपमें प्रतिष्ठा न रहनेके कारण सामान्य जनताके लिये वे सुगम या सुज्ञेय नही रह सके। लेकिन हर युगके मनीषी आचार्यों और विद्वानोने विशाल आगम-ग्रन्थोके प्रति-पाद्यको युग भाषामें प्रस्तुत करनेका सदा प्रयत्न किया है। युगप्रधान आचार्य श्री तुलसीके वाचना प्रमु-खत्वमें चल रहे आगम-सम्पादनका उपक्रम उसी श्रृङ्खलाकी एक सुदृढ कडी है।

दूसरी बात है नीरसताकी, लेकिन वस्तु स्थिति यह है कि विषयोकी विविधताके कारण इन्हे पढ़नेमे रुचि और ज्ञान-दोनो परिपुष्ट होते है।

जैन आगम-साहित्य उपमाओ और दृष्टान्तोंसे भरा पडा है। देश, काल, क्षेत्र, सभ्यता और सस्कृतिके अनुरूप अनेक उपमाएं व दृष्टान्त प्रचलित होते हैं। इनके प्रयोगसे प्रतिपाद्यमे प्राण भर जाते है। वह सहज ही हृदयगम हो जाता है। आगम-साहित्यमे गम्भीर अर्थ भी सुबोध और सरस शैलीमे प्रकट हुआ है। इसमे उपमाओं और दृष्टान्तोका अनन्य योग रहा है। उत्तराध्ययन एक पवित्र धर्मग्रन्थ है। पर उसमे प्रयुक्त उपमाओंकी बहुलताके कारण ऐसा लगता है, यह कोई काव्य-ग्रन्थ है। सम्भव है इसी लिये स्वय विद्वान् विन्टरनित्जने इसे श्रमण-काव्य कहा है।

वे आगे लिखते हैं—जैन-आगमोमे उदाहरणो और उपमाओके माध्यमसे सिद्धान्तोकी बात कहनेका अद्वितीय तरीका दृष्टिगत होता है। उनके इस कथनमे पर्याप्त यथार्थताके दर्शन होते है। क्योंकि अनेक स्थलो पर ऐसी व्यावहारिक उपमाओका प्रयोग हुआ है, जिनके माध्यमसे वर्ण्य विषयमें सजीवता आ गई है। जैसे—"णावण सरह बाले, इत्थी वा बुद्धगामिणी।"[3]

समुद्रमें तीव्र गतिसे दौडती हुई जहाजको जिसके विशाल पाल बन्धे हैं, कैसी सजीव और विरल उपमासे उपमित किया गया है—

1 A History of Indian Literature P 466
2. " " , " P 443
३ सूयगडो—३।१।१।१६

'वितत पक्खा इव गरुड जुवई।'[1]

—जैसे कोई गरुड-युवती पख फैलाए भागी जा रही हो।

दोनो कानोंमें झूलते चमकीले कुण्डल युगलके मध्य स्थित दिव्य आकृतिको वर्णित करते हुए लिखा है—मानो पूनमकी रातमे शनि और मङ्गल नक्षत्रोके बीच नयनानन्द शारदीय चन्द्र उग आया हो।[2]

समुद्री तूफानमे प्रताडित उछलती-गिरती और डूबती-तैरती नौकाका उत्प्रेक्षाओके माध्यमसे कितना सजीव चित्र खीचा गया है "ज्ञाता"के नौवें अध्ययनमें—

"भयकर समुद्री तूफानके कारण नौका ऊपर उछलती है और एक झटकेके साथ पुन नीचे गिरती है, जैसे करतलसे आहत गेंद बार-बार पत्थरके आगनमें उछलती-गिरती है। ऊपर उछलती हुई वह ऐसी लगती है जैसे विद्या-सिद्ध कोई विद्याधर-कन्या हो और नीचे गिरती हुई वह ऐसी लगती है, जैसे विद्या-भ्रष्ट कोई विद्याधर बाला आकाशसे गिर रही हो। तेजी से इधर-उधर दौडती हुई वह ऐसी लग रही है, मानो गरुडकी तेज गतिसे भयभीत कोई नाग-कन्या इधर-उधर दौड रही हो। तीव्र-गतिसे आगे बढती वह ऐसी लगती है, मानो जनताके कोलाहलसे घबराकर कोई अश्व-किशोरी स्थान-भ्रष्ट हो, भागी जा रही हो। गाठोंसे टपकते जल कणोसे वह ऐसी लगती है मानो कोई नवोढा पतिके वियोगमे आसू बहा रही हो। क्षणभरकी स्थिरतासे वह ऐसी लगती है, मानो कोई योग-परिव्राजिका दूसरोको ठगनेके लिये कपटपूर्ण ध्यान कर रही हो।[3]

अस्तु, जहाँ तक मैं सोचती हूँ आगम-साहित्यके प्रति यदि हमारा दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है तो कोई कारण नही, उसकी रसात्मकता और लयात्मकतामें भी हमें नीरसता या विसगतियोंकी प्रतीति हो।

जैसा कि पूर्वमें बताया जा चुका है, जैन-आगम विशुद्ध अध्यात्म-शास्त्र है। अध्यात्मकी यात्रा पर यातायित व्यक्ति इनका अनुशीलन कर चैतन्य जागरण—सम्यक्त्वसे लेकर मोक्षप्राप्ति तककी समग्र प्रक्रिया जान-समझ सकता है। फिर भी वर्तमानके सन्दर्भमे यदि हम पूर्व मान्यताओ और प्रतिबद्धताओ से ऊपर उठकर व्यापक दृष्टिसे आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करें तो पाएगे कि आधुनिक युगकी सर्वाधिक चर्चित और मान्य सभी ज्ञान-शाखाओ का विकसित और प्रामाणिक आधार हमे यहा उपलब्ध होता है।

शरीर विज्ञान (Physics)
गतिविज्ञान (Dynamics)
रसायन-शास्त्र (Chemistry)
गणित (Mathematics)
चिकित्सा-विज्ञान (Biology)
मनोविज्ञान (Psychology)
परामनोविज्ञान (Parapsychology)

इन समग्र विषयोंसे सम्बन्धित प्रचुर-सामग्री आगमोंमें बिखरी पडी है।

---

१ ज्ञाताधर्मकथा—८।४०
२ ,, ,, १।५६
३ ,, ,, ९।१०

मनुष्य के शरीर-निर्माण और व्यक्तित्व निर्माणकी दृष्टिसे माता-पिता का क्या अनुदान रहता है, इस दृष्टिसे ठाण (३-४९४-४९५) द्रष्टव्य है । आगम-ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट गर्भाधान कृत्रिम गर्भाधान और गर्भसक्रमणकी प्रक्रियाको जानने वाला व्यक्ति वैज्ञानिक उपलब्धि "परखनली शिशु" पर आश्चर्यचकित नही होता ।

यह निर्विवाद है कि न्यूटन द्वारा उद्घोषित पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्तकी प्रस्थापनासे पूरा वैज्ञानिक जगत् उपकृत हुआ है, लेकिन परम वैज्ञानिक भगवान् महावीरने विभिन्न पृथिवियोके गुरुत्वाकर्षणके प्रभाव क्षेत्रका तथा अन्य पृथिवियोके निवासियो पर होने वाले उसके प्रभावका प्रतिपादन आज से २५०० वर्ष पहले ही कर दिया था । (देखें-अङ्गसुत्ताणि भाग २ भगवती सू २।११९)

इसका अध्ययन अन्तरिक्ष अनुसंधान कार्यमें अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है ।

जीव विज्ञान, गणित और ज्योतिष-शास्त्र की सामग्री तो आगमो मे भरी पडी । साथ ही उस समय का भारतीय रसायन-शास्त्र और चिकित्सा-विज्ञान कितना समृद्ध और विकसित था इसकी भी भरपूर सामग्री उपलब्ध होती है ।

मनोविज्ञान और परामनोविज्ञानके बीज तो यत्र-तत्र बिखरे पडे ही है पर अनेकत्र उनका अङ्कुरित पल्लवित और पुष्पित रूप भी देखने में आता है

वहा तात्त्विक विषयोके विश्लेषणके साथ-साथ साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य भी गम्भीरताके साथ विश्लेषित हुए है । इस क्रमसे मनुष्य की शाश्वत मनोभूमिकाओ मानवीय वृत्तियो तथा वस्तु सत्यो का मार्मिक उद्घाटन हुआ है ।[1]

वृक्ष, फल, वस्त्र आदि व्यावहारिक वस्तुओके माध्यमसे मनुष्यकी मन स्थितियोका जैसा सूक्ष्म विश्लेषण आगमोमें हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।[2]

स्वर-विज्ञान और स्वप्न-विज्ञानकी प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है । जैसे आज मनोविज्ञान व्यक्तिकी आकृति, लिपि और बोलीके आधार पर उसके व्यक्तित्वका अङ्कन और विश्लेषण करता है, वैसे ही आगमो में व्यक्तिके रङ्गके आधार पर उसके स्वरकी पहचान बताई है । जैसे—

श्यामा स्त्री मधुर गाती है । काली स्त्री परुष और रूखी गाती है । केशी स्त्री रूखा गीत गाती है । काणी स्त्री विलम्बित गीत गाती है । अन्धी स्त्री द्रुत गीत गाती है । पिंगला स्त्री विस्वर गीत गाती है ।[3]

अनुयोगद्वारमें भी व्यक्तिकी ध्वनि और उसके घोषके आधार पर उसके व्यक्तित्वका बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है ।

शब्द विज्ञानकी दृष्टिसे ठाण (१० के २,३,४,५) सूत्र विशेष मननीय है । जिनमे दस प्रकारके शब्द, दस प्रकारके अतीतके इन्द्रिय-विषय, दस प्रकारके वर्तमानके इन्द्रिय-विषय तथा दस प्रकारके अनागत इन्द्रिय-विषयोका वर्णन है । ये इस बातकी ओर सङ्केत करते है कि जो भी शब्द बोला जाता है, उसकी तरङ्गे आकाशीय रिकार्डमें अङ्कित हो जाती है । इसके आधार पर भविष्यमें उन तरङ्गोके माध्यमसे उच्चारित शब्दोंका सङ्कलन किया जा सकता है ।

जैन-आगमोका कथा-साहित्य भी समृद्ध है । ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा और विपाकश्रुत—ये अङ्ग तो विशेषत कथाओके माध्यमसे ही अपने कथ्यको प्रस्तुत करते है । उत्तराध्ययन, राजप्रश्नीय, भगवती आदिमे भी तत्त्व प्रतिपादनके लिए कथाओका आलम्बन लिया गया है ।

---

१ ठाण ३।३२५, ३६७

२ ठाण ४।१२ ३४ १०१ १०७

३ ठाण ७।४८

आगमोंकी ये कथाएँ वस्तुत मनोविज्ञान और परामनोविज्ञानके खोजियोंके लिए एक अमूल्य खजाना सिद्ध हो सकती हैं ।

यद्यपि आगमिक कथाएँ एक-सी शैली, वर्ण्य-विषयकी समानता तथा कल्पना और कलात्मकताके अभावमें पाठकको प्रथम दृष्टिमें बाँध नही सकतीं । उनमे अतिप्राकृतिक तत्त्वोंकी भी भरमार-सी प्रतीत होती है । फिर भी जब-जब तथ्योंकी गहराईमें उतरकर रहस्यकी एक-एक परतको उतारनेका प्रयास होता है तो वे गहरे अर्थों और भावोका प्रकटन करती है । अन्वेषणकी नयी राहें उद्घाटित होती हैं । यद्यपि इनको पढ़नेसे सामान्यत कोई हृदयस्पर्शी मानवीय सवेदनाएँ उभरती हो, ऐसा नही लगता, पर इनमे जो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी तथ्य उभरते है, वे निश्चित ही आजकी मनोविश्लेषणकी प्रक्रियाको पुनर्व्याख्यायित करते है । आगमोकी जन्मान्तरीय कथाएँ मनोवैज्ञानिक अन्वेषणकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं ।

आजके वैज्ञानिक युगमे, जबकि प्रत्येक चिन्तन या तत्त्व प्रयोग और परीक्षणकी कसौटी पर चढ़कर अपनी मूल्यवत्ता सिद्ध करता है, नयी प्रतिष्ठा अर्जित करता है, वैसी स्थिति भी अतिप्राकृतिक तत्त्वको मात्र पौराणिक या काल्पनिक मानकर उपेक्षित नही किया जा सकता है । अति-प्राकृतिक Phenomenon को टालना आजके to-date ज्ञान-विज्ञानके परिप्रेक्ष्यमे अवैज्ञानिक ही प्रतीत होता है । क्योकि आज भौतिक-विज्ञान और मनोविज्ञानके क्षेत्रमें अतिप्राकृतिक घटनाएँ और अतीन्द्रिय अनुभव भी प्रयोग और अनुसधानके विषय बन चुके हैं । अन्तश्चेतनाके मूल उसकी खोजमें ये अप्राकृतिकसे प्रतीत होनेवाले तत्त्व भी अनिवार्य "डाटा"के रूपमे वैज्ञानिक स्वीकृति प्राप्त कर चुके है ।

जैनकथा-साहित्य विशेषत भवान्तर कथाओमे मनोवैज्ञानिक अन्वेषणकी भारी सम्पदा और सम्भावनाएँ सन्निहित है । उनकी शैली और शिल्पकी ओर ध्यान न देकर एक बार मात्र उनके कथ्यका गहराईसे अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जैन-आगमोकी कथाएँ चैतन्य-जागरणकी जन्मान्तरगामिनी यात्रामें सार्थक कड़ियोके रूपमें ग्राह्य है ।

उल्लिखित समग्र दृष्टियोसे जैन-आगम-साहित्यका अनुशीलन करनेसे विदित होता है कि भारतीय सस्कृतिकी सरचना और भारतीय प्राच्य-विद्याओंके विकसनमें आर्हत् वाङ्मयका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है ।

आगम साहित्यने जिस तरह उत्तरवर्ती साहित्य और सस्कृतिको समृद्ध और सपुष्ट किया है, उसकी कहानी बहुआयामी और बहुसोपानी है । विषय वैविध्यकी धाराओ-प्रधाराओमें स्रोतस्वित आगम वाङ्मयने भारतीय साहित्यको प्राणवन्त बनाया है और अपनी मौलिक विशेषताओंसे उत्तरवर्ती समग्र साहित्यकी धाराको सुपुष्ट किया है । भगवान् महावीरके उत्तरवर्ती मनीषी आचार्योंने प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रशके माध्यमसे भारतीय साहित्यकी जो अद्वितीय व्यक्तित्व-रचनाकी उसका आधारभूत तत्त्व आगम-साहित्य ही रहा है ।

वस्तुत भारतीय-सस्कृतिके सर्वाङ्गीण अध्ययनके लिए जैन-आगम साहित्यकी सामग्री उपयोगी ही नही, अनिवार्य भी है । जैन-आगमोंके अध्ययन तथा जैन-परम्परा का पूर्ण परिचय प्राप्त किए बिना हिन्दी साहित्यका प्रामाणिक इतिहास भी नही लिखा जा सकता ।

अस्तु, शोध विद्वानोंसे यह अपेक्षा है कि जैन आगम-साहित्यके बारेमें अपने पूर्व दृष्टिकोणको बदलकर नयी दृष्टि निर्मित करें । वर्तमान को समग्र ज्ञान-विज्ञानकी विधाओके साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर आगम-साहित्यका पुनर्मूल्यांकन करें ।

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसीकी वाचनाप्रमुखतामें युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा सम्पादित और जैन विश्व-भारती लाडनूं द्वारा प्रकाशित या प्रकाश्यमान आगम-साहित्य निश्चित ही इस दिशामें हमारा पथदर्शन कर सकता है ।

श्वेत भिक्षु

भोगीलाल जे० साडेसरा, बडोदा (गुजरात)

बम्बई संस्कृत सीरीजसे प्रकाशित पश्चिम भारतीय पचतन्त्रके तन्त्र ३ का श्लोक ७६ निम्न है

नराणा नापितो धूर्त , पक्षिणा वायसस्तथा ।
दंष्ट्रीना च शृगालस्तु, श्वेतभिक्षुस्तपस्विनाम् ।।३-७६।।

अर्थात् मनुष्यो में नाई, पक्षियोमें कौआ, दाढवाले प्राणियोमें शृगाल, तथा तपस्वियोमे श्वेतभिक्षु धूर्त होता है ।

पञ्चतन्त्रके प्राय सभी अनुवादकोंने श्वेत भिक्षुका अर्थ श्वेताम्बर जैन साधु किया है । कुछ वर्ष पूर्व गुजराती साहित्य परिषद्ने पञ्चतन्त्रकी सभी उपलब्ध प्रतियोके पाठोके आधार पर उसका एक उपोद्घात और तुलनात्मक टिप्पणी सहित गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया था । उस समय भी मुझे लगा था कि श्वेत भिक्षुका यह अर्थ ठीक नही लगता । पश्चिम भारतीय पञ्चतन्त्र प्राय जैन पाठ-परम्परा पर आधारित है, यह बात उपोद्घात (पृ० २६-२९) में बताई गई है । इसीलिए इसमे श्वेताम्बर जैन साधुका उल्लेख आना कठिन ही था ।

हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित पूर्णचन्द्र कृत पचाख्यानके तन्त्र ३ श्लोक ६६ मे भी इसीके अनुरूप पाठ दिया गया है

नराणा नापितो धूर्त पक्षिणा चैव वायस ।
चतुष्पदा शृगालस्तु, श्वेतभिक्षुस्तपस्विताम् ।।३-७७।।

यह पूर्णभद्र खरतरगच्छीय जैन साधु जिनपति सूरिके शिष्य थे । इन्होने पञ्चतन्त्रका ११९९ में पञ्चाख्यानके रूपमें रूपान्तर किया था ।

अब प्रश्न यह है कि श्वेतभिक्षु शब्दका क्या अर्थ है ?

पचाख्यानकी शब्दसूचीमें उसके सम्पादक डा० हर्टले टाकेलाने बताया है कि याकोबीके मतानुसार श्वेतभिक्षु वह है जिसका उल्लेख हरिभद्रसूरिकृत गद्य कथा समराइच्चकहा (आठवी सदी) मे पडरभिक्षु (स०, पाडुर भिक्षु)के रूपमें किया गया है । अपने व्यक्तिगतपत्र व्यवहारमे डा० हर्टलेने डॉ० याकोबीका यही मत पुष्ट किया है । यद्यपि उन्होंने 'समराइच्चकहा'मे इस शब्दके उपयोगका निश्चित स्थान नही बताया है क्योंकि पञ्चाख्यानका प्रकाशन १९०८ मे हुआ था जबकि याकोबी सम्पादित समराइच्चकहा (बिब्लियोथेका इण्डिका ग्रन्थाक १६९) का प्रकाशन १९२६ मे हुआ । इससे स्पष्ट है कि श्वेत भिक्षु और पडरभिक्खु-दोनो पर्यायवाची शब्द हैं । 'समराइच्चकहा'मे पडरभिक्खुका उल्लेख निम्न प्रकारसे किया गया है

दिठ्ठो या णेण पियवयसओ नागदेवो नाम पडरभिक्खू वन्दिओ सविणय । कहवि पञ्चभिन्नाओ भिक्खुणा (पृ० ५५२)

पण्डरभिक्खुओंके विषयमें इसके आगे और भी विवरण मिलता है। "नागदेवेण भणिय। वच्छ, इमं चेव भिक्खुत्तण। पडिस्सुयमणेण। साहिओसे गोरसपरिवज्जणाइओ नियमकिरियाकलावो। परिणओ य एयस्स। अइक्कत कइवि दियहा। दिन्ना य से दिक्खा करेइ विहियाणुट्ठाणं" (पृ० ५५३)।

यहाँ प्रथम अवतरणमे उल्लिखित जिस नागदेवने पण्डरभिक्खुके रूपमें दीक्षा ली, उसीके विषयमें यह बताया गया है कि वह इसके पूर्व अपनी वाग्दत्तासे मिलने गया था। इसके बाद उसका आगेका विवरण निम्न है

"वियलिओ माणासओ उल्लसिओ सिगेहो, 'समासम समाससत्ति अब्भुक्खिया कमडलु पाणिएअ" (पृ० ५५४)।

इन अवतरणोमे यह पता चलता है कि इन भिक्षुओके क्रियाकलापमें गोरस आदिका परित्याग सम्मिलित था और ये भिक्षु अपने साथ कमडलु रखते थे। यह वर्णन श्वेताम्बर साधुओकी चर्यासे मेल नही खाता।

जैन छेदसूत्र निशीथसूत्रकी चूर्णिमे (सातवी सदी) इस बातका स्पष्ट निर्देश है कि पण्डरभिक्षु गोशालकके शिष्य थे। ये महावीरके समकालीन आचार्य गोशालक द्वारा सस्थापित आजीवक सम्प्रदायके थे

आजीवगा गोसालसिस्सा पडरभिक्खुआ वि भणति।

(विजयप्रेमसूरिजीकी आवृत्ति, ग्रन्थ ४, पृ० ८६५)

जैन आगम-साहित्यमे पण्डरभिक्खुके पर्यायवाचीके रूपमे पण्ड-रङ्ग (सस्कृत-पाण्डुराग, श्वेतवस्त्र) शब्दका प्रयोग मिलता है। महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित अनुयोग द्वार सूत्रके सूत्र क्रमाक २२८ मे निम्न उद्धरण मिलता है

से किं ते पामण्डनामे? पचविहे पण्णत्ते।

त जहा समणये पडरगए भिक्खू, कावलियए तावसये॥

इस सूत्रकी चूर्णिमे पण्डरङ्गका पर्यायवाची ससरक्ख (सरजस्क धूलियुक्त) आता है। मुनिश्री कल्याण विजयजीने अपनी श्रमण भगवान महावीर नामक पुस्तकमे पृ० २८१ पर यह अनुमान लगाया है कि सम्भवत आजीवक नग्न भिक्षु होते थे। वे सम्भवत अपने शरीर पर कोई भस्म या श्वेतधूलि लगाया करते थे। इसीलिए इन्हें पण्डरङ्ग या ससरक्ख कहा गया है। अनुयोगद्वार सूत्रके टीकाकार मलधारी हेमचन्द्रने उपरोक्त विवरणकी व्याख्यामे लिखा है कि आजीवक साधु श्रमण ही होते थे और पाडुरङ्ग आदि अनेक प्रकारके भिक्षु पाखण्ड या अजैन मतके अनुयायी होते थे। इन्होने अपनी यह टीका बारहवी सदीमें लिखी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पाखण्ड विषयक अनेक परम्पराये उनके समय तक समाप्त हो चुकी होगी। लेकिन गोशालकके अनुयायी आजीवक भाग्यसे कही दृष्टिगोचर होते होगे। यह भी सम्भव है कि पण्डरङ्ग शब्दकी व्याख्याके सम्बन्धमे मलधारी हेमचन्द्रके मनमे कुछ भ्रान्ति रही हो। लेकिन यहाँ हमारे लिए महत्वकी बात यह है कि उन्होने पण्डरङ्गको पाखण्ड या अजैन माना है।

जैन आगम ग्रन्थोके ओघनिर्युक्तिके भाष्यमे भी पण्डुरङ्ग शब्दका उपयोग मिलता है। जब कोई जैन साधु चातुर्मासके लिए किसी ग्राम-नगरमें प्रवेश करता है, तब उस समयके अपशकुनोके सम्बन्धमे ग्रन्थकारने लिखा है

चक्कयरम्मि भमाडो, भुक्कामारो य पडुरगमि।

तच्चिन्नअ रुहिरपडन, बोडिअमसिये धुव मरण॥

अर्थात् यदि ग्राम प्रवेशके समय कोई चक्रधर भिक्षु सामने मिले, तो चातुर्मासमें भ्रमण करना पडेगा, पांडुरङ्ग भिक्षु मिले, तो भुखमरी भोगनी पडेगी, बौद्ध भिक्षु मिले तो रक्तपात सहन करना पडेगा और दिगम्बर या श्वेत भिक्षु मिलने पर निश्चित रूपसे मरण होगा ।

इसी प्रकार यह भी महत्त्वपूर्ण है कि पालि साहित्यमे भी पण्डरङ्ग परिव्राजकका उल्लेख मिलता है। इस तथ्यकी ओर मेरा ध्यान प्रो० पी० वी० बापटने आकृष्ट किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि श्वेत भिक्षु श्वेताम्बर जैन साधु नही है। इसके समर्थनमें अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, दीपवंसमें बताया गया ह कि सच्चे बौद्ध भिक्षुओंका तो सत्कार किया जाता है जबकि पण्डरङ्ग भिक्षुओंके सत्कारमें क्षीणता आई है

पहीन-लाभ-सकारा तित्थिया पुथुलद्धिका।
पडरंगा जटिला च निगठाऽचेलकादिका ॥

अर्थात् जिन विविध विचारधाराओंके तीर्थकरोंके सत्कारमे क्षीणता आई है, उनमें पण्डरङ्ग, जटाजूटधारी, निर्ग्रन्थ या अचेलक तीर्थकर आदि समाहित हैं।

विनयपिटककी टीका समन्तपासादिकामें यह स्पष्ट लिखा है कि पण्डरङ्ग परिव्राजक ब्राह्मण-परम्पराके थे। समन्तपासादिकाकी एक टीका, सारत्थदीपनीमें इस विषयकी व्याख्यामे लिखा है कि पडरग परिव्राजक ब्राह्मण जातिके होते हैं। यह दर्शानेके लिए ही ब्राह्मण जातीय पासंडान नामसे उनका उल्लेख किया गया है। यहाँ पण्डरङ्ग आदिको ही पाखण्ड कहा गया है क्योंकि ये सब पाखण्डका जाल फैलाते हैं।

धम्मपद अट्ठकथामें 'पडरग पब्बज्जं पब्बजित्वा' पद आया है। इसका अर्थ ही यह है कि पण्डरङ्ग भिक्षुको बौद्ध भिक्षुकी दीक्षा दी जाती थी।

उपरोक्त चर्चासे यह स्पष्ट है कि पञ्चतन्त्रके ३७६ श्लोकोंमें श्वेतभिक्षु शब्दका अर्थ श्वेताम्बर साधु नही है। ये श्वेत भिक्षु अजैन सम्प्रदायके भिक्षु होते थे जिन्हें पण्डरभिक्षु, पण्डरङ्ग, पण्डुरङ्ग और पण्डरङ्ग परिव्राजक कहा जाता था। पालि साहित्यमें पण्डरङ्गको ब्राह्मण जातीय पाखण्ड कहा गया है जबकि निशीथचूर्णिके समान प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें पण्डरङ्गको आजीवक बताया गया है। इसमें क्या सत्य है, यह एक पृथक् अनुसन्धानका विषय है। पण्डरङ्ग श्वेतभिक्षु आजीवक थे या ब्राह्मण जातीय थे, इसके निर्णयके लिए विशेष प्रमाणोंकी आवश्यकता है।



'पद्मपुराण' और 'मानस' के राम

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे

जैनाचार्य रविषेण कृत 'पद्मपुराण'का जैन साहित्यमें वही स्थान है जो कि हिन्दी साहित्यमें 'रामचरितमानस'का। 'पद्मपुराण' सन् ६७८ ई० में लिखा गया जब कि 'रामचरितमानस' सन् १५७४-७७ के मध्य। सम्राट् हर्ष तथा हर्षोत्तरकालीन परिस्थितियाँ ही रविषेणके समयके परिवेशका निर्माण करती है। हर्षने ४० वर्ष तक शासन किया था। उनकी मृत्यु सन् ६४८ में हुई थी। रविषेणके समयमे ह्युआन-चुआग एव इत्सिग नामक यात्रियोने हमारे देशकी यात्रा की थी और अपने महत्वपूर्ण वृत्तात लिखे थे। तुलसीदास (सन् १५३२-१६२३) के समयमें अकबर और जहाँगीर सम्राट् थे।

आचार्य रविषेण तथा गोस्वामी तुलसीदास दोनो ही रामचरितकी गरिमाका गायन करते हैं। दोनोंने रामकथाकारोको अपनी प्रणति प्रेषित की है। दोनो ही रामाख्यानको प्रश्न अथवा शकासे स्थापित करते हैं। दोनोकी महत्त्वपूर्ण कृतियोमे साम्यकी अपेक्षा वैषम्यके प्राक्धानोका आधिक्य है। दोनो आदिकवि वाल्मीकि के प्रति ऋणी है।

दोनो रचनाकारोका दर्शन एक-दूसरेका विरोधी है। एक वेदनिदक है तो दूसरा वेदोंके प्रति परम निष्ठावान्। रविषेण जहा रामको महापुरुष मानते हुए अपने कर्मके द्वारा मोक्ष प्राप्त करनेवाले भव्य प्राणीके रूपमें निरूपित करते है, तुलसी वहाँ उन्हे मर्यादापुरुषोत्तमके साथ ही साथ परब्रह्म निरूपित करते हैं जिन्होने धर्मके रक्षार्थ अवतार ग्रहण किया। दोनोंके दृष्टिकोणोमे मूलभूत अन्तर होनेके कारण दोनोंकी कथाओमे भी पर्याप्त अन्तर आ गया है। रविषेण अष्टम बलभद्र रामके चरित्रको वर्णित करके जैनधर्मकी चेतनाको पाठको तक सम्प्रेषित करना चाहते है परन्तु तुलसी 'विधि हरि सम्भु नचावन हारे' पर ब्रह्मरूप श्रीरामका चरित्र-गायन करके राम-भक्तिका परमोन्नयन करते हैं। रामकथाको जो उदात्त स्थिति तथा गरिमा तुलसीने दी, वह रविषेणसे सम्भव नही हो सकी। तुलसीने मर्यादाका पालन किया है परन्तु रविषेण कही-कही कामोद्दीपन स्थितिको जन्म देते हैं।

दोनो कृतियोके नायक श्रीराम हैं। 'पद्मपुराण'में उनका नाम पद्म भी है। रविषेणके राम नौहजार रानियोके स्वामी तथा मोहाभिभूत है परन्तु तुलसीके राम एक पत्नीव्रतधारी, तपस्वी और मोहभजक हैं।

दोनोने रामके व्यक्तित्वको अत्यन्त आकर्षक, मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक रूपमें उपस्थित किया है। दोनोने रामको शक्तिके भण्डार और शीलके अतुलनीय निधानके रूपमे प्रस्तुत तथा चित्रित किया है। 'पद्म-पुराण'मे तपोवनकी स्त्रियाँ राम-लक्ष्मणको देखकर मतवाली हो जाती हैं परन्तु 'मानस'की ग्रामवनिताएँ मुग्धावस्थाका वरण करती है। 'पद्मपुराण' या 'पद्मचरित'में रावणका वध रामके हाथो न होकर लक्ष्मणके द्वारा होता है क्योंकि जैन मान्यतानुसार नारायणके हाथो प्रतिनारायणका वध होता है, बलदेवके हाथों नही। राम बलदेव है, लक्ष्मण नारायण और रावण प्रतिनारायण। इसी कारणसे 'पद्मपुराण'में रामका चरित्र लक्ष्मणके समक्ष दबा-सा प्रतीत होता है।

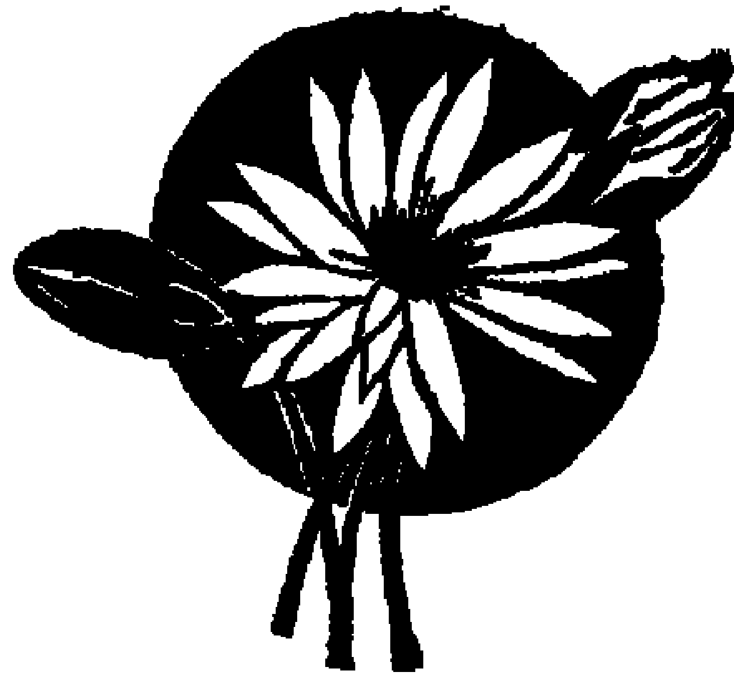
शूर्पणखाकी नाक काटना, बालिको छिपकर मारना आदि कार्य 'मानस'के राम करते हैं परन्तु 'पद्म-पुराण'के राम इनसे स्पष्टतया बचे रहनेके कारण, परवर्ती आलोचनाके पात्र नही बन सके। 'पद्मपुराण'की

भाँति 'मानस'में सीताकी अग्नि-परीक्षाका परवर्ती प्रसङ्ग आगे नही बढ़ पाया। रविषेणके राम अन्तमे केवली होते हैं जब कि तुलसीके रामका अन्त आख्यानमें समाविष्ट नही हो पाया।

तुलसीकी रामकथाके कतिपय पात्र यथा मथरा, शबरी, अनसूया, सम्पाति, वसिष्ठ, विश्वामित्र, शिव, निषाद, काकभुशुण्डि और सुलोचनाको रविषेणने नगण्य स्थिति प्रदान कर दी है। दोनोने ही श्रेष्ठ तथा साहित्यिक सस्कृत तथा अवधी भाषाकी निदर्शना की है। वीर रसके वर्णनमे रविषेण तुलसीसे आगे हैं। 'पद्मपुराण'मे 'मानस'से दुगुनेसे भी अधिक छन्दोका उपयोग हुआ है। रविषेणने कतिपय छन्दोको स्वय निर्मित किया है।

दोनो ही मानव हितार्थ धर्मका विधान करते है। 'पद्मपुराण'मे भारतके सुख-शाति-वैभवकी समन्वित सस्कृतिका वास्तविक चित्र है और 'मानस'मे आदर्शनिष्ठ सस्कृतिका।

'नानापुराणनिगमागमसम्मत यद्रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि'के आधारपर यह अनुमान है कि शायद तुलसीने 'पद्मपुराण'को भी देखा हो। यह तो नही कहा जा सकता कि रविषेणने तुलसीको प्रभावित किया था परन्तु, चूँकि, जैन कवि बनारसीदास उनके परिचित मित्र थे, अतएव, उनके माध्यमसे तुलसीने 'पद्मपुराण'की कतिपय उक्तियाँ सुनी या पढ़ी हो। तुलसीपर जैनधर्मका कोई प्रभाव नही पडा।



जैन धार्मिक साहित्यमें उपमान और उपमेय

डॉ० अमिताभकुमार, खिमलासा, सागर, म० प्र०

स्थूल जगत्के पदार्थोंके उदाहरणोके माध्यमसे गम्भीर, गूढ या आध्यात्मिक जगत्के तथ्योको बोध-गम्य बनानेकी परम्परा अति प्राचीन हैं। साहित्य जगत्के लिए यह प्रक्रिया जहाँ साहित्यकारके गम्भीर अनुभव, परीक्षण और चिन्तनका भान कराती हैं, वही यह साहित्यमें रोचकता और लालित्य भी उत्पन्न करती हैं। इस प्रक्रियाको साहित्यका अलङ्करण माना जाता हैं। अलङ्कारपूर्ण साहित्यमे कालिदासका नाम अग्रणी माना जाता है, 'उपमा कालिदासस्य'। साहित्यके क्षेत्रमे इस आलङ्कारिकताकी पर्याप्त विवेचना और समीक्षा होती रही है। ऐसा प्रतीत होता हैं जैसे भाषा और भावोका अलङ्करण साहित्यके क्षेत्रमे ही सीमित मान लिया गया हो। वस्तुत यह तथ्य नही हैं। विभिन्न धर्मग्रन्थोके अवलोकनसे यह पता चलता हैं कि उनमे भी अध्यात्मक सिद्धान्तो और तत्त्वोकी रोचक व्याख्या इसी माध्यमसे की जाती है। सामान्यत यहाँ गूढ सिद्धान्त या तथ्य उपमेय कहा जाता है और जिस उदाहरणसे उसका विवरण समझाया जाता हैं उसकी तुलना की जाती हैं, वह उपमान या उपमा कहा जाता हैं। धार्मिक तत्त्वोके व्याख्यानमे प्राय उपमाका ही उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक साहित्यिक अलङ्कार होते हैं पर उनका उपयोग धार्मिक साहित्यमे विरल ही होता हैं। इस लघु लेखमें मैंने जैनोके एक प्राचीन धार्मिक ग्रन्थके उपमान-उपमेयोका सक्षिप्त विवरण देनेका प्रयत्न किया है जिसमे यह भी बताया गया है कि विभिन्न उपमानोंके आधारपर उपमेयोके किन गुणोका अनुमान लगता है और ये उपमान आध्यात्मिक तत्त्वोको समझानेके लिये कितने उपयुक्त हैं। धार्मिक साहित्यमे इनके विस्तार व विकासकी प्रक्रियाका अध्ययन और विवेचन एक रोचक अध्ययन क्षत्र प्रमाणित हो सकता हैं।

धार्मिक ग्रन्थका चयन अष्ट पाहुड

जैन ग्रन्थोमे आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थ पर्याप्त प्राचीन माने जाते हैं। ये ईसाकी पहली सदीमे लिखे गये थे। यह कहा जाता है कि उत्तम पद चाहनेवालोको इन ग्रन्थोका सूक्ष्म एव गहन अध्ययन करना चाहिये। पूज्य वर्णी जी प्राय **समयसार** पर ही प्रवचन करते थे। पिछले कुछ वर्षोंसे समयसारने भिन्न-भिन्न मतवादोको जन्म दिया हैं और प्रत्यक्षत समाजके विशृङ्खलित करना प्रारम्भ किया है। यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि जिस ग्रन्थमे आत्माको परमात्मा बनानेकी प्रक्रियाको तत्त्वस्पर्शी निरूपण किया गया हो, वही आत्मधार्मियोके विशृङ्खलनका कारण बन रहा हैं। समाजके धर्मगुरुओको समयसारकी इस व्यथाको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

'समयसार' की इस दयनीय स्थितिके कारण मैंने उसे अपने इस लेखका विषय बनाना उचित नही समझा। इसके बदले, उसीके समकक्ष आ० कुन्दकुन्दके एक अन्य ग्रन्थ **अष्टपाहुड**को मैंने अपने अध्ययनके लिये चुना है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि यह अध्यात्मसे सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रोको समाहित करता हैं। इसमे निरूपित उपमान-उपमेयोका विवरण प्राय सभी धार्मिक एव आध्यात्मिक मन्त-व्योका समाहरण करता है। सोलहवी सदीके टीकाकार श्रुतसागर सूरिके समयमें इसके छह प्राभृत ही

उपलब्ध रहे होंगे । पर बादमें दो प्राभृत (लिंग और शील प्राभृत) और उपलब्ध हो गये, फलत यह अष्टप्राभृत अष्ट पाहुड हो गया । इसीलिये अन्तिम दो प्राभृतों पर श्रुतसागरने टीका नही लिखी ।

इस टीकाके पर्याप्त उत्तरवर्ती होनेके कारण यह प्राय समस्त उपमेयों और उपमानोका समाहार करते हुए लिखी गई है । इसलिये यह हमारे अध्ययनकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी है । इन उपमानो और उपमेयोंका उपयोग अन्य अनेक ग्रन्थोंमें भी मिलता है । इस टीकायुक्त अष्ट पाहुडका हिन्दीमे अनूदित एक सस्करण महावीरजी संस्थानसे प्रकाशित किया गया है । यही सस्करण इस लेखका आधार है ।

विभिन्न प्रकारके उपमेय

धार्मिक तथ्योंके वर्णनमें प्राय चार दर्जनसे अधिक उपमेयोका उपयोग होता है । इनका विवरण सारणी १ में दिया गया है । इन उपमेयोंके अन्तर्गत धर्म-कर्म, सम्यक्त्व, ज्ञान, आत्मा और जीव, ससार, मोक्ष, राग, तप, विषय और पाप आदि समाहित होते हैं । सारणीसे यह भी प्रकट है कि कर्म, सम्यक्त्व, ज्ञान, संसार, शरीर, विषय, राग, मुनि और तप जैसे महत्त्वपूर्ण उपमेयोंके लिये अनेक उपमानोका उपयोग किया गया है । यही नही, अनेक उपमेयोंके लिये भी एक ही उपमानका उपयोग किया गया है । उदाहरणार्थ, आत्मा और कर्म-दोनोका उपमान राजा है । इसी प्रकार धर्म, मोह, ससार, पुनर्जन्म, रत्नत्रयके लिये वृक्षको उपमान बनाया गया है । इससे यह प्रकट होता है कि अनेक उपमेयोके लिये एक उपमानका उपयोग विशेष विशेष गुणोके महत्त्वको प्रदर्शित करता है । यही नही, इस तथ्य को सामान्य ही मानना चाहियेकि प्रत्येक उपमेयके लिये प्रयुक्त उपमानका विशिष्ट गुण ही समीचीन अर्थका द्योतन करता है । उपमानके सभी गुण उपमेय पर अनुप्रयुक्त नही होते । फिर भी, अनेक उपमानोके कारण सामान्य भ्रान्ति, द्विविधा तथा विपर्यास होता है । क्योकि वे तथ्योंके तत्त्वको उतनी सूक्ष्मता तक ग्रहण नही करा पाते जितना अभीष्ट है ।

विविध प्रकारके उपमान

सारणी २ में प्रदर्शित अनेक उपमानोकी सूचीको देखने पर प्रकट होता है कि प्राय पांचसे अधिक दर्जन उपमान धार्मिक तत्त्वोको समझानेके लिए प्रयुक्त किये गये है । समग्रत इन्हे पाँच कोटियोमें वर्गीकृत किया जाता है । इनमें अनेक उपमान प्राकृतिक वस्तुए और घटनायें हैं । अनेक उपमान सामान्य वस्तुओंके रूपमें हैं । ग्रह और धातुतत्त्वोंने भी कुछ उपमानोका रूप लिया है । कुछ उपमान भावात्मक अनुभूतियाँ भी हैं । इन उपमानोके आधार पर विभिन्न धार्मिक उपमेयोका विवरण सजाना वास्तवमे एक मनोरजक बौद्धिक व्यायाम होगा । इन उपमानोकी विविधतासे एक तथ्य तो स्पष्ट होता ही है कि जैनाचार्य उत्कृष्ट कोटिके प्रकृति निरीक्षक थे । वे अनेक प्रकारकी प्राकृतिक घटनाओ एव वस्तुओके विशेष विशेष गुणोका ज्ञान रखते थे । सारणी ३ में इन्हे सक्षेपित किया गया है । इनके माध्यमसे मनोवैज्ञानिक रूपसे आध्यात्मिक तत्त्वोकी गूढताको सहज बोधगम्य बनानेकी कलामें पारङ्गत थे । इस विवरणमे हम केवल तीन बहु-उपमानी उपमेयो पर विचार कर कुछ उपपत्तियाँ प्रस्तुत करेंगे ।

संसारके उपमान

जैन दर्शनमे दो प्रकारके जीव बताये गये है—ससारी, दृश्य जगत्के निवासी और मुक्त-अदृश्य लोकके निवासी । ससारी जीवोके जीवनका चरम लक्ष्य दृश्य लोकको छोडकर अदृश्य लोकमें पहुँचना बताया गया है । इसीलिये अदृश्य लोकको लक्ष्मी, प्रिया या राजमहलके उपमानोंसे निरूपित किया गया है । निश्चित ही, ये तीनो उपमान सासारिक जगत्के लिये आकर्षण हैं । ये अतिश्रम, अर्थोपार्जन एव प्राकृतिक विशिष्टताओंके कारण प्राप्त होते हैं । ससारी जीवका सामान्य जीवन ही इनके चारो

और घूमता है। इनकी प्राप्ति जीवनमें एक विशेष प्रकार की सार्थकताका आभास करती है। इन्हें पुण्य और पूर्वजन्मका फल बताया जाता है। जब ये वस्तुयें संसारमें ही मिल सकती हैं, तब अदृश्य लोककी क्या आवश्यकता ? इसलिये अदृश्य लोकको ससारसे विलक्षण होना ही चाहिये। यह बताया गया है कि इस लोकमें चिर-स्थायित्व है, जबकि ससार अपने जन्म-मृत्युके कारण क्षणस्थायी है। यद्यपि ये उपमान भी चिरस्थायी नहो, पर इनके स्थायी रूपसे मिलनेकी कल्पनामें एक विशेष सन्तोष व सुखकी अनुभूति सहज ही होती है। इसका कारण यह है कि इस जीवनमे इन वस्तुओंसे प्राप्त होनेवाले क्षणिक सुखोंसे हम परिचित हैं। ये हमें सदैव क्रियाशील एव गतिशील बनाये रखते है। फलत अदृश्य लोक या मुक्तिके इन उपमानोसे हमें उनके भौतिक अस्थायित्वके गुणकी ओर नही, अपितु उनके सौन्दर्य, उनके प्रति अनुरक्ति और उनसे प्राप्त होने वाले सहज एव महिमामण्डित सुखके गुणकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसलिये मुक्तिकी तुलनामें ससारके लिये ऐसे उपमान दिये गये है जिनमें सुखानुभूति नहीं होती। इन उपमानोकी सख्या सात है। ससार सताप है। सताप शब्द सुनते ही दु खका भान होता है। ससारको समुद्र भी बताया गया है। यह अगाध होता है, गहन होता है और असीम होता है। उसको पार करना कठिन होता है। केवलज्ञानी जन ही इस समुद्रको पार कर सकते है। यह उपमान ससारकी असीमता, गहनता और उससे पार होनेकी जटिलताका बोध कराता है। यहाँ समुद्रसे रत्नोकी प्राप्तिको कोई महत्त्व नही दिया गया है क्योकि यह सुखकर प्रतीतिका मूल है। फलत समुद्रका नाम सुनते ही जो एक विशेष प्रकारकी अरुचिकर अनुभूति होती है, वह ससारका प्रतीक है। समुद्रमे भँवर, तूफान आदि भी उठते हैं। ये भी कष्टकर होते है। शान्त समुद्रसे तो एक बार बचा भी जा सकता है पर भँवर व तूफानोंसे निकलना और भी दुष्कर है। भँवर और तूफानोकी विकरालता एव जटिलताकी कल्पना ही की जा सकती है। भँवरके उपमानसे ससारकी विकरालता प्रकट होती है।

ससारके लिये वन, वृक्ष, लता और अङ्कुर उपमानोका भी उपयोग किया गया है। वस्तुत ये प्राकृतिक पदार्थ है। इनकी हरियाली एव नवजीवन देखते ही बनते हैं। बहुतेरे महापुरुषोने अनेक वनों और वृक्षोको अपने विहारसे पवित्र किया है और उनके तले बोधि प्राप्त की है। वृक्ष और वन सन्यासके आयतन है। ये हमारे जीवनके रक्षक हैं। ये हमे बरसात लाते है। औषधियाँ, खाद्य और आवास देते हैं। इस प्रकार वन और वृक्ष हमारे लिये पर्याप्त सुखकर अनुभूतिके साधन हैं। सम्भवत, ससार भी हमें अनेक प्रकारसे ऐसी अनुभूति करता है। लेकिन इस अनुभूति के साथ वनमें विकरालता भी होती है। उसमे जङ्गली जानवर, अत्यन्त कटीले वृक्ष और लताएँ होती हैं। इसमें शत्रुओ और डाकुओंकी भी सम्भावना है। एक बार वनमें प्रविष्ट होने पर उससे निकलना बडा कठिन होता है क्योंकि वहाँ प्रशस्त पथ नही होता। अनेक पगडण्डियाँ होती है और मनुष्य भूलभुलैयामें फँस जाता है। वनोका यह कुरूप ही ससारके उपमानके रूपमें प्रकट किया गया है। बाह्य आकर्षण और किंचित् बाह्य सुखानुभूतिकी कामनासे उसके अन्दर प्रवेश करना एक ऐसे चक्रमे फँसना है जहाँ दिशाबोध न हो। वस्तुत ये प्राकृतिक और सघन वन हैं जहाँ यह स्थिति स्वाभाविक हो सकती है। आजके मानव निर्मित वनोमें ऐसी स्थिति नही होती। लेकिन ससाररूपी वनमे तो कर्मरूपी शत्रु सदैव रहते है। इन्हें जीतनेके लिये ज्ञान, भावना, क्षमा, ध्यान एव चरित्ररूपी शस्त्रोंका उपयोग करना पडता है।

ससारको वृक्षकी उपमा भी दी गई है। वृक्षकी जडें तो सूक्ष्म, अदृश्य और दूर-दूर तक फैली रहती है। वे उसकी भीतरी शक्तिकी प्रतीक हैं। वृक्षका तना भी मजबूतीका द्योतक है। वृक्षका ऊपरी रूप उसके विस्तार और शोभाका द्योतक है। इसी प्रकार ससारके आकर्षणकी शक्ति प्रचण्ड होती है और उसमें

आकर्षण भी असीम होता है। इस ससाररूपी वृक्षको ध्यानरूपी कुठारसे ही छेदा जा सकता है। ससार-रूपी वृक्षकी छाया सामान्य एव थके हुये मनुष्यको जो शान्ति देती है, वह यहाँ अभिप्रेत नही है। वस्तुत यह शान्ति ही इसका आकर्षण है। अदृश्य लोकमें इससे अधिक एव चिरस्थायी शान्ति होती है। अत उसे ही जीवनका लक्ष्य माना गया है।

संसारको अङ्कुर और लताकी उपमा भी दी गई है। वास्तवमें, ये दोनो ही जीवनकी मधुरताके प्रतीक हैं। लेकिन ऐसा माना जाता है कि ससारमें बने रहनेके दो कारण होते है—कर्म और मोह। कर्म-बीजसे संसार अङ्कुर उत्पन्न होता है और मोहबीजसे ससार लता उत्पन्न होती है। ऐसा भी माना जाता है कि कर्मबीज और मोहबीजके नष्ट होने पर ससाररूपी अङ्कुर और लता उत्पन्न ही न हो सकेगी। पर यदि ये उत्पन्न हो ही गये, तो इन्हें भावनारूप कुदाली या ध्यानरूपी अग्निमे नष्ट करनेका यत्न करना चाहिये। यदि जैनधर्म भावप्रधान है, तो अङ्कुरों और लताओंको नष्ट करनेका उपदेश अहिंसक दृष्टिके विपरीत जाता है। सम्भवत यही कारण है कि इन अङ्कुरो और लताओंको मूलत नष्ट करनेका साहस एक लाखमेंसे लगभग पन्द्रह व्यक्ति ही जुटा पाते हैं। ये अपने उद्देश्यमे कितने सफल होते है, यह इसलिये नहीं कहा जा सकता कि पञ्चम और षष्ठ कालमे मुक्ति योग्य क्षमता आगम निषिद्ध है। फिर भी, यह मानना चाहिये कि ससारके इन उपमानोंमे इसकी ऐसी दुखमयता व्यक्त नही होती जैसी अनेक प्रवचनो और ग्रन्थोंकी व्याख्याओमें पाई जाती है। लेकिन ससारका उत्तम सुखका स्थान भी कैसे कहा जा सकता है ?

शरीरके उपमान

आत्मिक उत्थानकी प्रक्रियाको विकसित करनेके लिये यह आवश्यक है कि वर्तमान जीवन और उसके आधारभूत शरीरके प्रति घृणा उत्पन्न की जावे। इस दृष्टिसे शास्त्रोंमें शरीरके विवरण मे अत्यन्त अरुचिकर भाषाका उपयोग किया गया है। इसे अनेक मल पदार्थोंसे भरा तथा अशुचि बताया है। इसे घट, कुटी और झोपडीकी उपमा देते हुए बताया है कि इसमे रुचिकर वस्तुओकी अपेक्षा घृणा योग्य वस्तुये भरी हुई हैं। इसकी उत्पत्ति हिंसक माध्यमोंसे हुई है। इसके एक-एक अङ्गमे ९६ रोग होते है और मृत्युरूपी हाथी इस पर सदैव वार करता रहता है। शरीरके माध्यमसे मनुष्य महा-दुखमय विषय सुखमे फँसा रहता है। सामान्य शरीर जीवित अवस्थामे शवके समान गर्हणीय है। यह हमारे सारे कष्टोंका मूल है। अत इसे परिग्रहके समान छोड देना चाहिये। एक ओर जहाँ शरीरको घृणास्पद बताया गया है, वहीं दूसरी ओर उसे धर्म साधनका अङ्ग भी बताया गया है। वस्तुत, शरीरकी जितनी निन्दा की गई है, उतना वह है नहीं, इसलिये सदियोंसे मुखरित होने वाली महापुरुषोकी पवित्र वाणियाँ सामान्य जनके कान छूती हुई चली आ रही है और हमारा जीवन तथा ससार सुखमय बननेके बदले दुख-बहुल बनता-सा दीखता है। यदि शरीरके प्रति इतनी गर्हणीयताका उपदेश न दिया गया होता और उसे व्यक्ति और समाजकी प्रगति करनेकी क्षमताके माध्यमसे वर्णित किया गया होता, तो शायद हमारा समाज अधिक उन्नत नैतिक धरातल पर होता। शरीर सम्बन्धी उपमानोंसे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार घट, झोपडी, कुटी और परिग्रह हमारे जीवनमें अनेक प्रकारसे उपकारी होते है, उसी प्रकार हमारा शरीर भी हमारे लिये तथा मानव-जातिके लिये अनेक प्रकारके सुखमय विकासमे सहायक है। इसमे भरी अपवित्र वस्तुयें तो प्रकृति स्वय निकालती रहती है और इसे शुद्ध जीवनदायी रुधिरसे भरती रहती है। स्वस्थ शरीरसे ही स्वस्थ विचार और प्रवृत्तियाँ सम्भव है। इसलिये हमें इन उपमानोंके आधार पर

शरीरके विषयमें कुछ उदार दृष्टिसे विचार कर अपना जीवन उन्नत करना चाहिये ।

तपके उपमान

आध्यात्मिक जीवनके विकासके लिये सामान्य जीवनमें तपका बडा महत्त्व है। तप एक अग्नि है जो हमारे बाहरी और भीतरी तन्त्रका सोनेके समान शुद्ध बनाती है। उपवास आदि बाह्यतप हमारे शरीर तन्त्रको स्वस्थ एव स्वच्छ बनाये रखते हैं। आलोचना, प्रतिक्रमण आदि हमारे अतरगमें ऐसे गुणोका विकास करते हैं जो स्वस्थ और विकासशील समाजकी सुखमयताको बढाते हैं। इन दोनो ही प्रकारकी प्रक्रियाओसे जीवनमे एक विशेष प्रकारका स्फूर्ति, सजीवता एव आनन्दकी अनुभूति होती है। ऐसे आनन्दकारक तत्त्वको रत्न कहा जाना उपयुक्त ही है। तपस्वी जीवन व्यक्ति-शोधक तो है ही, यह हमारे सामाजिक वातावरणको भी शुद्धि करता है। इसे सूपा और धौकन्नी भी बताया गया है। इसका अर्थ यही है कि जैसे ये उपकरण अशुद्ध वस्तुओको शुद्ध करनेमे काम आती है (सूपासे धान्यसे तुष दूर किया जाता है, धौकनीस अशुद्ध लोहेसे किट्टिम निकालकर शुद्ध लोहा प्राप्त किया जाता है), उसी प्रकार तप भी एक साधन है जो हमारी अशुद्ध प्रवृत्तियोको नियन्त्रित करता है और हमे शुभ प्रवृत्तियोंका ओर प्रेरित करता है। यदि हम मानवकी विभिन्न प्रवृत्तियोको कर्मसिद्धान्तके आधार पर कर्म कण माने, तो हमारी तपस्वी वृत्ति हमारे अरुचिकर कर्म कणोको धोकनीके समान जला सकती है अथवा सूपाके समान उडा सकती है। इस आधार पर तपक चारा ही उपमान उसके गुणोकी व्याख्या करते है। इसके विपरीत, ससार और शरीरके उपमान हमे दोनोस ही घृणा करने को प्रेरणा देते है। वस्तुत यदि ससार और शरीर न रहे, तो तपका अस्तित्व ही कहा होगा ?

इस प्रकार विभिन्न उपमेयोके लिये प्रयुक्त उपमानोको समीक्षित करने पर यह ज्ञात होता है कि सामाजिक क्षेत्रसे सम्बन्धित सभी उपमेयोके उपमानोमे एक विशिष्ट प्रकारको वृत्तिका आभास होता है। इसलिये समाजने इनको स्वीकार नही कर पाया है। कबीरने इस स्थितिको देखकर ही कहा था कि मेरी बात कोई नही सुनता। वास्तवमे, बहुतेरे उपमान तो बीसवो सदीके विवेकी समाजमे अत्यन्त ही उपेक्षणीय लगते है। स्त्रीको नागिन, राग और स्नेहको पिशाच, युवावस्थाको गहन ताल, गृहस्थको तपे हुए लोहेका गोला, अभव्यको उल्लू इत्यादि कहना सम्बन्धित उपमेयोकी उपयोगिताके प्रति उपेक्षावृत्ति जगाना है। यह समाजके विकासके लिये हितकर वृत्ति नही है।

इसके विपरीत, धर्म और मुक्तिको वल्लभा, सम्यक्त्वको रत्न, वैराग्य आदिको सम्पदा, रत्नत्रयको बोधिवृक्ष, वैयावृत्यको सरोवर, ज्ञानको सूर्य आदिके उपमान अनेक प्रकारसे उपयुक्त हैं पर चूँकि सामान्य जन तो दृश्य जगत्से ही प्रभावित रहता है, अत उसने उपमेयोंके बदले उपमानोकी ही आराधना प्रारम्भ कर दी है। वह जीवन मूल्योको प्रस्फुटित करने वाले उपमेयोको भूल ही गया। यह वर्तमान समाज के लिये कितनी विडम्बना स्थिति है कि जहाँ हमें रहना है, उसे उपेक्षणीय बना ले और जहा हमें रहनेकी कल्पनात्मक लालसा जगाई जा रही है, उसे सब कुछ मान लें। इस स्थितिसे ही मानव सदासे द्विविधामे रहा है। बीसवी सदीके धर्मगुरुओ तथा तत्त्वज्ञानियोंसे यह आशा की जाती है कि वे इस द्विविधाजनक स्थितिमे समुचित मार्ग दर्शन करेंगे।

सारणी १ धार्मिक उपमेय और उपमान

उपमेय	उपमान
१ धर्म	वृक्ष, महल, लक्ष्मी, चक्र

२. आत्मा	राजा, स्फटिकमणि, नमककी डली, ऊर्जा तिलमें तेल, दूधमे घी, काष्ठमें अग्नि
३. जीव	चाक, शिल्पिक, लोहा
४ कर्म	कीट, विष, चक्र, बीज, शत्रु मल, वज्र, इंधन, रज, जंजीर, राजा
५ सम्यक्त्व	रत्न, जल, कोरा घडा, सूर्योदय, लक्ष्मी, चिन्तामणिमाणिक्यकिरण, मेरुपर्वत, हाथ, जड, नीव
६ सम्यकज्ञान	जल, धन, सूर्य, शस्त्र, रथ, कुदाली,
७. ज्ञानी	स्वर्ण, कीचडमे सोना, श्वेतशख
८ ससार	वन, लता, अकुर, सागर, सताप, भँवर, वृक्ष
९ शरीर	घट, परिग्रह, शव, झोपडी, कुटी
१० पुण्य	पैर
११ मोक्ष	महल, प्रिया
१२ कषाय	योद्धा-शत्रु
१३ पाप	कलक, धूलि, अन्धकार
१४ स्त्री	वृक्षोका सघनवन, नागिन
१५ यौवन	गहन ताल
१६ विषय	सुख, विष, विषपुष्प, समुद्र, गन्नेका छिलका
१७ बुद्धि	नौका
१८ जरा, मरण	व्याधि, वेदना
१९. ध्यान	दीपक, कुठार
२० माया	महालता
२१ मोह	महावृक्ष
२२. राग	वायु, झञ्झावात, पिशाच
२३ रोग	अग्नि
२४ पुनर्जन्म	वृक्ष
२५ भक्ति	तैल
२६ मृत्यु	हाथी, अग्नि
२७ वैराग्य	सपदा
२८ चरित्र	जल, खड्ग, अग्नि
२९ भावना	कुदाली
३० सयम	सग्राम
३१ मुनि	चन्द्र, भ्रमर, कुलपर्वत, समुद्र, आकाश
३२ गृहस्थ	तपे हुए लोहे का गोला।
३३ अज्ञानी	कीचडमे पडा हुआ लोहा
३४ मिथ्यात्व	कन्दमूल, मल, अन्धकार, मलिन वस्त्र
३५ तप	अग्नि, सूपा, जीवन, समुद्रके रत्न, धौंकनी

३६	क्षमा	तलवार
३७	वैयावृत्य	सरोवर
३८	रत्नत्रय	बोधिवृक्ष
३९	आस्रव	तैल
४०	जिनवचन	औषध
४१	कर्मबन्ध	तरुणी स्त्री-पुरुषसयोग
४२	कर्मके विविध रूप	आहारके विविध पाक
४३	कर्म बन्ध पाक	पके फलका गिरना
४४	इन्द्रिय	द्वार
४५	अभव्य जीव	उल्लू
४६	समता सुख	मछलियाँ
४७	कोमलता	मालती पुष्प
४८	ओष्ठ	बिंबफल
४९	नेत्र	कमल
५०	चरण	कमल
५१	मुख	चन्द्र
५२	शास्त्र, जिनवचन	औषधि, अमृत, महासागर

सारणी २. विभिन्न उपमानोंका वर्गीकरण

१ प्राकृतिक वस्तुएँ और घटनाएँ		२ सामान्य वस्तुएँ	
जल	सरोवर, गहन ताल	मल	शिल्पिक
वृक्ष, बोधिवृक्ष, महावृक्ष	झझावात	कीच, कीट	चाक
लता, महालता	भवर	इंधन	सूपा
अङ्कुर	समुद्र	तैल	धौकनी
कमल	रत्न	महल	दीपक
वन, सघनवन	स्फटिकमणि	लक्ष्मी, प्रिया	चक्र
विषपुष्प	वज्र	कुटी, झोपडी	धन, सम्पत्ति
कन्दमूल	मेरुपर्वत	विषकुम्भ	नागिन
विष	श्वेतशाल	राजा	कुठार
	अन्धकार	योद्धा, शत्रु	शस्त्र, कुदाली
		नौका	
३ धातुएँ	**४ भावात्मक उपमान**	**५ ग्रह**	छिलका
नाग	व्याधि	सूर्य	घट
वज्र	वेदना	चन्द्र	विविधमणि
सुवर्ण	सुख	पिशाच	नमक, क्रिस्टल
लोह			

सारणी ३. धार्मिक तत्त्वोंके लिये उपमान

उपमान		गुण	उपमेय
१.	जल	प्रवाह व प्रक्षालन गुण	सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र
२	वृक्ष	प्राकृतिक आकर्षण, विशालता	धर्म, मोह, पुनर्जन्म, ससार
	वन, सघन वन	प्राकृतिक आकर्षण, भुलभुलैया	ससार, स्त्री
	लता, महालता	परजीविता	ससार, माया
३	समुद्र	अनन्त विस्तार, गहराई, रत्न	ससार, मुनि, विषय
४	रत्न	शोभा, बहुमूल्यता, कठोरता	तप, सम्यक्त्व
५	स्फटिकमणि, माणिक्य, नमक	चिन्तामणि, शुद्धता, क्रिस्टल	बहुमूल्यता
६	शत्रु	युद्ध करना, जीतना	कर्म, कषाय
७	महल	निवास स्थान, विस्तार, सौन्दर्य	धर्म, मोक्ष
८	लक्ष्मी, प्रिया	चाहनेकी इच्छा, सौन्दर्य, अनुरक्ति	धर्म, मो ।
९	राजा	सामर्थ्य	कर्म आत्मा
१०	शस्त्र, कुदाली तलवार, खड्ग	छेदन, भेदन, शत्रु-दलन	ज्ञान, भावना, क्षमा, ध्यान चरित्र
११	विष, विषपुष्प	विपाकतता, बाधक	कर्म, विषय
१२	धूलि, मल, रज, कीट कलङ्क	सूक्ष्मता, चिपकनेकी क्षमता निराकरणीयता	कर्म, मिथ्यात्व, पाप
१३	अन्धकार	अदृश्यता	मिथ्यात्व, पाप
१४	अग्नि	जलाना, जलना, ऊर्जा सर्वभक्षण	रोग, मृत्यु, चरित्र, तप
१५	इंधन	जलानेका गुण	कर्म
१६	तेल	स्निग्धता	भक्ति, आस्रव

कवि पद्मानन्दका वैराग्य-शतक

डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री, भोपाल, म० प्र०

पद्मानन्द श्रेष्ठ जैन कवि थे। उनका वैराग्यशतक सुप्रसिद्ध न होते हुए भी संस्कृतके मुक्तक शतक-काव्योंकी परम्परामें उत्कृष्ट स्थान रखता है।

प्राचीन वैदिक लोगोंका लगाव सप्त और शत इन दो संख्याओंकी ओर अधिक था। संहिताओंमें सप्तच्छन्दोसि, सप्तर्षय, सप्तरश्मि, सप्तहोतार, सप्त परिधि जैसे बहुतसे सप्तपूर्व पदवाले नामोंके साथ शतक्रतु, शतकाण्ड, शतपथ और शतशारद जैसे ढेरसे शतपूर्वक संज्ञा-शब्द प्राप्त होते हैं। ऐसा लगता है कि ये संख्यायें साहित्यमें समादृत हो गयी थी और समाजमें भी उनको विशेषता दी जाती थी। विवाहकी सप्तपदी, मैत्रीकी सप्तपदीनता, लोकोकी सप्त संख्या, धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोकी कल्पना, 'शत वद मालिख' जैसी कहावतें ये सब इसी बातकी पोषक हैं। आधुनिक हिन्दी भाषा तकमें यह बात कहावतोके रूपमें देखी जा सकती है। इसीलिये भगवद्गीता, दुर्गासप्तशती, गाहासत्तसई और आर्यासप्तशतीमें यदि इन दोनो संख्याओं का समुच्चय मिलता है तो कोई आश्चर्यकी बात नही। इनके अनुकरण पर हिन्दीमें बिहारी सतसई और मतिराम सतसई जैसी उत्तम कृतियां प्रकाशमें आयी। सप्त और शतके बाद यदि कोई अन्य संख्या अधिक लोकप्रिय थी तो वह थी त्रि (तीन)। वैदिक संहिताओंमें ही नहीं, धर्म और दर्शनके क्षेत्रमें भी यह संख्या बहुत प्रिय हुई। साहित्यकी त्रिशतियाँ इसीका परिणाम हैं। भर्तृहरिकी शतकत्रयी, पण्डितराजकी विलासत्रयी (भामिनी-विलास) आदि इसके उदाहरण हैं।

काव्यके क्षेत्रमें शतकोका प्रारम्भ अमरुशतकके साथ हुआ। बादमें तो शृंगार-शतकोंकी परम्परा ही चल निकली। बहुतसे दूत-काव्य भी वस्तुतः शतक काव्य ही है। इस पद्धतिकी रचनाओंमें कुसुमदेवका दृष्टांत-कलिका-शतक, कामराज दीक्षितकी शृंगारकलिका त्रिशती, मूक कविके शतक-पंचक, वीरेश्वरका अन्योक्तिशतक, नरहरि, जनार्दन भट्ट, धनराज एवं रुद्रभट्टादिके शृंगार-शतकोके अतिरिक्त स्तोत्र, भाव, नीति, उपदेश, अन्योक्ति और काव्यभूषण जैसे विषयो पर दर्जनो मुक्तक शतक काव्य मिलते हैं, यहां तक कि खड्ग-शतक भी।

शतक काव्योकी परम्परामें वैराग्य-शतकोका विशिष्ट स्थान है। अप्पय दीक्षित, धनद एवं जनार्दन भट्ट जैसे अनेक कवियोने वैराग्य-शतककी रचना की। यो तो सोमप्रभाचार्यकी सूक्तिमुक्तावली, जम्बूगुरुका जिनशतक, गुमानी कविका उपदेशशतक आदि भी इसी कोटिकी रचनायें है। फिर भी वैराग्यशतक नामसे जो संस्कृत काव्य उपलब्ध होते है उनमें पद्मानन्दका वैराग्यशतक शुद्ध साहित्यिक दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण रचना है। वैराग्यपरक काव्योमें जैन कवियोकी देनका यो भो विशिष्ट स्थान है। वैदिक-पौराणिक परम्पराके कवि प्राय नीति, शृंगार और वैराग्यकी त्रयीको साथ लेकर चले हैं। उनकी दृष्टिमें कुमार, युवा और जरठ वयके लिये पृथक् रुचिके काव्यकी आवश्यकता थी। ये कवि गृहस्थ थे और जैसा कि वैदिक परम्परामें रहा है, गृहस्थाश्रमको जीवनका केन्द्र-बिन्दु मानकर चले हैं। इसलिये वैराग्य-काव्य लिखते हुए भी वे नीति और शृंगारमें अधिक डूबते दिखायी देते हैं। भर्तृहरि इसके अपवाद हैं। इन कवियोने वैराग्यपरक रचनायें प्राय अन्तिम वय में की जो वैराग्यपरक कम और भक्तिपरक अधिक है। जैन कवियोका पथ इससे भिन्न रहा

है। जैन कवि सामान्यतया साधु या मुनि थे, घरबारसे विमुक्त उनका सघर्ष मानसिक था। वे मार, मन और इन्द्रियोंके लौल्यके विरुद्ध सक्रिय सघर्षमें रत थे। इसीलिये उनकी वैराग्योक्तियोंमें अधिक तन्मयता और ईमानदारी परिलक्षित होती है। जैन कवियोंका वैराग्यवर्णन कोरा बौद्धिक विलास नही है। यह उनकी साधनाका एक प्रमुख अंग है और पद्मानन्द इसी साधनाके कवि हैं।

कवि पद्मानन्द नागपुर या उसके समीपस्थ किसी स्थानके रहने वाले थे। इनके पिता श्रेष्ठी श्री धनदेव ने अपने गुरु श्री जिनवल्लभके उपदेशोसे प्रेरित होकर नागपुरमें श्री नेमिनाथका मन्दिर बनवाया था। निश्चित ही ये श्रेष्ठ विद्वान् भी रहे होगे। स्वय उन्होने कहा है—

सिक्त श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरो शान्तोपदेशामृतै,
श्रीमन्नागपुरे चकार सदन श्रीनेमिनाथस्य य।
श्रेष्ठी श्रीधनदेव इत्यभिधया ख्यातश्च यस्याङ्गज-
पद्मानन्दशत व्यधत्त सुधियामानन्द-सपत्तये।

उनका काल १७वो शती ईसवीके बादका जान पडता है। वे शाकिनी आदि तान्त्रिक शब्दोसे परिचित हैं। उन्होने जयदेव, भर्तृहरि और पण्डितराजको पढा था और इन पर उक्त कवियोकी यत्र-तत्र छाया भी है। शतकके अन्तमे वे कहते है कि जो आनन्द मेरे शतकको सुनने में है, वह न तो पूर्णेन्दुमुखीके मुख में है, न चन्द्रबिम्बके उदय मे है, न चन्दनके लेप में है और न अगूरका रस पीने में है —

सपूर्णेन्दुमुखीमुखे न च न च श्वेताशुबिम्बोदये,
श्रीखण्डद्रवलेपने न च न च द्राक्षारसास्वादने।
आनन्द स सखे न च क्वचिदसौ किंभूरिभिर्भाषितै,
पद्मानन्दशते श्रुते किल मया य स्वादित स्वेच्छया।

पण्डितराज जगन्नाथने कृष्णभक्तिके विषयमें भी यही बात कही थी—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीत निपीत पय,
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधर खण्डित।
सत्य ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता,
कृष्णेत्यक्षरयोरय मधुरिमोद्गार क्वचिल्लक्षित ॥ शा० वि० ७

पण्डितराज बडे काव्यशिल्पी थे। इसलिये उनके रचनास्तरका ऊँचा होना स्वाभाविक है। फिर भी एक अन्तर तो स्पष्ट है कि पद्मानन्दकी 'रम्भाधर' में रुचि नही है। यह अन्तर, जैसा कि ऊपर कहा है, वैष्णव और जैन कवियोमें सर्वत्र मिलेगा।

शतकके प्रारम्भमे पद्मानन्दने जिनपतिकी स्तुति की है जिनके लिए त्रिलोकी करतल पर लुठित मुक्ताके समान तो है ही, वे हास, विलास और त्राससे तीनोके रभसोसे मुक्त हैं। वह उन योगियोकी वन्दना करते है जिन्होंने अपने विवेकके वज्रसे कोपादि पर्वतोको चूर-चूर कर डाला है, योगाभ्यासके परशुसे मोहके वृक्षोंको काट दिया है, और सयमके सिद्ध-मंत्रसे तीव्र कामज्वरको बाँध दिया है। वह उन साधुओंके सम्मुख प्रणत हैं जिन्होंने अतुल प्रेमांचित प्रेयसीको शाकिनीके समान एव प्राण-समा लक्ष्मीको सर्पिणीके सदृश छोड दिया है और जो चित्रागवाक्षराजि वाले महलका उपभोग वल्मीकके समान करते हैं। वह उस महापुरुषको बडा मानते हैं जो पर-निन्दामें मूक, पर नारीके देखनेमें अंध, और परधनके हरणमें पंगु हैं। इनके मतमें माध्यस्थ्य वृत्तिसे रहनेवाला ही योगी और प्रणम्य है और यह माध्यस्थ्य वृत्ति है—आक्रोशसे पीडित न

होना, चाटुकारितासे प्रसन्न न होना, दुर्गन्धसे व्यथित न होना, सुगन्ध पर मुग्ध न होना, स्त्री रूपसे आनन्दित न होना और मरे श्वानमें भी घृणा न करना। बड़े सुन्दर ढंगसे उन्होंने योगीकी पहचान स्पष्ट की है

मित्रे रज्यति नैव, नैव पिशुने वैरातुरो जायते,
भोगे लुभ्यति नैव, नैव तपसि क्लेश समालम्बते।
रत्ने रज्यति नैव, नैव दृषदि प्रद्वेषमापद्यते,
येषा शुद्धहृदा सदैव हृदय, ते योगिनो योगिनः॥

अर्थात् सच्चे योगी वे है जिनका शुद्ध हृदय मित्रको पाकर उल्लसित और पिशुनको पाकर वैरातुर नही होता। भोगमें लुब्ध और तपमें क्लेषित नही होता और जो रत्नमें अनुरक्ति और पत्थरमें द्वेष भाव नही प्रदर्शित करता।

पद्मानन्दने प्रारम्भके श्लोकोंमें जो उपर्युक्त बातें कही हैं, वे प्राय वे ही है जिन्हें सभी भारतीय साधक कहते आ रहे थे। फिर भी, पद्मानन्दके कहनेके ढगमें नवीनता है। उसमें उनका अपनापन झलकता है और जहाँ उन्होंने रूपकका आश्रय लिया है, वहाँ मौलिकताका भी। 'न च न च', 'नैव नैव' 'मम मम' के प्रयोगका उन्हें शौक है। उन्होंने एक अर्थकी व्यक्तिके लिए भिन्न-भिन्न क्रियाओंका आश्रय लिया है और आवृत्तिसे बचनेकी चेष्टा की है। यथा दूयते, बाध्यते, विद्वेष्यते, वैरातुरो जायते, क्लेश समालम्बते एव प्रद्वेषमापद्यते और इसी प्रकार—समानन्द्यते, सम्प्रीयते, रज्यते, नन्दति, लुभ्यति आदि।

प्राचीन मुनियो, साधुओ और विरागियोंने—चाहे वे किसी पन्थके अनुयायी रहे हों—समान रूपसे नारीकी निन्दा की है। भाषाके कवियोमे कबीर तो सबसे आगे हैं। किन्तु इसका कारण नारीके प्रति हेय दृष्टि नही है। किसी भी मुनि या कविने माता, बहिन और पुत्रीके प्रति अश्रद्ध भाव नही व्यक्त किया। बात यह है कि साधन पथ पर अग्रसर होते हुए व्यक्तिको दो ही आन्तरिक शत्रुओंसे सर्वाधिक जूझना पडता है और वे है अर्थ और काम। अर्थ तृष्णा और लोभको अर्थात् परिग्रहको जन्म देता है। घर छोडकर बनमें कुटी बनानेवाले वहाँ भी गृहस्थकी तरह सम्पत्ति जोडने लग जाते हैं। इसीलिए कविने कहा था—

जोगी दुखिया जंगम दुखिया तापस के दुख दूना।
आशा तृष्णा सब घर व्यापै कोइ महल नहिं सूना॥

और काम तो किसीको नही छोडता। स्वय अनग रहकर भी वह साधकके अग-अगको मथित करता है चाहे जितना बडा विद्वान् हो और प्रयत्नशील भी हो, तो भी इन्द्रियाँ मनको खींच ही ले जाती हैं, ऐसा गीतामे कहा है। पुरुषके लिए नारी एव नारीके लिए पुरुष परस्पर कामके उद्दीपक होते हैं। इसलिए पुरुष कवियोने कामके आकर्षणसे बचनेके लिए नारीके आकर्षक अगो, हावो-भावो एव चेष्टाओंके प्रति अपने मनमे विरक्ति जाग्रत करनेकी चेष्टा की है। नारी कवि ऐसा नही करती क्योकि पुरुष के प्रति नारीके आकर्षणकी प्रक्रिया भिन्न होती है। अत वैराग्यके ग्रन्थोमें नारीकी जो निन्दा प्राप्त होती है, वह आपातत निन्दा दिखती है। वस्तुत वह अपने दुर्बल मनको वशमे करने एव कामके प्रति विरक्ति जाग्रत, करनेके लिए एक साधन मात्र है। वह काम-प्रवृत्ति और उसके उद्दीपकोंकी निन्दा है किन्तु आश्रयाश्रयि-भावसे नारी-निन्दा प्रतीत होती है। पद्मानन्दने भी सबसे पहले दस-पन्द्रह श्लोकोमें यही किया है। वे कहते हैं—

मध्ये स्वा कृशता कुरङ्गक-दृशो भ्रूनेत्रयोर्वक्रता,
कौटिल्य चिकुरेषु रागमधरे मान्द्यं गति-प्रक्रमे।
काठिन्य कुचमण्डले तरलतामक्ष्णोर्निरीक्ष्य स्फुटं,
वैराग्यं न भजन्ति मन्दमतय कामातुरा ही नरा॥

मध्यमें कृशता, नेत्रों और भृकुटियोंमें वक्रता, बालोंमें कुटिलता, ओठमें रक्तता, गतिमें मन्दता, कुच-मण्डलमें कठोरता, दृष्टिमें चंचलता इतनी सारी अस्वाभाविक बाते स्त्रीमे स्पष्ट दिखती है, फिर भी लोगोका मन उनकी ओरसे नही हटता। शकराचार्यने कहा था—

अंगं गलितं पलित मुण्ड, दशन-विहीन जात तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्ड, तदपि न मुचत्याशापिण्डम्।

और इसी सरल बातको पद्मानन्द साहित्यिक शैलीमे कहते है—

पाण्डुत्व गमितान् कचान् प्रतिहता तारुण्य-पुण्य-श्रियम्,
चक्षु क्षीणबल कृत श्रवणयोर्वाधिर्यमुत्पादितम्।
स्थानभ्रशमवापिताश्च जरया दन्तास्थिमास-त्वच,
पश्यन्तोऽपि जडा हहा हृदि सदा ध्यायन्ति ता प्रयसीम्॥

केश सफेद हो गये, जवानीकी चमक-दमक नष्ट हो गयी, आँखोकी शक्ति दुर्बल पड गयी, कानोमे बहरापन आ गया, बुढापेके कारण दाँत, मास और त्वचा सब अपना स्थान छोड गये। फिर भी य मूर्ख हैं कि अपना ध्यान प्रेयसीकी ओरसे नही हटाते। और पद्मानन्दकी यह धिक्कृति उन कवियोके लिये भी है जो जीवन भर आपादमस्तक शृगारमे ही डूबे रहते है।

एक हाथी है महामिथ्यात्व का। चारो क्रोधादि कषाय उसके पाँव है। व्यामोह उसकी सूँड है। राग और द्वेष ये दो उसके बडे-बडे दाँत है। दुर्वार मार उसका मद है। जो इस मत्त हाथीको तत्त्व ज्ञानके अंकुशकी सहायतासे अपने चातुर्यके द्वारा वशमे कर लेता है, वह तीनो लोकोको जीत लेता है। कितने सुन्दर और सर्वांगपूर्ण रूपकके द्वारा कविने अपनी बातको प्रस्तुत किया है—

क्रोधाद्युग्रचतुष्कषायचरणो व्यामोहहस्त सन्वे,
रागद्वेषनिशातदीर्घदशनो दुर्वारमारोद्धुर।
सज्ज्ञानाकुशकोशलेन स महामिथ्यात्वदुष्टद्विपो
नीतो ऽन वश वशीकृतमिदं तेनैव विश्वत्रयम्॥

एक दूसरा परम्परित रूपक देखिये—

सज्ज्ञानमूलशाली दर्शनशाखश्च येन वृत्ततरु।
श्रद्धाजलेन सिक्तो मुक्ति फल तस्य स ददाति॥

किसी वृक्षको रोपें तो पहले उसकी जडे भूमिमे लगती है। उसे जलसे सीचते है। तब उसमे शाखायें फूटती है और तब फल लगते है। सम्यक्चारित्र्य भी एक वृक्ष है। सत् ज्ञान उसका मूल है। दर्शन उसकी शाखायें है। श्रद्धाका जल उसे सीचता है तब कही कष्ट-मुक्तिका फल उसमें लगता है।

सासारिक विषयोकी ओरसे मन हटानेके लिये शरीरको चरम परिणतिको देखना-समझना आवश्यक है। इससे जीवनकी यथार्थताका भान होता है और मोह दूर होकर नि सगताकी प्राप्ति होती है। इसीलिये सारे सन्तोने मृत्युके भयावह दृश्य भक्तोके सामने प्रस्तुत किये है। पद्मानन्दने भी कहा—

भार्येय मधुराकृतिर्मम मम प्रीत्यन्वितोऽय सुत,
स्वर्णस्यैव महानिधिर्मम ममासौ बन्धुरो बन्धव।
रम्य हर्म्यमिद ममेत्थमनया व्यामोहितो मायया,
मृत्यु पश्यति नैव दैवहतक क्रुद्ध पुरश्चारिणम्॥

यह मेरी सुन्दर स्त्री है। यह मेरा प्यारा बेटा है। सोनेकी बडी राशि मेरे पास है। मेरा भ्रातृ-स्नेही भाई है। यह शानदार महल मेरा अपना है। अभागा व्यक्ति इसी मायामें खोया रहता है और सामने

आते हुए क्रुद्ध काल (मृत्यु) को नही देखता। और जब मृत्यु पकड़ ले जाती है तो सन्तान, धन, महल कोई साथ नही जाता। साथ जाते हैं केवल पुण्य और पाप

नापत्यानि न वित्तानि न सौधानि भवन्त्यहो।
मृत्युना नीयमानस्य पुण्यपापे पर पुन' ।।

मृत्युसे कौन बच सकता है? रावणने बुढापेको अपनी खाटके पायेमें बाँध रखा था, वह भी चला गया। हनुमान् जो अपनी भुजाओ पर द्रोण पर्वत ही उखाड कर ले आये थे, वे भी चले गये। जिन रामने त्रिलोकीके सबसे बडे वीर रावणको मार डाला था, वे भी चले गये। फिर औरोकी तो बात ही क्या?

बद्धा येन दशाननेन नितरा खट्वैकदेशे जरा,
द्रोणाद्रिश्च समुद्धृतो हनुमता येन स्वदोर्लीलया,
श्रीरामेण च येन राक्षसपतिस्त्रैलोक्यवीरो हत,
ते सर्वेऽपि गता क्षय विधिवशात् कान्येषु तद्भो कथा।

बालक भोजने भी मुजदेवके प्रति ऐसी बात कही थी। शकराचार्यने भी बात सीधी-सादी भाषामे कही थी—

बालस्तावत् क्रीडासक्त, तरुणस्तावत् तरुणीरक्त,
वृद्धस्तावच्चिन्ता-मग्न पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्न।

कि बचपन खेलमे बीत जाता है यौवन तरुणीके प्रेममे चला जाता है और बुढापेमे तरह-तरहकी चिन्तायें आ घेरती हैं। आत्मचिन्तनके लिये समय ही नहीं मिल पाता। यह तथ्य कैसी प्रभावकारी भाषामे प्रस्तुत किया है पद्मानन्द ने

बाल्ये मोहमहान्धकार-गहने मग्नेन मूढात्मना,
तारुण्ये तरुणी-समाहृत-हृदा भोगैकसगेच्छुना,
वृद्धत्वेऽपि जराभिभूतकरणग्रामेण नि शक्तिना,
मानुष्यं किल दैवत कथमपि प्राप्त हत हा मया।

जैसे शीतलता और सुगन्धके पूर्ण होनेपर भी सर्पोंके ससर्गके कारण चन्दन वृक्ष पान्थके लिए व्यर्थ होता है ऐसे ही कुटिल आचारवाले दुमुँहे लोगोके सगसे जीवन निष्फल हो जाता है—

श्रीखण्डपादपेनेव कृत स्व जन्म निष्फलम्।
जिह्मगाना द्विजिह्वाना सम्बन्धमनुरुन्धता ।।

यहाँ निष्फलम्, जिह्मगाना और द्विजिह्वाना इन श्लिष्ट शब्दोके प्रयोगने श्लोकमे चार चाँद लगा दिये हैं।

किसीको सुन्दरीसे प्यार ही करना हो, तो पद्मानन्द द्वारा प्रस्तावित प्रियासे प्यार करे

औचित्याशुकशालिनी हृदय हे शीलागरागोज्ज्वला
श्रद्धा-ध्यानविवेक-मण्डनवती कारुण्यहाराकिता।
सद्बोधाजनरञ्जिनी परिलसच्चारित्रपत्राकुरा
निर्वाण यदि वाछसीह परमक्षान्तिप्रिया तद्भज ।।

यदि तुम्हे निर्वाण (शान्ति या मुक्ति) चाहिये तो उस क्षान्तिरूपिणी प्रियासे प्यार करो जो औचित्य की साडी या चादर धारण करती है, शीलका अङ्गराग लगाती है, श्रद्धा, ध्यान और विवेकके आभूषण पहनती है, कारुण्यका हार धारण करती है, सद्ज्ञानका अञ्जन लगाती है और श्रेष्ठ चरित्रके पत्राकुरोसे

अपनेको सजाती है। पद्मानन्दकी कल्पनासे प्रसूत यह परम्परित रूपक सर्वथा अनूठा है। यों भी साङ्गरूपक प्रस्तुत करनेमें यह कवि सिद्धहस्त है।

पद्मानन्दके मतमें दान और तप यदि वैराग्य-युक्त मनसे किये जायँ तभी सार्थक होते हैं। यदि अङ्गनामें लावण्य ही न हुआ तो केवल विभ्रमों या हाव-भावोकी उछलकूद कितना आकर्षण उत्पन्न कर सकेगी ? इसी प्रकार यदि अन्तर्विवेक उत्पन्न न हुआ तो सारे शास्त्र, जप, तप व्यर्थ हैं क्योंकि ये सब तो साधनमात्र हैं—साध्य है तत्त्वज्ञान, विवेकख्याति। इसीलिए वे कहते हैं कि सारी कलायें जान ली तो क्या हुआ ? उग्र तप भी तप लिया तो क्या ? यदि कलङ्करहित यश भी कमा लिया तो क्या ? यदि विवेककी कली न खिली ? विवेक ही तो है जो मनुष्य-मनुष्यमें अन्तर स्पष्ट करता है अन्यथा हस और बगुले, कोकिल और काक तथा सुवर्ण और हल्दीमें क्या अन्तर ? रङ्ग तो दोनोंका एक ही है। किन्तु चाल, बोली और मूल्य क्रमश इनके महत्त्वमें अन्तर स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार मनुष्योकी गरिमा और महत्तामें न्यूनाधिक्य उनके गुणोंके कारण होता है—

शौक्ल्ये हस-बकोटयो सति समेयद्वद्गतावन्तर,
कार्ष्ण्ये कोकिलकाकयो किल यथा भेदो भृश भाषिते,
पैत्ये हेमहरिद्रयोरपि यथा मूल्ये विभिन्नार्घता,
मानुष्ये सदृशे तथार्यखलयोर्दूर विभेदो गुणै ॥

और जब विवेक ज्ञान या तत्त्वार्थबोध हो जाता है तो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि कषाय चतुष्क कुछ नहीं बिगाड पाते। यही साधना की चरम उपलब्धि है। पद्मानन्दने पूर विश्वासके साथ कहा है—

ता एवैता कुवलयदृश, सैष कालो वसन्तस्,
ता एवान्स शुचिवनभुवस्ते वय, ते वयस्या।
किं तूद्भूत स खलु हृदये तत्त्वदीपप्रकाशो,
येनेदानी हसति हृदय यौवनोन्मादलीला ॥

कमलनेत्री सुन्दरियाँ अब भी वे ही हैं, बसन्त काल वही है, सुन्दर वन प्रदेश भी वे ही हैं, हम भी वे ही हैं और मित्रगण भी वे ही हैं किन्तु तत्त्वदीपका प्रकाश हो जानेसे अब हृदय यौवनकी उन्मत्त लीलाओ मे डूबता नही अपितु उन पर हँसता है।

सम्भवत यह श्लोल "य कौमारहरः स एव हि वर" आदि सुप्रसिद्ध शृगारी श्लोकका प्रत्युत्तर है। वाणीके विषयमें तो कविका कथन प्रत्येक कवि, वक्ता या लेखकको अपने सामने बडे अक्षरोमें लिख कर टाँग लेना चाहिये—

ललित सत्य-सयुक्त, सुव्यक्त सतन मितम्।
ये वदन्ति सदा तेषा, स्वय सिद्धैव भारती ॥

जो लोक सत्य, मधुर, स्पष्ट (जिसे सब समझ सकें), परस्पर सम्बद्ध और नपी-तुली बात बोलते हैं, उन्हे वाणी सिद्ध हो जाती है। वे जो बोलते हैं, वह व्यर्थ नही जाता। और पद्मानन्द निश्चय ही सिद्धवाक् कवि थे।

रत्नाकरकी हंसकला

जी० ब्रह्मप्पा, कोल्लेगाल, मैसूर

रत्नाकर कन्नडके अग्रणी कवि हैं। उनका भरतेश-वैभव कन्नड साहित्यका एक अमूल्य रत्न है। यह भारतकी कई भाषाओमें अनूदित हो चुका है और कविका कीर्तिस्तम्भ है। रत्नाकरकी साहित्यसृष्टि जितनी अद्भुत है, उनका जीवन भी उतना ही रोमांचकारी है। बाल्यकालमें ही वे असाधारण प्रतिभाके धनी थे और वे भैरवराजके दरबारमें सम्मानित हुए। वे 'शृगार कवि' बने और वहांकी राजकुमारी उनके मोहमे पड गई। इसी समय उन्होने अपना भरतेश-वैभव नामक अमर काव्य लिखा। रत्नाकर महान् क्रान्तिकारी कवि थे। उनके विचारोको तत्कालीन जैन समाज सहन नही कर सका। फलत वे अजैन-वीरशिव बन गये। कालान्तरमे समाजने उनके विचारोका मूल्य समझा और उसने उन्हे अपनी समाजका पुन अग्रणी बनाया।

रत्नाकर सोलहवी शताब्दीके ज्ञातनाम कन्नड कवि हैं। वे महाकवि ही नही, महायोगी भी थे। भरतेश वैभवके अतिरिक्त उन्होने रत्नाकरशतक, अपराजितेश्वरशतक, त्रिलोकशतक तथा अनेक स्फुट गीत-काव्य लिखे है। उनके 'भरतेश-वैभव' मे जहाँ उनकी साहित्यिक प्रतिभाके दर्शन होते हैं, वही उसमें उनके दार्शनिक तथ्योको साहित्यिक रूपमे सँजोनेकी कलाकी अप्रतिभाका भान भी होता है। इस लेखमें मैं भरतेश वैभवके दार्शनिक पक्ष हसकलाका किंचित् विवरण देनेका प्रयत्न करूँगा। उसके माध्यमसे रत्नाकर-की साहित्यिक काव्यकलाके भी रूप प्रकट होगे।

हसकला क्या है ?

रत्नाकरके दर्शनके लिए भेद-विज्ञान ही बुनियाद है, हसकला ही कलश है। भरतेश-वैभवका बाहरी आवरण भोग हो, तो इसका आन्तरिक शरीर योग है। जैसे शीतल महासागरमें भी गरम पानीका झरना होना एक अनुपम प्रकृति वैचित्र्य है, वैसे ही भरतेश-वैभवके भोगकी अनेक भगिमाओंके बीच हसयोगका ससर्ग भी एक ध्यान देने योग्य चमत्कार हैं। यदि यह कहें कि रत्नाकरका श्वासनाल भेद-विज्ञान है पर इसका अन्ननाल तो हसकला ही है, तो अत्युक्ति न होगी। साधक कवि जब उपासना करके थक जाता है, तब वह अपनी थकावट मिटानेके लिए काव्य-रचनामें हाथ लगाता है। काव्यागनासे संलाप करता है। पर चाहे उपासना हो या काव्य हो, रत्नाकरका मूलोद्देश्य तो हसकला ही है। रत्नाकरकी दृष्टिमें छन्द, अलकार और अन्तमें रस—ये सब काव्यका बाह्य शरीर है। उसका आन्तरिक शरीर तो आत्मतत्त्व ही है। हसका अर्थ आत्मस्वरूप ही है। अत हसकला आत्मानुसन्धानकी कला है। अपने स्वरूपका साक्षात्कार कर लेना ही हसकला है। इसको ध्यान कहें, तपस्या कहें या योग कहें, सब समानार्थी हैं। आत्मानुसन्धानमें लगने-वाले चेतनको ध्यानी, तपस्वी और योगी कहेंगे। हसकलोपासकको पहले चित्तवृत्तिका निरोध करना चाहिये। मन बार-बार राग-द्वेषोंके साथ विनोद करते हुए राह चलनेवाले शैतानको घरमें बुलानेकी तरह कर्मासुरको बुलाता है। मन, वचन और काय ही कर्मासुरके बार करनेके लिए खुले महाद्वार हैं। इन तीनो महाद्वारोंको हसकलाके लिए जब सुरक्षित रखते हैं, तभी कर्मासुरको दिग्बन्ध करके रोक सकते हैं। पहलेसे

ही जमी हुई कर्मराशिको अपसे झाड सकते हैं। जब सारे कर्म चले जायेंगे, तब हमारा हस-साम्राज्य अजेय होकर सहजानन्द बनेगा।

रत्नाकरने भरतेशकी पूरी जीवनीको हसकलाका मुलम्मा लगाया है। इसका भरतेश बहिरात्मा नही है। यह अन्तरात्मा और रसानन्दमयी है। रत्नाकर एक ऐमा विश्वकवि है जो सभी कलाओंका चित्रण इस प्रकार कर सकता है जैसे सभी कलाएँ आँखोके सामने ही नर्तन कर रही हो। गूँगेके देखे स्वप्न के समान रहनेवाली आत्मकलाका साहित्यिक वर्णन करके कविने जोहरीसाजी प्रदर्शित की है। आत्मस्वरूप को अपनी प्रतिभामयी मानस संगोत्रीके समर्गसे कल्पना किरणोसे मजाकर कवि हसकलोपासनाका उत्तम (शिरोभूषण) बना है। यह भावलिंगी है। मानसिक मस्कार ही इसकी दृष्टिमें प्रधान है। यह मननके लिए आवश्यक मानसिक परिणाम ही है। इसके बिना केवल शून्य भी नही, अरण्य भी नही है।

रत्नाकरने निराकार आत्माको ज्ञान, प्रकाश व अहकार प्रदान करके काव्यमय रूपमें निरूपित किया है। प्रारम्भमें यह रेखाचित्र मात्र है। पर उसके आगे वर्णचित्र है। निराकार आत्मस्वरूपके लिए यह उद्गार एक सागर है। ज्ञान और ज्योति—ये दोनो आत्मविज्ञानके पिछले तथा सामनेके मुखोके समान हैं। एकको छोड दूसरा नही रह मकेगा। रत्नाकरके ममान हमकलोपासककी विविध अवस्थाओका चित्रण करनेवाले विरले ही है।

आध्यात्म अनिर्वचनीय है। मगर रत्नाकर अनभवी है, वह साथ-साथ प्रतिभावान भी है। वह कल्पना विलासी भी है। अलौकिक तथा अनिर्वचनीय अनुभवको भी यह काव्यका कवच पहना मकता है। उस पर विमल कलाका रग चढ़ा सकता है। हम कलोपासकको भी प्रारम्भमें कल्पना विलाससे ही रोमांचित होकर उत्साह पाना होता है। कल्पना घनीभूत होकर रस बनती है। यदि किसीको योगी बनना हो तो पहले उसे रसयोगी बनना पडता है। कल्पना पक्षको बढाकर प्रतिभा नेत्रको विकसित कर लेना पडता है। इसीलिये भरतेश कुसुमाजीके साथ सुरतकेलि खेलनेके उपरान्त आध्यात्मिक विश्राम प्राप्त करनेके लिये कैवल्यांगना को हाथ पसार कर बुलाता है।

भरतेश अभी साधक है। वह अपने प्रतिभानेत्रसे आत्मसाक्षात्कार कर लेनेको आतुर है। वह अपने कल्पनाहस्तसे सुधारसको खीच-खीच कर अतरात्माको ढालता है। वह रसलोकविहारी होकर ब्रह्मलोकमें उडनेको सन्नद्ध हो रहा है। भरतेश अपनी रमणियोको भी हसकलोपासनामे प्रेरित करता है।

विषयवासनाको रसानन्दसे धो लेना चाहिये। ब्रह्मानन्दको भी यदि रोचक बनना हो, तो उसे साधकके पास रसानन्दका वेष धारण करके आना चाहिये। विषय भूमिकासे साधकको रस भूमिका पर चढ़ना चाहिये। उसके बाद ब्रह्मानन्दकी माताका हृदय बनकर थोडा झुक कर साधकको सहारा देकर ऊपरकी ओर खीच लेना चाहिये। जब भरतेशने अपनी आत्मा ही को परमात्मा मानकर निर्भेद भक्तिसे हसकलोपासना प्रारम्भ की, तब उसके आनन्दका पारावार ही नही रहा।

आत्मस्वरूप प्रकाश बनकर, सुज्ञान बन कर एव दर्शन बनकर सुखसे टिमटिमाता है। जैसे बच्चा घुटनोके बल चलते समय उठते-गिरते उत्साहित होता है, ऐसे ही साधक भी इस प्रक्रियामे उत्साहित होगा, विस्मित होगा। कविने हसकलोपासनाकी इस आँखमिचौनीका भी अपने काव्यमें निरूपण किया है। यह हसकलोपासनाकी पहली सीढी है।

जब कविका साधक निर्भेद भक्तिमें स्थिर होता है, अद्वैत होकर सुशोभित होता है, तब चौंधियानेवाले ब्रह्मानन्दका इन्द्रधनुष देखते ही बनता है। रत्नाकरने ब्रह्मानन्दके अनिर्वचनीय होने पर कलारूपी

जाल फैलाकर उसे बंधित किया है। रसानन्दके पारेको ब्रह्मानन्दके सीमेकी धूलि लगनी ही चाहिये न? महाकविने शून्यको रंग लगाया है। भक्तके आध्यात्मिक साहसका विवरण करते समय श्री बसवण्णाजीने भी यों कहा है —'निराकार आत्माको पहले साकार बना लेना चाहिये। इसके लिये प्रतिभा चाहिये। कल्पना विलास चाहिये। आत्माका निकट परिचय होने तक इस कवि कर्मको निरन्तर चलना चाहिये। यह हंसकलोपासनाकी पहली मंजिल है। साधकको रसानन्दमें सराबोर होना चाहिए। खुले आम चित्रको खींचना होगा। यह बात नहीं कि शून्यको रूप देने पर सब कुछ खत्म हो गया। दिये हुए रूपको फिरसे शून्य बनाना चाहिये। इन दोनों कलाओंमें भी हंसकलोपासकको प्रवीण बनना चाहिये'।

जैसे-जैसे आत्मसाक्षात्कार होता जायेगा, वैसे-वैसे कर्मके कण झड़ते जायेंगे। अप्रत्याशित आक्रमणसे भयभीत होकर कर्मका आवरण ढीला पड़ेगा। छत्तेको धुआँ दें, तो जैसे मधुमक्खियाँ लाचार होकर तितर-बितर हो जाती हैं, ऐसे ही कर्माणु भी आश्रयहीन हो तड़पने लगेंगे।

शून्यके निर्वलय नर्तनको हंसकलोपासकके अन्तरंगमें देखिये। शून्यको आकार देना, दिये हुए आकारको दुबारा शून्य बनाना—ये दोनों हंसकलाके दो मुख हैं। कविको निर्विकल्प समाधिके अनुभवका विवरण ऐसे लोगोंको देना है जिनको सविकल्प समाधिका भी अनुभव नहीं है। बातोंके इन्द्रजालकी शैलीकी टीमटाममें रत्नाकरने हंसकलाकी कई भाव भंगिमाओंको हमारे सामने रक्खा है। जब वह निर्विकल्प समाधिकी चरम सीमा पर पहुँचते हैं, तब कैसा ब्रह्मानन्द होता है? इसे भी कविने चित्रित किया है। 'बिना सम्पत्तिके बड़ा साहूकार' कहते समय हमारा रोमांच हुए बिना नहीं रहता। अपने कल्पना विलासमें दिव्यानुभवके निरुपाधिक सुखको सहृदयियोंके हृदयंगम होनेकी तरह विश्वकविने वर्णित किया है। जो रसर्षि है, वह विषयसुखको पैरोंमें कुचलता हुआ दूसरी तरफ अपना हाथ पसार कर ब्रह्मानन्दको बटोरनेका प्रयत्न करेगा। ध्यानमें निमग्न भरतेशको रत्नाकरने एड़ीसे चोटी तक चाँदनीसे अलंकृत किया है। कविने मुक्त्यंगनाके बाहुपाशमें चक्रेशको सुखी बनाकर हंसकलाको काव्यकलाकी किरणें पहनायी हैं। कविने ऐसा निरूपित किया है मानो काव्यकला ब्रह्मकलाका बरामदा ही बनी हो।

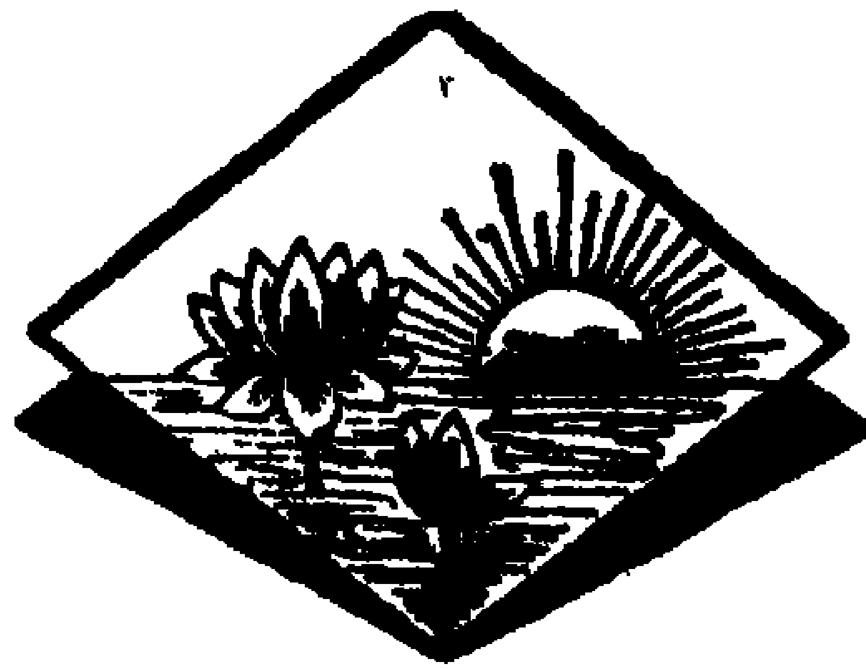
हंसकलाके विविध चरण

जब आदिदेव जिनेन्द्रावस्थाको त्याग कर सिद्ध बननेके लिए सनद्ध हुआ, तब अन्तिम तपस्या करने लगा। तीनों देहोंको उतारकर परमात्मा बनने लगा। क्या परम परज्योति कोटिचन्द्रादित्य सुज्ञानप्रकाश आदिदेवकी हंसकलोपासना साधारण है? ज्योतिके योगके जलप्रपातको महाकवि यहाँ निर्माण करेगा। अपने कर्मरूपी संसारको ध्वंस करने, जड़हीन बनानेके पहल आध्यात्मिक तांडवलीलामें लगनेके अद्भुत रम्य दृश्यको चित्रित करनेके लिए कवि रत्नाकरको ही आना पड़ा। परमात्मा लम्बे कदमें व्याप्त होगा। विश्वके नीचेसे ऊपर तक फैलेगा। यह इसके कर्मसम्बन्धी तथा तेज सम्बन्धी शरीरके विश्वव्यापी होते समय दिखाई देनेवाला पहला चरण है। इसको दण्ड कहेंगे। अगला चरण ही कवाटलीला है। भगवान् खुश हुआ मानो सारे विश्वके बीचकी दीवार समाप्त की गयी है। वह (परमात्मा) फूला अंग न समाया। कार्मण-तैजस शरीरोंको धुनक-धुनक कर आड़ा-आड़ा खींचा। कवाटलीलाको खतम कर तीसरा चरण प्रतरलीलाका प्रारम्भ होता है। वायुको छोड़कर भगवान्‌के सारे विश्वमें व्याप्त होनेको प्रतर कहते हैं। इसके बाद चौथा चरण पूरणलीला है। समाधिस्थ आदिदेव विश्वव्यापी बनते हैं। वायुको भी मिलाकर सारे विश्वको अपनेमें विलीन कर लेते हैं। सबमें स्वयं रहकर सबको अपनेमें रखकर सुशोभित होनेवाला विश्वरूप ही समुद्घातोज्ज्वलत्कला है। इस अवसर पर जो आध्यात्मिक रासायनिक क्रिया चलती है, उसका विश्वकविने आँखोंके सामने बीता-सा चित्रण किया है।

हंसकलोपासनाका अंतिम लक्ष्य तो परम परंज्योति बनना है। सुखोज्वल किरण बनना है और निरुपाधिक शुद्धी बनना है। दूसरोंके हाथोंमें पारिभाषिक पद पुञ्जोंको बहुत बड़ा अरण्य बनानेवाली यह हंसकला कविरत्नाकरके हाथोंमें कला बनी है। जहाँ अन्य लोग ब्रह्मकलाको पाण्डित्यके प्रदर्शनका क्षेत्र बनाते हैं, वहीं रत्नाकर ब्रह्मकलाके इस नीरस विषयको लेकर इसमें अपनी रसीली प्रतिभाका प्रभा-पुंज विकसित किया है, कल्पनाका कल्पवृक्ष सजोया है और रसका मानस सरोवर उद्घाटित किया है। उन्होंने इसमें अपनी कलाके इन्द्रधनुषी रूपको चित्रित किया है।

धर्मध्यान (निर्विकल्प समाधि) तो रत्नाकरके हाथोंमें प्रकाशकी नदी बना जिसमें काव्य रस रूपी जल प्रवाहित हुआ है। बारबार सिद्धान्तको लाने पर भी रत्नाकरने कहीं काव्यको किनारे पर नहीं हटाया। सिद्ध बननेके पहले जिनेन्द्रके विरचित दण्ड-कवाट-प्रतर-पूरण ध्यान तो रत्नाकरके हाथोंमें प्रचण्ड कला बनकर शून्यके ताण्डवके रूपमें सुशोभित हुआ है। यहाँ यदि धर्म ध्यानका वर्णन लास्य हो, तो समुद्घातोच्चलत्कलामें कविने गगनचुम्बी होकर दिगंत तक हाथ फैलानेके समान बृहत् दृश्योंको निर्मित कर ब्रह्मलीलाके अद्भुत व्यापारको चित्रित किया है।

रत्नाकर कवि चिदम्बरके रहस्यको आत्मसात् किये हुए हैं। वे काव्यके नन्दनवनमें सिद्धान्तके स्थानको निर्दिष्ट रूपसे निर्देशित करनेवाले निरंजन कवि हैं। वह योगीकी समाधि स्थितिको साक्षात्-सा चित्रित करनेवाला एक मात्र कवि है। रसिकता ही रत्नाकरका जीवन है। यदि उसके भरतेशवैभवका भोग राग रसिकता हो, तो यहाँका योग तो वीतराग रसिकता है। रत्नाकर महाकवियोंमें महायोगी है। उसने योगी बनकर हंसकलाका अनुभव किया है। अपने इस अनुभवको ही इसने कवि बनकर रसीले काव्यके रूपमें चित्रित किया है।



चतुर्विंशतिसंधानकाव्य

प्राचार्य कुन्दनलाल जैन, विश्वासनगर, दिल्ली

आदरणीय श्री अगरचन्दजी नाहटाने कादम्बिनीके मार्च ७२ के अङ्कमे 'सप्तसन्धान' नामक एक अद्भुत काव्यकी चर्चा की है। यहाँ मैं उसी प्रकारके एक अन्य काव्यकी सूचना प्रस्तुत कर रहा हूँ जिसमें एक श्लोकके चौबीस अर्थ निकाले गये हैं। यह अद्भुत काव्य है—'चतुर्विशतिसंधानकाव्य'। इसके रचयिता प० जगन्नाथ (स० १७११) है जो भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे।

प० जगन्नाथने इस प्रतिभाशील विलक्षण काव्यके अर्थकी प्रामाणिकता एव स्पष्टता हेतु स्वय ही 'स्वोपज्ञ' नामसे टीका भी रची थी, जिसमें कविचक्रवर्ती श्री जगन्नाथने प्रत्येक श्लोकके चौबीस अर्थ निकाले है, जो वृषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोके पक्षमे अलग-अलग निकलते है। यह अद्भुत काव्य मन् १९२१ मे रावजी सखारामजी दोशी, शोलापुरमे प्रकाशित हो चुका है। उदाहरणके लिये, निम्न श्लोक प्रस्तुत है

श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपति श्रीद्रुमाकोऽथधर्मो,
हर्यंक पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोऽनतवाक् श्रीसु ार्श्व ।
शान्तिपद्मप्रभोऽरो विमलविभुरसौ वर्धमानोप्यजाको,
मल्लिर्नेमिर्नमिर्मा सुमति खलु सच्छ्रीजगन्नाथ धीरम् ॥

उपर्युक्त स्रग्धरा छन्दको २४ बार लिखकर इस विचक्षण कविने अलग-अलग सभी तीर्थंकरोकी स्तुति-परक टीका लिखी है।

प० जगन्नाथको यद्यपि सस्कृत भाषा तथा उसके अनेकार्थवाची शब्दोके महान् सामर्थ्यपर पूर्णाधिकार प्राप्त था, फिर भी लोगोके पल्लवग्राही पाण्डित्यके कारण उनकी रचना की आलोचना प्रत्यालोचना न होने लगे और लोग इस काव्यकी प्रामाणिकता एव श्रेष्ठताके विषयमें शङ्कालु न हो उठें, इसीलिये उन्होने एकाक्षरकोषकी सहायता लेनेका स्पष्ट उल्लेख किया हैं।

एक दूसरे श्लोकके बाद वे आगे लिखते हैं

चतुर्विशतिजिनानामेकपद्यम् कृत्वा तस्य चतुर्विंशतिभिरर्थैर्जगन्नाथस्तान् स्तौति, तावदादिजिनस्य, वृषभस्य स्तुति प्रारभ्यते। इति चतुर्विशतिजिनस्तुतावेकाक्षरप्रकाशिकाया भट्टारकनरेन्द्रकीर्तिमुख्यशिष्य-प० जगन्नाथविरचिताया प्रथमतीर्थंकरश्रीवृषभनाथस्य स्तुति समाप्ता।

कविने प्रस्तुत रचना वैसाख सुदी ५ स० १६९९ रविवारको अम्बावत्पुर (राजस्थान) में समाप्त की थी। यह नगर तक्षकपुर (टोडा राज०) के आस-पास कही होगा। तक्षकपुर जैन ग्रन्थोके पुनर्लेखन एव निर्माणका प्रमुख केन्द्र था। यही भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिकी प्रसिद्ध पाठशाला भी थी। कविका जन्म खण्डेलवालवंशोद्भव सोगानी गोत्रिय शाह पोमराज श्रेष्ठिके घर हुआ था। इनके अनुज कवि वादिराज (१७२९ स०) भी सस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् थे जिन्होंने वाग्भट्टालङ्कारकी 'काव्यचन्द्रिका' टीका तथा 'ज्ञानलोचन-स्तोत्र' की रचना की थी। कविका जन्म स० १६६० के लगभग किसी समय होना चाहिये। कविके अनुज श्री वादिराज महाराज जयसिंहके राज्यमें किसी शीर्षस्थ पद पर विराजमान थे और अपनी श्रेष्ठताके लिये प्रसिद्ध थे। इनके रामचन्द्र, लालजी, नेमिदास तथा विमलदास नामक चार पुत्र थे।

कवि जगन्नाथकी छह रचनायें उपलब्ध हैं। प्रथम चतुर्विशतिसंधानकाव्य स्वोपज्ञटीका, द्वितीय "सुखनिधान" जो तमालपुर नामक नगरमें स० १७०० मे रची गई थी। इसकी प्रतिमे कविको कविचक्रवर्तीकी उपाधिसे सम्बोधित किया गया है। तृतीय, शृंगारसमुद्रकाव्य जिसका उल्लेख सुखनिधान नामक रचनामें हुआ है। चतुर्थ, श्वेताम्बर पराजय (केवलिमुक्तिनिराकरण) जिसमें केवलीकेवलाहारित्वका संयुक्तिक निराकरण किया गया है। इसकी रचना स० १७०३ में दीपावलीके दिन हुई थी। पञ्चम, नेमिनरेन्द्रस्तोत्र-स्वोपज्ञटीका है जिसका उल्लेख श्वेताबरपराजय नामक ग्रन्थमें मिलता है। इनकी षष्ठम रचना है सुषेणचरित्र जिसकी प्रतिलिपि स० १८४२ में हुई थी और यह आमेरके मठ, महेन्द्रकीर्ति भण्डारमें सुरक्षित है।

कवि जगन्नाथने चतुर्विशतिसधानकाव्यकी रचना करते हुए स्पष्ट लिखा है

पद्येऽस्मिन् मयकाकृतानुतिमिमा श्रीमच्चतुर्विशति ।
तीर्थेषा कलुषापहा च नितरा तावद्भिरर्थैर्वरै ॥
प्रत्येक किल वाच्यवाचक, रवैर्बोध्याबुधैर्वृत्तित ।
पूर्वाह्लादिषु यो ब्रवीति, लभते स्थान जगन्नाथत ॥

उपर्युक्त श्लोकसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक श्लोकमे चौबीस अर्थ निकलते है जो वृषभादि चौबोस तीर्थंकरोके स्तुति स्वरूप हैं। सास्कृत साहित्यके ऐसे ग्रन्थरत्नोका विशेष रूपसे प्रचार-प्रसार होना चाहिये और इनसे विदेशी विद्वानोको भी अवगत कराना चाहिये।



विबुध श्रीधर एवं उनका पासणाहचरिउ

डा० राजाराम जैन, जैन कालेज, आरा (बिहार)

स्रोत

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओंके कवियोंमें भगवान पार्श्वनाथका जीवन चरित बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। आगम साहित्य एवं विविध महापुराणोंमें उनके अनेक प्रासंगिक कथानक तो उपलब्ध होते ही हैं, उनके अतिरिक्त स्वतन्त्र, सर्व प्रथम एवं महाकाव्य शैलीमें लिखित जिनसेन (प्रथम) कृत पार्श्वाभ्युदय-काव्य[1] (वि० सं० ९ वीं सदी) एवं वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितम्[2] (वि० सं० १०८२), संस्कृत भाषामें, देवभद्र कृत पासणाहचरियं[3] (वि० सं० ११६८) प्राकृत भाषामें तथा कवि पद्मकीर्ति कृत पासणाहचरिउ[4] (वि० सं० ११८१) अपभ्रंश भाषामें उपलब्ध हैं। इन काव्य रचनाओंसे परवर्ती कवियोंको बड़ी प्रेरणा मिली और उन्होंने भी विविध कालों एवं विविध भाषाओंमें एतद्विषयक अनेक रचनाएँ लिखीं, जिनमेंसे माणिक्यचन्द्र[5] (१३ वीं सदी), भावदेवसूरि[6] (वि० सं० १३५५), असवाल[7] (१५ वीं सदी), भट्टारक सकलकीर्ति[8], (वि० सं० १५ वीं सदी), कवि रइधू[9], (वि० सं० १५-१६ वीं सदी), कवि पद्मसुन्दर[10] एवं हेमविजय[11], (१६ वीं सदी) एवं पण्डित भूधरदास[12] (१८ वीं सदी) प्रमुख हैं।

पार्श्वनाथचरित सम्बन्धी उक्त रचनाओंकी परम्परामें हरयाणाके महाकवि विबुध श्रीधर कृत 'पासणाहचरिउ' का भी विशेष महत्व है किन्तु अद्यावधि वह अप्रकाशित रही है। प्रस्तुत निबन्धमें उसी पर कुछ प्रकाश डालनेका प्रयास किया जा रहा है। इसका कथानक यद्यपि परम्परा प्राप्त ही है किन्तु कथावस्तु गठन, भाषा, शैली, वर्णन-प्रसंग, समकालीन संस्कृति एवं इतिहास सम्बन्धी सामग्रीकी दृष्टिसे यह रचना अद्वितीय सिद्ध होती है।

उक्त 'पासणाहचरिउ' की एक प्रति आमेर-शास्त्रभण्डार, जयपुरमें सुरक्षित है, जिसमें कुल ९९ पत्र हैं। इन पत्रोंकी लम्बाई एवं चौड़ाई १०" × ४½" है। उसके प्रत्येक पत्रमें १२ पंक्तियोंमें ३५-४० वर्ण हैं। इनका प्रतिलिपि काल वि० सं० १५७७ है। यह प्रति शुद्ध एवं स्पष्ट है।[13]

कवि नाम निर्णय

जैन साहित्यमें लगभग आठ विबुध श्रीधरोंके नाम एवं उनकी लगभग उतनी ही कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। यथा १ पासणाहचरिउ, २ वड्ढमाणचरिउ, ३ सुकुमालचरिउ, ४ भविसयत्तकहा, ५ भविसयत्तपंचमीचरिउ, ६ भविष्यदत्तपंचमीकथा, ७ विश्वलोचनकोश एवं ८ श्रुतावतारकथा। इनमेंसे

१ निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित, १९०९

२. माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बईसे प्रकाशित, १९०९

३. भारतीय संस्कृतिमें जैन धर्मका योगदान, पृ० १३५

४ प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसीसे प्रकाशित, १९६५

५-१२. रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली, १९७४

१३. आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुरकी ग्रन्थ-सूचियाँ, भाग २

अन्तिम तीन रचनाएँ संस्कृत भाषामें तथा पाँचवी रचना अपभ्रंश भाषामें निबद्ध है। अन्तर्बाह्य साक्ष्योंके आधार पर तथा उनके रचनाकालोंको ध्यानमें रखते हुए यहाँ स्पष्ट विदित हो जाता है कि उन चारों कृतियोके लेखक भिन्न-भिन्न विबुध श्रीधर हैं, क्योंकि उनका रचनाकाल वि० स० १४ वी सदी से १७ वी सदीके मध्य है जो कि प्रस्तुत पासणाहचरिउके रचनाकाल (वि० स० ११८९) से लगभग २०० वर्षोंके बाद की है। अत: कालकी दृष्टिसे उनके कर्तृत्वका परस्परमें किसी भी प्रकारका मेल नही बैठता।

अवशिष्ट प्रथम चार रचनाएँ अपभ्रंश की हैं। उनकी प्रशस्तियोंसे ज्ञात होता है कि वे चारो रचनाएँ एक ही कवि विबुध श्रीधर की है जो विविध आश्रयदाताओंके आश्रयमे लिखी गई।

कविपरिचय एवं कालनिर्णय

सन्दर्भित 'पासणाहचरिउ' की प्रशस्तिमें विबुध श्रीधरने अपने पिताका नाम गोल्ह एव माताका नाम बील्ह बताया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपना अन्य किसी भी प्रकारका पारिवारिक परिचय नही दिया। पासणाहचरिउ की समाप्तिके एक वर्ष बाद प्रणीत अपने वड्ढमाणचरिउमें भी उन्होने अपना मात्र उक्त परिचय ही प्रस्तुत किया है। वह गृहस्थ था अथवा गृह-विरत त्यागी, इसकी भी कोई चर्चा उन्होंने नहो की। कविकी 'विबुध' नामक उपाधिसे यह तो अवश्य ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अपनी काव्य प्रतिभा के कारण उसे सर्वत्र सम्मान प्राप्त रहा होगा, किन्तु इससे उसके पारिवारिक जीवन पर कोई भी प्रकाश नही पडता। 'पासणाहचरिउ' एव 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रशस्तिके उल्लेखानुसार कविने चद्दप्पहचरिउ एव सतिजिणेसरचरिउ नामक दो रचनाएँ और भी लिखी थी किन्तु ये दोनो अभी तक उपलब्ध नही है। हो सकता है कि कविने अपनी इन प्रारम्भिक रचनाओकी प्रशस्तियोमे स्व-विषयक कुछ विशेष परिचय दिया हो, किन्तु यह तो उन रचनाओकी प्राप्तिके बाद ही कहा जा सकेगा।

विबुध श्रीधरका जन्म अथवा अवसान सम्बन्धी तिथियाँ भी अज्ञात है। उनकी जानकारीके लिए सन्दर्भ सामग्रीका सर्वथा अभाव है। इतना अवश्य है कि कविकी अद्यावधि उपलब्ध चार रचनाओकी प्रशस्तियोंमें उनका रचना समाप्ति-काल अकित है। उनके अनुसार पासणाहचरिउ तथा वड्ढमाणचरिउका रचना समाप्ति-काल क्रमश वि० स० ११८९ एव ११९० तथा सुकुमालचरिउ एव 'भविसयत्तकहा' का रचना-समाप्ति काल क्रमश वि० स० १२०८ और १२३० है। जैसा कि पूर्वमें बताया जा चुका है 'पासणाहचरिउ' एव वड्ढमाणचरिउमें जिन पूर्वोक्त 'चदप्पहचरिउ' एव सतिजिणेसरचरिउ नामक अपनी पूर्व रचित रचनाओंके उल्लेख कविने किये है वे अद्यावधि अनुपलब्ध ही हैं। उन्हें छोडकर बाकी उपलब्ध चारो रचनाओका रचनाकाल वि० स० ११८९ से १२३० तकका सुनिश्चित है। अब यदि यह मान लिया जाय कि कविको उक्त प्रारम्भिक रचनाओके प्रणयनमें १० वर्प लगे हो तथा उसने २० वर्षकी आयुसे साहित्य-लेखनका कार्यारम्भ किया हो, तब अनुमानत कविकी आयु लगभग ७१ वर्षकी सिद्ध होती है और जब तक अन्य ठोस सन्दर्भ-सामग्री प्राप्त नही हो जाती, तब तक मेरी दृष्टिसे कविका कुल जीवन काल वि० स० ११५९ से १२३० तक माना जा सकता है।

निवास स्थान एव समकालीन नरेश

पासणाहचरिउकी प्रशस्तिमे कविने अपनेको हरयाणा देशका निवासी बताया है और कहा है कि वह कहासे चदप्पहचरिउकी रचना-समाप्तिके बाद यमुना नदी पार करके ढिल्ली आया था। उस समय वहाँ राजा अनगपाल तोमरका राज्य था जिसने हम्मीर जैसे वीर राजाको भी पराजित किया था। अठारहवी सदीके अज्ञातकर्तृक "इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध"[1] नामक ग्रन्थमे उपलब्ध तोमरवशी बीस राजाओमेंसे उक्त अनगपाल

१ राजस्थान पुरातत्व विद्यामन्दिर, जोधपुरसे प्रकाशित, १९६३

अन्तिम बीसवाँ राजा था। इन्द्रप्रस्थमें अनंगपाल नामके तीन राजा हुए जिनमेंसे प्रस्तुत अनंगपाल तीसरा था। इससे जिस हम्मीर वीरको पराजित किया था, प्रतीत होता है कि वह कांगडा नरेश हाहुलिराव हम्मीर रहा होगा, जो एकबार हुका भरकर अरिदलमें जा घुसता था और उसे रौंद डालता था। इसी कारण हम्मीरको हाहुलिरावकी सज्ञा प्रदान की गयी थी जैसा कि पृथिवीराजरासोमें एक उल्लेख मिलता है

"हा कहते ढीलन करिय हलकारिय अरि मध्य।
तातें विरद हम्मीरको "हाहुलिराव" सुकथ्य॥

सम्भवत इसी हम्मीरको राजा अनगपालने हराया होगा। युद्धमें उसके पराजित होते ही उसके अन्य साथी-राजा भी भाग खडे हुए थे जैसा पासणाहचरिउमें कहा है

सेंधव सोण कीर हम्मीर सगरू मेल्लि चल्लिया॥छ॥ (पास०, ४।१३।२)

अर्थात् सिन्धु, सोन एव कीर नरेशोंके साथ राजा हम्मीर भी सग्राम छोडकर भाग गया।[1]

ढिल्ली-दिल्ली—विबुध श्रीधरने पासणाहचरिउमे जिस "ढिल्लो" नगरकी चर्चा की है, वह आधुनिक "दिल्ली"का ही तत्कालीन नाम है। कविके समयमें वह हरयाणा प्रदेशका एक प्रमुख नगर था। पृथिवीराजरासोमें पृथिवीराज चौहानके प्रसगोमे दिल्लीके लिए 'ढिल्ली' शब्दका ही प्रयोग हुआ है। उसमें इस नामकरणकी एक मनोरजक कथा भी कही गयी है, जिसे तोमरवशी राजा अनगपालकी पुत्री अथवा पृथवीराज चौहानकी माताने स्वय पृथवीराजको सुनायी है। उसके अनुसार राज्यकी स्थिरताके लिए एक ज्योतिषी के आदेशानुसार जिस स्थानपर कीली गाडी गई थी, वह स्थान प्रारम्भमें "किल्ली"के नामसे प्रसिद्ध हुआ, किन्तु उस कीलको ढीला कर देनेसे उस स्थानका नाम ढिल्ली पड गया, जो कालान्तरमे दिल्लीके नामसे जाना जाने लगा। अठारहवी सदी तक दिल्लीके ग्यारह नामोमेंसे "ढिल्ली" भी एक नाम माना जाता रहा, जैसा कि **इन्द्रप्रस्थप्रबन्धमें** एक उल्लेख मिलता है

शक्रपन्था इन्द्रप्रस्था शुभकृत योगिनीपुर।
दिल्ली ढिल्ली महापुया जिहानाबाद इष्यते॥
सुषेणा महिमायुक्ता शुभाशुभकरा इति।
एकादस मित नामा दिल्ली पुरा च वर्तते॥ (पद्य १४–१५)

इस प्रकार पासणाहचरिउमे राजा अनगपाल, राजा हम्मीर वीर एव ढिल्लीके उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टिसे बडे महत्वपूर्ण हैं। इन सन्दर्भों तथा समकालीन साहित्य एव इतिहासके तुलनात्मक अध्ययनसे मध्य-कालीन भारतीय इतिहासके कई प्रच्छन्न अथवा जटिल रहस्योका उद्घाटन सम्भव है।

हरयाणा एव ढिल्लीकी भौगोलिक स्थिति तथा कविकी साहू आल्हण तथा साहू नट्टलके साथ मर्मस्पर्शी भेंट—प्रस्तुत रचनाकी आद्यप्रशस्तिके अनुसार कवि अपनी 'चदप्पहचरिउ'की रचना समाप्तिके बाद कार्य-व्यस्त असख्य ग्रामोवाले हरयाणा प्रदेशको छोडकर यमुना नदी पार कर ढिल्ली आया था। वहाँ सर्वप्रथम राजा अनगपालके एक मन्त्री साहू अल्हणसे उसकी भेंट हुई। साहू उसके 'चदप्पह-चरिउ'का पाठ सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि उसने कविको नगरके महान साहित्यरसिक एव प्रमुख सार्थवाह साहू नट्टलसे भेंट करनेका आग्रह किया। किन्तु कवि बडा सकोची था। अत उसने उससे भेंट

---

१ विशेषके लिए देखिये, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित तथा लेखक द्वारा सम्पादित **वड्ढमाणचरिउ** की भूमिका, पृ० ७०

करनेकी अभिलाषा प्रकट करते-हुए कहा कि "हे साहू, संसारमें दुर्जनोंकी कमी नही। वे कूट कपटको ही विद्वत्ता मानते हैं, सज्जनोंसे ईर्ष्या एवं विद्वेष रखते हैं तथा उनके सद्गुणोंको असह्य मानकर उनसे दुर्व्यवहार करते हैं। वे उन्हें कभी तो मारते हैं और कभी टेढ़ी-मेढी, भौंहें दिखाते हैं अथवा कभी उनका हाथ, पैर अथवा सिर ही तोड देते हैं। मैं तो ठहरा सीधा-सादा, सरल स्वभावी, अत मैं किसीके घर जाकर उससे नही मिलना चाहता।"

किन्तु अल्हण साहूके पूर्ण विश्वास दिलाने एव बार-बार आग्रह करनेपर कवि साहू नट्टलके घर पहुँचा, तो वह उसके मधुर व्यवहारसे बडा सन्तुष्ट हुआ। नट्टलने प्रमुदित होकर कविको स्वय ही आसनपर बिठाया और सम्मान सूचक ताम्बूल प्रदान किया। उस समय नट्टल एव श्रीधर—दोनोके मनमे एक साथ एक ही जैसी भावना उदित हुई। वे परस्परमे सोचने लगे,

"ज पुव्व जम्मि पविरइउ किंपि। इह विहवसरेण परिणवइ तंपि॥"

अर्थात् हमने पूर्वभवमें ऐसा कोई सुकृत अवश्य किया था जिसका आज साक्षात् ही यह मधुर फल हमे मिल रहा है।

साहू नट्टलके द्वारा आगमन प्रयोजन पूछे जाने पर कविने उत्तरमे कहा "मै अल्हण साहूके अनुरोधमे आपके पास आया हूँ। उन्होने मुझसे आपके गुणोकी चर्चा की है और बताया है कि आपने एक 'आदिनाथ मन्दिर'का निर्माण कराकर उसपर 'पचरंगे' झण्डेको फहराया है। आपने जिस प्रकार उस भव्य मन्दिरकी प्रतिष्ठा कराई है, उसी प्रकार आप एक 'पार्श्वनाथचरित' की रचना कराकर उसे भी प्रतिष्ठित कराइये जिससे आपको पूर्ण सुख-समृद्धि प्राप्त हो सके तथा जो कालान्तरमें मोक्षप्राप्तिका भी कारण बन सके। इसके साथ-साथ स्वामीकी एक मूर्ति भी अपने पिताके नाममे उस मन्दिरमे प्रतिष्ठित करा दीजिये।" कविके कथनको सुनकर साहू नट्टलने तत्काल ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

प्रचलित इतिहास सम्बन्धी भ्रान्तियोंके निराकरणमे पासणाहचरिउका योगदान

कुछ विद्वानोने 'पासणाहचरिउ'के प्रमाण देते हुये नट्टल साहू द्वारा दिल्लीमें पार्श्वनाथ मन्दिरके निर्माण कराए जानेका उल्लेख किया है[1] और विद्वज्जगतमे अब लगभग यही धारणा बनती जा रही है कि साहू नट्टलने दिल्लीमे पार्श्वनाथका मन्दिर बनवाया था जबकि वस्तुस्थिति सर्वथा उससे भिन्न है। यथार्थत नट्टलने दिल्लीमे पार्श्वनाथ मन्दिर नहो, आदिनाथ जिन मन्दिरका निर्माण कराया था जैसा कि आद्य प्रशस्तिमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है (१।९।१-२)।

उक्त वार्तालाप कवि श्रीधर एव नट्टल साहूके बीचका है। उस कथनमें 'पार्श्वनाथचरित्र' नामक ग्रन्थके निर्माण एव उसके प्रतिष्ठित किए जानेकी चर्चा तो अवश्य आई है किन्तु पार्श्वनाथ मन्दिरके निर्माणकी कोई चर्चा नही और कुतुबुद्दीन ऐबकने नट्टल साहू द्वारा निर्मित जिस विशाल जैन मन्दिरको ध्वस्त करके उसपर 'कुव्वत-उल-इस्लाम' नामकी मस्जिदका निर्माण कराया था,[2] वह मन्दिर निश्चित ही पार्श्वनाथका नही, आदिनाथका ही था। 'पार्श्वनाथ मन्दिर'के निर्माण कराये जानेके समर्थनमे विद्वानोने जो भी सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, उनमेसे किसी एकसे भी उक्त तथ्यका समर्थन नही होता। प्रतीत होता है कि उक्त 'पार्श्वचरित'को ही भूलसे 'पार्श्वनाथ मन्दिर' मान लिया गया, जो सर्वथा भ्रमात्मक है।

१-२ दिल्ली जैन डायरेक्टरी, पृ०, ४

इसी प्रकार, साहू नट्टलको अल्हण साहूका पुत्र मान लिया गया[1] जो वास्तविक तथ्यके सर्वथ विपरीत है। मूल ग्रन्थका विधिवत् अध्ययन न करने अथवा उसकी भाषाको न समझने या आनुमानिक आधारोंपर प्राय ऐसी ही भ्रमपूर्ण बातें कह दी जाती हैं जिनसे यथार्थ तथ्योंका क्रम ही लडखडा जाता है। पासणाहचरिउकी प्रशस्तिके अनुसार अल्हण एव नट्टल—दोनों घनिष्ट मित्र तो थे, किन्तु पिता-पुत्र नही। अल्हण राजमन्त्री था, जबकि नट्टल साहू ढिल्ली नगरका एक सर्वश्रेष्ठ, सार्थवाह, साहित्यरसिक, उदार, दानी एव कुशल राजनीतिज्ञ था। वह अपने व्यापारके कारण अग-वग, कलिग, गोड, केरल, कर्नाटक, चोल, द्रविड, पाचाल, सिन्ध, खश, मालवा, लाट, जट्ट, नेपाल, टक्क, कोकण महाराष्ट्र, भादानक, हरयाणा, मगध, गुर्जर एव सौराष्ट्र जैसे देशोमे प्रसिद्ध था तथा वहाँके राजदरबारोमें उसे सम्मान प्राप्त था। कविने इसी नट्टल साहूके आश्रयमें रहकर पासणाहचरिउकी रचना की थी। इसी रचनाकी आदि एव अन्तकी प्रशस्तियो एव पुष्पिकाओमे साहू नट्टलके कृतित्व एव व्यक्तित्वका अच्छा परिचय प्रस्तुत किया है।

वर्ण्य विषय

प्रस्तुत 'पासणाहचरिउ'मे कुल मिलाकर १२ सन्धियाँ एव २४७ कडवक हैं। कविने इसे२५०० ग्रन्थाग्र प्रमाण कहा है। उसके वर्ण्यविषयका वर्गीकरण निम्न प्रकार है

सन्धि १—आद्य प्रशस्तिके बाद वैजयन्त विमानसे कनकप्रभदेवका चयकर वामा देवीके गर्भमे आना।

सन्धि २—राजा हयसेनके यहाँ पार्श्वनाथका जन्म एव बाललीलाएँ।

सन्धि ३—हयसेनके दरबारमे यवन नरेन्द्रके राजदूतका आगमन एव उसके द्वारा हयसेनके सम्मुख यवन-नरेन्द्रकी प्रशसा।

सन्धि ४—राजकुमार पार्श्वका यवन-नरेन्द्रसे युद्ध तथा मामा रविकीर्ति द्वारा उसके पराक्रमकी प्रशसा।

सन्धि ५—रविकीर्ति द्वारा पार्श्वसे अपनी पुत्रीके साथ विवाह कर लेनेका प्रस्ताव। इसी बीचमे वनमें जाकर जलते हुये नाग-नागिनीको अन्तिम वेलामें मन्त्र प्रदान एव वैराग्य।

सन्धि ६—हयसेनका शोक सन्तप्त होना। पार्श्वकी घोर तपस्याका वर्णन।

सन्धि ७—पार्श्व तपस्या एव उनपर कमठ द्वारा किया गया घोर उपसर्ग।

सन्धि ८,९—कैवल्य प्राप्ति, समवशरण–रचना एवं धर्मोपदेश।

सन्धि १०—रविकीर्ति द्वारा दीक्षाग्रहण।

सन्धि ११—धर्मोपदेश।

सन्धि १२— पार्श्वके भवान्तर तथा हयसेन द्वारा दीक्षाग्रहण। अन्त्य प्रशस्ति।

पासणाहचरिउमें समकालीन राजनीतिक घटनाओंकी झलक

'पासणाहचरिउ' एक पौराणिक महाकाव्य है, अत उसमे पौराणिक इतिवृत्त तथा दैवी चमत्कार आदि प्रसगोकी कमी नही। इसका मूल कारण यह है कि कवि विबुध श्रीधरका युग सक्रमणकालीन युग था। कामिनी एव काञ्चनके लालची मुहम्मद गोरीके आक्रमण प्रारम्भ हो चुके थे, उसकी विनाशकारी लूटपाटने उत्तर भारतको थर्रा दिया था। हिन्दू राजाओमें भी फूटके कारण परस्परमें बडी कलह मची हुई थी। ढिल्लीके तोमर राजा अनङ्गपालको अपनी सुरक्षा हेतु कई युद्ध करने पडे थे। कविने जिस हम्मीर वीरके अनङ्गपाल द्वारा पराजित किए जानेकी चर्चा की है, सम्भवत वह घटना कविकी आँखो देखी रही होगी। कविने कुमार पार्श्वके अभयराजके साथ तथा त्रिपृष्ठके हयग्रीवके साथ जैसे क्रमबद्ध एव व्यवस्थित युद्ध वर्णन किये हैं, वे वस्तुत कल्पना प्रसूत नही, किन्तु हिन्दू-मुसलमानो अथवा हिन्दू राजाओंके पारस्परिक युद्धोके आँखो देखे

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, पृ० ४।१३८

अथवा विश्वस्त गुप्तचरों द्वारा सुने गये यथार्थ वर्णन जैसे प्रतीत होते हैं। उसने उन युद्धोंमें प्रयुक्त जिन शस्त्रास्त्रोंकी चर्चाकी है, वे पौराणिक, ऐन्द्रजालिक अथवा दैवी नही, अपितु खुरपा. कृपाण, तलवार, धनुषबाण जैसे वे ही अस्त्र-शस्त्र हैं जो कविके समयमें लोक प्रचलित थे। आज भी वे हरयाणा एव दिल्ली प्रदेशोंमें उपलब्ध हैं और उन्हीं नामोंसे जाने जाते हैं। ये युद्ध इतने भयङ्कर थे कि लाखो-लाखो विधवा नारियों एव अनाथ बच्चोंके करुण क्रन्दनको सुनकर सवेदनशील कविको लिखना पडा था

> धुक्कह होई रणगणु। रिउ बाणावलि पिहिय जहगणु।
> सगरणामु जि होई भयकरु। दुरय-दुग्य रह सुहड खयकरु ॥ पा० २।१४।३,५

कुछ मनोवैज्ञानिक वर्णन एवं नवीन मौलिक उपमाएँ

कवि श्रीधर भावोंके अश्रुत चितेरे हैं। यात्रा-मार्गोंमें चलने वाले चाहे सैनिक हो अथवा अटवियोंमें उछल-कूद करने वाले बन्दर, वन विहारोंमें क्रीडाएँ करने वाले प्रेमी-प्रेमिकाएँ हो अथवा आश्रमोंमें तपस्या करने वाले तापस, राज दरबारोके सूर सामन्त हो अथवा साधारण प्रजाजन, उन सभीके मनोवैज्ञानिक वर्णनोंमें कविकी लेखनीने अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। इस प्रकारके वर्णनोंमें कविकी भाषा भावानुगामिनी एव विविध रस तथा अलकार उनका अनुकरण करते हुए दिखाई देते हैं।

पार्श्व प्रभु विहार करते हुए तथा कर्वट, खेड, मडव आदि पार करते हुए जब एक भयानक अटवीमे पहुँचते हैं, तब वहाँ उन्हे मदोन्मत्त गजाधिप, द्रुतगामी हरिण, भयानक सिंह, घुरघुराते हुए मार्जार एव उछल-कूद करते हुए लगूरोके झुण्ड दिखाई पडते हैं। इस प्रसङ्गमे कवि द्वारा प्रस्तुत लगूरोका वर्णन बडा स्वाभाविक बन पडा है (७।१४।४-१६)।

अन्य वर्णन प्रसङ्गोमे भी कविका कवित्व चमत्कारपूर्ण बन पडता है। इनमे कल्पनाओकी उर्वरता, अलङ्कारकी छटा एव रसोंके अमृतमय प्रवाह दर्शनीय है। इस प्रकारके वर्णनोमे ऋतु-वर्णन, अटवी, वर्णन, सन्ध्या, रात्रि एव प्रभात-वर्णन तथा आश्रम-वर्णन आदि प्रमुख है। कविकी दृष्टिमें सन्ध्या किसीके जीवनमें हर्ष उत्पन्न करती है, तो किसीके जीवनमें विषाद। वस्तुत वह हर्ष एव विषादका विचित्र सङ्क्रमकाल है। जहाँ कामीजनो, चोरो, उल्लुओ एव राक्षसोके लिए वह श्रेष्ठ वरदान है, वही नलिनीदलके लिए घोर विषादका काल। वह उसी प्रकार मुरझा जाता है जिस प्रकार इष्टजनके वियोगमे बन्धु-बान्धवगण। सूर्यके डूबते ही उसकी समस्त किरणे अस्ताचलमे तिरोहित हो गई है। इस प्रसङ्गमें कवि उत्प्रेक्षा करते हुये कहता है कि विपत्तिकालमे अपने कर्मोको छोडकर और कौन किसका साथ दे सकता है? सूर्यके अस्त होते ही अस्ताचल पर लालिमा छा रही है जो ऐसी प्रतीत हो रही है मानो अन्धकारके गुपठा ललाटपर किसीने सिन्दूरका तिलक ही जड दिया हो। अन्धकारके गुफा ललाटपर किसीने सिन्दूरका तिलक जड ही दिया हो। यह कवि-कल्पना सचमुच ही अद्भुत एव नवीन है।

कविका रात्रि-वर्णन प्रसङ्ग भी कम चमत्कारपूर्ण नही है। वह कहता है कि समस्त ससार घोर अन्धकारकी गहराईमें डूबने लगा है। इस कारण विलासिनियोके कपोल रक्ताभ हो उठे है तथा उनके नीवी-बन्ध शिथिल होने लगे है।

महाकवि सूर एव जायसी पर प्रभाव

कवि श्रीधरने शिशुकी लीलाओका भी बडा सुन्दर वर्णन किया है। उनकी बाल एव किशोर-लीलाओ तथा उनके असाधारण सौन्दर्य एव अङ्ग-प्रत्यङ्गकी भाव-भङ्गिमाओंके चित्रणोमें कविकी कविता मानो

सरलताका स्रोत बनकर उमड रही है। वहाँ कवि कहता है, "शिशु पार्श्व कभी तो माताके अमृतमय दुग्धका पान करते, कभी अँगूठा चूसते, कभी मणि जटित चमचमाती गेंद खेलते, तो कभी तुतली बोलीमें कुछ बोलनेका प्रयास करते। कभी तो वे स्वय रेंग-रेंगकर चलते और कभी परिवारके लोगोकी अँगुली पकडकर चलते। जब वे माता-पिताको देखते, तो अपनेको छिपानेके लिए हथेलियोंसे अपनी ही आँखें ढँक लेते। चन्द्रमाको देखकर वे हँस देते थे। उनका जटाजूटधारी शरीर निरन्तर धूलि-धूसरित रहता था। खेलते समय उनकी करधनीकी शब्दायमान किंकिणियाँ सभीको मोहती रहती थी।" कविके इस बाल-लीला वर्णनने हिन्दीके भक्त कवि सूरदासको सम्भवत सर्वाधिक प्रभावित किया है। पार्श्वकी बाल-लीलाओंके वर्णनोंका प्रभाव कृष्णके बाल्य वर्णनमें स्पष्ट रूपेण दृष्टिगोचर होता है। कही-कही तो अर्घालियोमें भी यत्किञ्चित् हेर-फेरके साथ उनका सूर द्वारा उपयोग कर लिया गया प्रतीत होता है। यथा

श्रीधर—अविरल धूलि धूसरिय गत्त, २।१५।५
सूर—धूरि धूसरित गात, १०।१००।३
श्रीधर—होहल्लरु (ध्वन्यात्मक), २।१४।८
सूर—हलरावे (ध्वन्यात्मक), १०।१२८।८
श्रीधर—खलियक्खर वयणिहि वज्जरन्तु, २।१४।३
सूर—बोलत श्याम तोतरी बतियाँ, १०।१४७
श्रीधर—परिवारगुलि लग्गउ सरन्तु, २।१४।४
सूर—हरिकौं लाइ अगुरी चलन सिखावत, १०।१२८।८

इस प्रकार दोनों कवियोके वर्णनोंकी सदृशताओको देखते हुए यदि सक्षेपमें कहना चाहें तो कह सकते हैं कि श्रीधरका सक्षिप्त बाल-वर्णन सूरदास कृत कृष्णकी बाल-लीलाओंके वर्णनके रूपमें पर्याप्त परिष्कृत एव विकसित हुआ है।

मध्यकालीन उत्तरभारतीय वनस्पति जगत्

कवि श्रीधर द्वारा वर्णित विविध वनस्पतियाँ भी कम आश्चर्यजनक नही। अटवी वर्णनके प्रसङ्गमें विविध प्रकारके वृक्ष, पौधे, लताये, जिमीकन्द आदिके वर्णनोमे कविने मानो सारे प्रकृति जगत्को ही साक्षात् उपस्थित कर दिया है। आयुर्वेद एव वनस्पतिशास्त्रके मध्यकालीन इतिहासकी दृष्टिसे कविकी यह सामग्री बडी महत्त्वपूर्ण है। कवि द्वारा वर्णित वनस्पतियोका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है।

शोभावृक्ष—हिंताल, तालूर, साल, तमाल, मालूर, धर, धम्मण, बस, खदिर, तिलक, अगस्त्य' प्लक्ष, चन्दन।

फलवृक्ष—आम्र, कदम्ब, नीबू, जम्बीर, जामुन, मातुलिंग, नारगी, अरलू, कोरटक, अकोल्ल, फणिस, प्रियगु, खजूर, तिन्दुक, कैथ, ऊमर, कठूमर, चिंचिणी (चिलगोजा), नारिकेल, वट, सेंवल, ताल।

पुष्पवृक्ष—चम्पक, कचनार, कणवीर (कनेर), टउह, कउह, बबूल, जासवण (जाति ?) शिरीष, पलाश, बकूल, मुचकुन्द, अर्क, मधुवार।

फल एवं पुष्प लताऐं—लवग, पूगफल, विरिहिल्ल, भल्लु, केतकी, कुरव, कर्णिकार, पाटलि, सिन्दूरी, द्राक्षा, पुनर्नवा, वाण, बोर, कच्चूर।

कंद—जिमीकन्द, पीलू, मदन एव गंगेरी।

विबुध श्रीधरके उक्त वनस्पति वर्णनने परवर्ती कवियोंमें सूफी कवि जायसीको सम्भवत बहुत अधिक प्रभावित किया है। इस प्रसगमें जायसी कृत पद्मावत[1] (२।१०-१३ एव २०।१-१६) के सिंहलद्वीप वर्णन एवं वसन्तखण्डके अंश पासणाहचरिउके उक्त अशसे तुलनीय हैं। दोनोंके अध्ययनसे यह प्रतीत होता है कि जायसीका वनस्पति-वर्णन श्रीधरके वनस्पति-वर्णनका पल्लवित एव परिष्कृत रूप है।

समकालीन लौकिक शिक्षा-पद्धति

"पासणाहचरिउ" में कुमार पार्श्वके लिए जिन शिक्षाओको प्रदान किये जानेकी चर्चा आई है, वे प्राय- समकालीन प्रचलित एव क्षत्रिय राजकुमारो तथा अमीर उमराओको दी जानेवाली लौकिक शिक्षायें ही हैं। कविने इस प्रसगमें किसी प्रकारका साम्प्रदायिक व्यामोह न दिखाकर विशुद्ध यथार्थ, लौकिक एवं राष्ट्रीय रूपको प्रदर्शित किया है। इन शिक्षाओंका विभाजन निम्न चार वर्गोंमे किया जा सकता है

१ आत्मविकास एवं जीवनको अलकृत करनेवाली विद्याये (साहित्य)

श्रुताग, वेद, पुराण, आचार शास्त्र, व्याकरण, सप्तभगीन्याय, लिपिशास्त्र, लेखनक्रिया (चित्र-निर्माणविधि), सामुद्रिक शास्त्र, कोमल काव्यरचना, देशभाषा कथन, नवरस, छन्द, अलकार, शब्दशास्त्र एवं न्यायदर्शन।

२ राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु आवश्यक विद्यायें (कलाएँ)

गज एव अश्व विद्या, शर-शस्त्रादि सचालन, व्यूह-सरचना, असि एव कुन्त सचालन, मुष्टि एव मल्लयुद्ध, असि-बन्धन, शत्रुनगर-रोधन, रणमुखमे ही शत्रुरोधन, अग्नि एव जल बन्धन, वज्र-शिलावेधन, अश्व, धेनु एव गजचक्रका मूल बन्धन।

३. व्यावहारिक विद्याएँ (कलाएँ)

अजन-लेपन, नर-नारी-प्रसाधन, अग-मर्दन, सुर-भवन (मन्दिर) आदिमें लेपन (चित्रकारी) का ज्ञान, नर-नारी वशीकरण, पाँच प्रकारके घण्टोका वादन, चित्रोपल, स्वर्णतरुके तागोका निर्माण, कृषि एव वाणिज्य विद्यायें, काल परिवचण (अर्थात् अचूक ओषधि शास्त्रका ज्ञान एव औषधि निर्माण विद्या), सर्प विद्याका ज्ञान, नवरसयुक्त भोजन निर्माण विधि एव रति विस्तार (कामशास्त्र)

४. संगीत एवं वाद्य सम्बन्धी विद्याएँ (ललित कलाएँ)

मन्दल, टिविल, ताल, कसाल, भमा, भेरी, झल्लरी, काटल, करड, कबु, डमरू, ढक्क, हुडुक्क एव टट्टरीका ज्ञान।

उपर्युक्त विद्याओंकी सूचीमें एक भी अलौकिक विद्याका उल्लेख नही। कविने युगानुकूल उन्ही समकालीन लोकप्रचलित विद्याओका वर्णन किया है जो एक उत्तरदायित्वपूर्ण मध्यकालीन राष्ट्राध्यक्षको सामाजिक विकासके लिए अत्यावश्यक, उन्नत, प्रभावपूर्ण तथा सर्वांगीण व्यक्तित्वके विकासके लिए अनिवार्य थी। इसीलिए कविका नायक पार्श्व जैन होकर भी चारो वेदों एव अष्टादश पुराणोंका अध्येता बताया गया है क्योंकि उसके राज्यमें विविध धर्मानुयायियोका निवास था। सगीतमे भी जिन वाद्योकी चर्चा कविने की है, वे भी देवकृत अथवा पौराणिक वाद्य नही, अपितु वे वाद्य हैं जो हरयाणा एव दिल्ली तथा उनके आसपासके प्रदेशोंमें प्रचलित थे। अधिकाश वाद्य पजाब एव हरयाणामें आज भी उन्ही नामोसे जाने जाते हैं तथा भागडा या अन्य नृत्योमें प्राय उन्हीका अधिक प्रयोग होता है।

---

१. साहित्य-सदन, चिरगांव, झाँसीसे प्रकाशित।

प्रचुर भौगोलिक सामग्री

कवि श्रीधर मात्र भावनाओंके ही चितेरे नही, अपितु उन्होंने जिस भूखण्ड पर जन्म लिया था, उसके कण-कणके अध्ययनका भी प्रयास किया था। यही कारण है कि पासणाहचरिउमें विविध नगर एवं देशवर्णन, नदी, पहाड, सरोवर, वनस्पतियाँ, विविध मनुष्य जातियाँ, उनके विविध व्यापार, भारत भूमिका तत्कालीन राजनीतिक विभाजन, विविध देशोके प्रमुख उत्पादन तथा उनके आयात-निर्यात सम्बन्धी अनेक भौगोलिक सामग्रियोंके चित्रण भी कविने किये हैं। उदाहरणार्थ कुछ सामग्री यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

कुमार पार्श्व जिस समय काशी राज्यके युवराज पदपर प्रतिष्ठित किए जाते है, उस समय निम्न छब्बीस देशोके नरेश उन्हें सम्मान प्रदर्शन हेतु तलवार हाथमे लेकर उनके राज दरबारमें पधारते हैं। उक्त देशोके वर्गीकृत नाम इस प्रकार है

पूर्व भारत—वज्रभूमि, अग, बग, कलिंग, मगध, पापा, खश एव गौड।

उत्तर भारत—हरयाणा, टक्क, चौहान, जालन्धर, हाण एव हूण।

पश्चिम भारत—गुर्जर, कच्छ और सिन्धु।

दक्षिण भारत—कर्नाटक, महाराष्ट्र, चोड एव राष्ट्रकूट।

मध्य भारत—मालवा, अवध, चन्दिल्ल, भादानक एव कलचुरी।

युवराज पार्श्व जब यवनराजके साथ युद्ध करने हेतु प्रस्थान करने लगते हैं, तब निम्न नरेशोने अपने-अपने देशोमें निर्मित निम्न सुप्रसिद्ध वस्तुएँ युवराज पार्श्वकी सेवामें भेंट स्वरूप भेजी।

मणिमेखलाएँ एव हारलताएँ—कीर देश, पाञ्चाल एव टक्क देश, पालम्ब एव जालन्धर।

बाणो द्वारा अभेद्य मुकुट—सोन देश।

केयूर—सिन्ध देश।

कंकण—हम्मीर राजा द्वारा प्रेषित।

कुण्डल—मालव।

निवसन वस्त्र—खश।

चूडारत्न—नेपाल।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्यारहवी-बारहवी सदीमें उक्त देशोमें इन वस्तुओका विशेष रूपसे निर्माण किया जाता था तथा उनका दूसरे देशोमें निर्यात भी किया जाता रहा होगा। असम्भव नही कि इन व्यापारोसे कवि श्रीधरके आश्रयदाता साहू नट्टलका भी सम्बन्ध रहा हो क्योंकि कविने साहू नट्टलका जिन-जिन देशोंसे सम्बन्ध बतलाया हैं, इस सूचीमें उक्त देशोका भी नाम आता है। मध्यकालीन भारतकी आर्थिक एव व्यापारिक दृष्टिसे तो ये उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं ही, तत्कालीन कला, सामाजिक अभिरुचि एव विविध निर्माण सामग्रीके उपलब्धि-स्थलोकी दृष्टिसे भी उनका अपना विशेष महत्त्व है।

काशी देशकी ओरसे यवनराजके साथ लोहा लेनेवाले राज्योंसे नेपाल, जालन्धर, कीरट्ट एव हमीरने हाथियोके समान चिंघाडते हुए, सिन्ध, सोन एव पाञ्चालने भीमके समान मुखवाले बाण छोडते हुए तथा मालव, टक्क एव खशने दुर्दम यवनराजके साथ विषम युद्ध करके काशी नरेशका साथ दिया। प्रतीत होता है कि उक्त राज्योंने अपना महासंघ बनाकर काशी नरेशका साथ दिया होगा, जिसमें कर्नाटक, लाट, कोंकण, बराट, विकट, द्राविड, भृगुकच्छ, कच्छ, अति विकट वत्स, डिंडीर, अत्यन्त दु साध्य विन्ध्य, कोशल,

मरट्ठ एवं भृष्ट सौराष्ट्रने भी उक्त महासंघका पूरा पूरा साथ दिया था और इनकी सम्मिलित शक्तिने ही यवनराजको बार-बार पीछे हटा दिया था।

इतने देशोंके नामोंके एक साथ उल्लेख अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। यवराज सुबुक्तगीन एव उसके उत्तराधिकारियों तथा मुहम्मद गोरीके आक्रमणोंसे जब धन, जन, सामाजिक एव राष्ट्रीय प्रतिष्ठाकी हानि एवं देवालयोंका विनाश किया जा रहा था, तब प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय सुरक्षा एव समान स्वार्थों को ध्यानमें रखते हुए पड़ोसी एव सुदूरवर्ती राज्योंने उक्त यवन राजाओंके आक्रमणोंके प्रतिरोधमें सम्भवत तोमरवंशी राजा अनगपाल तृतीयके साथ अथवा अपना कोई स्वतन्त्र महासघ बनाया होगा। कविने सम्भवत' उसीकी चर्चा पार्श्व एव यवनराजके माध्यमसे प्रस्तुत की हैं। यथार्थत यह बडा रोचक एव गम्भीर शोधका विषय है। शोधकर्ताओं एव इतिहासकारोको इस दिशामें तुलनात्मक गम्भीर अनुसन्धान करनेकी आवश्यकता है।

कविने प्रसगवश हरयाणा, दिल्ली, कुशस्थल, कालिन्दी, वाराणसी एव मगध आदिके भी सुन्दर वर्णन किये हैं तथा छोटी-छोटी भौगोलिक इकाइयो (कर्वट, खेड, मडम्ब, आराम, द्रोणमुख, सवाहन, गाम, पट्टन, पुर, नगर आदि) के भी उल्लेख किये हैं। समकालीन दिल्लीका आँखों देखा हाल इस कविने जितने प्रामाणिक ढगसे किया है, इतिहासकी दृष्टिसे वह अनूठा है। पूर्वोक्त वर्णनो एव इन उल्लेखोको देखकर यह स्पष्ट है कि कविको मध्यकालीन भारतका आर्थिक, व्यापारिक, प्राकृतिक, मानवीय एव राजनीतिक भूगोलका अच्छा ज्ञान था। कवि द्वारा प्रस्तुत सन्दर्भ सामग्री निश्चय ही तत्कालीन प्रामाणिक इतिहास तैयार करनेमें सहायक सिद्ध हो सकती है।

रस-संयोजन

पासणाहचरिउका अगी रस शान्त है, किन्तु शृगार, वीर और रौद्ररसोका भी उसमें सम्यक् परिपाक हुआ है। कविने युद्धके लिए प्रस्थान, सग्राममें चमचमाती तलवारें, लडते हुए वीरोंकी हुकारो एव योद्धाओंके शौर्य-वीर्य आदिके वर्णनोमें वीर-रसकी सुन्दर उद्भावना की है। पार्श्वकुमारको उसके पिता अश्वसेन जब युद्धकी भयकरता समझाकर उन्हे युद्धमे न जानेकी सलाह देते हैं, तब पार्श्व अत्यन्त वीरतापूर्ण उत्तर देते हैं (पा० च०, ३।१२)।

राजा अरविन्द कमठके दुराचारसे खिन्न होकर क्रोधातुर हो जाता है और उसे नाना प्रकारके दुर्वचनो द्वारा अपमानित करता हं, तब राजाके रौद्र रूपका कविने चित्रण कर रौद्र-रसकी अच्छी उद्भावना की है। इसी प्रकार पार्श्वके वैराग्यके समय परिवार एव पुरवासियोके वियोगके अवसरपर करुण रस तथा जब पार्श्व वनमें जाकर दीक्षित हो जाते है, उस सन्दर्भमें शान्त-रसका सुन्दर परिपाक हुआ है।

शृंगार रसके भी जहाँ-तहाँ उदाहरण मिलते हैं। कविने नगर, वन, पर्वत, नर एव नारियोके सौन्दर्यका मोहक चित्रण किया है, किन्तु यह शृगार रतिभावको पुष्ट न कर विरक्तिको ही पुष्ट करता है। माता वामादेवीके सौन्दर्यका वर्णन इसका उदाहरण है।

समकालीन लोक-शब्दावली

पासणाहचरिउ एक प्रौढ़ अपभ्रश रचना है, किन्तु उसमे कविने जहाँ-तहाँ अपभ्रशके साथ-साथ तत्कालीन लोक-प्रचलित कुछ ऐसे शब्दोके भी प्रयोग किये हैं जो आधुनिक बोलियोके समकक्ष हैं। इनमेंसे कुछ शब्द तो आज भी हूबहू उसी रूपमें प्रचलित है। इस प्रकारकी शब्दावलीसे कविकी कवितामें प्राणवत्ता, वर्णन प्रसगोंमें रोचकता एव गतिशीलता आई है। उदाहरणार्थ कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत है बार-बार

(बारम्बार ३।८।१), हल्ला (शोरगुल, ४।१८।४), फाडना (४।९।१), बोका (१०।५।३), (१०।१४।७), डमरु (३।१०।११, ३।११।५), पतला (१।१३।१०), हौलें-हौलें (धीरे-धीरे, ३।१७।२), चप्प (चापना, ५।७।८), चापना (७।११।४), चुल्ली (चूल्हा, ४।१।१४), लक्कड (६।८।१२), पण्ही (जूता, ४।९।४), कुमलाना (मुरझाना ३।१८।८), खुरुप्प (खुरपा, ४।१९।१३, ५।११।९), चोवन (चोल ३।१८।२), लट्ठी (लाठी, ३।११।३), मुट्ठि (३।११।४), थट्ट (भीड, ३।६।१२), चिंच, (चञ्जी ४।९।१), तोड (तोडना, ४।९।८), घुत्त (नशेमें चूर, ३।१३।२), चोजु (आश्चर्य १।१३।९), अन्धार (अन्धेरा, ३।१९।७), रेल्ल (धक्का, मुक्की, ७।१३।१४), पेल्ल (३।८।४), बोल्लाविय (बुलाना, ३।८।४), उट्ठिउ (उठा, ३।८।१), झाडन्त (झाडकर, ४।९।८), ढुक्क (ढूंकना, झांकना, ३।१८।११, ४।१९।७), बुड (डूबना, ३।१८।३), पाण्डल (७।९।२), टालन्त (टालना, ७।९।९), कड्ड (निकालना, ४।२०।१८), चिक्कार (ध्वन्यात्मक, ५।१।५, ५।३।१४)।

उपर्युक्त शब्दावलीमेंसे अधिकांश शब्द हरयाणवी, राजस्थानी, बुन्देली एवं बघेलीमें आज भी उसी प्रकार अथवा यत्किंचित् हेरफेरके साथ प्रयुक्त होते हैं।

कवि श्रीधर अपभ्रंशके साथ-साथ संस्कृत भाषाके भी समानाधिकारी विद्वान् थे, यह उनकी अन्त्य प्रशस्तिमे लिखित संस्कृत श्लोकोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है। कविने शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका एवं आर्या छन्दोमें अपने आश्रयदाता नट्टल साहूको आशीर्वाद देते हुए उसकी वंशावली प्रस्तुत की है। नट्टलका परिचय देते हुए कवि लिखता है

पश्चाद् बभूव शशिमण्डलभासमान ख्यात क्षितीश्वरजनादपि लब्धमान ।
सद्दर्शनामृतरसायनपानपुष्ट श्रीनट्टल शुभमना क्षपितारिदुष्ट ॥

उक्त सन्दर्भ सामग्रियोके आधारपर पासणाहचरिउ अपभ्रंश साहित्यकी एक महनीय कृति सिद्ध होती है। स्थानाभावके कारण उक्त रचनाके सर्वांगीण अध्ययनसे जो सन्दर्भ सामग्री एकत्रित हुई, उसे अनेक सीमाओंमें बँधे रहनेके कारण पूरा विस्तार नही दिया जा सका है। फिर भी, जो सक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया, उसम स्पष्ट है कि वस्तुत यह ग्रन्थ समकालीन विविध परिस्थितियोका एक सुन्दर प्रामाणिक आकर ग्रन्थ है जिसके विधिवत् अध्ययनसे अनेक गूढ तथ्य प्रकाशित हो सकते हैं।



जैनगीतिकाव्यमें भक्ति-विवेचन

प्रो० श्रीचन्द्र जैन, उज्जैन, म० प्र०

भक्तिकी महिमा

सन्तप्त जीवके लिये भक्ति एक अद्‌भुत रसायन है जिसके सहारे वह अपनी आकुलताको सुगमतासे मिटा सकता है। यह अथाह सागरको गोपदके रूपमें परिणत करने वाली तथा स्यामल मेघो की डरावनी अनुभूतिको सुखद भावनामें बदलने वाली है। असाध्य रोगोके शमनार्थ भक्ति ही एक अलौकिक औषधि मानी गई है। विषधरको मणिमालामें, काटोको फूलोमे, लोहेको स्वर्णमें एव विषको अमृतमे बदलने वाली यह विनयरूपिणी भक्ति है जो चिरकालसे प्राणीको आकर्षित कर रही है।

सब ओरसे निराश अबलाको सात्वना देने वाली भक्ति सर्वमान्य है। ग्राहके मुखमे विह्वल गजराज का सरक्षण इसी भक्ति भावनाने किया था। अजन तस्करकी आत्मशुद्धि भक्तिसे ही हुई थी। अडतालिम बन्द ताले एक सन्तके भजनसे ही क्षणभरमे खुल गये थे। कोढ जैसा भयावह रोग भक्तिमे मिंचित जल सिंचन से नष्ट हो गया था, यह आश्चर्य आज भी हमे चकित कर देता है। सतीत्वके परीक्षण कालमे भक्ति भावना ने जो अद्‌भुत परिणाम प्रदर्शित किये हैं, वे सर्वविदित हैं। पाषाण मूर्तिका विलीन होना शुष्क वृक्षका पल्लवित होना, सूखे सरोवरका कमलोमे परिपूर्ण होना, भूधरका एक निमिषमें धूलि बन जाना, क्रुद्ध मृगराजका विनम्र बनकर श्वान-शिशुकी भाति पैर चाटना एव तूफानका सुरभित पवनके रूपमें पूर्ण वातावरणको सुगन्धित कर देना—ये सब भक्तिके ही चमत्कार हैं।

मुक्ति साधनाका मार्ग

भक्ति, ज्ञान और कर्म—ये तीन साधनाके बडे मार्ग हैं। ज्ञान मानव जीवनको किसी शुद्ध अद्वैत तत्त्व की ओर खींचता है, कर्म उसे व्यवहारकी ओर प्रवृत्त करता है, किन्तु भक्ति या उपासनाका मार्ग ही ऐसा है जिसमें ससार और परमार्थ—दोनोकी एक साथ मधुर साधना करना आवश्यक है। माधुर्य ही भक्तिका प्राण है। देवतत्त्वके प्रति रसपूर्ण आकर्षण जब सिद्ध होता है, तभी सहज भक्तिकी भूमिका प्राप्त होती है। यो तो बाह्य उपचार भी भक्तिके अग कहे गये हैं और नवधा भक्ति एव षोडशोपचार पूजाको ही भक्ति सिद्धान्तके अन्तर्गत रखा जाता है, किन्तु वास्तविक भक्ति मनकी वह दशा है जिसमें देवत्वका माधुर्य मानवी मनको प्रबल रूपसे अपनी ओर खींच लेता है। यह तो अनुभव सिद्ध स्थिति है। जब यह प्राप्त होती है, तब मनुष्यका जीवन, उसके विचार और कर्मकी उच्च भूमिकामे मनुष्य इस प्रकारके मानस परिवर्तनका अनुभव नही करता क्योकि साधनाका कोई भी मार्ग अपनाया जाय, उसका अन्तिम फल देवतत्त्वकी उपलब्धि ही है। देवतत्त्वकी उपलब्धिका फल है आन्तरिक आनन्दकी अनुभुति। अतएव किसी भी साधना पथको तारतम्य की दृष्टिसे ऊँचा या नीचा न कहकर हमें यही भाव अपनाना चाहिये कि रुचिभेदसे मानवको इनमेंसे किसी एक को चुन लेना होता है। तभी मन अनुकूल परिस्थिति पाकर उस मार्गमें ठहरता है। वास्तविक साधना वह है जिसमें मनका अन्तर्द्वन्द्व मिट सके और अपने भीतर ही होने वाले तनाव या सघर्षकी स्थिति बचकर मनकी सारी शक्ति एक ओर ही लग सके। जिस प्रकार बालक माताके दूधके लिये व्याकुल होता है और जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अन्नके लिये क्षुधित होकर सर्वात्मना उसीकी आराधना करता है, वैसे ही अमृत

देवतत्त्वके लिये जब हमारी भावना जाग्रत हो, तभी भक्तिको विपुल सुख समझना चाहिये । भक्तिका सूत्रार्थ है—भागधेय प्राप्त करना ।[1]

हिन्दू, बौद्ध, जैन—सभी धर्मोंने भक्ति पदको स्वीकार किया है । यह एक प्राचीन साधना मार्ग रहा है । भक्तिसे मनके विकार नष्ट होते हैं और उदात्त भावोंकी सृष्टिके साथ इसान एक ऐसे पुनीत वातावरणमें अपने आपको परिवेष्टित करता है कि उसे समस्त अशुभ सकल्प-विकल्प तिरोहित हो जाते है । वैष्णव सन्तोंने इस भक्तिमार्गको राजपथके रूपमें स्वीकार किया है ।

भक्तिका व्युत्पत्त्यर्थ

'भक्ति' शब्द 'भज' धातुमें स्त्रीलिंग क्तिन् प्रत्यय जोडकर बनता है । ऐसा अभिधान राजेन्द्र कोशमें माना गया है । मुनि पाणिनिने 'स्त्रियां क्तिन्' से धातुओमें स्त्रीवाची क्तिन् प्रत्यय लगानेका विधान किया है । क्तिन् प्रत्यय भाव अर्थमें होता है किन्तु वैयाकरणोके यहाँ कृदन्तीय प्रत्ययोके अर्थ परिवर्तन एक प्रक्रियाके अङ्ग है । अत वही क्तिन् प्रत्यय अर्थान्तरमें भी हो सकता है । इस प्रकार भक्ति शब्दकी भजन भक्ति , भज्यते अनया इति भक्ति , भजन्ति अनया इति भक्ति , इत्यादि व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं ।

'भज सेवायम्' से 'भज' धातु सेवा अर्थमें आती है । पाइअ-सद्द-महण्णवमें भी भक्तिको सेवा कहा है । राजेन्द्रकोशमे सेवाया भक्तिर्विनय सेवा कहकर भक्तिको सेवा तो माना ही है, सेवाका अर्थ भी विनय किया है । विनयके चार भेद है जिनमे उपचार विनयका सेवासे मुख्य सम्बन्ध है । आचार्य पूज्यपादने आचार्योंके पीछे-पीछे चलने, सामने आने पर खडे हो जाने, अञ्जलिबद्ध होकर सामने नमस्कार करने आदि को उपचार विनय कहा है । निशीथचूर्णिमें भी 'अब्भुट्ठाणदण्डगहणपायपुछणासणप्पदाणगहणादीहि सेवा जा सा भक्ति' लिखा है । आचार्य वसुनन्दीने उपचारविनयके भी तीन भेद किये हैं जिनमें कायिक उपचार विनयका सेवासे सीधा सम्बन्ध है । उन्होने लिखा है कि साधुओकी वन्दना करना, देखते ही उठकर खडे हो जाना, अञ्जलि जोडना, आसन देना, पीछे-पीछे चलना, शरीरके अनुकूल मर्दन करना और सस्तर आदि करना कायिक विनय है । आचार्य शान्तिसूरिने एक प्राचीन गाथाकी व्याख्या करते हुए कहा है कि सुर और सुरपति भक्तिवशाद् अञ्जलिबद्ध होकर भगवान् महावीरको नमस्कार करते हैं । वह भी सेवा है । आचार्य श्रुतसागर सूरिने भी आचार्य, उपाध्याय आदिको देखकर खडे होने, नमस्कार करने, परोक्षमे परोक्ष विनय करने ओर गुणोका स्मरण करनेको भगवान्की सेवा कहा है ।[2]

व्यापक अर्थमे भक्तिके जो भिन्न-भिन्न अर्थ प्रतिपादित किये गये हैं, वे सब इसकी व्यापकताको सिद्ध करते है । जिस प्रकार चातक श्यामले मेघोके प्रति आकृष्ट होता हुआ स्वातिबूंदके लिये लालायित रहता है, चकोर चन्द्रमाकी शीतल किरणोका पान करने हेतु उत्सुक रहता है एव मयूर पावसकालीन जलदोको देखकर विमुग्ध हो उठता है, उसी प्रकारकी तितिक्षा भक्तके मानसमें आराध्यकी शान्त मुद्रा देखनेके लिये प्रतिक्षण उमडती रहती है । यही आतुरता, यही विह्वलता और वही तत्परता भक्तिकी आधारशिला है । आत्मसमर्पण, एकाग्रता, निश्चलता, तीव्र उत्कण्ठा एव दृढ श्रद्धा ही भक्तिको पल्लवित एव पुष्पित करती है । वस्तुत अपने आराध्यके प्रति अनुराग ही सच्ची भक्ति है ।

---

१ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, जैन भक्ति काव्यकी पृष्ठभूमि, प्राक्कथन पृ० ३ ।

२ डॉ० प्रेमसागर जैन, जैनभक्तिकाव्यकी पृष्ठभूमि, पृ० १-२ ।

भक्ति और अनुराग

शांडिल्य, नारद आदि भक्ति आचार्योंने भगवान्के प्रति परम अनुरक्तिको भक्ति कहा है। तुलसीके मतानुसार भी भक्ति प्रेम स्वरूप है। रामके प्रति प्रीति ही भक्ति है

प्रीति राम सों नीति पथ, चलिय रागरिस जीति।
तुलसी हंसनके मते इहै भगतिकी रीति॥

उन्होंने अन्यत्र भी कहा है :

बिनु छल बिस्वनाथ पदनेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

भगवान्के प्रति प्रेमकी अतिशयता पर बल देनेके लिए ही तुलसीने उनसे प्रार्थना की है

कामिहि नारि पिआरि जिमि,
लोभिन्हि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर,
प्रिय लागहुं मोहि राम॥

चातक आदि उपमानों द्वारा भी उन्होंने भक्तिकी निष्कामता और अनन्य शारणागतिका निदर्शन किया है।[3]

भक्तिके निरूपणमें प्रयुक्त अनुराग शब्द कुछ विचारकोको अप्रिय सा लगा है लेकिन हमें यह समझना चाहिये कि जिससे अनुराग किया जाता है, उसके अनुरूप बननेका भी अनुरागी प्रयास अवश्य ही करता है। जैन सस्कृतिमें भक्त भगवान्के प्रति पूर्ण अनुराग प्रदर्शित करता है। ये भगवान् वीतरागी होते हैं, अत भक्त शनै शनै अनुराग करता हुआ एक दिन वीतरागी बन जाता है तथा जीवनके चरम लक्ष्यको पाकर अपने आपको कृतकृत्य मानता है।

आचार्य पूज्यपादने भक्तिकी परिभाषा लिखते समय कहा है कि अरहत आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचनके भावविशुद्धियुक्त अनुराग ही भक्ति है। आचार्य सोमदेवका कथन है कि जिन, जिनागम और तप तथा श्रुतमें परायण आचार्यमें सद्भाव विशुद्धिसे सम्पन्न अनुराग भक्ति कहलाता है। हरिभक्तिरसामृत-सिन्धुमें भी लिखा है कि इष्टमे उत्पन्न हुए स्वाभाविक अनुरागको ही भक्ति कहते हैं। महात्मा तुलसी दासके मतमे भी यही सत्य है। इसी की व्याख्या करते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवालका कथन है कि जब अनुराग स्त्रीविशेषके लिये न रहकर, प्रेम, रूप और तृप्तिकी समष्टि किसी दिव्य तत्त्व या रामके लिये हो जायँ, तो वही भक्तिकी सर्वोत्तम मनोदशा है।

अनुरागमे जैसी तल्लीनता और रुचि एकनिष्ठता सम्भव है, अन्यत्र नहो। जैन कवि आनन्दघनने भक्ति पर लिखते हुए कहा है कि जिस प्रकार उदर भरणके लिये गौयें बनमें जाती है, घास चरती हैं, चारों ओर फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछडेमें लगा रहता है, वैसे ही ससारके कामोको करते हुए भी भक्त का मन भगवान्के चरणोंमें लगा रहता है।

जैनोका भगवान् वीतरागी है। वह सब प्रकारके रागोसे उन्मुक्त होनेका उपदेश देता है। राग कैसा ही हो, कर्मोंके आस्रव (आगमन) का कारण है। फिर उस भगवान्में, जो स्वय वीतरागी है, राग कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्रका कथन है कि भगवान्से अनुरागके कारण जो पाप होता है, वह उससे उत्पन्न बहुपुण्य राशिकी तुलनामें अत्यल्प होता है। यह बहुपुण्य राशि भी उसी प्रकार दोषका कारण नही बनती जिस प्रकार कि विषयकी एक कणिका, शीतशिवाम्बुराशि समुद्रको दूषित

३. तुलसी, सम्पादक उदयभानुसिंह, पृ० १९३।

करनेमें समर्थ नहीं होती। आचार्य कुन्दकुन्दने वीतरागियोंमें अनुराग करने वाले को सच्चा योगी कहा है। उनका यह भी कथन है कि आचार्य, उपाध्याय और साधुओंमें प्रीति करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उनकी दृष्टिमें वीतरागीमें किया गया अनुराग यत्किञ्चित् भी पापका कारण नहीं है। परमें होने वाला राग ही बन्धका हेतु है। वीतरागी परमात्मा पर नहीं, अपितु स्व आत्मा ही है। श्रीयोगीन्दुका कथन है कि मोक्षमें रहने वाले सिद्ध और देहमें तिष्ठने वाले आत्मामें कोई भेद नहीं है। जिनेन्द्रमें अनुराग करना अपनी आत्मामें ही प्रेम करना है। वीतरागमें किया गया अनुराग निष्काम ही है। उनमें किसी प्रकारकी कामना सन्निहित नहीं है। वह भगवान्से अपने ऊपर न दया चाहता है, न अनुग्रह और न प्रेम। जैन भक्तिका ऐसा निष्काम अनुराग गीताके अतिरिक्त अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता है।[1]

ज्ञान और भक्ति—ये दोनो एक दूसरेके पूरक कहे गये हैं—ज्ञान भक्तिकी परिपुष्टि करता हुआ, इसका जनक भी कहा गया है। इसके अभावमे भक्ति अपनी सार्थकतासे विहीन कही गई है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग् ज्ञान नही होता, उसी प्रकार ज्ञान की उपलब्धि न होने पर भक्तिकी प्राप्ति भी असम्भाव्य मानी गई है।

गम्भीरतासे विचार करने पर जो भक्तिका फल है, वही ज्ञानका भी है। ज्ञान सुगम न होकर कष्ट-साध्य है और भक्ति अपेक्षाकृत सरल एव सुलभ्य है। ज्ञान मार्गमें बुद्धिका प्राबल्य देखा जाता है जबकि भक्तिमें भावका। गोस्वामी तुलसीदासने भी इसी तथ्यको स्वीकार किया है। गोस्वामीजी ज्ञान और भक्ति-के समन्वयमें विशेषत विश्वास करते हैं।

जिस प्रकार ज्ञान और भक्ति एक-दूसरेके पूरक है, उसी प्रकार ध्यान और भक्तिकी एकरूपता भी सर्वमान्य है। इन दोनोमें आत्मचिंतन और एकाग्रता विद्यमान है जो आत्मस्वरूपके लिये परमा-वश्यक है।

इस प्रकार भक्तिका स्वरूप बड़ा मनोरम तथा मानस विशुद्धिका उत्कृष्ट साधन है। इस परम साधनाके बारह भेद स्वीकार किये गये हैं। वे इस प्रकार है सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योग-भक्ति, आचार्यभक्ति, पञ्चगुरुभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वर-भक्ति और चैत्यभक्ति। तीर्थंकर और समाधिभक्तिका पाठन एक-दो अवसरो पर ही होता है। अत उनका अन्य भक्तियोमें अन्तर्भाव मान लिया गया है। इस भाँति दश भक्तियोंकी ही मान्यता है।[2]

विभिन्न भक्तियोके विविध साधन है जिनसे भक्तके हृदयमें भक्तिदीपक प्रज्वलित होता है और क्षण-प्रतिक्षण इस पुनीत आलोकमें उसका कर्मजनित तम विलीन हो जाता है। वे साधन व्यक्तिकी विवेक-पूर्ण अभिव्यक्तियाँ भी हैं।

भागवतमें भक्ति—भागवतमें भक्तिके साध्य और साधन—दोनो ही पक्षोका विवेचन हुआ है। साधना रूपा भक्तिको नवधा भक्ति, वैधी भक्ति अथवा मर्यादा भक्ति कहते हैं और साध्यरूपा भक्तिको प्रेमाभक्ति तथा रागानुगा अथवा रासात्मिका भक्तिके नामसे अभिहित किया जाता है। साधना रूपा भक्तिके पाँच अग माने गये हैं उपासक, उपास्य, पूजाद्रव्य, पूजाविधि और मन्त्र-जप। श्री भागवतमें भक्तिके कई प्रकारसे भेद गिनाये हैं। तृतीय स्कन्धमें भक्तिके चार प्रकार माने हैं सात्त्विकी, राजसी, तामसी तथा निर्गुण। फिर सप्तम स्कन्धमें भी भेद बतलाये हैं श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दना, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन।[3]

---

१ २ डा० प्रेमसागर जैन जैनभक्तिकाव्यकी पृष्ठभूमि, पृष्ठ ८–१० और ६४

३ श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्ध, ५।२३

इन भेदोंके तीन भाग किये जा सकते है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण, श्रद्धा और विश्वासकी वृत्तिके सहायक हैं। पदसेवा, अर्चन और वन्दन वैधी भक्तिके विशेष अंग है तथा दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन रागात्मिका भक्तिसे सम्बन्ध रखते हैं। श्रीमद्भागवतमें इन तीनो ही अंगोका बड़े विस्तारसे विवेचन हुआ है। आगे चलकर दास्य, सख्य और आत्म-निवेदनको ही गोस्वामीजीने भक्ति रसका उत्पादक माना है। इनमें भी आत्म-निवेदनका विशेष महत्व है क्योकि आत्म-निवेदनमे साधन और साध्य एक हो जाते हैं।[1]

जैन गीतकाव्योंमें भक्तिके साधन—व्यापक रूपसे विचार किया जाय, तो भक्तिके ये सभी साधन जैन गीतकाव्यमे पाये जाते हैं। इस काव्यके उन्नायकोमें कविवर द्यानतराय, बुधजन, भानुमल, दौलतराम, वीरचन्द, भूधरदास, आनन्दघन, भागचन्द्र और भैया बनारसीदास आदि कवि प्रसिद्ध हैं। इन्ही ने भक्तिके उपरोक्त साधनोंको अपने गीतोके माध्यमसे अभिव्यक्त किया है तथा हम यहाँ विभिन्न साधनोके द्योतक कुछ गीत दे रहे हैं।

१. द्यानतरायका कीर्त्तन

प्रभु मैं किहि विधि थुति करौं तेरी।
गणधर कहत पार नहिं पावै, कहा बुद्धि है मेरी ॥
शक्र जनम भरि सहस जीभ धरि, तुम जस होत न पूरा।
एक जीभ कैसे गुण गावै, उलू कहै किमि सूरा ॥
चमर छत्र सिंहासन बरनौ, ये गुण तुमते न्यारे।
तुम गुण कहन वचन बल नाही, नैन गिने किमि तारे ॥

२ द्यानतरायका स्मरण अथवा ध्यान

तुम शिवसुखमय प्रगट करत प्रभु चिंतन तेरो।
मैं भगवान समान भाव यो वरतै। मेरो ॥
यदपि झूठ है तदपि तृप्ति निश्चल उपजावै।
तुव प्रसाद सकलंक जीव वांछित फल पावै ॥

३ दौलतरामका दर्शन महात्म्य

निरख सुख पायो, जिन मुखचन्द
मोह महातम नाश भयो है उर अम्बुज प्रफुलायो।
ताप नस्यो, तब बढयो उदधि आनन्द ॥ निरख० ॥
चकवी कुमति विछुरि अतिविलखे आतम सुधा सुवायो।
शिथिल भये सब, विधि गणफन्द ॥ निरख० ॥
विकट भवोदधि को तट निकट्यो, अघ तक मूल नसायो।
दौल लह्यो, अब सुपद स्वच्छन्द ॥ निरख० ॥

४ बुधजनका पद वन्दन

तुम चरनन की शरन, आय सुख पायो।
अबलो चिर भववन मे डोल्यो, जन्म जन्म दुख पायो ॥ तुम० ॥
ऐसो सुख सुरपति कै नाही, सौ मुख जात न गायौ।
अब सब सम्पति मो उर आई आज परम पद लायो ॥ तुम० ॥

१ डा० हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० २२७

मन वच तन ले दृढ़ करि राखो, कबहुं न क्या बिसराओ।
बारम्बार बीनवै बुधजन, कीजे मनको भायौ ॥ तुम० ॥

५. भानुमलका अर्चन (पूजन)

द्रव्य आठो जु लोना है अर्घ कर में नवीना है।
पूजते पाप छीना है, भानुमल जोर कीना है ॥
दीप अढाई सरस राजै, क्षेत्र दश ता बिषे छाजै।
सात शत बीस जिन राजे, पूजना पाप सब भाजै ॥

भानुमल, दैनिक पूजा-पाठ गुटका पृ० २२

अर्चनाका एक अन्य गीत भी देखिये

नाथ तोरी पूजा को फल पायो, मेरे यो निश्चय अब आयो
मेंढक कमल पाखुरी, मुख में वीर जिनेश्वर धायो।
श्रेणिक गज के पगतल मूवो, तुरत स्वर्गपद पायो ॥ नाथ० ॥
मैना सुन्दरी शुभमन सेती, सिद्धचक्र गुण गायो।
अपने पति का कोढ गमायो, गंधोदक फल पाये ॥ नाथ० ॥
अष्टापद में भरत नरेश्वर, आदिनाथ मन लायो।
अष्टद्रव्य से पूजा प्रभुजी, अवधिज्ञान दरसायो ॥ नाथ० ॥
अञ्जनसे सब पापी तारे, मेरो मन हुलसायो।
महिमा मोटी नाथ तुमारी, मुक्ति पुरी सुख पायो ॥ नाथ० ॥
थकीथकी हारे सुर नरपति, आगम सीख जितायो।
देवेंद्रकीर्ति गुरु ज्ञान मनोहर, पूजा ज्ञान बतायो ॥
नाथ, तोरी पूजाको फल पायो,
मेरे यो निश्चय अब आयो।

दैनिक पूजा-पाठ गुटका, पृ० ८४

६ द्यानतराय का दास्य भाव

तुम प्रभु, कहियत दीन दयाल,
अपन जाय मुकुति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल।
तुम प्रभु, कहियत दीन दयाल।
तुमरो नाम जपै हम नीके, मन बच तीनौं काल।
तुम तो हमको कछू देत नहि, हमरो कौन हवाल ॥
भले बुरे हम दास तिहारे, जानत हो हम चाल।
और कछू नहि हम चाहत हैं, राग दोषको टाल ॥
तुम, प्रभु कहियत दीन दयाल।
हम सौं चूक परी सो बकसो, तुम तो कृपा विसाल।
द्यानत एक बार प्रभु जगतै, हमको लेहु निकाल।
तुम प्रभु कहियत दीन दयाल ॥

द्यानतराय, अध्यात्मपदावली, पृ० २६६

७. दौलतरामका शरणागत भाव

जाऊँ कहाँ तज शरन तिहारे ।
चूक अनादितनी या हमरी, माफ करो करुणा गुन धारे ।
डूबत हो भवसागरमें अब, तुम बिन को मुहुं बार निकारे ।
तुम सम देव अवर नहिं कोई, तातें हम यह हाथ पसारे ।
मोंसम अधम अनेक उधारे, बरनत हैं श्रुत शास्त्र अपारे ।
दौलत को भव पार करो, अब आया है शरनागत प्यारे ।

८ दौलतरामका आराध्यके स्वरूपका ध्यान

नेमि प्रभूकी श्याम बरन छवि, नैनन छाय रही । टेक ।
मणिमय तीन पीठ पर अम्बुज ता पर अधर ठही ।। नेमि० ।।
मार-मार तप धार जार विधि, केवल ऋद्धि लही ।
चार तीस अतिशय दुति मण्डित, नव दुग दोष नही ।। नेमि० ।।
जाहि सुरासुर नमत सतत मस्तक मैं परस मही ।
सुर गुरु उर अम्बुज प्रफुलावन, अद्भुत भान सही ।। नेमि० ।।
धर अनुराग विलोकत जाको, दुरित नसै सबही ।
दौलत महिमा अतुल जासकी, का पै जात कही ।
नेमि प्रभू की श्याम बरन छवि, नैनन छाय रही ।।

भक्ति और सत्सगति

सत्सगति भक्तिके लिये अधिक प्रेरक मानी गई है । इसीलिये सन्तोने इसकी अधिक महिमा गाई है । कविवर वीरचन्दका निम्न पद इस विषयमें उल्लेख्य है

करो रे मन, सज्जन जनकी सग । टेक ।
नीचकी सगति नीच कहावे, धेनु न होत कुरग ।
हसन दख्यो बगुला कहता, भेरुण्ड न होत भुरग ।। १ ।।
चन्दन को कोई नीम न कहवत, सागर होत न गग ।
अमृतको नहि विष उच्चारत, खरको कहे न तुरग ।। २ ।।
कोयलको कोई काग न कहवत, महिषी न होत मतग ।
नही सितारको कहत सारगी, नही मृदगको चग ।। ३ ।।
दिन को रैन नही कोई कहवत, रवि को कहे न पतग ।
वीरचन्द नहिं श्वेत दूध को, कहे न कारो रग ।। ४ ।।

भजन सग्रह, पृ० ११६

कवि भूधरदासने भी भगवान्से प्रार्थना करते हुए सहधर्मी जनकी सङ्गतिके लिए अभिलाषा प्रकट की है

"आगम अभ्यास होहु सेवा सर्वज्ञ तेरी, सङ्गति समीप मिलो साधरमी जनकी ।"

कवि आनन्दघनके अनुसार साधु सङ्गतिके बिना परममहारस आनन्दका पाना सम्भव नहीं है

साधु सगति बिन कैसे पैये, परम महारस धाम री ।
कोटि उपाय करे जो बौरो, अनुभव कथा बिसराम री ।।
सीतल सफल सन्त सुर पादप, सेवे सदा सुछांइ री ।
वंछित फले, टले अनवछित, भव सन्ताप बुजाइ री ।।
चतुर विरंचि विरजन चाहे, चरण कमल मकरंद री ।
को हरि भरम बिहार दिखावे, शुद्ध, निरजन चांद री ।।
देव असुर इन्द्र पद चाहू न, राज न काज समाज री ।
सङ्गति साधु निरन्तर पावू, आनन्दघन महाराजजी ।।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सं० आनन्दघन, पृ० ६१

गोस्वामी तुलसीदासने भी साधु सङ्गतिको आनन्द और मङ्गलका मूल बताते हुए तुलसी दोहावलीमें इसे कोटि अपराध विनाशक कहा है

एक घडी, आधी घडी, आधी में पुन आध । तुलसी सङ्गति साधु की, हरे कोटि अपराध ।।

स्तुति और स्तोत्र सामान्यतया ये पर्यायवाची कहे जाते हैं । इन दोनोंका भी भक्तिमें महत्त्वपूर्ण स्थान है । आराधक अपने आराध्यकी स्तुति करके उनके गुणोकी प्रशसा करता है तथा अपने पापोंको अस्तित्वहीन बनाता है । जैन कवियोने विविध रूपोमें अपने उपास्यकी वन्दना की है । इस सम्बन्धमें कविवर भूधरदासकी सिद्ध स्तुति एव जिन-वाणी स्तवन विशेष लोकप्रिय हैं

सिद्ध स्तुति

ध्यान हुतासन में अरि ईंधन, झोक दियो रिपुलोक निवारी ।
शोक हर्यो भविलोकन को, वर केवल ज्ञान मयूर अधारी ।।
लोक अलोक विलोक भये, शुभ जन्म जरामृत पक परवारी ।
सिद्धन थोक बसे शिवलोक, तिन्हे पग धोक त्रिकाल हमारी ।।

× × ×

तीरथ नाथ प्रनाम करै, तिनके गुन बर्नन में बुधि हारी ।
मोम गयी गल मूस मझार रही तह व्योम तदाकृत धारी ।।
लोक गहीर नदीपति नीर, भये तिरतीर तहा अविकारी ।
सिद्धन थोक बसे शिवलोक, तिन्हे पग धोक त्रिकाल हमारी ।।

जैनशतक, पृ० ११

जिनवाणी स्तुति

वीर हिमाचल ते निकसी, गुरु गौतम के मुख कुण्ड ढरी है ।
मोह महाचल भेद चली, जग की जडता-तप दूर करी है ।।
ज्ञान पयोनिधि माहि रली, बहुभग तरगनि सों उछरी है ।
ता शुचि शारद गगनदी, प्रति में अजली निज शीश धरी है ।
या जगमन्दिरमें अनिवार अज्ञान अन्धेर छयो अतिभारी ।
श्रीजिनकी धुनि दीप शिखा सम, जो नहिं होत प्रकाशन हारी ।।

सौ कहुँ भाँति पयारथ पाँति कहा लहते रहते अविचारी।
या विधि सत कहुँ वनि हैं धनि हैं जिन वैन बडे उपकारी ॥

जैन शतक, पृ० १३

पूजा और भक्ति

पूजा भक्तिका एक प्रमुख साधन है। भगवान्की पूजा करके सामान्य मानव भी असामान्य बन जाता है। भाव दृष्टिसे पूजा एव स्तोत्र—दोनों समान हैं। इनमें केवल शैलीगत भेद ही है। किन्तु कुछ लोग परिणामकी दृष्टिसे भी दोनोंमें महदन्तर स्वीकार करते है। वे पूजाकोटिसम स्तोत्रं मानते है। यहाँ कहने वालेका पूजासे तात्पर्य केवल द्रव्य पूजासे है क्योंकि भावमें तो स्तोत्र भी शामिल है। पूजकका ध्यान पूजन की बाह्य सामग्री, स्वच्छता आदि पर ही रहता है जबकि स्तुति करने वाले भक्तका ध्यान एकमात्र स्तुत्य व्यक्तिके विशिष्ट गुणों पर टिकता है। वह एकाग्रचित्त होकर अपने स्तुत्यके एक-एक गुणको मनोहर शब्दोंके द्वारा व्यक्त करनेमें निमग्न रहता है।[1] पूजा एक ऐसा व्यापक शब्द है कि इसमें स्तुति, स्तोत्र, भजन आदि सब समाविष्ट होता है। पूजाके सम्पादनमें ध्यान, जप, तपादि किसी न किसी रूपमे आ ही जाते है। पूजाकी जयमालामें आराध्यकी पूर्ण प्रशस्ति रहती है। एव पूजा करने वालेकी विशुद्ध कामना भी इसमे व्यक्त हो जाती है। पूजाके दोनो ही रूप—द्रव्य और भाव पूजा आत्म-विशुद्धिके लिये परम आवश्यक है। इन दोनो पूजाओमें इतना ही अन्तर है कि द्रव्यपूजामें द्रव्योके द्वारा भगवान्के बिम्ब अथवा किसी अन्य चिन्हकी पूजा होती है तथा भाव पूजामें जिनेन्द्र देवको मानसके अन्तस्थलमें स्थापित किया जाता है। आचार्य वसुनन्दिने पूजाके छ भेद स्वीकार किये हैं नाम, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव।[2]

यहाँ पूजा शब्दके सम्बन्धमें डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने अपनी पुस्तक भारतमे आर्य और अनार्य में लिखा है कि होम और पूजा—इन दोनोकी जड अलग-अलग है पर आर्य भाषी तथा द्राविड भाषी मिश्र आर्यानार्य हिन्दूने इन्हें विरासत या पितृपितामहागत रिक्थके रूपमें प्राप्त किया है। पूजामे फूलका उपयोग हुआ करता है। बगैर फूलसे पूजा नही हो सकती। फूलके विकल्पमे ही जलादिका व्यवहार होता है। पूजा शब्द वस्तुत आर्य भाषाका शब्द नही है। मार्क कालिन्सके मतके अनुसार इस शब्दका मौलिक अर्थ फूलोंसे कोई धर्मकार्य करना है। इस शब्दका उद्गम द्रविड भाषामें हैं। पूजाके अतिरिक्त भजन, आरती, पाठ, विनती, सामायिक पाठ, स्तुतियाँ आदि भी भक्तिके विविध आयाम हैं जिनको अपनाना भक्तके लिये आवश्यक है।

भक्तिकी उपलब्धियाँ

पूर्वमें सकेत किया जा चुका है कि भक्तिकी उपलब्धियाँ अनेक हैं, जो सेवकके मानसको समुज्ज्वल करती हैं तथा उसे स्व-पर-भेदके हेतु कई रूपोमें प्रबुद्ध करती है। ससारसे विमुख होकर वह साधक विषय वासनाको भुजङ्ग मानने लगता है, स्वय जागरूक बनकर सासारिक वैभवको त्याज्य मानता है एव धर्म साधनामें लीन होकर अपने आपको सन्मार्गका पथिक बनाता है। इन उपलब्धियोमें आत्मप्रबोधन, जगनिस्सारता, पश्चात्तापकी अभिव्यक्ति, आत्मविश्वासकी जागृति तथा ब्रह्मैक्य प्रमुख है। जैन गीतकारोंने इन उपलब्धियोंको भी गीतबद्ध किया है। इनके कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

---

१ प्रेमसागर जैन, जैन भक्तिकाव्यकी पृष्ठभूमि, (२) प० हीरालाल जैन, पूजा, स्तोत्र, जप, ध्यान और लय, अनेकात, वर्ष १४, किरण ७, पृ० १९४

२ प्रेमसागर जैन, जैनभक्तिकाव्यकी पृष्ठभूमि, पृ० २५।

(२) भूधरका आत्मप्रबोधन गीत

भगवन्त भजन क्यों भूला रे ?
यह ससार रैन का सुपना, तन-धन वारि-बबूला रे।
भगवन्त भजन क्यों भूला रे ?

इस जीवनका कौन भरोसा, पावक में तृण पूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठाँडा, क्या समझै मन फूला रे।
भगवन्त भजन क्यों भूला रे ?

स्वारथ साधै पाँच पाँव तू, परमारथको लूला रे।
कहु कैसे सुख पैहैं प्रानी, काम करै दुखभूला रे।
भगवन्त भजन क्यो भूला रे ?

मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कन्ध बसूला रे।
भज श्रीराजमतीवर भूधर, दो दुरमति सिर धूला रे।
भगवन्त भजन क्यो भूला रे ?

भूधरदास, अध्यात्मपदावली, पृ० २४३

दौलतरामका जगनिस्सारता द्योतक गीत

छाँडि दे बुधि भोरी वृथा तन से रति जोरी ।। टेक ।।
यह पर है न रहै थिर पोषत, सकल कुमल की झोरी
या मो ममता करि अनादिसे, बन्धो करम की डोरी ।।
सहै दुख जलधि हिलोरी ।। छाँडि० ।।
ये जड हैं तू चेतन यो ही, अपनावत बरजोरी।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन निधि, ये हैं सम्पति तोरी ।।
सदा विलसो शिवगोरी ।। छाँडि ।।
सुखिया भये सदीप जीव जिन, या सो ममता तोरी।
दौल सीख यह लीजै पीजै, ज्ञान पियूष कटोरी ।।
मिटे पर चाह कठोरी ।। छाँडि० ।।

(३) भागचन्द्र कविका पश्चात्तापकी अभिव्यक्ति परक पद

मो सम कौन कुटिल खल कामी। तुम सम कलिमल दलन न नामी।
हिंसक झूठ बाद मति विचरत, परधन हर परवनिता गामी।
लोभी चित नित चाहत धावत, दशदिश करत न खामी।
रागी देव बहुत हम जाँचे, राँचे नहि तुम साँचे स्वामी।
बाँचे श्रुत कामादिक पोषक, सेये कुगुरुसहित धन धामी।
भाग उदय से मैं प्रभु पाये, वीतराग तुम अन्तरयामी।
तुम धुनि सुनि परजय में परगुण जाने निज गुण चित विसरामी।
तुमने पशु-पक्षी सब तारे, तारे अजन चोर सुनामी।

भागचन्द करुणाकर सुख कर, हरना यह भव सन्तति लामी।
मो सम कौन कुटिल खल कामी, तुम सम कलिमल दलन न नामी ॥

(४) भूधरदासका मायाके प्रति विद्रोह परक पद

सुन ठगनी माया, तें सब जग ठग खाया।
टुक विश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पछिताया ॥ सुन० ॥
आया तनक दिखाय बीज ज्यो, मूढमती ललचाया।
करि मद अन्ध धर्म हरि लीनौ, अन्त नरक पहुँचाया ॥ सुन० ॥
केते कन्थ किये तै कुलटा, तो भी मन न अघाया।
किसही सौ नहिं प्रीति निबाही, वह तजि और लुभाया ॥ सुन० ॥
भूधर ठगन फिरै यह सबकौं, भौदु करि जग पाया।
जो इस ठगनी को ठग बैठै, मैं तिसको सिर नाया ॥ सुन० ॥

इसी प्रकार आनन्दघन एक गीतमें पूजासे आत्मविश्वासकी जागृति करते है और दौलतराम एक प्रार्थनागीतमें अपने अवगुणोंके लिये क्षमायाचना करते है। इस प्रकरणमें आनन्दघनका निम्न सर्व धर्म समाक्षरी गीत उल्लेखनीय है

आनन्दघनका ब्रह्मैकता सूचक पद

राम कहो रहमान कहो, कोउ, कान कहो महादेव री
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पनारोपित, आप अखण्ड स्वरूप री।
निज पद रमे राम सो कहिये, रहिम करे रहमान री।
कर ते करम कान सो कहिये महादेव निर्वाण री।
परसे रूप पारस को कहिये ब्रह्म चिन्हें सो, ब्रह्म री।
इह विध साधो आप आनन्दघन चेतनमय नि कर्म री।

आनन्दघन, जैन कवि, पृ० ६०—६७

भक्ति और भावना

यह हमें स्मरण रखना चाहिये कि भक्ति क्षेत्रमें जाति-वर्ग आदिके कल्पित भेदभाव नगण्य हैं। साधु सन्तोंकी भाँति जैन कवियोने भी इस सम्बन्धमें जाति मान्यता आदिके विरोधको तीव्र स्वरोंमें व्यापक बनाया है। इस जाति-वर्णादिकी निस्सारताको घोषित करने में जैन कवियोंने ऐसी कथाओंको चर्चा की है जो जैनाम्नायमें पूर्णरूपेण स्वीकृत हो चुकी है। आचार्य रविषेण पद्मचरितमें कहते हैं

न जातिर्गर्हिता काचित्, गुणा कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं, तं देवा ब्राह्मणं विदु ॥

तात्पर्य यह है कि जैनधर्ममें धर्म रूपसे प्रतिपादित चरित्र धर्म है वर्णाश्रम नही है किन्तु मोक्षकी इच्छासे आर्य या म्लेक्ष जो भी इसे स्वीकार करते हैं, वे सभी इसके अधिकारी होते हैं। यह हमारी ही कोई कल्पना नही है क्योंकि जैनधर्म तो इसे स्वीकार करता ही है, मनुस्मृति भी इस तथ्यको स्वीकार करती है

अहिंसा सत्यमस्तेयशौचमिन्द्रियनिग्रह: ।
एत सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु: ।।

याज्ञवल्क्य स्मृतिमें यह सामान्य धर्म नौ भेदोम विभक्त किया गया है। इसमें पाँच पूर्वोक्त धर्मोंके अतिरिक्त दान, दम, दया और शान्ति भी समाहित किये गये हैं

अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
दान दमो दया क्षान्ति सर्वेषा धर्मसाधनम् ।। ५-१२३ ।।

इस श्लोकमें आये हुये सर्वेषा पदकी व्याख्या करते हुए वहाँ टीकामें कहा है कि ये अहिंसा आदि नौ धर्म ब्राह्मणसे लेकर चण्डाल तक सब पुरुषोके साधन हैं।[1]

जैनधर्म किसी जाति विशेषका धर्म नही है। उसका पालन प्रत्येक मानव कर सकता है। श्रावक-धर्म दोहाके कर्ताने श्रावक-धर्मका उपसहार करते हुए इस सत्यको बडे ही मार्मिक शब्दोंमें व्यक्त किया है

एहु धम्मु जो आयरइ बभणु सुद्दु वि कोइ।
सो सावउ किं सावयह अण्णु कि सिरि मणि होइ ।। ७६ ।।

धर्मके माहात्म्यकी चर्चा स्वामी समन्तभद्रने भी रत्नकरण्डश्रावकाचारमें की है। उन्होने बताया है कि धर्मके माहात्म्यसे कुत्ता भी मरकर देव हो जाता है और पापके कारण देव भी मरकर कुत्ता हो जाता है। धर्मके माहात्म्यसे जीवधारियोको कोई ऐसी अनिर्वचनीय सम्पत्ति प्राप्त होती है जिसकी कल्पना करना शक्तिके बाहर है उनके अनुसार जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न हैं, वह चाण्डालके शरीरसे उत्पन्न होकर भी देव अर्थात् ब्राह्मण या उत्कृष्ट है, ऐसा जिनदेव कहते हैं। उनकी दशा उस अंगारेके समान हैं जो भस्म से आच्छादित होकर भी भीतरी तेजसे प्रकाशमान है। हिन्दीके भक्ति कालके सर्वोच्च महाकवि गोस्वामी तुलसीदासने भी भक्ति विवेचनमें नीच-ऊँच जातिकी सर्वथा उपेक्षा की है। उनकी दृष्टिमें तो मानसकी पावनता तथा रामके प्रति अगाध श्रद्धा ही सब कुछ है।

जैन कवि आनन्दघनने भी आत्मनिरूपणके अन्तर्गत जाति-पातिकी पूर्ण अवहेलना की है। उनका निम्न गीत देखिये

अवधू नाम हमारा राखे, सोई परम महारस चाखै।
ना हम पुरुष नही हम नारी, वरन न भाति हमारी ।।
जाति न पाँति न साधन साधक, ना हम लघु नहिं भारी।
ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीर्घ न छोटा ।।
ना हम भाई ना हम भगिनी, ना हम बाप न बोटा।
ना हम मनसा न हम सबदा, ना हम तन की धरणी ।।
ना हम भेख भेखधर नाही, ना हम करता करणी ।।
ना हम दरसन ना हम परसन, रस न गध कछु नाही।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, सेवनक जन बलि जाही।

आनन्दघन, (स० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), पृ० ४१

१ फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, वर्ण, जाति और धर्म, पृ० ४९।

इस पदमें चित्रित आत्मानुभूति जिनभक्तिकी चरम उपलब्धि है जिसे पाकर सच्चा भक्त अपने आपको गौरवान्वित मानता है। शनै-शनैः इस भक्ति समन्वित आराधककी अनुभूतिया विषयोंसे विरक्त होती हुई आत्मचिन्तनमें लीन हो जाती है, और वह दौलतरामकी तरह गुनगुनाते लगता है

हम तो कबहुं न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।
पर पद निज पद मानि मगन ह्वै, पर परनति लपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतन भाव न भाये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।
नर, पशु, देव, नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये।
अमल, अखण्ड, अतुल, अविनाशी, आतम गुन नहिं गाये।
हम तो कबहु न निज घर आये।
यह बहु भूल गई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
दौल तजो अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।

इस प्रकार दिन बीतते जाते है और आराध्यके प्रति बढती हुई भक्ति भावना नित नये उन्मेषोंसे परिपुष्ट होती है। अपने कर्तव्योको निभाता हुआ साधक उस क्षणकी स्मृति करने लगता है जब वह परम तपस्वीके रूपमें दिगम्बर बनकर आत्म सन्तुष्टिसे विभोर हो उठेगा।

इस प्रकार प्रत्येक जीवके जीवनको सफल बनाने वाली भगवान्की यह भक्ति पूर्ण आनन्ददायिनी है एव समस्त सुख प्रदात्री है। मानवको चाहिये कि वह यथासमय सजग होकर अपना आत्मकल्याण करे तथा पर्याप्त ज्ञान अर्जित करे। कविवर भूधरदासका यह कवित्त इस सम्बन्धमें कितना प्रेरणादायक है।

जौलो देह तेरी काहू रोग सो न घेरी,
जौलो जरा नहिं घेरी जासो पराधीन परिहै।
जौलो जमनामा वेरी देय न दमामा,
जौलों माने कान रामा बुद्धि जाइ न बिगरिहै।
तौलो मित्र मेरे, निज कारज सवार ले रे,
पौरुष थकेंगे फेर, पीछे कहा करिहै।
अहो आग लागे जब झोपरी जरन लागी,
कुआंके खुदाये तब कौन काज सरिहै।

इस प्रकार निराकुलता जन्य अमर शान्तिकी प्राप्तिके लिये भगवान्की भक्ति ही उत्कृष्ट साधन है। जैन गीत साहित्यमें उसके विविध रूपोके उपरोक्त विवरणसे भक्तिके सार्वजनिक एव काव्यमय रूपकी पर्याप्त आकर्षक झांकी प्राप्त होती है।

पाणिनीय और शाकटायनव्याकरण : तुलनात्मक विवेचन

डॉ० वागीश शास्त्री,
निदेशक, अनुसन्धान संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

लोकमें पाणिनीय व्याकरणकी प्रतिष्ठा उसकी संक्षिप्त शैली तथा सर्वाङ्गपूर्णताके कारण हुई। पूर्ववर्ती अतिविस्तृत ऐन्द्र इत्यादि व्याकरणोंको अल्प मेधावी छात्र कण्ठस्थ नहीं कर पाते थे। कुछ ऐसे व्याकरण थे, जो केवल विशिष्ट प्रकरणोंके ही नियम बताते थे। अत सर्वाङ्गपूर्णताके न होनेके कारण केवल उनके अध्ययनसे छात्र व्याकरणके सम्पूर्ण नियमोको नही जान पाते थे। ऐसी स्थितिमें ईसापूर्व पाँचवी शताब्दीके लगभग पाणिनिने पूर्ववर्ती सम्पूर्ण व्याकरणोका अनुशीलन करके संक्षिप्त, साङ्गोपाङ्ग (वेदलोकोभयात्मक) सन्देहरहित व्याकरण बनाया और उसे ३७७९ सूत्रोमें बाँध दिया। धातुपाठ, गणपाठ, उणादि, नामालिङ्गानुशासन, शिक्षा इत्यादि उसके खिलपाठ हैं। किन्तु सम्प्रति उपलब्ध उणादि पाणिनिका नही है।

पाणिनिने भूत, भविष्य, वर्तमान इत्यादि कालोकी कोई परिभाषा नही बनाई। उनसे लोक परिचित था। अत उनकी परिभाषाएँ देकर व्याकरणका कलेवर बढाना पाणिनिने उचित नही समझा। 'लिङ्गमशिष्य लोकाश्रयत्वात्, कह कर पाणिनिने लिङ्गका अनुशासन करना भी उचित नही समझा। अत उनके नाम पर प्राप्त लिङ्गानुशासन विचारणीय है। इतनी सूक्ष्मेक्षिका रखने पर भी पाणिनिकी केवल अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरणके सम्पूर्ण नियमोका बोध करानेमें समर्थ नही हो सकी। तदर्थ कात्यायनको अष्टाध्यायीके सूत्रो पर वार्तिक लिखने पडे ताकि उसमें छूटे नियमोका ज्ञान हो सके। किन्तु जब पाणिनीय सूत्रो पर केवल कात्यायनीय वार्तिकोके रचे जाने मात्रसे उसकी लोकोपयोगिता सिद्ध नही हुई, तब पतञ्जलिको अपना महाभाष्य लिखना पडा।

पाणिनिने सूत्रोकी संक्षिप्तताका आश्रय इसलिए लिया था कि जिज्ञासु जन अल्प समयमें संस्कृत व्याकरणका ज्ञान कर सके। किन्तु यह 'त्रिमुनिव्याकरणम्' इतना पृथुल हो गया कि बारह वर्षोंमे विद्यार्थी केवल व्याकरणका ही अध्ययन कर पाता था, जो विशाल संस्कृत वाङ्मयमें प्रवेश करनेके लिए साधनमात्र था।

चन्द्रगोमीके अनन्तर जैन सम्प्रदायका इस ओर ध्यान गया और सर्वत प्रथम पूज्यपाद जैनेन्द्रने छठी शताब्दीमे 'त्रिमुनिव्याकरण'के आधारपर जैनेन्द्र व्याकरणकी रचना की। यद्यपि इसमें पाणिनीय व्याकरणसे भी प्राचीन व्याकरणोंके तत्व सुरक्षित हैं, तथापि सम्पूर्ण रचना पर पाणिनीय व्याकरणका प्रभाव स्पष्ट है।

जिस उद्देश्यको लेकर जैनेन्द्र व्याकरण की रचना की गयी थी, वह सिद्ध नही हुआ। संस्कृत भाषाको सरल प्रक्रियासे सिखा देनेवाले व्याकरणकी प्रतीक्षा जिज्ञासु तब भी कर रहे थे। यद्यपि शर्ववर्माने प्रथम शताब्दीमें प्रक्रियात्मक पद्धति पर आश्रित व्याकरणकी रचना कर मार्ग दिखा दिया था, तथापि 'त्रिमुनिव्याकरण' की कसौटी पर लोकने उसे खरा नही पाया था। फलत वह सर्वत्र एकच्छत्र रूपमें प्रचार नहीं पा सका।

तीन सौ वर्षोंके अनन्तर श्वेताम्बरीय जैन विद्वान् महाश्रमण-सघाधिपति पाल्यकीर्ति शाकटायनने 'शाकटायनव्याकरण' की रचना कर पूर्ववर्ती लौकिक व्याकरणोकी न्यूनताओंको दूर करनेका प्रयत्न किया

तथा उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनानेका स्तुत्य कार्य किया। लौकिक संस्कृतके नियमोंको संक्षेप, सरलता और सम्पूर्णताकी दृष्टिसे बतानेके लिए उन्होंने इसकी रचना की थी।

सरलताकी दृष्टिसे शाकटायनने अपने व्याकरणमें पाणिनीय अष्टाध्यायीके दो सूत्रोंसे लेकर नौ सूत्रों तकके स्थान पर केवल एक सूत्रकी रचना बड़ी ही कुशलतासे कर दी है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१ दो सूत्रोंके स्थानपर एक सूत्र। यथा—

पाणिनि—'वृद्धस्य च पूजायाम्' (४।१।१६६), 'यूनश्च कुत्सायाम्' (४।१।१६७)

शाकटायन—'युवा वृद्ध कुत्सार्थे' (१।१।१६)

पाणिनि—'पुरोऽव्ययम्' (१।४।६७), 'अस्त च' (१।४।६८)
शाकटायन—'अस्त पुरोऽव्ययम्' (१।१।२९)

पाणिनि—'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९), 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२)
शाकटायन—'षष्ठ्या स्थानेऽन्ते ल' (१।१।४७)

पाणिनि—'ढो ढे लोप' (८।३।१३), 'रो रि' (८।३।१४)
शाकटायन—'ढ्रो ढ्रि' (१।१।१३१)

२ दो सूत्रोंके स्थान पर दो मिश्रित सूत्र। यथा—

पाणिनि—'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन' (२।२।११),
'क्तेन च पूजायाम्' (२।२।१२)
शाकटायन—'तृप्तार्थाव्ययनिर्धार्यडच्छत्रानशमतिपूजाधारक्ते' (२।१।५०) 'गुणैरस्वस्थैः' (२।१।५१)

पाणिनि—'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्व' (६।३।४३),
'उगितश्च' (६।३।४५)
शाकटायन—'रूपकल्पङ्गोत्रमतहतचेलड्ब्रुवे ह्रस्वश्च वोगित' (२।२।५२),
'ङ्योऽनेकाच' (२।२।५३)

३ तीन सूत्रोंके स्थान पर एक सूत्र। यथा—

पाणिनि—'मन' (४।१।११), अनो बहुव्रीहे' (४।१।१२), 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' (४।१।१३)

शाकटायन—'मन्नन्बहुव्रीहेर्न्न च' (१।३।१२)

पाणिनि—'सम्बोधने च' (२।३।४७), 'सामन्त्रितम्' (२।३।४८), एकवचन सम्बुद्धि.' (२।३।४९)
शाकटायन—'आमन्त्र्ये' (१।३।९९)

पाणिनि—'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य' (५।४।११०), 'झय (५।४।१११), 'गिरेश्च सेनकस्य' (५।४।११२)
शाकटायन—'गिरिनदीपौर्णमास्याग्रहायणीजय' (२।१।१५५)

४ तीन सूत्रोंके स्थान पर दो सूत्र । यथा—

पाणिनि—'तस्मै प्रभवति संतापादिभ्य' (५।१।१०१), 'योगाद्यच्च' (५।१।१०२), 'कर्मण उकञ्' (५।१।१०३)

शाकटायन—'योगादये शक्ते' (३।२।९१), 'योग्यकार्मुके' (३।२।९२)

५ चार सूत्रोंके स्थान पर एक सूत्र । यथा—

पाणिनि—'शूलोखाद्यत्' (४।२।१७), 'दध्नष्ठक्' (४।२।१८), 'उदश्वितोऽन्यतरस्याम्' (४।२।१९), 'क्षीराड्ढञ्' (४।२।२०)

शाकटायन—'शल्योल्यक्षैरेयदाधिकौदश्वित्कौदश्वितम्' (२।४।२३८)

६ पाँच सूत्रोके स्थान पर एक सूत्र । यथा—

पाणिनि—'इदमोर्हिल्' (५।३।१६), 'अधुना' (५।३।१७), 'दानी च' (५।३।१८) 'सद्य' (५।३।२२), समानस्य सभाव (वा०)

शाकटायन—सदैतर्ह्यधुनेदानीन्तदानी सद्य (३।४।१९)

पाणिनि—'समयाच्च यापनायाम्'(५।४।६०), 'दु खात् प्रातिलोम्ये'(५।४।६४), 'निष्कुलान्निष्कोषणे' (६२), 'शूलात् पाके' (५।४।६५), सत्यादशपथे (५।४।६६) ।

शाकटायन—'दु खनिष्कूलशूलसमयसत्यात् प्रातिकूल्यनिष्कोषपाकयापनाशपथे' (३।४।५३)

७ छ सूत्रोके स्थान पर एक सूत्र । यथा—

पाणिनि—'मूर्तौ घन' (३।३।७७), 'उद्घनोऽत्याधानम्' (३।३।८०), 'अपघनोऽङ्गम्' (३।३।८१), 'उपघ्न आश्रये' (३।३।८५), 'सघोद्घौ गणप्रशसयो' (३।३।८६), 'निघो निमितम्' (३।३।८७)

शाकटायन—'घनोद्घनापघनोपघ्ननिघोद्घमघा मूर्त्यत्याधानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा' (४।४।२०) ।

८ आठ सूत्रोके स्थान पर एक सूत्र । यथा—

पाणिनि—'वे शालच्छङ्कटचौ' (५।२।२८), 'सम्प्रोदश्च कटच्' (५।२।२९), 'अवात् कुटारच्च' (३०), 'नते नासिकाया संज्ञाया टीटञ्नाटज्भ्रटच' (५।२।३१), 'नेर्बिडज्बिरीसचौ' (३२), 'इनच् पिटच्चिकचि च' (३३), क्लिन्नस्य चिल् पिल् (वा०), उपाधिभ्या त्यकन्नासन्नारूढयो (३४)

शाकटायन—'विशालविशङ्कटविकटसकटोत्कटप्रकटनिकटावकटावकुटारावटीटावनाटावभ्रटनिबिडनिबिरीसचिक्कचिकिनचिपिटचिल्लपिल्लचुल्लोपत्यकाधित्यका' (३।३।१०६)

९ नौ सूत्रोंके स्थान पर एक सूत्र । यथा—

पाणिनि—'वश गत' (४।३।८६), 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' (४।४।९२), 'मूलमस्याबर्हि' (८८), 'सज्ञाया धेनुष्या' (४।४।८९), 'सज्ञाया जन्या' (४।४।८२), 'गृहपतिना सयुक्ते ञ्य' (९०), 'नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसमितेषु' (९१), 'हृदयस्य प्रिय' (४।४।९५), 'बन्धने चर्षौ' (४।४।९६)

शाकटायन—'वश्यपथ्यवयस्यधेनुष्यगार्हपत्यजन्यधर्म्यहृद्यमूल्यम्' (३।२।१९५) ।

एक ओर जहाँ शाकटायनने पाणिनिके एक नियमवाले छोटे-छोटे कई सूत्रोंके स्थान पर अपने लम्बे-लम्बे सूत्र बनाकर सरलता ला दी है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने पाणिनिके लम्बे सूत्रोंको तोडकर उनके स्थान पर कई छोटे-छोटे सूत्र बना दिये हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है —

१ एक सूत्रके स्थान पर दो सूत्र। यथा—

पाणिनि—'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१)
शाकटायन—'राजन् सखे' (२।१।१६९), 'अह्न' (२।१।१७९)
पाणिनि—'नित्यमसिच् प्रजामेधयो' (५।४।१२२)
शाकटायन—'अस्प्रजाया' (२।१।१९७), 'अल्पाच्च मेधाया' (२।१।१९८)
पाणिनि—'पूतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ्' (४।३।५६)
शाकटायन—'दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यहेर्ढण्' (३।१।११८), 'आस्तेयम्' (३।१।११९)
पाणिनि—'यत्तदेतेभ्य परिमाणे वतुप्' (५।२।३९)
शाकटायन—'एतदो वो च' (३।३।६९), 'यत्तद' (३।३।७०)
पाणिनि—'बहुगणवतुडति सख्या' (१।१।२३)
शाकटायन—'षड्डति सख्या (१।१।९), 'बहुगण भेदे' (१।१।१०)
हाणिनि—'आद्यन्तौ टकितौ' (१।१।४६)
शाकटायन—'टिदादि' (१।१।५३), 'किदन्त' (१।१।५४)
पाणिनि—'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्या' (२।४।८३)
शाकटायन—'नात' (१।२।१५६), 'अमपञ्चम्या' (१।२।१५७)
पाणिनि—'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (२।४।८४)
शाकटायन—'तृतीया वा' (१।२।५८), 'सप्तम्या' (१।२।१५९)
पाणिनि—'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (२।३।३२)
शाकटायन—'पृथग्नाना तृतीया च' (१।३।१९२), विनेमास्तिस्र' (१।३।१९३)
पाणिनि—'निसमुपविभ्यो ह्व' (१।३।३०)
शाकटायन—'सन्निवे' (१।४।३०), 'उपात्' (१।४।३१)
पाणिनि—'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' (५।४।७४)
शाकटायन—'ऋक्पू पथ्यपोत्' (२।१।१३९), 'धुरो नक्षस्य' (२।१।१४०)

२ एक सूत्रके स्थान पर तीन सूत्र। यथा—

पाणिनि—'विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्' (२।४।१२)
शाकटायन—'अश्ववडवपूर्वापराधरोत्तरा' (२।१।९५), 'पशुव्यञ्जनानि (२।१।९६), 'तरुतृणधान्यमृगपक्षिबहुर्थीश' (२।१।९७)
पाणिनि—'दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि' (६।४।१७४)
शाकटायन—'दण्डिहस्तिन के' (२।३।५९), 'वाशिजिह्माश्यथ्वाथर्वयून फिढलठाके (२।३।६०), 'भ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयम्' (२।३।११२)

३. एक सूत्रके स्थान पर चार सूत्र । यथा—

पाणिनि—'अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्साममवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः' (५।४।७७)

शाकटायन—'जातमहद्वृद्धादुक्ष्णः कर्मधारयात्' (२।१।१५९), 'स्त्रिया पुंसो द्वन्द्वाच्च' (१५९), 'धेन्वनडुहर्क्सामयजुषाहोरात्रनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवोर्वष्ठीवपदष्ठीवाक्षिभ्रुवदारगवम्' (१६०)

४ दो सूत्रोके स्थान पर पाँच सूत्र । यथा—

पाणिनि—'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' (३।२।१४१), 'सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजपरिदेविसंज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुहदुहयुजाक्रीडविविचत्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च' (३।२।१४२)

शाकटायन—'शमष्टकदुषद्विषद्रुहदुहयुजत्यजरजभजाभ्याहनानुरुधो घिनण्' (४।३।२४२), 'आङ्क्रीडयमुष' (४।३।२४३), 'सम पृच्सृजज्वरोऽकर्मकात्' (४।३।२४४), 'चरोऽतौ च, (४।३।२४७), 'परे सृवद्हमुह' (४।३।२४९)

अनुवृत्ति, विकल्पो, अर्थविशेषो तथा निपातनोकी दृष्टिसे शाकटायनके इन प्रयासोका विस्तृत अध्ययन अत्यावश्यक है ।

शाकटायन व्याकरणमें एक सौ साठ सूत्र ऐसे है जो पाणिनीय सूत्रोके तुल्यवर्तनीक हैं । उनमें कुछ लम्बे सूत्र भी हैं । इस प्रकारके सूत्रोके विषयमें भी यह अध्येतव्य है कि शाकटायनने जिस प्रक्रियासे पाणिनीय सूत्रोको तोडकर कई सूत्र बनाये हैं क्या उस प्रक्रियासे इन समानवर्तनीक सूत्रोके लम्बे सूत्रोका योगविभाग किया जा सकता है ?

अपने व्याकरणको पृथुलतासे बचानेके लिये शाकटायनने पाणिनीय व्याकरणकी भाँति वार्त्तिकोंको अलग नही पढा । कात्यायन रचित वार्त्तिकोमे बिखरे सभी नियमोको शाकटायनने सूत्रोंमें निबद्ध कर लिया ताकि अध्येताओको पृथक्श वार्त्तिकोंके स्मरणकी आवश्यकता न पडे । वार्त्तिकोंके इन नियमोंके लिये शाकटायनने स्वतन्त्र सूत्रोंकी रचना नही की । किन्तु सम्बद्ध सूत्रोमें ही वार्त्तिकोंके नियम पचा लिये हैं । लगभग तीन सौ सूत्र ऐसे हैं जो केवल वार्त्तिकोके स्थान पर बनाये गये है ।

शाकटायन व्याकरण में अधिक सख्या ऐसे सूत्रोकी है, जिनमे पाणिनीय सूत्रोंको बडी सूझ-बूझके साथ सक्षिप्त कर दिया गया है । ऐसा करने पर विषयवस्तु में कोई अन्तर नही आ पाया है । ऐसे सूत्रोकी सख्या लगभग पन्द्रह सौ है ।

पाणिनीय व्याकरणका सम्पूर्ण तत्त्व पातञ्जल महाभाष्यमें निहित है । शाकटायन व्याकरणका अनुशीलन करनेसे ज्ञात होता है कि पाल्यकीर्तिने महाभाष्यका कितना तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था और वे उसमें कितने नदीष्ण हो गये थे । उन्होंने अपने सूत्रोमें महाभाष्यकी इष्टिया तथा उसके सभी वचन या वार्त्तिक पचा लिये हैं । इष्टियोंकी सख्या अधिक नही मिलती, पर भाष्यवचनोंकी सख्या लगभग पैंतीस है । शाकटायनने उन्हें छाँटकर सूत्रबद्ध कर दिया है ।

पाणिनीय व्याकरणमें गणसूत्र भी विद्यमान हैं, जिनका अध्ययन अध्येताको सूत्रों तथा वार्तिकोंसे अलग करना पड़ता है । शाकटायनने उनके नियमोंको भी यथास्थान सूत्रबद्ध कर लिया है ।

जिसप्रकार पाणिनिने पूर्व प्रचलित सम्पूर्ण व्याकरणोका परिशीलन कर अपना स्वोपज्ञ व्याकरण बनाया था, उसी प्रकार काशिकाकारने अपने कालमें प्रचलित सम्पूर्ण वृत्तियोका अनुशीलन कर काशिकावृत्ति की रचना की थी। अत: महाभाष्यके अनन्तर काशिकावृत्तिका अधिक महत्त्व है। व्याकरण-नियमोकी पूर्तिके लिए वह व्याकरण शृङ्खलाकी एक कड़ी है। इसके महत्त्वको समझ कर पाल्यकीर्तिने काशिकावृत्तिके लगभग चालीस महत्त्वपूर्ण वचनोंके भी सूत्र बना दिये हैं।

पाणिनीय व्याकरणकी अपेक्षा शाकटायनने धातुपाठमें भी वैशिष्ट्य रखा है। (कृदन्त प्रकरणमें) पाणिनीय साधित शब्दोंके अतिरिक्त शब्दोकी सिद्धियाँ शाकटायन व्याकरणमें दृष्टिगोचर होती हैं (द्रष्ट०- 'गोचरसंचर०' सूत्रमें 'खल' 'भग' शब्द)।

इतनी अधिक सामग्रीको शाकटायन व्याकरणमें कुल ३२३६ सूत्रोमे ही सन्निविष्ट कर देनेका चमत्कारी प्रयत्न हुआ है। यक्षवर्माने अपनी व्याख्यामें ठीक ही लिखा है—'यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'। एक दिनमें ९ सूत्रोका स्मरण करने पर एक वर्षमें सम्पूर्ण व्याकरणका ज्ञान शक्य है।

लक्ष्य-लक्षण मिलकर व्याकरण बनता है। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि तथा काशिकाकारके अनन्तर पाल्यकीर्तिके समयकी संस्कृत भाषामें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य हुए थे। बौद्धो और जैनो द्वारा रचे गये ग्रन्थोकी संस्कृत भाषा अपना व्यक्तित्व लिये हुए थी। इनके अतिरिक्त शिष्ट समुदायमे बोली जाने वाली संस्कृतमें भी पर्याप्त परिवर्तन हुए होंगे। शाकटायनके आमूलचूल परिशीलनसे इनका पता चलता है।

इस प्रकार हमने देखा कि शाकटायन व्याकरणने संस्कृत भाषाके अध्ययनमें बहुत बड़ा सहयोग प्रदान किया है। अपने परवर्ती वैयाकरणोंको प्रेरणा प्रदान की है। हेमचन्द्रने अपने व्याकरणमें शाकटायनव्याकरण के कतिपय सूत्रोंको अविकल गृहीत कर लिया है। सूत्रानुसारी व्याकरणोमे प्रक्रिया-पद्धतिकी नींव डालने का श्रेय शाकटायनको ही है। यद्यपि अध्यायोमें विभक्त होनेके कारण यह व्याकरण अध्यायानुसारी ही है, तथापि अध्यायोंकी व्यवस्था विषयानुसारिणी है। समासान्त सूत्रोको तत्पुरुषसमासके नियमोके अनन्तर पढा गया है। प्रक्रियाकौमुदी के रचयिता रामचन्द्र तथा वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीके रचयिता भट्टोजिदीक्षितने अपने ग्रन्थोमें इसी प्रक्रियाका अनुसरण किया है। 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' इत्यादि सूत्रोके उदाहरणोंकी परीक्षासे इसका और भी निश्चय हो जाता है। इतने उपयोगी व्याकरणका लोकमे भूयिष्ठ प्रचार प्राप्त न कर सकनेका कारण है—दार्शनिक पृष्ठभूमिका अभाव। उसके लिए भर्तृहरि जैसे दार्शनिककी अपेक्षा थी।



The Contribution of Karnataka To Jaina Literature & Culture

Dr K Krishnamoorthy, Dharwad

The early historians of Indian literature and culture have more often than not neglected the substantial contribution of the Jainas Even when the contribution is surveyed, sketchily though, by scholars like M. Winternitz, no attempt is made to assess the magnitude of the contribution of the Jainas regionwise Though many of the Jaina Tirthankaras were born in the North, it is an indisputed fact that Jainism in the historical period was patronised by kings of Karnataka in the South, more than any other region Most of the prominent rules of the Gaṅga, Cālukya, Rāṣtrakūta, Western Cālukya, and Hoysala dynasties were active promoters of Jainism For no less than eight centuries, (400 to 1200 A D) Karnataka saw the development of Jaina literature and culture not only in the medium of Sanskrit, but also Prakrit, Apabhraṁśa and old Kannada It is no wonder then that like the colossal statue of Bahubali which makes Sravana-Belgola a holy place of pilgrimage in Karnataka to the Jainas up to date, the equally impressive achievements of eminent Jaina Ācāryas in several literary and cultural fields-like literature, grammar, religion, philosophy, poetics, lexicography, porosody, architecture, sculpture, painting, music etc. await yet to be studied closely In the space of this short paper, what is attempted is only a very broad indication of some of the most outstanding works, especially in Sanskrit, which might be deemed as the signal contribution of Karnataka to Jaina literature and culture Even such a short survey is rendered possible now, thanks to the new publications brought out in the last two or three decades by premier learned bodies like the Bharatiya Jnanapith

Among the Jaina pontiffs who receive first and foremost mention by almost all Jaina writers in Karnataka is Samantabhadra who is the author of several works including *Āpta-mīmāṁsā* His field of activity lay mainly in the South, round about Kanchi (according fifth) to legendary accounts) and his date is generally regarded as the fifth century after the Christian era. It is because of his irresistible influence that the Digambara tradition of the Jainas took deep root in Karnataka.

According to a constantly repeated epigraphic tradition, the kings of the Gaṅga dynasty starting from Mādhava held the ascetic Siṁhanandi in the highest regard as the carver of their royal fortune It is virtually certain that Pūjyapāda or Devanandin was the religious preceptor of these kings in the period 450 to 500 A.D He systematised for the first time the tenets of Jaina philosophy by writing his celebrated commentary, *Sarvārthasiddhi* on Umāsvāti's *Tattvārthādhigama-sūtra*. It begins with the oft-quoted prayer to Jina,

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

'I bow down to Jina, the Leader in the Pathway to salvation, The Destroyer of mountains of Karma, the Knower of all—so that I might imbibe his virtues'

He cannot be much earlier because he is seen quoting from Dinnāga, the Buddhist logician (A D 345–425) and Īśvarkrsna, the Sānkhya philosopher (A D, 450) Among his most celebrated works is the *Jainendra Vyākarana* which successfully attempts to achieve a greater measure of brevity than Pānini himself in presenting methodically all the rules of Sanskrit grammar He is also credited with a gloss on the Pāninian grammar, termed *Śabdavatara* which has been unfortunately lost

न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद ,
स्वामी भूपालवन्द्य स्वपरहित पूर्णदृग्बोधवृत्त ॥

[*Epigraphia Carnatica*, Nagar Taluk, No 6]

'Pūjyapāda, the eminent pontiff, commanded reverence from kings, did good to one and all, was omniscient and led an exemplary life He wrote the extensive grammar, known as 'Jainendra' praised by all scholars as well as an extensive gloss on Pānini's grammar known as *Śabdavatara* Further, he composed a treatise on medicine conducive to the weal of people at large, and an authoritative commentary on the text of the '*Tattvartha*'

Similarly, in the history of Indian poetics, the first ever mention of '*Praśānta*' or tranquillity as '*Kāvy –rasa*' or poetic sentiment is traced in the Jaina canonical text *Anuyogadvāra-sutta* (in Ardhamāgadhī) whose date, according to its recent editors, cannot be later than 300 A D (See Muni Punyavijayaji, Dalsukh Malvania and Amritlal Mohanlal's edition, Mahavira Jaina Maha Vidyalaya, Bombay, 1968, Introduction). No doudt, we have the expression '*Vyupaśanti*' or detachment in a general sense used by the Buddhist poet Aśvaghoṣa in his ornate epic–*Saundarananda* in the concluding portion, but it does not carry the technical sense of a poetic sentiment as understood in Loetics But here, in the Anuyogadvāra text '*Kavva- asas*' (– *Kāvya-rasas*) are specifically enumerated as nine, including '*Pr śānta*' (or *śānta*) and substituting '*Vrīd naka*' ('sense of shame') in place of *bh vanaka* ('fearful')

णव कव्वरसा पण्णत्ता—वीरो सिंगारो अब्भुओ अ रोद्दो ।
अ होइ बोद्धव्वो वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसन्तो अ ॥

[Op cit p 121]

The nine rasas are also illustrated with examples The example given for '*Praśānta-rasa*' or tranquillity is—

सब्भावनिव्विकारं उवसन्त-पसन्त-सोमदिट्ठीयम्।
हो जह मुणिणो सोहृति मुहकमल पीवरसिरीयम् ॥

[*Op cit* p 124]

Glorious is the lotus—face of the ascetic, unperturbed by any emotion, with a calm, tranquil and sweet look !

In the light of this incontestable evidence, one would not be wrong to think that the redaction in Bharata's *Nātyaśāstra* including *śānta* as a ninth *rasa* may have been inspired by the influence of Jaina thought

The most celebrated lanmark in the history of ***Belles lettres*** is Ravikirti's ornate eulogy (*Praśastikāvya*) of the Cālukya king, Pulakeśin II, dated 634 A D He regards himself as a poet on a par with celebrities like Kālidāsa and Bhāravi, At Aihole (Taluka—Badami, Dist, Bijapur), he religiously got a temple of Jina built in hard stone —

येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ सुमतिना जिनवेश्म ।
स जयता रविकीर्ति कविताश्रितकालिदासभारविकीर्ति ॥

[*Epigraphia Indica, VI No 1*]

The pun (*ślesa*) and rhyming repetition (*Yamaka*) even in this single stanza is enough to show his great command over the Sanskrit tradition of ornate poetry. If his contemporary in the North viz Bāna Bhatta, the courtpoet of Emperor Harsa was singing his patron's glory in hyperbolic fashion (by writing the *ākhyāyikā* or biography, namely, the *Harsacarita*, Ravikīrti, the court-poet of Pulakeśin II in Karnataka could resoundingly poke fun at the defeated Northern ruler —

भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्ष ।

[Loc. cit]

Possibly, he was also the author of a *Karnateśvara-kathā* eulogising the hero Pulakesin, this work is alluded to in Jayakirti's *Chandonuśāsana*, but it is unfortunately lost

To the same period belongs Ravisena, the author of the *Padmacarita* or Jaina Rāmāyana in Sanskrit consisting of 18000 verses divided into 123 *Parvans* or books based on the earlier *Paumacariu* in Prakrit by Vimalasūri Like Vālmiki, Ravisena too became a poet's poet very soon and we have a number of later Rāmāyana works in several languages following this Jaina version

Equally important in the history of Sanskrit ornate poetry is Jatasimha-mandin's ***Varāngacarita*** which is a religious and didactic epic couched in the ornate style of the ***mahākāvya*** As Dr A.N Upadhye has shown in his learned introduction to this poem edited by him. His other names were Jatila or 'Jatācārya' and a number of Jaina

poets in Sanskrit, Apabhraṁśa and old Kannada have referred to him with respect. A memorial in stone is preserved upto to this day at Koppal. It became the model for *carita-kāvyas* or poems centred around religious heroes which were compose large numbers by later Jaina poets. (For further details, see A N Upadhye's article in ABORI, XIVI-2) Kavi Parameśvara or Parameṣṭhi is another ancient poet whose work '*Vāgarthasangraha*' in no longer extant

The heyday of Jaina literary activity and philosophical systematisation, is reached in this period because latest researches show that Akalaṅka, the great Ācārya, must have enjoyed the patronage of the Cālukyas of Badami Epigraphs mention that Akalaṅka was honoured at the court of king Sāhasa-tuṅga, who has been identified with Cālukya Vikramāditya I, son and successor of Pulakeśin II, who ruled from 642 to 681 A.D (See Dr Jyoti Prasad Jain, The Jaina Sources of the History of Ancient India, Delhi, 1964, p 179) The epigraphic evidence relevant here is —

राजन् साहसतुङ्ग सन्ति बहव श्वेतातपत्रा नृपा, किंतु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभा ।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो, नानाशास्त्रविचारचातुरधिय काले कलौ मद्विधा ॥

[*Malliṣeṇa Praśasti*, Jain Lekha Sangraha, II No 290]

'O king, Sāhasatunga ! Indeed many kings there are with royal emblems of white parasoles But rare are kings as victorious as yourself in battles and as generous as yourself in gifts. So too there are scholars galore on earth But in this iron age, scholars are rare who, like me, can claim the highest proficiency in poetry, debate, polemical skill and expertness in discussions involving all branches of knowledge !'

Another epigraph at Sravanabelagola states that he defeated the Buddhists in a great scholastic debate in the year 643 A D —

विक्रमाङ्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि ।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

(R Narasimhachar, Inscriptions at Sravanabelgola, 2nd Ed Introduction) According to *Malliṣena Praśasti* the court of King Himaśitala was the place of this historic debate This Himaśitala has been recently identified with the *Trikalingadhipati* mentioned by Hiuen Tsang (Dr J P Jain, Journal of the U P Historical Society, Vol III (New Series), Pt 2, pp 108–125) Akalaṅka has written outstanding works on Jaina Logic and epistemology like *Tattvartha-rāja vārttika*, *Aṣṭaśati*, *Siddhiviniścaya* and *Pramāṇa-sangraha*, refuting the arguments of Buddhist logicians like Diṅnāga

Among earlier writers on Jaina metaphysics and logic, referred to by Akalaṅka are Mallavādin, author of *Nayacakra*, and Siddhasena Divākara The latter also is the author of the popular devotional hymn (*stotra*) known as *Kalyāṇamandirastotra* (See Kāvyamālā, VII, Bombay, 1907, pp 10-17). Similarly, Guṇanandin's *Jainendra-prakriyā*, which is sometimes alluded to by later writers, appears to have been composed under the Cālukyas of Badami The Jaina version of *Bṛhatkathā* of Guṇāḍhya

wherein the supernatural and romantic episodes of Naravāhanadatta are transferred to Vasudeva, with slight variations is *Vasudevahiṇḍi* of Sanghadāsagani and it is ascribed again to this period. It illustrates the pithy observation of Dhanapāla that all tales in Indian literature are more or less mere variations of the original theme contained in the *Bṛhatkathā* itself —

सत्यं बृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृता ।
तेनेतरकथाकन्था प्रतिभान्ति तदग्रत ॥

This was also the period which saw the foundation of the Daviba-saṅgha dy the pontiff Vajranandin at Madurai, its branches were spread over Karnataka also as evidenced by epigraphs

It is again a Jaina poet from Karnataka, viz Dhanañjaya who added a new dimension to the domain of Sanskrit *Kāvya* by composing the first *Dvisandhāna-kāvya* or equivocal poem in which the same verses yield simultaneously the story of the Rāmāyana as well as the Mahābhārata It is indeed a rare feat exploring the inexhaustible elasticity of the Sanskrit language The same poet has also written a lexicon-*Nāmamālā* and devotional hymn *Visāpahāra-stotra* As he is quoted by Vīrasena in his *Dhavalā* (completed in 780 A D), he might be a century earlier In the *Nāmamālā*, Dhanañjaya's treatment of synonyms and homonyms marks an advance over that of even Amarasiṁha For example, he first enumerates twentyseven synonyms of 'earth' such as '*Bhūmi*', '*Pṛthvī*' etc. and adds crisply —

तत्पर्यायधरः शैलः तत्पर्यायपतिर्नृपः ।
तत्पर्यायरुहो वृक्षः शब्दमन्यत्र योजयेत् ॥

Mathematically, we get here a record of 27X3 = 81 vocables To each of the twentyseven names of भूमि we can and '-धर' when it would mean 'mountain', or '-पति' when it would mean 'king' or '-रुह' when it would mean 'tree' —

भू + धर – भूधर = Mountain
पृथ्वी + धर = पृथ्वीधर = Mountain
भू + पति = भूपति = King
पृथ्वी + पति = पृथ्वीपति = King
भू + रुह = भूरुह = Tree
पृथ्वी + रुह = पृथ्वीरुह = Tree

Dhanañjaya's *Viṣāpahāra-stotra* is as lucid and charged with devotion as his *Dvisandhāna* is difficult Here is an example at random —

विषापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च ।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि ॥
[Kāvyamālā, VII, Bombay, 1907. P. 23, verse-14]

'People foolishly pursue the acquisition of poison-cures like gems, herbs, spells, drugs and so on because they do not know that all of them are really identical with Thy grace, though they recite all the time Thine own synonyms !'

Dhanañjaya's *Nāmamala* records in one of its concluding verses the greatness attained by three works of the masters Pūjyapāda, Akalaṅka and Dhanañjaya himself because they were mentioned together by scholars as the veritable '*Ratna-traya*' or triple gems of Jainism —

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
धनञ्जयकवे काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

A contemporary of Dandin and Dhanañjaya seems to have been Śrīvardhadeva who wrote the glorious poem '*Cūdamaṇi*' according to an inscription He is said to have won the following tribute from the masterpoet Dandin —

जह्नो कन्या जटाग्रेण बभार परमेश्वर ।
श्रीवर्धदेव सधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीम् ॥

[*Epigraphia Carnatica*, II, No 67]

'If Lord Śiva bore Gaṅgā on the top of his matted locks of hair, O Śrīvardhadeva, You bear Sarasvatī at the tip of your tongue !'

Unfortunately, the work is no longer extant

The regime of the Rāṣṭrakūṭa kings was equally favourable to the promotion of Jaina religion As a result we see the rise of encyclopaedic commentaries ont he old canonical texts in this period We also the creative boom in the composition of religious poems (*Purāṇas*) eulogising all the great figures held sacred by Jainas Vīrasena and Jinasena II were teacher and disciple who jointly completed the gigantic project of commentaries in the *manipravāla*, or 'gem-coral' style mixing both Sanskrit and Prakrit —

प्राय सस्कृतभारत्या क्वचित् सस्कृतमिश्रया ।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽय ग्रन्थविस्तर ॥ [टीकाकार-प्रशस्ति]

Their extent exceeds some 100,000 *ślokas* Their only Manuscript copy in plam-leaf has been preserved up to date in the Jaina dāna-śālā-matha at Mūḍabidre in Karnatak From the colophons of the work we learn that the *Dhavala* of Vīrasena was completed in 780 A D and that the *Jayadhavalā* of Jinasena II was completed in 837 A.D While the *Dhavalā* on *Ṣaṭkhandāgama* is published by Dr. H L Jain from Amrovti, the *Jayadhavalā* portions (*Kaṣāya-pāhuḍas*) are published by the Jnanapith, Kashi (1947) (For fuller details see J. P Jain, The Predecessors of Swami Virasena, Jaina Autiquary, XII, i-pp 1-6).

The *Harivamśa-purāna* by Jinasena I was completed in 783 A D It is also a very extensive religious poem, giving for the first time the Jaina version of *Harivaṁśa*

Jinasena II was also a great poet who wrote the magnificent *Ādipurāṇa* dealing mainly with the epic story of Bharata and Bāhubali. It is as much a refined poem as a religious scripture The work, though very voluminous, remained incomplete till it was completed by his gifted pupil Gunabhadra whose supplementary work is known as *Uttarapurāṇa*. The importance of these works will be realised only if we see how Jinasena's work set the tradition to be followed by all old Kannada *campū*-writers for several centuries Guṇabhadra states that this Jinasena was the *guru* of king Amoghavarṣa–I :—

यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्पादाम्भोजरज - पिशङ्ग मुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युति ।
सम्मर्ता स्वममोघवर्षनृपति पूतोऽहमद्येत्यल स श्रीमान् जिनसेन-पूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥

Another literary work of this Jinasena is equally significant becase it sketches the life-history of Pārśvanātha-tīrthankara by a very ingenious device of *Samasyāpūraṇa* (a part of a stanza added to another to complete the sense in a different way) and incidentally incoproates the entire text of Kālidāsa's *Meghadūta* In the *Pārśvābhyudaya* Jinasena adds to every single or double line of Kālidāsa three or two lines of his own and achieves the intended meaning referring to Pārśvanātha This work has proved most useful in deciding Kālidāsa's original text and readings In the colophon of this poem too, we are told that Jinasena was the esteemed preceptor of king Amoghavarsa I —

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरु-श्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये····।

This King himself has written the short and beautiful string of epigrams in question and answer form known as *Praśnottara-ratnamālikā* Though some of the published versions of this poem assign it sometimes to Vimala and sometimes to Śaṅkarācārya, the early Tibetan translation as well as Karnataka commentorial tradition of the Jainas testify to its composition by Amoghavarṣa himself The twenty and odd verses in the *ārya* metre are at once pithy and profound One example may b e cited here —

किं जीवितमनवद्य किं जाड्य पाटवेऽप्यनभ्यास ।
को जागर्ति विवेकी का निद्रा मूढता जन्तो ॥

[Verse II, Kāvyamāla edn VII, Bombay, 1907, p 122]

Q 'What is life ?' Ans 'Only that which is inpeccable'

Q 'What is dullness ?' Ans 'Avoidance of study even when there is intelligence'

Q Who is awake ?' Ans 'A wise man'

Q 'What is sleep ?' Ans 'One's foolishness !'

It is recently established that even Haribhadra, the compiler of the very popular philosophical treatise, *Saddarśana-samuccaya* belongs to this period because a citation from the Hindu logician Jayantabhatta's *Nyāyamañjari* (9th century A D) has been traced therein (Cf गम्भीरगर्जितारम्भ · etc.) as well as another citation from the Buddhist Śāntirakṣita's *Tattvasangraha* (C.800 A.D).

One of the epigraphs of this period mentions Kaumāra or Kātantra system of grammar in which specialists were available. The famous gloss (*Vṛtti*) on the *Kātantra-sūtras* was written by Durgasiṁha belonging to this period. Similarly, a Jaina grammarian Śākaṭāyana (or Pālyakīrti) in the court of Amoghavarṣa-I founded, like Pūjyapāda, another new system of grammar known as the Śākaṭāyana school. He not only subjects Pāṇini and Pūjyapāda to a further compression, but also anticipates in his arrangement the example followed later by authors of *Kaumudī*-texts. The *sūtras* or aphorisms are arranged topic-wise and make for easy comprehension Besides being the author of *sūtras*, entitled *Śabdānuśāsana*, Śākaṭāyana himself has also added an auto-commentary thereon, called *Amoghavṛtti* in honour of his patron-king

Again, the Jaina mathematician Mahāvīrācārya who wrote the *Gaṇita-sāra-saṅgraha* was a protege of king Amoghavarṣa

The patronage of the Gaṅgas of Talkad, further South, to Jaina writers continued unabated throughout this period and later also Perhaps the last great creative thinker in Syādvāda is Vidyānanda (Vidyānandin) who mentions the Gaṅga kings Śivamāra (785-800 A D.) and Rācamalla Satyavākya I (815-850 A D) His monumental works are *Ślokavārtika*, *Aṣṭa-sahasrī*, *Yuktyanuśāsana*, *Āpta-parīkṣā*, *Pramāṇa-parīkṣā* etc His place in Jaina metaphysics in comparable to that of Dharmakīrti in Buddhist thought. Karnataka also saw the rise of well-known commentators on philosophical texts like Prabhācandra (980-1065 A D) and Anantavīrya (850 A D) Judging by the fact that Cāmundarāya, the minister of the Ganga king Rocamalla IV was erecting the colossal image of Bāhubali in the 10th century, we can imagine a similar spurt in the all-round literary activity of the Jainas of that period Thus we see a Jaina writer Jayakīrti composing an authoritative work on Sanskrit and Kannada prosody called *Chandonuśāsana* (1000 A D) This has been critically edited by H D Velankar (*Jayadāman*, Bombay, 1949, p 37 f) It is composed throughout in verse and refers to less known Jaina poets like Asaga, the author of the *Vardhamānapurāṇa* The seventh chapter is specially interesting as it throws sidelights on indigenous Kannada metres It is called कर्णाटविषयजात्यधिकार and sums up the indigenous Kannada metres in one verse as follows —

वक्ष्येऽक्षरत्रिपद्येलाक्षरिकाषट्पदीचतुष्पदिका ।
छन्दोऽवतससज्ञा मदनवतीगीतिकादिमपि कर्णाटे ॥

[Ibid VII 1]

Both Puṣpadanta, author of Mahāpurāṇa and Somadevasūri, author of the celebrated *campū* work *Yaśastilaka*, were patronised by the Rāṣṭrakūṭa king Kṛṣṇarāja III, The colophon of the *Yaśastilaka* states —

पाण्ड्यसिंहलचोलचेरमप्रभृतीन् महीपतीन् प्रसाध्य मेल्पाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे गङ्गधारायां

and the *Praśasti* of the *Mahāpurāṇa* reads :—

दीनानाथधनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं
मान्याखेटपुरं पुरन्दरपुरीलीलाहरं सुन्दरम् ।
धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियम्,
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः ॥

It speaks of the lovely capital Manyakheta of Raṣṭrakūṭas ravaged by the king of Dhārā. The *Yaśastilaka* represents a lively picture of India a time when the Buddhist, Jaina and Brahmanical religions were still engaged in a contest that drew towards it the attention, and well-nigh absorbed the intellectual energies of all thinking men'. The story is of Yaśodhara's different births and sufferings, popular among Jainas, but in the treatment of the same, Somadeva has shown such an encyclopaedic genius that a scholar today (like Dr Handiqui) could reconstruct all shades of Vedic, Agamic, Tantric, and popular wisdom current at the time by research in this single work He could truly say —

मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे ।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥

"As I have sumptuously quaffed the nectar essence of all literary ingredients, the poets hereafter to come will have to content themselves with only my leavings !'.

Somadeva's second work which compels attention is his treatise on politics, viz the *Nitiwākyāmṛta* It is modelled on Kautilya's *Arthaśāstra* in concise style as well as content and has been recently translated into Italian It is one of the very few books on the subject and has 32 chapters dealing, among other things, with the value of life, the sciences, the minister, preceptor, general, envoy, spy, *saptāringas* of state, judiciary, diplomacy, war and peace

The patronage extended to Sanskrit writers by the Western Cālukya kings of Kalyāna was almost unprecedented in the history of Karnatak It appears as if there were a healthy competition between Bhoja of Dhārā and these kings in respect of patronage to poets The Jaina Vādirāja in the court of Jayasiṁha II [Jagadekamalla (1015-1042 A.D) was indeed a star deserving a place in the company of Samantabhadra and Akalaṅka *Malliṣena-praśasti* (E I, III, P. 18) speaks of him in hyperbolis terms -

त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदजायत ।
जिनराजत एकस्मादपरस्माद्वादिराजतः ॥

"A speech which illumined the three worlds has issued only from two persons on earth · one (was) the king of Jinas, the other-Vādirāja

The present writer has given a exhaustive study of Vādirāja's *Yaśodharacarita* in his edition of that work published with the commentary of Lakṣamana by the Karnatak University, Dharwar in 1963 It need not be repeated here He philoso-

phical work *Siddhiviniścaya* published by the Bharatiya Jnanapith, is equally outstanding A careful study of it will show how Vādirāja eminently deserved such high titles as '*ṣaṭ-tarka—Ṣaṇmukha*', '*Syādvāda-vidyāpati*' and '*Jagadeka-mallavādin*' He gives here elaborate critiques of all the systems of Indian philosophy from the Jaina perspective, refuting the arguments of masters of rival schools like the Buddhist Dharmakīrti as interpreted by Arcata and Dharmottara, Mīmāṁsaka Kumārila Bhatta and Vedāntin Śaṅkarācarya Another religious poem by Vādirāja is *Pārśvanāthacarita*, and his popular devotional hymn-*Ekībhāvastotra* Dayāpāla, a fellow-student of Vādirāja wrote *Rūpasiddhi*, a revised commentary on *Śākaṭāyana-vyākaraṇa* A protege of King Someśvara III (1127-1138 A D) was Pārśvadeva who wrote a work on musicology, named *Saṅgītasamayasāra* It is a very important work to understand the evolution of Indian music Mention should also be made here of Vādībhasiṁha who wrote the *Gadyacintāmaṇi* in ornate prose and *Kṣatracūḍāmaṇi* in lucid verse. He is said to have been a pupil of Somadeva But since the present writer has given a detailed study of these else where (Journal of the Karnataka University, Humanities, 1978), they are not elaborated here So also a detailed study of Ajitasena's *Alaṅkāracintāmaṇi* has been made in the present writer's *Essays in Sanskrit Criticism* (2nd Edn Karnatak University, Dharwar, 1976)



लेखसार

कर्नाटकका जैन साहित्य और संस्कृतिके क्षेत्रमें योगदान

डॉ० के० कृष्णमूर्ति, सस्कृत विभाग, धारवाड़

कर्नाटक ४००-१२०० के बीच आठ सौ वर्षों तक सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश एव कन्नडके माध्यमसे जैन साहित्य एव सस्कृतिके विकासमें योगदान करता है। यह योगदान बाहुबलीकी प्रतिमाके समान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस लेखमें कर्नाटकने सस्कृतके माध्यमसे इस दिशामे जो काम किया है, उसका सक्षिप्त वर्णन किया गया है।

इसी क्षेत्रमें पांचवी सदीके लगभग समन्तभद्र और पूज्यपाद हुए जिन्होने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथोके निर्माण द्वारा जैन सिद्धान्तोको इस क्षेत्रसे प्रतिष्ठित किया। सभवत तीसरी सदीमें रचित अनुयोगद्वार-सूत्रमे ही सर्वप्रथम काव्यके क्षेत्रमें वर्णित नव रसोमे प्रशान्त रसका समाहरण हुआ और भयानक रसके बदले, 'वृदानक' रसका नामोल्लेख हुआ। सभवत भरतके नाट्यशास्त्र में 'शान्त रस' के रूपमें नवमे रसका उल्लेख इसी से प्रभावित है।

प्रशस्ति-काव्योंके क्षेत्रमें सन् ७३४ में शासन करने वाले चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीयका रविकीर्ति द्वारा लिखित प्रशस्तिकाव्य काव्यकी कोटिका उत्तम उदाहरण है। इन्होने कर्नाटेश्वर कथा भी लिखी थी। इसका उल्लेख जयकीर्तिके 'छन्दोनुशासन' में पाया जाता है। इसी समय रविषेणने भी जैन रामायण के रूपमें पद्मचरित लिखा जो पूर्ववर्ती विमलसूरि लिखित 'पउमचरिय' पर आधारित है। जयसिंहनन्दिका

'वरागचरित' तथा परमेश्वर का 'वागर्थसंग्रह' भी अतुलनीय रचनाएँ हैं। इसी प्रकार अकलंक, मल्लवादी, सिद्धसेन दिवाकर, गुणनन्दि, गुणाढ्य आदिने भी धर्म तथा साहित्यके ग्रंथोंका निर्माण कर अपनी यशोध्वजा फहरायी।

संस्कृत काव्योंमें सर्वप्रथम द्विसंधान-कोटिका काव्य कर्नाटकके धनंजयने ही रचा जिन्होंने नाममाला नामक शब्दकोश भी बनाया। इन्हींके समकालीन ओवर्धदेव ने 'चूडामणि' काव्य भी लिखा।

राष्ट्रकूट युग भी जैनधर्मके संवर्धनके लिये महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस युगमें आगमग्रंथो पर बृहत् टीकाएँ लिखी गईं, पुराण लिखे गये। धवला, जयधवला, हरिवंशपुराण आदि इसी काल की रचनाएँ हैं। जिनसेनके आदिपुराण और पार्श्वाभ्युदयको कौन भूल सकता है? ये अमोघवर्षके राज्यकालमें हुए हैं जिनकी 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' प्रसिद्ध है। इसी युगमें कातन्त्रव्याकरणके रचयिता कौमार, शाकटायनव्याकरणके रचयिता पाल्यकीर्ति और गणितसारसंग्रहके रचयिता महावीराचार्य भी हुए। उत्तरवर्ती गंगराज शिवमार के समयमें प्रसिद्ध तार्किक विद्यानन्द हुए जिन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके समान अनेक ग्रंथोकी रचना की। कर्नाटकमें आगे चलकर प्रभाचंद्र और अनंतवीर्यके समान उत्कट जैन दार्शनिक हुए। यही राष्ट्रकूट-राज कृष्णराज तृतीयने पुष्पदन्त और सोमदेवसूरिका संवर्धन किया। सोमदेवने यशस्तिलकचम्पूके अतिरिक्त राजनीति-विषयक नीतिवाक्यामृत भी लिखा जो कौटिल्यके अर्थशास्त्रका संक्षिप्त रूप है। इसका इतालवी भाषामें अनुवाद किया गया है।

कर्नाटकके इतिहासको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि धाराके भोज और कर्नाटकके चालुक्यराजाओं में कवियोंके संरक्षणके लिए प्रतिस्पर्धा रही हो। जयसिंह द्वितीयके शासन कालमें यशोधरचरित तथा सिद्धिविनिश्चयके रचयिता वादिराज निश्चय ही अत्यन्त प्रशंसनीय आचार्य हुए हैं। इन्होंने चरित और स्तोत्रके अतिरिक्त 'रूपसिद्धि' नामक व्याकरण ग्रंथ भी लिखा है। बारहवीं सदीके जैन लेखकोंमें संगीत-समयसार के रचयिता पर्वदेव, गद्यचिन्तामणि के रचयिता वादीभ सिंह तथा अलंकारचिन्तामणि के रचयिता अजितसेनके नाम प्रमुख हैं। इन पर लेखकने विस्तृत अध्ययन कर टिप्पण लिखे हैं।



Kannada and Jaināgama Sāhitya

Prof M D Vasantharaj, Mysore University Mysore

Whenever the subject of contribution of Jainas to Kannada is spoken of, usually the poetry aspect of the contribution is taken note of and the other aspects are ignored, if not unnoticed The fact is, that by Jaina, contributions Kannada have been ranked to the level of Prākṛta and Saṁskṛta

Available evidences point out, that just as Prākrta and Saṁskrta languages, Kannada also was used for the cultivation of Jaināgama literature and again in time factor it is equally coextensive with that of Sanskrit, if not more The History of the composition of Ṣatkhandāgama and its commentaries reveals that Kannada was used along with Prākṛta with equal propensity Unless there should be some strong reason or urge an adoption of Kannada in composing commentaries on revered Siddhānta work shall not have taken place In this regard we are to take note of some of the factors related to the composition of Satkhandāgama It is well known that the scheme of the composition of Ṣatkhaṇḍāgama was planned and also was initiated by Puṣpadantācārya, who had definitely a regional affinity for Karnāṭaka, and in particular to the region around Banavāsi It is here at Banavāsi that Puspadantācārya initiated the composition of Ṣaṭkhandāgama which has been looked upon with great veneration being considered as the essence of the entire angaśruta [1] In fact it shall not be out of tune if it should be said here that for Digambara Jains Banavāsi is an Atiśayakṣetra being the 'Śrutapravartana Tīrthasthāna'— The first commentary on this Siddhānta grantha Rāja was composed by Ācārya Kunda who is looked upon as one of saviours of the Jaina Digambara sect Next to his commentary, is by Śyāmakunda, commentary of the type of 'Paddhati' where in Kannada had its place in addition to Prākrta and Saṁskrta [2] The commentary 'Cūdāmaṇi' mentioned next to that of Śyāmakunda is by Tumbulūru Ācārya This commentary on the first five Khaṇdās of Satkhaṇdāgama was of the extent of eignty four thousand granthas was composed in Karnāṭa Bhāṣā i e, Kannda alone In addition to this a Pancikā type of commentary on the sixth Khaṇḍa is said to have been composed by this same Ācārya [3] But the name of the language, in which this was composed, is not mentioned Any how this statement appears as though it is a continuity of the preceeding one and so even this commentary probably must have been composed in Kannada Depending on the authenticity of the available traditional accounts it can be said confidently that the commentary 'Cūḍāmaṇi' happens to be the earliest independent literary composition in Kannada The date of composition of this work cannot be later than 5th century A D as Samantabhadra whose date is decided to be the

later part of 5th century A. D., is mentioned to be the next to that of Tumbutūru Ācārya. There must have been some kind of strong urge for the adoption of Kannada for composing the commentary on a work of Siddhānta or Āgama type, the grasp of which was limited to only a very few, and one such probable urge must have been there because of the need for easy and correct grasping of the Siddhānta by the Munsi who came from Karnātaka area and were in good number in the Munisaṅgha Any how those commentaries composed in Kannada have not come down to us and even then the authenticity of the tradition cannot be doubted because the authenticity of other statements of Śrutāvatāra has been proved beyond any doubt

Since the day of the completion of Ṣatkhaṇḍāgama an account of the history of its composition and of its commentaries as they were composed was handed down and this incidentally we have the account of the composition of 'Cūḍāmaṇi' commentary in Kannada. With the exception of this traditional account we have nothing else as evidence to say whether, such of the commentaries or any other type of literary compositions were composed or not But any how it shall not be irrational if we should say that works in Kannada used to be composed and they are lost just as many Sanskrit and Prakrit works, composed by such eminent Ācāryas Samantabhadra Swāmi and Pādalipta Sūri, are lost

In the field of Kāvya literature, the available earliest Kāvyas are Jaina Kāvyas Just as Kālidāsa, Bhāravi, Māgha, Śri Harsa are the well known and venerated names in Sanskrit literature, Pampa, Ranna, Ponna, Janna, Abhinava Pampa-Nāgacandra are the well known venerated names in the Kannada literature and it is needless to say that all the later are the names of Jaina Poets Usually these poets have chousen Purānic story for the theme of their Kavyas and there in they have invariably incorporated the elements of Jaina metaphysics and ethics

It appears that during the period of the rule of Śātavāhanas and of their fudatories and their successors, in the major part of Karnātaka, Prākrta and Kannaḍa had a place of estimation being favoured by the rulers and elites as well But with the commencement of the rule of Kadambas of Brahmanical leneage Sanskrit could gain the favour of the rulers More over it is at this same period that under the rule of the Guptas revival of Sanskrit took place and its sway extended through out the North India, and also South India could not remain free from its impact and influence Thus with these favourable conditions Sanskrit gained supremacy and held its dominance upto 10th century A. D. in Karnataka

Thus because of this domination of Sanskrit, Kannada had a severe set back with the result that no Kannada literary work of this period has survived to reach us Not that literary activity was completely a blank, but that as said earlier no work of this period has survived to reach us Any how available materials clearly point out that there was cultivation of Kannada literature throughout this period

Tenth Century happens to be a golden period in the history of Kannada literature not only from the view point of highly elegant Kāvyas but also from the view point of the assertainment of Kannada of its due place of honour in its homeland Innumerable works pertaining to Jaina Āgama which are composed from 11th Century on words are lying in our Bhandārs Some of them are independent—Original works and others are commentaries on Prākṛta and Saṁskṛta works The study of these works is a desideratum, very often they reveal such facts which are very important and are not found in other sources of Prākṛta or Saṁskṛta.

In this regard independent-original works 'Śrāvakācāras' in good number are worth mentioning In fact some of them had gained local popularity and influenced very much the lay mans life These works in addition to the normal duties and vows of a Śrāvaka expound the importance and essentiality of Jina Pūjā and etc, which are not found in some of the well known works like Ratnakaraṇḍaka Śrāvakācāra. 'Suvicāra Carita' is one such work which appears to have been very popular There are a good number of original independent works on other branches of Āgama literature such as on the theory of Karma, tattva, loka and etc, some of which are worthy of being brought to light

There are innumerable works of the type of commentaries which are lying hidden and uncared for in the Bhandārs Particularly commentaries or ṭikās on the works of such eminent Ācāryas as Kundakunda and others are very useful in many respects If not the publication of all the works at least a discriptive catalogue pertaining to their works is very essential

Writing of either the original independent works or of translation type of works is not 'A Past' Many works with discussions, on modern lines, touching the subject of Āgama particularly pertaining to the field of Philosophy have been published Translations of Ratnakaraṇḍaka Srāvakācāra, Dravya Saṁgraha, Anyayoga Vyavaechedikā, Sāmaya Sara and many others have been published This translation is not limited to the Sanskrit or Prakrit works alone

Translations of the works in Hindi and other languages also have been published and one such work worth mentioning here, being very popular, is Pandit Kailāsacandra Śastriji's 'Jaina Dharma' Likewise it is very much necessary to have the selected Kannada works translated into Hindi and thus maintain good conduct between North and South

References :

1. 'Śrutāvatāra' of Indranandi · Stzs 147.
2. Ibid Stzn 162-164
3. Ibid Stzn 165-167

कन्नड और जैनागम साहित्य

प्रो० एम-डी० वसन्तराज, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर

जब भी कभी जैनोंके कन्नड भाषाके विकासमें योगदानकी चर्चा होती है, तब प्राय इसे काव्य या कविताके क्षेत्रमे प्रधानत सीमित मान लिया जाता है। लेकिन सत्य यह है कि कन्नड भाषाके लिए जैनोंका योगदान सस्कृत और प्राकृत भाषाके समकक्ष ही माना गया है।

सस्कृत और प्राकृतके समान कन्नड भाषाको भी जैनागम साहित्यके विकासके लिए प्रयुक्त किया गया है। षट्खडागम और उसकी टीकाओके लिए कन्नडके उपयोगसे यह भलीभाँति ध्वनित होता है कि कन्नडमें कोई-न-कोई विशेषता है जिससे इसका उपयोग आगम साहित्य निर्माणके लिए किया गया। अग-श्रुतके सारभूत षट्खडागमके रचयिता पुष्पदन्ताचार्य कन्नडवासी ही थे। यहाँके वनवासी स्थानको हम श्रुत प्रवर्तनका अतिशय क्षेत्र मान सकते हैं। इसपर कुन्दकुन्द, श्यामकुन्द, तुबुलुरु आचार्यने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। तुम्बुलुरु आचार्यने षट्खडागमके पाँच खण्डो पर ८४००० गाथा-प्रमाण चूडामणि नामक कन्नड टीका लिखी है। इसके छठे खण्डपर इन्होने पचिका कोटिकी टीका भी सम्भवत कन्नडमे लिखी। यह समन्तभद्रकी पूर्ववर्ती टीका है जो सम्भवत पाँचवी सदीमें लिखी गयी थी। इसके अतिरिक्त भी अन्य आगम टीकाएँ कन्नडमे लिखी गई, इस विषयमे अनुसधानकी आवश्यकता है।

साहित्यके क्षेत्रमे भी पप, रन्न, पोन्न, जन्न, अभिनव पप—नागचन्द्रने कन्नड भाषामें अनेक काव्य लिखे हैं। इन कवियोने पौराणिक कथाओके माध्यमसे जैननीतिशास्त्र और अध्यात्मविद्याका भी वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन और उनके उत्तराधिकारियोंके युगमें कर्नाटकमें सस्कृत और कन्नड दोनो भाषाओंमें साहित्य लिखा गया। पर कदम्बोके युगमें सस्कृत लेखनकी प्रधानता रही। गुप्त साम्राज्यके प्राधान्यमे सस्कृतकी यह स्थिति दशवी शताब्दीके पूर्व तक कर्नाटकमें बनी रही। इसी कारण इस युगका कोई महत्त्वपूर्ण कन्नड साहित्य हमें उपलब्ध नही होता।

दसवी शताब्दी कन्नड साहित्यके निर्माणका स्वर्णयुग कही जा सकती है। इस समयके रचित अनेक जनागम कन्नड ग्रन्थ भडारोमे प्राप्त होते हैं, जिनमें कुछ मौलिक है और कुछ टीका ग्रन्थ है। इस दिशामे श्रावकाचारोपर लिखित ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। 'सुविचारचरित' इसी कोटिका एक उत्तम ग्रन्थ है। इसी प्रकार कर्म, तत्त्व, लोक आदि अनेक सैद्धान्तिक विषयोपर भी कन्नड ग्रन्थ लिखे गये। कुन्दकुन्दके ग्रन्थोपर कन्नडमे लिखे अनेक टीका ग्रन्थ भी भण्डारोमें पाये जाते हैं। यदि इनका प्रकाशन सम्भव न हो, तो भी वर्णनात्मक ग्रन्थ सूचीका प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक है।

कन्नडमे जैनागम और साहित्य लेखनकी प्रक्रिया आज भी चालू है। रत्नकरण्डश्रावकाचार, द्रव्यसग्रह, अनुयोगव्यवच्छेदिका, समयसार तथा अन्य सस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोके कन्नड अनुवाद किये गये है। इस कोटिकी हिन्दी भाषाकी पुस्तकें भी कन्नडमें अनूदित हुई हैं, जिनमें कैलासचन्द्र शास्त्रीकी जैनधर्म नामक पुस्तक प्रमुख है। उत्तर और दक्षिणके मध्य सास्कृतिक सेतुबन्धकी दृढताके लिए यह आवश्यक है कि कन्नडके ग्रन्थोका भी हिन्दी भाषामें अनुवाद किया जाए।

क्षत्रचूडामणिसूक्तयः

वादीभसिंहसूरिकी संस्कृत गद्यपद्यमें समान गति थी। वे सुधावर्षी अप्रतिम सुधी थे। गद्यसंसारमें उनका गद्यचिन्तामणि प्रख्यात है। यहाँ उनके काव्यग्रन्थ क्षत्रचूडामणिके अमृत निस्पन्दबिन्दु परिवेष्ठित हैं—

विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥

परस्परविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात्॥

पुत्रमित्रकलत्रादौ सत्यामपि च संपदि।
आत्मीयापायशङ्का हि शङ्कुः प्राणभृतां हृदि॥

विपदः परिहाराय शोकः किं कल्पते नृणाम्।
पावके नहि पातः स्यादातपक्लेशशान्तये॥

जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम्।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने।

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किंप्राप्यः किंनिमित्तकः।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत्॥

धार्मिकाणां शरण्यं हि धार्मिका एव नापरे।
अहेर्नकुलवत्तेषां प्रकृत्यान्ये हि विद्विषः॥

गुरुद्रुहो न हि क्वापि विश्वास्यो विश्वघातिनः।
अविश्यता गुरुद्रोहादन्यद्रोहात्कुतो भयम्॥

यौवनं सत्त्वमैश्वर्यमेकैकं च विकारवत्।
समवायो न किं कुर्यादविकारोऽस्तु तैरपि॥

दारिद्र्यादपरं नास्ति जन्तूनामप्यरुन्तुदम्।
अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता॥

गुणाधिक्यं च जीवानामाधेरेव हि कारणम्।
नीचत्वं नाम किं नु स्यादस्ति चेद्गुणरागिता॥

उपकारोऽपि नीचानामपकाराय कल्पते।
पन्नगेन पयः पीतं विषस्यैव हि वर्धनम्॥

धर्मो नाम कृपामूलं सा तु जीवानुकम्पनम्।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम्॥

दैवतेनापि पूज्यन्ते धार्मिकाः किं पुनः परैः।
अतो धर्मरताः सन्तु शर्मणे स्पृहयालवः॥



खण्ड ४ :: Section 4

इतिहास और पुरातत्त्व
History & Archeology

जैन साहित्य सम्वर्द्धनमें राष्ट्रकूटयुगका योगदान

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

देश कालकी राजनीतिक परिस्थिति पर तत्तद सास्कृतिक एव साहित्यिक प्रगति एक बहुत बडी सीमा तक निर्भर करती है। यदि किसी पर्याप्त विस्तृत भूखण्ड पर किसी एक शक्तिशाली राज्यसत्ताका सुव्यवस्थित शासन लगभग एक सौ वर्ष पर्यन्त भी निरन्तर चलता रहता है, तो उसकी जनता सुख, शान्ति और समृद्धिका प्रभूत उपभोग करती है। ऐसी स्थितिमें धार्मिक भावनाओ, सास्कृतिक प्रवृत्तियो और साहित्यिक एव कलाके सृजनको भी विशेष प्रेरणा मिलती है। यदि शासनवर्ग नीतिपरायण, प्रबुद्ध, विद्यारसिक और कलाप्रेमी भी हुआ, तो सोनेमें सुगन्धकी उक्ति चरितार्थ होती है। सामान्यतया जन साधारण भी राजन्यवर्ग तथा नेताओका ही अनुसरण करते है। अब यदि शासकवर्ग किसी एक धर्म, परम्परा या सम्प्रदायका ही विशेष अथवा एकान्त पक्षपाती हुआ, तब उसी परम्परासे सम्बन्धित साहित्यिक एव कलाका विशेष उत्कर्ष होता है। किन्तु वह उदार, सहिष्णु एव सर्व-धर्म-समभावी हुआ, तो राज्यमे प्रचलित प्राय सभी सास्कृतिक परम्पराये अपनी-अपनी प्राणवत्ता एव क्षमताओके अनुरूप फलती फूलती है और विभिन्न परम्पराओके अनुयायियोमें परस्पर आदान-प्रदान, सहयोग और सदभाव भी बना रहता है। विवक्षित राष्ट्रके सर्वतोमुखी उत्कर्षकी यह सुखद भूमिका होती है।

यही कारण है कि गुप्तकाल ब्राह्मण सस्कृत साहित्य एव कलाका स्वर्णयुग कहलाया, बगाल-बिहारके पालयुगने बौद्ध सस्कृतिका उत्कर्ष देखा, गुजरातके सोलकियो (चोलुक्यो) के शासनकालमें श्वेताम्बर परम्पराके जैन साहित्यका सर्वश्रेष्ठ एव सर्वाधिक भाग रचा गया, विद्याप्रेमी परमारोके मालवामें विपुल जैन तथा ब्राह्मणीय साहित्यका सृजन हुआ और दक्षिणापथके राष्ट्रकूटयुगमे दिगम्बर-परम्पराके विविध विषयक जैन साहित्यके सर्वश्रेष्ठ बहुसख्यक ग्रन्थोका प्रणयन हुआ। आगे, मध्यकालमें भी विजयनगर और मुगल साम्राज्योके स्वर्णयुग उनकी कला और साहित्यके भी स्वर्णयुग रहे है। विश्वके प्राय देशके इतिहासमे यही तथ्य दृष्टिगोचर होता है।

यह एक सुखद सयोग रहा कि दक्षिणापथके जिस भूभागको केन्द्र बनाकर आठवी शती ई० में राष्ट्रकूटोंका अभ्युदय हुआ, वही दूसरीसे पाचवी शती पर्यन्त वनवासी (वजयन्ती)के कदम्ब नरेशोकी सत्ता बनी रही और उसके प्रारम्भकालमें ही कदम्बनरेश शिवकोटिके परमगुरु स्वामिसमन्तभद्र (ल० १२०–१८५ ई०)[1] जैसे दिग्गज दार्शनिक साहित्यकार एव महान् प्रभावक दिगम्बराचार्य हुए थे। यो, उसके पूर्व भी, प्रथम शताब्दी ई० में ही भगवान् कुन्दकुन्द, पुष्पदन्त, भूतवलि प्रभृति कई शीर्षस्थानीय आचार्यपुगव अपने व्यक्तित्व एव कृतित्व द्वारा सम्पूर्ण दक्षिण भारतको भली-भाँति अनुप्राणित कर चुके थे।[2] कदम्बोके समसामयिक उदयमे आने वाले गगवाडिके शक्तिशाली जिनधर्मी गगराज्यकी सर्वोत्तम देन गगनरेश दुर्विनीतके गुरु आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि (४६४-५२४ ई०) थे।[3] इसी प्रकार उक्त कदम्बोके उत्तराधिकारी, वातापीके

१ ज्योतिप्रसाद जैन, जैनसोर्सेज आफ दि हिस्ट्री आफ एन्शन्ट इण्डिया, पृ० १४३-१८९।

२. वही, पृ० १०७-१२८।

३ वही, पृ० १५३-१६७।

पश्चिमी चालुक्य (५वीं—८वीं शती ई०) साम्राज्यकी अद्वितीय देन पूज्यपाद भट्टाकलङ्कदेव (ल० ६४०–७२० ई०) थे।[1] इस बीच दक्षिण देशमें अन्य भी कई छोटे-बड़े जैन साहित्यकार हुए।

७२०–२५ ई० के लगभग राष्ट्रकूटोंकी लट्टलूर शाखाके इन्द्र द्वितीयके पुत्र दन्तिदुर्ग खड्गावलोक वैरमेघने जो एक चालुक्य राजकुमारीसे उत्पन्न था, एलउर (एलोरा) प्रदेशमें अपने पैर जमाये, ७३३ में स्वय को स्वतन्त्र राजा घोषित किया, ७४२ ई० में एलउरको विधिवत् राजधानी बना लिया और ७५२ ई० में अन्तिम चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मनको पूर्णतया पराजित करके वह महाराजाधिराज बन गया।[2] उसके उत्तराधिकारी कृष्ण प्रथम शुभतुग (७५७–७३ ई०) ने राज्यकी सीमाओं और शक्तिका और अधिक विस्तार किया। उसने गगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस 'शत्रुभयकर' के गुरु विमलचन्द्राचार्यके प्रशिष्य महान् तार्किक परवादिमल्लको अपनी राजसभामें सम्मानित किया था। एलोराके विश्वप्रसिद्ध कलापूर्ण शैव एव जैन गुहामन्दिरोंका उत्खनन भी इसी नरेशके समयमें प्रारम्भ हुआ। उसका ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द द्वि० (७७३–७९ ई०) अयोग्य था किन्तु कनिष्ठ पुत्र ध्रुव धारावर्ष निरुपम वल्लभराय धवलश्य (७७९–९३ ई०) बड़ा पराक्रमी, विजेता एव विद्वानोका प्रश्रयदाता था। वस्तुत राष्ट्रकूटोने अपने पूर्ववर्ती, कदम्बो और चालुक्यो की ही सर्वधर्मसमभावी उदार नीतिका अनुसरण किया, फलस्वरूप उनके प्रश्रयमे अनेक जैनाचार्योंने भारती के भण्डारको अमूल्य ग्रन्थरत्नोंसे अलकृत किया।

पञ्चस्तूपान्वयी चन्द्रसेनाचार्यके प्रशिष्य और आर्यनन्दिगुरुके शिष्य, लक्षाधिक श्लोक परिमाण शास्त्रके रचयिता, सर्वमहान् आगमिक टीकाकार स्वामी वीरसेन (७५०–७९० ई०) ने अपनी जन्मभूमि चित्रकूटपुर (चित्तौड) से विद्यागुरु एलाचार्यके सान्निध्यमें सिद्धान्तोका गहन अध्ययन करनेके उपरान्त, राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्गके शासन कालमें ही उसके राज्यके केन्द्रसे नातिदूर, नासिक देशके वाटग्रामपुरमे अपना केन्द्र स्थापित कर लिया था, जहाँ वह निर्द्वन्द्व होकर साहित्य-साधनामे जुट गये। इस ज्ञानपीठमे उन्होंने एक विशाल ग्रन्थागार बना लिया, अनेक विद्वान शिष्योका समुदाय प्राप्त कर लिया और उसे एक विश्वविद्यालयका रूप दे दिया जो लगभग डेढ सौ वर्ष तक फलता-फूलता रहा। स्वामी वीरसेनके शिष्योंमें प्रमुख थे—दशरथगुरु, विनयसेन, पद्मसेन, कुमारसेन, देवसेन और जिनसेन स्वामी और समकालीन दक्षिणात्य जैन साहित्यकारो एव प्रभावक आचार्योंमे विमलचन्द्र, प्रभाचन्द्र, बृहद्नन्दवीर्य, परवादिमल्ल, अनन्तकीर्ति, बुद्धकुमारसेन, स्वामी विद्यानन्द, जिनसेन सूरि (पुन्नाट्सघी), अपभ्रंश महाकवि स्वयभू आदि प्रसिद्ध हैं।

ध्रुव धारावर्षके प्रतापी पुत्र एव उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय जगत्तुग प्रभूतवर्ष (७९३–८१४ ई०) के समयमें साम्राज्यके विस्तार वैभव एव शक्तिमें और अधिक वृद्धि हुई तथा राजधानीके रूपमे मनोरम मान्यखेट महानगरीका निर्माण हुआ। उसके समयमे स्वामि वीरसेनके पट्टशिष्य स्वामि जिनसेन व उनके सधर्माओंने तथा श्रीपाल मुनि, एलकाचार्य, वर्द्धमानगुरु, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति, कवि त्रिभुवन स्वयम्भू (स्वयम्भूके पुत्र) आदि सन्तोंने साहित्य-साधना और धर्मप्रभावना की।

गोविन्द तृतीयका पुत्र एवं उत्तराधिकारी नृपतुग-शर्ववर्म-श्रीवल्लभ-महाराजशण्ड-अतिशय-धवल-वीरनारायण-वल्लभराज आदि विरुदधारी सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम (८१५–८७६ ई०) तत्कालीन भारतवर्षके

१ वही, पृ० १७१-१८०।

२. राष्ट्रकूट इतिहास के लिए देखें—एस० एस० आल्तेकर कृत राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स तथा ज्योतिप्रसाद जैन कृत भारतीय इतिहास, एकदृष्टि, द्वितीय स०, पृ० २९२-३१०।

सर्वाधिक विस्तृत, शक्तिशाली एव समृद्ध साम्राज्यका एकच्छत्र स्वामी था। देशमें सुख, शान्ति और सुव्यवस्था थी। उसके पूर्वज जैनधर्मके अनुयायी नही थे, किन्तु उसके प्रति पूर्णत सहिष्णु और उसके अच्छे प्रश्रयदाता थे। अमोघवर्ष सुनिश्चित रूपसे जैनधर्मका अनुयायी था, स्वामी जिनसेन उसके विद्यागुरु, धर्मगुरु एवं राजगुरु थे, राज्य परिवारके कई अन्य स्त्री-पुरुष सदस्य तथा वीर बकेयरस प्रभृति अनेक सामन्त सरदार जिनधर्म भक्त थे। साम्राज्यमे दर्जनो जैन सास्कृतिक संस्थान एव ज्ञानकेन्द्र भली प्रकार फल-फूल रहे थे। इसी नरेशके शासन-कालमें स्वामी विद्यानन्दने अपने अन्तिम ग्रन्थ रचे, कवि त्रिभुवन स्वयम्भूने अपने पिता महाकवि स्वयम्भूके महाकाव्योका सवर्द्धन-सम्पादन किया, कल्याणकारकके रचयिता उग्रादित्याचार्यने सम्राट्की प्रेरणा पर अपने ग्रन्थके परिशिष्टके रूपमें मास-निषेध प्रकरण या हिताहिताध्याय रचा, महावीराचार्यने गणितसार-सग्रह आदि रचे, शाकटायन पाल्यकीर्तिने शब्दानुशासन एव उसकी स्वोपज्ञ अमोघवृत्तिका प्रणयन किया, महाकवि असगने महावीरचरित्र आदि कई पौराणिक चरित्र रचे और स्वामी जिनसेनने गुरुकी अधूरी टीका जयधवलको पूर्ण किया, पार्श्वाभ्युदय जैसा अप्रतिम काव्य रचा और महापुराण का प्रारम्भ किया, जिसे उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने आदिपुराणके अवशिष्ट भाग तथा उत्तरपुराणकी रचना करके पूर्ण किया। गुणभद्रकी अन्य कई रचनाएँ हैं वह युवराज कृष्ण द्वितीयके विद्यागुरु भी थे। स्वय सम्राट् श्रेष्ठ विद्वान, विविध भाषाविज्ञ, कवि और लेखक था। कविराजमार्ग और प्रश्नोत्तर रत्न-मलिका उसकी कृतियाँ हैं। अन्य भी साहित्य प्रणयन उस युगमे हुआ तथा त्रैकाल्ययोगी, देवेन्द्र मुनीश्वर, नागविन्द, देवसेन, कुमारसेन आदि अनेक प्रभावक आचार्य हुए। सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकरके शब्दोमे "राष्ट्रकूट नरेशोमे अमोघवर्ष जैनधर्मका सर्वमहान सरक्षक था। यह बात सत्य प्रतीत होती है कि उसने स्वय जैनधर्म धारण कर लिया था[1]।"

अमोघवर्षके पुत्र एव उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय शुभतुग अकालवर्ष (८७८–९१४ ई०) के गुण-भद्राचार्य तो गुरु ही थे, उनके शिष्य लोकसेन, हुमच्चके मौनी सिद्धान्त भट्टारक, पेरियकुडिके अशिष्ट नेमिभट्टारक, कोप्पणतीर्थके चटगुदुभट्टारक व उनके शिष्य सर्वनन्दि, चन्दिकावाटके वीरसेन एव कनकसेन मुनि आदि अनेक दिगम्बराचार्य साम्राज्यमें विचरते थे। कन्नड एव सस्कृतमें साहित्यसृजन भी हुआ। कृष्ण द्वि०के पौत्र एव उत्तराधिकारी इन्द्र तृ० (९१४–९२२ ई०) ने भी लोक भद्र आदि गुरुओका सम्मान किया, जिनालय निर्माण कराए, बसदियो आदिको पुष्कल दान दिये। उसके उपरान्त, अमोघवर्ष द्वि० (९२२--२५ ई०), गोविन्द चतुर्थ (९२५–३६ ई०) और अमोघवर्ष तृतीय वद्दिग (९३६–९३९ ई०) क्रमश राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठे, जो अपेक्षाकृत निर्बल एव साधारण नरेश थे, किन्तु जैनधर्मके लिए राज्याश्रय पूर्ववत बना रहा।

तदनन्तर, कृष्णराज तृ० अकालवर्ष (९३९–९६७ ई०) राष्ट्रकूट वशका अन्तिम महान सम्राट था, जो बडा प्रतापी एव उदार भी था और जिसके समयमें भी जिनधर्मने प्रभूत उत्कर्ष प्राप्त किया तथा विपुल जैन साहित्य रचा गया। नन्न और भरत जैसे जैन महामन्त्री, भारसिंह और राजमल्ल जैसे साम्राज्यके स्तम्भ जिनधर्मी गगनरेश, और केशरी चालुक्य जैसे सामन्त, वीर मार्तण्ड चामुण्डराय जैसे प्रचण्ड जैन सेनानी, महाकवि पुष्पदन्त, पम्प, सोमदेवसूरि, इन्द्रनन्दि, वीरनन्दि, कनकनन्दि, अजित सेनाचार्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती प्रभृति अनेक कवि, साहित्यकार एवं प्रभावक आचार्य उस युगमें दक्षिण भारतमें हुए।

---

१. दि हिस्ट्री आफ डेकन-अमोघवर्ष व उसके सामन्त वीर बकेय आदि की विस्तृत जानकारीके लिए, देखिए ज्योतिप्रसाद जैन कृत "प्रमुख जैन ऐतिहासिक पुरुष और महिलायें", पृ० १०१-१०६।

कृष्ण तृ० के पश्चात् राष्ट्रकूट शक्तिका ह्रास द्रुतवेगसे प्रारम्भ हो गया, जिसका निवारण करनेमें उसके उत्तराधिकारी खोट्टिग नित्यवर्ष (९६७-७२ ई०), कर्क द्वि० (९७२-७३ ई०) और इन्द्र चतुर्थ (९७३-८२ ई०) सर्वथा असमर्थ रहे। सन् ९७२ में सीयक परमारने राजधानी मान्यखेटको जी भरकर लूटा और उसके दो वर्षके भीतर ही तैलपदेव चालुक्यने राष्ट्रकूटोंकी सत्ता हस्तगत करके कल्याणीके पश्चिमी चालुक्य साम्राज्यकी नींव रख दी। वीर इन्द्र चतुर्थ ७-८ वर्ष अपने राज्यके लिए भीषण संघर्ष, एवं युद्ध करता रहा। अन्तत वह संसारसे विरक्त हो गया और ९८२ ई० में उसने सल्लेखनापूर्वक देहत्याग कर दिया। इसके एक वर्ष पूर्व ही ९८१ ई० में श्रवणबेलगोलकी विन्ध्यगिरि पर विश्वविश्रुत गोम्मटेश बाहुबलिकी महाकाय प्रतिमा प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

इस प्रकार लगभग अढ़ाई शताब्दी व्यापी राष्ट्रकूट युगमें जैनधर्म दक्षिणापथका सर्वप्रधान धर्म था, साम्राज्यकी लगभग दो तिहाई जनता, कई सम्राट अनेक राजपुरुष, रानियाँ, राजकुमार, राजकुमारियाँ, अधीनस्थ राजे, सामन्त सरदार, सेठ-महाजन, शिल्पी-कर्मकार, सभी वर्गों एवं वर्णोंमें जिनधर्मकी प्रवृत्ति थी। लोकशिक्षा भी जैन गुरुओं, जैन बसदियों एवं विद्यापीठोंके माध्यमसे संचालित थी। विभिन्न धर्मोंमें पारस्परिक सद्भावना थी। अपने इस उत्कर्षकालमें जैन संस्कृतिने भारतीय संस्कृतिका सर्वतोमुखी विकास किया, जैन कलाकारोंने मनोरम कलाकृतियोंसे देशको अलंकृत किया और जैन कवियों एवं साहित्यकारोंने भारतीके भण्डारको महर्घ्य ग्रन्थरत्नोंसे भरा।[1]

राष्ट्रकूट नरेशोंकी छत्रछायामें उक्त राष्ट्रकूट युगमें लगभग एक सौ जैन ग्रन्थकारों द्वारा, जो प्राय सब ही दिगम्बर आम्नायसे सम्बन्धित रहे, लगभग दो सौ ग्रन्थरत्नोंके रचे जानेका पता चलता है। इन रचनाओंमें लगभग ११० संस्कृत, ३५ प्राकृत, २० कन्नड, १५ अपभ्रंश और ६ तमिल भाषाकी हैं। धवल-जयधवल जैसी अतिविशालकाय आगमिक टीकाओंके अतिरिक्त, सैद्धान्तिक, तात्त्विक, आध्यात्मिक, दार्शनिक नैयायिक, तार्किक, पौराणिक, कथा साहित्य, आचारशास्त्र, भक्तिस्तोत्रादि, मन्त्रशास्त्र इत्यादि जैन धार्मिक साहित्यके द्रव्यानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-प्रथमानुयोग, चारों ही अनुयोगोंके प्राय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा बहुधा आधारभूत साहित्यका सर्जन हुआ। इसके अतिरिक्त, व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, चिकित्साशास्त्र, प्राणिविज्ञान, राजनीति आदि ज्ञान-विज्ञान विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका भी प्रणयन हुआ। इस अद्भुत साहित्यिक उपलब्धिका श्रेय उक्त देशकालकी अनुकूल परिस्थितियोंको ही है।

इसी युगमें अन्यत्र, राष्ट्रकूट साम्राज्यके बाहर, राजस्थान आदिमें भी आचार्य सिद्धसेन (भाष्यकार), हरिभद्रसूरि, सिद्धसेनगणी, उद्योतनसूरि, जयसिंहसूरि, शीलाचार्य, शिलांकदेव, सिद्धर्षि विजयसिंहसूरि, महेश्वरसूरि, शोभक धनपाल जैसे लगभग एक दर्जन श्वेताम्बराचार्योंने भी विपुल एवं महत्त्वपूर्ण साहित्यकी संस्कृत एवं प्राकृतमें रचना की। किन्तु उनके कृतित्वमें राष्ट्रकूटोंका कोई योगदान प्रतीत नहीं होता।

विभिन्न स्रोतोंसे ज्ञात राष्ट्रकूट युगके पूर्वोक्त ग्रन्थकारों तथा उनकी ज्ञात रचनाओंकी एक सूची नीचे सारणीमें दी जा रही है। सूचीगत कई रचनायें ऐसी भी हैं जो अधुना अनुपलब्ध हैं, कुछ-एकके विषयमें अनिश्चय भी हो सकता है। ग्रन्थकारके नामके सामने कोष्टकमें उसका निश्चित या अनुमानित समय ईस्वी सन्में दिया है, रचनाके सामने भाषा (स-संस्कृत, प्रा०-प्राकृत, अप—अपभ्रंश, क—कन्नड,

१ भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृ० ३०९-३१०।

त—तमिल) का सूचन है, जहाँ सम्भव हुआ, ग्रन्थ परिमाण (श्लोक संख्या) का संकेत कर दिया गया है। यदि किसी ग्रन्थकी रचनातिथि सुनिश्चित ज्ञात है, तो वह भी विक्रम-सम्वत् (वि० स०) या शकसम्वत् (शक) में दी गई है ल अक्षर लगभगका सूचक है।

सारणी—राष्ट्रकूटयुगके जैन ग्रन्थकार और उनके ग्रन्थ

बृहद् अनन्तवीर्य (ल०७२५ ई०)—	अकलंकके सर्वप्रथम टीकाकार सम्भवतया सिद्धिविनिश्चयकी टीका (स०)
भवनन्दि ,,	नन्नूल (त० व्याकरण)
वादि सिंह (ल० ७२५-७५० ई०)	आप्तमीमांसालंकार (स०) प्रमाणनौका (स०)
अज्ञात ,,	तर्कदीपिका (स०) वर्द्धमानपुराण (स०)
वीरसेन स्वामी (ल० ७२५-७९०)	षट्खण्डागम सिद्धान्तकी धवला टीका (प्रा० स० ७२'०००) (वि० म० ८३८-७८१ ई०), कसायपाहुडकी जयधवल टीका (प्रा० स०, २००००, अपूर्ण), महाधवल (महाबन्ध) (प्रा०, ४००००) (स०) सिद्धभूपद्धति (स० गणित विषयक), तिलोयपण्णत्तिका संस्कार (सम्पादन)
प्रभाचन्द्रकवि (ल० ७५० ई०)	चन्द्रोदय काव्य (सं०)
सगुणचन्द्र ,,	अकलंकके ग्रन्थकी टीका (?)
अनन्तकीर्ति प्र० ,,	प्रामाण्य भंग (सं०)
मारुतदेव ,,	अपभ्रंश काव्य (?)
इन्द्रनन्दि योगी ,,	छेदपिण्ड—प्रायश्चित्तशास्त्र (प्रा०, ३३३)
परवादिमल्ल (ल० ७७०-८००)	धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुकी धर्मोत्तरकृत टीकाका टिप्पण (सं०)
कुमारसेन ,,	वैद्यक शास्त्र (स०), कर्मप्राभृत (स०) विद्यानन्दिकी अष्टसहस्रीमें योगदान।
विद्यानन्द स्वामि (ल० ७७५-८२५ ई०)	तत्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, युक्त्यानुशासनालंकार, विद्यानन्द महोदय, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तर्कपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, नयविवरणम्, प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र (सब स०), अन्तिमके अतिरिक्त सब दार्शनिक, प्रथम तीन टीकायें हैं, शेष मौलिक हैं।
दशरथगुरु (ल० ७७५-८३५ ई०)	कायचिकित्सा (स०)
उग्रादित्याचार्य ,,	कल्याणकारक (स०, ५०००, वैद्यक) हिताहिताध्याय (सं०, मांसनिराकरण प्रकरण)।
शिवमार सगीत गगनरेश (७७७-८०० ई०)	गजशास्त्र या हस्त्यायुर्वेद, गजाष्टक, शिवमारत—तीनों क०
स्वयंभूमहाकवि (ल० ७८०-७९६)	पउमचरिउ या रामायण (१२०००), रिट्ठणेमिचरिउ या हरिवंशपुराण, पंचमी चरियउ, (नागकुमारचरित), स्वयंभू-छन्द (सब—अप०)

जिनसेनसूरि पुन्नाट—(७८३ ई०)	हरिवंशपुराण (सं०, १०००० शक ७०५)
जिनसेन स्वामि (ल० ७९०-८५०)	जयधवलटीका (प्रा० सं० शेष, ४०००० शक ७५९), लोकानुयोग (स०), पार्श्वाभ्युदयकाव्य (स०), आदिपुराण (स०, १०३८०) अपूर्ण।
श्रीधराचार्य (७९९ ई०)	ज्योतिर्ज्ञानविधि (स०), गणितसार (स०)
श्रीपाल (ल० ८०० ई०)	जयधवलका सपालन-सम्पादन
हेलाचार्य ,,	ज्वालिनीकल्प (प्रा०)
कोट्याचार्य ,,	वड्डाराधने (बृहत् आराधनाकथा (क०)
पेराशिरियर ,,	तोलकपियम व्याकरणकी टीका (त०)
मुण्रुलेय्यार अरैयनार (ल० ८०० ई०)	पलमोलि (त०) सूक्तिसग्रह
इन्द्रनन्दि ,,	सहिता (प्रा०), पूजाविधि (प्रा०)
आर्यदेव ,,	राद्धान्त (स०)
कन्नमय्य ,,	मालतिमाधवकाव्य (क०)
पद्मसेन ,,	पार्श्वचरित्र (स०)
त्रिभुवन स्वयम् (ल० ८००-८२०)	स्वयभूके काव्योका सम्वर्द्धन-सम्पादन
अनन्तवीर्य (रविभद्रशिष्य) (ल० ८००-८४०)	सिद्धिविनिश्चयटीका (स०), प्रमाणसग्रह टीका (स०)
अमोघवर्ष नृपतुग (८१५-७६ ई०)	प्रश्नोत्तररत्नमालिका (स०), कविराजमार्ग (क०)
गुणनन्दि (ल० ८२५-५० ई०)	जैनेन्द्रका शब्दार्णव सूत्रपाठ (स०
चन्द्रकीर्ति ,,	श्रुतबिन्दु (स०)
अनन्तकीर्ति (ल० ८५० ई०)	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, (धर्मसिद्धि), जीवसिद्धि, प्रमाणनिर्णय, (सब स०)
देवसेन (वीरसेन शिष्य) (ल० ८५० ई०)	धर्मसग्रह (प्रा०)
विजया (बकेय पत्नी ,,	काव्य (स० (?)
महावीराचार्य (ल० ८५०-७५ ई०)	गणितसारसग्रह, क्षेत्रगणित, ज्योतिषपटल, छत्तीसुपूर्वा प्रति-उत्तर प्रतिसह, (सब स०)।
शाकटायन पाल्यकीर्ति ,,	शब्दानुशासन, स्वपज्ञ, अमोघवृत्तिसहित, स्त्रीमुक्तिप्रकरण—(सब स०)
गुणभद्राचार्य (ल० ८५०-८५ ई०)	जिनसेनीय आदिपुराणका शेष भाग, उत्तर पुराण, जिनदत्त-चरित, आत्मानुशासन, (सब स०)
वीरपण्डित (वीराचार्य) ,,	प्रतिष्ठापाठ (स०), शकुनदीपक (स०)
असगकवि (८५३ ई०)	वर्द्धमान या सन्मतिचरित (स०, वि० स० ९१०), शान्ति-पुराण (स०), चन्द्रप्रभपुराण (स०) आदि, कई कन्नडग्रन्थ भी बताये जाते है।
कौमारसेन (८७१ ई०)	अर्हत्प्रतिष्ठासार (स०)
सिंहसूरि मुनि (ल० ८७५ ई०)	बट्टाराधनकथाकोष (प्रा०, ४०००)
गुणवर्म (८८६-९१३ ई०)	हरिवश या नेमिनाथपुराण (क०), शूद्रकपद्य (क०)
लोकसेन (८९८ ई०)	गुणभद्रीय महापुराणका सम्पादन-विमोचन (पूरक ८२०)

भरत सेन (ल० ९०० ई०)	काव्य ग्रन्थ स०) (?)
पद्मनन्दिमुनि ,,	धम्मरसायणम् (प्रा०, १९३) चरणसार (प्रा०)
दिनकरसेन ,,	कन्दर्पचरित्र (स०)
गोविन्दकवि ,,	कथारत्नसमुद्र (क० ?)
सेतुकवि ,,	पउमचरिउ (अप०)
कुन्दकुन्दमणि ,,	सुलोयणाचरिउ (प्रा०), वंधगाहा (प्रा०, ४०००)
वप्पनन्दि ,,	वृषभनाथपुराण (स०)
जयराम ,,	धर्मपरीक्षा (प्रा०)
अमितगति वीतराग (ल० ९०० ई०)	योगसार प्राभृत (स०)
अज्ञात ,,	अकलक चरित (स०)
हरिचन्द्रकवि ,,	धर्मशर्माभ्युदय (स०), जीवन्धरचम्पू (स०)
अमृतचन्द्राचार्य (ल० ९०५-९४० ई०)	समयसारकी आत्मख्याति टीका तथा कलश, प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका, पचास्तिकाय टीका, तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय, (सब स०) ढाढसीगाथा (प्रा०), श्रावकाचार (प्रा०)
अभयनन्दि (९०५-९४० ई०)	जैनेन्द्रकी महावृत्ति-मूल सूत्रपाठ पर (स०, १२०००)
हरिषेण (९३२ ई०)	बृहत्कथाकोश (स०, १५७ कथाएँ) वि० स० ९८९
इन्द्रनन्दि योगीन्द्र (९३९ ई०)	ज्वालामालिनीकल्प (स०, शक ८६१), वज्रपजराधना (स०), श्रुतावतारकथा (स०)
पप (आदिपप) (९४१ ई०)	आदिपुराण चम्पू (क०, शक ८६३) विक्रमार्जुनविजय या पपभारत (क०)
श्रीचन्द्रमुनि (९४१-८६६ ई०)	विक्रमार्जुनविजय या पपभारत (क०)
श्रीचन्द्रमुनि (९४१-८६ ई०	प्राकृत कथाकौमुदी (प्रा०)
सोमदेवसूरि (९४५-९७५ ई०)	यशस्तिलकचम्पू (स०, शक ८८२), उपासकाध्ययन (स०), पार्श्वनाथचरित्र, अध्यात्मतरगिणी या योगप्रदीप, योगमार्ग, ध्यानपद्धति, (४०) स्याद्वादोपनिषद्, युक्तिचिन्तामणि, न्याय-विनिश्चयटीका, षण्णवतिप्रकरण, नीतिवाक्यामृत, त्रिवर्ग-महेन्द्र-मातलि सजल्प, सुभाषितसग्रह, (सब स०)।
देवेन्द्र (ल० ९५० ई०)	योगीन्द्रगाथा (प्रा०, २०५)
माइल्ल धवल ,,	द्रव्यस्वभावप्रकाश नयचक्र (प्रा०, ४२३)
शुभचक्र ,,	षड्दर्शन प्रमाण-प्रमेयानुप्रवेश (स०)
जयनन्दि ,,	मूलाराधना टिप्पण (स०)
वसुनन्दियोगी (ल० ९५० ई०)	तत्त्वविचार (प्रा०, ९५)
वीरनन्दि आचार्य ,,	चन्द्रप्रभाचरित्र काव्य (स०)
कनकनन्दि ,,	सत्वस्थान (विस्तर सत्वत्रिभगी या विशेष सत्ता त्रिभगी (प्रा०, ४१), कर्मप्रकृति (प्रा०, ३७), पचपरुवणा (प्रा०, ३७)

वृषभनन्दि (ल० ९५०-७५ ई०)	कर्मप्रकृति (प्रा०), कर्मस्तवन (स०), कर्मस्वरूप वर्णन (क०)
गुणभद्र ,,	गुणभद्रसंहिता (स०)
सिद्धसेन ,,	नीतिसारपुराण (स०, १५६३०)
सिंहनन्दि ,,	अनुप्रेक्षा कथा (अप०) आत्मसम्बोधन (प्रा०)
वीरभद्र (६५२ ई०)	आराधना पताका (प्र० ९९०, वि० स० १००८)
नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (९५५-८५ ई०)	गोम्मटसार जीवकाण्ड (७३३), कर्मकाण्ड (९७२), लब्धिसार, त्रिलोकसार, कर्मप्रकृति, आस्रवत्रिभगी, उदयत्रिभगी, भाव-त्रिभगी, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, पचससार (सब—प्रा०)
चामुण्डराय वीरमार्तण्ड ,,	गोम्मटसारकी वीरमार्तण्डी टीका (क०), त्रिषष्टिलक्षण महापुराण या चामुण्डरायपुराण (क०), चारित्रसार (स०), भावनासारसग्रह (स०)
पुष्पदन्त महाकवि (९५९-७४ ई०)	तिसट्ठिमहापुरिसगुणालकार-महापुराण (अप०, २००००), णायकुमारचरिउ (अप०), जसहरचरिउ (अप०) कथामकरद (अप०) कोशग्रन्थ (?), शिवमहिम्नस्तोत्र (स०)
पोन्न (९६०-९० ई०)	शान्तिनाथपुराण (क०) जिनाक्षरमाले (क०)
रन्न (९६०-९५ ई०)	अजितनाथपुराण या पुराणतिलक (क०), साहसभीमविजय या गदायुद्ध (क०)
माणिक्यनन्दि महापडित (९६५-१००० ई०)	परीक्षामुखसूत्रम् (स०)
जयदेव (९६८ ई०)	नागकुमारकथा छन्दशास्त्र चन्द्रलोकालकार (१६२४), सब स० ।
धनपाल धक्कड (ल० ९७० ई०)	भविसयत्तकहा (अप०)
वीरनन्दि (ल० ९७५ ई०)	सुकुमालचरित्र (प्रा०)
मतिसागर ,,	विद्यानुवाद मन्त्रशास्त्र (स०)
भूपालकवि गोल्लाचार्य (ल० ९७५ ई०)	भूपालचतुर्विंशतिस्तोत्र (स०)
सिद्धसेन मुनि ,,	चौबीस (तीर्थंकर) ठाणा (प्रा०)
भावसेन त्रैविद्य ,,	शाकटायन शब्दानुशासनकी टीका कातन्त्ररूपमाला या कातन्त्र, लघुवृत्ति (३०००) विश्वतत्त्व प्रकाश प्रमाप्रमेय—सब स०
माधवचन्द्र त्रैविद्य (ल० ९७५-१००० ई०)	त्रिलोकसारकी टीका (स०), क्षपणासार (स०)
नागवर्म ,,	कर्णाटक कादम्बरी नागवर्मनिघण्टु या अभिधानरत्नमाला, भाषाभूषण छन्दाम्बुधि (शक ९१२), (सब क०)
कणिमेदय्यार ,,	एलाति (त० नीतिकाव्य) तिणैमालेनूरैम्बुतु (त०, शृगारकाव्य)
अमृतसागर ,,	याप्परगलकारिकै-वृत्तिसहित छन्दशास्त्र (त०)

बिहारमें जैनधर्म

डा० उपेन्द्र ठाकुर, बोधगया

यह ठीक ही कहा गया है कि जैनधर्म कभी किसी सकुचित दृष्टिका शिकार नही बना और उसका दृष्टिकोणशब्दके सही अर्थमें उदार और उदात्त रहा है । साथ ही, जैनियोंने देशके किसी एक भाग तक ही अपने कार्यकलापोको सीमित नही रखा, प्राय देशके प्रत्येक कोनेमें वे फैले हुए हैं । उनके अतिम तीर्थंकर यदि उत्तर बिहार (विदेह अथवा मिथिला) में उत्पन्न हुए थे, तो उन्हें मगध (दक्षिण बिहार) में निर्वाण प्राप्ति हुआ, जो मुख्यतया उनका कार्य-क्षेत्र भी रहा था । उनके पहले पार्श्वनाथ यद्यपि बाराणसीमें उत्पन्न हुए थे फिर भी तपस्या करने वह मगधके सम्मेद शिखर (पार्श्वनाथ पर्वत) पर ही आये । उनसे भी पूर्वके तीर्थंकर नेमिनाथने भारतके पश्चिमी क्षेत्र काठियावाडको अपनी तपस्या, उपदेश एव निर्वाणका क्षेत्र बनाया था । प्रथम तीर्थंकर आदिनाथने अयोध्यामे जन्म लेकर भी कैलाश पर्वत पर तपस्या की । तात्पर्य यह है कि उत्तरमें हिमालयसे लेकर पूर्वमें मगध और पश्चिममें काठियावाड तक इन जैन मुनियो एव आचार्योंका कार्यक्षेत्र था जो इनकी निरन्तर साधना एव निर्वाणसे दिग्दिगन्तमें मुखर हो चुका था

[१]

बौद्धोकी भाँति जैनधर्मके इतिहासमें भी बिहारकी एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है । अन्य क्षेत्रोकी अपेक्षा बौद्ध धर्म तथा जैनधर्मके विकास एव प्रचारमे बिहारका अधिक योगदान रहा है । भगवान् महावीर-का जन्म वैशालीमें हुआ था जहाँ उन्होने बाल्यावस्था तथा जीवनका प्रारम्भिक समय व्यतीत किया था । इस तरह वैशालीकी महत्ता जैनियोके लिए वही है जो सारनाथ तथा अन्य बौद्ध स्थानोकी चीन, बर्मा तथा अन्य बौद्ध देशोके लिए हैं । किन्तु, सबसे दु खद बात तो यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थोमें वैशाली एव उससे सभी कार्य-कलापोकी घोर उपेक्षा की गयी है । ७ वी सदीमें जब ह्वेनसागने इस भूभागकी यात्रा की तो एक ओर हिंदू देवी-देवताओके मन्दिर मिले, वही दूसरी ओर अधिकाश बौद्ध-विहारके मात्र भग्नावशेष । कुछ जैन मदिर अवश्य थे जहाँ काफी सख्यामें निर्ग्रन्थ मुनि वास कर रहे थे । किन्तु, पटना जिला-स्थित पावापुरी (जहाँ महावीरको निर्वाण प्राप्त हुआ था) तथा चम्पापुरी (भागलपुर) की भाँति जैनियोंकी दृष्टिमें भी इस स्थानका वह महत्व अभी हाल तक नही था और न ही इस भूभागमें किसीने जैन अवशेषोकी खोजका प्रयास किया । कुछ वर्ष पूर्व इस ओर विद्वानोका ध्यान आकर्षित हुआ है जिसके फलस्वरूप एक-बार नये सिरेसे इसके सम्बन्धमें गवेषणा-कार्य प्रारम्भ हुए हैं ।[1]

भगवान् महावीरके पिता वैशालीके नागरिक थे और माता विदेह अथवा मिथिलाकी कन्या । महावीरके ओजस्वी व्यक्तित्व एव उपदेशोके फलस्वरूप वैशाली उस समय जैनमतका सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गयी थी जहाँ देशके कोने-कोनेसे श्रमणमुनि आकर साधना करते थे । बारहवें तीर्थंकर वसुपूज्यको चम्पापुर (भागलपुर) में निर्वाण प्राप्त हुआ था और इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथका जन्म मिथिलामें ही हुआ था । स्वय महावीरने भी वैशालीमें बारह तथा मिथिलामें ६ वर्षाऋतुएँ बितायी थी ।

१ विस्तृत विवरणके लिये देखिये, लेखककी पुस्तक "स्टडीज इन जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म इन मिथिला", अध्याय ३ ।

जैन ग्रन्थों एवं तत्कालीन अन्य साक्ष्योंके आधार पर यह स्पष्ट है कि अग (भागलपुर), मगध, वज्जि, लिच्छवि क्षेत्र (जिसमें विदेह भी सम्मिलित था) तथा काशी-कोशल साम्राज्य महावीर के कार्य-क्षेत्र थे जहाँ निर्ग्रन्थ अनुयायी भगवान्‌के उपदेशोंके प्रचार-प्रसारमें लगे थे । बौद्ध-ग्रन्थोसे ज्ञात होता है कि राजगीर, नालन्दा, वैशाली, पावापुरी तथा सावत्थी (श्रावस्ती) में ही महावीर तथा उनके अनुयायियोंकी धार्मिक गतिविधि अधिकांशत सीमित थी और लिच्छवियो तथा विदेह-निवासियोका एक बहुत बडा समूह उनका कट्टर अनुयायी बन चुका था। उनके कुछ समर्थकोका तो तत्कालीन समाजमें बहुत महत्वपूर्ण स्थान था जैसे लिच्छवि सेनाध्यक्ष सिह अथवा सिंह[1], सच्चक[2] आदिका। तात्पर्य यह कि अपने युगमें वैशाली तथा विदेहमें समाजके सभी वर्गों—छोटे अथवा बडे—पर उनका अद्भुत प्रभाव था जिसके फलस्वरूप जैन 'आर्य देशों'में मिथिला अथवा विदेहकी भी गणना होती थी। इस प्रकार भारतीय सस्कृतिके उष कालमें ही वैशाली और विदेहको धर्म तथा दर्शनके क्षेत्रमें पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो चुकी थी और वहाँके धर्मोपदेशक भगवान् ममावीर द्वारा निर्देशित धर्म-मार्ग पर चलनेके फलस्वरूप बौद्धधर्मके अभ्युदयके पूर्व ही समस्त देशमें अपना एक विशेष स्थान बना चुके थे।

[२]

अधिकाश विद्वानोका ऐसा मत है कि बौद्धधर्मकी भाँति जैन मत भी ब्राह्मण धर्मके विरुद्ध प्रतिक्रिया एव असतोषका परिणाम था, किन्तु तत्कालीन साक्ष्योका अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यत ब्राह्मण दार्शनिक जैनियो अथवा जैनमतसे उतनी ईर्ष्या नही रखत थे जितनी बौद्धोसे। यह सही है कि जैनधर्म तथा दर्शनका जो वर्तमान स्वरूप है उमके स्रष्टा एव प्रवर्तक भगवान् महावीर थे, किन्तु यह मत उनके अभ्युदयके पूर्व भी मौजूद था और उनसे पहले २३ तीर्थंकर हो चुके थे। ब्राह्मण दार्शनिक इन तीर्थंकरोंके उपदेशोसे परिचित थे और बहुधा आपसमें उन लोगोमें विचारोका आदान-प्रदान भी होता रहता था। इसलिये, शब्दके वास्तविक अर्थमें यह नही कहा जा मकता कि जैनमत ब्राह्मण धर्मके विरुद्ध एक विद्रोहके रूपमें पुष्पित एव पल्लवित हुआ। जैनमतका बीजारोपण तो बहुत पहले ही हो चुका था, किन्तु महावीरके अभ्युदयके बाद इसका पर्याप्त विकास हुआ। यह सही हैं कि ब्राह्मण दार्शनिकोने जैन सिद्धान्तोकी आलोचना की किन्तु उस उग्रता एव कटुतासे नही जो उनके द्वारा की गयी बौद्धमतकी आलोचनामें लक्षित होती है। साथ ही महावीरने भी वेदोकी सत्ताकी आलोचना अवश्य की थी किन्तु उस रूपमें नही जिस तरह बुद्धने की थी। तात्पर्य यह है कि बौद्धोने धर्मके नाम पर जो आक्रामक नीति अपनायी थी, जैनी उससे अलग रहे। वास्तविकता तो यह है कि 'त्रिवण'—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—को मान्यता प्रदान कर महावीरने अपरोक्ष रूपसे समाजमें परम्परागत जाति-व्यवस्थाको स्वीकार कर ब्राह्मण दार्शनिकोंकी वाग्धाराको कुण्ठित कर दिया था।

महावीर एव बुद्धके समय समस्त उत्तर भारतमें एक ही तरहकी आर्थिक-धार्मिक स्थिति थी। जाति-व्यवस्था एव तज्जन्य कुरीतियोंसे तत्कालीन समाजग्रस्त था। पुरोहितवाद समाजके ढाँचेको खोखला किये जा रहा था। अपनेको 'भूदेव' कहने वाले ब्राह्मण पुरोहित धर्मके नाम पर समाजके निर्धन वर्गको तबाह किये हुये थे। धर्मके क्षेत्रमें कुरीतियाँ इस हद तक बढ गयी थी कि जनक तथा याज्ञवल्क्य—जैसे ऋषियोको भी इसके विरुद्ध आवाज उठानी पडी जो उपनिषद् ग्रन्थोंसे स्पष्ट है। समाजके अधिकाश वर्ग इससे त्राण पानेके लिये किसी नये मार्गकी प्रतीक्षा कर रहे थे और ठीक ऐसे ही समय मानवताकी दो

१ विनयपिटक।

२ मज्झिमनिकाय।

अवर विभूतियों—महावीर और बुद्ध—का भारतीय रंगमंच पर आविर्भाव हुआ, और यह स्वाभाविक ही था कि पुरोहितवादसे ग्रस्त जनसाधारण इनकी ओर आकर्षित हों और इनके बताये मार्गों पर उत्साह-पूर्वक चलें। इस मौकेसे लाभ उठाकर महावीरने कुछ संशोधनोंके साथ पार्श्वके धर्मको लोगोंके समक्ष रखा जो अल्पकालमें ही अपने 'समानता एवं अहिंसाके सिद्धान्तों' के कारण काफी लोकप्रिय हो चला। उनके उपदेश इतने प्रभावोत्पादक थे कि ब्राह्मणोंका एक वर्ग भी प्रव्रजित होकर उनका अनुयायी बन गया। इन ब्राह्मणोंमें अधिकांशतः बुद्धिजीवी थे जिनके अथक प्रयाससे यह और भी आगे बढ़ा।

महावीरकी दृष्टिमें ब्राह्मण हो अथवा शूद्र, श्रेष्ठ हो अथवा नीच—सभी बराबर थे। वह ब्राह्मणको 'जन्मना' नही, 'कर्मणा' मान्यता देते थे और उनके अनुसार समाजके सबसे निम्न वर्ग में जन्म लेकर भी एक चांडाल अपनी योग्यतासे समाजमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर सकता था। ब्राह्मणधर्मकी भाँति ही जैन मत आत्माके स्थानान्तरण एवं पुनर्जन्मके अनन्त चक्रोंसे मुक्ति पानेके सिद्धान्तोंमें विश्वास करता है।[1] किन्तु, इसकी प्राप्तिके लिए ब्राह्मणो द्वारा बताये गये मार्गोंको वह नही मानता। इसका लक्ष्य निर्वाणप्राप्ति है, न कि सार्वभौम आत्मामे तादात्म्य स्थापित करना। दोनोमें अन्तर बहुत कम है जो जातिगत विभेदके कारण है। महावीरने न तो उनका विरोध किया और न ही उनकी सभी वस्तुओंको माना। उनके अनुसार यद्यपि पूर्व जन्मके कृत्योंसे ही मनुष्यका पुनर्जन्म-ऊँची अथवा नीची जाति-निर्धारित होती है, फिर भी इस जन्ममें पवित्र एवं धार्मिक आचरण द्वारा कोई भी व्यक्ति निर्वाण अथवा मोक्षके उच्च शिखर तक पहुँच सकता है। तात्पर्य यह कि तीर्थंकर महावीरके लिए जातिका कोई महत्त्व नही था, वह तो चाडाल मे भी देवात्माको खोजने थे।

[३]

ससारमें सभी दुःख और विपत्तिसे घिरे हैं, उनसे मुक्तिकी कतई सम्भावना नही। इसीलिए उन्होंने समस्त प्राणियोके उत्थानका मार्ग बताया। जाति-व्यवस्था तो मात्र परिस्थितिगत है और कोई भी धार्मिक पुरुष उचित मार्ग पर चलकर इन बन्धनोको आसानीसे तोड सकता है। मुक्ति किसी वर्ग-विशेष अथवा जाति-विशेषकी धरोहर नही है। महावीरने मनुष्य और मनुष्य तथा नर और नारीके बीच जरा भी अन्तर नही माना।[2] जैनियोका ऐसा विश्वास रहा है कि 'जिन' क्षत्रिय वर्ग अथवा किसी उदात्त परिवार मे ही पैदा होते है। दूसरे शब्दोमें, महावीरने युग-युगान्तरसे चली आ रही जाति-व्यवस्था पर परोक्ष रूपसे प्रहार कर भी अपरोक्ष रूपसे उसे मान्यता दी जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण-दार्शनिकोसे उनकी ऐसी भिडन्त नही हुई जो बौद्ध दार्शनिकोसे और, यही कारण है कि जैनमत आज भी अपने पूर्व रूपमे जीवित है जबकि हिन्दू-दर्शनने १२वी सदी तक आते-आते बौद्धमतका पूर्णतया आत्मसात कर लिया।

यह उल्लेखनीय है कि जैनधर्मकी रक्षा बहुत कुछ जैनियोके अनुशासित जीवन एवं सिद्धान्तोका तत्परतापूर्वक पालनके कारण हुई। ईसासे तीन सौ वर्ष पूर्व भद्रबाहुके समय जैनसघमें जो विभाजन हुआ, उसके बादसे लेकर अब तक उनके प्रायः सभी मूल सिद्धान्त अपरिवर्तित रहे और आज भी जैन सम्प्रदायके अनुयायियोका धार्मिक जीवन दो हजार वर्ष पूर्व जैसा ही है। किसी भी प्रकारका परिवर्तन स्वीकार न करना जैनियोंकी एक खास विशेषता रही है। बहुतसे तूफान आये और गुजर गये लेकिन यह विशाल वट-वृक्ष अपने स्थान पर अडिग रहा। महावीर एक अद्वितीय व्यक्तित्व थे जो मनुष्यकी आत्मपूर्णताके लक्ष्य पर

१. सेकेड बुक्स आफ दी ट्रस्ट, भाग ३२, पृ० २१३।

२. बी० सी० लॉ०, महावीर, पृ० ४४।

विशेष ओर देते थे। उन्होंने कभी भी वैसी बातोंका उपदेश नहीं दिया जिन पर उन्होंने स्वयं व्यवहार नहीं किया हो। अपनी अन्तरात्माकी ज्योतिसे दूसरोंके हृदयमें ज्योति जगाना ही उनका लक्ष्य था। अभूतपूर्व सहिष्णुता, सर्वस्व त्याग, सहनशीलता, मानवता, संवेदनशीलता, पीडा और त्याग, प्रेम और दयाके मानो वह जीवित प्रतीक थे। 'कैवल्य' की प्राप्तिके पश्चात् वह एक चिरतन सार्वभौम व्यक्तित्वके रूपमें मानवताके समक्ष आये—वह व्यक्तित्व जो विश्व मानवता पर सदाके लिए अपनी अमर छाप छोड जाता है।

उच्चतम जीवनका मूलभूत सिद्धान्त अहिंसा है जिसका व्यावहारिक रूप उन्होंने अपने शिष्यो एव अनुयायियोके समक्ष रखा। मनुष्य हो अथवा जीव-जन्तु सबके प्रति प्रेम और अहिंसाकी भावना आवश्यक है। हत्या चाहे बडी हो अथवा छोटी—मनुष्यको नीचे गिराती है और उससे जीवनकी सार्थकता नष्ट हो जाती है। नैतिकता, निर्वाण अथवा मुक्ति, क्रियावाद (कर्मका सिद्धान्त) तथा स्याद्वाद जैनमतके कुछ ऐसे मूलभूत सिद्धान्त हैं जो सार्वभौम एव सार्वजनीन हैं और इनके अभावमें मानवता कभी नही पनप सकती है। यह ठीक है कि बौद्ध मतकी भाँति जैनमत देशके बाहर लोकप्रिय नही हो सका, किन्तु इसके साहित्य, दर्शन, स्थापत्य कला, चित्र-कला तथा मूर्तिकला भारतकी ऐसी धरोहर है जो सदा-सर्वदा विश्वमानवका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती रहेंगी।

भारतीय दर्शनको जैन दार्शनिको एव नैयायियोकी देन किसीसे कम नही। यह ठीक है कि किसी अशोक अथवा हर्ष जैसे सम्राट्का सरक्षण इस धर्मको प्राप्त नही हो सका, फिर भी काशी, मगध, वैशाली, अग, अवन्ति, मल्ल, शुङ्ग, शक-कुषाण तथा कुछ गुप्त शासकोका प्रश्रय इसे अवश्य मिला जो इनकी प्रगतिमे काफी सहायक हुआ। राजकीय सरक्षणके अभावकी पूर्ति उस युगके कुछ मूर्धन्य जैन दार्शनिको द्वारा हुई, जिसमें सिद्धसेन दिवाकर (५३३ ई० जैन न्यायके प्रवर्त्तक), समन्तभद्र (६०० ई०), अलकदेव (७५० ई०), पाटलिपुत्रके विद्यानन्द (८०० ई०), प्रभाचन्द्र (८२५ ई०), मल्लवादिन (८२७ ई०), अभयदेवसूरि (१००० ई०), दवसूरि, चन्द्रप्रभ सूरि (११०२ ई०), हेमचन्द्र सूरि (१०८८–११७२ ई०), आनन्द सूरि तथा अमरचन्द्र सूरि (११९३–११५० ई०), हरिभद्र सूरि (११६८ ई०), मल्लिसेन सूरि (१२९२ ई०) आदिके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। इनमेसे अधिकाश मगध अथवा बिहारके थे जिन्होने अपनी अमर कृतियों से जैन साहित्य एव दर्शनकी सभी शाखाओंको पुष्पित एव पल्लवित किया और बौद्ध नैयायिक जैसे दिङ्नाग एव धर्मकीर्ति तथा अक्षपाद, उद्योतकर, वाचस्पति और उदयन जैसे दुर्द्धर्ष मैथिल दार्शनिको और मनीषियोके तर्कोंका खण्डन कर जैनमतको प्रतिपादित किया। उस समय बौद्ध, जैन तथा मैथिल दार्शनिकोके बीच अक्सर शास्त्रार्थ एव एक दूसरेके मतोका खण्डन-मण्डन हुआ करता था, किन्तु यह विवाद बौद्ध एव हिन्दू नैयायिकोंके बीच जितना उग्र हुआ करता था, उतना हिन्दू और जैन मनीषियोके बीच नही। वास्तविकता तो यह है कि श्रमणमुनि (जैन) तथा वैदिक ऋषि भारतीय इतिहासके प्रारम्भसे ही साथ-साथ चिन्तन-मनन करते आ रहे थे और जन साधारणमें उनका एक-सा सम्मान था, यद्यपि उनके आदर्शों एव मार्गोंमे काफी अन्तर था।[१] कभी-कभी अपने-अपने आदर्शोंकी रक्षाके लिए उनके बीच भी कटु विवाद हुआ करते थे, फिर भी ये ऋषि और मुनि सामान्य जनोकी दृष्टिमें इतने सम्मानित थे कि धीरे-धीरे इनके बीच कोई भी साम्प्रदायिक अन्तर नही रह पाया और कालक्रमसे इन श्रमणोने यह भी दावा किया कि वे वास्तवमें सच्चे ब्राह्मण थे। जो भी हो, यह तो मानना पड़ेगा कि इन दार्शनिकोका आपसी विवाद भारतीय न्याय दर्शनके लिए वरदान बन गया।[२]

---

१ जर्नल ऑफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, १९५८, पृ० २, तथा बुद्ध जयन्ती विशेषाक, खंड २।

२ वही, १९५८, पृ० २-३।

साहित्यिक साक्ष्यके अतिरिक्त बिहारमें जैनमतके सम्बन्धमें हमें पुरातात्विक साक्ष्यों—जैसे जैन कला तथा स्थापत्य जिसके अवशेष समस्त उत्तर भारतमें आज भी पाये जाते हैं—से भी पर्याप्त सहायता मिलती है। वास्तवमें भारतीय कलाको जैनियोंकी देन किसीसे कम नही है। स्थापत्यकलाके क्षेत्रमें जैन कलाकारोंने जो पूर्णता प्राप्तकी, उसका दृष्टान्त अन्यत्र कही भी मिलना कठिन है।[१] यद्यपि बिहारमें जैन कलाके बहुतसे अवशेष प्राप्त हैं, फिर भी यह बडे खेदकी बात है कि भगवान् महावीरकी जन्मभूमि वैशालीमें कोई ऐसा अवशेष नही मिलता जो जैन सघसे सम्बन्धित हो। हाँ, जैन साहित्यमें वैशाली तथा उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्रोंमें तत्कालीन जैन मन्दिरोके कई उल्लेख मिलते हैं। 'उवासगदसाओ'[२] में ऐसा कहा गया है कि ज्ञात्रिकोंने अपनी निवास-भूमि कोल्लागके निकट एक जैन मन्दिरका निर्माण करवाया था जो 'दुइपलास चिय' (चैत्य) के नामसे विख्यात था। बौद्ध परम्पराकी भाँति ही जैनियोमें भी अपने तीर्थंकरोकी समाधिके ऊपर स्तूप-निर्माणकी परम्परा थी और वैशालीमें जैन मुनि सुव्रतकी समाधि पर उस प्रकारके एक स्तूपका वर्णन मिलता है। इसी प्रकारके एक दूसरे स्तूपका उल्लेख मथुरामें मिलता है जो जैन मुनि सुपार्श्वनाथकी समाधि पर निर्मित हुआ था। वैशालीके स्तूपकी चर्चा 'आवश्यकचूर्णि'[३] में की गयी है जिसमें इस प्रकारके कई प्रसग आये हैं। अभी हालमें कौशाम्बी तथा वैशालीमें जो उत्खनन हुए है उनमें विभिन्न रगों एव 'चित्रित उत्तरी कृष्ण मृद्भाण्ड' (एन^ बी० पी० वेयर) के कई नमूने मिले हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि इसी शैलीका जन्म मगधमें ही हुआ था।

'औपपातिक-सूत्र' में चम्पा नगरके उत्तर-पूर्व स्थित आम्रशालवनमें जिस पूर्णभद्र चैत्यका उल्लेख मिलता है वह अत्यन्त प्राचीन तथा अपने ढगका निराला था जिसके वर्णनसे जैन कलाकारोकी स्थापत्य कला सम्बन्धी दक्षता पर पूर्ण प्रकाश पडता है। अभी हालमें वैशालीमें भगवान् महावीरकी एक पाल-कालीन मूर्ति मिली है जो वैशाली गढके पश्चिम-स्थित एक मन्दिरमें प्रतिष्ठापित है जहाँ भारतके कोने-कोनेसे जैनी श्रद्धावनत हो अपने 'जैनेन्द्र' की पूजा करने बडी सख्यामें प्रत्येक वर्ष, विशेषकर भगवान् महावीरकी जयन्तीके अवसर पर, वहाँ जाते हैं। यह स्थान एक पवित्र जैन तीर्थ स्थल हो चला है। बेगूसरायका जयमगलगढ भी जैनियोका एक प्राचीन स्थान माना जाता है, यद्यपि इसकी पुष्टिमें अभी तक कोई ठोस पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त नही हो सका है। कहा जाता है कि मौर्य शासक सम्प्रतिने बहुतसे जैन मदिरोका निर्माण करवाया था, किन्तु खेद है कि अभी तक उसके कोई भी अवशेष प्राप्त नही हो सके हैं।

अगदेश (आधुनिक भागलपुर) का मदार पर्वत जैनियोका एक पवित्र स्थान माना जाता है, कारण यही पर बारहवे तीर्थंकर वसुपूज्यनाथने निर्वाण प्राप्त किया था। इस पर्वतका शिखर अत्यन्य पवित्र माना जाता है और लोगो का ऐसा विश्वास है कि यह भवन श्रावकोके लिये निर्मित किया गया था जिसके एक प्रकोष्ठमें आज भी एक 'चरण' रखा हुआ है। यहाँ पर कुछ ओर जैन अवशेष मिले है। भागलपुरके निकट कर्णगढ़में भी जैनधर्मसे सम्बन्धित अवशष मिले हैं और यहांके प्राचीन दुर्गके उत्तर एक जैन बिहारका भी उल्लेख मिलता है।

दक्षिण बिहारकी अपेक्षा उत्तर बिहार (मिथिला) में जैन पुरातात्विक अवशेष, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, बहुत कम मिलते हैं। किन्तु, यदि विभिन्न ऐतिहासिक स्थलो पर उत्खनन किये जायें तो

१. गुएरिनोत, ल रिलिजन जैन, पृ० २७९।
२. होएर्नले, भाग १, पृ० २।
३. जिनदास-कृत, 'आवश्यकचूर्णि' (६७६ ई०), पृ० २२३-२७, ५६७।

उस भूभागमें भी अनेक जैन स्थल मिलेंगे, इसमें जरा भी सन्देह नही। मध्य भारत, उत्तर प्रदेश तथा बिहारमें अनेक जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं और हजारों कास्य मूर्तियाँ पश्चिमी भारतकी स्थानीय कला-शैलीमे मिली है जिसके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि राजस्थानकी भाँति ही बिहार तथा बगालमें भी जैनियों-की अपनी उत्कृष्ट कला-शैली थी।[१]

उत्तर बिहारके विपरीत दक्षिण बिहारमें जैन कलाके कुछ उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ पर्सी ब्राउनने यह ठीक ही कहा है कि जैन कलाकारोने कुछ विशेष पर्वतो ('Mountains of Immortality') का चयन कर उनके शिखरो पर मन्दिरो तथा स्तूपोका निर्माण कर उन्हें कला जगत्में अमर कर दिया। इन पर्वतीय प्रदेशोंको 'मंदिर नगर' कहना कोई अत्युक्ति नही होगी। इनमें से प्रत्येक मंदिर अथवा 'तीर्थ' सदियोके श्रद्धापूर्ण अध्यवसायके जीवित प्रतीक हैं जो किसी भी दृष्टिसे विलक्षण और बेजोड कहे जा सकते हैं।[१] चाहे पार्श्वनाथ पर्वतके मंदिर हो अथवा राजगीरके, ये अपने आप में एक पवित्र नगर हैं जो भवनोंके दृश्यको प्रथम दृष्टिमें ही श्रद्धासे परिपूरित कर देते है। शाहाबाद जिलेमें तो 'धर्मचक्र' भी पाये गये हैं। ठीक यही बात हजारीबागके कुलुहा पर्वतके साथ भी है। यहाँ जैन तीर्थंकर शीतलनाथका जन्म हुआ था और यहाँ दिगम्बर सम्प्रदायकी काफी मूर्तियाँ मिली है। यहाँ पर पत्थरोको तराश कर जो दस दिगम्बरी मूर्तियाँ गढ़ी गयी हैं उन्हें लोग पाँचो पाडव तथा उनके दासोकी मूर्तियाँ भी मानते है, जो तर्कसगत नही जँचता। इसी प्रकार छोटा नागपुरका मानभूमि जिला भी किसी समय जैनधर्मका एक महान केन्द्र था। जैन पुरातत्वके जितने अवशेष यहाँ प्राप्त हुए हैं, सभवत भारतके किसी भी स्थानमे अभी तक इतने नही मिले हैं। प्राचीन कालमें बगाल अथवा बिहारसे उडीसा जानेके लिये मानभूम होकर ही लोगोको जाना पडता था।

उडीसा-स्थित खडगिरि पर्वतकी गुफाओमें जैनियोके विलक्षण पुरातात्विक अवशेष मिले हैं। उडीसा-का प्रसिद्ध सम्राट् खारवेल गया-स्थित बराबर पहाडियो तक आया था और मानभूमके माध्यमसे ही बिहार और उडीसाके बीच उस समय सम्पर्क स्थापित था। मानभूमसे इतनी प्रचुर मात्रामें जैन अवशेषोकी प्राप्तिके पीछे यह भी एक कारण हो सकता है। ह्वेनसागके अनुसार यहाँके बाराभुम परगनाके 'बडा बाजार' नामक स्थान तक भगवान् महावीर भ्रमण करने आये थे। बलरामपुर, बोराम, चदनकिआरी, पकबीरा, बुधपुर, दारिका, चर्रा, दुल्मी, देवली, भवानीपुर, अनई, कटरासगढ, चेचगाँवगढ आदि छोटा-पुरके अनेक स्थानोमें जैन अवशेष भरे पडे हैं जिनका जैनधर्मके इतिहासमें अपना एक खास महत्त्व है।[२] ठीक इसी प्रकार गया, शाहाबाद, भागलपुर, पटना, मुजफ्फरपुर आदि स्थानोमें भी जैन अवशेष पाये जाते हैं जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है और जिनका सम्यक् अध्ययन, बिहारमें जैनधर्मके वास्तविक स्वरूप एव उसके प्रचार-प्रसारको जाननेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस दिशामें अभी हालमें डा० राजाराम जैनने अपने लघुग्रन्थ 'श्रमण साहित्यमे वर्णित बिहारकी कुछ जैन तीर्थ भूमिया' द्वारा स्तुत्य प्रयास किया है।[3] किन्तु यह तो विशाल सागरमें मात्र एक बिन्दुकी भाँति है।[४]

---

१ पर्सी ब्राउन, 'इडियन आर्किटेक्चर' (दी टेम्पुल सीटीज आफ दी जैन्स)।

२ विशेष विवरणके लिये देखिये, पी०सी० रायचौधरी, 'जैनिज्म इन बिहार'।

३' गया जिला भगवान् महावीर २५०० वाँ निर्वाण-महोत्सव सगोष्ठी सचालन समिति द्वारा १९७५ ई० में प्रकाशित।

२ इस सम्बन्धमें विशेष विवरणके लिये देखिये, हीरालाल जैन-कृत 'भारतीय सस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस धर्म की आधार भूमि उतनी ही प्राचीन है जितनी वैदिक परम्परा, जिसका सबसे बडा प्रमाण ऋग्वेदमें उल्लिखित केशी जैसे वातारशा मुनियोंकी साधना है जिससे यह स्पष्ट है कि वे वैदिक ऋषियोंसे तो पृथक् थे, किन्तु श्रमण मुनियोंसे अभिन्न थे। इसके अतिरिक्त केशी तथा तीर्थंकर ऋषभदेवका एकत्व भी हिन्दू और जैन पुराणोसे सिद्ध होता है।

वैशाली तथा विदेहसे प्रारभ होकर मगध, कोशल, तक्षशिला और सौराष्ट्र तक यह श्रमण धर्म फैला और इसके अतिम तीर्थंकर महावीरने छठी सदी ई० पू० में इसे सुव्यवस्थित रूप देकर देश-व्यापी बना दिया। साथ ही उसने उत्तर और दक्षिण भारतके विभिन्न राजवशो तथा तत्कालीन समाजको प्रभावित किया और अपने आतरिक गुणोके कारण समस्त देशमें आज भी अपना अस्तित्व उसी प्रकार सुरक्षित रखे हुए है। साहित्यके अतिरिक्त इस धर्मने गुफाओ, स्तूपो, मदिरों, मूर्तियो, चित्रों एव ललितकलाके माध्यमसे न केवल लोकका नैतिक व आध्यात्मिक स्तर उठाने का प्रयास किया है, बल्कि देशके विभिन्न भागोको इसने अपने सौन्दर्यसे सजाया है और, इस सास्कृतिक योगदानमे बिहारका अपना विशेष स्थान रहा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, २४ तीर्थंकरोमेंसे २२ तीर्थंकरोने इसी भूमिमें निर्वाण-प्राप्ति की जिनमेंसे २० तीर्थंकरोंने हजारीबाग जिलेके सम्मेदशिखर (पारसनाथ पर्वत), १२ वें तीर्थंकर वसुपूज्यने चम्पापुरी तथा अतिम तीर्थंकर भगवान् महावीरने नालान्दा जिला-स्थित पावापुरीमें निर्वाण प्राप्त किया। इनके अतिरिक्त १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ तथा २१ वे तीर्थंकर नेमिनाथका जन्म विदेह अथवा मिथिलामें हुआ था जबकि २० वे तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ राजगिरिमें तथा २४ वें तीर्थंकर महावीर वैशालीके कुण्डग्राममें पैदा हुए थे।

सुप्रसिद्ध जैन ग्रथ "तत्त्वार्थसूत्र" का प्रणयन स्वनामधन्य जैन सारस्वत उमास्वाति द्वारा पाटलिपुत्र मे ही हुआ था। जैन धर्म तथा दर्शनके क्षेत्रमे इसका महत्व इसी बातसे आका जा सकता है कि इस पर अब तक पांच-छ टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। यह ठीक ही कहा गया है कि गीता, बाइबिल, कुरानशरीफ एव गुरुग्रन्थ साहिबका जो महत्व हिन्दुओ, ईसाइयो, मुसलमानो और सिक्खोके लिए है, वही "तत्त्वार्थसूत्र" का जैनियोके लिए है। साथ ही पाटलिपुत्रमें ही जैन-परम्पराके अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुका निवास-स्थान था। भारतके प्रथम ऐतिहासिक राजवशके सस्थापक चन्द्रगुप्त जैनधर्ममें दीक्षित हुए कि नही, यह विवादास्पद है, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि पाटलिपुत्रके शासक नन्दराज (लगभग चौथी सदी ई० पू०) आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके महान् उपासक थे जो कलिंग-सम्राट् खारवेलके हाथीगुफा अभिलेखसे स्पष्ट है। बौद्ध मतके प्रति अधिक झुकाव होते हुए भी सम्राट् अशोकने बराबरकी पहाडियो पर आजीविको एव निर्ग्रन्थ (दिगम्बर जैन) साधुओके लिए गुफाओका निर्माण कर उन्हें हर प्रकारका सरक्षण प्रदान किया। वास्तवमें बिहारके इतिहास में यह एक गौरवोज्ज्वल, स्वर्णिम अध्याय है।

जैन सस्कृत एव प्राकृत साहित्य के अनुशीलनसे पता चलता है कि किस प्रकार उसमें विगत २५०० वर्षोंके बिहारके जन-जीवनका सर्वांगीण चित्र मिलता है। "स्थानागसूत्र के अध्ययनसे एक बहुत ही मनोरजक बात सामने आती है कि देशके अन्य भागोंके निवासियोकी अपेक्षा "मगध देशके निवासी अधिक चतुर एव बुद्धिमान हुआ करते थे। वे किसी भी विषयको सकेत मात्र से समझ लेते थे जबकि कोशलके निवासी इसे देखकर ही समझ पाते थे और पाचाल देशवासी उसे आधा सुनकर तथा दक्षिण देशवासी उसे पूरा-पूरा समझ पाते थे। (३।१५२)।" एक ओर जहां जैन साहित्यमें मगध-निवासियोकी प्रशसा की गयी है, वहीं दूसरी ओर ब्राह्मणोने मगध देशको पाप-भूमि बताकर वहाँ यात्रा करना भी निषिद्ध बताया है। स्पष्ट है कि तद्युगीन धर्म सम्बन्धी सैद्धान्तिक मतभेद ही इसके पीछे काम कर रहा था। ●

मध्यप्रदेशमें जैनाचार्योंका विहार

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जबलपुर

मध्यप्रदेशमें जैनधर्म

वर्तमान मध्यप्रदेश नवम्बर १९५६ में अस्तित्व में आया और इसमें ब्रिटिशयुगके मध्यप्रान्त व बरार क्षेत्र के महाकोशल एव छत्तीसगढ़-क्षेत्र, विन्ध्य-क्षेत्रके छत्तीस राज्य, भोपाल राज्य तथा मालव और ग्वालियर क्षेत्रके अनेक राज्य समाहित हुये हैं। यह क्षेत्रफलकी दृष्टिसे भारतका सबसे बडा राज्य है और वस्तुत ही भारतका मध्य हृदय स्थल है। भारतीय राजनीति और सांस्कृतिक इतिहासमें इस क्षेत्रका मौलिक तथा अमूल्य योगदान है। इस क्षेत्रके प्रत्येक महत्त्वपूर्ण भागमें जैनधर्मके अनुयायी पाये जाते हैं। इससे इस क्षेत्रके जैन सस्कृतिसे प्रभावित होनेका अनुमान लगाया जाता है। यह अनुमान तब पुष्ट हो जाता है जब हम यह देखते हैं कि इसके मालव, विदिशा, सोनागिर, दशपुर, ग्वालियर, पपौरा, अहार, खजुराहो, छतरपुर, दमोह, आदि क्षेत्रोमे अनेक पुरातात्त्विक महत्त्वके जैन अवशेष मिलते हैं जिनका अनेक विद्वानोंने अधिकृत अध्ययन किया है। इस क्षेत्रमे जैनधर्मके प्रचार-प्रसार और प्रभावके कार्यमें अनेक श्रेष्ठियो एव राजाओंके अतिरिक्त अगणित जैनाचार्योंने भी योगदान किया है। इस योगदानका स्फुट विवरण ही अनेक स्थलों पर मिलता है। इस योगदानके महत्त्वको दृष्टिमे रखते हुये मैं इस लेखमें इन क्षेत्रोमें ५०० ई० पू० से उन्नीसवीं सदीके बीचके चौबीस वर्षोंमें विचरण करने वाले या विकास करने वाले कुछ आचार्योंकी विवरणिका दे रहा हूँ जिससे भावी शोधार्थी इस क्षेत्रमे काम करनेके लिये प्रेरणा प्राप्त करें और मध्यप्रदेशमे जैन सस्कृतिके विकास मूल्यांकित करें। अपनी सीमाको देखते हुये मैंने यहाँ कुछ प्रमुख क्षेत्रोका विवरण ही दिया है, अन्य क्षेत्रोके विषयमें सामग्री एकत्रकी जा रही है।

महावीर-निर्वाणके एक हजार वर्ष

भगवान महावीरके निर्वाणके बाद प्रथम दो शताब्दियोंमें मध्यप्रदेशमें जैन आचार्योंके विहारका कोई स्पष्ट वर्णन प्राप्त नही होता। तदनन्तर आचार्य भद्रबाहुने उज्जयिनीमे विहार किया, वहाँ राजा चन्द्रगुप्त ने उन सभीका सम्मान किया और बादमे उनके मघने दक्षिणमें विहार किया। ऐसा वर्णन हरिषेणाचार्यके बृहत्कथाकोशमें[1] उपलब्ध है।

आचार्य भद्रबाहुके प्रशिष्य आचार्य सुहस्तिके उज्जयिनीमे विहारका और वहाँके श्रेष्ठी अवन्ति सुकुमार द्वारा उनसे दीक्षाग्रहणका वृत्तान्त राजशेखर सूरिके प्रबन्धकोशमें[2] मिलता है। आचार्य कालकके उज्जयिनीमें विहारका और वहाँ अत्याचारी राजा गर्दभिल्लके विनाशका वृत्तान्त प्रभाचन्द्राचार्यके प्रभावक-चरित[3] में तथा अन्यत्र भी प्राप्त होता है। इस ग्रन्थके अनुसार आचार्य वज्रका जन्म भी अवन्ती प्रदेशमें हुआ था तथा उन्होने उज्जयिनीमें आचार्य भद्रगुप्तके दशपूर्व ग्रथोका अध्ययन किया था। इस बातका भी

---

१ जैनशिलालेखसग्रह, भा० १ प्रस्तावना, पृ० ५७

२ प्रबन्धकोश (फोर्बस सभा सस्करण), पृ० ३८

३. प्रभावकचरित (निर्णयसागर सस्करण), पृ० ३८, पृ०८, पृ० ११४

उल्लेख पाया जाता है कि आचार्य वज्रके शिष्य आचार्य रक्षितका जन्म दशपुर (मंदसौर) में हुआ था तथा विद्याध्ययन उज्जयिनीमें हुआ था। आचार्य समंतभद्रने भी मालवा और विदिशा क्षेत्रमें विहार किया था, ऐसा वर्णन श्रवणबेलगोलके मल्लिषेणप्रशस्ति[1] नामक शिलालेख में है। आचार्य सिद्धसेनके भी उज्जयिनीमें विहार, राजा विक्रमादित्य द्वारा उनके सम्मान और द्वात्रिंशिका रचनाकी कथाएँ प्रभावकचरित्र, प्रबंधकोश आदिमें प्राप्त हैं।

विदिशाके निकट उदयगिरिकी एक पार्श्वनाथ मूर्तिकी प्रतिष्ठापना आचार्य भद्रकी परम्पराके आचार्य गोशर्मके शिष्य शंकर मुनि ने सन् ४२६ में की थी, ऐसा वहांके शिलालेख[2] से ज्ञात होता है। विदिशासे ही प्राप्त एक अन्य जिन मूर्तिकी प्रतिष्ठापना रामगुप्तके राज्यकालमें आचार्य सर्वसेन की थी, ऐसा उसके पादपीठके लेखसे ज्ञात होता है।

आठवींसे दसवी सदी—गोपाचल (ग्वालियर) में राजा आम (नागभट) द्वारा निर्मित जिन मंदिर की प्रतिष्ठा आचार्य बप्पभट्टिने की थी, ऐसा प्रबंधकोशसे ज्ञात होता है। आमके पौत्र भोजके आमंत्रण पर बप्पभट्टिके गुरुबंधु नन्नसूरि गोपाचल पधारे थे। यह भी इस सन्दर्भमें उल्लिखित है।[3]

सन् ७८४ में आचार्य जिनसेनने हरिवंशपुराणकी रचना वर्धमानपुरमें की थी। एक मतके अनुसार उज्जयनीके निकटवर्ती नगर बदनावरका ही पुराना नाम वर्धमानपुर था। हरिषेणाचार्यके बृहत्कथाकोशकी रचना भी इसी नगरमें सन् ९३२ मे हुई थी।[4]

आचार्य देवसेन ने धारा नगरमें सम्वत् ९९० में दर्शनसारकी रचना की। इसी अन्तिम गाथाओंमें स्थल-कालका उल्लेख है। खजुराहोके शान्तिनाथ मंदिरके स्थापनालेखमें जो सन् ९४४ का है राजा धंग द्वारा सम्मानित श्रेष्ठी पाहिलके साथ महाराजगुरु वासवचन्द्रका भी उल्लेख है।[5] आचार्य अमितगतिने सुभाषितरत्नसंदोहकी रचना सन् ९९३ ने राजा मुंजके राज्यमें की थी। इनके सन् १०१६ में रचित पंच-संग्रहका रचनास्थान मसूतिकापुर (धारके पास मसोद ग्राम) उल्लिखित है।[6]

ग्यारहवी शताब्दी—प्रभावकचरितमें बताया गया है कि आचार्य महासेनने सिन्धुराजके मंत्री पर्पटके आग्रहसे प्रद्युम्नचरित महाकाव्यकी रचना की।[7] इसीके अनुसार आचार्य वर्धमानने धारा नगरमें विहार करते हुये जिनेश्वरको सूरिपद प्रदान किया था। जिनेश्वरके शिष्य अभयदेवसूरिका जन्म भी धारामे ही कहा गया है। इनकी परम्परा खरतरगच्छके नामसे प्रसिद्ध हुई। उत्तराध्ययन टीकाकर्ता वादिवेताल शान्तिसूरि, महाकवि धनपालने गुरु महेन्द्रसूरि तथा नाभेयनेमिद्विसन्धान काव्यके रचयिता सूराचार्यका धारा नगरमें विहार और राजा भोज द्वारा उनके सम्मानका वृत्तान्त भी प्रभावकचरितमें मिलता है।

अपभ्रंश कथाकोश के रचयिता श्रीचन्द्रके कथनानुसार उनके गुरुके प्रगुरु आचार्य श्रुतकीर्ति राजा भोज द्वारा सम्मानित हुये थे। उन्हें गांगेय राजा द्वारा भी सम्मान प्राप्त हुआ था इससे प्रतीत होता है कि

---

१ जैनशिलालेखसंग्रह, भा० १, प्रस्तावना, पृ० १४१

२ जैनशिलालेखसंग्रह, भा० २, पृ० ५७

३ जैनसाहित्य और इतिहास, (प्रेमीजी), पृ० ११७

४ प्रबन्धकोष, पृ० ८४ (८–) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४७, २७९, ४१२

५. जैनशिलालेखसंग्रह, भा० २, पृ० १९०

६ प्रभावकचरित, पृ० २६३, २६७, २१८, २२४

७ जैनग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह (परमानन्दजी), भा० २, पृ० ७

डाहल (जबलपुर) क्षेत्रमें भी उनका विहार हुआ होगा।[1] इसी प्रकार ग्वालियरके समीप दूबकुण्डसे प्राप्त एक शिलालेख सन् १०८८ का है जिसमें वहाँके जिन मंदिरकी प्रतिष्ठापना आचार्य विजयकीर्ति द्वारा हुई बताई गई है। लेखके अनुसार विजयकीर्तिके गुरु आचार्य शान्तिषेणने राजा भोजकी सभामें सम्मान प्राप्त किया था।[2]

आचार्य प्रभाचन्द्रने राजा भोज और उनके उत्तराधिकारी जयसिंहके राज्यमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। आचार्य नयनरिन्दने राजा भोजके राज्यकालमें धारा नगरमें सन् १०४४ में अपभ्रंश काव्य सुदर्शनचरितकी रचना की। इनकी दूसरी रचना सकलविधिविधान काव्य भी भोजके ही राज्यमें पूर्ण हुई थी।[3]

सन् १०१३ में श्रीचन्द्र आचार्यने धारामें आचार्य सागरसेनसे अध्ययन कर पुराणसारकी रचना की तथा यहीं दस वर्ष बाद उत्तरपुराण टिप्पणकी रचना की। इनका पद्मपुराण टिप्पण भी भोजके ही राज्यकालमें सन् १०३० में लिखा गया।[4]

विदिशाके समीप बडोहके जिन मन्दिरके द्वार पर प्राप्त सन् १०५७ के लेखमें आचार्य उभयचन्द्र का तथा सन् १०७८ के लेखमें मंत्रवादी आचार्य देवचन्द्रका नाम उल्लिखित है।[5] इसी प्रकार श्रवण-बेलगोल के सन् १११५ के एक शिलालेखसे गोलाचार्यका परिचय मिलता है। ये चंदेल वंशके राजकुमार तथा गोल्ल प्रदेशके स्वामी थे तथा किसी कारणसे विरक्त होकर मुनि हुये थे। इनका मूलस्थान बुन्देलखण्ड का उत्तरी क्षेत्र प्रतीत होता है। लेखमें इनके प्रशिष्यके प्रशिष्य मेघचन्द्रके समाधिमरणका वर्णन है।[6]

जबलपुरसे ४० मील दूर बहुरीबन्दमें एक भव्य शान्तिनाथ मूर्तिकी स्थापना आचार्य सुभद्रने सन् ११३० में लगभग राजा गयाकर्णके राज्यकालमें की थी, ऐसा उसके पादपीठलेखसे ज्ञात होता है।[7]

बारहवींसे चौदहवी शताब्दी—बडवानीके समीप चूलगिरि पर्वत पर प्राप्त सन् ११६६ के दो लेखोंमें आचार्य रामचन्द्रका वर्णन है। इन्होंने वहाँ इन्द्रजित् केवलीका मन्दिर बनवाया था।[8] प्रबन्धकोश में आचार्य विशालकीर्ति और उनके अनेक वादोंमें विजय प्राप्त करने वाले शिष्य मदनकीर्तिके उज्जयिनीमें विहारका वर्णन प्राप्त होता है। मदनकीर्तिकी शासनचतुस्त्रिंशिकामें मालवाके तीन स्थान-धाराके नवखंड पार्श्वनाथ, मंगलपुरके अभिनन्दन और बृहत्पुर (बडवानी) के बडे देव (बावनगजा) का वर्णन भी है।

खजुराहोंके दो मूर्तिलेखोंमें, जिनका समय बारहवी सदीमें अनुमानित है, भट्टारक आम्रनन्दिका नाम उल्लिखित है। यहींके एक अन्य मूर्तिलेखमें दुर्लभमन्दिर-रविचन्द्र-सर्वनन्दिकी आचार्य परम्परा भी उल्लिखित है। यहीं के सन् ११५८ के एक मूर्तिलेखमें आचार्य राजनन्दिके शिष्य भानुकीर्तिका नाम भी उल्लिखित है।[9] विशालकीर्ति और मदनकीर्तिका वर्णन धाराके समीपवर्ती नलकच्छपुर (नालछा) के महापण्डित

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, पृ० ३४५
२. जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० २९०, २८७
३ जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, भा० २, पृ० ३
४ जैनशिलालेख संग्रह, भा० १, १४२
५ जैनशिलालेख संग्रह, भा० ४, पृ० १४७
६. जैनशिलालेख संग्रह, भा० ३, पृ० १४३
७ प्रबन्धकोश, पृ० १३१
८ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४७
९. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, पृ० ४०, ४७

आशाधरकी ग्रंथप्रशस्तियोंमें भी मिलता है। मदनकीर्तिने उनकी प्रशंसा की थी और विशालकीर्तिने उनसे न्यायशास्त्र पढ़ा था। आशाधरने आचार्य महावीरसे धारामें प्रमाणशास्त्र और व्याकरणशास्त्र पढ़ा था। आचार्य सागरचन्द्रके शिष्य विनयचन्द्रके आग्रहसे उन्होंने इष्टोपदेशटीका लिखी थी। उनके प्रशंसकोंमें मुनि उदयसेनका नाम भी उल्लिखित है।[1]

तपागच्छकी गुर्वावलियोंसे ज्ञात होता है कि नव्य कर्मग्रन्थोंके रचयिता देवेन्द्रसूरि (स्वर्गवास सन् १२७०) और उनके शिष्य विद्यानन्दका विहार उज्जयिनीमें हुआ था। विद्यानन्दके गुरुबन्धु धर्मघोषसूरिके उज्जयिनी और मण्डपदुर्ग (माण्डव)में विहारका वर्णन भी इनमें मिलता है।[2]

पावागिरि (ऊन)के सन् १२०१ के एक मूर्तिलेखमे प्रतिष्ठापक आचार्य देशनन्दिका नाम उल्लिखित है।[3] इसी प्रकार सोनागिरिके सन् १२१५ के एक मूर्तिलेखमें प्रतिष्ठापक आचार्य धर्मचन्द्रका नाम उल्लिखित है।[4]

प्रशस्तियोके अनुसार जब आचार्य कमलभद्र मालवामें सलखणपुरमें विहार कर रहे थे, तब सन् १२३० में दामोदर कविने उनके सान्निध्यमें नेमिनाथचरितकी रचना की थी।[5] बडवानीके निकट चूलगिरि पर्वतकी एक जिनमूर्तिके सन् १३१२ मे लेखमें[6] प्रतिष्ठापक आचार्य शुभकीर्तिका नाम प्राप्त होता है। धनपाल कविके बाहुबलिचरित (सन् १३९८) के अनुसार उनके गुरु आचार्य प्रभाचन्द्रने अन्य अनेक नगरोंके साथ धारा नगरमें भी विहार किया था।[7]

पन्द्रहवी-सोलहवी शताब्दी—आचार्य गुणकीर्तिके उपदेशसे ग्वालियरमें कवि पद्मनाभ कायस्थने सन् १४०५ के करीब यशोधरचरितकी रचना की थी।[8] यही आचार्य यश कीर्तिने सन् १४३० में भविष्यदत्त कथा और सुकुमारचरितकी प्रतियाँ लिखवाई थी। यही पर उन्होंने स्वयभूविरचित अरिष्टनेमिचरितका जीर्णोद्धार भी किया था। ग्वालियरमें ही आचार्य गुणभद्रने सन् १४५० के करीब अनन्तव्रतकथा आदि पन्द्रह कथाओकी रचना की थी।[9] इसी प्रकार आचार्य जिनचन्द्र द्वारा सन् १४५७ में और आचार्य सिंहकीर्ति द्वारा सन् १४७४ में ग्वालियरमें जिनमूर्तिप्रतिष्ठामहोत्सव सम्पन्न कराये गये थे।[10] आचार्य श्रुतकीर्तिने दमोहके निकट जेरहटमें सन् १४५७ में हरिवशपुराणकी रचना पूर्ण की थी।[11]

सूरतके आचार्य देवेन्द्रकीर्तिने अन्य अनेक स्थानोंके समान अवती (मालवा)में भी प्रतिष्ठायें करवाई थीं, ऐसा उनकी परम्पराकी पट्टावलीसे ज्ञात होता है। इसी पट्टावलीके[12] अनुसार उनके प्रशिष्य आचार्य

१ पट्टावली समुच्चय (दर्शनविजयजी), भा० १, पृ० ५७, ६०
२ अनेकान्त वर्ष १२, पृ० १९२
३ जैनशिलालेखसग्रह, भा० ४, पृ० ५९
४ जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह, भा० २, पृ० १३९
५ अनेकान्त, वर्ष १२, पृ० १९२
६. अनेकान्त, वर्ष ७, पृ० ८३
७. जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह, भा० १, पृ० ४
८. जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह भा० २, पृ० ८३, ११२
९ जैनशिलालेखसग्रह, भा० ५, पृ० ८२, ८४
१० जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह, भा० २, पृ० १२२
११. भट्टारकसम्प्रदाय पृ० १६९
१२. जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह, भा० १, पृ० १७

मल्लिभूषणने भी मालवा और ग्वालियरमें विहार किया था। इन दोनोंका समय पन्द्रहवीं सदी की उत्तरार्द्ध है। इसी समय आचार्य कमलकीर्तिने सोनागिरिमें आचार्य शुभचन्द्रको पट्टाधीश बनाया था, ऐसा कवि रइधूके हरिवंशपुराणसे ज्ञात होता है।[1]

आचार्य सिंहनन्दि मालव प्रदेशमें कार्यरत थे। ऐसा श्रुतसागरकृत यशस्तिलकचन्द्रिकाकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है।[2] नेमिदत्तकृत श्रीपालचरित (सन १४२८)में भी यह उल्लेख है। सोनागिरिके सन् १५४३ के एक मूर्तिलेखसे प्रतिष्ठापक आचार्य यशसेनका परिचय मिलता है। यहींके सन् १६०६ के एक अन्य मूर्तिलेखमें आचार्य यशोनिधिका नाम उल्लिखित है।

सत्रहवी शताब्दी—आचार्य धर्मकीर्तिने सन् १६१२ मे मालवामें पद्मपुराणकी रचना की थी। इन्हींके हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिके अनुसार इसके गुरु आचार्य ललितकीर्तिका भी मालवामे विहार हुआ था। ललितकीर्तिका सन् १६१८ का एक मूर्तिलेख राणोद (शिवपुरीके समीप) तथा धर्मकीर्तिका सन् १६२४ का एक मूर्तिलेख सोनागिरिमें प्राप्त हुआ है।[3] वहांके सन् १६१४ के एक मूर्तिलेखमें आचार्य लक्ष्मीसेन प्रतिष्ठापकके रूपमे उल्लिखित हैं। आचार्य केशवसेनने सन् १६३१ मे मालवामे कर्णामृतपुराणकी रचना की थी। इनकी और आचार्य विश्वकीर्तिकी चरणपादुकायें सोनागिरिमें ही सन् १६४४ में स्थापित हुई थी। यहींके सन् १६५१ तथा सन् १६९० के लेखोसे आचार्य विश्वभूषण द्वारा वहां मन्दिर निर्माण और मूर्तिस्थापनाका पता चलाता है।[4] इसी प्रकार पपौराके सन् १६५१ के तथा अहारके सन् १६५३ के मूर्तिलेखोंसे प्ररिष्ठापक आचार्य सकलकीर्तिका उल्लेख है।[5] यह भी पता लगता है कि आचार्य सुरेन्द्रकीर्तिने ग्वालियरमें सन् १६८३ में रविव्रत कथाकी रचना की थी।[6]

अठारहवी सदी—सोनागिरिके विभिन्न मूर्तिलेखोंसे ज्ञात होता है कि वहांके प्रतिष्ठापक आचार्य और उनके ज्ञात वर्ष निम्न प्रकार हैं कुमारसेन और देवसेन, १७०३, वसुदेवकीर्ति, १७५५, महेन्द्रभूषण और देवेन्द्रकीर्ति, १७३२, देवेन्द्रभूषण, १७८० एव महेन्द्रकीर्ति, १७९९।[7]

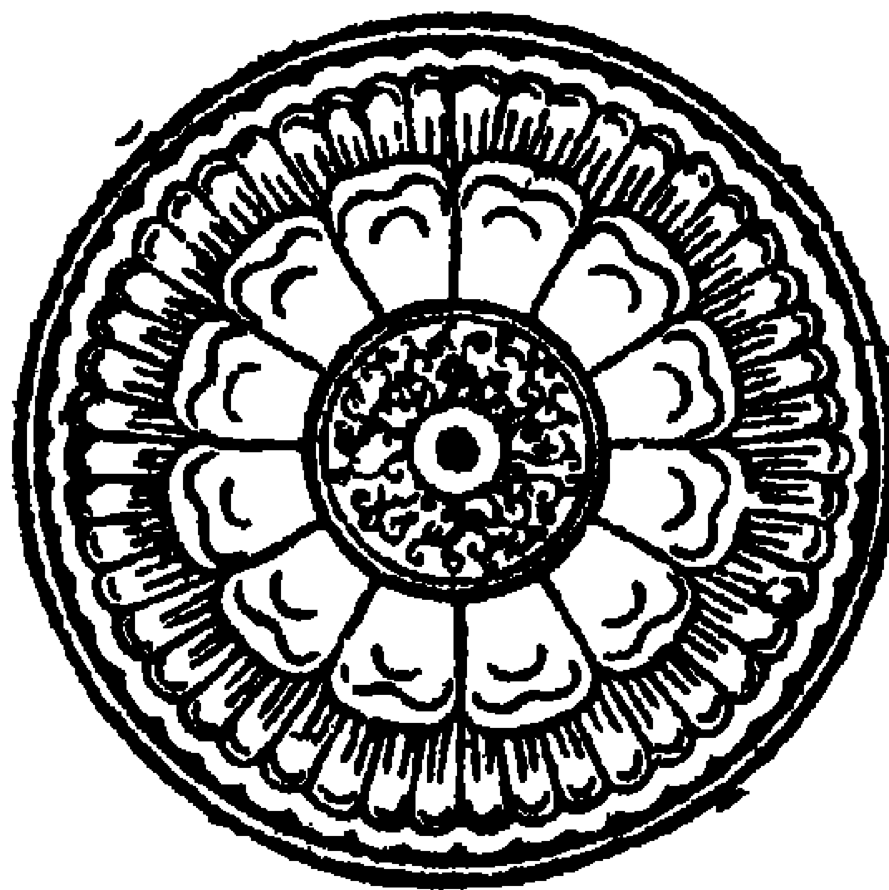
मानपुरा (जिला मन्दसौर)में सन् १७३० में आचार्य देवचन्द्र पट्टाधीश हुये थे, ऐसा एक पुराने पत्रसे ज्ञात होता है।[8] इसी प्रकार हालमे ही प्रकाशित एक लेखसे ज्ञात होता है कि छतरपुरमें सन् १७८३ में आचार्य जिनेन्द्रभूषणने एक मन्दिरकी प्रतिष्ठा करवाई थी।[9]

उन्नीसवी शताब्दी—[10] सोनागिरिके उन्नीसवी शताब्दीके लेखोसे भी अनेक आचार्योंके नाम और मूर्तिस्थापना वर्ष निम्न प्रकार ज्ञात होते हैं विजयकीर्ति १८११, सुरेन्द्रभूषण १८३७, राजेन्द्रभूषण

१ जैनशिलालेखसग्रह, भा० ५, पृ० ८२, ९३
२ जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह, भा० १, पृ० ३६, ३७, जैनशिलालेखसग्रह, भा० ५, पृ० १०१, १०३
३ जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह, भाग १, पृ० ५७
४ जैनशिलालेखसग्रह, भाग, ५, पृ० १०४, १०५
५ अनेकान्त, वर्ष ३, पृ० ४४५ एव वर्ष १०, पृ० ११५
६ भट्टारकसम्प्रदाय, पृ० ११८
७ जैनशिलालेखसग्रह, भा० ५, पृ० १०७, १०९
८ भट्टारकसम्प्रदाय, पृ० १६५
९ जैन सन्देश, २८ अप्रैल ७७
१० जैनशिलालेखसग्रह, भाग ५, पृ० ११०, ११४

१८५६, चारुचन्द्रभूषण १८६६, शीलेन्द्रभूषण १८७३ एवं लक्ष्मीसेन १८७४। इनमेंसे सुरेंद्रभूषण द्वारा सन् १८२२ में जबलपुरके समीप पनागरमें भी मूर्तिप्रतिष्ठा हुई थी, ऐसा वहाँके मूर्तिलेखोके द्वारा ज्ञात होता है। इसी प्रकार चारुचन्द्रभूषण द्वारा सन् १८६६,१८६७ एव १८६९ में जबलपुरके हनुमानताल मन्दिरमें मूर्ति-प्रतिष्ठायें की गई थी। ऐसा वहाँके लेखोंसे ज्ञात होता है। पनागरके कुछ अन्य मूर्ति लेखोंसे ज्ञात होता है कि वहाँ सन् १७९७ में आचार्य नरेन्द्रभूषण द्वारा तथा सन् १८३८ में आचार्यभूषण द्वारा भी प्रतिष्ठायें हुई थी। हनुमानताल मन्दिर, जबलपुरके कुछ मूर्तिलेखोमें सन् १८३४,१८३९ तथा १८४० की प्रतिष्ठाओ-में आचार्य हरिचन्द्रभूषणका नाम भी उपलब्ध होता है।[1]

इस प्रकार मध्यप्रदेशके विभिन्न क्षेत्रोके प्रकाशित इतिहास-साधनोंसे ज्ञात ९० जैन आचार्योंके उल्लेखोकी यह सक्षिप्त सूची है। इसमें मालवा क्षेत्रके ४५, ग्वालियर क्षेत्रके ३०, छतरपुर क्षेत्रके ८ तथा जबलपुरके क्षेत्रके ७ उल्लेख हैं। प्रयोजनकी दृष्टिसे देखा जाय, तो २० उल्लेख ग्रन्थरचना सम्बन्धी, ४० मूर्तिप्रतिष्ठा सम्बन्धी एव अन्य ३० सामान्य रूपसे विहारके विषयमें हैं। इनके समुचित अध्ययन एव सकलनसे मध्यप्रदेशमें जैनधर्म और सस्कृतिके विकासका इतिहास जाननेमें पर्याप्त सहायता मिलती है।



१. जबलपुर और पनागर के मूर्तिलेख हमने स्वय देखे हैं।

महिलायें, जैन संस्कृतिको सेवामें

पद्मश्री सुमति बाई शाहा, शोलापुर

मानव जातिमें स्त्रीका स्थान

मानव समाजकी रचनाओंमें स्त्री व पुरुष-दोनोका स्थान समान है। स्त्री और पुरुष-दोनोके अस्तित्व से ही समाजकी कल्पना पूरी हो सकती है। इन दोनोमेंसे किसी भी एक घटकको अधिक महत्त्व दिया जा सकता है पर एक घटकको महत्त्व देने वाला समाज, समाजके मूलभूत अर्थोमें पूरा नही हो जाता। स्त्री और पुरुष विश्वरथके दो मूलभूत आधार स्तम्भ हैं। इसीलिए समाजमें स्त्रीका स्थान पुरुषोके बराबर अभिन्न, सहज एव स्वाभाविक मानना ही उचित है। स्त्री समाज रचना और समाजिक प्रगतिके लिए सहकार्य करने वाली है।

जैनधर्म और नारी

जैनधर्ममें पुराने मूल्योंको बदलकर उसके स्थान पर नये परिष्कृत मूल्योकी स्थापनाकी गई है। जैन धर्मकी दृष्टिसे नर और नारी दोनोका समान स्थान है। न कोई ऊँचा है न कोई नीचा। श्रावक व्रत धारण करनेका जितना अधिकार श्रावकका बताया है, उतना ही अधिकार श्राविकाका बताया है। पति-पत्नी, दोनो को ही, भगवान् महावीरके सघमें, महाव्रतोकी साधनाका अधिकार दिया गया है। जैनशास्त्रोमें नारी जातिको गृहस्थ जीवनमें धम्मसहाया (धर्मसहायिका), धर्मसहचारिणी, रत्नकुक्षधारिणी, देव-गुरुजन (देव-गुरुजनकाक्षा) इत्यादि शब्दोंसे प्रशसित किया गया है।

भारतकी नारी एक दिन अपने विकासक्रममें इतने ऊँचाई पर पहुँच चुकी थी कि वह सामान्य मानुषी नही, देवीके रूपमें प्रतिष्ठित हो गई थी। उसकी पूजासे कर्मक्षेत्रमें ही स्वर्गके देवता रमण करके प्रसन्न होते थे। इस युगमें उसे पुरुषका आधा हिस्सा मानते हैं, पर उसके बिना पुरुषका पुरुषत्व अधूरा रहता है, ऐसा माना जाता है।

मैं अपने इस लेखमें आपको इतिहासमें और आधुनिक कालमें जैन महिलाओ द्वारा किये गये असामान्य कार्योंका, वीरागनाओके शौर्यका तथा श्राविकाओंके निर्माण किये हुये आदर्शका अल्प परिचय देने वाली हूँ।

भगवान् ऋषभनाथका स्थान

भारतीय सस्कृतिके प्रारम्भसे ही जैनधर्मकी उज्ज्वल परम्पराओंका निर्माण हुआ है। भगवान् आदिनाथने अपने पुत्रोंके साथ ही कन्याओको भी शिक्षण देकर सुसस्कृत बनाया। भगवान् आदिनाथके द्वारा जैन महिलाओको सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्रमें दिये हुये इस समान स्थानको देखकर नारीके विषयमें जैन समाज प्रारम्भसे ही उदार था, ऐसा लगता है। नारीको अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक विकासकी सन्धि पहिलेसे ही प्राप्त हो गई थी। इसी कारण जैन सस्कृतिके प्रारम्भसे ही उच्च विद्या विभूषित और शीलवान् जैन नारियोंकी परम्परा प्रारम्भसे ही शुरू हो गई है। भगवान् ऋषभदेवने अपनी ब्राह्मी और

सुन्दरी दोनोंको उच्च शिक्षाकी प्रेरणा दी थी। इससे स्पष्ट है कि उस समय नारीको पुरुषके समान शिक्षा लेनेकी सुविधा थी। ब्राह्मी और सुन्दरी—इन दोनों कन्याओंने अंकविद्या और अक्षरविद्यामें प्रावीण्य प्राप्त किया था। अपने पिताके धीर, गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण व्यक्तित्वका प्रतिबिम्ब उनके मन पर पड़ा था। अपने बन्धु भरतकी अनुमतिसे इन दोनोंने भगवान् ऋषभदेवसे ही आर्यिका व्रतकी दीक्षा ले ली और ज्ञानसाधना की। उनके द्वारा प्रस्थापित किये चतुर्विध संघके आर्यिकासंघकी गणिनी (प्रमुख) आर्यिका ब्राह्मी ही थी। राजव्यवहारकी उन्हें पूर्ण जानकारी थी।

कुछ जैन स्त्रियोंने विवाहपूर्व और विवाहके बाद युद्धभूमि पर शौर्य दिखाया। पजिरीके सभिध राजाकी राजकन्या अर्धांगिनीने खारवेल राजाके विरुद्ध किये गये आक्रमणमें उसको सहयोग दिया। इतना ही नहीं, उसने इस युद्धके लिये महिलाओंकी स्वतन्त्रसेना खडीकी थी। युद्धमें राजा खारवेलके विजय पाने पर इसने उनका अर्धाङ्गिनी पद स्वीकार किया। वह धर्मनिष्ट और दानवीर थी, ऐसा स्पष्ट उल्लेख शिलालेखमें मिलता है। गग घरानेके सरदार नामकी लडकी और राजा विरवर लोकविद्याधरकी पत्नी सामिमबबे युद्धकी सभी कलाओंमें पारगत थी। सामिमबबेके मर्मस्थल पर बाण लगनेसे इसे मूर्च्छा आ गई और भगवान् जिनेन्द्रका नाम स्मरण करते-करते उसने इहलोककी यात्रा समाप्त की। विजय नगरके राज्यकी सरदार चम्पा की कन्या राणी भैरव देवीने विजयनगरका साम्राज्य नष्ट होनेके बाद अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और उसे मातृ-सत्ताक पद्धतिसे कई बरसो तक चलाया। नाजलकोड देशके अधिकारी नागार्जुनकी मृत्युके बाद कदम्बराज अकालवर्षने उनकी देवी वीरागना अक्कमबके कन्धे पर राज्यकी जिम्मेदारी रक्खी। आलेखोंमें इसे युद्ध-शक्ति-युक्ता और जिनेन्द्र-शासनभक्ता कहा गया है। अपने अन्तकाल तक उसने राज्य की जिम्मेदारी सम्भाली।

गग राजवशकी अनेक नारियोने राज्यकी जिम्मेदारी सम्भाल कर अनेक जिन मन्दिर व तालाब बनाये। उनके देखभालकी व्यवस्था की। धर्मकार्योंमें बडे दान दिये। इन महिलाओंमें चम्पला राणीका नाम सर्व प्रथम लिया जाता है। जैनधर्मकी सर्वाङ्गीण उन्नति और प्रसादके लिये उसने जिन भवनोका निर्माण किया। श्रवणबेलगोलके शिलालेख क्रमाक ४९६ से पता चलता है कि जीक्कमबे शुभचन्द्र देवकी शिष्या थी और योग्यता और कुशलतासे राज्य करनेके साथ ही धर्म प्रचारके लिये भी उसने अनेक जैन प्रतिमाओकी स्थापना की थी।

जैनधर्ममे कन्याओंका स्थान

आदिपुराण, पर्व १८ श्लोक ७६ के अनुसार इस कालमें पुरुषोके साथ ही कन्याओके विविध सस्कार किये जाते थे। राज्य परिवारकी लडकियोंकी स्थिति तो कई गुनी अच्छी थी। कन्या पिताकी सम्पत्तिमेंसे दान भी कर सकती थी। सुलोचनाने अपनी कौमार्यावस्थामें रत्नमयी जिनप्रतिमाकी निर्मिति की थी और उनकी प्रतिष्ठा करनेके लिए पूजाभिषेक विधिका भी आयोजन किया था। कन्यायें पढ़ते समय अनेक विषयोंका ज्ञान प्राप्त करती थी और वे अपने पिताके साथ उपयुक्त विषयो पर चर्चा भी करती थी। वज्जदंत चक्रवर्ती अपनी लडकीके साथ अनेक विषयों पर चर्चा करता था।

विवाह और विवाहोत्तर जीवन

विवाह स्त्रीके जीवनमें महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती थी। उस वक्त आजन्म अविवाहित रहकर समाजसेवा और आत्म-कल्याण करनेकी भी अनुज्ञा थी। विवाहको धार्मिक एव आध्यात्मिक एकताके लिये स्वीकार किया हुआ बन्धन माना जाता था।

मथुराके राजा उग्रसेनकी कन्या राजुलमतीका विवाह यदुवंशीय श्रीकृष्णके बन्धु नेमिनाथके साथ निश्चित किया गया था। अपने विवाहके समय होने वाली पशुहत्याको देखकर अन्तर्मुख बनकर नेमिनाथने दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करनेका निश्चय किया। राजुलमतिने मनसे उनके साथ विवाह बद्ध होनेसे दूसरेसे विवाह करना निषिद्ध माना और आर्यिकाकी दीक्षा लेकर अपने पतिके मार्ग पर चलनेका निश्चय किया। उसने जैन समाजके सामने यह आदर्श रक्खा है।

वैवाहिक जीवनका महत्त्व

विवाह पूर्व अवस्थामें स्त्री व पुरुष भिन्न कुटुम्बके प्रतिनिधि होते हैं। विवाहके बाद ही उनके जीवनका पूरी तरहसे आरम्भ होता है। आदर्श गृहिणी बनकर सुखद गृहस्थ जीवन निर्माण करना स्त्रीके जीवनका उच्च ध्येय है। आदर्श गृहिणी कुटुम्ब, देश, समाज और कालकी भूषण मानी जाती है। विवाहके बाद स्त्री-पुरुष परस्पर सहकारी होते है। गृहस्थाश्रमको स्वीकार कर अपने कुल, धर्म, स्थितिको सोचकर मर्यादित जीवन व्यतीत करना, यही आदर्श पतिका कर्तव्य है। अशान्त स्त्री अपने असन्तोषके साथ ही स्वगृहकी शान्ति नष्ट करती है। स्त्रीको शांति, स्नेह, शक्ति, धैर्य, क्षमा, सौन्दर्य और माधुर्यका प्रतीक माना गया है। गृहस्थाश्रममें उसे गृहलक्ष्मी कहकर घरकी सब जिम्मेदारी उस पर सौंप देते है। अतिथिका स्वागत करना, धर्मकार्यका पालन करना, सुश्रुषा करना और शिशुपालन—ये तो उसके जीवनके आदर्श माने गये है। अनेक जैन महिलाओने इन आदर्शोंके पालनमें अपने उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

उज्जैनी नगरके पहुपाल राजाकी सुशिक्षित कन्या मैना सुन्दरीका विवाह निर्जन वनमें रहने वाले कुष्ठरोगी चंपापुरके नरेश श्रीपाल कोटीभट्के साथ किया गया। लेकिन मैनासुन्दरीने इस घटनाके लिये अपनी कर्मगतिको कारण समझकर अपने पतिकी सेवासुश्रुषा की। अनेक कष्ट शांतिसे सहन किये। पंचाणुव्रत ग्रहण किये। अष्टाह्निक पर्वके उपोषण करके सिद्ध चक्रकी यथाशक्ति पूजा की। उसके बाद श्रीपालके शरीर पर गधोदक लगाते ही वह कुष्ठ मुक्त हो गया। अपने सामर्थ्यसे उसने अपने राज्यको फिरसे प्राप्त किया। सुखोपभोग किया और वृद्धकालमें राज्यकी जिम्मेदारी अपने लडकेको सौंपकर मुनिदीक्षा ली। मैनासुन्दरीने भी आर्यिका व्रत ग्रहण किया। उसने अपने असामान्य उदाहरणसे जैन महिलाओके सामने जीवनभर छायाकी तरह पतिके साथ रहना, उसके सुख-दुखमे सहभागी होना, धर्म कार्यमे उसका सहकार्य करना, वैभव कालमें उसका आनन्द दुगुना करनेका यत्न करना, पतिकी सखी बनकर उसके जीवनमे चैतन्य निर्माण करना—ये आदर्श रक्खे है।

पतिनिष्ठा, पवित्रता और सहनशीलता—ये गृहस्थाश्रमीके आदर्श कर्तव्य माने गये है। महेन्द्रपुरी-की राजकन्या और पवनकुमारकी पत्नी अजन्ताने विवाहके बाद बारह साल विरह सहन किया। उसके बाद पतिका मिलन उसके जीवनमें आनन्द निर्माण करने वाला था। किन्तु उसपर चारित्रका संशय करके उसको घरसे निकाल दिया गया। बिना सहारे अनेक कष्टोंके साथ सहन-शीलतासे और नीतिधर्मका पालन करके उसने अपना जीवन बिताया जिससे उसे अपना खोया हुआ आनन्द फिरसे प्राप्त हो गया। सीताका आदर्श तो महान आदर्श है। रावण जैसे प्रतापी वैभवसम्पन्न पुरुषके अधीन रहकर भी उसने अपना मन एक क्षण भी विचलित नही होने दिया। उसके कारण वह अग्निदिव्य बन सकी। पतिके त्यागने पर भी बनमें जीवन बिताते समय उसने रागद्वेषके स्थान पर मधुर हास्य, घबराहटके स्थान पर प्रसन्नता और खेदके स्थान पर उल्लास प्रकट किया, वही उसका आदर्श है। मृगुकच्छ नगर के श्रेणी जिनदत्त नामक धर्म-शील श्रावककी सालीको विवाहके बाद घरसे बाहर निकाल दिया गया। तथापि इस अवस्थामें भी उसने

जैनधर्म पर अपनी निष्ठा कम नहीं की। उसीसे आगे चलकर उसका महत्व सिद्ध हो गया और उसे कुटुम्बमें, समाजमें आदरणीय स्थान मिला।

मातृत्वका महत्व

स्त्रीके सभी गुणोंमें मातृत्वको बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसी गुणसे उसे समाजमें आदर्श गुरु माना गया है। आचार्य मानतुगके अनुसार ससारकी सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों पुत्रोंको जन्म देती हैं लेकिन भगवानके समान अद्वितीय पुत्रको जन्म देने वाली माता तो अद्वितीय ही है। सूर्यकी किरणोकी अलग-अलग दिशायें होती हैं लेकिन सूर्यका जन्म एक ही दिशामें—पूर्वमें ही होता है।

आचार्यका यह श्लोक मातृत्वके श्रेष्ठत्वका विश्लेषण करने वाला है। माँ अपने पुत्रको जन्म देनेके बाद उसका पालन-पोषण और सरक्षण भी करती है। हृदयमें पैदा होने वाले वात्सल्यकी भावनासे माता कठिन प्रसव वेदना भी सुसह्य मानती है। इसी कारण मानव जीवनमें, समाजमें और ससार रचनामें नारीको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ससारके अनेक प्रसिद्ध नेताओंका व्यक्तित्व बनानेका कार्य उनकी माताओंने किया है। नेपोलियन, हिटलर, छत्रपति शिवाजी और महात्मा गान्धीके असमान्य जीवनके लिये उनकी माताओंका योगदान ही कारण है। ससारके सर्वस्व त्याग, समस्त प्रेम, सर्व श्रेष्ठ सेवा और सर्वोत्तम उदारता 'माँ' नामक अक्षरमें भरी हैं। मातृत्वके इस एकमेवाद्वितीय विशेषत्वसे ही समाजने नारीको प्रथम वन्दनीय माना है।

धर्मनिष्ठ नारी

कर्तव्यनिष्ठाके साथ ही धर्मनिष्ठामे भी जैन नारियाँ प्रसिद्ध हैं। जैन नारीने जैनधर्मतत्त्वके अनुसार सिर्फ आत्मोद्धार ही नही किया, अपितु अपने पतिको भी जैन धर्मका उपासक बनाया है और अपने लडके लडकियोको सुसस्कारित और आदर्श बनानेका यत्न किया है। लिच्छिविवंशीय राजा चेटककी सुपुत्री चेलनाने अपने पति मगधदेशके नरेश श्रेणिकको जैनधर्मका उपासक बनाया। उसके अभयकुमार और वारिषेण नामक दोनो पुत्रोने सासारिक सुख और वैभवका त्यागकर आत्मसाधनाके लिये अनेक व्रतोका पालन किया। कर्नाटकके चालुक्य नरेशको उसकी पत्नी जाकलदेवीने जैनधर्मानुयायी बनाया और उसके प्रसारके लिये प्रेरणा दी।

अनेक शिलालेखोमें जैन नारीके द्वारा जिनमन्दिर बनानेकी जानकारी मिलती है। इन मन्दिरोंके पूजोत्सव आदिका प्रबन्ध भी उनके द्वारा किया जाता था। कलिंगाधिपति राजा खारवेलकी रानीने कुमारी पर्वत पर जैन गुफा बनाई। सीरेकी राजाकी पत्नीने अपने पतिका रोग हटानेके लिये और शरीर स्वस्थ होनेके लिये अपनी नथका मोती बेचकर जिनमन्दिर और तालाबकी रचना की। आज भी यह मन्दिर 'मुत्तनकेरे' नामसे प्रसिद्ध है। आहवमल्ल राजाके सेनापति मल्लमकी कन्या अत्तिमब्बे जैनधर्म पर श्रद्धा रखने वाली और दानशूर थी। उसे ग्रन्थोमें दानचिन्तामणि कहकर उल्लिखित किया गया है। उसने चादी और सोनेकी हजारों जिनमूर्तियां बनवाई। लाखों रुपयोंका दान दिया। जबलपुरमें पिसनहारीकी मढिया नामक जैन मन्दिर है। एक जैन नारीने आटा पीसकर जो रकम कमाई, उससे यह मन्दिर बना है। कितना असामान्य, अनोखा आदर्श है यह। मथुराके शिलालेखसे पता चलता है कि जैन नारियोंने ही जैनमन्दिर और कलात्मक शिल्प बनानेमें नेतृत्व किया था।

अनेक जैन नारियोंने आर्यिकाका व्रत लिया, कठोर तपश्चर्या की, मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेका यत्न किया। जम्बुस्वामीके दीक्षा लेनेके बाद उनकी पत्नीने भी दीक्षा ली। वैशालीके चेटक राजाकी

कन्या चन्दनाने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर भगवान् महावीरसे दीक्षा ली और आर्यिका व्रतका अनुष्ठान किया। वह महावीरके ३६ हजार आर्यिकाओंके संघमें गणिनी बनी। पम्बब्बे नामकी कर्नाटककी नारीने तीस साल तपश्चरण किया। विष्णुवर्धन राजाकी रानी शातल देवीने ११२३ में श्रवणबेलगोलमें भगवान जिनेन्द्रकी विशालकाय प्रतिमा स्थापित की तथा कुछ काल तक अनशन और ऊनोदर व्रतका पालन किया।

साहित्य क्षेत्रमें कार्य

अनेक जैन नारियोंने लेखिका और कवियित्रीके रूपमें साहित्यके क्षेत्रमें योगदान दिया है। १५६६ में रणमतिने यशोधरकाक नामका काव्य लिखा। आर्य रत्नमतीकी समकितरास एक हिन्दी-गुजराती मिश्र काव्यकी रचना है। कर्नाटकमें साहित्यके क्षेत्रमें उज्ज्वल नाम कमाने वाली कन्ती प्रसिद्ध है। उसे राजदरबारमें ही सम्मान और उच्च पद मिला था। महाकवि रत्नने अपनी अमरकृति अजितनाथपुराण-की रचना दान-चिंतामणि अतेतेमब्बेके सहकार्यसे ही ९८३ में की। श्वेताम्बर पथकी सूरिचरित्र लिखने वाली गुणसमृद्धि महत्तराके चारुदत्तचरित्र लिखने वाली पद्मश्री, कनकावती आख्यान लिखने वाली हेमश्री नामके महिलायें प्रसिद्ध हैं। काव्यक्षेत्रमें प्रतिभा सम्पन्न साहित्य निर्माणका महत्वपूर्ण कार्य अनेक जैन महिलाओंने किया है। उदाहरणके लिये अनुलक्ष्मी, अवन्ती सुन्दरी, माधवी आदि प्राकृत साहित्यकी पूरक कवियित्रियाँ हैं। उनकी रचनायें जीवन दान, प्रेम, संगीत, आनन्द और व्यथा, आशा और निराशा, उत्साह आदि गुणोंसे भरी हुई है। इसके अलावा नृत्य, गायन, चित्रकला, शिल्पकला आदि क्षेत्रोमें भी जैन महिलाओ ने असामान्य प्रगति की है। प्राचीन ऐतिहासिक कालमें जैन नारीने जीवनके सभी क्षेत्रोमें अपना सहयोग दिया है। समाज भी उसकी ओर सम्मान की दृष्टिसे देखा था। समाजने नारीको उसकी प्रगतिके लिये सब सुविधायें दी थीं। पुरुष और नारीमें सामाजिक सुविधायें मिलनेकी दृष्टिसे अन्तर नही था।

नारीकी गुलामीका प्रारम्भ

मध्ययुगके विदेशी शासकोंके आक्रमणके साथ समाजने स्त्रियो पर अनेक बन्धन लगाये। घरकी दीवारोंके बाहरकी हवा लगनेमें धर्म भ्रष्ट होनेका डर उसके मनमें निर्माण किया। इसी कारण शिक्षा, धर्म, संस्कार, तत्वज्ञान आदिमें नारी बहुत पीछे हो गई। व्यवसायके क्षेत्रमें नारीका प्रवेश रोका गया।

आधुनिक कालमें भारतीय नारी का स्थान

जब भारतीय सविधानकी रचनाकी गयी, तब उसमें स्त्रियोंको सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रोंमें पुरुषोंकी बराबरीका स्थान देनेकी घोषणा की गई। इससे लगने लगा कि स्त्रीजाति स्वतन्त्र हो गयी है, उसकी दुरवस्था समाप्त हो चुकी है। उसे शासन और नौकरियोंमें पुरुषोके समान भान मिलने लगा है। पर असीम दारिद्रय, अज्ञान, रुढियों व परम्पराओंने इस मान्यताको निष्प्रभ कर दिया है। यहाँ तक कि आज भी सुशिक्षित व्यक्ति अपनी विधवा हुई पुत्रवधूका धर्म और परम्पराके नाम पर मुण्डन करा कर उसका चेहरा विद्रूप कर डालनेकी हिम्मत कर जाता है। काम देनेके बहाने आदिवासी युवतियोको फुसला कर बेच डालने वाले मनुष्य रूपी भेडिये आज भी इस समाजमें मिल जाते हैं। गाँवोंमें नौकरी करनेके लिये आयी हुई महिलाओं पर इन समाजकंटकों द्वारा आज भी अत्याचार किया जा रहा है। क्या यही वह समानता है जिसका सविधानमें गुण गाया गया है।

हजारों वर्षोंसे चली आ रही इस पुरुषप्रधान समाज रचनाकी जड़ें बडी गहरी हैं। धार्मिक रुढ़ियों और पुरानी मान्यताओंके अज्ञानी पुरुषोंकी 'स्त्री स्वातन्त्र्यके योग्य होती नहीं' की विचारधारा आसानीसे

नष्ट नहीं हो सकती है। भारतमें २६ करोड स्त्रियोंमेंसे केवल १८.७ प्रतिशत स्त्रियाँ पढ़ी लिखी हैं पर वे भी रुढियोंकी दास बनी हुई हैं। भारतमें आज भी लडकीके पैदा होने पर कोई खुशी नहीं मनाई जाती। बेटी पैदा होते ही उसे देनेके लिये जिन्हें दहेजकी चिन्ता होने लगती हो, उन्हें उसके जन्मकी खुशी भी कैसे होगी ? लडकीका पालन-पोषण तो करना ही पडता है। पर उसके साथ लडके की तुलनामें हीन बर्ताव किया जाता है। लडकीको तो मेहनती, सेवाभावी और दयालु बनानेकी चेष्टा की जाती है। लडकीके लिये विवाह माँ-बापके घरकी अन्तिम सीढी होती है। विवाह होते ही माँ-बापका नाम हटाकर उसे पतिके सामने समर्पण कर देना पडता है। फिर पतिका वंश चलाते हुये उसकी सेवा करना, यही उसका कर्त्तव्य रह जाता है और यह होती है उसकी विकासकी अन्तिम सीढ़ी, फिर चाहे वह शिक्षित हो, अशिक्षित हो, गरीब हो या अमीर हो। विवाह आपसी सम्बन्धोमें मिलने वाले सुखके लिये किया जाता है, पर यह सुख स्त्रियोको बडा महगा पडता है। कर्त्तव्यका पहाड सामने होता है। उन्हें यह पहाड पार करना ही पडता है। इतना करने पर भी स्त्री पुरुषकी गुलाम मानी गयी है और उसे पुरुषकी श्रेष्ठताको स्वीकार करना ही चाहिये, ऐसा माना जाता है। वास्तवमें, विवाह होनेके बाद पति तो बाहर नौकरी पर जाता है और पत्नी घर सम्भालती है। रसोई आदिकी व्यवस्था करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि विवाह दोनोंकी भागीदारीका बन्धन है और अकेले पति या दोनोकी कमाई पर दोनोका एक दूसरे पर हक होना चाहिये। पर मध्यम वर्गीय या उच्च मध्य वर्गीय परिवारोंमें भी पुरुषकी कमाई पर स्त्रीका कोई हक नहीं माना जाता। गरीबोकी तो बात ही दूर हैं। विवाहके उपरान्त बच्चोके पालन-पोषणके लिये माँ कितना भी कष्ट उठाती हो, उसे कोई नाम नही मिलता। पैदा होनेके दिनसे मरनेके क्षण तक स्त्री निरपेक्षा सेवापरायण रहती है।

भारतमें २६ करोड स्त्रियोमेंसे करीब सात लाख स्त्रियाँ ही स्नातक हैं और तीस लाख मेट्रिक पास हैं। इनमें भी शिक्षित कही जाने योग्य स्त्रियोकी संख्या तो केवल दस लाख ही होगी। स्नातकोमें केवल बीस प्रतिशत स्त्रियोके पास नौकरियाँ हैं। तीस लाख मैट्रिक पास स्त्रियोंमेंसे केवल पाँच प्रतिशत स्त्रियोंको नौकरी है। मध्यवर्गीय स्त्रीको आर्थिक परिस्थितिके कारण नौकरी करना आवश्यक हो गया है। लेकिन पुरुषोंके समान स्त्रियोको नौकरीकी सुविधा नही मिलती है। विवाहित स्त्रियोको नौकरी प्राय नहीं मिलती है। उन्हें उच्च स्तरके पदो पर नियुक्त नही किया जाता। नौकरीमें सुरक्षाका प्रबन्ध नही, वि ेषकर ग्रामीण भागमे उन्हे कठिनाइयोका सामना करना पडता है।

नौकरी करने वाले पुरुषोको जो आदरभाव घरमें मिलता है, वह स्त्रियोको नही मिलता। नौकरी करनेके बाद घरमें आने पर उसे वे सभी काम करने पडते हैं, जो सामान्य स्त्रियाँ करती है। बल्कि उससे ज्यादा कामकी अपेक्षा की जाती है। नही तो, उसका सुशिक्षित होना निन्दास्पद करार दिया जाता है। कुछ पुरुष तो स्त्रीको केवल उपभोगकी वस्तुमात्र समझते हैं। फिल्मोंमें, नाटकोंमें, होटलोंमें कलाके नाम पर स्त्रियोको जिस रूपमें पेश किया जाता है, उसे देखकर लगता है कि स्त्री पुरुषोंके लिये दिल बहलानेका खिलौना मात्र है। हजारो वर्षकी यह परम्परा स्त्री एकाएक नही तोड सकती। यदि कुछ स्त्रियाँ हिम्मत भी करें, तो रूढ़िवादी स्त्रियाँ उन्हें उच्छृङ्खल, बदचलन कहकर उनका तिरस्कार करती हैं। इस प्रकार गुलामीकी यह परम्परा कहीं टूट नहीं जाये, इसलिये शालीनता, आज्ञाकारिता, विनयशीलता, त्याग, परिश्रमशीलता, सहनशीलता, चरित्रसम्पन्नता, सतीत्व जैसे सब गुण अपनेमें लाना स्त्रीका परम कर्त्तव्य माना गया है। इन गुणोसे सम्पन्न होकर वह पुरुषके लिए प्रशसनीय बने, उसकी सेवामें अपना सर्वस्व लूटा दे, यही शिक्षा परम्परागत रूपसे उसे मिली है।

आज सभी क्षेत्रोंमें पुरुषोंके बराबर काम करने पर भी वह स्त्रीको हीन दृष्टिसे देखता है। मैं यह

नही कहना चाहती कि स्त्रियाँ पुरुष विरोधी आन्दोलन करें या मोर्चे निकालें। मैं केवल यह चाहती हूँ कि स्त्रियाँ अपने क्रान्तिकारी विचारों और कार्योंके द्वारा पुरुषोंके मनमें स्त्रीके प्रति जो हीन भावना है, उसे दूर करें। उसके बाद ही वे स्त्रीके अस्तित्वके विकास पर विचार करनेके लिए तैयार हो सकते हैं। पुरुषके इस वर्चस्वसे छुटकारा पानेके लिये स्त्रियोंको पुरुषके मनमें स्त्रीजातिके प्रति समानता और मित्रताकी भावना पैदा करनेका यत्न करना होगा। परम्परागत रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास, स्वयके प्रति हीन भावना तथा गुलामी वृत्तिको छोड़कर उसे अपने विकासके लिये स्वय सन्नद्ध होना होगा। परन्तु इसके लिये इस पुरुष प्रधान समाजका भी कर्तव्य हो जाता है कि वह स्त्रियोके विकासमार्गमें जो कठिनाइयाँ है, उन्हें दूर करनेका यत्न करे। इस बीसवीं शताब्दीमे पुरुषोंके समान स्त्रियोको भी प्रत्येक क्षेत्रमें समान अधिकार मिलना आवश्यक है।

आधुनिक कालमें जैन नारीका कार्य

आधुनिक वैज्ञानिक युगमें जैन महिलाओंने अनेक क्षेत्रोमें महत्त्वपूर्ण कार्य किये है। सामाजिक, सास्कृतिक, राजकीय या धार्मिक क्षेत्रमें जैन महिलाओके मौलिक कार्योंके दर्शन होते है। यद्यपि जैन महिलाओंमें उच्च शिक्षित महिलाओंकी सख्या कम हो सकती है, तथापि जो सुशिक्षित महिलायें है, उन्होने अपनी शिक्षा का उपयोग जैन समाजके विकासके लिये किया है। इतना ही नही, आज अनेक महिलाओने पत्रकारिता, पुस्तक प्रकाशन, शोध और अध्ययनमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके लिये अनेक जैन विदुषियोके उदाहरण दिये जा सकते हैं।

बीसवी सदीकी जैन महिलाओमें श्रीमती रमा जैनका कार्य जैन समाज कभी विस्मृत नही कर सकता। साहित्यके क्षेत्रमें आपने हिन्दीकी जो सेवा की है, उसके लिये साहित्य जगत आपका सदैव ऋणी रहेगा। माधुरी, पराग, सारिका, दिनमान, धर्मयुग जैसी पत्रिकाओने गम्भीर व विचारपूर्ण साहित्यके कारण हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओकी पत्रिकाओमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया है। यह केवल आपके अपूर्व साहस व मार्गदर्शनका ही फल है। ज्ञानोदय और भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशनके माध्यमसे हिन्दीके वरिष्ठतम लेखको और चिंतकोंसे लेकर नये प्रतिभाशाली लेखक तक उनके साहित्यिकि परिवारके अग बन चुके हैं। इतिहासकार, पुरातत्त्वविद्, कलामर्मज्ञ, धर्मव्याख्याता और नाट्यकर्मी—सभीने भारतीय ज्ञानपीठके माध्यमसे साहित्य जगत्को अपने ज्ञानसे लाभान्वित किया है। हिन्दीके साथ सभी भारतीय भाषाओके वरिष्ठ लेखक आज एक साहित्यिक मच पर एकत्रित हुए हैं। यह सब श्रीमती रमा जैनकी निष्ठा और योजनाका ही परिणाम है। ज्ञानपीठ पुरस्कार उच्च साहित्यकारोके प्रति उनकी कृतज्ञताकी भावनाका द्योतक है। वे सास्कृतिक और सामाजिक सघटन, साहित्य, चित्रकला, रगमचकी नवीनतम गतिविधियोसे न केवल सम्पर्क बनाये रखती थी बल्कि प्रत्येक दिशामें हिन्दीकी प्रतिभाको खुला आकाश मिले, इसके लिए चुपचाप बिना किसी आत्मविज्ञापनके प्रयत्नशील रहती थी। इस प्रकार अत्याधुनिक हिन्दी साहित्यके विकासमे और प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थ प्रकाशनमें श्रीमती रमारानीका नाम स्वर्ण अक्षरोंमे अकित करने योग्य है।

मगनबाई ककुबाई और ललिता बाईने जैन नारी शिक्षणकी आधारशिला रखी, ऐसी कहा जाये, तो अनुचित नही होगा। नारी समाजका विकास शिक्षणकी प्रवृत्ति बढानेसे ही होगा, ऐसा उनका विश्वास था। बम्बईमें श्राविकाश्रमकी स्थापना, पददलित विधवाओके लिये वसतिगृह व शिक्षाकी सुविधा जैसे कार्य आपने किये। आजकी अनेक जैन शैक्षणिक सस्थायें, अस्पताल आदि ककुबाईके दातृत्व व नेतृत्वके कारण विकसित हुये हैं। श्रीमती कुसुमबेन शहा भारतीय जैन महामण्डलकी एक कार्यशील पदाधिकारी हैं। पूनामें कुसुमाश्रम तथा बम्बईमें श्रद्धानन्द महिलाश्रम उनके नेतृत्वसे ही प्रगति पथ पर है। आपके

मार्गदर्शनमें अन्य अनेक जैन संस्थायें भी गतिशील हैं। सेठ वालचन्द हीराचन्दकी धर्मपत्नी श्रीमती कस्तुरबाईका तो जैन और भारतीय समाज पर बड़ा एहसान है। उनके द्वारा निर्मित कस्तूर बाई ट्रस्टके द्वारा आज अनेक संस्थायें कार्यरत हैं। नाना भाई ठाकरसीके नामसे स्थापित विद्यापीठ स्त्रीशिक्षणके कार्यमें अग्रसर है। कर्वे महिला विद्यापीठकी कुलगुरु डा० माधुरी शहाका स्त्री शिक्षणमें योगदान है। क्षु० राजुलमती (शोलापुर) और चन्दाबाई आरा जैन समाजमें मशहूर समाजसेविकाएँ मानी जाती हैं। क्षु० राजुलमतीने विधवा स्त्रियोकी दीनतापूर्ण स्थिति और शिक्षाका अभाव देखकर सम्पूर्ण जीवन उनकी सेवामें अर्पण कर दिया। शोलापुरसे सुचारु रूपसे कार्यरत श्राविकाश्रम आज भी उनके महान कार्यका स्मारक है। आरामें जैन बालाविश्राम (चन्दाबाईके द्वारा स्थापित) आज स्त्रीशिक्षाका प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। चदाबाई एक कुशल लेखिका, पत्रकार, कवियित्री, समाजसुधारक एव सस्थासचालिकाके रूपमें प्रसिद्ध विदुषी महिला है। जैन महिलादर्श पत्रिकाका सम्पादन तथा अखिल भारतीय महिलापरिषद्का नेतृत्व और सस्थापकत्व आपका ही है। लालचन्द हीराचन्दकी स्नुषा सौ० सरयुबाई विनोदकुमार देशीने जैन कलाका गभीर अभ्यास करके पी०एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है। आज वे अमेरिकामें भारत कलाकी प्राध्यापिका हैं। डा० शाता भागवतके समान अनेक महिलाएँ भी पी-एच०डी० से विभूषित हो रही हैं और विभिन्न क्षेत्रो मे अपना यश अर्जित कर रही है।

जैन महिलाओमें शिक्षाके प्रसारके साथ-साथ नूतन साहित्य निर्माणमें भी अनेक विदुषी महिलाओंने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। साध्वी चन्दना दर्शनाचार्यने अनेक ग्रन्थोका लेखन और सम्पादन किया। उत्तराध्ययनसूत्र पर लिखे ग्रन्थसे उनकी विद्वत्ता और दर्शनशास्त्रके प्रभुत्वका पता चलता है। अमरचन्दजी महाराजकी प्रेरणासे राजगृहमें चल रहे वीरायतनके सचालनका कार्य भी आपने सभाला है। अहमदनगरकी साध्वी विदुषी उज्ज्वल कुमारी अपने अनेक ग्रन्थोंमें एक विदुषी लेखिकाके नामसे प्रसिद्ध हैं। विविध भाषाओका ज्ञान और अष्टसहस्री ग्रन्थकी भाषाकार आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी प्रसिद्ध लेखिकाओमें से है। विदुषी सुपार्श्वमती माताजी भी लेखिकाके रूपमें प्रसिद्ध हैं। कविता, नाटिका, नाटक, उपन्यास, इतिहास आदि अनेक साहित्यिक विषयों पर अधिकारसे लिखने वाली अनेक जैन महिलाएँ निरन्तर आगे बढ रही है। उदाहरणके लिये, सौ० सुरेखा शहाके उपन्यास मासिकोमें नियमित रूपसे प्रकाशित होते है। श्रीमती विद्युलताबाई शहा मुख्याध्यापिका और लेखिकाके रूपमें प्रसिद्ध हैं। श्रीमती कुमुदिनीबाई दोशी जैन बोधककी सम्पादिका होनेके साथ सामाजिक कार्योंमें आगे रहती है। आर्यिका विशुद्धमतीजीने त्रिलोकसार—जैसी सुलभ रचना उपलब्ध की है। श्रीमती रूपवती किरणकी अगणित कहानियो एव एकाकियोंसे कौन परिचित न होगा? डा० सूरजमुखीजी अपनी अल्पवयमें ही एक महिला महाविद्यालयकी प्राचार्य बनकर स्त्रीशिक्षाके क्षेत्रको नई दिशा दे रही हैं। डा० विमला चौधरी भी इसी कोटिकी एक अन्य सुमुख महिला हैं।

राजनीतिक क्षेत्रोंमें कई महिलाएँ अग्रसर रही हैं। उदाहरणके लिये, अलमे आक्काने राजकीय चुनावमें भाग लेकर आमदार पद विभूषित किया है। साथमें, वे श्राविकाश्रम (बम्बई) की सचालिका भी हैं। श्रीमती लेखवती जैन हरियाना विधान सभाकी अध्यक्षके नाते प्रसिद्ध हैं। पूना की आमदार सौ० लीलावती मर्चेंट, गुजरात राज्यकी शिक्षामन्त्री श्रीमती इन्दुमती सेठ, दिल्ली प्रदेश सभाकी अध्यक्षा श्रीमती ओमप्रकाश जैन आदि जैन महिलाएँ राजनैतिक क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। इन विदुषियोंके अतिरिक्त सौ० वासतीबाई शहा, डा० विजयाबाई पाभल (कोल्हापुर), चचलाबाई शहा (बम्बई), मजुलाबाई कारंजा—ये जैन महिलाएँ भी विभिन्न सामाजिक कार्य करनेमें अग्रसर रहती हैं।

सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रमें अनेक जैन महिलाओंने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सर-सेठ हुकुमचन्दजी की धर्मपत्नी श्रीमती कंचनबाईकी आर्थिक मददसे अनेक जैन संस्थाएँ चल रही हैं। दक्षिण भारतमें श्रीमती रत्नम्मा हेगड़ेके धार्मिक कार्य उल्लेखनीय हैं। धर्मस्थलमें ४१ फुटकी भगवान महावीरकी संगमर-मरकी मूर्ति आपने ही स्थापित की है।

औद्योगिक क्षेत्रमें भी जैन महिलाएँ पीछे नहीं हैं। आज अनेक कारखानोके व्यवस्थापनके पदो पर वे कार्य करती हैं। उदाहरणके लिये, श्रीमती सरयु दफ्तरी एक फैक्टरीका नियन्त्रण करती हैं। बम्बई और अनेक बड़े शहरोंमें जैन महिलाओंके द्वारा स्थापित छोटे-छोटे कार्यरत उद्योग हैं।

इसी प्रकार जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें जैन महिलाएँ कार्य कर रही हैं। अनेक महिलाओंमेंसे मैं परिचित हूँ परन्तु स्थानाभावसे यहाँ सबका उल्लेख सभव नही है। सक्षेपमें, जैन महिलाओंने सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक—सभी क्षेत्रोंमें महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

आजकी महिलाएँ प्रत्येक क्षेत्रमें आगे बढ़नेका प्रयत्न कर रही हैं। वे प्रगतिशील विचारोकी हैं। यह मैं मान्य करती हूँ फिर भी, महिलाओंके प्रति मेरे मनमें कुछ सुझाव हैं।

बीसवी शताब्दीकी प्रगतिशीलताकी पहली और प्रमुख मांग है—पुरुषके समान सभी क्षेत्रोमें समान अधिकारकी मांग। यह मांग कोई ठुकरायेगा नही। लेकिन अधिकारकी मांगके साथ हमें अपने कर्तव्यको भी नही भूलना चाहिये। अधिकार और कर्तव्य—ये दोनो एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। विकासकी गन्ध सबको समान मिले, इसे कोई भी अमान्य नही कर सकता। परन्तु साथमे सब कर्तव्यपालनमे तत्पर हो, इसे भी मानना आवश्यक है।

सामाजिक कार्य व नेतृत्व करनेके साथ-साथ महिलाओको आदर्श गृहिणीका कार्य भी करना है। आधुनिक शिक्षाग्रहण करनेके साथ-साथ महिलाओको धार्मिक विचार सम्पन्न बनाना भी अत्यावश्यक है क्योंकि ऐसी महिलाएँ भी अपने बच्चोको सस्कार सम्पन्न नागरिक बना सकती है। हमे पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञानका अनुकरण करना चाहिये। परन्तु सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रमे हमे उनका अनुकरण नही करना है। क्योंकि भारतीय समाजके अपने कुछ सामाजिक व सास्कृतिक मूल्य है। इन मूल्योको ग्रहण करने-के लिये पाश्चात्य जगत भारतकी ओर देखता है। ऐसी दशामें पाश्चात्य रहन-सहन व सामाजिक रचना कर हमें अन्धानुकरण नही करना चाहिये। भारतमें कुटुम्ब सस्थाकी उज्ज्वल परम्परा है। पाश्चात्य अनु-करणके द्वारा इस कुटुम्ब सस्थाका हम नाश न करें, तो अच्छा है। सम्पूर्ण भारतीय सस्कृतिका रक्षण इसी कुटुम्ब सस्थाने किया है, इसे हमे नही भूलना चाहिये। अमेरिका जैसे भौतिक दृष्टिसे उन्नत देशोंमें कुटुम्ब सस्थाके पुनर्गठनकी मांगकी जा रही है। क्योकि इन देशोमें स्वतन्त्रताके नाम पर माता, पिता, बच्चे—सब अलग-अलग रूपमें बिखर रहे हैं। पारस्परिक सम्बन्ध केवल आर्थिक बनकर रह गये हैं। पर एक दूसरे-में ईश्वरमें आस्था न होनेके कारण पाश्चात्य लोगोंका जीवन और निराशापूर्ण बनता जा रहा है। इस समस्याको दूर करनेके लिये अमेरिका जैसे देश भारतकी ओर देख रहे हैं। यह हमें उनका अन्धानुकरण करते समय सोचना चाहिये।

भारतीय बालक-बालिकायें संस्कार-पूर्ण आदर्श नागरिक बनें, इसकी जिम्मेदारी महिलाओं पर है क्योंकि माता ही बच्चोके लिये पहला गुरु होती हैं। गृहिणियोमें भगवान् महावीरका सन्देश हमेशा ध्यानमें रखना चाहिए। आध्यात्मिक ज्ञानसे ही मानसिक विकास सही दिशामें होता है। ऐसी ज्ञान सम्पन्न माता ही अपने बच्चेको उच्चसस्कार सम्पन्न नागरिक बना सकती है। परदेश जाते समय महात्मा गांधीको उनकी

माताने श्रीमद् रायचन्दके मार्ग दर्शनके अनुसार मांसाहार न करनेका, मद्यपान न करनेका, परस्त्रीको माताके समान माननेका उपदेश किया था । उसीके कारण वे आगे चलकर राष्ट्रपिता बने । हजारों वस्तुओंसे घरका या बाह्य शरीरका सौन्दर्य बढानेके पहले मनका सौन्दर्य बढ़ाना आवश्यक है । घरको नरक बनाना आसान काम है, परन्तु उसे स्वर्ग बनाना कठिन काम है । जिस घरका प्रत्येक व्यक्ति संस्कार सम्पन्न है, वह घर भले ही गरीबका हो, अलौकिक सुखसे सम्पन्न है, ऐसा मैं समझती हूँ । कुटुम्बमें जो वयोवृद्ध व्यक्ति हों, उनका परिवारके सभी सदस्योका समुचित सम्मान व आदर करना चाहिए क्योंकि वृद्ध व्यक्ति ही भारतीय कुटुम्ब संस्थाका आधार स्तम्भ है ।

आरोग्य सभी सुखोंका कारण है । अत महिलाओको आसन, योग अथवा स्त्रियोचित कोई व्यायाम करके अपना शरीर सुदृढ बनाना चाहिये । क्योंकि सुदृढ माता ही सुदृढ बालकको जन्म दे सकती है । स्वस्थ व्यक्तिके ही स्वस्थ विचार हो सकते हैं । जहाँ तक हो सके, रसोईका काम माताओंको स्वयं करना चाहिये, क्योकि उसके हाथसे बने हुए पदार्थोंमें शुद्धताके साथ-साथ स्नेहरस भी मिला रहता है । सभी महिलाओंको जैन व्रतोंका पालन करना चाहिये । धार्मिक ग्रन्थोका अध्ययन नियमित रूपसे करना चाहिये । तभी वे अपने बच्चोको धार्मिक सस्कार और धार्मिक पाठ दे सकती हैं । धार्मिक शिक्षा आजके जगतमें स्कूल और महाविद्यालयमें मिलना असम्भव है । यदि उन्होने इस बातका ध्यान रखा, तो पाश्चात्य देशोंमें नवयुवक और नवयुवितियोमें जो आज नैराश्यकी भावना दिखाई देती है, वह भारतमें नही दिखाई देती । कर्तव्यपालनके बाद अधिकार उसे प्राप्त करनेका पूराका पूरा अधिकार है ।

आजका समाज पुन करवट बदल रहा है । नारी-जागरणका शख बज उठा है । वह अपने कर्तव्यका पालन तो करेगी, परन्तु साथमें वह अपने अतीतके खोये हुये गौरव और अधिकारको पानेके लिये प्रयत्नशील है । वह विकासकी सब दिशाओंमें, सब क्षेत्रोंमें तेजीसे अग्रसर हो रही है । अभी तक वह कदम-कदम पर तिरस्कार और अपमानकी ठोकरें खाती आ रही थी, पर अब समय बदल रहा है । वह अब घरकी चहार दिवारीमें बन्द बन्दिनी नारी नहीं रही । अत महावीरके भक्त श्रमणों व श्रावकोंसे भी मेरी अपेक्षा है कि वे भगवान्के उन उच्च आदर्शोंका, उपदेशोंका पालन करें । अशिक्षा, अन्धविश्वास तथा दहेज आदि कुप्रथाओंके कुचक्रोके नीचे नारी जाति कबसे पिसती चली आ रही है । पर अब यह सब नही चलेगा । नारीके अधिकार उसे देने ही पडेंगे तभी वह समाजको नये स्वर्ण विहानमें ला सकेगी ।



CHANDERĪ UNDER MALWĀ SULTĀNS.

Prof. A. H. Nizami, Rewa

The disintegration of the Tughluq Empire and its extinction at the hands of Timur in 1398, had led to the independent rule of a number of provincial dynasties including that of Malwa where Dilawar Khan, had founded the strong and virile kingdom of Mandogarh. Two inscriptions of Prince Qadr Khan (Ghori) dated 1416 and 1420 have been found in Chanderi and Sivapuri respectively and Muhammad Bihamad Khani, the author of the History of Erachh and Kalpi refers to the usurpation of Paniyargarh, a suburb of Jatara, by Qadr Khan's officer, Qazi Junaid and with a view to recover the thana, a military expedition had to be sent by Sultan Qadir Shah of Kalpi. Qazi Khan Badr Muhammad of Delhi who calls himself Dharwal, author of a lexicon, the "Adatul Fudala", who came to the court of Qadr Khan, the governor of Chanderi from Jaunpur in 1419, pays tribute to the governor for his patronage of poets and scholars there and records the titles of the princely governor as Khan-i-Aazam, Khaqan-i-Muazzam Masnad-i-Aali Qadr Khan ibn Dilawar Khan[1]. It is not clear whether Qadr Khan was holding the gubernatorial office since the days of his father or whether Alp Khan, the heir-apparent, was responsible for this appointment on coming to the throne himself as Sultan Hoshang Shah Thus Bundelkhand in the fifteenth century was being administered from two centres namely Chanderi under the direct rule of the Malwa Sultan and Kalpi, where the Malikzada Turks held sway in the country horizontally extending from Bhander to Mahoba roughly corresponding to the Jhansi Division (without Lalitpur district) of Uttar Pradesh and the districts of Datia, Tikamgarh, Chhatarpur and Panna (without Pawai Tahsil) of Madhya Pradesh Chanderi Division of the Malwa Sultanate extended vertically from Shivapuri and Deogarh in the north to Damoh (then including Sagar district) upto the source of the river Kyan. In Garhā near modern Jabalpur, had been founded in the beginning of the fifteenth century a new seat of power by the Rāj Gonḍs, the nucleus of a kingdom destined to develop in the first quarter of the next century as a powerful political centre under Raja Amhanadas alias Sangram Sah who had the audacity to occupy such places of Malwa State as Damoh, Mariado and Hatta, counted important 'garhs' among the fifty two forts of the Goṇd ruler whose Chandela daughter-in-law, the Regent Rānī Durgāvatī, is known to have inflicted a shameful defeat on Sultan Bayazid alias Baz Bahadur of Malwa.

---

1. I am indebted for this information to my esteemed friend, Dr Ziyauddin Desai, Director of Arabic and Persian Epigraphy, extracted for my use from the 'Urdu' Magazine of Pakistan Vol. 43 No. 4 (October, 1967).

The Parihar oriented phase of Chanderi administration under Sultan Mahmud Khilji I (1436-69) reminds us of Tughluq rule hundred years back. An insurrection of nobles associated with the overthrown ruler of the Ghori dynasty, brought Mahmud Shah himself to Chanderi and not only did he put down the serious rebellion but took further steps to ensure peace and order in the region by advancing the headquarters of the Deputy Governor of Baṭihāgarh to Damoh further south into the heart of the Byarma valley, the stronghold of the Parihar Rājpūts driving them out further south to the vicinity of Garha. The Khilji Sultans of Malwa seem to have pursued a firm policy of expansion towards the river Kyan as is indicated by the situation of Ghaisabad (Ghyasabad), presumably named after Sultan Ghayas Khilji of Mando (1469-1500) rather than the earlier Ghayas Tughluq of Delhi A number of Sanskrit and Persian inscriptions of this Sultan and those of his successors, in which the epithet of 'Rajādhirāja' or 'Mahārājādhirāja' is invariably used testify to the effective rule of the Malwa Sultans there And the pattern set for later governors of Chanderi by the epithets Khani-Aazam-Khaqan-i-Muazzam used for Prince Qadr Khan is echoed in later inscriptions and Jain Granth—Praśastis which continued to use similar titles in their corrupt form as Maha Khan-Moj Khan in a stereotyped manner. Some of the holders of these titles were strong, brave and experienced governors. No wonder that the Parihārs of Kotarā in the trans-Kyan region are found concentrated far away in Unchahra while those of the Byarma valley have receded further south towards Garhā. With Naro (Satna district) as the base of his operations, Vīrasinhadeva Baghelā (1501-31) undertook two expeditions to the southfirst against Sangram Sah Gond of Garhā to punish him for his parricide and the other against the Kalachuri ruler of Ratanpur in Chhattisgarh. In the course of his second expedition Vīrasinhadeva defeated the local Parihar chiefs ('Parihārarājā') according to the version of Mādhava Kavi, the author of the Vīrabhānūdaya Kāvyam, the official history of the Baghela Dynasty of Gahora composed in Sanskrit in the court of Rājā Vīrabhānu, son and successor of Vīrasiṁhadeva While the comparatively uneventful rule of Ghayas Shah had retained the vigour of Mando rule during the years following the expansionist policy of Mahmud I, one of the most ambitious monarchs of his times, who styled himself Alauddin, the second Alexander, matters took a turn to the worse in the time of his grandson, Nasir Shah (1500-11), and with the accession of Mahmud II there was a pathetic and pitiable deterioration in the affairs of Malwa with the rebellion of the nobility and the dominance of the Rājpūts followed by Gujarat intervention and the captivity of Sultan Mahmud in the hands of Rana Sanga of Chittor (1518). Meanwhile two new Rajput States of Raisen and Chanderi had come into existence. No wonder, therefore, that the Parihars of south Damoh above were defeated at ease along with the rulers of Ratanpur and Garhā in the vicinity by a powerful ruler like Vīrasiṁha Baghelā.

About the year 1540 Rājā Dalpat Sāh Gonḍ is said to have occupied Singorgarh for his residence first reduced by Sangram Sah. What were the relations of

Parihar chiefs with the Gond authorities we do not know. It could be surmised from circumstantial evidence, however, that some Parihars took up service under the Gonds and were so much influenced by them that following the example of the Chandela chief of Rath-Mahoba who gave his daughter, the celebrated Durgāvati in marriage to Dalpat, the Parihārs followed suit, for Lakshman Sen Parihar of Bilahri is said to have married his daughter to some Raj Gond chief whose descendants are known as Khaṭolāhā Goṅḍs (i. e. Gonds of Khaṭolā in Bijawar Tahsil of Chhatarpur district) still living in village Magardha eight miles north west of Bilahri. Lakshman Parihar lived in the Garhi of Bilahri and the extensive tank called Lakshman Sagar is attributed to him.

Cultural Aspects of Chanderi

Chanderī epigraphs have yielded only a bare list of kings of the Parihara dynasty ruling for practical purposes independently of the Chandelas or the Paramaras, for the matter of that. Bhelsa was a good trade centre presumably included in the Chanderi kingdom when Alauddin Khilji led a plundering raid against it from Kara in 1292. The fame of Chanderi prosperity seems to have travelled all the way to Delhi when, on the occassion of Alauddin to the throne of his uncle, his boon companion Alaul Mulk, the fat Kotwal of Delhi drew his attention to the conquest of Chanderi along with that of Malwa and Gujarat. And when at last his general, Ainul Mulk Multani, advanced to occupy Chanderi, the Parihar kingdom succumbed to the superior arms of the Imperial Turks Ikhtiyaruddin Timar Sultani is mentioned as the governor in a Chanderi inscription of 1312 A D and for the next two hundred years or more Chanderi was the centre of authority in north-east Malwa first under the Sultans of Delhi and later under the Sultans of Mando or ruled independently by Medini Rai until it was annexed to his newly acquired dominions by the first Mughal Emperor Babar in 1528.

In the absence of Brahmanical Vaishnava records, the only glimpse that we have of the cultural activities in the Chanderidesa pertains to Jain sources. On coming to power of the Tughluqs in Delhi, the imperial authority was reinforced by the appointment of a Governor. A strong man like Malik Zulchi, known as the Commander of the Mongol contingent under Sultan Alauddin Khilji, was selected for the post and Batihadim was fixed as the headquarters of a Deputy Governor in the northern Hatta Tahsil of the modern Damoh district in the person of Jalaluddin Khoja who, among other things, established, what Rai Bahadur Hiralal calls, a 'Gomath' or rest house for cattle at his place of posting. This clearly shows Jain influence in the region which was destined to emerge, after a century, as a strong centre of Jain culture with seats of Bhattarakas at Narwar and Sonagir, besides Chanderi itself following the establishment of a strong and virile kingdom at Mandogarh on the disintegration of the Delhi empire of the Tughluqs. The traditional importance of Chanderi was maintained or perhaps enhanced with the appointment of a prince of the ruling dynasty in the person of Qadr Khan, the

younger brother of the heir-apparent Alp Khan, who succeeded his father Dilawar Khan Ghori to the throne of Mando in 1405 A. D. Qadr Khan patronized the Persian scholar Qazi Khan Badr Muhammad Dharwal who had travelled from Delhi to Jaunpur enroute to Chanderi. The reigning monarch, Hoshang Shah, on the other hand, was quite popular with the Digambar Jain community of Chanderi desa for he is very respectfully mentioned in an inscription of Deogarh dated 1424 A. D. wherein he has been called 'Shah Alam', one of the earlier titles assumed by him before he stuck to that of the better known 'Hoshang Shah'. In the capital of Mando itself a Svetambar Jain family of Oswals figured prominently as scholar—administrators in the court of the Sultans for a period of one hundred years and have left a large number of books written on religious topics in the Sanskrit language. The inscription of Deogarh in question comes from the biggest cultural centre in the region of Chanderi during that period, following the eclipse of Khajuraho as a city of temples on the decline of the Chandela power in the thirteenth century. The inscription pertains to an image in one of the temples and testifies to the policy of religions toleration practised by the Malwa Sultans A number of inscriptions on Jain images and pattavalis pertaining to two Digambar Sanghas, namely Mulasangha and Kashtha sangha, have been made available by modern scholars, besides grantha prashastis (book colophons) which throw light on the brisk activities of the so-called Bhattarak munis encouraging the chiselling of images, the construction of temples, and the building of chaityalayas and resting places for the munis and travellers during this period in the Malwa dominions of the Sultan including Chanderi desa, another name for Bundelkhand, where minor Jain centres like Udaigiri, Erachh, Ahar and Papaura are known to have flourished.

The Chanderi patta or gaddi, founded by Bhattaraka Devendrakirti of the Mulasangha-Saraswati gachchha-Nandi amnaya, has three names in the pattavali which are relevant to us. Devendrakirti, who hailed from Gujarat, was a disciple of Bhattaraka Padmanandi and was first appointed Chanderi Mandalacharya He is supposed to have established the Chanderi patta some time before the year 1436, the year of the violent change in the ruling dynasty of Mando from the Ghoris to the Khiljis. He is also mentioned in the Deogarh image inscription referred to above. His disciple, Vidyanandi Parwar, entitled Tribhuvanakirti, is believed to have become Chanderi mandalacharya sometime before 1468 A. D prior to succeeding his master to the Chanderi patta. Tribhuvanakirti's disciple and successor to the Chanderi patta, namely Yashahakirti, is a well-known figure famous as an author of apabhramsa. He was a contemporary of Shah Ghayas and Shah Naseer, the Khilji monarchs. He often stayed in the Neminath chaityalaya of the town called Jerhat which has not yet been identified. Four of his works have been discovered, so far, that is the 'Harivansha Purana', the 'Dharmapariksha', the Parmeshthi Prakash Sar' and the 'Yogasara'—all of them dated V. 1352/1409 A. D. which refer in their colophons to 'Mahakhan Mojakhan' who could be no other

than Mallu Khan son of Mallu Khan, the well-known governor of Chanderi during this period. One peculiar feature of the Bhattarakas of the Chanderi patta was that they came from the Parwar caste of the Digambar community, a caste which predominates among the jains in Bundelkhand even today

The patta of Sonagiri (Datia district) was a branch pitha of Gwalior, the greatest and most flourishing Digamber Jain centre in the capital town of the Tomara rulers. The name is supposed to have been derived from Shramanagiri, ascribed to Shramanasena Muni (V. S. 1335) The Bhattarakas of this centre belonged to the Kashtha sangha, Mathur gachcha-Pushkar gana The first guru, who has found mention in inscriptions dated 1449, 53 and 73 A. D, was Kamalakirti who left a disciple Shubhachandra to succeed him.

Jina Tāraṇ Taraṇ Swami

The fifteenth century of the Christian era is a century of Hindu-Muslims coming together—an intermingling of the two communities and mutual reapproachment. In spite of wars and conquests and lack of a strong central government, there was prosperity all round, grains and other necessities of life were cheap Sufis of the Chishtiya Order wielded great influence over the masses-Muslims and non-Muslims Not only did they approach the people through the medium of the mother tongue and compose love poems in the village dialects but before the close of the century, Kayasthas, Khattris and Kashmiri pundits took to learning Persian, the court language and filling the revenue offices of the Sultans

Among the most outstanding provincial kingdoms were those of Jaunpur, Mando and Ahmadabad. Sant Kabir the most radical social reformer hailed from Varanasi in the Sharqi dominions and his verses embodying new ideas were steeped in the Jain-Nathpanthi traditions. He called upon the Brahman-dominated neo -Vaishnavism to fall in line with his principles of cultural synthesis and liberalism in faith and practice leading to mutual tolerance and fraternization of castes and creeds. He not only condemned casteism but made idol worship the target of his attack.

Simultaneously with Kabir among Hindu Vaishnavas of Madhyadesa, flourished Lonkasah among the Shvetambar Jains of western India who organized a similar movement of radical reform with his centre at Ahmadabad during the first half of the fifteenth century Like Kabir in Northern India, Lonka-Sah raised the banner of revolt against the Jain priesthood and called upon them to prove the justification of idol worship on the basis of Jain agama literature. Of his two main disciples, one hailed from Mandogarh, the capital of the Sultans of Malwa through whom the preachings of Lonkasah must have filtered down to the Jain masses in Malwa.

Lonkasah's thoughts were, however, echoed from an unexpected quarter by a none too learned Digambar Jain of Chanderi—'Damovadesa' in Bundelkhand namely Jina

Taran Taran who is said to have been born in 1448 A.D. at Puhpavati (Pushpavati) another name for Bilahri in Katni Tahsil of Jabalpur district to his Parwar parents. His father Garha Sah retired to Semalkheri near Sironj in the district of Vidisha where Taran was brought up in the house of his maternal uncle. This was the Age of Bhattarakas among Digambar Jains and from the biographical dates of Taran Taran available to us, he was a contemporary of Bhattarak Yashahakirti of the Mulasangha. Taran Taran, however, led a life of isolation from the so-called Bhattarakas who had fallen from the ideals of the ancient munis and had forsaken the rigours of their discipline Their services to Jain Culture were none too negligible for they promoted the cause of idol making, temple building and manuscripts copying but their life of growing comfort and ease and accumulation of riches had made them indistinguishable from priests for all practical purposes. For instead of moving about constantly, they mostly resided in Chaityalayas and Upasras practising tantra and mantra besides ayurveda and jyotisha. Even the learned among them like Yashahakirti held narrow and reactionary ideas of caste and sex inferiority of sudras and women Such ideas and practices must have been an anathema to a radical thinker like Taran Taran who, far from conforming to them, took to a life of nude asceticism and practised austerities in forest resorts like Semalkheri and Sukha (Damoh district), besides village Rakh, now called Mallhargarh in Guna district where he passed the best years of his fruitful life attended to by his disciples of all castes and creeds including Muslims among whom two names are prominent—those of Luqman and Ruia Raman who is supposed to have been a cotton ginner or pinjara by profession

Taran Taran was a junior contemporary of Lonkasah of Gujarat and presumably took inspiration from him Taran Taran has left a dozen books of verse in which he has propounded the philosophy of 'anekant' and 'syadvad' emphasizing the importance of atma as paramatma in the making. There was no place for idol worship in his scheme of religious practice but he refrained from launching a direct attack on the idolatory practiced commonly by the Jain shravakas or householders. The language of his books is a strange mixture of Samskrit, Prakrit, Apabhramsa and Deshi. A collection of these compositions is available in print.

Taran Taran breathed his last at the age of sixty seven and his samadhi called Nasiyaji is the chief centre of Taranpanthi community from where radiates the ideology of this greatest saint of the Digambar Parwars Unfortunately there was no scholar among his disciples who could take up the work of organization of the panth which even today finds itself indebted to persons outside its fold for the work of editing and publishing of and commenting on Taran bani As far as the Saint Taran Taran himself is concerned, he deserves to be bracketted with Lonkasah and Kabir, his Shvetambar and Vaishnava counterparts.

It may not be supposed from the above account of a nonworshipper of idols that idol worship in Chanderi-Damoh had declined among the Jains. On the

other hand the Bhattarakas had succeeded immensely in their mission of persuading the Jain house-holders to make idols and establish them for worship under the auspices of their gurus so much so indeed that a donor—philanthropist like Jivaraj Papriwal is supposed to have got chiselled single-handed a lakh of Jain images and caused them to be deported to various temples throughout Northern India and there is not a Jain temple but has an image made by Jivaraj Papriwal. These images bearing the inscription of Jivaraj Papriwal of Vikram Samvat 1548-1491 A. D. are found through out Greater Malwa even today

Bibliography

Hiralal	:	Damoh Deepak (Hindi)
K. B. Imadad Ali		Gazetteer of Damoh District.
—	·	Damoh District Gazetteer—Old (1905).
—		Damoh District Gazetteer—New (1974).
H. N. Dwivedi	.	Gwalior Rajya ke Abhilekha
H. N. Dwivedi	:	Gwalior ke Tomar
—	:	Gwalior State Gazetteer
—		Guide to Chanderi.
—		Epigraphia Indica.
—	:	E. I. (Persian & Arabic Supplement)
—	:	Annual Reports on Epigraphy
—	·	Annual Reports on Archaeology of Gwalior State.
Hiralal	.	Descriptive List of Inscriptions in C. P. and Berar
Parmanand Jain Shastri	:	Jain Pustak Prashasti Sangrah, II.
—	:	The Anekant, Delhi (Jain Quarterly).
Shihab Hakeem	:	Maathir-i-Mahmud Shahi (Sitamau Photostat).
Dalsukh bhai Malwaniya		Lonkasah (Gujarati)
U. N. Day	:	Medieval Malwa.
—	·	The Urdu (Pakistan).
—		Indian Historical Quarterly
—	:	Jain Antiquary.
—	·	Journal M. P. Itihasa Parishad

चन्देरी के मालवा सुलतान

प्रो० ए. एच. निजामी, रीवा

1398 में तुगलक साम्राज्य के पतन के बाद पनपे अनेक राजवंशों में दिलावर खां द्वारा स्थापित मालवराज भी है। 1416-20 के बीच यहाँ कादर खान का राज्य था जो कवियों और विद्वानों का सम्मान करता था। वस्तुतः पन्द्रहवीं सदी में बुन्देलखण्ड का शासन चन्देरी और काल्पी से होता था। चन्देरी के अन्तर्गत शिवपुरी, देवगढ़, सागर-दमोह और केन नदी के स्रोत आते थे। इसी समय जबलपुर के गढा क्षेत्र में एक नया गोंड राज्य स्थापित हुआ जिसके राजा संग्रामशाह ने मालवा के अनेक दुर्गों सहित 52 किले जीते। यहाँ की रानी दुर्गावती ने मालवा के सुलतान बाज बहादुर को हराया था। इसके बाद महमूद शाह उस क्षेत्र का बादशाह हुआ। खिलजी सुलतान मालवा के क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे। उनके विषय में संस्कृत और फारसी के लेख मिलते हैं जिनका विवरण जैन प्रशस्तिसंग्रह में दिया गया है। इसके बाद अलाउद्दीन, नासिर शाह और महमूद खां वहाँ के सुलतान बने। अन्तिम सुलतान के समय मालवा राजपूतों के हाथ आ गया। इतिहास से पता चलता है कि मालवा 1312 के बाद सुलतानों और बाद में मुगलों के अधीन रहा है।

जैन स्रोतों में चन्देरी देश की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की झांकी मिलती है। दमोह के क्षेत्र में उस समय जलालुद्दीन खोजा ने एक गोमठ (गौ शाला) स्थापित की थी। इसके एक शताब्दी बाद सोनागिर और नरवर के भट्टारकों की कृपा से यह क्षेत्र जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र बना। देवगढ़ के 1424 के लेख से प्रकट होता है कि हुशंग शाह के समय में स्थानीय दिगम्बर जैन समाज को राज्य संरक्षण प्राप्त था। मडू में ओसवाल श्वेताम्बरों को महत्व प्राप्त हुआ। इससे पता चलता है कि मालवा के सुल्तान धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर चलते थे। इस क्षेत्र के भट्टारक मन्दिर और मूर्तियों का निर्माण और प्रतिष्ठा करते थे और इनके समय में ही अहार, पपौरा आदि क्षेत्रों का विकास हुआ।

1436 के पूर्व चन्देरी पट्ट के भट्टारक पद पर मूल संघ के देवेन्द्र कीर्ति प्रतिष्ठित हुए थे। उसके बाद त्रिभुवनकीर्ति और यशःकीर्ति गद्दी पर बैठे। यशःकीर्ति ने हरिवंशपुराण, धर्मपरीक्षा, परमेष्ठी प्रकाशसार तथा योगसार नामक चार ग्रन्थ लिखे थे जिनका काल 1495-1582 के बीच माना जाता है। ये भट्टारक परिवार जाति के थे और मल्लूखान के शासनकाल में रहे। ग्वालियर क्षेत्र में 1355 के लगभग सोनागिर पीठ स्थापित हुआ। 1449 में यहाँ के भट्टारक कमलकीर्ति हुए। उसके बाद उनके उत्तराधिकारी हुए।

पन्द्रहवी सदी के पूर्वार्ध में लोकाशाह ने जैनों में मूर्ति विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ किया जो बाद में चन्देरी की ओर भी फैल गया। इस क्षेत्र में 1448 में उस समय तारण तरण स्वामी हुए। इनका पालन सिरोंज और विदिशा में हुआ। वे भट्टारक यशः कीर्ति के समय में हुए थे। जो चैत्यालय और उपासरों में रहते थे और तन्त्र, मन्त्र, आयुर्वेद और ज्योतिष का प्रयोग करते थे। तारण स्वामी ने भट्टारक संप्रदाय के विरोध में एक नयी पद्धति प्रचलित की और उन्होंने चारह ग्रन्थ लिखे लेकिन उनका विशेष प्रभाव इस क्षेत्र के जैनों पर नहीं पड़ा और यहाँ मन्दिर और मूर्तियां बनती रहीं। जीवराज पापड़ीवाल ने 1491-1548 के बीच एक लाख जैन मूर्तियाँ बनवाकर उत्तर भारत के कोने-कोने में भेजी।

भारतीय संस्कृति के प्रतीकों में कमल और अश्व

श्रीमती सुधा अग्रवाल, वाराणसी, (उ० प्र०)

कमल निर्माण—शक्ति रचनाका प्रतीक है। पृथ्वीकी प्रारम्भिक कल्पनामें पृथ्वीको चतुर्दल कमल अथवा चारपंखुड़ी वाला कमल माना गया है। कमलके बीच कर्णिका या बीज रूपमें सुमेरु पर्वतकी स्थिति है। ऐसा मानते हैं कि यहाँ विश्वकी अनेक वस्तुओं और भावोंके बीजोंका जन्म होता है, इसलिये इसे विश्वबीज मातृका भी कहते हैं।

कलाके अतिरिक्त, भारतीय धर्म और दर्शनोंमें भी प्रतीक रूपमें कमलका ज्यादा महत्व है। यह अथाह जलोंके ऊपर तैरते हुये प्राण या जीवनका चिन्ह है। सूर्यकी किरणें ही कमलको जगाती हैं। ऋग्वेदमें सूर्यको ब्रह्माका प्रतीक कहा गया है। (ब्रह्म सूर्यसम ज्योति ऋ० २३४८) सूर्य प्राणका वह रूप है जो भूतोंमें समष्टिगत प्राण या जीवन का आवाहन करता है। यह विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न होनेवाले जलोंका प्रतीक था जिनसे प्राणका संवर्धन होता है। इसी नाभिसे उत्पन्न कमल पर सृष्टिकर्ता ब्रह्माका विकास हुआ है (ब्रह्म ह वै ब्रह्माण पुष्करे ससृष, गोपथ ब्रा०, १।१। १६)। कमलके पत्ते या पुरइन बेलको सृष्टिकी योनि या गर्भाधानकी शक्ति कहा गया है। (योनिर्वै पुष्कर पर्णम्, श० ब्रा० ६।४।१७)। कही कमल विराट् मनका प्रतीक है तो कही व्यष्टिगत प्राण शक्तिका। भागवतमें सृष्टिका जन्म कमलसे माना गया है और संसारको भू-पद्मकोष कहा गया है। भागवत दो प्रकारकी सृष्टि मानते हैं—एक पद्मजा और दूसरी अण्डजा। पद्मजा जैसा कि नामसे ही स्पष्ट है, क्षीरशायी विष्णुकी नाभिसे होती है जबकि अण्डजा सृष्टि हिरण्यगर्भसे। हिरण्यगर्भकी मान्यता वैदिक है और पद्मकी मान्यता भागवत। वेदके अनुसार पृथ्वी पर अग्नि और द्युलोकमें आदित्य—ये दो बड़े पुष्कर हैं। हरिण्यगर्भकी सृष्टि अग्नि पर और पद्मजाकी सृष्टि जलों पर निर्भर है। हिरण्यगर्भ अग्नि और सोमके प्रतीक थे। पूर्णघटमें अण्डजा और पद्मजा—दोनो कल्पनाओंका समन्वय है। मातृकुक्षिसे उत्पन्न होनेवाले शिशुका प्रतीक कमल था। उत्पल, पुण्डरीक, कल्हार, शतपत्र, सहस्रपत्र, पुष्पक, पद्मक इत्यादि नामोंसे कमलका उल्लेख होता है कमलको सूरजमुखीके फुल्ले भी कहते हैं।

रूपककी भाषामें सारी जलराशिको स्त्री-शरीर और कमल योनिवत् माना गया है। शास्त्रीय आधार पर भी, योनिस्थ जरायुका आकार कमल पुष्पकी तरह माना गया है। पुष्पवती होनेका आधार यही कमल है। कमल-कुलिश साधना भी कमलके सृष्टिद्वार होनेका पोषक है। स्त्रीत्व और सृष्टिकी भावनाके कारण ही पौराणिक कल्पनामें इसे देवीका संसर्ग प्राप्त हुआ। वेदोंमें देवी उपासना नहींके बराबर हैं। फिर भी, अग्निका उत्पत्तिस्थान कमल ही है। इसीका विकास बादमें पद्मा देवीके रूपमें हुआ। यद्यपि ऋग्वेदमें किसी भी देवीकी आराधना नही है, फिर भी उसके सम्पूर्ण रूपमें सर्वप्रथम इसका उल्लेख है। देवीके दो नाम हैं—श्री और लक्ष्मी। राजगण धर्मपत्नीके अतिरिक्त राजलक्ष्मीसे परिणती माने जाते थे। पद्मादेवी विभिन्न संज्ञाओंसे जानी जाती थी जैसे पद्मसम्भवा, पद्मवर्णा, पद्मअरुण, पद्माक्षी, पद्मिनी, पद्मालिनी और पुष्करिणी इत्यादि। अत लक्ष्मीकी रूपकल्पनाका आधार कमल ही होता है। इन्हीं

संज्ञाओंके साथ इन्हें विष्णुपत्नी और हरिवल्लभा भी कहा गया है। कमलसे उत्पन्न कमला विष्णुकी शक्ति होनेके कारण वैष्णव कला और वैष्णव कल्पनाकी शक्ति बन गयी। विष्णुके चार आयुधोंमें होनेके कारण विष्णुके अंकनके साथमें कमल सर्वत्र अंकित हुआ है।

कमलप्रिय पद्मप्रिया देवीकी मूर्तियाँ (ई० पू० दूसरी शतीके) साँची और भरहुतके द्वारों और छतोंमें खुदी हुई हैं। भरहुतकी पन्द्रहवी आकृति गजलक्ष्मी है। जिसके चरण अनेक—दल कमल पर हैं। इसी कमल नालके पाससे दो भारी सी नालें इधर-उधर गई हैं जो पुन' दो भागोंमें बँट गयी हैं। दोनो ओर दो कमल गर्भ पर दो हाथी खडे हैं और एक-एक कमलका पत्ता बना है। यह गोलाकार कृति है और गोलाकृतिको चार कमल घेरे हुये है। अखिल रूपकी ही एक अन्य ऋचामें इस पद्माके मूल श्रीलक्ष्मीको 'प्रजानो भवसि माता' और 'क्षमा' कहा गया है। क्षमा पृथ्वी है और पृथ्वी हिरण्यगर्भा। कमलको भी हिरण्यगर्भ माना गया है।

बसाढसे प्राप्त एक मूर्तिमें विकसित-अविकसित कई प्रकारके कमल हैं परन्तु प्रतिमाओंके पर लगे हैं। साधारणतया मेसीपोटामियाकी मूर्तियाँ पक्षवती होती हैं जबकि भारतके लिये यह नवीन बात है।

मोहेन जो-दड़ो और बौद्ध कलामे कमल

मोहेन जो-दडोकी सभ्यताके प्राप्त प्रतीकोंमें से शैव उपासनाका द्योतक लिंग प्रमुख हैं। शिवकी पूरक पार्वती रूपमे वहाँ कमलधारिणी देवीकी मूर्त्ति पाई जाती है। ऐतिहासिककी दृष्टिसे यह ऋग्वेदके पहलेकी है। मूर्तिके उरोज उन्नत है जिससे मातृत्वका बोध होता है इसी कारण इसे जगत् जननी कहा गया है। यह प्राप्तकृति सबसे प्राचीन है जिसमे कमलका उपयोग हुआ है। नि सन्देह रूपसे इस बातको स्वीकार किया जा सकता है कि मातृत्व और कमलका सम्बन्ध अत्यधिक प्राचीन है। यही भावना बादमें ब्रह्म और लक्ष्मीसे सम्बद्ध देखी जाती है जिसके साथ भी प्रतीक रूपमें कमल और सृष्टिका भाव सन्निहित है।

बौद्धकलामें भी सर्वत्र कमलसे युक्त देवी दृष्टिगोचर होती है। कभी-कभी प्रतीक रूपमें कमल द्वारा ही उसकी सत्ता व्यक्त की गयी है। प्रमुखत देवीकी सज्ञायें हैं—पद्महस्ता और पद्मरागिणी। महायान बौद्धधर्ममें 'पद्मपाणि' बोधिसत्व हैं जिन्होंने बुद्धोंकी सहायता की। नवीं शताब्दीकी नेपालसे प्राप्त एक प्रतिमाके हाथमें कमल है और यह वरद मुद्रामें है। मृणाल उगलियोंमें उलझनेके बाद भी कुहनी पर आकर टूट गया है। यहाँपर कमल बोधिसत्वकी स्निग्ध-शान्त मनोवृत्ति, असीम दया, अलौकिक देवत्व और पवित्र दैवी सौन्दर्यके प्रतीक स्वरूप है। भारतीय बौद्ध परम्परामे उत्तर मध्यकालीन पद्मपाणि या अवलोकितेश्वरकी मूर्तिकी पीठिका भी कमलयुक्त है। सम्भवत वैष्णव प्रभावसे ही प्रभावित होकर शिल्पियोंने बौद्ध प्रतिमाओंमें कमलकी पीठिका रूपमें तैयार किया हो। महायान बौद्धधर्मकी सर्वश्रेष्ठ देवी प्रज्ञा पारमिताकी एक प्रतिमामे, जो १३ वी शतीकी है तथा जावासे प्राप्त हुई है, पीठिका कमलकी बनी है। यह देवी बुद्धों और बोधिसत्वोंकी मूल शक्ति है।

बादकी कलामे कमल कई रूपोमें अकित हुआ। गोमूत्रिकाओं (बेलो) में कमलका प्रयोग बहुतायतसे होता था। जहाँ कही भी अलकरणकी आवश्यकता होती थी और सुविधा होती थी, वहाँ कमल किसी-न-रूपमें जरूर अकित किया जाता था। प्राचीन कालमें स्त्रियोंके शृगारका प्रधान पुष्प कमल था जो हस्ते लीला कमलसे प्रकट है। अजन्ताके चित्रोंमें तो कमलकी इतनी बहुलता है कि चित्रकारको चित्रकारी करते समय बस एक ही पक्ति 'नव कज लोचन कज मुखकर कज पद कजारुणम्' याद आ रही थी। वैसे भी, भारतीय कवि, चित्रकार, साहित्यकार आदिने कमलकी कोमलता और सुन्दरताका मुख्य आधार माना

है। अशोक स्तम्भकी काटको कमल पंखुड़ियोंसे ही अ॰कृत किया गया है। गाधार शैलीमें भी कमलकी गोमूत्रिकायें (बेलें) विद्यमान हैं। कहीं-कहीं विकसित कमलके अन्दर मानवीय आकृतियाँ अकित मिलती हैं। एक मूर्तिमें शेषशायी विष्णुके पैरके पास आधार रूपमें कमल अकित है। इसके साथ कमल तो बहुत ही ज्यादा सहज सुलभ है। दमयन्तीने कमल पत्र पर पाती लिखकर हस द्वारा नलके पास भेजी थी।

भरहुत और साँचीके रिलीफोंमें हाथी मायादेवीके गर्भमें है और उसके मुखसे टेढ़ी-मेढ़ी कमलकी बेल निकली है। यह मुण्डेरो और चौखटोंके किनारे-किनारे फैली हुई है और उसपर अनेक तमगे, जन्म-कथाएँ तथा फूलोंकी सजावट है। अनेकानेक पत्तियों, कलियो, विभिन्न विकसित पुष्पो तथा बीच-बीचमें बतखोंवाले कमलके पौधोका अत्यधिक फैलाव भरहुत, साँची, उदयगिरि और अमरावती—हर जगह पाया जाता है। आधिक्यके साथ कोमलता तथा चपलताके साथ गाभीर्यका सम्मिश्रण यूरोपीय नारीकी याद दिलाता है। साँचीके पूर्वी तोरणके बाँयें खम्भे पर कमलके पौधोके पकने तककी अवस्थाओंका बहुत ही सुन्दर चित्रण है।

कमलके फूलते हुए पौधेका लयात्मक ढगसे झूमना भारतमें जीवनकी अपेक्षा लयका प्रतीक है। साँचीके पश्चिमी द्वार पर कमलका बेलके घने पत्तोके मध्य वन्य पशुओकी प्रकृति सुन्दरतम है।

कमल-लता पौधा-प्रतीकोमें सबसे अधिक प्रचलित और प्रभावशाली है। यह कमल-लता मन्थर, अबाध और प्रचुर भारतीय वनस्पति जीवनका प्रतीक है। भारतीय सस्कृतिमे कमलकी स्वाभाविक प्रचुरता का एक ग भीर अर्थ है। सयुक्तनिकायमें लिखा है, "हे बन्धु, जैसे कमल पानीमे उगता है, पानीमें ही फलता है, पानीकी सतहसे ऊपर उठता है और फिर भी पानीकी सतहमे नही भीगता, वैसे ही हे बन्धु, तथागत ससारमें जन्मे इस ससारमें बढे, इसी ससारमे ऊपर उठ और फिर भी इस ससारसे अप्रभावित रहे।" बौद्ध कल्पनामें ब्रह्माण्ड है बुद्धके अनेकानेक जन्म और अमर्त्य रूप। ये कमलके पौधेके डठलो और फूलोंके समान सुन्दर और शाश्वत हैं तथा सासारिक राग, द्वेष और मोहके कीचड और गन्दगीमे उगते है। ससार और निर्वाण, अच्छाई और बुराई, सुख और दु खके चक्र यथार्थकी क्षणिक बूँदें अथवा उफान है। जीवन यथार्थ और ज्ञात सीमाओंसे परे एक पूर्णताकी ओर सदैव गतिशील है। स्वर्गिक सफेद हाथी, जिसके मुखसे कमलकी बेल निकलती है, यह धीरे-धीरे बिना रुके लयात्मक ढगसे प्रचुरताकी सृष्टि करती है, निर्वाण की शान्तिका नही, वरन् जीवनकी अबाधित हर्षोत्फुल्ल असीम आकाक्षा प्रतीक है। प्रकृतिकी व्यवस्थामे आत्माभिव्यक्ति और आत्मपरात्परताके बोधिसत्वका प्रतीक है।

अजन्ताके चित्रोमे जो बोधिसत्त्व हाथमें नीलकमल लिये हुए है, सपुजनके केन्द्रमें अवस्थित है। यहाँ सिरका तनिक भव्य झुकाव, गतिके लिए तनिक स्पन्दित शान्त मुद्रा तथा हाथकी उत्कृष्ट भगिमा ससारके प्रति बोधिसत्वकी प्रगाढ करुणाके प्रतीक हैं। बोधिसत्व पद्मपाणि मानवके शारीरिक सौन्दर्यका ही नही, वरन् आध्यात्मिक और अमूर्त सौन्दर्यका उत्तम नमूना है। कमलकी चौकियो पर खडी कुछ बुद्धकी प्रतिमाएँ अमरावती, मथुरा और गाधार—तीनों स्थानों पर मिलती है। सूर्यकी कुछेक खडी मूर्तियोमें धुरीकी जगह कमलने लेली। गुप्तकालके बाद दो कमलोसे युक्त मूर्त्ति भी पूज्य व मान्य हुई।

रानीगुम्फा और गणेशगुम्फाके शिल्पकारोको कमलके फूलोंसे विशेष रुचि थी, अत वेदिका तथा शोभापट्टीमें उनकी रुचि प्रदर्शित हुई हैं।

खण्डगिरी पहाडी पर अनन्त गुफामें कपिशीर्षक या पद्मपट्टिकाके बीचमें त्रिकोणाकृतिका एक सुन्दर कमल पुष्प अकित है जिसकी बेलमें वेदिका, पुन कमल, फिर वेदिका इस प्रकारका क्रम है। इनमें

कुछ ऐसे भी स्तम्भ हैं जिनके सिरे पर औंधे रखे हुये कमलोंके लहराते पत्ते बेसनगरके स्तम्भ-शीर्षके सदृश ही हैं। एक अर्धस्तम्भ पर बारह हंस श्रेणीबद्ध हैं, जिनकी चोंचमें कमल पुष्प है। हंस उड़ते हुए दिखाएँ गये है। कमलो पर खड़ी श्री लक्ष्मीकी मूर्ति है। देवीके दोनों ओर उठते हुये कमलों पर दो हाथी देवीके अभिषेकके लिये उद्यत दर्शाए गये हैं।

नासिककी गुफामें गोतमी पुत्र विहारके स्तम्भके अत्यधिक सुन्दर दिखनेका कारण है उसका पद्यवर वेदिकामे आवेष्टित होना। वेदिकाके खम्भो और सूचियों पर कमलकी सजावट मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त पद्मवर वेदिकाके सदृश ही है।

लखनऊके राज्य संग्रहालयमे जैन आयागपट्ट पर मध्यमे सर्पफणी पार्श्वनाथ प्रतिमाके दोनों ओर व्यक्ति हाथ जोडकर खड़े हैं। बाहर गोलाईमें अंगूर, तथा कमलके बेलकी सजावट है। यह प्रतिमा कुषाण कालकी प्रथम शताब्दीकी है। इसी संग्रहालयमें लगभग १० वी शताब्दीकी उरई (जालौन) से प्राप्त पद्मासनमें ध्या स्थ तीर्थंकरके दोनो ओर कधो पर बाल हैं। प्रतिमा कमलासन पर है। संभवत प्रतिमा ऋषभनाथकी है। ९वी शताब्दीकी सर्वतोभद्र तीर्थंकर प्रतिमामें तीन और अन्य तीर्थंकर तथा एक ओर ऋषभनाथकी दिगम्बर प्रतिमा है। यह एक ओर कमल और दूसरी ओर अंगूरकी बेलसे सुशोभित है। एक अन्य वेदिका स्तम्भ पर नीचे कमल तथा उसके ऊपर बेल है। यही पर गुप्तकालका लता, कमल तथा मणिबन्ध आदिसे अलकृत स्तम्भ भी है।

उपनिषदोंके अनुसार कमल सम्पूर्ण उत्पत्तियोसे भी पूर्ववर्ती है। विद्याकी देवी 'सरस्वती' की स्तुति पद्मासने संस्थिताके उच्चारणोसे की जाती है। ऐतरेय ब्राह्मणमे अश्विनी कुमारोकी नीलवर्णका कमलहार पहने बताया गया है। भारतका राष्ट्रीयपुष्प कमल भावगतकी प्राचीनतम सस्कृतिसे सम्बन्धित है।

अश्व—भारतीय संस्कृतिमें कमल सदृश अश्वका भी अत्यधिक जिक्र हुआ है। कही कला रूपमें, कही यज्ञके लिए, तो कही सिक्कों पर अश्वाकन है। प्राग् ऐतिहासिक कालके नव पाषाण युगके चित्रमें युद्धरत योद्धा घुडसवार हैं। लखुनियाँ दरी (मिर्जापुर क्षेत्र) में घुडसवारोका चित्राकन है। इसीप्रकार बाँदा जिलेके मानिकपुर स्थानके चित्रोमे भी घुडसवार चित्रित हैं। सिंधके किनारे मन्दोरी, गेदाब और घडियाला नामक स्थानोंमे चट्टानों पर युद्धरत सशस्त्र योद्धा घोडे, ऊँट और हाथियो पर हैं।

अनुमान है कि सिन्धुघाटीके लोग घोडेसे परिचित नही थे। मोहन जोदडोकी ऊपरी सतहमे प्राप्त एक भोडी मूर्तिमे घोडेका नमूना है किन्तु यह पहचान सन्देहजनक है।

राजा या गृहस्वामी गाय और घोडोको रखनेके लिये स्थान बनवाते थे, ऐसा अथर्ववेदमें वर्णन आता है (गोम्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालया विजायते, अथर्ववेद, ८९।३।३)। महाजनपद कालमें महलोंके पिछवाडे ही अश्वशाला अथवा राजवल्लभ तुरगोकी मदुरा भी थी। जैनियोंके अर्धमागधी आगम साहित्य (जो पाली साहित्यके समयका है) में हयसघाडके बनाये जानेका वर्णन है। सिन्धु सभ्यता और ऋग्वेदमे वर्णित पशु हाथी, सिह और वृषभके साथ कही-कही तुरग भी हैं।

चतुर्द्वीपी भूगोलकी प्रारम्भिक कल्पनामें पृथ्वीको चतुर्दल कमल माना गया। इसके मध्य बीज रूपमें सुमेरुपर्वत था। सुमेरुपर्वतके पूर्वमे भद्राश्व, दक्षिणमें भारत, पश्चिममें केतुमाल और उत्तर दिशामे उत्तर कुरु द्वीप था। भद्राश्वका अर्थ है—कल्याणकारी अश्व। यह उस श्वेत वर्णके अश्वकी याद दिलाता है जो चीन देशमे पूजनीय भी था, साथ ही इसे पुण्य चिह्न भी माना गया। चीन देशकी अनेक सभ्य जातियाँ भद्राश्व या श्वेत अश्वको अपना मांगलिक चिह्न मानती थी। वहाँकी कलामे यह चिह्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण चीनका नाम पुराणोंमें भद्राश्व हो गया।

, बौद्ध परम्परामें इसप्रकारके अश्वको बलाहक कहा गया। बोधिसत्व भी एक बार बलहरस (बलकमास्व) की योनिमें जन्मे थे और उस रूपमें उन्होंने मृत्युके अन्धकूपमें पड़े हुये ५०० वानरोंका उद्धार किया था। यह कथा बलहरस जातक में दी हुई है। साथ ही, मथुराकी एक वेदिकाके स्तम्भपर इसका चित्रण की है।

प्राचीन भारतीय कलामें ईहामृग या बहुविध आकृतिवाले रूपोंकी कल्पना की गई जिसमें सिंहव्याल, गजव्यालके साथ ही अश्वव्याल भी था। इनमें भिन्न मस्तकके भिन्न शरीरका जोड बैठाया जाता था। मध्यकालीन शिल्पग्रन्थोंमें उनकी सख्या १६ कही गयी है। प्रत्येकको १६ मुद्राओंमें अकित किया गया है। इस प्रकार व्यालरूपोंकी संख्या २५६ तक पहुँची (अपराजित पृच्छा २३३।४१६, इति षोडश व्यालानि उक्तानि मुखभेदत)। चतुर शिल्पी और दन्त्य लेखक इसकी सुन्दरताको बढ़ाते हुये अपनी प्रतिभाको भी दर्शाते थे। प्राचीन कपिशा (बेग्राम) से प्राप्त दन्त फलकोंपर इन व्यालोंका सटीक चित्रण हुआ है जो कुषाण कालीन गन्धार कलामें लोकप्रिय था। भरहुत, साची और मथुराकी कलामें ईहामृग पशुओंकी सजावट है। अधिकतर शकलोगोंको ऐसे रूपोंसे विशेष रुचि थी। इसीसे मिलते-जुलते अलकरणोको वृषभ-मच्छ, हरितमच्छ इत्यादिके साथ ही अश्वमच्छ रूपमे मथुराकी वेदिकाके फुल्लोमे दिखाया गया है। भारतीय पुराणोंकी साक्षीके अनुसार, ये सब रुद्रके प्रथम गण है जिनके मुख और अग अनेक रूपोमे विकृत है। प्रत्येक मनुष्यके चेहरेपर नराकृति है किन्तु उसके पीछे अपने-अपने स्वभावके अनुसार पशु-पक्षियोके छिपे हुये चेहरे समझना चाहिये। जिसका जैसा स्वभाव उसका वैसा मुखडा, यही इन भेदोका सूत्र है। इस कल्पनाका मूल ऋग्वेदमे पाया जाता है।

बौद्ध साहित्यमें अश्वमुखी यक्षीका उल्लेख आया है (पदकुसल मागव जातक)। सारनाथके सिंह स्तम्भ,, सिंह सघाटके सदृशकी कार्लेके चैत्यघरमें स्तम्भ शीर्षकोपर हयसघाट उत्कीर्ण है (पीठ मटाकर बैठे हुये पशुओंको सघाट कहते हैं)।

वैदिक अभिप्रायमे प्रथम चार अश्वोंके रथ पर सूर्यको आरूढ दिखाया गया है। पीछे अश्वोकी सख्या सात तक हो गयी। बोधगया वेदिका पर चतुरश्व योजित रथपर बैठे हुए सूर्यका चित्रण है। भाजा गुफामें द्वितीय शती पूर्वकी एक मूर्ति चतुरश्वयोजित रथमे बैठी हुई है। मथुराकी कुषाणकलामें सूर्यके रथमें दो या चार अश्व दिखाये गये हैं। यही परम्परा गाधार और सासानी कलामें मिलती है। काबुलके समीप खोरखानासे प्राप्त सगमरमरकी सूर्य मूर्तिके रथमें चार घोडे जुते है। गुप्तकालसे लेकर मध्यकालके सूर्यके रथोंमें सात घोडे पाये जाते हैं।

शैशुनाग-नन्द युग (छठी श० ई० पू० से चौथी श० ई० पू०) की कलामें राजघाटसे प्राप्त चकियामे (जो अब लखनऊ सग्रहालयमें है) मातृदेवीके बाई औरका पशु अश्व है। पटनासे प्राप्त चकिया पर तीन समान केन्द्रित वृत्त हैं। इसके दूसरे वृत्तमे १२ पशुओमें अश्व भी अकित है। मुर्तजीगंजकी चकियापर भी अश्वका चित्राकन है। ये चकिया मातृपूजाके लिये प्रतीकात्मक चिह्न या मन्त्र थे।

मौर्यकालके (३२५-१८४ ई० पू०) लुम्बिनी उद्यान (वर्तमान रुम्मिनि देई) के स्तम्भपर अश्व शीर्षक था। युवाङ्‌ चाङ्‌के अनुसार, यह बिजली गिरनेसे बीचमें टूट गया था। यहाँ भगवान बुद्ध शाक्य मुनिका जन्म हुआ था (हिदे बुधे जाते शक्यमुनि ति)।

स्तम्भ शीर्षकोंपर चार महा आजानेय पशुओंकी मूर्तियाँ पायी जाती हैं। चार पशु—अश्व, सिंह, वृषभ और हाथी हैं। इन चार पशुओंकी परम्परा सिन्धुघाटीकी प्राचीनताको छूती हुई १९वी शताब्दी तक आती है। इसका देशगत विस्तार भारतसे लेकर लका, श्याम, बर्मा और तिब्बत तक मिलता है। बौद्ध

स्तम्भोंके अलंकारणोंमें इनका बहुलतासे प्रयोग है और महावंशमें इन्हें चतुष्पद पंक्ति कहा गया है। स्तूपकी चन्द्रशिलाओंपर, अनुराधापुरके गुप्तकालीन स्तूपोंकी चन्द्रशिलाओंपर, १८वीं शतीके राजस्थानी चित्रमें (जो इस समय दिल्ली संग्रहालयमें है) और १९वी शतीके बंगालसे प्राप्त एक कन्थे (इस वक्त भारत कला भवनमें) आदिपर इस चतुष्पद पंक्तिका सुन्दर अंकन है। कहते हैं, जहाँ न पहुँचे रवि, वहा पहुँचे कवि। अत: बौद्ध कल्पनामें ये चार पशु अनवतप्त सरोवरोंके चार द्वारोंके रक्षक हैं जहाँसे चार महानदियोंका उद्गम है। वाल्मीकि रामायणमें इन्हें रामके अभिषेकके लिये एकत्र मांगलिक द्रव्योंमें गिना जाता है। केशवदासने (१७वी शती) रामके राजप्रासादके चार द्वारों पर इनका उल्लेख किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवालने अपनी पुस्तक चक्रध्वज में लगभग पचास अवतरण और उल्लेख दिये हैं। आपके चिन्तनके अनुसार लोक भावनामें इन चारो पशुओंको पवित्र समझा जाता था और इनके पीछे जैन, बौद्ध और ब्राह्मण-इन तीनो महान धर्मोंकी मान्यताका भी बल था।

शुंगकालीन (१८४-७२ ई० पू०) भरहुत स्तूपकी तोरणवेदिकापर अश्वरथ अंकित है। इस कालमें पशुओंकी आकृतियाँ दो प्रकारकी प्राप्त हुई हैं एक स्वाभाविक और दूसरी कल्पित जैसे आकाशचारी अश्व अर्थात् सपक्ष अश्व। उडीसाकी खण्डगिरी-उदयगिरीकी गुफायें भी इसी कालकी हैं। इनमें रानीगुफाकी शोभापट्टीमे उत्कीर्ण सात चित्र राजेन्द्रलाल मित्र कृत उडीसाके प्राचीन अवशेष, खण्ड २ नामक ग्रन्थमें प्रकाशित किये गये हैं। इन चित्रोंमें दृश्य चारमें पट्टके पहले भागमें तीन व्यक्ति, एक अश्व, उसे थामे हुए एक सूत है। राजाकी मृगयाका दृश्य-दुष्यन्त-शकुन्तला कथाका दृश्य इस रोचक दृश्यका सारा रूपक राजा दुष्यन्तका ऋषि कण्वके आश्रममें आगमन, शकुन्तलाको देख उसपर मोहित होना है। गणेश गुटकामें पर्याण और आभूषणोंसे सुशोभित घोडेका दृश्य भी अंकित है। मञ्चपुरी गुफामें तोरणपर अलफ मुद्रामें अश्वारोही मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसीकी अनुकृतिपर आगे चलकर व्यालतोरणकी मूर्त्तियाँ बनने लगी जिसका उदाहरण सारनाथमें मिलता है। अनन्त गुफामें सूर्यकी एक विशिष्ट मूर्त्ति है जो अपनी दो पत्नियोंके साथ चार घोडोंके रथपर आरूढ़ है।

शुंगकालके आरम्भिक काल (लगभग दूसरी श० ई० पू०) का केन्द्र भाजा बना। भाजाके बिहारके मुखमण्डपके पूर्वी छोरके प्रवेशद्वारके दोनों ओरकी मूर्त्तियोंमें एक ओर बाईं तरफ एक राजा चार घोड़ोंके रथ पर सवार है। पीछे चँवर और छत्र लिये दो अनुचर स्त्रियाँ भी हैं। पीतलखोराकी गुफा न० ४ में दाहिनी ओर हाथीके बराबर एक अश्वारोहीकी काय परिमाण मूर्त्ति पर दानदाताका नाम खुदा है। यह दूसरी शताब्दीकी मालूम पडती है। बेडसाकी गुफाओंके स्तम्भों पर हयसंघाटकी मूर्त्तियाँ हैं।

पेल्लरूनदीके तट पर स्थित जग्गयपेट्के महास्तूपके एक पादुकापट्ट पर सुसज्जित अश्वकी आकृति उत्कीर्ण है।

शक सातवाहन (प्रथम, द्वितीय शती) कालके हैदराबादको कोण्डापुरसे प्राप्त खिलौनोंमें अश्व भी है जो क्योलिन नामक सफेद मिट्टीका बना है।

पहाडपुरके फलकों पर बंगालके पशु-पक्षी और वृक्ष-वनस्पतियोंका घनिष्ट अंकन है। उनमें हाथी घोडा, चम्पक और कदम्ब इत्यादि हैं।

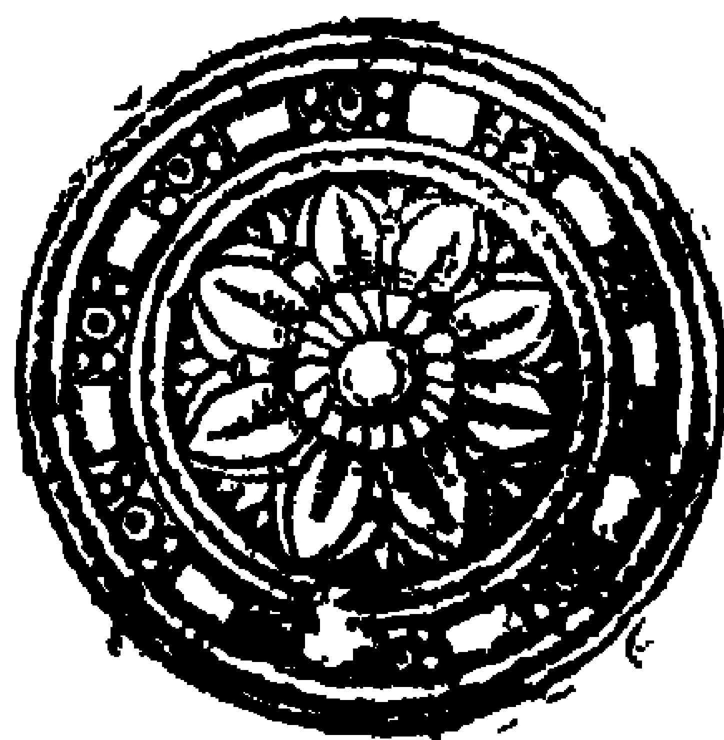
महास्थान (जिला बोगरा) से भी कुछ फलक प्राप्त हुये हैं जो उत्तर गुप्तकालीन कालके नमूने हैं। एक मिट्टीके पात्र पर चार घोडोंके रथ पर बैठा व्यक्ति तीर-धनुषसे मृग झुण्ड पर बाण बरसा रहा है। १६वी-सत्रहवी शताब्दीमें पुर्तगाली सिपाही बंगालके भीतरी गाँवमे जाने लगे। स्थानीय कुम्हारोंने

उनकी आकृतियोंको खिलौनोंमें उतारा। जैसोरमे प्राप्त एक फलक पर पुर्तगाली सिपाही घोडेपर सवार है। उसके बायें हाथमें घोडेकी रास और दाहिनेमें चाबुक है। प्राचीन मांगलिक प्रतीक मूर्तियोंकी रूप कल्पनामें अश्व भी स्वीकृत था।

अश्वमेधकी परम्परा इस देशमें अति प्राचीन है ऐतिहासिक कालमें भी पुष्यमित्र शुङ्ग, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त आदिने अश्वमेध किये। समुद्रगुप्तके अश्वमेध-यज्ञकी प्रतिकृति भी मिल गयी हैं जो लखनऊके संग्रहालयमें रखी है। भारतवर्षका दिग्विजय कर समुद्रगुप्तने अश्वमेध-यज्ञ किया था। उसने अश्वमेध स्मारक दिनार (सोनेका सिक्का) चलाया। दक्षिणके अनेक राजाओंने भी अश्वमेध किये। कन्नौजके गहडवाल राजा जयचन्द्रके भी अश्वयज्ञका उल्लेख हुआ है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके बेटे कुमारगुप्त प्रथमने चालीस वर्षों तक राज्य किया और सोनेका सिक्का चलाया। सिक्केमें राजा घोडे पर सवार है।

भारतके बीसवी सदीके ताम्बेके पैसे पर पटमें भी अश्वाकृति थी। आहत मुद्राओं पर चिह्नोंके दूसरे वर्गमें चार महा आग्नेय पशुओंका चित्र है। चतुष्पाद पक्तिका प्रतीक बौद्धधर्मके उदयसे बहुत पहले ही प्रचलित हो चुका था।

इस प्रकार कमल और अश्वका भारतीय संस्कृतिके मांगलिक प्रतीकोंमें मुख्य स्थान था।



बुन्देलखण्डमें जैन-धर्मके प्राचीनतम प्रतीक

चन्द्रभूषण त्रिवेदी
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली

बुन्देलखण्डको प्रकृतिने बडे ही सुन्दर ढगसे सजोया है। इस क्षेत्रमें यहाँके शैल-गिरि, गहन-वन और सरिताओने धर्म एव सस्कृतिमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यह ब्राह्मण, बौद्ध एव जैन धर्मोकी जहाँ तपोभूमि है, त्रिवेणी कई सहस्र वर्ष पूर्वसे अबाध गतिसे प्रवाहित होती रही है। विन्ध्य शृखलाओके मध्यमें बसे इस भूमिखण्डमें विभिन्नताके साथ ही एकरूपताका विराट् दर्शन होता है। यह तपोभूमि पावन वेत्रवती (बेतवा), यमुना, दशार्ण (धसान), उर्वशी (ओर), तमसा (टमस), शुक्तिमती (केन) सहस्रो वर्षसे जन-मानसको प्रेरित करती हुई पतित-पावन गगामें मिल जाती है। विदिशा तीर्थंकर शीतलनाथजीकी जन्मस्थली रही है। मौर्यकालके उपरान्त गुप्तकाल तथा मध्यकालमें यहाँ प्रतिहार, कलचुरि एव चन्देल नृपोके कालमे जैनधर्म पूर्ण रूपसे पल्लवित एव पुष्पित हुआ। प्रमाण-स्वरूप आज भी सभवत ऐसा कोई ग्राम न हो जहाँ जिन-अवशेष उपलब्ध न हो।

पुरातत्वीय प्रमाणोके आधारपर यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण एव बौद्धधर्मोसे पूर्व जैन-धर्ममें सगुणोपासना प्रारम्भ हुई थी। इस सन्दर्भमें मोहँजोदडोसे प्राप्त एक सेलखडीकी मुद्रा तथा हडप्पासे प्राप्त लाल पाषाणका एकबन्ध उल्लेखनीय है। मुद्राके दृश्यका अकन इस प्रकारका है।

एक श्रवण, कायोत्सर्ग मुद्रामें आच्छादित वनमें प्रदर्शित है। वृषभके निकट एक गृहस्थ अञ्जलिमुद्रामें है। इस पंक्तिके नीचे सात पुरुष कायोत्सर्ग मुद्रामें है।

इन कलाकृतियोको निश्चित रूपसे जैनधर्मसे निरूपित करना कठिन है। जब तक कि सिन्धु लिपिका पठन न किया जा सके। इसके अतिरिक्त इतने वर्षोंके गहन अध्ययनके फलस्वरूप भी जिन कलात्मक वास्तु एव शिल्पीय कृतियोको मूल भारतीय कला एव धर्मसे पृथक् करना अत्यन्त कठिन है। इनके मूल सिद्धान्त वेदोंमें निहित है।

जिन आख्यानोमें भगवान महावीरकी समकालीन प्रतिमाका उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि वीतमयपतन नगर (जिसकी भौगोलिक स्थिति अस्पष्ट है) के नृपति उद्दामनकी महिषी चन्दन काष्ठसे निर्मित तीर्थंकरकी पूजा करती थी। इसी आख्यानका प्रतिरूप भगवान बुद्धके समकालीन कौशाम्बीके राजा उदयनसे सम्बन्धित है। ऐसा ही उल्लेख दशपुर नगर (मन्दसौर) के सम्बन्धमें जीवन्तस्वामीकी प्रतिमाका उल्लेख है। इन आख्यानोंका समीकरण पुरातत्वीय सन्दर्भमें नहीं हो सका है। सम्भवत उस कालमें प्रतिमायें काष्ठ ही की निर्मित की जाती थीं।

पुरातत्वीय सन्दर्भमें उल्लेख चेदि राजवशके महामेघवाहन कुलके तृतीय नृपति खारवेल (प्रथम शती ई० पू०) के उदयगिरि-खण्डगिरिकी गुफाओंमें उत्कीर्ण लेखमें अकित है। उसके अनुसार खारवेल नन्दराज द्वारा बलपूर्वक ले जाई गई तीर्थंकर प्रतिमाको पुन ले आया था। इसके अतिरिक्त पटना संग्रहालयमें

लोहानीपुरसे प्राप्त मौर्यकालीन प्रस्तर प्रतिमा जो कि यक्ष परम्परासे वेष्टित है का निर्माणकाल लगभग ई०पू० तीसरी शतीमें हुआ ।

मूर्तियोके अतिरिक्त ई० पू० तथा ईस्वी पश्चात् जैन-धर्मावलम्बी मांगलिक चिह्नोंको पूजते थे। उनका ही अकन आयागपट्टोंमें मिलता है। प्राक्-कुषाण एव कुषाण कालके आयागपट्ट मथुरा (शौरीपुर) से प्राप्त हुये है।

सम्भवतः गहन वनोंमें प्रतिमाओंका निर्माण आसान नही था। जिन श्रवण भ्रमणशील होते थे तथा अपना निवास प्रायः गिरि कन्दराओं हीमें रखते थे। ऐसी कन्दराओका प्रमाण जो कि बौद्धधर्मसे सम्बन्धित हैं, सीहोर जिलेकी बुधनी तहसीलमें पानगुरारिया नामक स्थानमें बहुमात्रामें उपलब्ध है। स्तरीय शिला-खण्डोंमें कन्दरायें प्राकृतिक रूपसे ही निर्मित हो जाती थी तथा आग्नेय शिलाओंमें निर्माण तक्षण विधिसे ही किया जाता था। लेखकको पुरातत्वीय सर्वेक्षणके फलस्वरूप चन्देरी, जो कि आज भी जैनधर्माव-लम्बियोंका अतिशय क्षेत्र है, में प्राप्त हुए है। इस महत्त्वपूर्ण खोजसे जैनधर्मका प्रवाह ईस्वी शती पूर्व कालका निर्धारित किया जा सकता है। लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् इस तीर्थस्थलका पुन पुनरुद्धार हुआ जिसके फलस्वरूप जैन प्रतिमायें एव देवालयोंका निर्माण देवगढ़ (पथराडी देवगढ़), बूढ़ी चन्देरी, थूबौन तथा शिवपुरी क्षेत्रमें बहुसख्यामें हुआ। पन्द्रहवी-सोलहवी शतीमें ग्वालियर दुर्गमें मरीमाताके समान चन्देरीमें भी विशालकाय प्रतिमाओका निर्माण तोमर शासकोके कालमें हुआ। मुस्लिम शासनकालमे जिनालयोंका निर्माण विशाल चट्टानोको काटकर किया गया जिसे खण्डारजी कहा जाता है। इस कालमे मालव सुलतान दिलावरखाँ गोरी था।

प्राचीन कालमें चन्देरी मथुरा तथा विदिशासे जुडा था। यह महत्त्वपूर्ण स्थल वनोंसे आच्छादित किले एव खण्डारजीके शीर्ष भागमें स्थित पठवटियाके नामसे जाना जाता है। सम्पूर्ण शिलाको साल मीटर चौडा तथा तीन मीटर गहरा उकेरा गया है। इसका घाटी-मार्ग प्रस्तर खण्डोंसे भरा है। सम्भव है कि इन खण्डोको हटाये जानेके उपरान्त सोपान मार्ग मिल सके। पश्चिमामुखी दीवाल पर दो लेख उत्कीर्ण है एक विक्रम सवत १५७१ का तथा दूसरा लेख ब्राह्मी लिपिमे है। अक्षर रचनाके अनुसार यह लेख लगभग दूसरी पहली शती ई० पू० का है।

उपर्युक्त लेखके साथ निम्न मागलिक चिह्न उत्कीर्ण हैं—

(१) नन्दीपद (नद्यावर्त), (२) स्वास्तिक, (३) विहग, (४) मीन-मिथुन, (५) पद्म, (६) शख, (७) त्रिरत्न, (८) वज्र, (९) श्रीवत्स, (१०) ध्वज, (११) तालवृन्त (व्यजन) अथवा दर्पण।

मीन-मिथुनको एकसे अधिक बार दर्शाया गया है। उपर्युक्त प्रतीकोमें से कईकी कल्पना अष्ट मांगलिक चिह्नोसे की गयी है।

तेसि सा तोरणाण उप्पि अट्ठट्ठ मगलगा पण्णता, त जहा—

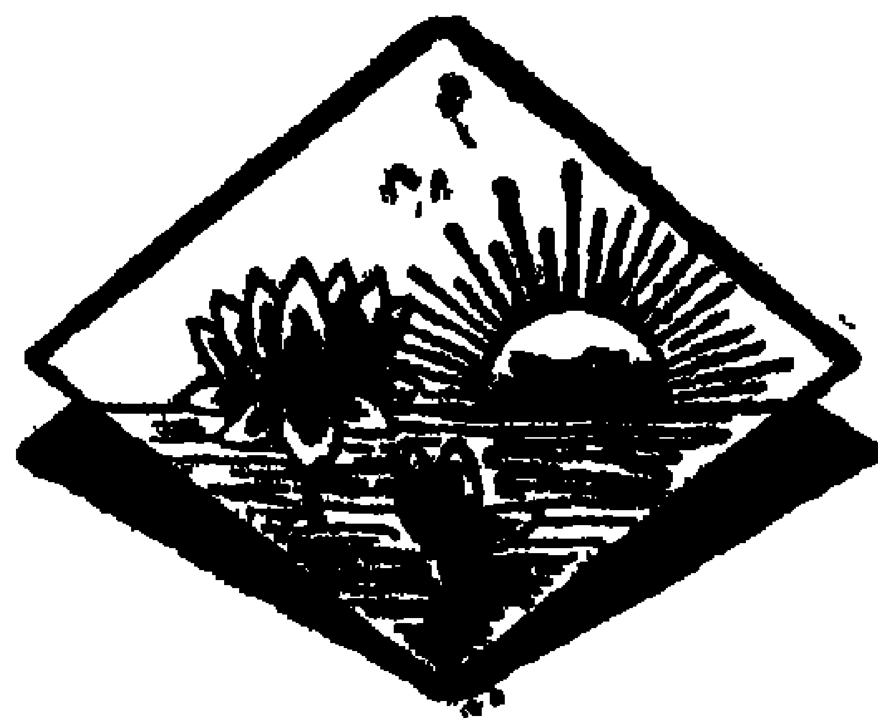
सोत्थिय, सिरिवच्छ, नन्दियावर्त वद्धमाणग, भद्दासण, मच्छ, दप्पण, जाव, पडिरुवा।

उपर्युक्त शुभ प्रतीकोंके अतिरिक्त पठारके ऊपर वृत्ताकार द्रोणियाँ बनी हुयी हैं जिनमें मार्जन हेतु संभवत. जल सगृहीत किया जाता था।

मानव सस्कृतिके अभ्युदयसे ही पूजनके भावरूपको महत्त्व दिया जाता था न कि द्रव्य भावको। निर्गुण उपासनाके साथ ही सगुण उपासनाका उद्भव प्रारम्भ हो गया था। जब प्रतीक सर्वसाधारणको बोध करनेमें असफल हो जाते हैं तभी प्रतीकात्मक वस्तु कालान्तरमें दो रूपोमें परिणत हो जाती है एक अतदाकार तथा द्वितीय तदाकार।

उपर्युक्त लाञ्छन निम्न अरहन्तोंको निरूपित किये जा सकते हैं स्वस्तिक शीतलनाथ जी, विहग (पडिरवा) सुमतिनाथजी; मत्स्य, अरहनाथजी; पद्म, पद्मनाथजी; शंख, नेमिनाथजी, वज्र, धर्मनाथजी हैं। शेष विशिष्ट मांगलिक चिन्ह हैं जिनमें श्रीवत्स प्रत्येक तीर्थंकरके वक्षपर विद्यमान रहता है।

अभिलेखके बाईं ओर तालवृन्त अथवा व्यजन तथा दाहिनी ओर स्वस्तिक है। अभिलेखका अभिप्राय अस्पष्ट है। इसके आधार पर इन मांगलिक चिन्होंकी तिथि दूसरी-पहली शती ई० पू० निर्धारित की जा सकती है। अतः स्पष्ट है कि बुन्देलखण्डमें जैनधर्मका प्रचलन प्राचीन है। इस क्षेत्रमें सर्वेक्षणकी अत्यन्त आवश्यकता है। यह सम्भव है कि यहाँ जैनधर्मके स्तूप तथा प्राकृतिक गुफाओंमें और भी अवशेष मिल सकें। लेखकी प्रतिलिपि निम्न है। जिसे भ (ड) क बु पढ़ा गया है (भारतीय पुरातत्त्व पत्रिका, पृ० ५३-७४, १९७१-७२)।



जैन प्रतिमाओंमें सरस्वती, चक्रेश्वरी, पद्मावती और अम्बिका

डॉ० कादम्बरी शर्मा, गाजियाबाद, (उ० प्र०)

ऋग्वेदमें सरस्वती सरित प्रवाहमय बनकर आयी। उसी सरस्वतीको वाक्यका समानार्थी मानते हुए ब्राह्मणोंने सरस्वतीको वाक्की संज्ञा दी और वाक्को वर्ण, पद और वाक्यका प्रवाह माना है। सरित प्रवाह वाक्य प्रवाहमें परिवर्तित हो गया। भाषाकी प्रतीक बनकर वह सब धर्मोंकी अधिष्ठात्रीके रूपमें पूजी जाने लगी। सरस्वती हिन्दू, बौद्ध और जैनधर्ममें विभिन्न नामोंसे सुशोभित हुयी है। जैन मतावलम्बियोंने इसे श्रुता देवीके रूपमें स्वीकार किया है। यह शब्द सरस्वतीके काफी समीप बैठता है।

वाग्वादिनि भगवति सरस्वती ह्रीं नमः इत्यनेन मूलमन्त्रेण वेष्टयेत्।

ओं ह्रीं मयूरवाहिन्ये नमः इति वागधिदेवता स्थापयेत्॥ (प्रतिष्ठासारोद्धार)

माउन्ट आबूके नेमिनाथके मन्दिरमें सरस्वती वन्दना लिखी हुई मिलती है। इस प्रधान देवी सरस्वती के साथ जैन शास्त्रोंमें कुछ अन्य देवियोका भी उल्लेख है। लेकिन ये यक्षिणियोके रूपमे तीर्थंकरोकी रक्षिकाओके रूपमें आती हैं। ये तीर्थंकरोंसे हेय मानी जाती है। ये सख्यामें सोलह हैं। इनकी आराधना करनेसे महापुरुषों एव तीर्थंकरोके प्रति आदरभाव उत्पन्न होता है।

सरस्वतीकी प्रतिमाएँ

जैन प्रतिमाओमें श्रेष्ठ और अधिक मात्रामें प्राप्त श्रुतादेवी सरस्वतीकी कुछ प्रसिद्ध प्रतिमाओके वर्णनसे पहले इस प्रतिमाके सामान्य गुण एव विशेषताओका उल्लेख करते हैं। जैनधर्ममे दो मार्ग हैं— श्वेताम्बर और दिगम्बर। ये मूर्तियाँ अधिकतर श्वेताम्बरमार्गीय है। जैनधर्ममे केवल तीर्थंकरोकी दो मुद्रायें मिलती हैं कायोत्सर्ग और पद्मासन (ध्यानी मुद्रा)। परन्तु सरस्वती प्रतिमाएँ पद्मासन पर खडी त्रिभग, समभग और ललितासनमें मिलती हैं। जैन मूर्ति विज्ञानानुसार ही वह नवयौवना एव सन्तुलित सौन्दर्यकी सजीव प्रतिमा रूपमे ही मिलती हैं। जहाँ जैन तीर्थंकरोके दो हाथोको ही मान्यता देते हैं, वहाँ सरस्वतीकी प्रतिमा चतुर्हस्ता भी मिलती है। दाहिना हाथ अभयमुद्रा, दूसरे दाहिने हाथमें अक्षमाला, बायें हाथोंमें पुस्तक तथा एक श्वेत पुण्डरीक मिलते है। इसके शरीर पर यज्ञोपवीत, मस्तक पर जटामुकुट और अग सुन्दर आभूषणोंसे सुसज्जित मिलते हैं। दक्षिणकी होयसालकी प्रतिमाये विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार समभग मुद्रामें, दाहिने हाथमें व्याख्यान मुद्राके अतिरक्त बाँसके नालकी बनी वीणा, बायें हाथमें कमलके स्थान पर कमण्डलु है। पटनामे प्राप्त कास्य मूर्ति ललिता आसनमें बैठी है जिसके दोनो ओर मानव प्रतिमायें बाँसुरी-मजीरे बजा रही है। परमारकी सरस्वती मूर्ति (जो ११वी सदीकी है) भी ललितासन पर बैठी है। मूर्तिके ऊपर जैन तीर्थंकर ध्यान मुद्रामें बैठे हैं। यह मूर्ति स्फटिककी बनी हैं। होयसालकी मूर्ति ज्यादातर काले-चमकीले पत्थरकी है। दोनो पत्थर (स्फटिक, काला पत्थर) जैन मूर्तिशास्त्र सम्मत हैं।

यह देवी स्वय वीणावादिनी है। उसके चारों ओर सगीतमय वातावरण उत्कीर्ण हुआ उपलब्ध होता है। उदाहरणके लिए, होयसाल (१२वी सदी) कालीन केशव मन्दिरकी मूर्ति, सोमनाथकी कर्णाटककी

मूर्ति और खरीद (म० प्र०) की प्रतिमायें (१०वीं सदी) की जा सकती हैं जिनमें सीधी तरफ बीना वीणा बजा रही हैं। देवी संगीतप्रिय भी तो हैं। मत्स्यपुराणमें देवीके बारेमें लिखा है -

वेदा: शास्त्राणि सर्वाणि नृत्यगीतादिकं च यत् ।
न विहीनं त्वया देवि तथा मे सन्तु सिद्धये ॥

सरस्वती दो हाथकी भी मिलती है। गन्धावल, गोरखपुरकी सरस्वती चमकीले पत्थरकी द्विहस्त मूर्ति है। यह ११-१२वीं सदीकी है। पाला (२४ परगना, बंगाल) से प्राप्त (१०वीं सदी) मूर्ति त्रिभंग मुद्रामें खड़ी है। यह दोनों हाथोंमें वीणा पकड़े हुए है। इसका शरीर पारदर्शक साड़ीसे पूर्ण रूपसे ऊपरसे नीचे तक ढका हुआ है। सरस्वती केवल चार हाथ तक ही सीमित नहीं। जब वह शारदारूपमें चतुःषष्टि कलाकी अध्यक्षाके रूपमें आती हैं, उस समय उसके पाँच मुख और विभिन्न आयुधोंसे सुशोभित दस भुजायें दिखाये जाते हैं। वैसे विष्णुधर्मोत्तर तथा रूपमंडन आदि पुस्तकोंके अनुसार सरस्वती चतुर्हस्ता, श्वेतपद्मासना, शुक्लवर्णा, श्वेताम्बरी, जटामुकुट संयुक्ता एवं रत्नकुण्डलमण्डिता है।



चित्र १ सरस्वती, चौहान, १२वी शती ई०
पल्लू, बीकानेर, राजस्थान

प्राचीनतम सरस्वती मूर्ति मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त हुई है। यह ईसाकी द्वितीय शताब्दीकी मानी जाती है। यह कुषाण कालीन है। प्रतीकरूपमें यह भीटासे प्राप्त गोलमोहर पर मद्रघटके रूपमें अंकित मिलती है। इस पर गुप्तलिपिमें सरस्वती लिखा है।

सरस्वतीकी जैन मूर्ति दो प्रकारसे पहचानी जा सकती है। प्रथम, उस पर स्वयं विस्तृत उल्लेख उत्कीर्ण हो। दूसरे, मूर्तिके साथ जैन तीर्थंकर दर्शाये गये हो। ब्रिटिश म्यूजियममें प्राप्त सरस्वतीकी प्रतिमाके पीठके ऊपर ध्यान-मुद्रामें पाँच तीर्थंकर बैठे हैं। यह ११-१२वी सदीकी है। श्वेतसंगमरमरकी यह मूर्ति त्रिभंग मुद्रामें प्राप्त चतुर्हस्ता देवी है। इनके दोनो हाथ पैर टूट चुके हैं और बायें हाथमें अक्षमाला और नीचेवालेमें पुस्तक है। इसी म्यूजियममें प्राप्त दूसरी मूर्ति सुन्दर है। यह एक अपूर्व वीणा वादन करती सरस्वती प्रतिमा है। सबसे पूर्व भाग कलहंसका है। चतुर्हस्ता देवी अपने ऊपरके दायें हाथमें अक्षमाला, बाएँ हाथमें पुस्तक और नीचे दोनों हाथोंमें वीणा बजा रही है।

सरस्वती प्रतिमाओंकी शृंखलामें प्रतिष्ठित सुन्दरतमकृति १२वी सदीकी पल्लूकी जैन सरस्वती मूर्ति है। ये एक ही कालकी एक-सी मिलती-जुलती दो प्रतिमाएँ बीकानेरसे प्राप्त हुई हैं। इनमें एक राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्लीमें तथा दूसरी बीकानेर संग्रहालयमें है। देहली वाली श्रेष्ठतम मूर्ति चित्रमें दी गई है। वह मूर्ति स्फटिक (संगमरमर) की बनी होनेके कारण श्वेताम्बरी तो है ही, यह चतुर्हस्ता भी है। ऊपर-

वाले दाहिने हाथमें श्वेत पुण्डरीक (१६ दलका), बाएँ हाथमें ताडपत्रीय पुस्तक है जो काष्ठ फलक तीन फींटोमें बन्धी हुयी है। इस हाथकी अन्तिम अगुलि खण्डित है। दाहिना हाथ, जो वरद मुद्रामे है उसमें खण्डित अक्षमाला धारण कर रखी है। बाएँ हाथमे पुष्पपक्तियोमे सुसज्जित कमण्डलु है। उसकी नलकीका अग्रमात्र टूट गया है। साँचेमें ढला देवीका शरीर त्रिभग मुद्रामे मोनेमे सुहागेका कार्य कर रहा है। पद्मासनके पद्मके दोनो ओरसे नाल निकले हुये है। इस आसन पर वाहन हस चित्रित है। इसके गलेमें पड़ी त्रिवलीने अग सौष्ठवको बढाया है, लम्बी आँखोमे भाव प्रवणताके कारण वे अर्द्ध मुकुलित है। लम्बे गोल हाथकी अगुलियाँ लम्बी कलात्मक है। बडे नाखूनोसे अगुलियाँ और भी सुन्दर हो गयी है। चेहरे पर सौम्यता एव नवयौवनकी आभा फूटी पडती है। हथेलियो पर पुष्प तथा सामुद्रिक रेखाएँ अकित है।

सरस्वतीकी जैन प्रतिमाएँ आभूषण-सज्जा एव सुन्दर वस्त्र सज्जाके कारण प्रसिद्ध है। यह मूर्ति इसका अद्वितीय उदाहरण है। इसके शीश पर रत्न जटित मुकुट सुशोभित है। इस मुकुटसे निकल कर बाल बडे कलात्मक ढगसे जूडेके रूपमें बायी ओर लटक रहे है। गलेमें हारोकी पक्तियाँ है जिनमें फलक हार भी है। गोलहाथोमे आभूषण भुजबन्धसे शुरू होकर कगन, चूडियाँ, अगुलियोमे अगुलियाँ तक पहने हुए है। आभूषण ठोस और कलात्मक है। मुखाकृतिके अनुसार कानोमे लटकते मोतियोके झुमके अत्यन्त सुन्दर लग रहे है। कानके ऊपरी भागमे मणियुक्त भँवरियाँ धारण किये हुये है। ऊपरका नग्न शरीर साँचेमें ढल कर बना मालूम पडता है। नीचेके भागमे फूलदार किनारेकी कम कर सुन्दर साडी बँधी है। यह फूलदार साडी सुन्दर वनमालाके नीचेसे स्पष्ट होती है। ऊपर कमर सुन्दर कटिसूत्र है। जिसकी सुन्दर दर्नी पैरो पर लटक रही हैं। लम्बी सुन्दर अगुलियो युक्त परोमे पादजालक पहने हुए है। साडीका कपडा अत्यन्त पारदर्शक और असाधारण मालूम पडता है।

अन्य यक्षिणियाँ (अर्ध देवियाँ) १ चक्रेश्वरी और उसकी प्रतिमाएँ

बी० सी० महाचार्यने अपनी पुस्तक दी जैन इकनोग्राफीमे हेमचन्द्रका एक उदाहरण देते हुए चक्रेश्वरीका रूप वर्णन किया है। इसका विवरण वासुनन्दीकृत प्रतिष्ठासारसग्रहमें उपलब्ध होता है

> वामे चक्रेश्वरी देवी, स्थाप्या द्वादश-षड्भुजा। धत्ते हस्तद्वये बज्रे चक्राणि च तथाष्टसु॥
> एकेन वीणपुर तु वरदा कमलासना। चतुर्भुजाऽथवा चक्र द्वयोर्गरुडवाहना॥

जैनोकी यह यक्षिणी ब्रह्मदेवी भी है।

गन्धावलमें प्राप्त ऋषभनाथकी शासनदेवी चक्रेश्वरी अद्वितीय है। यह जैन प्रतिमाओमे विशेष स्थान रखती है। इसके बीस हाथोमें से अधिकतर हाथ खण्डित है। बचे हुओमे आयुध और दोमे चक्रपूर्ण रूपमे स्पष्ट है। इनके पकडने का ढग ध्यान देने योग्य है। यह आभूषणमण्डिता है। राजस्थानमे ओंसिया ग्राममें महावीर मन्दिर पर बनी चक्रेश्वरीकी चार भुजाएँ है। यह सभीमे चक्र पकडे हुए है। शीर्षके पीछ प्रभा-मण्डल है। दोनो ओर विधाधर युगल निर्मित हैं। प्रतिमाके ऊपरी भागमे ध्यनमुद्रामे स्थित पांच तीर्थकरोकी लघु मूर्तियाँ है। दाहिने परके पास वाहन गरुड विराजमान हैं और बाये हाथमें सर्प-पकडा हुआ है।

उत्तरप्रदेमे प्रतिहार कालकी प्राप्त मूर्तिमे चक्रेश्वरी ललितासनमे विराजमान है जिसे पूर्ण विकसित कमल दलके रूपमे दिखाया गया है। इसका समय १०वी सदी है। इसके आठ हाथोंमेंसे छ हाथोमें चक्र है, निचला दाहिना हाथ वरद मुद्रामे है। बायेंमें फल है। शीशप्रभामें आदिनाथकी मूर्त्ति है। इसकी पीठिका पर वाहन गरुड आलीढ मुद्रामे अकित है। पुरातत्त्व सग्रहालयमे ऋषभनाथकी कई मूर्त्तियाँ मिलती हैं।

कारीतलाई नामक स्थानसे प्राप्त आदिनाथ ध्यान मुद्रामें हैं। इसके सिंहासनके बायीं ओर यक्षी चक्रेश्वरीकी आसन मूर्तियाँ हैं। परन्तु यहाँ एक आदिनाथकी मूर्तिमें यक्षी चक्रेश्वरीके स्थानपर नेमिनाथकी यक्षी अम्बिका का अंकन हुआ है जो असाधारण प्रतीत होता है। यह मूर्ति १०वी से १२वी सदीकी चेदिकालीन हैं।

ब्रिटिश सग्रहालय लन्दनसे प्राप्त एक मूर्तिमे वाहन गरुड दाहिने हाथोमे फलोका गुच्छा और अक्षमाला बाये हाथोमें पद्म तथा परशु है। अन्य हाथ खण्डित हैं। यह धमिल्ल रूपमे सुसज्जित हैं। यहाँकी एक अन्य मूर्ति पूर्व मध्ययुगीन मालूम पडती है। इसके दोनो ओर एक एक सेविका त्रिभग मुद्रामे खडी हैं। उपरी भागमे ध्यानी तीर्थंकर हैं। देवीके वाहन गरुडके दोनो हाथ अजलिबद्ध हैं। ये दोनो मूर्ति चन्दल कालकी बनी प्रतीत होती हैं। श्वताम्बर चक्रेश्वरी मूर्तिके आठ हाथ मिलते है जिनमे तीर चक्र धनुष अकुश वज्र वरदमुद्रा आदि होते हैं। इसके विपर्यासमे दिगम्बर बारह और चार हाथकी मूर्तियोको मान्यता देते है। बारह हाथ वाली मूर्तिमें आठमे चक्र होते हैं। दो में वज्र तथा एक हाथ वरद मुद्रामे होता है। चतुर्हस्तामे दो हाथमे चक्र दिखायी पडते है।

पद्मावती (यक्षिणी) और उसकी प्रतिमायें

हेमचन्द्रने पार्श्वनाथचरित्रमे पद्मावतीके स्वरूपका वर्णन किया है। वह पार्श्वनाथकी यक्षिणी है। गुजरात एव राजस्थानसे प्राप्त पद्मावतीकी दो मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। प्रथममे यक्षी पद्मासनमे सर्पके ऊपर तीन फणाके नीचे बैठी है। ऊपर ध्यानी तीर्थंकरकी मूर्ति है। इनके उपरके दो हाथो मे फल तथा कमल है। नीचेका दाहिना हाथ वरद मुद्रामे तथा बायमे घट है। पैरोके समीप वाहन कुक्कुट उत्कीर्ण है। यह मूर्ति १७वी शतीकी है। द्वितीय प्रतिमामे वह गोरासनमे ललित मुद्रामे बैठी है। उसके ऊपरके हाथोमे अकुश पाश है। निचला दाया हाथ वरद मुद्रामे है और बायमे फल है। अठारहवी सदीमे बनी इस मूर्तिके उपरी भाग मे ध्यानी तीर्थंकर उत्कीर्ण है।



चित्र २ पद्मावती
गाहडवाल १२वी शती उत्तरप्रदेश

उत्तर प्रदेशमे गाहडवाल कालीन बारहवी सदीकी प्राप्त पद्मावतीकी मूर्ति मूर्तिकलाका एक अच्छा उदाहरण है (चित्र २)। यह देवी ललितासन पर विराजमान है। इसके दाये हाथमे फल तथा बाएँमे सर्प है। इसके शीशके ऊपर भी सर्प है जिसके नौ फण है। उसका वाहन सर्प बाएँ पैरके पास अंकित है।

ब्रिटिश सग्रहालय लन्दनमे भी एक परमार युगीन (बारहवी सदी) देवीकी मूर्ति है। यह देवी त्रिभग मुद्रामें सर्प फणोंके नीचे खडी है। इसके दाहिने हाथमें एक नाग व तलवारकी मूँठ है जिसमे

तलवार खण्डित हो चुकी है। यह बाएँ हाथोंमें ढाल व पद्म पकडे हुए हैं। देवीने सुन्दर आभूषण धारण कर रखे हैं। शीश और सर्प फणोंके ऊपर ध्यानी तीर्थंकरकी मूर्ति हैं। पैरोके पास वाहन सर्प बना है। विक्टोरिया एण्ड एलबर्ट संग्रहालय, लन्दनमें प्राप्त देवीकी एक मूर्ति पार्श्वनाथको मेघकुमारसे बचाते हुए नागराजकी पत्नी नागिनी पद्मावतीके रूपमे पाषाणमें उत्कीर्ण हुयी है। यह देवी पार्श्वनाथके बाँयी ओर खडी है। इसके हाथोंमें छत्र है जो तीर्थकरके ऊपर उठाए हुये है। यह मूर्ति अपने प्रकारका बेजोड उदाहरण है। यह वर्धनकालकी सातवी शतीकी महानतम कृतियोमे आती है।

अम्बिका और उसकी प्रतिमाएँ

श्वेताम्बर आचार्य गुणविजय गणिने अपने नेमिनाथचरितमे अम्बिकाका स्वरूप वर्णित किया है। इसीके अनुसार दिगम्बर मतावलम्बी भी इसे सिहवाहनी द्विभुजा वाली मानते हैं। इसका विस्तृत वर्णन प्रतिष्ठासारसंग्रहालय तथा प्रतिष्ठासारोद्धारमे मिलता है। विचार करनेसे लगता हैं कि यह देवी सिहवाहिनी दुर्गा, अम्बा, कुममण्डिता, कुशमण्डीसे मिलती ह। इसके बादके दो नाम भी दुर्गाके ही हैं।

गन्धावलमें प्राप्त अम्बिकाकी मूर्ति नेमिनाथकी यक्षिणीके रूपमे दिखायी गयी है। इसका केवल ऊपरका भाग मिलता हैं। इसके कानोमे कुण्डल तथा गलेमें हार दिखाये गये है। दाहिना हाथ खण्डित है। बाँये हाथमें बालक पकडे हुए है। आम्रवृक्षके नीचे देवीका अकन हुआ है। यहाँ बानर फल खाते दिखाये गये हैं। प्रतिमाके ऊपरी भागमें शीश रहित तीर्थंकर अकित किये गये है। यह प्रतिमा पूर्ण रूपमे सुन्दर रही होगी।

अम्बिकाकी एक प्रतिमा त्रिपुरामे भी मिली ह। देवी वाहनसिंह पर आसीन है। इसके शीशके ऊपर नेमिनाथ भी ध्यानस्थ मूर्तिके साथ उसके दाँयी ओर बलराम और बाँयी ओर कृष्ण अपने आयुधोके साथ दर्शाये गये है। देवीके पैरोके पास गणपति कुबेर भी प्रतिष्ठित है। यह मूर्ति धार्मिक सहिष्णुताका उदाहरण है।

अम्बिकाकी एक अन्यमूर्ति

बारहवी सदी (चैदिकाल) की भी मिलती है। जो राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्लीमें है। इसमें अम्बिकाका आसन एक वृक्षके नीचे दिखाया गया है। इसके गोदमें बालक है। वाहनसिंह बाँये पैरके समीप बैठा है। चतुर्हस्ता देवीने हाथोमे आम्रलम्बि व पद्म है। इसने खण्डित वस्तुधारण कर रखी है। पेडके ऊपर ध्यान अवस्थामें नेमिनाथ अकित है। इसके पैरोके समीप भक्तगण दिखाये गये हैं।

कांस्यकी बनी एक जैन अम्बिका मूर्ति तो चालुक्य कला (नवी सदी) का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें अम्बिका अन्य देवियो (चक्रेश्वरी, विद्या देवियो) के साथ आयी है। इसमें पार्श्वनाथ, महावीर तथा ऋषभनाथ अकित किये गये है। इसमे सिंहासनके दाहिनी ओर एक देवी दिखाई गई है और बाँयी ओर सिंह पर अम्बिका बैठी है। उनके दाहिने हाथमे आम्रलुम्बि तथा वह बाये गोदमें बालक पकडे हुये हैं। सिंहासनकेसामने धर्मचक्र सहित दो मृग, भक्त और गृहोका अकन हुआ है।

आकोटामें ग्यारहवी शतीकी प्राप्त अम्बिकाकी मूर्ति सुन्दर है। वह सिंहपर ललितासनपर बैठी है। इसके दाहिने हाथमें आम्रलुम्बि है। यह बाये हाथसे छोटे पुत्र प्रियकरको पकडे है। बडा पुत्र शुभकर बाँयी ओर खडा है। शीशके पीछे ध्यानी नेमिनाथकी मूर्ति अकित है।

मालवा क्षेत्रकी परमार कालीन अम्बिका मूर्ति भी सिंहपर ललितासनमे बैठी है। ऊपरके दोनो

हाथोंमें आमोंके गुच्छे, नीचेवाले हाथमें फल, बांयेसे बालक पकडा हुआ, दूसरा बालक दायीं ओर खडा है, ऊपर नेमिनाथकी ध्यानी लघु मूर्ति है। इसके पृष्ठ भागपर १२०३ सम्वत् लिखा है।

बिहारमें प्राप्त अम्बिकाकी मूर्तिके आभूषण और लटकती साडी उल्लेखनीय है। यह यक्षी आमोसे लदे पेड़के नीचे खडी है। बाये हाथसे छोटा पुत्र प्रियकर पकड रखा है। द्वितीय पुत्र शुभकर, जिसके दोनो हाथ खण्डित हैं, दाहिने हाथ खडा है। वाहन सिंह पद्मासनके पास बैठा है। यह मूर्ति कलाकी दृष्टिसे दशवी शती (पालकला) की बनी मालूम पड़ती है। (चित्र ३)।



चित्र ३. अम्बिका
पाल, १०वी शती, बिहार

कर्नाटकसे दो समान अम्बिका मूर्तियाँ मिली हैं। दोनोमें अम्बिका आमके वृक्षके नीचे त्रिभग मुद्रामे खडी हैं। दोनो मूर्तियोमें इनका एक पुत्र दाँयी ओर सिंहपर बैठा है। दूसरा बाँयी ओर खडा है। एक मूर्तिके दाहिने हाथमे आम्रलुम्बि है और बाँया खण्डित है। दूसरी मूर्तिमें दाहिना हाथ टूटा है। बाँयेमें फल हैं। ये बारहवी शतीकी बनीं मालूम पडती है।

ब्रिटिश सग्रहालय, लन्दनमे सग्रहीत अम्बिकाकी एक मूर्ति उडीसासे प्राप्त हुई है। इसमें एक सुन्दर आम्रवृक्षके नीचे खडी त्रिभग मुद्रामे अम्बिका मिलती है। यह सुन्दर आभूषण एवं साडी पहने हुए हैं।

इसमें एक पुत्र प्रियकर गोदमें तथा दूसरा घुमकर दाहिने हाथमें आमोके गुच्छोको पकडे हुये पैरोके पास खडा है। मूर्तिके दोनो ओर लताओंके मध्य विभिन्न वाद्योको बजाती हुई मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। ऊपर नेमिनाथ ध्यानी अवस्थामें हैं। नीचे पीठिकापर वाहन सिह बैठा है। यह ग्यारहवी शदीकी है। यह अमेरिकाकी स्टेणहल गैलरीमें प्रदर्शित मूर्तिसे साम्य रखती है।

म्युनियम फर वोल्कारकुण्डे, म्यूनिख, फिलेडेल्फिया म्यूजियम आफ आर्ट, एशियन आर्ट म्यूजियम सेन फ्रासिस्को तथा वर्जीनिया म्यूजियम आफ आर्ट, रिछमोन्डमें अम्बिकाकी बहुत सुन्दर मूर्तियाँ सग्रहीत हैं। इनका उल्लेख कलापारखी विद्वान डा० ब्रजेन्द्रनाथ शर्माने अपनी पुस्तक जैन प्रतिमायें मे किया है। वास्तवमे, ये मूर्तियां इतनी सुन्दर और अनूठी रही होंगी कि विदेशी विद्वान भी इनके सग्रहणका लोभ सवरण नही कर सके।



ऊनके प्राचीन जैन मन्दिर

राकेशदत्त त्रिवेदी

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, भोपाल

मध्यप्रदेशके पश्चिमी निमाड जिलेमे ऊन नामक ग्रामका जन अनुश्रुतियोमें एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। यह स्थान जिलेके मुख्यालय खरगोनसे पश्चिम दिशामें १६ किमी०की दूरीपर स्थित है। यहाँ खरगोनसे जानेवाली मुख्य सडकमे पहुँचा जा सकता है। जैन कथाओके अनुसार जैनोके कई निर्वाण क्षेत्रोमेंसे ऊन भी एक क्षेत्र है जिसका प्राचीन नाम पावागिरि था। इसी स्थानपर सुवर्णभद्र और अन्य तीन जैन मुनियोने निर्वाण प्राप्त करके इस स्थानको महत्त्व प्रदान किया था जिससे परवर्ती कालमे यह जैन तीर्थोंकी गणनामे आ सका। आज भी दिगम्बर जैनोका एक विशाल मन्दिर और उससे सम्बन्धित धर्मशाला इस स्थानके आकर्षण हैं। यहाँ बडी सख्यामे जैन तीर्थयात्री आकर ठहरते है और पुण्यलाभके लिये पूजा-उपासना करते है।

इसके अतिरिक्त, पुरातत्त्व जगतमें ऊनका महत्त्व एक विशाल मन्दिर समूहके लिये है जिनमेसे लगभग बारह प्राचीन मन्दिरोके अवशेष ऊन ग्राममे और उसके आसपास आज भी देखे जा सकते है। ये मन्दिर अधिकाशत टूटी-फूटी स्थितिमे है और कुछके तो स्थानमात्र पहचाने जा सकते हैं। फिर भी, जो कुछ बचा है, उससे इस स्थानके कलात्मक वैभव और मन्दिर निर्माण परम्परापर पर्याप्त प्रकाश पडता है। मध्यप्रदेशमें ही नही, सारे भारतमे बहुत कम ऐसे स्थान है जहाँ प्राचीन मन्दिरोंका इतना बडा समूह देखा जा सके। इन मन्दिरोका निर्माण ११वी १२वी सदीमे मालवाके परमार राजाओके राज्यकालमे हुआ था जो अपनी स्थापत्य कलाप्रियता तथा कलात्मक एव साहित्यिक अभिरुचिके लिये विख्यात है। इनमेंसे अधिकाश मन्दिरोकी निर्माणशैली और स्थापत्य सयोजनको **भूमिजशैली** कहा गया है जिसकी पहचान विशेषतया उसके शिखर विन्यास और अलकरणोसे की जाती है।

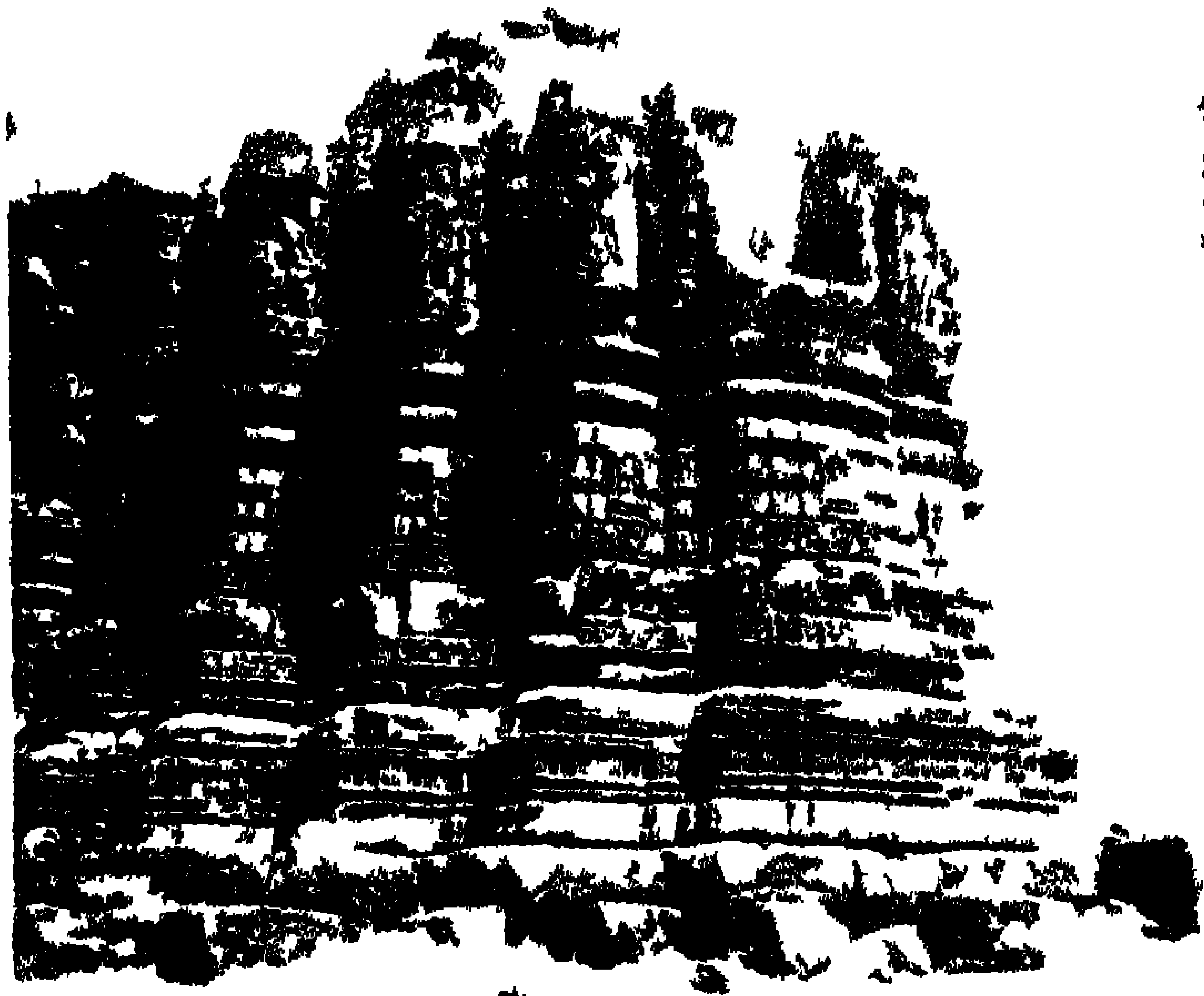
ऊनके मन्दिरोमे दो मन्दिर जैनधर्मसे सम्बन्धित है। जिनमेसे एकको **चौबारा डेरा न० २** या **नहल अवरका डेरा** और दूसरेको **ग्वालेश्वर मन्दिरके** नामसे पुकारा जाता है। इन दोनो जैन मन्दिरोकी स्थापत्यशैली भी ऊनके मन्दिरोसे भिन्न है और दोनो अपनी विशेषताओके कारण ऊनके मन्दिरोमे विशिष्ट स्थान रखते है। यहाँपर इन्ही दोनो मन्दिरोकी स्थापत्य तथा कलात्मक विशेषताओका उल्लेख करते हुये उनके ऐतिहासिक एव सास्कृतिक महत्त्वको स्पष्ट करनेकी चेष्टा की गई है।

चौबरा डेरा न० २—इस प्राचीन जैन मन्दिरके अवशेष ऊनके उत्तरमें एक पथरीले टीलेपर स्थित हैं और ये खरगोनकी ओरसे गाँवमे प्रवेश करनेके पहले ही अपने भव्यपर खण्डित रूपमे दिखाई पडते हैं। इस उत्तराभिमुख मन्दिरकी तलयोजनाको पीछेके मूलप्रसादकी ओरसे लेकर बाहरके मुख्य द्वार तक पाँच भागोमे विभक्त किया गया है जिनको गर्भगृह, अन्तराल, गूढमडप, त्रिकमण्डप और मुखचतुष्की कहते है। इन भागोमेंसे गूढमण्डप मध्यमे स्थित होने, मुख्य भागोमे बीचकी कडी होने तथा अपने सर्वाधिक बडे

आकारके कारण विशेष रूपसे महत्त्वपूर्ण है। गूढमण्डपके दोनो पार्श्वोंमे एक एक द्वार है जिनके सामने स्तम्भोपर आधारित मुखमण्डप अथवा मखचतुष्की होनके सकेत मिलते है (चित्र १)



चित्र १ चौबारा डेरा नं० २ १२०० ई० ऊन



चित्र चौबारा डेरा नं० २ पीठ तथा वेदीबन्धकी अलंकृत पट्टिकाये

मन्दिरके बाह्य और आतरिक भाग अलंकरण बड़े प्रभावपूर्ण है। उपपीठपर स्थित मन्दिरकी ओर अधिक ऊँचाई प्रदान करनेके लिये उसके निम्न भागमे पीठ और वेदीबन्धका संयोजन किया गया है। जिनकी विविध पट्टिकाये अपने अलंकरणके लिये सराहनीय है। पीठकी निर्माणमे दो सादी पट्टिकाओके ऊपर अलकृत पट्टिकाओकी रचना की गई है जिनको प्राचीन स्थापत्य ग्रन्थोमे (नीचेकी ओरसे) क्रमश नाडयकुम्भ कर्णिका ग्रासपट्टी गजपीठ और नरपीठ नाम दिये गये है इनके ऊपर वेदीबन्धकी पट्टिकाये है जिन्हे कुम्भ

कलश और कपोतिकाके नामोसे पहचाना जाता है (चित्र २)। इन पट्टिकाओमेसे गजपीठ और नरपीठकी पट्टिकायें विशेष महत्त्व की है जिनका प्रचलन गुजरात और पश्चिम राजस्थानमें सोलकी राजाओंके स्थापत्यमें बहुतायतसे देखा जा सकता है। मन्दिरके पीठ भागपर राजपीठका प्रतिरूपण राष्ट्रकूट कालीन ऐलोराके कैलाश मन्दिरका स्मरण दिलाता है जिसमें इस अलकरणका पूर्वरूप देखा जा सकता है। नरपीठ पट्टिकापर अनेको धार्मिक और लौकिक दृश्योका चित्रण किया गया है। इसी पट्टिकापर सगीत, नृत्य, रतिचित्रोके साथ समुद्रमन्थन ऊपाख्यान तथा रामायणके दृश्योका अकन भी सफलतासे किया गया है। एक दृश्यमें बालि-सुग्रीवकी द्वन्दयद्धमें रत दिखाया गया है जिनके साथ धनुषपर शर सन्धान करते हुये राम तथा उनके पीछे लक्ष्मणको अकित किया गया है (चित्र ३)। यह अकन जहाँ एक ओर रामायण कथाकी लोकप्रियताका साक्ष्य प्रस्तुत करता है, वहाँ दूसरी ओर व्यापक धार्मिक सहिष्णुताकी भावनाका परिचय देता है जिसके फलस्वरूप जैनमन्दिरमें इसका समावेश हो सका है। कुम्भभागपर बनी रथिकाओपर जैन यक्षियोकी प्रतिमाये अपने विविध रूपोमें उत्कीर्ण की गई है।



चित्र ३ बालि-सुग्रीव युद्ध, रामायणका दृश्य

वेदीबन्धके ऊपर मन्दिरका भित्तिभाग, जिसे स्थापत्य ग्रन्थोमें जघाभाग कहा जाता है, स्थित है, जिसका निचला भाग मचिकासे आरम्भ होकर ऊपर कपोतिकामें समाप्त होता है। जघाभाग पर चारो ओर अलकृत रथिकाये हैं जिनमें जैन-देवी देवताओ तथा भगिमापूर्ण अप्सराओकी मूर्तियाँ देखी जा सकती है। मूल प्रसादके बचे हुये कर्ण भागो (कोनो) पर अष्ट दिग्पालो (इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान) का प्रतिरूपण मिलता है। दुर्भाग्यवश मन्दिरका मुख्य शिखर पूर्णतया ध्वस्त हो चुका है, इसलिये बचे हुये अवशेषोके माध्यमसे उसकी भव्यताका केवल अनुमान लगाया जा सकता है।

उत्तरकी ओर मन्दिरके मुख्य द्वारके सम्मुख स्तम्भो पर आधारित मुखमण्डप और तीन भागोमें विभाजित त्रिक्मण्डपका निर्माण किया गया है जिसके स्तम्भोका सयाजन और मनोहर अलकरण विशेष

रूपसे दर्शनीय है। इनमेंसे कुछ स्तम्भ निम्न भागमें चौपहल (भद्रक) है और ऊपरकी ओर वृत्ताकार हो गये हैं और कुछ स्तम्भ निम्न भागसे आठ पहलू (अष्टास्र) है और ऊपरकी ओर अलकृत वृत्ताकारमें बदल गये है। अष्टास्र स्तम्भोका ऊपरी भाग मूर्तिसहित लघु रथिकाओ, पर्णबन्ध, हसमाला, ग्रासमुखो और वृत्ताकार पट्टियोसे सुशोभित हैं जिनके ऊपर मानवाकृतियोसे विभूषित स्तम्भशीर्ष छतको रोकनेवाले शिला-पट्टोके आधारका काम करते हैं (चित्र ४)। गूढमण्डपके बाहरी द्वारोके मिग्दलके मध्य (ललाटबिम्ब) में कमलासनमें बैठी जैन प्रतिमा निर्मित की गयी है जिसके ऊपर पाँच लघुरथिकाओमे जैन यक्षियोकी मूर्त्तियाँ दर्शायी गयी हैं। द्वारोके पार्श्वभाग पाँच शाखाओमें विभाजित किये गए हैं जिनको पत्रवल्ली, रत्नशाखा, स्तम्भशाखा आदिसे अलकृत किया है। द्वारकी चौखट (उदुम्बर) के मध्यमें मन्दारक और उसके दोनो ओर कीर्तिमुखोका प्रतिरूपण पश्चिमी भारतके जैन मन्दिरोकी अलकरण पद्धतिका अनुसरण करता है।

त्रिक्मण्डपके द्वारको पार करते ही दर्शक गूढमण्डपमें प्रवेश करता है जिसके दो पार्श्वद्वार पूर्व और पश्चिम दिशाकी ओर खुलते हैं। गूढमण्डपकी भीतरी छत (वितान) आठ अठपहलू (अष्टास्र) स्तम्भो पर



चित्र ४ चौबारा डेरा न० २, त्रिक्मण्डपके स्तम्भोका अलकरण

आधारित है जिनके ऊपर पत्रवल्लीम अलकृत सिरदल है। नाभिच्छन्द प्रकारका क्षिप्त वितान गूढमण्डपको ओर अधिक स्थान और भव्यता प्रदान करता है जिसमे ऊपरकी ओर घटते हुए वृत्ताकार पट्ट सयोजित किये गए है जिनमें सबसे ऊपर पद्मशिला या लटकता हुआ लम्बन रहा होगा। वितानके गोलाकार चारो

और पहले अप्सराओंकी मूर्तियाँ विविध भावभंगिमाओंमें लगी हुई थी जिनकी पीठिकायें वितानके निचले भागमें अब भी द्रष्टव्य हैं। गूढमण्डपके पिछले द्वारको पार करनेपर दर्शक गर्भगृहके सम्मुख अन्तरालमें प्रवेश करता है और उसके उपरान्त चौकोर गर्भगृहमें जिसके ऊपर शिखर बिलकुल नष्ट हो चुका है। गर्भगृहके द्वारका अलंकरण वैसा ही है जैसा कि गूढमण्डपके द्वारोंका है और इसके भी ललाटबिम्ब पर तीर्थंकरकी प्रतिमा और उसके ऊपर पांच रथिकाओंमें जैन यक्षियोंका प्रतिरूपण मिलता है।

इस मन्दिरसे उपलब्ध दो दिगम्बर जैन प्रतिमाओंको कई दशक पूर्व इन्दौर संग्रहालयमें सुरक्षित रखनेके लिए पहुँचा दिया गया है। इनमेंसे एक मूर्त्ति तीर्थंकर शान्तिनाथकी है जिसकी पीठिका पर विक्रम संवत् १२४२ (११८५ ई०) की तिथि अंकित है। कायोत्सर्ग मुद्रामें निर्मित यह प्रतिमा सम्भवतः चौबारा डेरा न० २ के जैन मन्दिरमें स्थापित थी जिससे इस मन्दिरका निर्माण काल निश्चित रूपसे ११८५ ई० ज्ञात होता है।

ग्वालेश्वर मन्दिर

यह जैन मन्दिर ऊन ग्रामके दक्षिणमें एक छोटी पहाड़ी पर स्थित है और यह आज भी पूजा-उपासनाके लिए प्रयोगमें आता है। सम्प्रति इसे शान्तिनाथ मन्दिरके नाममें जाना जाता है। मन्दिरके



चित्र—५ ग्वालेश्वर मन्दिर, १३०० ई०, ऊन

बाहरी और भीतरी भागोंका जीर्णोद्धार इस प्रकार किया गया है जिससे मन्दिरकी प्राचीनता लुप्तप्राय हो गयी है और उसकी वास्तविक पहचान तभी हो पाती है जब इसके मौलिक भागोंका सूक्ष्मतासे निरीक्षण किया जाय (चित्र—५)। विशेषतया मन्दिरके गूढमण्डप और मूलप्रासादका सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन करनेपर इस प्राचीनताके चिह्न पहचाने जा सकते हैं। इस प्रकार इस मन्दिरकी तलयोजना पूर्वोल्लिखित चौबारा डेरा न० २ के समान ही रही होगी जिसका अनुमान प्राचीन अवशिष्ट भागोंको देखकर लगाया जा सकता है किन्तु बाहरी शिल्प अलंकरणमें यह अपेक्षाकृत सादा है। सामनेका मौलिक अर्धमण्डप अब शेष नहीं

६ह। जिसके स्थानपर नवीन मुखमण्डपका निर्माण किया गया है किन्तु चौकोर गूढ़मण्डप और उसके आठ स्तम्भों पर आधारित गोलाकार नाभिच्छन्द वितान अब भी अपनी भव्यताको सुरक्षित रखे हैं। पार्श्वमें खुलनेवाले द्वार भी पूर्ववर्णित मन्दिरकी संयोजनाके समान है।

इस मन्दिरके गर्भगृहका तल गूढ़मण्डपके तलसे लगभग तीस मीटर नीचा है जिसमें बनी हुई सीढ़ियोंसे उतरकर पहुँचा जाता है। गर्भगृहके अन्दर तीन विशाल तीर्थंकर प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थापित है। इनका निर्माण चमकीले काले पत्थरसे किया गया है। इन तीनोंमें मध्यमें स्थित सबसे बड़ी प्रतिमा लगभग चार मीटर ऊँची है। पार्श्वमें स्थित एक प्रतिमाकी पीठिका पर उत्कीर्ण लेख उसकी स्थापनाकी तिथि विक्रम संवत् १२६३ (१२०६ ई०) दर्शाता है। प्रतिमाओंके पीछेकी भित्ति पर दोनो ओर छोटे-छोटे जीने बने हुए हैं जिनके द्वारा मूर्तियोंका अभिषेक करनेके लिए ऊपर पहुँचा जा सकता है। यह विशेषता अन्य कई जैन मन्दिरोंमें भी देखी जा सकती है।

मन्दिरके शिखरके ऊपरी भागका पर्याप्त जीर्णोद्धार किया गया है। फिर भी, उसकी ग्रीवाके नीचे का कुछ भाग अब भी थोडा-बहुत अपने पूर्वरूपमें सुरक्षित है। शिखरके चारो ओर निर्मित उर श्रृंग और उपश्रृंग ऐसे प्रतीत होते है जैसे शिखरकी ऊँचाईको धीरे-धीरे उठाते हुए उच्चतम स्तरपर पहुँचा रहे हैं। उर श्रृंगो सहित शिखरका आकार खजुराहोके विश्वविख्यात मन्दिरोके शिखरके समान दिखाई पडता है जिनके प्रभावक्षेत्रमे मालवाका यह भू-भाग रहा होगा।

ऊनका पूर्ववर्णित दोनो जैन मन्दिर कई दृष्टियोसे महत्त्वपूर्ण है। अपनी अनूठी कला-शैलीके अतिरिक्त, ये मन्दिर तत्कालीन धार्मिक सामञ्जस्य एव सहिष्णुताकी भावनाके प्रतीक है जिसके फलस्वरूप हिन्दू मन्दिरोके साथ ही इनका निर्माण और संरक्षण हो सका। चौबारा डेरा न० २ की स्थापत्य कला, विशेषतया मन्दिर पीठकी पट्टिकाओंके संयोजन, प्रवेशद्वारोके सामने त्रिक्मण्डप निर्माण, स्तम्भोके अलकरण तथा द्वारोकी सजावट पर गुजरातके सोलकी मन्दिरोका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है इस मन्दिरके पीठ भागपर निर्मित गजपीठ और नरपीठकी पट्टिकायें सोलकी मन्दिरोकी विशेषतायें हैं जिनका समावेश गुजरात कलाके सम्पर्कका साथी है। इसके साथ ही, इसमे मालवाकी परमार कलाका भी योगदान ह जिसके द्वारा ऊनके अन्य मन्दिरोका निर्माण किया गया है।



महोबाकी जैन प्रतिमाएँ

शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी
राष्ट्रीय संग्रहालय लखनऊ, उ० प्र०

प्राचीन 'महोत्सवनगर' आजकी जनभाषामें 'महोबा'के नामसे प्रसिद्ध है। यू तो इस स्थलीका पूरा इतिहास ही गौरवमय रहा है, परन्तु चन्देलोके समयमें तो यही प्रशासकीय राजधानी था।[1] ११८२ में यही पृथ्वीराज चौहानने अपनी विजय पताका फहरायी थी। १२०३ में कुतुबुद्दीन ऐबकने इसे जीत लिया। वीर काव्योमे जनमानसके कण्ठहार आल्हाऊदलका नाम आज भी लोग बडे जोशमें लेते दीख पडते है। महोबासे ब्राह्मण, जैन एव बौद्ध कला कृतियाँ प्राप्त हुई हैं तथा अब भी वहाँ जमीनमे दबी पडी है। महोबा उत्तरप्रदेशके हम्मीरपुर जनपदमें अवस्थित है।

कला जगतमें महोबाका अनुपम स्थान है। यहीसे उपलब्ध सौन्दर्य एव कलासे परिपूर्ण सारे विश्वको विमुग्ध कर लेनेवाली 'सिंहनाद अवलोकितेश्वर'की कीर्तिवर्म्मनके समयकी बनी प्रतिमासे कौन इतिहासज्ञ, पुराविद् एव कला समीक्षक परिचित न होगा? यह कलारत्न राज्य संग्रहालय लखनऊके संग्रहकी अमूल्य निधि है।[2]

महोबासे जैनमन्दिरो एव कलापूर्ण मूर्तियोके अनेक अवशेष प्राप्त हुये हैं। चन्देल कालमें यह स्थान एक अच्छा जैन केन्द्र रहा है।[3] यहीसे संग्रहमें आयी १९०४ एव १९३५ की जैन प्रतिमायें लखनऊ संग्रहालयको भेंटमे मिली थी जिसमें तदानीन्तन जिलाधिकारियो तथा भारतीय पुरातत्त्व विभागके महानिदेशकोका परामर्श सहायक रहा है। इन जैन प्रतिमाओंका विवेचन यहाँ किया जा रहा है। वैसे तो यहाँके संग्रहमे मथुराकी जैन मूर्तियाँ भी पर्याप्त हैं, किन्तु उनमें अधिकाश कुषाण एव गुप्तकालीन है। ये प्रारम्भिक स्थितिका ज्ञान कराती हैं। मध्यकालीन जैन प्रतिमाओका परिचय महोबाकी इन मूर्तियोके बिना अपूर्ण ही है। यहाँकी शान्तिनाथ तीर्थंकरकी दोनो मूर्तियाँ यहीकी है। अम्बिका, पद्मावती, यक्षियोकी प्रतिमायें भी मात्र यहीकी हैं।

महोबाकी सन् १९०४ मे यहाँ आयी जैन मूर्तियाँ जे–८२३से जे–८७६ तक हैं। ये सभी काले चमकीले पत्थरकी बनी हैं कोई भी सम्पूर्ण नही हैं। इनमे छह जिन मूर्तियोकी चरण चौकियोके अभिलेख प्रकाशित है।[4] इन लेखोमे कुट्टकपुर एव गोलापुर नामक स्थान, साधु रत्नपाल, त्रिभुवनपाल तथा रूपकार रामदेव और लषनके नाम उल्लेखनीय हैं। ये मूर्तियाँ भगवान ऋषभ, पद्मप्रभु, मुनिसुव्रत व नेमिनाथकी हैं। एक मूर्ति जे–८२८ पर जिननाथ भी उत्कीर्ण पाते हैं। वर्ष १९३५ में जी–३०४ से जी–३२३ तककी जिन प्रतिमायें इस संग्रहालयमे आयी हैं। इनमेंसे कुछके सन्दर्भ[5] को छोडकर यही सर्व प्रथम प्रकाशित हो रही

१. दीक्षित, डॉ० रामकुमार, पृ० ३२।
२. राष्ट्रीय संग्रहालय, लखनऊ, सख्यक–ओ–२२४।
३. भगवान महावीर स्मृतिग्रन्थ, उ० प्र०, लखनऊ, १९७५, पृ० २३।
४. आर्किला० सर्वे०, वल्यूम, २१, १९०३–४, नार्दर्न सर्किल, पृ० ७४।
५. आर्किला० सर्वे० रिपो०, १९३६–३९, पृ० ९२, चक्रवर्ती एन० पी०।

है। इन जैन मूर्तियोमें तीर्थंकर ऋषभ शान्तिनाथ नेमिनाथ पार्श्व एव महावीरके अतिरिक्त नेमिनाथकी यक्षी अम्बिका एव पार्श्वकी शासनदेवी पद्मावती, एक चौबीसी और एक त्रितीर्थी विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। इन मूर्तियोमेसे आठ प्रतिमाओके नीचे लेख खुदा पाते है। इनके वर्णन यहाँ प्रस्तुत हैं।

जी–३०४—यह नेमिनाथ (९२ ३४ सेमी०) की कायोत्सर्ग मुद्रामे काले पत्थरकी प्रतिमा है। इसके नीचे उपासक एव उपासिका हाथोमे कमल लिये है। उससे ऊपर एक-एक चँवरधारीका रेखाकन है। चरण चौकीके लेखके बीचमे शखका विलेखन है जो यह पुष्टि करता है कि यह नेमिनाथकी प्रतिमा है। इसका लेखन निम्न है सम्वत १२८३ आषाढ सुदि ८ (ज) रवौ नावरान्वय साधु आल्हभार्या प्रभतयो पुत्र साधु आल्हू भार्या इति पुत्र साढ देवपतनि शख त्व प्रणमति ॥

अर्थात सम्वत १२८३की आषाढ सुदि अष्टमी रविवारको नवरान्वयके साधु जाल्हकी पत्नी आदि नेमिनाथको नित्य प्रणाम करती है।

जी–३०५—यह ध्यानस्थ ऋषभनाथ (६६ × ५१ सेमी०) की मूर्ति काले पत्थरकी बनी है। इसके नीचे बैल बना है। मूर्तिका श्रीवत्स अन्य मूर्तियाम भिन्न प्रकारका है। इसके नीचे निम्न प्रकारका लेख है।



चित्र १ आदिनाथकी मूर्ति महाबा ११७१ ई०

नावरान्वये साधजीज्ञतस्य सुत सेष्ठियासार्ज्ञाण

शीघेतस्य सुत साभु सू हानित्य प्रणमति १२२८ जेष्ठसुदि १ रूपकार वेल्हल अर्थात १२२८ जेष्ट सुदि १ को इस मूर्ति की स्थापना की गई तथा मूर्तिकार केल्हल।

जी–३२३—यह पार्श्वनाथ (९८ × ३९ सेमी०) की खड़ी काले पत्थरकी प्रतिमा है। मूल नायक पर सात फण बने हैं, इनमें प्रत्येक पर फूल बना है। प्रतिमा दिगम्बर है। पीठिका लेखके नीचे दो सर्प एक-दूसरेके सामने फण उठाये बनाये गये हैं। सर्पों एव चँवरधारियोंका रेखाकन है। लेख इसप्रकार है·

सम्वत् १२५३ आषाढ़ सुदि ८ रवौ नावरान्वये

साधु आल्हसगिनीमल्हा नित्य प्रणमति।

इन लेखोंका नावरान्वये शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसके विषयमें डा० ज्योतिप्रसाद जैनका मत है कि नावरान्वये शब्दका मूल एवं शुद्ध रूप नरवरान्वये प्रतीत होता है। चूँकि यह शब्द उन श्रावकोके लिये विशेष रूपमें प्रयुक्त हुआ है जिन्होने उक्त प्रतिमाओकी प्रतिष्ठा करायी थी। इससे यह अग्रोतकान्वये, लम्बकाचुजुकान्वयादिकी भाँति किसी जाति, गोत्र या अन्वयका सूचक प्रतीत होता है। सम्भावना यह है कि इसे नरवरान्वये नामकी जैन धर्मावलम्बी वैश्य जातिका निवास इसी क्षेत्रमें स्थित प्राचीन नरवरगढसे था जो कि जनश्रुतिके अनुसार प्रसिद्ध राजा नलकी राजधानी थी।

जी–३०६—यह पद्मासनस्थ जिन (९२ × ५३ सेमी०) की सफेद सगमरमरकी मूर्ति है। इसके लेख अस्पष्ट है।

जी–३०९—यह ध्यानमग्न पद्मासनासीन (६६ × ५२ सेमी०) किसी जिनकी प्रतिमा है जिसे दुग्ध-से श्वेत प्रस्तरसे बनाया गया है। पादचौकीको तीन बड़े-बड़े फूलोंसे सँवारा गया है। मूर्तिका नाक-नक्शा तीखा है। यह लेख रहित मूर्ति है।

जी–३०८—यह आसन चौकी (१ मी० × २२ सेमी०) है। इसका प्रस्तर अति हल्का मटीले जैसे रगका है। इसे सग्रहालय पजीमें बुद्ध प्रतिमाका आधार लिखा गया था जिसका कारण सम्भवतया यह था कि इसके बीचमे दो हिरण बने थे। किन्तु यह शान्तिनाथकी चरण चौकी है क्योंकि बाँयी ओर यक्षी तथा दाँयी तरफ यक्ष बैठे है। यक्षी विलासासनमें बैठी है। चतुर्भुजी यक्षीके हाथोमे कमल, कलश, वरद एव पुस्तक है। यह अनन्तमती यक्षीका अकन कहा जा सकता है। नीचे लेखका या शोभा खुदा है। यक्ष दो भुजी है। यह नेवला एव श्रीफल पकडे बैठा है। देवनागरी लिपिमें इसका लेख यहाँ दृष्टव्य हैं

रूपसयरविकत्रसातिर्धसितूलसुहितस्त्र बिसीस्परिस सहिकयरिकारित।

मुखा सम्वत् १३२४ सावन शनौ—।

इससे इतना सुस्पष्ट हो जाता है कि सम्वत् १३२४ को शान्तिनाथकी मूर्तिको प्रतिष्ठित किया गया था, किन्तु आज इस मूर्तिका आधारमात्र ही शेष है। मूल मूर्ति भव्य रही होगी, ऐसा पाठिकाके आकार एव आकृतिको देखनेसे प्रतीत होता है।

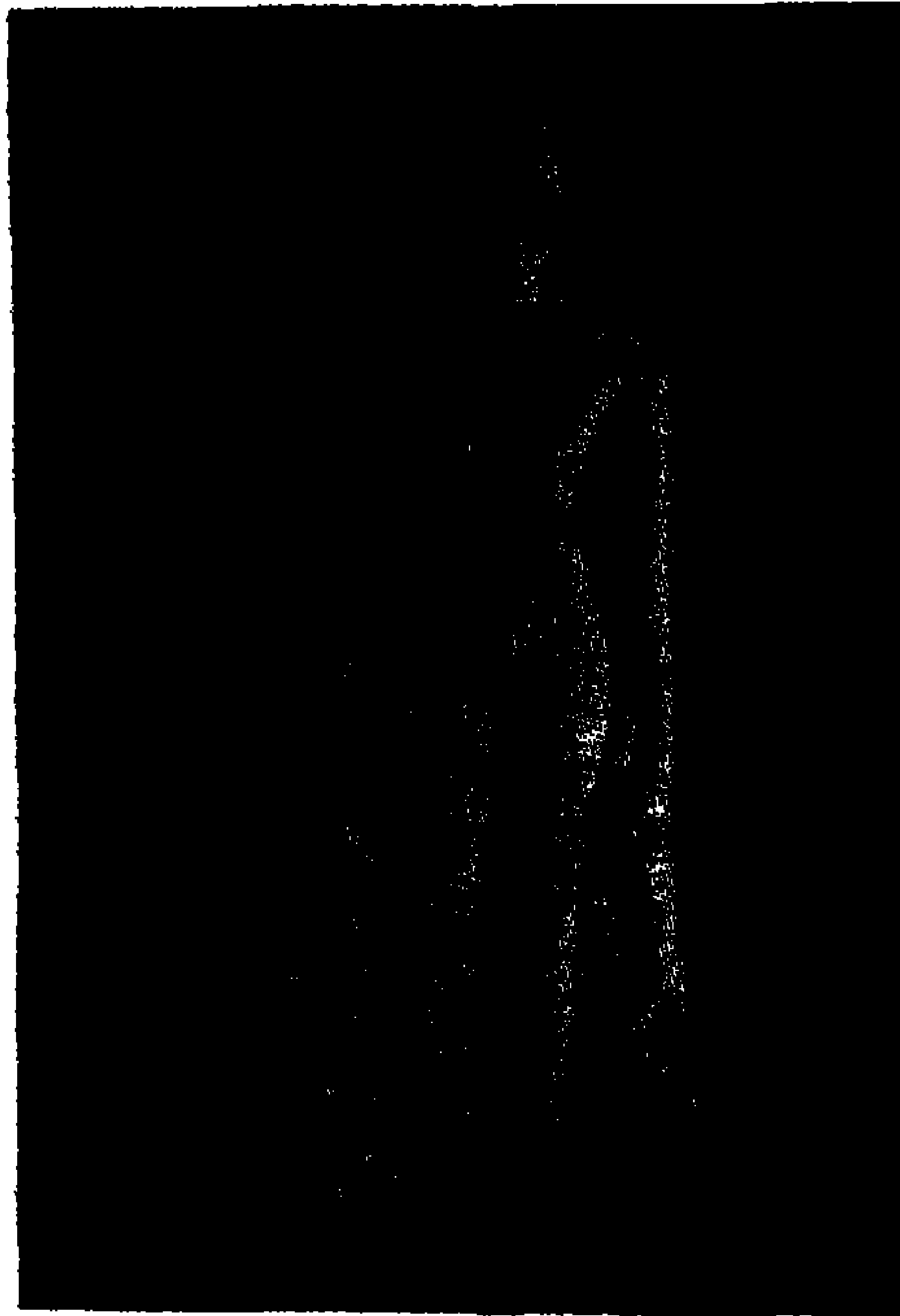
जी–३०९—यह काले पत्थरसे गढ़ी तथा दो हिरणोंके चिह्नोंसे युक्त शान्तिनाथ (६२ × १५ सेमी०) की प्रतिमा भी बडी ही लुभानी है। यहाँ इन्हें वस्त्र रहित खडे दिखलाया गया है। ऊपर केवल वृक्ष त्रिछत्र, हाथीपर सवार विद्याधर एव सबसे ऊपर देव दुन्दभिवादक बना है। नीचे यक्ष न बनाकर पीछी-धारी मुनि बने हैं।

जी–३१०—यह पार्श्वनाथ (४२ × २५ सेमी०) की अति हल्के मटीले रगकी सप्तफणोंके नीचे विराजित पद्मासीन ध्यानस्थ भावपूर्ण प्रतिमा है। यहाँ चरण चौकीपर न तो सर्प बने हैं और न ही लेख खुदा है किन्तु खिले कमलका सुन्दर अकन है। सिंह पीछेको मुह घुमाये सिंहासनका वाहन कर रहे हैं। बाँयी तरफ पुरुष अर्द्ध पर्यकासनमें बैठा है। दाँयी तरफ नमस्कार मुद्रामें उपासक तथा पीछेकी आकृतिका

मुखमात्र ही दीखता है। यहाँ चँवरधारियोंका अभाव है और उसी स्थानपर यक्षी पद्मावती एवं यक्ष धरणेन्द्रको बनाया गया है। ऊपर सर्प फणोंपर छत्र है। इससे ऊपर कमठ है तथा उसके साथ ही नीचे दोनों ही ओर हाथी आदमें तथा नीचे मालाधारी विद्याधर है।

जी–३१२—यहाँ अम्बिका (५० × २० सेमी०) को चतुर्भुजी बनाया गया है जो क्रमश दर्पण, बालक, आमोंका गुच्छा, पुस्तक (आयताकार) या वाद्य जैसी वस्तु लिये है। नीचे सिंह है, एक अनुचर खड़ा है जिसके उठे हुये हाथपर बालकका पैर है। दोनो ओर उपासक-उपासिका हैं। विद्याधरके स्थानपर दोनों ओर मालाधारिणी विद्याधरी है। अम्बिकाके मस्तकपर आम्रगुच्छो सहित वृक्ष बना है। इसके ऊपर ध्यानासीन नेमिनाथ विराजमान हैं। ये ध्यानस्थ हैं। यह भूरे प्रस्तरको प्रतिमा है।

जी–३१३—यह मूर्ति पार्श्वनाथकी (८२ × २८ सेमी०) कार्योत्सर्ग मुद्रामें श्वेत संगमरमरपर बनायी गयी है। चरण चौकीको फलोंसे सजाया गया है। दोनो ओर एक-एक उपासक-उपासिका हैं। चँवरधारी त्रिभंग मुद्रामें खडे हैं। इनके केश विन्यास, किरीट तथा मुख मुद्रा देखने योग्य है। मूल प्रतिमाके दोनों पार्श्वपर सर्पको दिखलाया है। किन्तु ऊपर सर्प फण नही बनाये हैं। मूल प्रतिमाकी टाँगें सीधी हैं। घुटने स्पष्ट नहीं हैं।



चित्र २ पार्श्वनाथ, १२०० ई०, महोबा

जी–३१५—यह त्रितीर्थी (२५ × १६ सेमी०) है। यहाँ मूलनायक ऋषभनाथ तथा ऊपर दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर ध्यानस्थ हैं। यह सफेद प्रस्तरपर बनी है। तीनो ही जिनध्यानमग्न बैठे हैं। नीचे नरवाहना चक्रेश्वरी ऊपर यक्ष बने हैं। बाँयी तरफका चँवरधारी खण्डित हैं। इसपर एक लेख श्री सम्वत् ११०३ पक्षलस्मरो‥ ‥है।

जी–३१६—इसमें पद्मावती (६० × १० सेमी०) सप्तफणोंके नीचे अर्द्ध पर्यंकासनमें बैठी हैं। यह चतुर्भुजी है जिनमें वह सनालपद्म, घट खण्डित तथा खिला कमल लिये हैं। पीठिकापर बाँयी-बाँयी ओर उपासक-उपासिका हैं। बाँयी ओरकी चँवरधारिणीके एक हाथमें चँवर तथा दूसरेमें कमल है। दाँयी ओरकी चँवरधारिणीके एक हाथमे चँवर तथा दूसरा कट्यावलम्बित है। दोनों ही ओर मालाधारिणी तथा दाँयी ओर विद्याधरदम्पति हवामें उड रहे हैं तथा माला लिये है। यहाँ बादल (आकाश) का भी आभास दिया है। मध्यमें तीन फणोंके नीचे पार्श्वनाथ हैं जिनके दोनो ओर दो भुजी आकृतियाँ बनी हैं। देवी वस्त्रा-भूषणोसे मण्डित है तथा उसका मुख तेज विस्तारपूर्ण है। पीछे प्रभामण्डल सादा हैं। प्रतिमा भूरे पत्थरकी है। इसपर कोई लेख नही है।

जी–३१८—यह खडी महावीर (९२ × ३२ सेमी०) की काले चमकीले पत्थरसे विनिर्मित मूर्ति है। इसके नीचे सिंह तथा प्रत्येक ओर उपासक-उपासिका सभीका रेखाकन है। इसपर निम्न लेख है



चित्र ३ महावीर, महोबा, १२२६ ई०

सम्वत् १२८३ आषाढ़ सुदि ४ खा भावराम्वये साधु लाल्हपुत्र आल्हू तद्भार्या लषमा तस्या पुत्र सीढेतस्यार्थे प्रतिमा प्रतिष्ठापिता।

अर्थात् सवत् १२८३ मे लखनके पुत्रने प्रतिमा स्थापित कराई।

जी–३१९—यह किसी जिन (४२ × १५ सेमी०) की लघुत्तम प्रतिमा है जो सफेद पत्थरसे बनी है। इसपर कोई लेख नही। यह खडी प्रतिमा है जिसपर कोई भी चिह्न नही बना है। इसपर त्रिछत्र है और कैवल्य वृक्ष बना है। चँवरधारियोंके स्थानपर दोनो ओर एकसे सनाल कमलका अकन है

जी–३२० तथा जी–३२१— इन दो मूर्तियोंमें (६५ × २५, ५६ × २५) दिगम्बर जिन खड्गासनमे दर्शाये गये हैं। इनका प्रस्तर सफेद है। त्रिछत्र ऊपर बना है। बाँयी ओर गगनविहारी मालाधारी विद्याधर

दंपति हैं जिनमें पुरुष माला तथा देवियाँ वीणा लिये हैं। चँवरधारियोके स्थानपर सनालकमल हैं। इनके लेख निम्न हैं :

जी–३२० (१) '' 'परिमाराय श्रीवासवचन्द्र.[1] प्रणमति।

जी–३२१ (२) '' ' जिन प्रणमति नित्यं। अर्थात् वासवचन्द्र जिनकी वन्दना करता है।

जी –३२२ और ६६–२७३—यह चौबीसी (१०७ सेमी० × ७० सेमी०) भूरे पत्थरकी बनी है। इसके टुकड़ेका न० ६६-२७३ है। इसके मूलनायक ऋषभ हैं जो खड़े हैं। इनका शिर खण्डित है। मूल मूर्ति वस्त्रहीन है। सबसे नीचे बाँयी ओर ध्यानस्थ जिन तथा दाँयी ओर नरवाहना चक्रेश्वरी प्रतिष्ठित हैं। यहाँपर यक्षीका दाँयी तरफ होना विशेष महत्वपूर्ण है। पीठिकापर चक्र तथा दोनो ओर सिंह बने हैं जो चरण चौकीको वाहित करते हुये बने हैं। एक सर्प फणके नीचे एक जिन दिगम्बर खड़े है, शेष सभी बैठे हैं। यहाँ सम्भवतया त्रिछत्रादि रहे हो किन्तु इस समय अप्राप्य ही है। दोनो ओरके चँवरधारी त्रिभगी मुद्रामे खड़े हैं। इनके वस्त्राभूषण, केश, किरीट आदि विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। इन आकृतियोके मुख इनके विनय भावको दर्शित करनेमें बहुत ही सक्षम है जिससे मूर्तिकारकी निपुणताकी प्रशसा करनी ही पडती है। इस निदर्शनपर लेख नही है किन्तु उक्त मूर्तियोके आधारपर यह प्रतिहार कालीन प्रतीत होती है।

इस प्रकार जी–३०४ से जी–३२३ तक जैन प्रतिमाएँ है। बीचकी जी–३११, ३१८, ३१९ के विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता है। सम्भव है, इनके धारक अक अब बदल गये हो या ये अन्य सग्रहालयोको दी गई हो। ये सारी मूर्तियाँ सम्भवत सवत् ११०३ से १३२४ की है। कुछको छोड़कर सभी काले या श्वेत पत्थरसे बनी है। ये चन्देल एव प्रतिहारयुगीन हैं। इन्हे जिन शिलाओमे बनाया गया है, वह अत्यन्त कठोर शीतल, स्निग्ध, सुस्वर एव सुगन्धिसे युक्त हैं। वसुनन्दि द्वारा विरचित प्रतिष्ठासारोद्धार शीर्षक ग्रन्थके शिलानयण (चयन) अध्यायमें देवविग्रहोंके निर्माणके लिए इसी प्रकारकी शिलाके चुने जानेका वर्णन है।[2] इसका उल्लेख अन्यत्र भी है।[3] सम्पूर्ण सग्रहमें ये ही कुछ मूर्त्तियाँ हैं जिन्हे किसी धातु (सिक्का, चाभी) या केवल उँगलीसे पीटनेपर धातुका-सा स्वर देती है। यह उनकी अपनी विशेषता है जो दर्शकको अचरजमे डाल देती है। उसे भ्रम हो जाता है और पूछता है कि क्या ये धातुकी मूर्त्तियाँ तो नही है? किन्तु प्रस्तरविदोंसे विदित हुआ कि यह प्रकृतिकी स्वाभाविक प्रक्रिया हैं। कभी-कभी जब पत्थर बननेकी स्थितिमे होता है, तभी यह गुण (स्वर) स्वय उसमे आ जाता है।

अस्तु, एक ओर ये मूर्तियाँ मध्यकालीन जैन मूर्त्तियोके अध्ययनको पूर्ण करानेमे अपरिहार्य है, वही दूसरी ओर ये ध्वनिके कारण दर्शकोके मनको झकृत भी करती रहती हैं। ●

---

१ जैन, डॉ० ज्योतिप्रसाद, भार० इति० एक दृष्टि, पृ० १९५, वासवचन्द्र कुमुदचन्द्र आदि अनेक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु थे। खजुराहोके धग चन्देलके समयके एक जैन शिलालेखमें जिन वासवचन्द्रका उल्लेख है, वे इस लेखके वासवचन्द्रसे अभिन्न प्रतीत होते है। यदि ऐसा है, तो यह प्रतिमा १०वी शतीके मध्यकालकी स्वत सिद्ध होती है।

२ प्रतिष्ठासारोद्धार, अ०–३ श्लोक ७८, भग० नेमिनाथ, जैन मन्दिर, चौकके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित हस्तलिखित पोथी, जिसे श्रीनन्दकिशोर जैनके सौजन्यसे मैं देख सका, एतदर्थ मे उनका हृदयसे आभार स्वीकार करता हूँ।

३ डॉ० बालचन्द्र जैन, जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ० १३।

जैन वास्तु और मूर्तिकला

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री

लार्ड कर्जनको भारतकी शिल्पकलामें बडा अनुराग था। उसने अपने शासन-कालमें भारतीय प्राचीन कीर्तिसरक्षण—विभाग स्थापित कर बडा उपकार किया। इस विभाग द्वारा कई स्थानोको खुदाकर प्राचीन स्थापत्यकलाके सुन्दर-सुन्दर नमूने निकाले गये। उसमेंसे नालदा, तक्षशिला, मोहनजोदरों, हडप्पा आदि प्रमुख हैं।

यहांकी प्राचीन ऐतिहासिक सामग्रियां बडे महत्वकी हैं। हडप्पा और मोहेनजोदडोमें प्राप्त मूर्तियाँ एव इमारतोंकी निर्माण-कलामे और बैबीलियाकी कलामें कोई अन्तर नही है। इन स्थानोमें जैनोंके भी स्मारक मिले हैं। इनमे से यहां कुछ स्थानोका विवरण दिया जा रहा है।

आबू—भारतवर्षकी शिल्पकला विश्वविख्यात है। यहांके कारीगर एक टांकी और हथौडेसे जो काम कर गये हैं, ऐसा काम इस वैज्ञानिकयुगमें भी असभव है। यहांके प्रधान स्थानोंमें से आबूके जैनमन्दिर एक है। सख्यामें ये दो ही है। मन्दिरोकी खुदाईका काम बहुतही कलापूर्ण रीतिसे किया गया है। ये दोनो मन्दिर सफेद और आसमानी रगके पत्थरोंसे बने हुए हैं। इनमें निहायत उमदा खुदाई और नक्काशीका काम किया गया है। मन्दिरोंके सामनेके मण्डपोंमें जो खुदाई और नक्काशीका काम किया गया है, वह महान तथा अवर्णनीय है। कलाविशारदोंका मत है कि पीलखानेके सामने जो जाली बनी हुई है, ऐसी जाली ताजमहलमें भी नही पाई जाती।

सुना जाता है जिस टोंक पर आदिनाथका मन्दिर बना हुआ है, सिर्फ उसे मन्दिर योग्य बनानेमें छप्पन लाख रुपये खर्च हुये थे। इस मन्दिरका काम २४ वर्षमें समाप्त हुआ था और २८ करोड रुपये खर्च हुए थे। भारतीय तक्षकलाके विशेषज्ञ फर्गुसन साहबने लिखा है कि "इन मन्दिरोंकी खुदाईसे समानता रखनेवाला भारतवर्षमें सिर्फ ताजमहल ही है।" जैसलमेर किलेके मन्दिर भी कलाकी दृष्टिसे श्रेष्ठ हैं चित्तौरगढ़का जैन कीर्तिस्तभभी एक दर्शनीय वस्तु है।

खुजराहो

यहांके घटाई जैन मन्दिरकी कारीगरी सबसे महीन है। सातवीं और आठवी शताब्दियोंमें भारतकी सर्वोच्च कारीगरीका यह मन्दिर साक्षी है। यहांका पार्श्वनाथ देवालय भी कलाकी दृष्टिसे सर्वोत्तम है। इसके पाखेकी सोभा सर्वथा दर्शनीय है। इस देवालय सम्बन्धी प्रत्येक इच जगह पर सुयोग्य शिल्पियोने अपने अपूर्व शिल्पचातुर्यका अनुपम उदाहरण उपस्थित किया है। त्रिकोणाकारमें स्थित इसके कोनेकी शोभा सर्वथा देखने योग्य है। इन मन्दिरोमें कही भी चूनेका उपयोग नही किया गया है। पार्श्वनाथ मन्दिरकी सजावटमें जो वैदिक मूर्तियां बनी है वे वस्तुत दर्शनीय हैं।

देवगढ़—यह स्थान ललितपुर जिलेमें है। यहांके जैन मन्दिर भी दर्शनीय हैं। स्मिथ महाशयके कथनानुसार गुप्तकालीन देवालयोंमें ये सर्वश्रेष्ठ हैं। यहांकी दीवालोंमें अंकित हस्तकला भारतीय शिल्पकलाके

सर्वोत्तम उदाहरण है। यहाँ पर ३२ देवालय और लगभग २०० शिलालेख मिले हैं। मूर्तियाँ हजारोंकी संख्यामें मौजूद हैं। यहाँकी सरस्वती, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी और पद्मावतीकी मूर्तियोंका सौंदर्य देखने योग्य है। देवगढ़में प्राप्त सुन्दर २४ यक्षियोंकी—सी मूर्तियाँ उत्तरभारतमें और कही नही मिलती हैं। यहाँ पर सुषमा-सुषमा कालीन कल्पवृक्ष और युगलियोंके चित्र भी मिले हैं। प्राप्त २०० शिलालेखोंमें विक्रम संवत् ९१९ का लेख ही सर्व प्राचीन है। अनुमानत इस क्षेत्रकी स्थिति एकहजार वर्ष तक बहुत अच्छी रही। देवालय न० १२ में ज्ञानशिलाके नामसे जो एक लेख प्राप्त है, सुना है, कि उसमें अठारह लिपियोंका नमूना मौजूद है। ग्वालियरके निकटवर्ती चन्देरी, जयपुरके निकटवर्ती सांगानेर आदि स्थानोके देवालय भी कलाकी दृष्टिसे बहुत सुन्दर हैं।

मथुरा (कंकालीटीला)

यहाँका जैन स्तूप दूसरी शतीका है। मथुराकी कुषाणकालीन कलाओमें यह जैन स्तूप सर्वश्रेष्ठ है। इसे देवनिर्मित कहा गया है। "तीर्थकल्प" में इसका विशेष वर्णन मिलता है। इसमें लिखा है कि सुपार्श्वनाथ की स्मृतिमें स्तूपको कुबेरने सुवर्णसे बनाया है। "तीर्थकल्प" के कथनानुसार ८वी शती तक यह स्तूप मौजूद था। बौद्ध स्तूपोंसे यह प्राचीन है। १७वी (सत्रहवी) शती तक मथुरामें जैनकला विकास पर थी।

मथुरामे आयगपट, तोरणद्वार, वेदिकास्तभ, द्वारस्तभ आदि बहुत-सी चीजें मिलती है। इनमें खासकर आयगपट विशेष उल्लेखनीय है। आयगपटोंमे अष्टमगल, दिक्कनिकाएँ आदि बहुत ही सुन्दर ढगसे चित्रित हैं। शुगकालसे लेकर गुप्तकाल तक इतनी विपुल जैन सामग्री अन्यत्र उपलब्ध नही हुई है। इस सामग्रीसे तत्कालीन जनजीवन, आमोद-प्रमोद, वेषभूषण आदि सामाजिक बातोका भी ज्ञान होता है। कुषाणकालीन मूर्तियोंके नीचे अधिकतर ब्राह्मी लिपिके लेख है और इनकी भाषा सस्कृत तथा प्राकृत मिश्र है। यहाँकी मूर्तियोमें सरस्वती, आर्यवती और नैगमेशकी मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय है। मथुराके वेदिका-स्तम्भोंके ऊपर जो चित्र अकित हैं, उनमें तत्कालीन आनन्दमय लोकजीवनके सुन्दर उदाहरण मिलते है। इन चित्रोंमें विविध आकर्षण भगिमाओमें खडी हुई महिलाओंके चित्र ही अधिक है। एक फूल तोड रही, दूसरी स्नान कर रही है, तीसरी अपनी गीलीकेशराशिको सुखा रही है, चौथी अपने कपोलमे लोध्रचूर्ण लगा रही है, पाँचवी वृक्षकी छायामें बैठकर वीणा बजा रही है, छठी बसुरी बजा रही है, और सातवी नृत्य कर रही है। वस्तुत ये वेदिकास्तम्भ कलात्मक शृगारोसे युक्त माधुर्यके जीवित उदाहरण है।

प्रथम सतीमे पाँचवी सती तकका काल मथुराकी मूर्ति कलाका सुवर्ण युग ही है। प्राकृतिक सौंदर्य सम्पन्न पर्वत, नदी, जलपात, कमल, अशोक, कदम्ब, बकुल, नागकेसर, चम्पक आदि लतावृक्ष एव सघन अरण्योंमें स्वच्छन्द विहार करनेवाले पशु पक्षी-इनके द्वारा मथुराके शिल्पियोने प्राकृतिक उपकरणोंके साथ अमूल्य मानव सौन्दर्यको सामजस्य रूपसे प्रपचित किया है। सौंदर्यकी अनिन्दित साधन रूप नारोको चित्रित करना प्राचीन जैनकलाका एक वैशिष्ट्य है।

धर्मकी रक्षा और प्रसारमें प्रत्येक कालमें महिलाओने क्रियात्मक भाग लिया है। इस कार्यमे महिलाएँ पुरुषोंसे पीछे नही थी। मथुरामें महिलाओके द्वारा निर्मापित चिरस्मरणीय हजारों कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। लोकद्वयमें कल्याणापेक्षणीय इन महिलाओमें मणिकार, लोहकार आदि निम्न जातिकी भी मौजूद थी। यहाँका एक सुन्दर आयगपट एक वेश्याकी पुत्री लवणशोभिकाके द्वारा बनवाया गया था। यहाँपर नर्तकी आदि सभी वर्गोंकी महिलाएँ धर्मकार्यमे भाग लेती रही। अचला, कुमारमित्रा, गृहश्री, गृहरक्षिता, शिवमित्रा, शिवयशा आदि यहाँपर दानदात्री महिलाओके सैकडो नाम मिलते हैं। खासकर आर्यिकाएँ इन महिलाओंको प्रेरणा करती रही। गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट और पाड्य आदि अनेक राजवशोंने

जैनकलाकी उन्नतिमें योगदान दिया। इन वंशोंके शासकोंमें सिद्धराज, जयसिंह, कुमारपाल, अमोघवर्ष, अकालवर्ष और मारसिंह आदि प्रमुख हैं। जिनसेन, गुणभद्र आदि आचार्य इनके प्रेरक रहे।

ग्वालियरगढ़

तोमरवंशी डुंगरेन्द्रदेवके राज्यकालमें यहांकी बहुमूल्य विशाल मूर्तियोंका निर्माण स्थानीय समृद्ध भक्तोंके द्वारा कराया था। मूर्तियोकी चरण-चौकियोपर निर्माताओंने अपने नामके साथ-साथ अपने नरेशका नाम भी अंकित किया है। मूर्तियाँ विक्रमीय १५-१६वी शतीकी हैं। डुंगरेन्द्रदेवके सुपुत्र कीर्तिसिंहके राज्य-कालमें यहांकी शेष मूर्तियोका निर्माण हुआ। इन मूर्तियोमें अरवाही-समूह अपनी विशालतासे तथा दक्षिण पूर्व समूह अपनी अलंकृत कलाद्वारा हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

अब दक्षिणकी ओर चलिये। दक्षिणमें श्रवणबेल्गोल्ल, हलेबीडु, कार्कल और वेणूर आदि स्थानोंके जिनालय द्राविड और चालुक्य कलाके अनुपम रत्न हैं। हलेबीडुके देवालयके बारेमें स्मिथ महाशयका कहना है कि "ये देवालय धर्मशील मानवजातिके परिश्रमके आश्चर्यजनक साक्षी हैं। इनकी कला कुशलताको देखकर तृप्त नही होते।" कलाविशारद एन० सी० मेहताका कहना है कि "बेलूरका भारत विख्यात विष्णुमन्दिर भी मूलमें जैनमन्दिर ही था।"

मूडबिद्रीका चन्द्रनाथबसदि, कारकलका चतुर्मुख बसदि और वेणूरका शान्तिनाथ बसदि-ये सब कलाकी दृष्टिसे बहुत ही सुन्दर है। इनके अतिरिक्त विजयनगर, भट्कल, गेरुसोप्पे, हुबुज, वरग आदि स्थानोमें भी अनेक शिलामय प्राचीन जैनदेवालय मौजूद हैं।

गुफलामन्दिर

जैन गुफा मन्दिरोमें सबसे प्राचीन उडीसाके भुवनेश्वरके पास खडगिरि-उदयगिरिकी गुफाएँ हैं। बादामी, मागी-तुगी, ऐलोरा आदिकी जैनगुफाएँ बादकी हैं। कारीगरीके लिहाजसे जैनमदिर बहुत सुन्दर हैं। इनमें पत्थरका बढिया शिल्प है। बेलगांव, धारवाड, उत्तरकन्नड, हासन और बल्लारी जिलेमें भी बहुतसी जैन गुफाएँ मौजूद हैं।

जैनमूर्तिकला

इस कलाके सम्बन्धमें इस कलाके विशेषज्ञ एन०सी० मेहता आई० सी० एस० के शब्दोंमें ही सुन लें "नन्दवशके राज्यकालसे लेकर पन्द्रहवी शती तक हमारी शिल्पकलाके नमूने मिलते हैं। वे ललित कलायें अपने स्थापत्य और प्रतिमाकलाके इतिहासमें विशेष महत्त्वकी है। इनमें भी विशेषकर मूर्तिविधान तो हमारी सभ्यता, धर्मभावना और विचार परम्पराका मूर्तिस्वरूप है। ई० सन्के आदिकी कुषाणराज्यकालकी जो जैन प्रतिमाएँ मिलती है, उनमें और सैकडो वर्षो बाद बनी हुई प्रतिमाओमें बाह्य दृष्टिसे बहुत थोडा अन्तर प्रतीत होता है। वस्तुत जैन ललित कलामें कोई परिवर्तन नही होने पाया। अन्त मूर्तिविधानमें अनेकता नहो आने पायी। मन्दिरो और मूर्तियोंका विस्तार बहुत हुआ। पर विस्तारके साथ एकता और गम्भीरतामें अन्तर नही पडा। प्रतिमाके लाक्षणिक अग लगभग २००० वर्ष तक एक ही रूपमें कायम रहे। केवलीकी खडी या आसीन मूर्तियोमें दीर्घकालके अन्तरमें भी विशेष रूपभेद नही होने पाया। जैन तीर्थकरोंकी मूर्ति विरक्त, शान्ति और प्रसन्न होनी चाहिये। इसमें मनुष्य हृदयकी अस्थायी वासनाओंके लिए स्थान नही होता। ये मूर्तियाँ आसन और हस्तमुद्राको छोडकर शेष सभी बातोमें प्राय बौद्ध मूर्तियोंसे मिलती जुलती हैं। तीर्थकरोकी सारी प्रतिमाओंके आवासगृह सजाने और शृगार करनेमें केवल जैन ही नही, बल्कि जैनाश्रित कलाओने भी कुछ उठा नहीं रखा। मध्यकालीन युगमें जब वाममार्गके कारण या दूसरे

कारणोंसे ब्राह्मण मन्दिरोंमें अश्लील विषयको स्थान मिला था, तब भी जैन देवालयोंमें शुद्ध सात्विक और पवित्र भावनामय सुन्दर मूर्तिकलाको स्थान मिला था। सौन्दर्यकी दृष्टिसे, मन्दिरोंकी प्रधान मूर्तियाँ महत्वकी नहीं हैं। पर मन्दिरोंकी बाहरी दीवालोंपर आवरण रूपमें रखी हुई जो अन्य देवताओंकी मूर्तियाँ होती हैं, वे आकर्षक होती हैं।

तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंमें एक प्रकारकी निर्द्वंदिता और भव्यता प्रकट होती है। मूर्तियोंके पत्थरोंमें या मूर्तियोंमें किसी प्रकारका दोष नहीं होना चाहिये। घरकी मूर्ति बारह अंगुलसे बड़ी न हो। मूर्तियोंके उपर तीन छत्र और मूर्तियोंके दोनों ओर यक्ष तथा यक्षी होनी चाहिये।

कलाकी दृष्टिसे जैन मूर्तियोंमें श्रवणबेलगोलकी बाहुबलीकी मूर्ति सबसे उल्लेखनीय है। इसे बनाकर शिल्पीने रसात्माको सन्तुष्ट किया है। इसके लिये वीर मार्तंड चामुंडराय धन्यवादके पात्र हैं। बाहुबलीकी उल्लेखनीय दो मूर्तियाँ और हैं कारकलमें और दूसरी वेणूरमें। कलाकी दृष्टिसे ये मूर्तियाँ भी महत्वकी हैं। जैन मूर्तियोंमें पटनाके लोहनीपुरमें प्राप्त मूर्तियाँ सर्वप्राचीन हैं।

खजुराहो

यहाँपर घंटाई जैनमन्दिर भारतकी उच्च कारीगरीका साक्षी है। इसके खम्भोंमें पर घंटा और जंजीर उकरे हुए हैं, इसलिये यह घण्टाई मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। छतपर प्रदर्शित भगवान जिनेन्द्रकी भक्ति गाती हुई भक्तिपूर्ण नृत्य करती हुई और विविध बादल यन्त्रोंकी बजाती हुई भक्तमंडलियाँ वस्तुत दर्शनीय हैं। आदिनाथ मन्दिरके सबसे उपर वाले भागमें प्रदर्शित विद्याधर मूर्तियाँ भी रोचक एवं आकर्षक हैं।

यहाँका पार्श्वनाथ मन्दिर सबसे विशाल और सुन्दर है। गर्भगृहकी बाहरी दीवालोंपर बनी देवियोंकी मूर्तियाँ मूर्तिकलाके उत्कृष्ट नमूने हैं। उत्तरी माथेपर बनी हुई मूर्तियोंमें एक माता अपने बच्चेको दुलार रही है, एक महिला पत्र लिख रही है, एक बालक एक महिलाके पैरसे काँटा निकाल रहा है। ये सब मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।



राजस्थानकी पुरा सम्पदाके खजाने प्राचीन जैन पाण्डुलिपियाँ

विजय शंकर श्रीवास्तव, जयपुर

हस्त लिखित ग्रन्थोकी जो समृद्ध पुरा सम्पदा आज भी राजस्थानमे विद्यमान है, वह महत्त्वपूर्ण होनेके साथ-ही-साथ विस्मयकारी व अद्भुत भी है। यहाँ शस्त्र और शास्त्रका जो अद्भुत सगम है, वह भारतीय इतिहासका स्वर्णिम पृष्ठ है। राजस्थानके जैन ज्ञान भण्डार एव विभिन्न भूतपूर्व रियासतो तथा ठेकेदारोके सरस्वती भण्डार एवं पाण्डुलिपि पुस्तकालय भारतीय वाङ्मयकी अनोखी धरोहर है। व्यक्तिगत सग्रहोके रूपमें भी हमारे साहित्यकी अमूल्य निधियाँ यहाँ सुरक्षित हैं। इन हस्तलिखित ग्रन्थोकी संख्या यहाँ आज भी लाखोमें है। इनमें अधिकाश हमारी अज्ञानता एव प्रमादसे दीमकके शिकार हुये जा रहे हैं, प्राचीन चित्रोकी बढती हुई माँगके परिणाम स्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ लोभवश नष्ट की जा रही हैं तथा हमारी सकुचित वृत्तिके कारण ज्ञानके ये अनेक भण्डार अध्येताओं एव जिज्ञासुओकी भी पहुँचके बाहर हैं। राजस्थानके ये बिखरे खजाने वास्तवमें सरक्षण और शोधकी प्रतीक्षामें मूक क्रन्दन कर रहे हैं जिससे साहित्य, इतिहास व सस्कृतिकी अनेक विलुप्त कड़ियाँ सँजोयी जा सकें।

यह स्वाभाविक जिज्ञासाका विषय है कि राजस्थानमें इतनी विपुल एवं विशाल पाण्डुलिपियो एव हस्तलिखित ग्रन्थोकी गौरवपूर्ण परम्परा किन परिस्थितियोमें जन्मी व पल्लवित हुई। भारतीय परम्पराके अनुसार, स्वाध्याय व अध्ययन आभ्यन्तर तपका जीवित रूप है। ज्ञान मोक्षका मार्ग है। अत ज्ञानार्जन आध्यात्मिक अनुशासनका प्रमुख अग रहा है। परिणाम स्वरूप, धर्माचार्यो द्वारा विपुल साहित्य सर्जित किया गया। वर्षा ऋतुमें एक स्थलपर टिककर चातुर्मास व्यतीत करना इस प्रकारके कार्यके निमित्त सर्वथा अनुकूल था। कागजके प्रादुर्भावके पूर्व ताडपत्र, भोजपत्र जैसे माध्यमो पर ग्रन्थ रचित हुये। श्रद्धालु श्रावको एव भक्तोने भी अनेक ग्रन्थोकी प्रतिलिपियाँ करा कर आचार्योंको पुण्यार्थ समर्पित किया। धनी-मानी लोगोने सचित्र पाण्डुलिपियाँ निर्मित कराई। चौदहवी शताब्दीमें कागजके आगमनसे हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सरचना और उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार करानेकी प्रक्रियाको अधिक गति मिली। जैन समाज इस दिशामें अग्रणी रहा। राजस्थान और गुजरातमें आज भी असख्य हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं। धार्मिक सहिष्णुता और औदार्यके वातावरणमे साम्प्रदायिक धरातलसे ऊपर उठकर जैन समुदायने इतर धर्मोका भी संकलन अध्ययनार्थ अपने ज्ञान भण्डारोमें किया। नवीन ग्रन्थोकी रचना, प्राचीन ग्रन्थोकी प्रतिलिपि करवाना तथा ग्रन्थोको खरीद कर आचार्योको भेट करना धार्मिक कृत्यका महत्वपूर्ण अग था। चौलुक्य नरेश सिद्धराज जयसिंहने सिद्धहेमव्याकरणकी सवा लाख प्रतियाँ कराकर विभिन्न आचार्यों, विद्वानो एव ज्ञान भण्डारोंको भेंट की। तथैव, कुमारपालने २१ शास्त्र भण्डारोकी स्थापना की एव उनमेंसे प्रत्येकको सुवर्णाक्षरी कल्पसूत्रकी प्रतियाँ भेंट की। जैसलमेरके पटुवोकी हवेलाके निर्माता बापना परिवारने वि० स० १८९१ में सिद्धाचल तीर्थका विशाल सघ निकाला और इस अवसर पर जो अनेक महत्वपूर्ण धार्मिक कार्य सम्पन्न किये गये, उनमें पुस्तकोका भण्डार करानेका धार्मिक कार्य एव सम्पन्न किये गये उनमें पुस्तकोका भण्डार

करानेका उल्लेख बड़े गौरवके साथ अमर सागर स्थित जैन मन्दिरमे उत्कीर्ण वि० स० १८९२ के अभिलेखमें किया गया है।

राजस्थानमें असंख्य ज्ञात एव अज्ञात ग्रन्थ भण्डार हैं। उनमें सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी, बगला, मराठी, उर्दू, फारसी, अरबी आदि भाषाओमें विरचित ताडपत्रीय एव कागज पर लिखे ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें विषयकी विविधता भी कम रोचक नही है। वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, काव्य, व्याकरण, धर्म, ज्योतिष, सगीत, वैद्यकके साथ ही साथ साहित्यिक, ऐतिहासिक, अर्धऐतिहासिक विषयों (यथा प्रशस्तियो, ख्यात—वात, रासो, वशावली आदि) का भी प्रणयन हुआ। इनमें अनेक ग्रन्थ सचित्र हैं और उनमें आलेखित अपभ्रश, मुगल तथा राजस्थानी चित्रशैलीकी जो अनुपम कलात्मक धरोहर सुरक्षित है, वह चित्रकलाके इतिहासकी परम्पराके अध्ययनकी दृष्टिसे बहुत ही महत्वपूर्ण है। इन हस्त-लिखित ग्रन्थोंको सुरक्षित रखने हेतु बनी सचित्र काष्ठ पट्टिकायें, वस्त्र, बन्धन आदि भी कम रोचक नही हैं। जैन आचार्योंको चातुर्मास व्यतीत करनेके लिये विभिन्न सघो द्वारा प्रेषित लम्बे-लम्बे सचित्र निमत्रण-पत्र अथवा विज्ञप्ति पत्र एव धार्मिक भण्डारोंको चित्रित करनेवाले कपड़े पर बने पटचित्र भी इन ज्ञान भण्डारोंकी निधियाँ हैं।

जैसलमेर किलेके सभवनाथ जैन मन्दिरमें स्थित श्री जिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डार, राजस्थानका ही नही, समूचे भारतका हस्तलिखित ग्रन्थोंका महत्वपूर्ण और विशाल सग्रह है। आचार्य जिनभद्रसूरि द्वारा पन्द्रहवी शताब्दीके अन्तिम चरणमें इस भण्डारकी स्थापना की गई थी। इनकी प्रेरणासे जैसलमेर, जावाल, देवगिरि, अहिपुर (अहोर), पाटण (गुजरात) में उपदुर्ग, आशापल्ली तथा खभातमे भी इसी प्रकारके जैन ग्रन्थ भण्डार स्थापित हुए। जैसलमेर ग्रन्थ भण्डारके अनेक ताडपत्रीय ग्रन्थोका लेखन इन्ही आचार्य—श्रीके उपदेशसे खभात निवासी धरणाशाह एव श्रेष्ठी भ्रातृयुगल उदयराज और बलिराजने करवाया। इस भण्डारसे धरणाशाह द्वारा लिखवाये ४८ ताडपत्रीय ग्रन्थ,[१] आज भी विद्यमान हैं। यहाँ कुल ४०३ ताडपत्रीय ग्रन्थोंका महत्वपूर्ण सग्रह है जिनमे लगभग ७५० ग्रन्थोका सकलन है। इनमें प्राचीनतम ताडपत्रीयग्रन्थ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित विशेषावश्यकमहाभाष्य (ग्रन्थ स० ११६) है जो १०वी शताब्दी पूर्वार्द्धका है। यही वि० स० १११७ में द्रोणाचार्य रचित ओघनिर्युक्तिवृत्ति (ग्रन्थ स० ८४।१) तथा आचार्य हरिभद्रकृत दशवैकालिकसूत्रवृत्ति (ग्रन्थ स० ८४।२) की प्रतिलिपियाँ पाहिल द्वारा ताडपत्र पर की गई जिनमे चित्र भी आलेखित है जो चित्रकलाके क्रमिक विकासके अध्ययनकी दृष्टिसे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। ओघनिर्युक्तिमें हाथी और कमल चित्रित है। तथा दशवैकालिक सूत्रमे पूर्णकलश, हस्ती, सिंह, कमलासना देवी तथा गतिमान धनुर्धारीका अकन है। ये ग्रन्थ गुजरातमे लाकर जैसलमेर ग्रन्थ भण्डारमे सुरक्षित किये गये। इनमें अनेक दुर्लभ व अलभ्य ग्रन्थ है। कागज पर लिखे गये १७०४ ग्रन्थ यहाँ सुरक्षित हैं जिनमें वि० स० १२४६ मे लिखित कर्मग्रन्थ टिप्पण प्राचीनतम है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रकी चौदहवी शताब्दीकी एक वृत्ति (ग्रन्थ स० ३९८) यहाँ विद्यमान है जो अन्यत्र अनुपलब्ध है। तथैव, बौद्धधर्मके अनेक ताडपत्रीय ऐसे ग्रन्थ इस सग्रहमे है जो अभी तक अलभ्य थे। इनमे उल्लेखनीय दिग्नाग रचित न्यायप्रवेश (११४६ ई०) तथा नालन्दा विश्वविद्यालयके प्रधान कमलशीलकृत तत्त्वसग्रह (१२वी शताब्दी) टीका सहित प्रमुख है। अनेक काव्य ग्रन्थोकी प्राचीन प्रतियाँ भी यहाँ उपलब्ध है। इनमें धनपालकृत तिलकमजरी (१०७३ ई०), भोजकृत शृंगारमजरी (११वी शताब्दी), उद्योतन सूरिकृत कुवलयमालाकथा (१०८२ ई०) सुबन्धकृत वासवदत्ता, (११५० ई०), जिनचन्द्र सूरिकृत सम्वेग रंगशाला (११५० ई०) आदि मुख्य हैं।

इस भण्डारमें कागजके अनेक महत्त्वपूर्ण सचित्र ग्रन्थ सुरक्षित हैं जो १५वीं शताब्दीकी चित्रकलाके अन्यतम उदाहरण हैं । इनमें उल्लेखनीय वि० स० १४२९ का पाण्डवचरित्र महाकाव्य (ग्र० स० ४१९), वि० स० १५६२ का रौप्याक्षरी सचित्र कल्पसूत्र (ग्र० स० ४२०) जिसमें २७३ चित्र हैं तथा कालिकाचार्य कथा (स० ४२५) आदि है । पुस्तकोको सुरक्षित रखने हेतु यहाँ अनेक सचित्र काष्ठ पट्टिकाओ तथा चित्रित मजूषाओका भी सुन्दर सग्रह है । काष्ठ पट्टिकाओं पर तीर्थंकरोके जीवन प्रसग तथा पशु जगत्का भव्य अकन है जिसमे एक पर जिराफका चित्रण महत्त्वपूर्ण है । थारूशाह ज्ञान भण्डारमें वि० स० १६७३ का चमडाका सचित्र डिब्बा उल्लेखनीय है । राजस्थानके प्राय सभी महत्त्वपूर्ण जैन मन्दिरो व उपासरोमें ग्रन्थ भण्डार है । जयपुर, नागौर, अजमेर व बीकानेरके जैन ज्ञान भण्डार अपने समृद्ध सग्रहके लिये पर्याप्त प्रसिद्ध हैं ।

राजस्थानके विभिन्न राजपूत शासको, ठिकानेदारो व श्रेष्ठियोने भी हस्तलिखित ग्रन्थोके सग्रह व सरक्षणमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । बीकानेरकी अनूप सस्कृत लाइब्रेरी, जोधपुरका पुस्तक प्रकाश तथा उदयपुरका सरस्वती भण्डार वहाँके राजाओके साहित्य प्रेमके जीते जागते स्मारक है । विद्वानोके परिश्रमके परिणामस्वरूप इन सग्रहोके अनेक अलभ्य व महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है । उनकी सूचियाँ भी प्रकाशित हो चुकी है । उनमे अनेक सचित्र ग्रन्थ भी उपलब्ध है । सरस्वती भण्डार, उदयपुरमें मेवाड शैलीमे चित्रित आर्षरामायण, गीतगोविन्द, भागवत आदि, पुस्तक प्रकाश, जोधपुरमे मारवाड शैलीमें महाराजा मानसिंहके राजत्वमे चित्रित ढोलामारु, नाथचरित्र, दुर्गाचरित्र, शिवपुराण, शिवरहस्य, रामायण आदि एव अनूप सस्कृत लायब्रेरी, बीकानेरमें बीकानेरशैलीमें चित्रित मेघदूत, रसिकप्रिया, भागवत पुराण आदि कला जगतको सास्कृतिक निधियाँ है । अनूप सस्कृत लाइब्रेरीमें १२००० हस्तलिखित प्रतियाँ एव लगभग ५०० गुटके विद्यमान है । व्यक्तिगत सग्रहके रूपमे श्री अगरचन्द्रनाहटाका बीकानेर स्थित, अभयजैन पुस्तकालय, ऐतिहासिक महत्त्वकी पाण्डुलिपियो, जैन आचार्यों एव यतियोंके पुत्र, राजाओके पत्र, खास, रुक्के, स० १७०१ से अब तकके प्राय सभी वर्षोंके पचागोका विरल सग्रह है । यहाँ लगभग २००० हस्तलिखित ग्रन्थ सग्रहीत है जिनमे कुछेक ऐतिहासिक महत्त्वके ग्रन्थोंका प्रकाशन भी हो चुका है, यथा पिंगलसिरोमणि, क्याम खाँ रासो, जसवत उद्योत आदि ।

राजस्थान निर्माणके पश्चात् ही राजकीय स्तरपर हस्तलिखित ग्रन्थोंके सग्रह, सरक्षण, वर्गीकरण शोध व प्रकाशन आदिकी ओर ठोस कदम उठाया गया और इसका मूर्तरूप है जोधपुर स्थित राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जिसके लगभग १७ वर्षों तक सम्मान्य निदेशक सुप्रसिद्ध पुराविद् मुनि जिनविजयने रहकर इस सस्थाको अपने रचनात्मक एव सर्जनशील कृतित्वसे जो ख्याति प्रदान की, वह सर्वविदित है । इस प्रतिष्ठानकी शाखायें उदयपुर, बीकानेर, चित्तौड, जयपुर, अलवर कोटा एव टोकमे विद्यमान है । विभागमें एक लाखसे ऊपर पाण्डुलिपियोका सग्रह है । यहाँ एक हजारके लगभग प्राचीन ताडपत्रीय ग्रन्थ तथा उतने ही दुर्लभ ग्रन्थोंकी फोटोकापियाँ तथा अन्य ज्ञान-भण्डारोमे सग्रहीत महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थो की प्रतिलिपियोका विशाल सग्रह है । शोधार्थियोको उनकी माइक्रोफिल्म, फोटोकापी व प्रतिलिपियाँ उपलब्ध करानेका भी अध्ययनार्थ प्रावधान है । ग्रन्थोकी सुरक्षाकी दृष्टिसे दो वातानुकूलित सयत्र भी हालमे लगाये गये है तथा वातानुकूलित तलगृह बनानेकी भी योजना विचाराधीन है । 'पुरातन ग्रन्थमाला' के रूपमे १२४ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोका प्रकाशन किया गया है । प्रतिष्ठानकी टोक शाखाकी अरबी, फारसी, उर्दूकी पाण्डुलिपियोंको एकीकृत सग्रहका रूप देनेकी योजना अध्येताओके लिए लाभप्रद सिद्ध होगी और राजस्थानमें ज्ञानके ये बिखरे खजाने हमारी सस्कृति व इतिहासको उजागर करनेमे सहायक सिद्ध होगे, इसमें सन्देह नही । ●

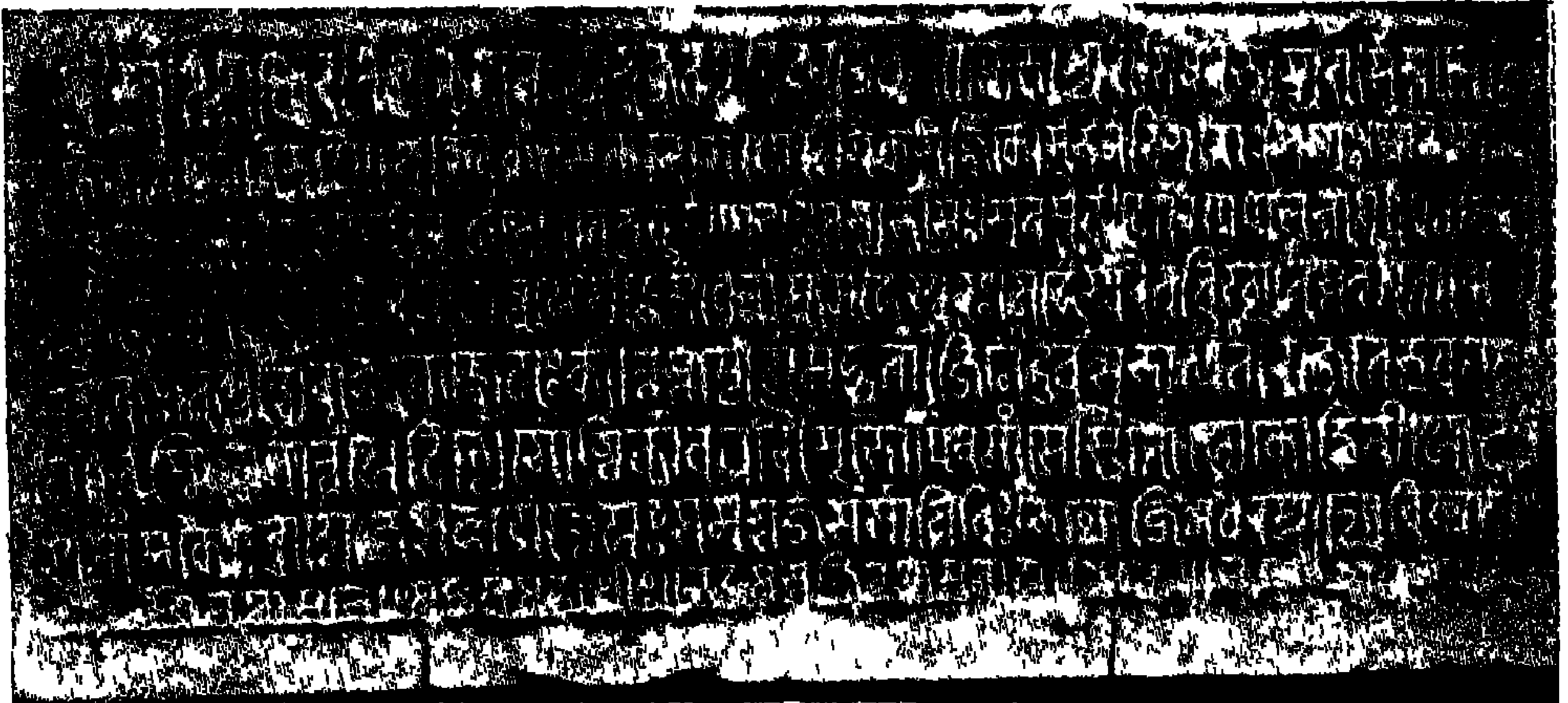
पचराई और गूडर के महत्त्वपूर्ण जैन-लेख

कुमारी उषा जैन, एम० ए०, जबलपुर

प्रस्तुत लेखमे पचराई और गूडरके दो महत्त्वपूर्ण लेखोका विवरण दिया जा रहा है। पचराईका लेख विक्रम स० ११२२ का है और गूडरका मूर्तिलेख वि० स० १२०६ का है। दोनो ही लेख उन स्थानो की शातिनाथ प्रतिमाओसे सम्बन्धित है। इन लेखोमे लम्बकञ्चुक और पग्पाट अन्वयोका उल्लेख है। गूडरके मूर्त्तिलेखमें किसी राजवशका उल्लेख नही है किन्तु पचराईका लेख प्रतिहार वशके हरिराजके पौत्र रणपालके राज्यकालमे लिखा गया था।

पचराईका लेख

यह लेख पचराईके शान्तिनाथ मन्दिरमे ह। इसकी लम्बाई ६० से०मी० और चौडाई २० सें०मी० है। लेखकी लिपि नागरी और भाषा सस्कृत है। इसकी आठ पक्तियोमें सात श्लोक है। अन्तिम पक्तिमें



चित्र १ पचराईका लेख

वि० स० ११२२ का उल्लेख है। प्रथम श्लोकमे सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथकी स्तुति की गई है। और उन्हे चक्रवर्ती तथा रति और मुक्ति दोनोका स्वामी (कामदेव और तीर्थंकर) कहा गया है। द्वितीय श्लोकमें श्री कुन्दकुन्द अन्वयके देशीगणमें हुए शुभनन्दि आचार्यके शिष्य श्री लीलचन्द्रसूरिका उल्लेख है। तृतीय श्लोकमे रणपालके राज्यकालका उल्लेख है। उसके पिता भीमकी तुलना पाडव भीमसे की गई है और भीमके पिता हरिराजदेवको हरि (विष्णु) के समान बताया गया है। चतुर्थ श्लोकमें परपाट अन्वयके साधु महेश्वरका उल्लेख किया गया है, जो महेश्वर (शिव) के समान विख्यात था। उसके पुत्रका नाम बोध था। पञ्चम श्लोकमें बताया गया है कि बोधके पुत्र राजनकी शुभकीर्त्ति जिनेन्द्रके समान तीनों भुवनोमे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। छठवें श्लोकमें उसी अन्वयके दो अन्य गोष्ठिकोंका उल्लेख है, जिनमें

से प्रथम पचमाशमें और द्वितीय दशमाशमें स्थित था। स्पष्ट है कि यहाँ पचराई ग्रामके नामको संस्कृत भाषाके शब्दमें परिवर्तित कर पचमांश लिखा गया है। तत्कालीन कुछ अन्य लेखोंमे पचराईका तत्कालीन नाम पचलाई मिलता है। सातवें और अन्तिम श्लोकमें 'प्रथम गोष्ठिकका नाम जमहूड था, जो समस्त यशोंका निधि था एव जिनशासनमें विख्यात था। अन्तिम पक्तिमें मङ्गलं महाश्री तथा भद्रमस्तु जिनशासनाय उत्कीर्ण है तथा अन्तमें सवत् ११२२ लिखा है।

राजा हरिराज बुन्देलखण्डके प्रतिहार वशके प्रथम शासक थे। इस वशका सुप्रसिद्ध गुर्जर प्रतिहार वशसे क्या सम्बन्ध है, यह अभी तक स्पष्ट नही हो सका है। हरिराजके समयका विक्रम सवत् १०५५ का एक शिलालेख चन्देरीके निकट थुबौनमें प्राप्त हुआ है और उनका विक्रम सवत् १०४० का ताम्रपत्र लेख भारत कला भवन, काशीमें जमा है। रणपालदेवके समयका विक्रम सवत् ११०० का एक शिलालेख बूढी चन्देरीमें मिला है। प्रस्तुत लेख उस नरेशका द्वितीय तिथियुक्त लेख है। पचराईके इस लेखका मूलपाठ निम्न प्रकार है —

मूलपाठ

इस लेखका मूलपाठ निम्नलिखित है

[श्री] [शा]
१ ઽ[1] स्री गातिनाथो रतिमुक्तिनाथ ।[2] यस्चक्रवर्त्ती भुवनाश्च धत्ते ।।[3] [।] सोभाग्यरासिर्व्व र भाग्यरासि स्तान्ते वि

[कृ][कु] [शि] [शु] [शि]
२. भूत्यै नसो विभूत्यै ।। श्री कूदकूद र ताने । गणेदेसिक सङ्गिके । सुभनदिगुरा सिध्य सूरि श्री ली—

३ ल चन्द्रक ।। हरी व भूत्या हरिराजदेवो बभूव भीमेंव हि तस्य भीम । सुतस्तदीयो रणपाल नाम ।।[4] एतद्विरा

[शु] [श्] [श्]
४. ज्ये कृतिराजनस्य ।। परपाटान्वये सुद्धे साधु र्न्नाम्ना महेस्वर । महेस्वरेव विख्यातस्तत्सुतो
[बो]
वोध

[।।]
५ सशक । तत्पुत्रोराजनोज्ञेय कीर्त्तिस्तस्ये यमद्भुता । जिनेंदुवत्सुभात्यत ।[5] राजते भुवन त्र

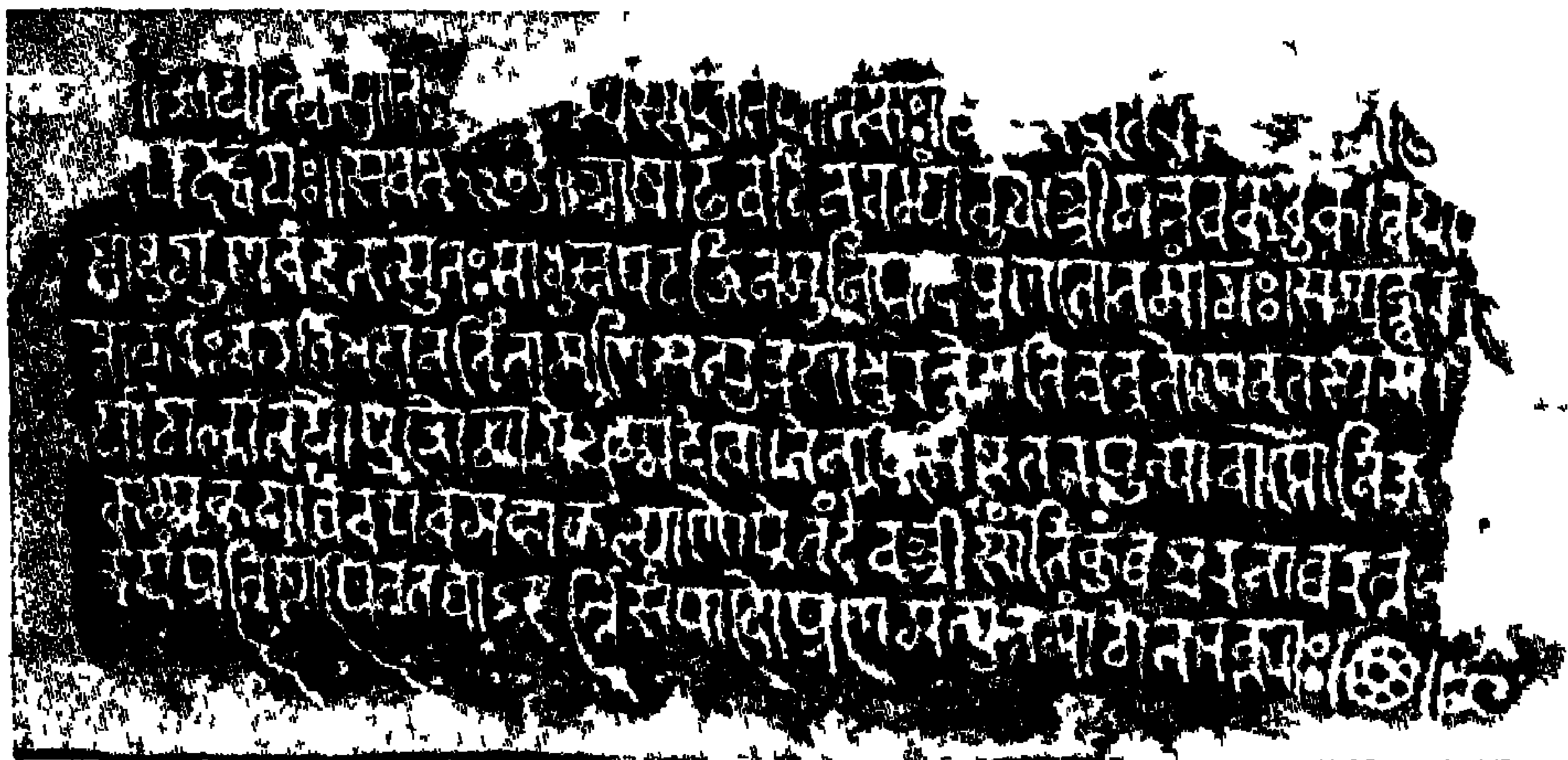
[शु] [शे]
६ ये ।। तस्मिन्नेवान्वये दित्ये गोष्ठिकावपरौ सुभौ । पचमासे स्थितो ह्येको द्वितीयो द
[श]
७ समासके ।। आद्यो जसहडो ज्ञेय समस्त जससा निधि । भवनोजिनवरस्चायो विख्यातो
[शा]
८ जिनसासने ।। मङ्गलमहाश्री ।। भद्रमस्तु जिनशासनाय ।। ७ ।। सवत् ११२२

१. ओम्‌को चिह्नद्वारा अकित किया गया है।

२. अनावश्यक है। ३. अनावश्यक है। ४ अनावश्यक। ५. अनावश्यक।

गूडरका मूर्तिलेख

गूडर खनियाधानासे दक्षिणमें लगभग आठ किलोमीटरकी दूरी पर स्थित छोटा-सा गाँव है। यहाँके आधुनिक जैन मन्दिरकी विपरीत दिशामें एक खेतमें तीन विशाल तीर्थंकर मूर्तियाँ स्थित हैं, जो शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथकी हैं। इनमें सबसे बडी प्रतिमा लगभग नौ फुट ऊँची है। इस प्रतिमाकी चरण-चौकी पर विक्रम सवत् १२०६ का लेख उत्कीर्ण है। लेखकी लम्बाई ३४ सें०मी० एव चौडाई २१ सें०मी० है। सात पक्तियोका यह लेख नागरी लिपि एव सस्कृत भाषामें है। लेखके प्रारम्भमें श्री शान्तिनाथकी स्तुति की गयी है। आगे बताया गया है कि विक्रम स० १२०६ में आषाढ बदि नवमी बुधवारको, लम्ब-कञ्चुक अन्वयके माम और धर्मदेवके पिता रत्नेने पञ्चमहाकल्याणक महोत्सवका आयोजन कर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ (रत्नत्रय) की प्रतिमाओकी प्रतिष्ठा कराई और वे प्रतिदिन उनकी भक्तिपूर्वक पूजा करते थे। इन मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा कर्मोंके क्षय हेतु कराई गयी थी। रत्नेकी पत्नीका नाम गल्हा था। रत्नेके पिता सूपट थे, वे मुनियोके सेवक थे, सम्यक्त्व प्राप्त थे, तथा चतुर्विध दान किया करते थे। सूपटके पिताका नाम गुणचन्द्र था और वे लम्बकञ्चुक (आधुनिक लमेचू) अन्वयके थे। इस लेखका मूलपाठ निम्न प्रकार है —



चित्र २ गूडरका लेख

मूलपाठ

(श्री)(शा)
१ — — ॥ जीयात्स्रीसाति — — पस्स घातघातक । — — दुतिर — —

[ब] [बु] [ब]
२ पदद्वय ॥ सवत १२०६ ॥ आषाढ वदि नवम्या वुधे । श्रीमल्लवकंचुकान्वय—

[त्तो]
३ माधुणचद्र तस्सुत माधुत साधुसूपट जिनमुनिपादप्रणतोतमाग । सम्यकत्वर—

[ती] [ता]
४ त्लाकर चतुर्विधदानचिंतामणिस्तत्पुत्रसाधुरत्ने सतित्व व्रतोपेत तस्य भा—

[वो] [सि] [ण्] [प्तये]

५ र्या गल्हा तयां पुत्रौ मामेधर्म्मदेवो । तेन विशिष्टतर पुन्यावाप्ती निज—

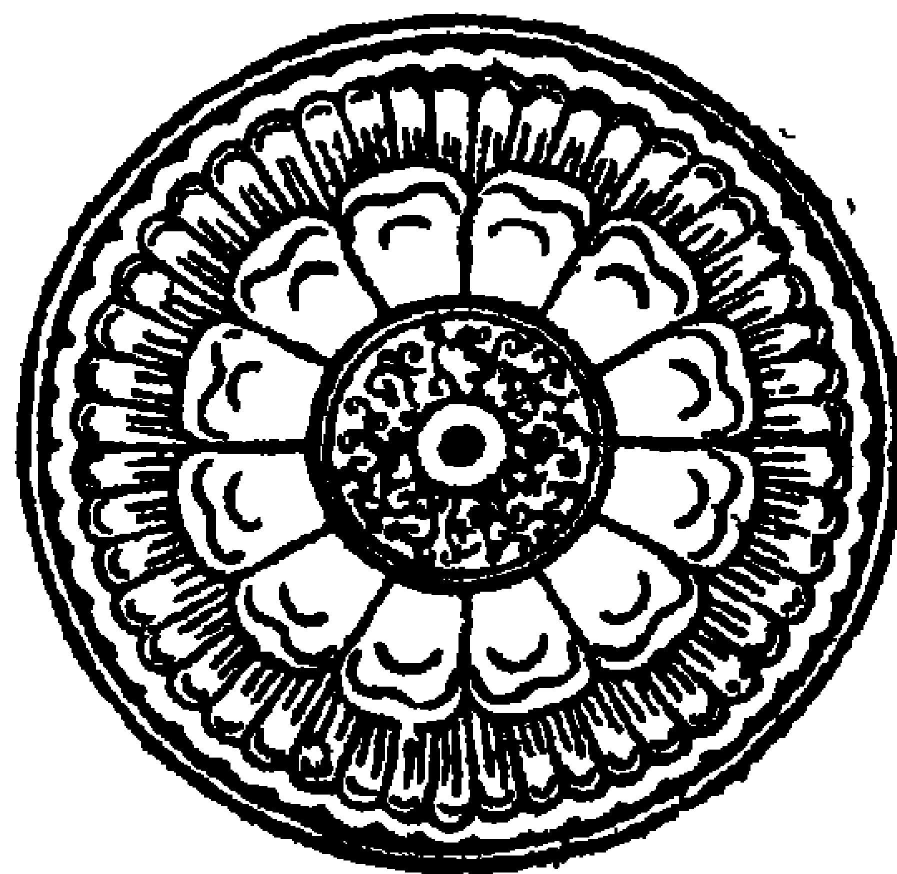
[र्म्म] [शा]

६. कम्म क्षयार्थं च पचमहाकल्याणोपेत देवश्री सातिकुथअरनाथरत्न ।

[श]

७. त्रय प्रतिष्ठापित तथाऽर्हनिस पादौ प्रणमत्युत्तमांगेन भक्त्या (त्या) । ❀ ॥

उपर्युक्त लेखोंके अलावा अन्य कई लेख पपराईमें उपलब्ध हैं जिनमें देशीगणके पंडिताचार्य श्री श्रुतकीर्तिके शिष्य पंडिताचार्य श्री वीरचन्द्रके शिष्य आचार्य शुभनन्दि और उनके शिष्य श्री लीलचन्द्र-सूरि आदिके उल्लेख मिलते हैं।



विदेशी संग्रहालय में महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएँ

डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा
राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

जैन धर्म भारतमें प्रचलित विभिन्न धर्मोंमे अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस धर्मके अनुयायी भारतके प्राय सभी भागोमें पाये जाते है। ये अनुयायी मुख्यत दो प्रमुख सम्प्रदायों—दिगम्बर एव श्वेताम्बरमें विभक्त है। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुयायी अपनी देवमूर्तियोको बिना किसी साज-सज्जाके पूजते हैं जबकि श्वेताम्बरी अपनी पूज्य प्रतिमाओको सुन्दर मुकुट एवं विभिन्न आभूषणोसे सजाकर उनकी पूजा-आराधना करते हैं। भारतमे पाई गयी प्राचीनतम प्रतिमाये नग्न हैं क्योकि उस समय केवल दिगम्बर सम्प्रदायका ही प्राबल्य था। परन्तु शताब्दियो पश्चात् श्वेताम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्धित जैन प्रतिमाओका भी निर्माण होने लगा और इसप्रकार अब दोनो प्रकारकी प्रतिमायें आज भी भारतके विभिन्न भागोमे उनके अनुयाइयोद्वारा पूजी जाती हैं।

प्रारम्भमें अनेक जैन विद्वानोका विचार था कि उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म अबसे हजारो साल पूर्व भी विद्यमान था और जब सन् १९१२ में हडप्पा एव मोहनजोदडोकी खुदाईमें नग्न मानव-धड एव ऐसी अन्य पुरातत्वीय महत्त्वकी वस्तुएँ प्राप्त हुई, तो उन विद्वानोंने उनको भी जैनधर्मसे सम्बन्धित ठहराया। परन्तु अनेक आधुनिक विद्वानोने शोधके आधारपर इस प्रचलित धारणाका खण्डन करते हुए उन्हे प्राचीन-तम यक्ष प्रतिमाओंका प्रतिरूप बतलाया है।

यद्यपि जैन साहित्यसे यह प्रमाणित है कि स्वय भगवान महावीरके समय-छठी शताब्दी ईसवी पूर्वमे ही उनकी चन्दनकी प्रतिमाका निर्माण हो चुका था, परन्तु पुरातात्त्विक खोजोंके आधारपर अब तक सबसे प्राचीन जैन प्रतिमा मौर्य कला, लगभग तीसरी शती ई० पूर्वकी ही मानी जाती है। पटनाके समीप लोहानीपुरके इस कालका एक नग्न धड प्राप्त हुआ है जो अब पटना संग्रहालयमें प्रदर्शित है। यह अपनी तरहका एक बेजोड उदाहरण है। बलुआ पत्थरके बने इस धडपर मौर्यकालीन चमकदार पालिस आज भी विद्यमान है जिसका कोटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें वज्र-लेपके नामसे उल्लेख किया है। इस नग्न धडमें 'जिनको स्पष्ट रूपसे कायोत्सर्ग मुद्रामे दिखाया गया है। इसीसे काफी साम्यता रखता, परन्तु पालिस रहित एक अन्य धड शुगकालका माना जाता है, पटना संग्रहालयमे ही प्रदर्शित है। शुगकालके पश्चात् कुषाण-कालमे जैन आयागपटो एव स्वतन्त्र प्रतिमाओका निर्माण अधिकाधिक रूपसे होने लगा। मथुराके विभिन्न भागोसे प्राप्त अनेक कुषाण एव गुप्तकालीन प्रस्तर मूर्तियाँ स्थानीय राजकीय संग्रहालय तथा राज्य संग्रहालय लखनऊमे विद्यमान हैं जिनसे जैन देवप्रतिमाओके विकासकी पूर्ण शृखलाका आभास सरलतासे हो जाता है।

विदेशोमे रहनेवाले कलाप्रेमियोका ध्यान जब जैन मूर्तिकलाकी ओर आकर्षित हुआ, तो धीरे-धीरे उन्होने भी भारतमे मूर्ति सम्पदाको अपने-अपने देशोंमें ले जाकर संग्रहालयोमे प्रदर्शित किया। भारतकी भाँति प्राय सभी विदेशी संग्रहालयोमे जैन कला सम्बन्धी एक-से-एक सुन्दर उदाहरण देखनेको मिलते हैं। इस सभीकी एक लेखमें विवेचना करना अत्यन्त कठिन कार्य है। अत. यहाँ हम आठ प्रमुख पश्चात्य देशोंमें

स्थित पन्द्रह प्रमुख सग्रहालयोंमें जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन प्रतिमायें सुरक्षित हैं, उनका ही सक्षेपमें वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं। ये सग्रहालय मुख्यत. ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बुल्गेरिया, जर्मनी, स्विटजरलैंड, डेनमार्क एव अमेरिकामें स्थित हैं।

(१) ब्रिटेन : (अ) ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन

लन्दन स्थित इस विख्यात सग्रहालयमें मथुरासे प्राप्त कई जिन शीर्षोंके अतिरिक्त उडीसासे मिली एक पाषाण मूर्ति भी है जिसमे आदिनाथ एव महावीरको साथ-साथ कायोत्सर्ग मुद्रामें दर्शाया गया है। पीठिकापर आदिनाथ और महावीरके लाछण वृषभ तथा सिंहोका अकन है। इसके साथ ही उपासिकाओकी मूर्तियाँ भी बनी हुई है। कलाकी दृष्टिसे यह मूर्ति ग्यारहवी शतीमें बनी प्रतीत होती है।

उडीसामे ही प्राप्त नेमिनाथकी यक्षी अम्बिकाकी लगभग उपर्युक्त प्रतिमाकी समकालीन मूर्ति भी यहाँ विद्यमान है जिसमे वह आम्रवृक्षके नीचे खडी है। इनका छोटा पुत्र प्रभंकर गोदमें व बडा पुत्र शुभकर दाहिनी ओर खडा हुआ है। मूर्तिके ऊपरी भागमें नेमिनाथकी लघु मूर्ति ध्यान मुद्रामें है तथा पीठिकापर देवीका वाहन सिंह बैठा दिखाया गया है।

इस सग्रहालयमें मध्यप्रदेशसे प्राप्त सुलोचना, धृति, पद्मावती, सरस्वती तथा यक्ष एव यक्षीकी सुन्दर प्रस्तर मूर्तियाँ भी विद्यमान है। अन्तिम मूर्तिकी पीठिकापर अनन्तवीर्य उत्खनित है।

(ब) विक्टोरिया एवं एलबर्ट सग्रहालय, लन्दन

इस सग्रहालयमे कुषाण एव गुप्त कालोकी भगवान ऋषभकी दो मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं। साथही, मध्यप्रदेशमे ग्यारसपुर नामक स्थानसे लाई गयी पार्श्वनाथकी एक अद्वितीय मूर्ति भी विद्यमान है जो सातवी शतीकी प्रतीत होती है। इसमें तेइसवे तीर्थंकर ध्यान मुद्रामें विराजमान हैं और मेघकुमार एक बडे तूफानके रूपमे उनपर आक्रमण करता दिखाया गया है। साथ ही, नागराज धरणेन्द्र अपने विशाल फण फैलाकर उनकी पूर्ण सुरक्षा करता दर्शाया गया है और उसकी पत्नी एक नागिनीके रूपमें तीर्थंकरके ऊपर अपना छत उठाये हुए है। मूर्तिके ऊपरी भागमे जिनकी कैवल्य प्राप्तिपर दिव्य गायक नगाडा बजाता भी दिखाया गया है। प्रस्तुत मूर्ति जैन मूर्तिकलाकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वकी है।

उपर्युक्त मूर्तिके समीप ही, सोलहव तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथकी एक विशाल धातु प्रतिमा प्रदर्शित है जिसमें वह सिंहासनमें ध्यानमुद्रामें बैठे है। इसके दोनो ओर एक-एक चॅवरधारी सेवक खडा है। मूर्तिपर विक्रम सवत् १२२४ (११६८ ई०) के खुदे लेखसे ज्ञात होता है कि राजस्थानमें चौहान शासकोंके समय इसकी प्रतिष्ठापना नायल-गच्छके अनुयायियोद्वारा की गई थी।

(२) फ्रास : म्यूजिगिमे पेरिस

इस सग्रहालयमे कई जैन प्रतिमाएँ हैं जिसमे चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीरकी कास्य मूर्ति विशेष रूपमे सुन्दर है। इसमें वह एक सिंहासनपर ध्यान मुद्रामे बैठे हैं। उनकी दाहिनी ओर तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ सर्प फणोके नीचे कायोत्सर्ग मुद्रामे खडे है और बाई ओर बाहुबलि, जिनके शरीरपर लतायें लिपिटी हुई हैं, खडे है। इस आशयकी कास्यकी मूर्तियाँ प्राय कम ही पाई जाती हैं। कर्णाटकमें निर्मित यह मूर्ति चालुक्य कलाके समय (नवमी-दसवी शती) की बनी प्रतीत होती है। यहाँ राजस्थानके पूर्वी भागसे प्राप्त एक पाषाण मिरदल भी है जो कलाका सुन्दर उदाहरण है। इसके नीचे वाली ताखमे ध्यानी जिनकी मूर्ति निर्मित है और उनके दोनों ओर अन्य दो-दो तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रामे उत्कीर्ण किये मिलते हैं। यह तेरहवी-चौदहवी शतीकी मूर्ति है।

(३) डेनमार्क : राष्ट्रीय संग्रहालय, कोपेनहेगन

इस संग्रहालयमें मुख्यतः आन्ध्रप्रदेश व कर्णाटकसे प्राप्त जैन मूर्तियोका अच्छा सग्रह है। ये सभी मूर्तियां ११वीं-१२वी शतीकी हो सकती है। इस सग्रहमें कई चालुक्य युगीन महावीर स्वामीकी नग्न प्रतिमाएं हैं, जिनमे उन्हे कायोत्सर्ग-मुद्रामे दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त, ऋषभनाथकी एक चौबीसी भी है जिसमें मूल प्रतिमाके दोनों ओर तथा ऊपरी भागमे अन्य तेईस तीर्थकरोकी लघु आकृतियां भी उत्कीर्ण की गई मिलती हैं। ये सभी मूर्तियां ध्यान मुद्रामे है।

(४) इटली : राष्ट्रीय संग्रहालय, रोम

इस सग्रहालयमें गुजरातमे सन् १४५० ई० मे बनी भगवान नेमिनाथकी कायोत्सर्ग मुद्रामें खडी मूर्ति मुख्य आकर्षण है। इसके दोनो ओर अन्य दो-दो तीर्थकर खडे व बैठे दिखाये गये है। मुख्य मूर्तिके पैरोके समीप उनके यक्ष एव यक्षी गोमेघ एव अम्बिका भी बैठे दिखाये गये है। कलाकी दृष्टिसे भी यह मूर्त्ति पर्याप्त रूपसे सुन्दर है।

(५) बुलगेरिया : रजग्रेड संग्रहालय, रजग्रेड

राजस्थानमें लगभग ११वी शती ई० मे निर्मित्त परन्तु उत्तर-पूर्वी बुलगेरियामे सन् १०२८ मे पाई गई इस मूर्त्तिमें तीर्थंकरको एक कलात्मक सिंहासनपर बैठे दिखाया गया है। अन्य प्रतिमाओंकी भांति इसके वक्षपर भी कमलकी पखुडियोके समान श्रीवत्स चिह्न अकित हैं।

(६) स्विटजरलेन्ड . रिटवर्ग सग्रहालय, ज्यूरिक

ज्यूरिकके इस सुप्रसिद्ध सग्रहालयमे राजस्थानमें चन्द्रावती नामक स्थानमे प्राप्त भगवान आदिनाथकी लगभग आदमकद प्रतिमा विद्यमान है जो श्वेत सगमरमरकी बनी है। इसमे उनके दो कलात्मक स्तम्भोके बीच कायोत्सर्ग मुद्रामें दिखाया गया है। इसके ऊपरी भागमे त्रि-छत्र बना है। इन्होने सुन्दर धोती धारण कर रखी है जिससे स्पष्ट है कि उसकी प्रतिष्ठापना श्वेताम्बर सम्प्रदायके जैनियोंद्वारा की गयी थी। पीठिकापर बने वृषभके अतिरिक्त उनके चरणोके पास दानकर्त्ता एव उनकी पत्नी तथा अन्य उपासकोकी लघु मूर्त्तियां बनी है। कलाकी दृष्टिसे यह मूर्त्ति परमार काल, लगभग बारहवी शतीकी बनी प्रतीत होती है।

(७) जर्मनी : (अ) म्यूजियम फर वोल्कुर कुण्डे, बर्लिन

इस सग्रहालयमे मथुरा क्षेत्रमे प्राप्त कुषाणकाल (२-३ शती) के कई जिन शीर्ष विद्यमान है। इस प्रकारके कई अन्य शीर्ष स्थानीय राजकीय सग्रहालयमे भी देखनेको मिलने है।

उपर्युक्त मूर्तियोके अतिरिक्त दक्षिण भारतमें मध्यकालमे निर्मित कई जैन प्रतिमायें भी यहांपर प्रदर्शित हैं। इन सभी मूर्त्तियोमें जिनको कायोत्सर्ग मुद्रामें नग्न खडे दिखाया गया है। इनके पैरोके समीप प्रत्येक तीर्थंकरके सेवको तथा उपासकोंकी लघु मूर्त्तियां उत्कीर्ण की गई मिलती है।

(ब) म्यूजियम फर वोल्कुर कुण्डे, म्यूनिख :

इस सग्रहालयमे यक्षी अम्बिकाकी एक अत्यन्त भव्य प्रतिमा प्रदर्शित है जिसे पट्टिकापर दुर्गा बताया गया है। मध्यप्रदेशसे प्राप्त लगभग अठारहवी शतीकी इस मूर्त्तिमे देवी अपने आसनपर ललितासनमे विराजमान है। इनके दाहिने हाथमें गुच्छा था जो अब टूट गया है और दूसरे हाथसे वह अपने पुत्र प्रियकरको गोदीमे पकडे हुए है। इनका दूसरा पुत्र पैरोके समीप खडा है। देवीके शीशके पीछे बने प्रभा-

मण्डलकी दाहिनी ओर गजारूढ इन्द्राणी और बाँई ओर गरुडारूढ चक्रेश्वरीकी मूर्तियाँ हैं जिनके मध्य ऊपरी भागमें भगवान नेमिनाथकी ध्यान मुद्रामें लघु मूर्त्ति उत्कीर्ण है। मूर्तिके नीचेके भागमें कई उपासक बैठे हैं जिनके हाथ अजली-मुद्रामें दिखाये गये हैं।

(८) अमेरिका : (अ) क्लीवलैण्ड कला संग्रहालय, क्लीवलैण्ड, ओहायो

इस सग्रहालयमें प्रदर्शित जैन मूर्तियोमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मूर्ति पार्श्वनाथकी है जिसका निर्माण मालवा क्षेत्रमें लगभग दसवी शतीमें हुआ था। लगभग आदमकद इस मूर्तिमें पार्श्वनाथ सर्पके साथ फणोके नीचे कायोत्सर्ग मुद्रामे खडे हैं और कमठ अपने साथियो सहित उनपर आक्रमण करता दिखाया गया है। जैन साहित्यसे ज्ञात होता है कि जब पार्श्वनाथ अपनी घोर तपस्यामें लीन थे, तब दुराचारी कमठने अनेक विघ्न-बाधायेंडाली जिससे वे तपस्या न कर सकें और उनके लिये उसने उन पर घोर वर्षा की, पाषाण शिलाओसे प्रहार किया तथा अनेक जगली जतुओसे भय दिलानेका भरसक प्रयत्न किया। परन्तु इतना सब सहते हुये पार्श्वनाथ अपने पुनीत कार्यसे जरा भी विचलित नही हुए और अपनी तपस्या पूर्ण कर ज्ञान प्राप्त करनेमें सफल रहे। परिणाम स्वरूप कमठको लज्जित होकर उनसे क्षमा 'माँगनी पडी। प्रस्तुत मूर्तिमें सम्पूर्ण दृश्यको बडी सजीवतासे दर्शाया गया है। यद्यपि इस आशयकी अन्य प्रस्तर प्रतिमाएँ भारतके अन्य कई भागोंमे भी प्राप्त हुई है, परन्तु फिर भी यह मूर्ति अपनी प्रकारका एक अद्वितीय उदाहरण है।

(ब) बोस्टन कला सग्रहालय, बोस्टन, मैसाचुसेट्स

इस सग्रहालयमें मध्य प्रदेशसे प्राप्त जैन मूर्तियोका काफी अच्छा सग्रह है। इनमें अधिकतर तो प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्तियाँ हैं जिनमेंसे कुछमें वह ध्यान मुद्रामें तथा कुछमें कायोत्सर्ग—मुद्रामें दर्शाये गये है। उन प्रतिमाओके अतिरिक्त यहाँ एक अत्यन्त कलात्मक तीर्थंकर वक्ष भी है, जिसे सग्रहालय की पत्रिकामे महावीर बताया गया है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत मूर्तिमे केश ऊपरको बँधे हैं और जटाएँ दोनों—ओर कधोपर लटक रही हैं। इससे प्रतिमाकी आदिनाथके होनेकी ही सम्भावना प्रतीत होती है। इनके शीशके दोनो ओर बादलोमे उडते हुए आकाशचारी गन्धर्व और "त्रिछत्र" के ऊपर आदिनाथकी ज्ञान-प्राप्तिकी घोषणा करता हुआ एक दिव्य-वादक बना हुआ है। यह सुन्दर मूर्ति दसवी शतीकी बनी प्रतीत होती है।

(स) फिलाडेल्फिया कला सग्रहालय, फिलाडेल्फिया

इस सग्रहालयमें सबसे उल्लेखनीय जैन मूर्तियाँ जबलपुर क्षेत्रसे प्राप्त कल्चुरिकालीन दसवी शतीकी हैं। इसमेसे एक भगवान महावीरकी है जिसमें उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रामें दिखाया गया है। द्वितीय प्रतिमामें पार्श्वनाथ तथा नेमिनाथको इसी प्रकार खडे दिखाया गया है। पार्श्वनाथकी पहचान उनके शीशके ऊपर बने सर्प फणोंमे तथा नेमिनाथकी पहचान पीठिका पर उत्कीर्ण शखसे की जा सकती है।

(द) सियाटल कला सग्रहालय, सियाटल

इस सग्रहालयमे भी मध्य प्रदेशसे प्राप्त कई मध्यकालीन जैन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ गुजरातसे मिली भगवान कुन्थुनाथकी एक पचतीर्थी है जिसकी पीठिका पर सन् १४४७ ई० का लघु लेख उत्कीर्ण है। साथ ही, यहाँ आबू क्षेत्रसे प्राप्त नर्तकी नालार्जनाकी भी सुन्दर मूर्ति प्रदर्शित है जिसका प्राचीनतम अकन हमें मथुराकी कुषाण कलामे देखनेको मिलता है।

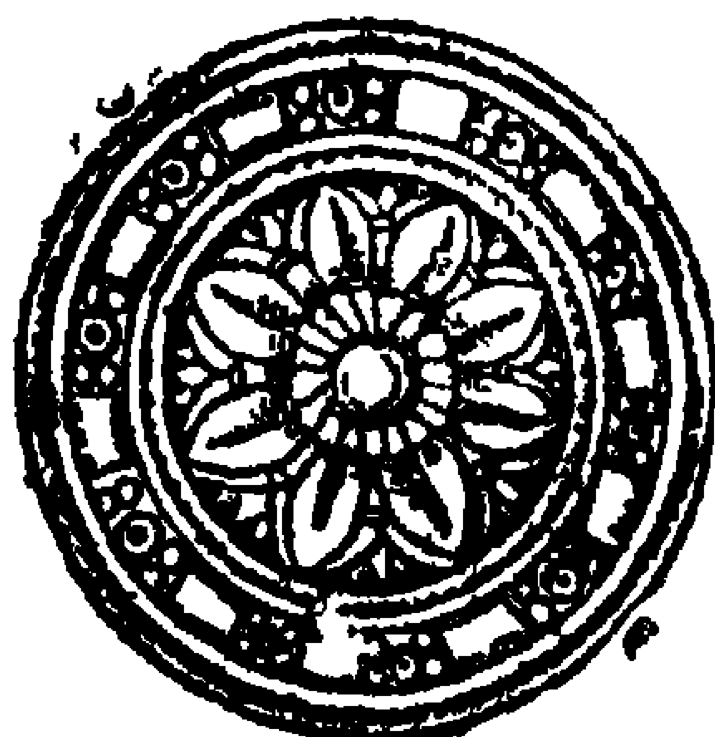
(य) एशियन कला संग्रहालय, सैन फ्रासिन्सको, कैलिफोर्निया

इस संग्रहालयमे भी देवगढ़ क्षेत्रसे प्राप्त कई जैन मूर्तियाँ प्रदर्शित है जिनमें जिनके माता-पिताकी प्रतिमा काफी महत्त्वकी है। यही पर अबिकाकी भी एक सुन्दर मूर्ति विद्यमान है, जिसमें वह आमके वृक्ष के नीचे त्रिभग—मुद्रामें खडी है और पैरोके निकट उनका वाहन—सिह अकित है।

(र) वर्जीनिया कला संग्रहालय, रिचमोन्ड, वर्जीनिया

इस सग्रहालयमें सबसे महत्त्वपूर्ण भगवान पार्श्वनाथकी त्रितीर्थिक है जो राजस्थानमे नवमी शतीमे बनी प्रतीत होती है। इसमें मध्यमें पार्श्वनाथ ध्यान मुद्रामें विराजमान है सर्पके फणोकी छायामे और उनके दोनो ओर एक-एक तीर्थंकर खडा दिखाया गया है। सिहासनकी दाहिनी ओर सर्वानुभूति तथा बाँई ओर अम्बिका दर्शाये गये हैं। सामने दो मृगोके मध्य धर्मचक्र तथा अष्ट—ग्रहोके सुन्दर अकन है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरणसे विदित होता है कि जैनधर्मने भारतीय मूर्तिकलाके क्षेत्रमें अपना एक विशिष्ट योगदान दिया है। सम्पूर्ण भारतके विभिन्न भागोमे निर्मित देवालयोके अतिरिक्त देश-विदेशके अनेक सग्रहालयोमें भी जैनधर्मसे सबधित असख्यकला-मूर्तियाँ सुरक्षित है जिनका वैज्ञानिक एव पुरातात्त्विक दृष्टिसे अध्ययन होना परमावश्यक है। अधिक नही, यदि सभी प्रतिमाओके चित्रोंको कालानुक्रमके आधार पर प्रकाशित किया जा सके, तो वह भी बडा पुनीत कार्य होगा और इससे न केवल जैनधर्मावलम्बियो, वरन् शोधकर्ताओको भी बडा लाभ होगा।



JAINA WOOD CARVINGS

V. P Dwivedi, National Museum, Delhi

Introduction

Jaina wood carvings form a unique chapter of Indian art history Usually we do not speak of Hindu or Buddhist wood carving Not because these religions did not patronise wood work but because of the fact that Jain wood carvings have survived in greater number This may be because of their geographical situation in the dry climate of Gujarat and Rajasthan It is not only the number which make them important but the richness of these carvings also warrant special attention Fantastic creatures and fascinating forms abound in these carvings. This phenomenon in itself may sound like a paradox, in view of the austerities of the Jaina monks But then we should not forget that the patrons of these carvings were rich merchants who vied with each other in embellishing temples dedicated by them to the Jaina faith.

How the domestic and religious art of Gujarat, including those belonging to Jaina community, come to use wood to such an extent is a matter of anybody's guess Unlike many other parts of India, Gujarat lacks quality stone but abounds in forests full of good quality wood Then the heat resistent quality of wood on the one hand provided incentive to its use and on the other hand helped preserve it for centuries Perforated *jālī* work in wood provided fresh air. Lightness of wood's weight made it possible to use it more freely on first and second storeys thereby giving an elegant look to the houses [1] But the unique peculiarity of the architectural wood work as developed in Gujarat is its application and acceptance by the common man, which has made of wood carving a real folk as well as classical art.

The reasons why the study of wood carvings has not received as much attention as it deserves are several The foremost being the hazard that quite often different parts of the wooden structure, be it temple or home, came to be replaced as they decayed, making it difficult to assign it a firm date The later artists, in all such cases, tried to match the earlier designs and motifs, thereby increasing the confusion for us to study them. Use of the age old tools and motifs even to this day is another factor. Yet another reason for the neglect of the study of these carvings is the general apathy of Indian scholars to anything originated during 16th to 19th century period, the period to which most of the surviving wooden examples belong. However, recently some publications, specially the census reports of 1961, have paid

attention to this medium of art.[2] Here we will try to survey the Jaina wood carvings on the basis of published articles and reports and personal survey of various museum collections in India and abroad

Wood used in the carvings

A Gujarati saying says '*Sag sisam to sonu*' [3] It means teak and black wood are like gold because they last long and can be shaped like gold *Ravan* is used for the threshold which must be very touch, *mahua* for beams, *sevan* for white decorative pieces. Naturally seasoned wood was selected for carvings Teak wood is found in the Dangs and Gir forests of Gujarat *Parimāna Mañjarī*, *Bṛhat-Samhitā*, etc give elaborate description about woods and their uses

Tools and techniques

The piece of wood on which carving was to be done was first cut off in the required size from the long and given proper shape For this purpose straight lines were marked with the help of a string dipped in *ramzī*, *khadī* or *gerū* This gave the carpenter the name of *Sūtradhāra* or holder of the string, later on corrupted into *suthār*, which became a caste name [4]

Starting with large tools, the carpenter progressively uses finer chisels, smoothering surfaces, carving veins, giving light and shade, curves, relief, chipping off spaces in the recesses or decorating the background and thus proceeded from low to moderate and moderate to high relief To provide it proper finish, dry coconut husk was rubbed *Kuranj* or purple stony substance was also used

Some of the Jaina carvings, specially *mandapas*, were coloured, traces of colour can still be noticed on them [5] Let us examine some important examples

Jaina Architecture

Before discussing the Jaina architecture an important point to be borne in mind is that the carpenters who worked for Jains were the same persons who also worked for the contemporary Hindu, Buddhists and Muslim patrons No wonder many elements in all these contemporary architectures were common.

Domestic architecture

A Jaina domestic house usually has either a Tirthankara image or *mangala cihna* (fourteen dreams, etc) carved on its door-lintal or window frame to give it an auspicious aspect (fig 1) A wooden facade is a quite common characteristic of a Jaina house. Any person of some means would have some carving at least either on the pillar or on the door or window frames of his house, the extent of the elaboration increasing with the financial status of the builder Doors, windows, pillars, beams and brackets were the main parts on which the wood carvers lavished their skill The door is divided either into square or rectangular panels enclosed by thick wooden frame running vertically and cross wise. The windows are either built in or projecting and those on first floor were carved profusely Windows with *jālī* or

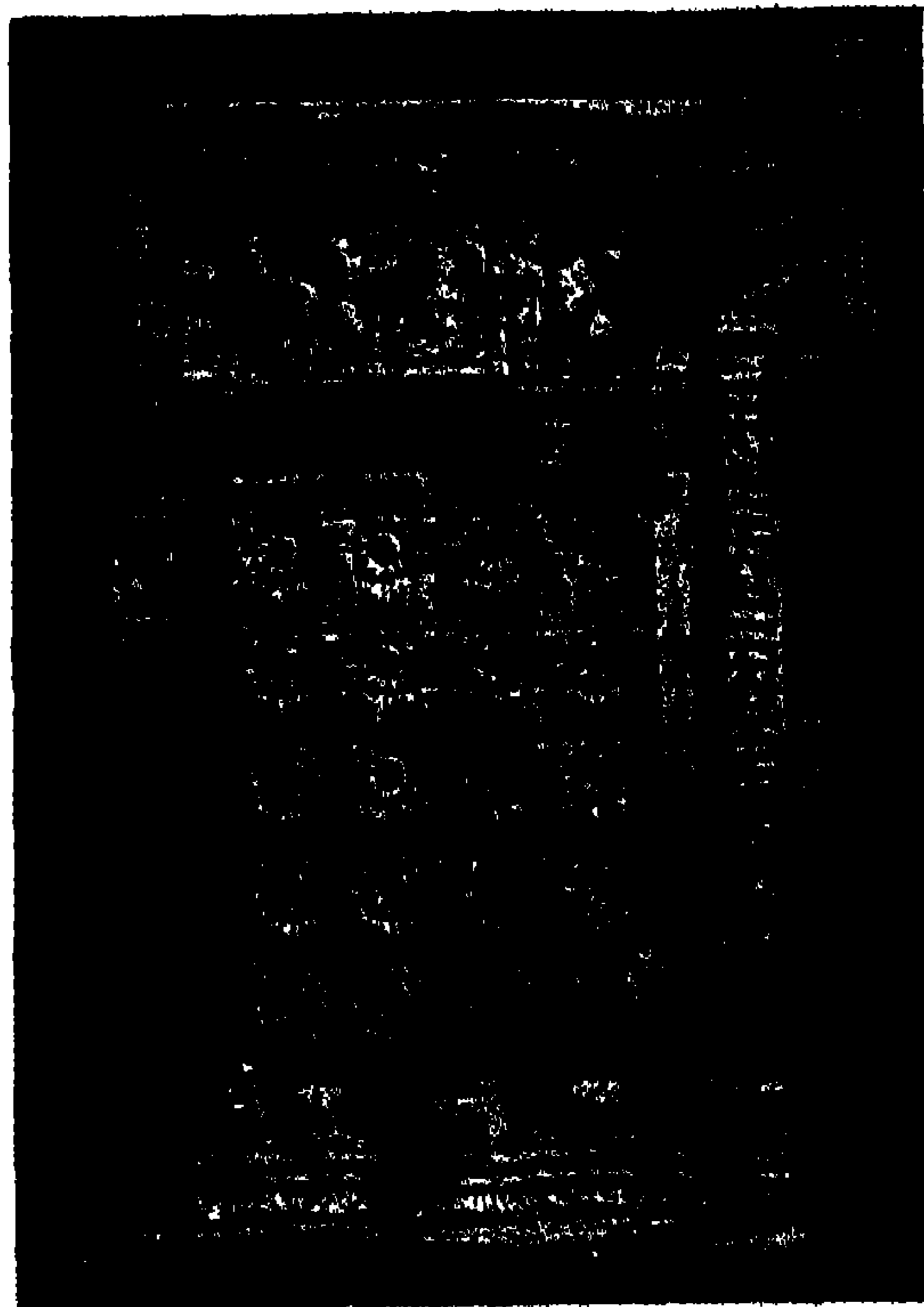


Fig 1 Door of a wooden house-shrine with *mangala cinha*, 18th. Cent A D

screen were quite popular in and around Patan Inner courtyards often had pillared verandah around it Window shutters were highly artistic in Kutch region. Quite often they consisted of a perforated tracery of wood placed overlooking glasses. The carving is bold twisted and profusely flowering. The struts supporting the upper balcony are deeply under cut, the design being richly interwoven with animal subjects and folier elaborations On the inside the ceilings often display a variety of geometrical designs

It is very difficult to quote dated examples of Jaina residential houses having wood carvings. Census of India' (1961) Part VII-A (2) describing wood carvings of Gujarat gives a statement at its end which mentions dwelling houses with wood carvings [6]

Temple architecture

Once the famous Jain temples on the Holy Mount Śatruñjaya were of wood is attested by the story of Uda Mehta.[7] It is said that when he was performing worship he saw a mouse carrying away a burning wick Realising its danger to the wooden temples, he resolved to rebuild the temples in stone, a wish which was ultimately fulfilled by his son.

Jaina temples can be dıvıded into two dıstrıct categories.

(i) *ghar derāsar* or home shrines and (ıı) Stone and wooden temples The former is a special feature of the Jaına communıty and almost every house of any means has a shrine of its own, whıch are embelıshed wıth mınutc carvıngs, whıch varied wıth the rıchness of the family.

The general iconography of the *mandapa* ın Jaına temple consısts of frıeze panels eıther ın narratıve or representatıve. Lıfe scenes of the Tīrthankaras are the most popular theme. The story of the renuncıatıon of Lord Nemınath, who returned from the weddıng pavılıon when he saw a large herd of cattle waıtıng to be slaughtered for feastıng the weddıng party ıs the most popular theme [8] Another scene ıs preachıng by a Jaına āchārya surrounded by hıs devotees *Dıkpālas, sursundarıs, apsarās, kınnarıs*, etc. are usually carved on brackets [9]

One of the earliest dated *derāsar* ıs the Śāntınātha *derāsara* ın Haja Patel's Pol, Kalupur, Ahmedabad (A. D 1390) [10] The entıre temple ıs a wooden structure wıth a *mandapa* enclosed by a dome, 3 35 m square, whıch has a seventeen concentrıc layers of carvıngs, made of two hundred and forty eıght pıeces Another *derāsar*, Sri Parsvanatha, ın Srısamıta Sikharajı's Pol, also ın Ahmedabad, ıs saıd to belong to 17th century. Ahmedabad, beıng the hub of the Jaına communıty, has several noteworthy *derāsars* Srı Ajıtanātha *derāsar* ın Vaghan Pol Zavarıvad, Cıntāmanı

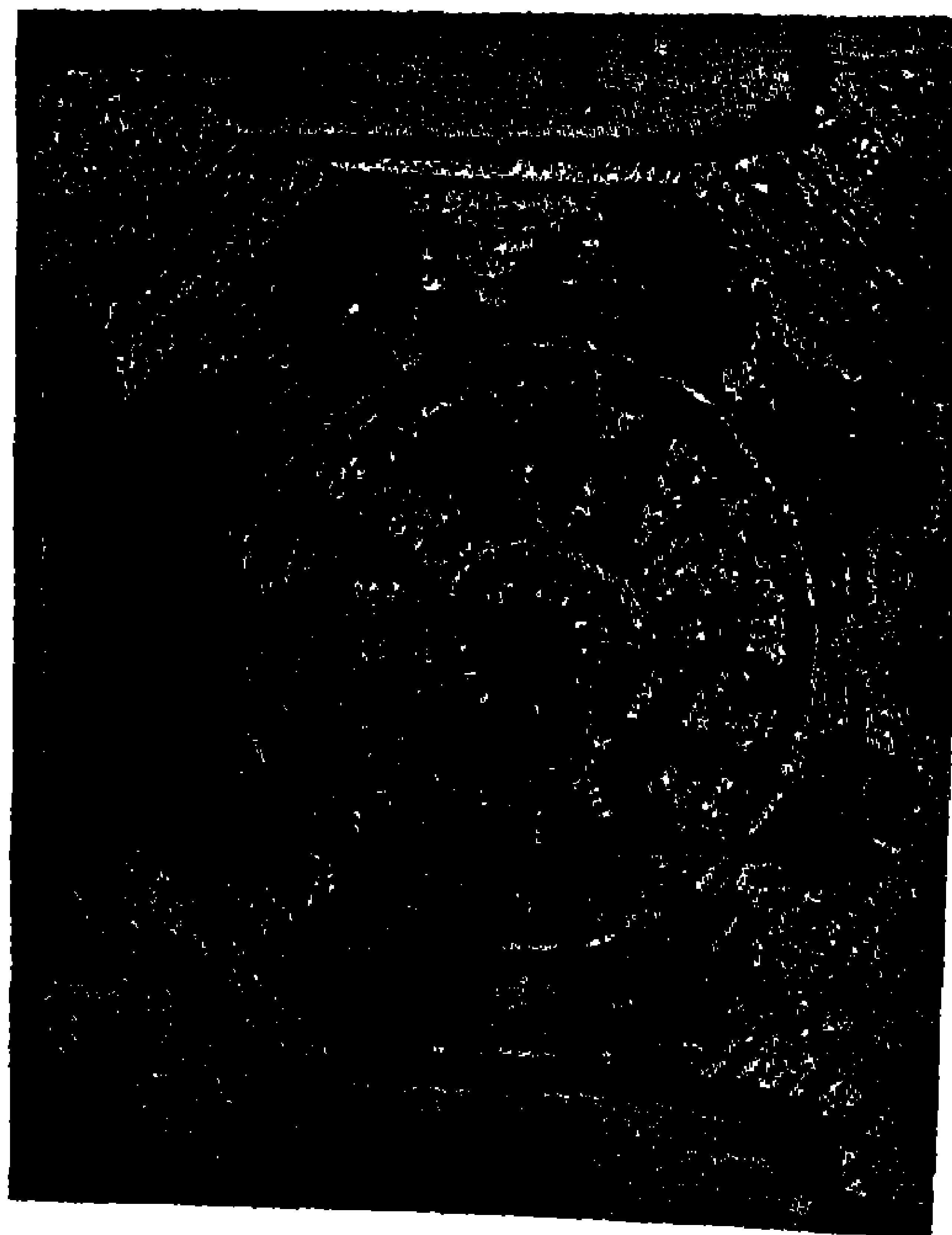


Fıg 2 Fılıng of the wooden *mandapa*, C. 16th—17th cent. A D. (Courtesy : National Museum, N. Delhı).

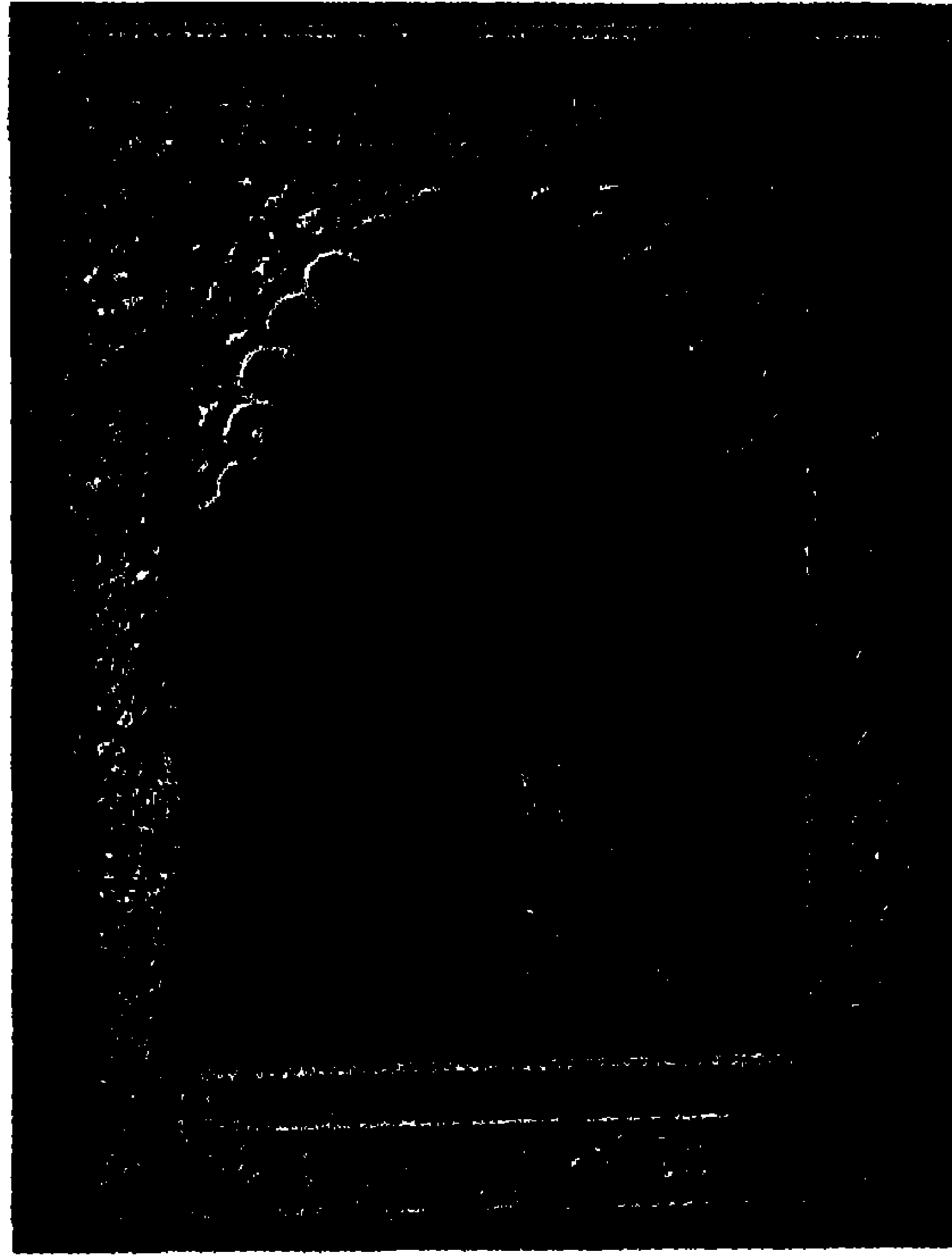


Fig. 3 Wooden window-frame, Early 19th cent A D
(Courtesy National Museum, New Delhi)

Pārśvanātha and Sahasra phana Pārśvanātha *derāsars* in Nisha Pol, Sri Vasupūjya Svāmī and Sri Satalanatha-prabhu *devāsars* in Shekhapada, Zaverivad, Sri Supārśvanātha *derāsar* in Sri Ramji's Pol, and Haja Patel's Pol

Ghar-derāsars are known from other parts of Gujarat as well. Pathan, Palitana, Ratanpur, Cambay and other cities, too, have several home shrines of importance.

Many Jaina carvings have found houses in various museums The National Museum New Delhi has an exquisite example of late sixteenth or early seventeenth century *maṇḍapa* of a homeshrine Sixteen *apsarās* adorn its dome and remind the viewer of the Mt. Abu temples in stone (fig. 2). The museum also has a door-frame (*caukhat*) of a Jaina house (evident from Jaina Tīrthankara image)[11] (fig. 3) a small door of a home shrine[12] (carved with fourteen dreams) and a window frame[13] identified by Tīrthankara figure), etc.

The Prince of Wales Museum, Bombay also has a wooden *maṇḍapa* of a home shrine of c. 1600 A. D.[14]

The Baroda Museum and Picture Gallery, Baroda has several examples of Jaina wood carvings.[15]

One of the most exquisite examples of wooden Jaina temple is now in the Metropolitan Museum of Art, New York, built in 1594. It was in Patan's Zavevivad locality when Burgess and Cousens carried out their survey in 1890. Some other museums also have stray examples.[16]

Sculptures

The Jainas believe that a sandal wood portrait sculpture of Vardhamāna was carved in his life time when he was meditating in his palace about a year prior to his renunciation.[17] Inspite of the tradition, no wood carving in the round depicting Tirthaṅkaras have been found so far. At what time the transformation from wood to bronze or stone took place it is difficult to say. But the ritual of daily washing the image with milk and water and the application of sandal paste etc. were perhaps responsible for this. However, subsidiary and allied carvings as part of architecture have a better continuity in wood and quite a few of these can be seen in museum and private collections. All such examples have the following common features . (i) they are smaller in size when compared to their counterparts in stone, (ii) once detached from the structure, most of these look as if carved separately and independently, (iii) they are carved in such a way that one side, which was earlier attached to the architectural piece, is not finished properly, (iv) usually they are coloured and (v) they come from one or the other parts of Gujarat and Rajasthan, thus inheriting the characteristic features of the region.

Conclusion

The foregoing discussion shows the wide range and variety of Jaina wood carvings. They not only help us to reconstruct the social history of the period but also fill up the lacunae of art history. All these carvings though small in size, reflect the taste of their rich Jaina patrons who believed in embellishing every inch of space available on their houseshrines or temples Though mostly religious these carvings provide us with interesting social gleanings of the contemporary life. In wood carvings, the Jaina patrons took a lead over their Hindu or Buddhist counterparts.

References

1. Trivedi, R. K., *Wood Carving of Gujarat*, Census of India 1961, Vol, V, Part VII-A (2), Delhi, 1965, pl. XI.
2. *Ibid*,
3. *Ibid*, page 9.
4. *Ibid*, p. 28
5. Dwivedi, V. P., Wood Carvings, chapter 32 in Ghose, A., (Edited) *Jaina art and architecture*, Vol, III, New Delhi, 1975, pls. 290-291.

6. Trivedi, R. K., *op. cit.* Statement I, pp. 5-101.
7. *Ibid*, p. 4.
8. National Museum has a *mandap* (60.148) and a window frame (60.1152) showing Neminath's marriage procession, Sri Haridasa Swali collection of Bombay also has a panel showing the theme.
9. Dwivedi, V. P., *op. cit*, plate 295 B.
10. Trivedi, R. K., *op. cit*, p. 45
11. Museum Acc. No. 60.1153.
12. Museum Acc. No. 47. 111/1
13. Museum Acc. No. 60 1152
14. Andhare, S. K. 'Painted Wooden mandap from Gujarat' *Bulletin of the Prince of Wales Museum of Western India*, Vol 7, Bombay, 1959-62, pp, 41-45 and plates 29 to 33c.
15. Goetz, H., 'A monument of old Gujarati wood sculpture', *Bulletin of the Baroda Museum and Picture Gallery*, VI, Part I-II, Baroda, 1950, p. 2
16. Burgess, James and Cousens, Henry, *The architectural antiquities of Northern Gujarat*, Archaeological Survey of India, New Imperial series, IX, London 1903, p. 49
17. Shah, U P., *Studies in Jaina Art*, Banares, 1955, pp. 4-5. The Buddhists, too, have a similar tradition



लेखसार

जैन काष्ठ कला

वी० पी० द्विवेदी, राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली

हिन्दू और बौद्धों की तुलना में जैन वास्तुकला भारतीय इतिहास मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके नमूने आजतक भी बड़ी सख्या में उपलब्ध होते हैं। समवतः यह गुजरात और राजस्थान के शुष्क जलवायु के कारण ही सुरक्षित रह सके हों। संख्या के अतिरिक्त इनकी उत्कीर्णन कला की विविधता भी महत्वपूर्ण है। यह कला धार्मिक और घरेलू दोनों क्षेत्रों में फैली है। गुजरात में काष्ठकला का विकास समवत वहां अच्छे उत्कीर्णन योग्य पत्थरों के अभाव के कारण हुआ होगा। लकड़ी का हलकापन, सछिद्रणसामर्थ्य, ऊष्मासहता आदि गुणों ने काष्ठकला को सामान्य एव विशिष्ट दोनों क्षेत्रों में विकसित होने में प्रेरणा दी।

इस विषय में संभवतः अध्ययन इसलिए नहीं किया गया क्योंकि इनमें ज्वलनशीलता के कारण स्थायित्व कम माना गया। साथ ही भारतीय विद्वान् 16-19 वी सदी के सम्बन्ध में सदैव उपेक्षित रहे और दुर्भाग्य से इसी बीच यह कला पनपी है।

काष्ठकला के लिये सागौन और काली लकड़ी मुख्यत: काम आती है। इन लकड़ियों को 'सोना' कहा जाता है। लकड़ियों के विषय में परिमाणमञ्जरी तथा बृहद्संहिता में अच्छे विवरण मिलते हैं। इस कला के विकास में अनेक प्रकार के पदार्थ और उपकरण काम आने हैं।

काष्ठकला के उदाहरण के रूप में मन्दिर सर्व प्रथम आते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—घरेलू देरसरा और मन्दिर। घरेलू देरसरों का रूप घर में बने हुए एक लघुकाय पूजास्थल के रूप में होता है। मन्दिरों में यह कला उनके मंडपों में उत्कीर्णन के रूप में पाई जाती है जहाँ पौराणिक या प्रतीकात्मक कथायें काष्ठ में उत्कीर्णित की जाती हैं। नेमनाथ का वैराग्य, तीर्थंकरो का चरित्र तथा दिक्पाल, सुरसुन्दरी, किन्नरी आदि देवियों का उत्कीर्णन पर्याप्त मात्रा में पाया गया है। अहमदाबाद के हज पटेल पोल का शान्तिनाथ देरसरा (1390 ई०) काष्ठकला की दृष्टि से एक उत्तम उदाहरण है। इसी प्रकार के अनेक देरसरे इस नगर में और भी पाये जाते हैं।

पाटन, पालीताणा, रतनपुर आदि में घर-देरसरे पाये जाते हैं। इसका एक नमूना राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में रखा है जो 16-17 वी सदी का है। इसके मण्डप में सोलह अप्सरायें उत्कीर्णित हैं। प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई तथा बड़ौदा के संग्रहालय में भी अनेक काष्ठकला के नमूने पाये जाते हैं। न्यूयार्क के मेट्रोपोलिटन म्यूजियम में 1594 ई० में बने एक जैन मन्दिर का भव्य नमूना प्रदर्शित है जिसे भारत से 1890 ई० में ले जाया गया।

काष्ठकला का दूसरा रूप मूर्तियो के निर्माण के रूप में पाया जाता है। यह कहा जाता है कि भगवान् महावीर के जीवन काल में ही उनकी चन्दन की मूर्ति बनाई गई थी। लेकिन लकड़ी की मूर्तियों का बहुत प्रचलन नहीं हो सका, ऐसा लगता है। इसके अनेक कारण सभावित हैं। लेकिन काष्ठीय स्थापत्य के अनेक नमूने सग्रहालयो में मिलते हैं। इनकी निम्न विशेषतायें पाई गई है

(i) इन कृतियों का आकार व विस्तार, पत्थर की तुलना में, लघुत्तर होता है।

(ii) इनका उत्कीर्णन इस प्रकार होता है कि कृति का दूसरा (पृष्ठ) पार्श्व अग्रपार्श्व के समान नही हो पाता।

(iii) ये कृतियाँ प्राय समीप होती हैं।

(iv) ये प्राय: गुजरात और राजस्थान में ही पाई जाती है।

■

[illegible]

[illegible] of Jain Philosophy

REALITY AND PHYSICS SOME ASPECTS

D. S. Kothari, Delhi

The theory of relativity, followed by quantum mechanics, represents a radical departure from classical Newtonian physics. It marks a big, and totally unexpected, 'Jump', as opposed to progressive refinement of older theories. For Newton, his laws of motion required the existence of an *absolute*, unlimited space and an absolute time. Absolute space existed not only to serve as a container for things, but also for itself Absolute space, and the same applied to time, was a reality "bound up with the inner-most essence of the Newtonian conception of the world. Space for him is not an empty form, but the organ by means of which God works as omnipresent in the world, and at the same time, immediately perceives the conditions of things It is an "unlimited and homogeneous sensorium (of God)" (Harald Hoeffding, *A History of Modern Philosophy Vol* II, p 411, Dover Publication) Also in Newton's view the observed universe must necessarily be imperfect, and it involves continued activity on the part of God to keep it running harmoniously For instance, according to him, the stability of the solar system against natural plannetary perturbations required intervention by God from time to time.

The dethronement of the Newtonian conception of absolute space and time was greatly facilitated by its confrontation with an entirely different metaphysical and philosophical view of nature An illuminating discussion of this question has recently been provided by L S. Fener in his book *Einstein and the Generations of Science* (Basic Books, New York, 1974) The profound impact of the views of Ernst Mach is well-known. To quote Einstein (*Albert Einstein . Philosopher Scientists* Editor P A. Schilpp, p 21) :

"We must not be surprised, therefore, that, so to speak, all physicists of the last century saw in classical mechanics a firm and final foundation for all physics, yes, indeed, for all natural science. It was Ernst Mach, who, in his *History of Mechanics*, shook this dogmatic faith, this book exercised a profound influence upon me in this regard while I was a student. I see Mach's greatness in his incorruptible skepticism and independence; in my younger years, however, Mach's epistemological position also influenced me very greatly, a position which today appears to me to be essentially untenable."

It is noteworthy that Mach was influenced to a considerable degree by Indian philosophic thought. Erwin Schroedinger observes (*My view of the World*, Cambridge University Press (1964), p. 37) : "If, finally, we look back at that idea

of Mach, Avenarius and Schuppe which we outlined earlier on, we shall realize that it comes as near to the orthodox dogma of the *Upaniṣads* as it could possibly do without stating it *expressis verbis*."

In his *The Analysis of Sensations* (Dover Publications 1959) Mach argues that the two viewpoints—stationary earth, and the Sun and the fixed stars in motion, and its opposite way of looking at the matter are "equally correct and equally well-adapted to their special purposes" But to accept this equivalence is nothing, as he points out, in comparison to the simple truth based on straightforward psychological analysis that the "ego", the "I", is nothing at all but a transitory connexion of changing elements. He says (p 25) "The ego must be given up. It is partly perception of this fact, partly the fear of it, that has given rise to the many extravagances of pessimism and optimism, and to numerous religious, ascetic, and philosophical absurdities. In the long run we shall not be able to close our eyes to this simple truth, which is the immediate outcome of psychological analysis. We shall then be willing to renounce individual immortality, and not place more value upon the subsidiary elements than upon the principal ones. In this way we shall arrive at a freer and more enlightened view of life, which will preclude the disregard of other egos and the over-estimation of our own"

Mach especially refers to Buddhism. He says (footnote p. 356) . "For thousands of years past Buddhism has been approaching this conception from the practical side." He speaks of "the wonderful story unfolded" in Paul Caru's *Karma, A story of Early Buddhism*, Chicago (1894), also *The Gospel of Buddha* (1894)

There is no problem more mysterious than the mind-body interaction. Modern science has not made it less interactable. On the other hand it has added a new urgency and also a new poignancy. The complementarity approach may open up some new possibilities worth exploring.

Writes Erwin Schrodinger (*My view of the World* pp, 20-22) "A hundred years ago, perhaps, another man sat on this spot, Like you he was begotten of man and born of women He felt pain and brief joy as you do *Was* he someone else? Was it not you yourself? What is this Self of yours?. .What clearly intelligible *scientific* meaning can this 'Someone else' really have?. .Looking and thinking in that manner you may suddenly come to see, in a flash, the profound rightness of the basic conviction in *Vedānta*· ·what the Brāhmins express in that sacred, mystic formula which is yet really so simple and so clear *Tat tvam asi*, this is you Or, again, in such words as 'I am in the east and in the west, I am below and above, I am this whole world'....It is the vision of this truth, of which the individual is seldom conscious in his actions) which underlies all morally valuable activity. It brings a man of nobility not only to risk his life for an end which he recognises or believes to be good, but in rare cases to lay it down in full serenity, even when there is no prospect of saving his own person."

Schrodinger expressed these daring thoughts (certainly so in the western cultural millieu) in his Essay, *Seek for the Road.* He wrote it in 1925 a few months before his discovery of wave mechanics. The Essay was first published with another, what is real ? in 1961, in *My view of the World*, thirty five years after it was written. (The English translation of the German original was published by the cambridge University Press in 1964). It serves to illustrate the profound interest, to the present age of the Indian Upaniṣadic and Buddhist thought.

The radically novel situation in physics with its important philosophical implications is best expressed by Bohr's principle of complementarity The principle recalls to our mind the insight to which the ancient Indian thinkers were led to in their extra-ordinarily daring search for the relation between man and the universe, between body and soul, the problem of good and evil, and all the varied profound contradictions which underlie human existence. What the seers of the Upanishads sought was in a sense '*an uncompromising reconciliation of uncompromising extremes.*

The logic of complementarity has a special place in Jain philosophy An oft-quoted dialogue between Lord Mahavira and his favourite disciple Gautama serves to illustrate this (see Nathmal Tatia, *Studies in Jaina Philosophy*, Jain cultural Research Society, Banaras, (1951), pp. 22-23).

"Are the souls, O Lord, eternal or non-eternal ?"

The souls, O Gautama, are eternal in some respect and non-eternal in some respect."

"With what end in view, O Lord, is it said that the souls are eternal in some respect and non-eternal in some respect ?"

"They are eternal, O Gautama, from the view point of substance, and non-eternal from the view point of modes And with this end in view it is said, O Gautama, that the souls are eternal in some respect and non-eternal in some respect.

"Is the body, O Lord, identical with the soul or is the body different from it."

"The body, O Gautama, is identical with the soul as well as it is different from it."

The logic of *Syādvāda* (*Syād* means 'may be') was formulated by Jain thinkers probably more than two thousand years ago It should be of great interest, both scientific and ethical, in the modern context. Its relevance to modern statistical concepts has been discussed by P C. Mahalanobis, and J. B. S. Haldane in *Sāṅkhya*, May 1957.

According to the *Syādvada* schemes every fact of reality should be described in seven ways. These are combinations of affirmation and negation :

(1) Existence, (2) Non-existence, (3) Occurence (successive) or Existence and Non-existence, (4) Inexpressibility or Indeterminateness (5) Inexpressibility as

qualified by Existence, (6) Inexpressibility as qualified by Non-existence, and (7) Inexpressibility as qualified by both Existence, and Non-existence

Syādvāda asserts that knowledge of reality is possible only by denying the absolutistic attitude.

We may notice that the superposition principle of quantum mechanics provides an illuminating example of the Svādvāda mode of description. Let kets $|\alpha'\rangle$ and $|\alpha''\rangle$ be the different eigenstates of an observable α for a quantum mechanical system Let $|P\rangle = |\alpha\rangle + |\alpha''\rangle$. We have the Syādvāda mode of description:

(1) System is in state $|\alpha'\rangle$

(2) System is not in state $|\alpha''\rangle$ (but in $|\alpha'\rangle$)

(3) System is both in state $|\alpha'\rangle$ and $|\alpha''\rangle$, represented by the mixture $|\alpha'\rangle\langle\alpha'| + |\alpha''\rangle\langle\alpha''|$.

(4) System is in an indeterminate state, (not eigenstate of α) represented by $|P\rangle = |\alpha'\rangle + |\alpha''\rangle$

(5) System is in an indeterminate state and in state (1) represented by $|P\rangle\langle P| + |\alpha'\rangle\langle\alpha'|$

(6) System is an indeterminate state and in state (2), represented by $|P\rangle\langle P| + |\alpha''\rangle\langle\alpha''|$

(7) System is in an indeterminate state and in (3), represented by $|P\rangle\langle P| + |\alpha'\rangle\langle\alpha'| + |\alpha''\rangle\langle\alpha''|$

Syādvāda asserts that a thing is "A", and it is also "not A" and both "A and not A", and so on. It is an exhortation to investigate reality from *all* different possible viewpoints It is not a doctrine of indifference or passive acceptance of statements and also their negative It is just the contrary It demands our ascertaining the conditions, the coordinate frames as it were, under which a thing is "A", the (different) conditions under which it is "not A", conditions under which it can be both "A" and "not A" and so on

Unlike *Syādvāda*, in Aristotelean logic a thing is either "A" or it is "not A". Here the main concern is an examination of a thing from one particular standpoint, and not from all the different standpoints. A Jain logician may contend that this is a meaningless effort Any meaningful examination involves more than one standpoint A thing can never be examined twice from an identical standpoint,

for; if nothing else, at least the two instants of observation are different. Nothing is exactly repeatable. But in asserting this, we ignore the fact that differences between relevant aspects of the two (different) situations may be so small as to be negligible in *practice*. Repeatability is the essence of scientific observation. It is possible to think, but I am not competent to judge, that the *Syādvāda* logic did not particularly encourage quantitative observation. Its emphasis was on philosophic enquiry. We may note at this point that, to begin with, all experience is subjective. How then *objective* knowledge becomes possible ? All experience, everything without exception, is fundamentally a personal, subjective, experience. When you and I look at a tree, there is no conceivable way of determining that my sensation of "green" is the same as yours. That your perception and mine of a given thing is identical has no clear, no objective, meaning The basic point is that an objective statement is not, and cannot be about one *single* sense impression (say, my sensation of red colour produced by a flower), *but it expresses always some relation between two sense impressions*. My sense impression of red may be or may not be (who knows) different from yours, but irrespective of this we can verify whether two given flowers are of red colour or they are not. This simple example can be readily generalized The essence of the matter is that objective, communicable statement become possible about *pairs* of some impressions and never about single sense impressions It is this which eliminates subjectivity from science, eliminates "I", and is the basis of the objectivity of science "The fact that by comparing pairs communicable, objective statements are possible, has an immense importance because it is the root of speaking and writing, and of the most powerful instrument of thinking, of mathematics " (Max Born, My *Life and my Views*, Chapter Five, "*Symbol and Reality*", (1968), p. 174).

The objectivity of science makes it truly a co-operative enterprise which can be shared by all men, Dogmatism of any kind whatsoever is totally inadmissible in science Dogmatism is subjective. Its ultimate basis is personal prejudice or belief, not reason Dogma is personal, science is public Dogmatism and objectivity are a flagrant contradiction The cooperative enterprise of science, thanks to its objectivity, has been astonishingly successful, perhaps for more than any other enterprise of man But the objectivity of science has not been obtained without its price It imposes a far-reaching limitation

Objective science by excluding subjectivity cannot, even in principle, deal with our thoughts, feelings, emotions, with subjective experience of any kind It excludes "I". The exclusion is total Our feelings—pain, joy, ecstasy, and what not are inherently incapable of unambiguous communication Even if I succeed in expressing in words some particular feeling or emotional state of mine, there is no proof—there can be no proof—that my words will produce within you feelings identical to mine. Consciousness, mind, soul, "I", or whatever name we may give to subjectivity, or to any aspect of it, has no place in natural science No considera-

tions of purpose, divine or human, nothing which implies value judgements, can enter the gateway of objective science.

It is apparent that the basic distinction between brain and mind is all important Brain is a part of the objective world. It can be investigated objectively; and recent development in molecular biology have given valuable knowledge of its structure and functioning. On the other hand, mind is subjective When, for instance sound waves impinge on our ears, the pressure changes produce electric currents in the nerve fibres which from the ear reach the brain. How do these electric currents in the brain transform in the mind into sensations of sound—into music , The same applies to other sensations. Science provides no answer to this riddle. Because of its very objectivity science can give no answer to this riddle of all riddles. To quote Sir Chalres Sherrington (*Man on his Nature*, Cambridge University Press (1951), p 228-257) "The mental is not examinable as a form of energy. That in brief is the gap which parts psychiatry with physiology... Thoughts, feelings, and so on are not amenable to energy (matter) concept. They lie outside it. Therefore they lie outside Natural Science. . In some ways this is embarrassing for biology. Biology as its name says is the study of life.... Natural science has studied life to the extent ol explaining away life as any radically, separable category of phenomena . . there is no radical scientific difference between living and dead . . But though living is analysable and describable by natural science, that associate of living, thought, escapes and remains refractory to natural science . . Our mental experience is not open to observation through any sense-organ ... Mind, for anything perception can compass, goes therefore in our spatial world more ghostly than a ghost. Invisible, intangible, it is a "thing" not even of outline, it is not a "thing" It remains without sensual confirmation, and remains without it for ever."

What about the interacton between the mind and the body ? The control of the mind over the body is an incontrovertible fact of personal experience If my mind, my thought, does not determine the movement of the pen in my hand, who is writing this sentence ? Who is responsible for it ? Equally, the influence of the body on the mind is incontrovertible as exemplified by effects of food, and drugs, by neurological experiments, brain injuries, and so on (W Penfield has recorded that in some striking cases of brain surgery when the patient was asked not to move the arm when the corresponding area of the cerebra cortex was electrically stimulated, the patient invariably responded by using the other arm to hold it down. What the electrode did to one arm, the patient's will did to the other concluded Penfield).

It may be of interest to recall at this point that John von Neumann explicitly introduced the role of consciousness (mind) in his treatment of the foundations of quantum mechanics (*Mathematical Foundations of Quantum Mechanics*, Chapter VI, English translatio n (1955), Princeton University Press) He postulated that interaction with consciousness was necessary to bring about a "reduction of wave-

packet". This view has been severely criticised by several people, notably Rosenfeld. Leaving aside the question of the reduction of the wave-packet, von Neumann's observations about subjective perception are of great interest. He says · "the subjective perception is a new entity relative to the physical environment and is not reducible to the latter. Indeed, subjective perception leads us into the intellectual inner life of the individual, which is extra-observational by its very nature.. .. .. We must divide the world into two parts, the one being the observed system, other the observer In the former we can follow up all physical processes (in principle at least) arbitrarlly precisely In the latter, this is meaningless The boundary between the two is arbitrary to a very large extent......... .that this boundary can be pushed arbitrarily deeply into the interior of the body of the actual observer is the content of the principle of psychophysical parallelism—but this does not change the fact that in each method of description the boundary (between body and mind) must be put somewhere. .. ." The views have recently been further expounded and elaborated notably by E P. Wigner

What we know about living organisms is not much, but we know enough to be able to conclude that the human body is a "machine" It is so beyond question, it is subject to the laws of physics and chemistry which make no distinction what soever whether the atoms are parts of a living body or otherwise Equally, one cannot deny the incontrovertible direct experience that the motions of his or her body are under his or her control My body is a "machine", but "I" control its movements. Any other assumption would be unacceptable, unreasonable Let us assume, as undisputed, the two "facts" —(1) my body is a machine, and (2) its motions are under my control. From these two facts what is the inference we can draw which would not be contradictory to science, not violated its basic axioms of objectivity and autonomy ? The only possible inference, as Schroedinger has stressed, is that every mind that has ever said or felt "I" is the one (if any) who controls the 'motions of the atoms', controls the universe, according to the Laws of Nature

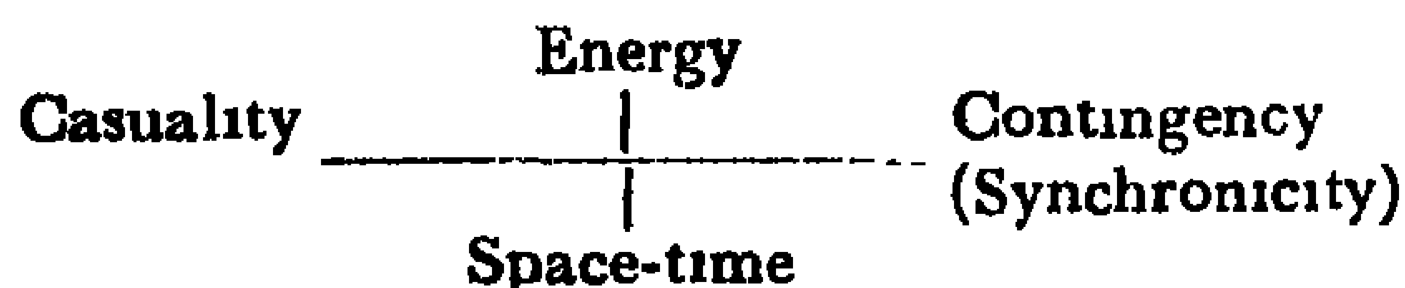
Says Schroedinger *(What is Life* (1948), p. 89*)* "In itself, the insight is not new. The earliest records to my knowledge date back some 2500 years or more. From the early great Upaniṣads the recognition *Ātman = Brahman* (the persenal self equals the omnipresent, all-comprehending eternal self) was in Indian thought considered, far from being blasphemous, to represent the quintessence of deepest insight into the happenings of the world. Th striving of all the scholars of Vedanta was, after having learnt to pronounce with their lips, really to assimilate in their minds this grandest of all thoughts"

Howsoever strange and paradoxical the complementarity of mind and matter may seem to us, it is in all probability inescapable What is most important is to investigate—making use of the powerful experimental techniques, and statistical computer aids available today—phenomena suggested by the complementarity

approach. *For example, if mind is not an energy system, direct communication between the two minds need not be ruled out on grounds of any violation of energy laws or casuality.* Again, it would be of interest to know what *mental states* correspond to random thermal fluctuations in the *brain*. This would demand a suppression of all voluntary mental activity so that the "mental noise" corresponding to the cerebral 'thermal noise" could be observed by the subject

The book, *The interpretation of Nature and the Psyche* (Routledge and Kegan Paul, London (1955) contains two essays, one by C G Jung *(Synchronicity, an acausal connecting principle)* and the other by W Pauli *(The influence of archetypal ideas on the scientific theories of Kepler)* Jung says that the sychronicity principle advanced by him may throw light on the body-soul problem He says "The *absolute knowledge* which is characteristic of synchronistic phenomena, a knowledge not mediated by the sense organs, supports the hypothesis of a self-subsistent meaning, or even expresses its existence Such a form of existence can only be transcendental, since, as the knowledge of future or spatially distant events shows, it is contained in an irrepresentable space-time continuum" (p 124)

An interesting schematic representation of the physical psychical situation which Jung presents (after discussion with Pauli) is that synchronicity deals with phenomena that are inexplicable not merely because the cause is unknown, but for them, the "cause is not even thinkable in intellectual terms"



As A. N Whitehead (*Science and the Modern World,* 1925) has observed "A scientific realism based on mechanism is conjoined with an unwavering belief in the world of men and of higher animals as being composed of self-determining organisms. This radical inconsistency at the basis of modern thought accounts for much that is half-hearted and wavering in our civilization "

The mind-body problem is as alive as ever

Karl Popper (*Objective Knowledge, an Evolutionary Approach,* Clarendon Press, Oxford (1972), p 153) says "Western Philosophy consists mainly of world pictures which are variations of the theme of body-mind dualism and of problems of method connected with them "

Science and objectivity are and must be recognized as inseparable. The cornerstone of the scientific method is the postulate that nature is objective In other words, the systematic denial that 'true' knowledge can be reached by interpreting phenomena in terms of final causes that is to say, of 'purpose'. ..It is impossible to escape it (the postulate of objectivity), even provisionally or in a limited area, without departing from the domain of science itself." (Jacques Monod, *Chance and Necessity** (1970) No considerations of purpose, divine or

human, can enter the domain of objective science. The exclusion is complete Science is objective, not subjective or projective If we ask . what purpose do the stars in the sky serve ?; the answer of astronomy is The stars serve no purpose whatsoever. In the realm of science any other answer would be absured To think of any purpose or goal for the universe (or for any parts of it) is totally alien to science, it is incompatible with it (•Knoff, New York, 1971)

Any yet deep within us there is some vague feeling beyond doubt, akin to faith, that the universe (with its billions of galaxies, and each galaxy with billions of stars) and human life, has some purpose, some transcendental goal Again, we would be overstepping the bounds of science, and indeed be untrue to science, if we were to believe that "prayers" could influence the course of physical phenomena Prayers cannot effect or alter material things That is so Yet, who can assert that in the realm of the mind a "prayer", earnest and heart-felt, is meaningless ? To quote Gandhiji "Prayer has been the saving of my life Without it I should have been a lunatic long ago My autobiography will tell you that I have had my fair share of the bitterest public and private experience They threw me into temporary despair, but if I was to get rid of it, it was because of prayers I am indifferent as to the form (of prayer). .I have given my personal testimony Let every one try and find that, as a result of daily prayer, he adds something new of his life, something with which nothing can be compared" (See also William James, The *Varieties of Religions Experience*, Lecture XIX, Longmans (1919)

Science declares that the universe, including man's life, has no purpose, but the "I" certainly feels otherwise For the "I", purpose (teleonomy) is everything; without it there is nothing What is the bridge, the connecting link between objective science and subjective "I" ? (How to resolve the flagrant contradiction between the determinism that science predicates and the freedom of the will which the "I" directly experiences ?). It raises the deepest of all questions What is "I" ? How does the "I" (mind, consciousness) interact with the body ? There is no solution to this profoundest of all "mysteries" (We are no nearer to an understanding of the mystery than the insight and wisdom provided by the Upanishads, as emphasized by Erwin Schroedinger in his remarkable book, *My view of the World* (1964). The current developments in quantum physics, cybernetics, and molecular biology emphasize that-if anything-the "mystery" is far deeper than ever thought before It is one thing to recognize that we have no "solution", but altogether another thing to cavalierly assert (as some people do) that there is no "problem", no "mystery" The distinction is important. Otherwise, there is a real danger that science which man has created, and which is mankind's greatest intellectual and most fruitful enterprise, may, in the end, smother his spirit instead of enlarging and enriching it.

वास्तविकता और भौतिकी : कुछ पहलू

डी० एस० कोठारी, दिल्ली

न्यूटन की यांत्रिकी में ईश्वरवाद के साथ परम आकाश और काल की मान्यता रही है। इस आधार पर स्थूल जगत की व्याख्या भी की जाती रही। लेकिन मैश और आइन्स्टीन के सापेक्षतावाद और क्वान्टम यान्त्रिकी ने इस मान्यता में आमूल परिवर्तन कर दिया। ये नई मान्यतायें भारतीय उपनिषदों के समरूप ठहरती हैं।

वास्तव में, शरीर और मन का सम्बन्ध एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें विज्ञान अभी कोई विशेष व्याख्या नहीं दे पाई है। अरविन श्रोडिन्जर ने अपनी एक पुस्तक में 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये हैं और उसके आधार पर तरंग यांत्रिकी का विकास किया। बोहर का पूरकवाद भी उपनिषदों के मानव और विश्व, आत्मा और शरीर आदि के सम्बन्धो पर आधारित है। यह पूरकवाद जैन दर्शन में भी विशेष महत्व का है जब भगवान् महावीर कहते हैं कि यह आत्मा द्रव्य दृष्टि से अनादि-अनन्त है और भाव दृष्टि से सादिसान्त है। इसी प्रकार स्याद्वाद का सिद्धान्त भी आज के वैज्ञानिक और नैतिक धरातल पर महत्वपूर्ण बन गया है। इसके अनुसार वस्तु का पूर्ण विवरण सात रूपों में किया जा सकता है। इस निरूपण का निदर्शन क्वान्टम यान्त्रिकी के अध्यारोपण सिद्धान्त से होता है। यहाँ भी स्याद्वाद के समान सन्दर्भ बिन्दुओं को महत्व दिया जाता है। यह दृष्टिकोण अरस्तू के एकान्तवादी तर्कशास्त्र से अधिक व्यापक और व्यावहारिक है। यह सचमुच ही आश्चर्य की बात है कि स्याद्वाद केवल दार्शनिक क्षेत्र मे ही क्यों सीमित रह गया ? इसने परिमाणात्मक विकास क्यो नही किया ? आधुनिक विज्ञान की वस्तुनिष्ठता का मूल यह स्याद्वादी दृष्टिकोण ही है। इसमें व्यक्तिनिष्ठता का समावेश नही हो सकता।

इसको समझने के लिये मन और मस्तिष्क का अन्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मस्तिष्क वस्तुनिष्ठ होता है। इसके विषय में विज्ञान ने पर्याप्त जानकारी दी है। इसके विपरीत, मन व्यक्तिनिष्ठ होता है। ध्वनि की लहरिया मस्तिष्क में विद्युत् प्रवाह के रूप में आती हैं। यह मन में संगीत की अनुभूति कैसे उत्पन्न करता है ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान ने अभी तक नही दिया है। वस्तुत मन न तो ऊर्जा के रूप में और न ही कण के रूप में समझा जा सका है। यह जीव-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। फिर मन और शरीर का संबन्ध क्या है ? फिर भी हम जानते है कि ये दोनो एक-दूसरे को निर्विवाद रूप से प्रभावित करते हैं। जोन-वान न्यूमैन ने मन को चेतना का पर्यायवाची माना है। व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान हमें जीवन के अन्तरग की ओर ले जाता है। इस आधार पर हम विश्व को दो भागो में विभाजित कर सकते हैं—दृश्य और दृष्टा। इन दोनों के मध्य की सीमारेखा पर्याप्त स्वैच्छिक और अस्पष्ट है।

हमारा शरीर एक यन्त्र है पर उसका नियन्त्रण "मैं" करता है। इन दो तथ्यो से "मैं" का प्राकृतिक अस्तित्व सिद्ध होता है। श्रोडिन्जर के अनुसार, यही "मैं" भारतीय उपनिषद् और वेदान्त का मूल है। मन और शरीर के इस नियामक सबध की वैज्ञानिक दृष्टि से खोज आवश्यक है क्योंकि यह पूरकवाद पर आधारित है। जग और पाउली आदि ने इस विषय पर विचार तो किया है, पर उनके निष्कर्ष समस्यात्मक हैं, समाधानपरक नही।

विज्ञान कहता है—इस विश्व और मानव जीवन का कोई उद्देश्य नही है। लेकिन हमारा "मैं" ठीक इससे विपरीत ही कहता है। इस विश्व और "मैं" का बन्धन-सेतु क्या है ? वस्तुत. यहाँ मूलभूत प्रश्न "मैं" का है जो विश्व और जीवन से अधिक मौलिक और रहस्य मय है। विज्ञान आज भी इस समस्या के समाधान में उलझा हुआ है। उसके पास "मैं" के लिये कोई उत्तर नही है, पर वह इसे अपनी समस्या तो मानता ही है।

SPACE, TIME AND THE UNIVERSE

Prof. G. R. Jain, Merrut, U. P

The noble laureate Sir Albert Einstein, the brainiest man in the world, who was declared as a good man for nothing by his teachers in the school, startled the scientists all over the world by his theory of Relativity. The birth centenary of this great scientist has been just celebrated all over the world He gave the dimensions of the Universe as in Table 1. With regard to its origin, he announced the

Table 1 *Einstein's Dimensions of the Universe*

1	Mass	2.143×10^{55} gm
2.	Mean density	$1\ 05 \times 10^{-27}$ gm /ml
3	Radius	1.01×10^{27} cms. or 1068 million light years
4	Number of electrons in the Universe.	$1\ 29 \times 10^{70}$

Cylinder theory according to which this Universe of ours is a four dimensional space continuum consisting of three dimensional space with time as its fourth dimension This is limited in three dimensions of space like a cylinder but unlimited in the direction of time. In common language, it means that the universe is limited in three directions, but in the direction of time it runs from an infinite past into an infinite future It is interesting to note that if we regard our universe as infinite, it cannot be stable at the same time, for in that case all our energy would get scattered into the infinity of space and the attractions of myriads of other universes filling this infinite universe would scatter it into the infinity. The picture of the universe as given by Jain Thinkers is very similar to this which we shall develop into the following here The volume of the Universe according to the Jains is 343 cubic Rajjus, a Rajju[1] being a quantity of the order of 10^{21} miles. The use of the word Brahmānda (Universe of the ellipsoidal form) by the Hindus for the universe is also suggestive of the finitude of the latter.

The Universe —The Universe of Jains is composed of six substances The substance has been defined as that reality which undergoes modifications through permanance To give one example of such modification, consider an ingot of gold. Suppose we make an ornament out of it. The original mass of gold suffers a modification, the original form is destroyed, a new form is produced but the substance gold persists throughout the change.

The six substances are as below ·

(1) Living substance or Soul or Jīva, (2) Non-living substance or Ajīva or Matter and energy, (3) Medium of motion or Dharma, (4) Medium of rest

or Adharma, (5) Space or Akasha and (6) Time or Kala. We will describe them in brief with some details of space at first.

(1) *Space*.—Space is one of the six substances which compose the universe according to Jains. The function of space is to give place to all other substances, i.e interpenetratability is the characteristic of space or Akasha For purposes of measurement, space has been divided into space points called Pradesas. A Pradeśa is the smallest three dimensional volume occupied by an atom or paramānu. According to the Rutherford's planetary model of the atom, the positive charge of electricity known as Proton is situated in the center of the atom with a number of planetary electrons moving round it in fixed orbits. The atom of Hydrogen is the smallest and lightest. An estimate of its smallness and lightness can be gathered from the fact that if two hundred million atoms of hydrogen are placed in line, one touching the other, the total length would only be 2 55 cms. and the weight of 4×10^{21} atoms would be equal to the weight of a poppy seed The number of gold atoms in a single drop of sea water is fifty billion. But this is not the atom of the Jains.

In the last few years, a new model of the atom called the Quark model is emerging in the world of physics An intensive hunt has been going on all over the world for the search of the "Ultimate particle" of matter called the Quark by the scientists. The hunters are some of the leading physicists The hunting grounds almost anywhere from the high atmosphere to the bottom of the sea to the inside of the latest atom smasher Despite this painstaking search, it has not been possible so far to track down the Quark The physicists say that the Quark is the simplest particle in the Universe out of which everything is made The two most prominent workers in this field are Murray Gell Mann and Richard Feynman of the California Institute of Technology and their cellaborators These people have won high honours for this work including Noble prize in 1965

From the very start of civilisation, philosophers have wished to find a simple idea that would unite everything we experience in the world around us So there has been a search for the building block like the cell or gene in biology The burning questions before the physicists of today are (a) What are things really made of ? (b) Have we at last come down to the last foundation stone from which we can build anything a table, a human being or a universe ? or (c) Must we go on looking at smaller and smaller pieces and going deeper and deeper into a bottomless pit ? To answer these questions, very elaborate and expensive experiments were performed in U S A as a result of which the number of new particles emerging from nucleus has increased fantasically By 1962, their number had been counted upto one hundred Some of their names are neutrons, protons, pions, positrons, muons, electrons, neutrinos and their anti-particles such as anti-protons and so on. Millions of photographs were taken and even those particles were recorded which lived for as small a period as one-ten billionth of a second – 10^{-11} second and then died but the Quark remains undicovered We congratulate the scientists for their hard perserverence and uneasing labor. If some day, the Quark is discovered, it

will be the atom of the Jains and the volume occupied by it will be the unit of space, the space point or Pradeśa.

The space has two varieties; Lokakasha and Alokakasha. The constituent elements of the world are the infinite number of Jivas and the infinite number of the physical objects, principles of motion and rest and time-all contained in space—the sixth. The space which is coextensive with these objects is called Lokakasha. But this is only a part of the real space. Beyond this, there is Alokakasha or Anantakasha. This is pure space. Ther e are no objects animate or inanimate is this infinite region.

For measurement of celestial space, two units are in use. They are Yojana and Rajju corresponding to miles and light years. In order to evaluate the magnitude of Yojana, we consider the following table of length given in vedic literature .

24 Angula = 1 Hasta = 18 inches
4 Hasta = 1 Danda or Dhanuṣ = 6 feet
2000 Dhanuṣ = 1 Kosa = 12000 ft or 25/11 miles
4 Koṣa = 1 Yojana = 100/11 miles or 9 miles 160 yds.

This value is further corroborated from a Sukta of Rigveda, according to which light travels at the rate of 2202 yojanas per half Nimesha. As per Hindu Puranas,

15 Nimesas = 1 Kāṣthā
30 Kāsthā = 1 Kalā
30 Kalā = 1 Muhūrta or 48 minutes

Thus the value of one Nimeṣa comes to be 1/4 second.

Taking the value of Yojana as 100/11 miles and half Nimeṣa as 1/4 second, the velocity of light comes to be 1,87,670 miles per second [2] This is the same value as arrived at by modern science.

In order to calculate the value of Rajju in miles, we begin with the quotation given by the German Professor Von Glassnap in his famous book "Der Janismus" on the basis of the famous English astronomer Colebrooke. According to him, Rajju is the distance travelled by a Deva in six months at the rate of 20,57,152 yojanas per Nimesha. Taking the value of Yojana as 2000 × 100/11 miles and six months as 1,55,52,000 seconds or 1,55,52,000 × 4 Nimesas, the distance travelled by the Deva is 2.23×10^{18} miles, Einstein has assumed the universe as spherical and calculated its volume as 1037×10^{68} cubic miles. If we equate it to the volume of the universe given in cubic Rajjus by Jain thinkers, i e. 343 cubic Rajjus, we obtain a Rajju equal to 1.45×10^{21} miles. Finally, therefore, we arrive at the following space unit distances ·

1 Yojana = 100/11 miles
1 Mahayojan = 2000 Yojanas = 2000 × 100/11 miles
1 Rajju = $1\ 45 \times 10^{21}$ miles.

(2) *Living Substance, Jīva or Soul* :—The soul is the reality that possesses the faculty of knowing and perceiving, in which the sensations of pain and pleasure inhere and through which the volition functions. Modern experimental psycology has already discovered the electrical counterpart of the soul called the Taijas Sharira. This soul has the potency of changing its size by contraction and expansion It can occupy the smallest possible body of a bacteriophage or the biggest body of a whale fish. Since a body grows from a microscopical size in the mother's womb to its full proportions and contracts again at the end of its earthly career, to reincarnate into a new seed, it follows that the size of the soul cannot remain fixed. Modern science identifies life with protoplasm or the living cell and it is well known that it possesses a remarkable property of contraction under external stimuli. The theory of transmigration of soul is an extraordinary conception also supported by Hindu and Budhist philosophies. According to Jain view, all actions of embodied living beings, whether mental or physical, are followed by influx of fine molecules of energy towards the soul—the former constitutes a fine material body around the soul. It is technically called Karmanā Śarīra. To use the modern language, the activities of mind and matter constitute a super radio with the quantillions of living cells sending out their individual waves to be tuned in by quantillions of receiving sets in the brain. Influx of these waves is the influx of subtle karmic matter, which we can call the fourth state of matter, the other three being solid, liquid and gaseous states. Activity of a good kind attracts meritorious while activity of a bad kind attracts the opposite kind of karmic matter The karmic body is responsible for dragging the soul from one physical body to another, and it keeps the soul bound to the confines of the universe owing to the gravitational forces operating on all sides When karmic matter is shed off the soul by following the path of liberation, being the lightest substance, the latter rises to the top of the universe and rests there as pure "Effulgence Devine". It cannot travel further on owing to the absence of the medium of motion called the luminiferous Aether by the scientists

In recent years, the scientists are trying to explain the processes of life, i e, growth and reproduction in terms of special properties of various kinds of proteins and the two nucleic acids—DNA and RNA Although the artificial synthesis of a biologically active living cell, which automatically grows by multiplication has been reported, it has not been possible so far to correlate the proteins, DNA and RNA with functions of memory, thought, reason, logic, intution and free will. In other words, consciousness could not be explained on the basis of physics and chemistry and hence the existence of soul remains unchallenged Its existence and transmigration has been amply corroborated by the recent researches is para-psychology.

(3) *Ajīva or Matter and Energy or Pudgala* —Ajiva is the second principal constituent of the physical universe The use of the word Pudgala for matter and energy is quite peculiar to Jain philosophy This word has been coined from two words—Pud means to combine and Gala means to dissociate Hence the root meaning of the word Pudgala is a substance which undergoes modifications by combina-

tion and dissociation. One who is familiar with modern developments in atomic physics cannot but admire the choice of this word for denoting matter and energy. We now know ful-well that all atoms are assembly of protons, neutrons and electrons. In the phenomenon of radioactivity, atoms are seen disintegrating themselves on their own accord into others For instance, an atom of Uranium after undergoing various modifications is ultimately converted into the metal lead In the phenomenon of artificial radioactivity, the bombardment by alpha particles, protons or neutrons brings about such transformations as the conversions of aluminium or sulphur atoms into those of phosphorous By bombarding a nitrogen nucleus with alpha particles, it is converted into oxygen Similarly, by bombarding a berilium atom with alpha particles, it is converted into carbon atoms Such examples can be multiplied

The chief characteristic of the substance-Pudgala is that it is the subject of sense perception, it has a form in contrast with other five constituents of the universe which are without form The physical properties of hardness, density, temperature and either positive or negative charge are associated with it It has one of the five colors depending on the temperature

This matter is divided into six subclasses solids, liquids, gases, energy, fine karmic matter and extrafine matter consisting of the streams of the ultimate particles of matter Until the beginning of this century, the classical physics of Newton and Galeleo regarded energy as perfectly weightless and without any association with matter. It was the genius of Einstein who definitely proved that every form of energy has mass and that there is no difference between matter and energy but that of the form According to him, one gram of any kind of matter when fully changed into energy is equivalent to the quantity of heat which would be produced by burning 3000 tons of best variety of coal. It is really wonderful to note that this truth of particulate nature of energy was already discovered several centuries ago by the Jain philosophers They regarded every form of energy as a manifestation of Pudgala and hence one form of energy could be interconverted into the other It is really interesting to see that whereas in the history of modern science the nature of heat, light and electricity could not be elucidated for a long time-they being regarded as fluids for several centuries

The true nature of sound was also known to Jaina thinkers Unlike the other systems of thought, which associate sound with Aether or space, Jain system explains it as being due to the vibrations of the molecules This sound is further divided into musical sounds and noises The musical sounds are given different names depending upon their production by vibrations of strings, reeds, pipes, bells and stretched membranes

Matter is then thought of as made up of Skandhas (molecules), Skandhdeshas (atoms), Skandhapradeśas (ionised or stipped atoms) and paramānus (indivisible elementary particles such as electrons and the positrons). In conformity with the

version of the modern kinetic and electron theories of matter, the Jain philosophy also regards elementary particles inside atom and the molecules in a piece of matter to be in a state of motion

Although the space-point technically called Pradeśa has been defined as the volume of the space occupied by an atom, but it is mentioned at the same time that an infinite number of atoms can occupy a pradeśa under abnormal conditions

The modern science has discovered a substance called nuclear matter, first discovered by Adams which is two thousand times denser than platinum, the heaviest metal on earth. The formation of such a matter in certain stars such as the dark companion of Sirius (the brightest star in northern heavens) can be explained in no other way but by saying that somehow a very large number of atoms have become packed in a small compass in nuclear matter Writing about the nuclear matter, the great astrophysicist Eddington once said that one ton of nuclear matter can be easily carried in a waist coat pocket

According to Vālmiki Rāmāyana, the bow of Śiva which was broken by Bhagwān Rāma was 13 cms in length and was made of nuclear matter called Vajra

(4) *Medium of motion or Dharma* .—Dharma has been defined by Jains as the auxiallary cause of motion As water helps the movement of a moving fish so does the Dharma help the motion of the matter and soul But it does not move those which are not moving. It should be noted that the word Dharma in Jain cannons has been used entirely in a different technical sense here than it is ordinarily understood to mean Hindu philosophers have used this word in the sense of duty or righteous deeds only, but here the Jains mean the Aether of space, the medium of motion peculiar although it may seem It is formless, inactive and eternal. It has none of the qualities associated with matter, i e it is devoid of qualities of contact, taste, color, smell and sound. It is a continuous medium pervading the whole universe It remains unchanged by the motion of objects

The first problem before the scientists was that if light waves were real waves they must be waves in something They were plainly not waves in matter, it was necessary, therefore, to invent something else, which was not matter, for them to be waves in. This something they called the Aether and imagined it as an utterly thin and elastic fluid that flowed undisturbed between the particles of the material universe and filled all empty space of every kind.

What was this Aether like ? Material media are penetrated by aether, their molecules being surrounded by it such as the leaves of tree are surrounded by air. But difficulties and contradictions appeared at once For, it was proved to be : (1) thinner than the thinnest gas, (2) more rigid than steel, (3) absolutely the same everywhere, (4) absolutely weightless, and (5) in the neighborhood of any electron, immensely heavier than lead, It is difficult to imagine the planets as moving with their enormous velocities through aether without any loss of energy. The motions

of the planets are perfectly regular and show no signs of any loss of this kind. In the words of Denton, the Newtonian aether is rigid, yet allows all matter to move about it without friction or resistance; it is elastic but cannot be distorted. It moves but its motion cannot be detected; it exerts force on matter but matter exerts no force on it it has no mass nor has it any parts which can be identified, it is said to be at rest relatively to the fixed stars, yet the stars are known to be in motion relatively to one another

A great many phenomena, culminating in the Michelson experiment and the theory of relativity, showed that the aether must be something very different from ordinary terrestrial substances

Eddington writes about aether in his famous book, ' The Nature of the Physical world" that it does not mean from the above that the aether is abolished We need an aether . .. .In the last century, it was widely believed that the aether was a kind of matter. It would be difficult to say when this view died out Nowadays, it is agreed that aether is not a kind of matter Being non-material, its properties are quite unique

Thus, it seems that science and Jain physics agree absolutely in so far as they call Dharma non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, co-extensive with space, indivisible and as a necessary medium for motion and one which does not move.

(5) *Medium of Rest or Adharma* Adharma is the auxiallary cause of rest to soul and matter It is the principle which guarantees the permanance of the world sructure It assists the staying of soul and matter which are stationery just as the shade of a tree helps the staying of travellers But Adharma does not stay those which are moving It also pervades the entire universe and has all other characteristics like Dharma To summarise, it is a non-living, formless, inactive, continuous medium without which equilibrium in the universe would be impossible and the souls and the atoms would have become scattered in infinite space It is the binding force which is responsible for a stable universe, without it, there would be chaos and no cosmos.

The modern equivalent of Adharma may be looked upon as Newton's force of gravitation. According to Newton's law, all bodies with which we are acquainted, when raised into, the air and quietly abandoned, descend to the earth's surface. They are urged thereto by a force or effort which, although it is beyond our power to trace, we call Gravity According to law of gravitation[3], every particle of matter pulls every other particle directly as the product of their masses and inversely as the square of the distance between them, i.e. the heavier the bodies are, the greater is the mutual force of attraction and greater the seperation, the smaller is the force of attraction. If the distance between them is doubled, the force of attraction becomes one-fourth and if it is trebled, it becomes one-ninth and so on.

It was the genius of Newton to extend the law of gravitation from the earth to heavenly bodies. He came early to suspect that the force which keeps the moon

in its orbit is none other than the power of attraction of the earth However, it should be borne in mind that this force of Newton was taken as an active force although acting like an invisible agency. The Newtonian concept of gravitation was modified by Einstein who rendered it quite inactive and thus brought it on the same level as the Adharma of the Jain thinkers

In the case of atoms, however, gravitational attraction plays no real part. The masses of electrons and protons are too small for that On the other hand, here there is an incomparably greater electric force, i e the force of attraction between oppositely charged protons and electrons However, the law which governs this attraction is exactly similar in form to the law of gravitation, so that it is merely a change of name. It is again a force of attraction which keeps an electron moving round a proton Thus, we are led to the conclusion that Adharma corresponds to Einstein's Unified Field of Gravitation and Electromagnetism

(6) *Time or Kāla* —Time is also a substance It is divided in two categories absolute and apparent, de jure and do facto The former is made up of Kalanus (grains or quantas of time) Innumerable grains of time reside one in each space-point of the finite universe like heaps of jewels In other words, the time consists of units which never mix with one another but are always seperate The whole universe, excluding the pure space is full of these grains of time, no part of the space within it is devoid of them These grains are invisible, formless and inactive i e. in a static condition and in countless number. The distinction between absolute and apparent time is that the former is eternal while the latter has a beginning and an end The scientists also suspect that there is a real time behind the apparent time. Prof Eddington says, "Whatever may be time de jure, the astronomer's time is time de facto. . You may be aware that it is revealed to us in Einstein's theory that time and space are mixed up in a rather strange way. This is a great stumbling block to the biginner." One startling conclusion from this theory is that both space and time vanish away into nothing if there is no matter It is matter in which originate space and time and our universe of perception So is the conclusion of Jain thinkers In the infinite pure space extending beyond loka, no other substance exists but space, there is no matter and hence there are no grains of time The resemblance is striking

The practical unit of time is two fold-one for the measurement of small intervals and the other for the measurement of extremely long intervals Earlier, Nimesha has been indicated as the smallest unit of time equivalent to 1/4th of a second. A still smaller unit of time is Prativipalansha which is 1/9000 th of a second.

According to the Hindu Purānas, 43, 20,000 years make a Mahāyuga and 1000 mahayugas make a Kalpakāla. The period of Kalpakala is the Brahmā's day and an equal interval is Brahma's night At the end of each Kalpa, Brahma creates a new universe Thus the number of years in a kalpa is 4,32,00,00,000 (total number of digits is 10) But according to the Jains, the years of Kalpakāla

can be expressed by a number consisting of 77 digits of which 26 are numerals followed by 50 ciphers The numerals are in the following order ·

$826905260616406355499024384 \times 10^{50}$

Origin and end of the Universe :—In Hindu Trinity, Brahmā, Viṣṇu and Maheśa have been allotted specific functions of creation,[4] preservation and destruction of the universe respectively, i e these are the attributes of the Godhood There are fixed times for creation and destruction As already stated above, a Mahayug consists of 43,20,000 years and 71 mahāyugas make a Manvantara The word Manvantara means the time interval between the successive Manus or the law givers. Fourteen Manus are born in a Kalpakāla Before and after the birth of each of the 14 Manus, the world is submerged under water for a period of years equal to 4,32,000 × 4 Thus, the total number of times that the world is submerged under water is 15 and the corresponding total period is 4,32,000 × 4 × 15 = 43,20,000 × 6 years i e 6 mahayugas Since there are 14 Manus in each Kalapakāla and they are born at intervals of 71 mahāyugas and 6 mahāyugas elapse during the period of floods which occur 15 times in one Kalpa, the total period of a Kalpa is 71 × 14 = 994 + 6 = 1000 mahāyugas Therefore, corresponding to our 24 hours day, Brahmā's day consists of 8640 million years

The Purānas state that the Brahmā creates the universe afresh at beginning of the day and it is submerged under water during night The disappearance of the universe in this manner is called Naimittika Pralaya In this the entire matter of the universe is concentrated in one place but is not destroyed During one such Pralaya, the great sage Mārkaṇḍeya alone was alive and all other celestial and terrestrial objects ceased to exist There was water and water everywhere and the sage wandered through empty space. He saw a baby in yogic sleep on a banyan leaf The baby opened his mouth wide enough for the sage to enter On entering the mouth, he saw all the three worlds inside the stomach, thus proving that during a pralaya, all objects merge into Supreme being. He then releases all these objects at the time of new creation

The submerging of the earth under water has occurred about four times since the beginning of the earth This fact has been accepted by the modern geologists They have given it the name of "Glacial Epoch" and in Jain terminology, it is called "Khand Pralaya" The scientists have assigned the Deluge due to the melting of ice at the polar caps.

The Mahāpralaya occurs at the end of the life period of the Brahmā, which is of 100 years duration, each day and each night of the year being of 4,32,00,00,000 years In this absolute pralaya, everything in the universe, material as well as non-materials, is dissolved into atoms and finally absorbed into the body of the Supreme Being. At the time of creation, the process is reversed and our universe can be looked upon as the projection of Lord God himself. The process of dissolution and creation goes on cyclically for eternity.

The concept of Mahāpralaya in Jain theory is a different story. The cycle of time here is divided into two parts called Avasarpiṇī and Utsarpiṇī. During the first, there is a gradual decline while during the second, there is a gradual progress. Utsarpinī comes again and so on alternately Each epoch is further divided into six parts. At the end of Avasarpinī, there is a situation like Khand Pralaya for 49 days and then creation starts again with the seven day rains of water, milk, butter, amrit and sweet juice respectively[6].

The following points of difference should be noted between the Hindu and the Jain concepts regarding the Universe

(1) According to the Hindus, the whole earth is submerged under water 15 times during one kalpa whereas according to the Jains, it is only once during each epoch and that too partially.

(2) According to Hindus, at the time of Mahāpralaya, all matter, space and time are engulfed into the Supreme Being and then it is He who unfolds the Universe again, whereas according to Jains, the nature of the Universe is such that after it has completely run down, it regenerates itself by carrying out the cycle in reverse order.

According to modern science, the Universe is gradually running down in the material sense of the word The scientists say it as that the entropy of the world is tending towards the maximum. This has been proved mathematically by Maxwell from the second law of thermodynamics. In nature, heat is constantly flowing without interruption from a body at a higher temperature to a body at a lower temperature and air automatically flows from a region of high pressure to that of low pressure. Thus, there is tendency towards equalisation of temperature and pressure all over the universe Efficiency of a heat engine is greater if the difference of temperatures between the source and the exhaust is large, i e greater the difference of temperatures, the higher is the efficiency In other words, we can say that the availablity of energy for doing work is becoming less and less every moment and when the temperature and pressure will become the same everywhere, the available energy for work will become zero and the entire universe will come to a stand still. The sum total of the energy in the universe will be the same as before but it will not be available for work Living beings will neither be able to move nor to breathe Blood will not circulate in their veins Life of all forms will be extinct

What next ? is a glaring question before the scientists They believe that the universe cannot end as declared by Einstein in his Cylinder theory referred to in the beginning Some unknown force must rewind the clock of the Universe so that it may be set running once again. According to Hindu belief, the rewinding is done by the Almighty God whereas according to Jains, the process is automatic

There is another line of thinking in science. According to this, sun is the source of energy for all life on earth According to the principle of equivalence

between mass and energy, sun is loosing its mass at the rate of 46,000 tons per second and if it continues to radiate energy at the present rate, its mass will be reduced to zero after a few billion years, when Universe becomes devoid of solar energy, all life on earth will dis-appear and it will be a sort of Pralaya.

In recent years, another interesting discovery has been made. It is well known that the magnetic north pole does not coincide with the geographical north pole. There is an angle between them. Now, it has been found that the magnetic poles of the earth are slowly rotating and a time will come when the north pole will go into the position of south pole and vice versa. In between, there will be a period of 100-200 years when the earth will have no magnetic field at all because when we go from a negative quantity to a positive one, zero comes in between.

The earth's magnetic field acts like an umbrella for the showers of destructive cosmic rays which are coming profusely from inter-stellar space. The earth's magnetic field deflects them to one side and it is only in very small numbers that they are able to reach us. The rotation of the poles has a period of about 7,50,000 years and the last reversal took place some 7,00,000 years back. Thus after 40 to 50 thousand years[6], it is likely to occur again. At the time of zero magnetic field, all cosmic ray showers fall upon the earth with full destructive force and the latter is completely scorched to death. This is Mahāpralaya.

On 30th June, 1908, there was an unusual explosion in Siberia in the Soviet Union The explosion may be compared to a 30 megaton hydrogen bomb explosion, i e equal to 1500 Hiroshima atomic bombs exploding together. American scientists are of the opinion that it was an explosion caused by an antimatter intruder[7] of about one kilogram weight, that entered accidentally into our atmosphere and fell upon the earth. If someday a lump of antimatter weighing about 10 tons enters into our universe, it will create such a violent explosion that the whole world will be reduced to dust. This is the latest view of science on the subject of Mahāpralaya

References

1 Rajju is very big unit of length like the light year whose magnitude has been seperately discussed.

2. In the measurement of the Universe, Mahāyojana is used, this being 2000 times greater than yojana.

3. Although, the law of gravitation is associated with Newton, it was already known to the great Indian astronomer Bhaskaracharya some six hundred years before Newton. Bhaskara enunciated the law exactly in the same mathematical form as did Newton.

4 The universe is called Brahmāṇḍa which means egg of Brahma. This egg was made of gold. According to Big Bang theory, some five billion years ago, this egg, due to some unknown cause suddenly began to expand and

based on certain evidences, it is claimed that it is still expanding. The Jainas, however, do not believe in the expanding Universe. They believe the Universe has a fixed size of 343 cu. Rajjus. This expansion of universe has been concluded on the basis of feeble red shift of spectral, lines Deepak Basu has explained it away by saying that it is due to gravitational field of galaxies Similar views have been expressed from many other quarters. There is still another theory running parallel to it with a very large number of followers which believes in continuous creation In this theory, the universe was not created at any particular time out of nothing but it continues with necessary modifications and will continue to be so forever

5. Nemcandrācārya, Trilokasāra, Adhikar 6, gathas, 866,868

6. This is quite in conformity with the Jain view that the next Mahāpralaya will occur after about 39 5 thousand years

7. The matter of our universe is an assemblage of atoms wherein the positive charge is in the centre and the electrons move round it In case of atoms of antimatter, the negative charge is in the centre and the positrons move round it When an atom of antimatter comes in contact with ordinary matter, there is an explosion and both of them are annihilated It is presumed that beyond our universe, there is its counterpart made up of antimatter and called as the anti-universe

लेखसार

आकाश, काल और विश्व

प्रो० जी० आर० जैन, मेरठ उ० प्र०

आकाश—जैन मान्यता के अनुसार यह विश्व छह मौलिक द्रव्यों या तत्वों से बना हुआ है। इनमें से आकाश भी एक है। यह सभी प्रकार के मूर्त और अमूर्त पदार्थों को अवगाह-दान करता है। इसका मापन प्रदेश-यूनिटों में किया जाता है। प्रदेश सूक्ष्मतम परमाणु द्वारा अधिष्ठित आयतन माना जाता है। आज के विज्ञान ने अभी तक जैनसम्मत परमाणु के समकक्ष विश्व के सूक्ष्म घटक का परिज्ञान नही कर पाया है, यद्यपि वर्तमान में क्वार्क नामक कण को इसका समकक्ष माना जा सकता है। आकाश के जितने क्षेत्र में मूर्त-अमूर्त पदार्थ पाये जाते हैं, वह लोकाकाश है। इसके बाद शुद्ध आकाश है जो अलोकाकाश कहलाता है।

दूरवर्ती आकाश-क्षेत्रो के मापन के लिये योजन, महायोजन (= 2000 योजन) और रज्जु ($= 1.45 \times 10^{21}$ मील) के यूनिट प्रयुक्त होने हैं। परिकलनो के आकार पर योजन का मान 100/11 = 9.09 मील पाया गया है। इसके आधार पर प्रकाश का वेग 1, 87, 670 मील प्रति सेकण्ड निश्चित होता है।

काल—यह भी विश्व के छह द्रव्यों में से एक अमूर्त द्रव्य है जो व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का होता है। निश्चय काल के सूक्ष्म कालाणु आकाश-प्रदेशों में मणियों के समान विद्यमान रहते हैं। ये कालाणु अदृश्य, अनाकार, अक्रिय और अमिश्रणीय होते हैं। ये अनादि और अनत होते हैं। इनके विपर्यास में, व्यवहार काल सादि और सान्त होता है। प्रो० एडिंग्टन का अनुमान है कि व्यवहार काल के मूल में निश्चय काल होना चाहिये। सापेक्षवाद के अनुसार, यदि पदार्थ या द्रव्य न हों, तो काल भी नही रहता। इसीलिये अलोकाकाश में पदार्थों के अभाव से काल द्रव्य का अस्तित्व नहीं माना जाता।

काल के मापन के लिये दो प्रकार के यूनिट काम आते हैं। समय के लघु अन्तरालों के मापन में **निमेष** (0 25 सेकड) अथवा **प्रतिविपलांश** (0.00011 सेकड) काम आते हैं। दीर्घ अन्तरालों के लिये हिन्दू पुराणों में महायुग (43,20,000 वर्ष) और कल्पकाल 1000 महायुग) का प्रयोग किया गया है। जैन मान्यता के अनुसार कल्पकाल में वर्षों को संख्या 77 अको की होती है जबकि हिन्दू मान्यता में मह दस अकों का ही है।

विश्व का आदि और अन्त—हिन्दू-पुराणो के अनुसार ब्रह्मा दिन में सृष्टि का निर्माण करत हैं और रात्रि में उसे विलीन करते है। इस दैनिक प्रलय को **नैमित्तिक या खड प्रलय** कहते है। इसमें विश्व के समस्त पदार्थ एक स्थान पर केन्द्रित हो जाते है। लेकिन ब्रह्मा की प्रत्येक 100 वर्ष की आयु पूर्ण होने पर ससार का **महाप्रलय** होता है जब कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अपघटित होकर ब्रह्मा में विलीन हो जाती है। इसके बाद वह पुन सृष्टि का प्रारभ करता है। इस प्रकार नैमित्तिक एव महा-प्रलय तथा सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया का चक्र चलता रहता है।

इस वर्णन के विपर्यास में, जैनों के अनुसार विश्व का यह चक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के रूप में निरंतर प्रकृत्या ही चलता रहता है। अवसर्पिणी काल के अन्त में 49 दिन में खंड प्रलय के समान स्थिति बनती है लेकिन इसके बाद 35 दिन में जीवन पुन पूर्ववत् हो जाता हैं।

आधुनिक वैज्ञानिको के अनुसार, विश्व में एन्ट्रोपी की निरतर वृद्धि से, सौर ऊर्जा के निरतर विकिरण के कारण सूर्य के द्रव्यमान के शून्य होने से अथवा उत्तरी ध्रुव या दक्षिणी ध्रुवो के घूर्णन के कारण एक दूसरे का स्थान ग्रहण करने से विश्व में प्रलय सभावित हैं। उदाहरणार्थ, ध्रुवों के घूर्णन से पृथ्वी के चुबकीय क्षेत्र में विचलन होता है और जब एक ध्रुव दूसरे ध्रुवो पर पहुँचता है, तब यह क्षेत्र शून्य चुबकीय शक्ति के माध्यम से आगे विरोधी दिशा में परिवर्तित होता है। ध्रुवो का इस प्रकार का घूर्णन साढे सात लाख वर्ष में एक बार होता है। इस प्रकार का पिछला घूर्णन कोई सात लाख वर्ष पूर्व हुआ था। उस समय चुंबकीय क्षेत्र के अभाव में कास्मिक किरणें पृथ्वी पर पडी और प्रलय छा गया था। अब 50,000 वर्ष बाद फिर ऐसी ही स्थिति सभव है। जैन शास्त्रो में भी इसी प्रकार का एक अनुमान लगाया गया है। विश्व के इस प्रलय की एक सूचना 30 जून 1908 में रूस में हुये एक विशिष्ट विस्फोट से भी मिलती है जिसमें एक आकाशीय प्रतिपिंड भूतल से टकरा गया होगा। यह पिंड-प्रतिपिंड की टक्कर कभी भी हो सकती है। लेकिन जैन मान्यता के अनुसार यह खड प्रलय ही होगा, विश्व का अन्त नही। इस प्रकार विश्व अनादि और अनन्त है जिसमें सृष्टि एव खंड प्रलय का चक्र चलता रहता है।

PROPERTIES OF MATTER IN JAIN CANNONS

N. L. Jain

Girls College, Rewa, M. P

Introduction

Jain philosophy is noted for its principles of polyviews to explain the plurality of realities in contrast to Vedantins Scholars have taken large pains to establish the priority or posterioty of these Indian philosophies but no definiteness has accrued on this point as yet as large number and variety of statements are found in pre-Christian era literature supporting both types of opinions Nevertheless, a logical point may be stated that adwaita grew out of plurality to explain and sustain some phenomena on intellectual scale It is now agreed[1] that Uttaradhyayan precedes the Vaiśesika philosophy which is followed by other Jaina philosophical cannons just at the beginning of Christian era This paper is concerned with some of the physical contents developed during the period and later on. It will deal with only three important aspects of these contents, viz (i) methods of obtaining knowledge (ii) definition of and (iii) attributes of matter and evaluation with respect to the current views on them The author feels that no proper and systematic attempt has been made in this direction and would feel pleasure if this paper leads to some serious studies in this regard to critically evaluate and supplement the points raised in this article

Methods of obtaining knowledge

There are two words "Janadi and Passadi" in literature associated with knowledge. Tatia[2] has shown that there was not much difference in these two activities in early days as they were supposed to be simultaneous Later on, it was surmised that sensory perception preceded the mental conception. Thus Passadi became the more important part of obtaining knowledge of material world. Umaswati[3] has pointed out two ways of sensory perception-Pramanas and nayas. The naya method consists of studying an object with respect to a particular aspect, mode or state As a substance has many aspects, there may be many nayas to study it Pramāna is a way of all inclusive study of the object. Thus it will synthesize all the analytical studies by naya method Realistically, it is not possible to do so in normal state, hence naya method is the chief source for obtaining knowledge for the human beings Actually, the naya method follows the same methods as used in pramana studies. It has been pointed out that the knowledge about an object can be ascertained through six categories description, ownership, cause, substratum, duration and classification There are other ways of expressing these

categories without much difference from these six. All these means employ both the above methods of studies.

Whatever the method employed, it has two aspects: the study may be intutional or sensual The technical words used for these are Pratyksha and paroksha respectively These words have different meanings in Jain philosophy in contrast to other philosophies like Vaiśeṣika leading to some confusion in understanding by others. Akalanka removed this discrepancy by classifying the intutional method in two forms—one by pure intution and other by sensual perception. The latter he called sensual intution caused by senses and mind. It was regarded upto a stage it was not expressed through words What other systems presume as pratykṣa, Jainas call it as Paroksha and Laukika Pratyakṣa. This includes sensory cognition, resemblance, recognition, induction and deduction and recording for onward transmission for advancement of knowledge The aforesaid six categories for obtaining knowledge are thus rendered possible, by these methods On close examination of these methods, one finds that sensual perception is the one without which others may not be possible The importance of sensual perception, therefore, is thus self evident for knowledge It will thus be interesting to see how this cognition is obtained and what are the steps involved in it ? It has also been pointed out that besides senses and mind, external causes like light etc. are also partly responsible for the process. As this knowledge depends on senses, mind and light etc., it is called Parokṣa

Umaswati[3] has stated that sensual cognition is obtained through senses first and mind next There are four steps involved in this type of cognition apprehension (awagraha), speculation (Iha), perceptual judgement (Awaya) and retention (Dharana) In the first stage of apprehension, the object comes in contact with sensory organs and one feels there is something or sees it One has only a crude idea about what it could be ? Actually, this stage has two steps depending on the senses utilised for contact with the object If senses are other than eyes and mind, one will have indistinct apprehension or Darśana first and distinct apprehension next With eyes and mind, one has always a distinct apprehension. Observation is the current name for this stage. The type of observation leads to qualify our knowledge. More acute and keen the observation, more fruitful and exact will be our knowledge. In the olden days, experiments were rare and only nature and its various aspects were observed

The next stage is to have more observation to analyse about the nature of the object. This requires the use of mental faculty in the process of knowledge Hence the connection of senses and mind is clearly recognised. It is clear that larger the type and number of observations, better will be their analysis for proper judgement. Pujyapada[5] exemplifies these two stages. To observe a white thing is the first stage while to analyse whether it is a flag or a bird—is the next stage. For this, one has to have more particulars about the object.

The third stage is the decisive or inferential stage With the help of many particulars obtained about a white flag or a bird on the spot or from independant sources, one infers it decisively to be a bird as it flies up and down or flaps its wings The process involves analytical studies of observations, classifying or seperating them under various heads Similar observations are put under same head and others under different heads The decision is taken after analysing the observed points and applying them to the object The name given to this stage is Avaya Some have called it Apaya as it excludes others for deciding on one object.

The fourth stage for the process of knowing is to retain what already had been decisively learnt in stage 3 This retention leads to communication and application of this knowledge to other similar or dis-similar objects This stage is named as Dhārana and its meaning seems to have been expressed in quite a restricted sense It would have been better had it been given a more general view. It seems it has been defined with respect to one object at a time and the same object at the other times Normally, dhārana should mean a valid conception applicable to similar fields If this little better view is taken, it becomes the base for hypothesis in the current terminology A universally applicable hypothesis become a theory or a law The third and fourth processes involve all the mental processes given above for drawing valid decision

The last stage in the knowing process is the preparation of records of the knowledge so obtained These records are meant to learn what has been known and communicate for the future generation It is called Śruta or scriptures having a meaning of heard or seen by previous scholars There is a large amount of discussion about the nature of shruta and their authors It is said that the authors are of two types omniscient and non-omniscient [10] All the present scriptures have been composed by non-omnicient authors on the basis of traditional omniscient authority It may be surmised they do not satisfy the criteria of their direct omniscient authorship They should thus be taken as true records by the scholarly authors of various ages They contain differring views and additional contents in many cases They may thus be subject to modifications for better accuracy of their contents not substantiated by current observation and analysis The idea that old scriptures are all-proof and contain all the knowledge for all the times does not stand srutiny. In this case, there should not be any addition or modification in their contents and the knowledge would become like water in a pond This trend has led India to a trend of non-utilitarian view of pursuance for new knowledge causing her backwardness in recent times in contrast to her earlier competitive position

Both of the above points are untenable in modern world of scientific attitude It presumes that the scriptures are records of existing knowledge which grows like a flowing river where modifications and new additions are always possible subject to the condition that they are obtained through the above processes. This fact is

corroborated by the present scriptures themselves. The evolution of two varieties of pratyaksha, mention of time as reality by some[6], different ways of expressing the eight fundamental qualities of a household and the variety of opinions regarding the functioning of eyes and other senses with or without the contact with the object expressed by pūjyapāda and Virsen[8] are but some examples. In fact it would be surprising how the knowledge could be supposed to be full well known when the world is always changing and developing out of curious facts observed constantly.

The scriptures define knowledge as sakar or with details with the first sub-stage of sensual observation without details has been called preception or Darśana (later on this word has a better developed meaning) Thus, the process of knowledge consists of mind activity associated with sensual or experimental observations This is nothing but the other way of defining the word science of the current terminology as it is also a resultant of combination of intellectual activity coherent with sensual observation The above mentioned scriptural processes of obtaining knowledge are just akin to the same steps scientific studies have been following since their inception Experimental observations, characterisation or classification and hypothesization or theorisation—is the generally accepted scientific approach in a cyclic way Thus, senses (or instruments) aided by mental activity is also the method of scientific studies This makes it clear that even in olden days too, scientific methods were used for learning about things around This method has been elaborated by Umaswati and his commentators have pointed out as many as 336 ways of sensory perceptions about things. It is presumed that the knowledge obtained by these would be correct and will have no debatable features unless the senses themselves are in abnormal situation. This being the basis of scriptural contents, it should be quite interesting to compare the knowledge gained on some common objects like matter with the current knowledge about them Normally, the methods being the same, there should not be much difference between the two except in some minor or finer details. As set forth previously, the definition of matter and its attributes will be examined with this perspective in this paper

Factors or means for obtaining knowledge :—Of all the stages described above, the first stage is of prime importance It requires that there should at least be two factors for the process of knowing about a material thing These are the senses and the matter itself which is to be known about To make a preliminary contact between the two, factors like light should also be there The senses include mind also Both of these have two varieties, physical and psychical. The contact occurs between physical senses and the matter in the first instance This encourages the psychical sense to transfer the first information to the brain for cognition The Nyaya philosophy has accepted this commonsense view of obtaining the knowledge. According to it, knowledge is obtained due to all the intrinsic and extrinsic factors and contact between senses and matter. But the Jainas have distinctly divided these factors in two categories The primary factor is the knower or soul himself as

if the knower is not there, there will be no knowledge whatsoever despite all other factors working. Other factors are said to be secondary. They help the knower in the body to obtain the knowledge about a thing. Thus all the external factors like senses, mind, light and even the matter itself have been taken as secondary, thus disregarding the Nyaya view. The idea of primary and secondary factors of the Jainas in this connection gives an impression of their deeper insight into the process They have also said that the knowledge can be valid only when the inner knower is there. It could be intrinsically valid. However, the validity of the knowledge could be extrinsic also like that from the a gamic sources or works of the scholars. Proper examples have been given to illustrate this point of view.

Despite this more accute insight about the classification of factors for obtaining the knowledge, it must be pointed out that there are some statements made for refutation of Nyaya view which require elaboration. In refuting the sense-matter point of view, two main points have been raised. Firstly, senses like eyes and mind do not have contact with matter. Secondly, the omniscientist soul has knowledge of past and future besides the present. This cannot be possible with contact point of view Hence, the omniscientificity, which is an agamic fact, goes against sense-matter contact theory It has been pointed out that the eye cannot be called to work in the complete obsence of contact with the matter. The contact of eye with matter is caused through the light rays and their straight path. Thus, the working of the eye may not require direct contact with matter but there is definitely an indirect contact without which it will not work like camera. Thus, the eye works with indirect contact or some other different type of contact from the other senses. Thus non-contactablity of the eye should be redifined as to mean an indirect or some sort of contact (as prefix A has both meanings, partial or negative). This will eliminate the discrepancy regarding the working of the eye. This also applies to dark field which is not the absence of light but a light which is beyond the visible range of human beings. This is the light which is in the visible range of some animals like cats and owls. Its details have been discussed elsewhere.

The physical mind may be equated to the brain of the present. This is a power house and store house as well for the nervous and motor activities It will work bothways, i. e. when sensations are brought to it through senses and when they arise due to mental processes covering past, present and future experiences Of course, the working of mind in more indirect in comparision to the eye Sometimes it may be completely indirect.

Some Indian philosophers have postulated the totality of factors—senses, matter, knower—as leading to true knowledge Jainas have criticised these views on the basis of the fact that though they lead to knowledge, they are not direct factors for it. These views have been dealt with more intellectually rather than factually. Nevertheless, their secondary role in the process has been accepted by the Jaina philosophers.

Definition of Matter : General and special Attributes

Jainas assume the world as real consisting of six realities These have been called by various names like Tattva, Tattwārtha, Artha, Padārtha etc. These names include all terms used in other philosophies like the padarthas of Vaiśeṣika, Tattvas of Sāṅkhyas and the like with specific definitions The realities are also termed as Dravyas which characterises them. They may be material like earth or non-material like soul or space. Despite this variety, they have some general characteristics which are found in all the dravyas Basically, Dravyas are only two—those with consciousness and without it but their inter-relationships have led to their classifications into the Tattvas—seven in number or Padārthas—nine in number at later periods. Sat is another name for dravyas added during post-agamic periods. All these Dravyas have the same general characteristics. Out of the two basic dravyas, the one without consciousness-ajiva seems to be more important as it is responsible for a large part of the worldly phenomena. The ajivas have also two varieties-material and non-material We will be concerned here with material ajivas or matter only as we can directly study them by many methods today and compare and contrast our knowledge with the scriptures

Whatever be the type of reality, it has been defined in various technical terms leading to the same meaning Any reality could be defined in two ways it has some general attributes and it also has some special attributes The reality cannot exist without these attributes. The general properties are called common propertie , existential similarities, tiryak samanya, gunas or coexistant qualities Rajvartik mentions eleven such qualities of a reality. However[8], Devsen and Mallivadi[9] have given eight such characteristics details for which are available. They are existence or permanence, motion, changeablity, knowablity, particulate nature, visiblity (or otherwise), non-consciousness (or otherwise) and agurulaghutva (individuality)

The other type of properties contained in the realities are called distinctive or specific properties. They are meant for differentiating one substance from another Like the general ones, these also have various names Viśesas, Urdhvta-samanya, Swarūpāstitva or Paryāyas or modifications. There are sixteen such specific properties out of which only six are attributed to material ajīva world, touch, taste, smell, colour, shape and insensiblity Thus, any reality may be defined as consisting of some general and some specific qualities. It means that a reality in, jaina philosophy is neither a particularity nor a universality exclusively but it is a synthasis of both these types as Mehta[10] has pointed out This has been alternatively stated as a reality consists of gunas and paryāyas or sāmānya and viśeṣa type of attributes. Padmarajaiya[11] has qualified these attributes with their static and dynamic nature and has suggested that a reality consists of a blend of both of them. It does not have an exclusive nature. It has inclusive nature. This Jaina definition of reality has accomodated all the exclusivist attitudes and has made the definition as accurate as possible

Review of General properties

It will be appropriate here if we could compare the general definition with the modern scientific definition of matter. Scientists define matter with three common attributes (a) It should have weight (b) It should occupy space, i. e. it should have a form or volume and (c) It must be subject to our experience and knowledge. As we have seen, Jainas have counted only two of them as common properties They have not counted weight as a characteristic property, but they have many others which the scientific definition does not have. Comparatively, the scientific definition of matter seems to be too crude to be called accurate The definition is more illustrative of the basic general properties indicating the particulate nature, constant motion, changeablity, insensibility and other coexisting properties, The non-inclusion of weight as a common property by the jainas might be due to the fact that they assumed energies like light, heat etc. to be material which did not seem to possess the property of weight together with other non-material realities Though there is a property called agurulaghutva (neither heavy nor light) indicating some idea about possession of very small weight which could undergo infinitesmal changes, but the basic parmanu of matter has described as devoid of weight. Recent researches, however suggest that however small it might be, energies must have weight euivalent as per Einstein's equation Even if we presume Jain's[15] point of equating electrons as atoms, they have already been weighted The scientists are trying to detect particles like nutrinos or gravitational energy and they have every hope that even in these cases, this equation will hold and they will prove it to be material Thus the weightlessness should be taken to mean very small or negligible weight rather than complete absence of weight

Muni Mahendrakumarji[12] 11 has pointed out that the scriptures describe the basic unit of matter-parmanu of Jain philosophy to be of two varieties—one with four tactile qualities and the other with eight tactile qualities. The first type does have no weight property while the other has it This only means that one of these (the first one) should be energy while the other should be matter of the present It can be surmised that interconversion of these types must be occurring in nature especially the energy into matter The modern scientists are trying to explain the process Anyhow, whether it is energy or matter, both must have shape or visibility and thus weight also howsoever small it may be According to Muniji, this point has a capability of solving many intricate problems arising out of various theories of Universe

The other common properties not indicated in the scientific definition of matter are very important as they have a clear concept of law of conservation of mass and energy and kinetic state of basic unit This point has been elaborated elsewhere [14] The modern scientific world of East and West is still unaware of these cannonical contents and history of Chemistry books have no mention about them as yet. An effort should be made to let these facts be known through proper means.

In addition to this, it must be added that the scientific definition of matter must be made more illustrative of the general nature of matter As todate, it seems to be quite incomplete.

Sp ecial Attributes of Matter

As pointed out, there are six basic specifics of matter mentioned in scriptures. All are sense perceptible Each of the five of these six has been subclassified as below with a mention of innumerable varieties of each class

1	Touch or tactile qualities	8	Hot-cold, smooth-non-smooth, light-heavy, hard-soft
2	Taste	5	Sour, sweet, astringent, bitter, and acidic
3	Smell	2	good and bad
4	Color	5	Black, blue, yellow, white and red
5.	Shape	10	Circular, traingular, point space, hexagonal, symmetrical, unsymmetrical, upper and lower part symmetrical, dwarf, hunchbacked

It has been stated earlier that the tactile qualities refer to temperature, tactile or electrical nature, density and hardness Jain[15] has referred the attributes of smoothness and nonsmoothness as representing crystalline nature This does not seem to be correct as it should be included either in shape or color. In exemplifying the two, goats milk and sand[16] have been mentioned which also do not lend support to this view. Rajvartik mentions liquidity, solidification lubrication and density as other properties Besides the above, there are many tactile qualities of matter known today They refer to physical or mechanical strengh of gross material bodies These include pliablity, plasticity, ductility, elasticity and others These have become important in modern world as they decide the utility of material for specific purposes. Viscosity, surface tension etc. are some other properties of importance for fluids These attributes are not only qualitatively described today but a complete quantitative treatment of each of them is available The scriptures do not have any quantitative treatment in this regard The Vaisesikas[20] seem to face a little better as they have atleast defined and classified gravitation, viscosity, fluidity, elasticity, velocity and other attributes of differing character

The science of tasting[17] has become quite advanced today in contrast to the five taste theory Haribhadra[21] has removed one discrepancy in this by saying "salty taste should be included in sweet" for non-inclusion of a specific salty taste in scriptures There seems to be no explanation regarding how taste is experienced by man Scientists are now agreeing to four tastes only whose innumerable varieties are experienced by about 10,000 taste buds in the tongue The scientists also opine that normal taste sensation is a combined effect of taste and smell organs. This requires that two sensed jivas might be actually three sensed This has to be

investigated properly. Structural studies of tasteful materials have also shown some promising results.

The science of smelling[17] has also made a great stride over the scriptural period, Perfumery science and technology has aided this advance Though classification of odors is still arbitratory, still nine classes of odors have now been recognised Their smelling quality can also be quantitatively expressed in terms of olfactory coefficients Structure versus odors relationships have also been observed in many cases The modern age seems to have gone much deeper in the knowledge of taste and smell attributes.

The color feeling is a light phenomena. Modern science agreed to seven rainbow colors in the past which excludes white and black colors Now they have thought of basic colors and they are only three Other colors are just various permutations and combinations of them. The scriptures seem to express the commonly experienced colors rather than basic colors Now quite a good knowledge has been obtained about the experience of color and appreciation The scriptural fact that colors have innumerable varieties in fully substantiated by current experiments as each color represents a specific frequency of light

Jaina philosophy maintains that the above four qualities are always coexisting If any one of them is clear, the others may also be there, sometimes in an indistinct form This statement is a great progress over the Vaisesikas who have a deffering opinion about it The Jaina view is substantiated by current experimental findings

Sciptures classify shapes in many ways but the total types of shapes counted seem to be ten in number in various sources Nowadays, about 232 types of shapes are agreed and each has an example[18]. This is dealt with in geometry and crystallography which has grown enormously Conditions have been ascertained to obtain any specific type of shape or even a single crystal by experiment The scriptural descriptions suggest that the shapes mentioned therein belong to natural substances. It is now also possible to change their natural shapes by various technics Theoretical basis of shapes has also been prepared

Modifications in Attributes

All the specific attributes described above undergo modifications These are called Paryayas They are not coexistant like general attributes. For example, color will always be there in matter, but yellow or green color is changeable Thus, attributes are said to be permanent while their modification are temporary. Thus the matter will always be associated with attributes and their modifications These modifications are called consecutive properties Grossness, fineness, binding and dividing capacity are found in material bodies while heat, cold, light, sound, shadow, darkness are caused by energies. The material modifications are described in literatures The modifications of energy

have also been dealt with seperately.[18,19] All these modifications take place in two ways indistinctly and distinctly. Indistinct modifications are comparatively momentary while distinct modifications are clearly describable and somewhat more durable. These are caused by self and by others The change of color, formation of molecules, formation of curd from milk and the like are all modifications due to non-self causes. These are quite common even in our daily life. In some cases, the cause of the change has also been mentioned in scriptures. New age has not only identified the causes but it has utilised them in many more fields. It must be added that some of these modifications are chemical while others are physical only There are innumerable modifications in matter substantiable today.

Conclusion

From the above description, it might be clear that philosophical contents of the Jainas stand in a high position where concepts and intellectual maturity is concerned We see this in the theory of obtaining knowledge and definition of matter which are very sound in contrast with current scientific views This is also the case with other concepts.[18] But when one applies these concepts to study the material objects and their properties, one feels that the current knowledge about the differentiating attributes of matter has gone quite ahead of scripturcal period But here the fortunate situation is that the addition of the knowledge has been supplementary rather than contradictory in most of the cases This reflects upon our scholar's keen and accurate observation and analytical capacity It can be confidently said that had there been instruments of today and a little less aversion of physical labor for experimentation, our seers would have stood the current times. The above discussion also points out what was known in scriptural age and the level of our knowledge we have moved in the current age

References

1 Sukhlal Sanghavi, Pt , Tattwärthsütra, 3rd ed , PVRI, Varanasi, 1976.

2. Nathmal Tatia, Tulsi Pragya, Dec, 78, Vishwabharati Ladnun, 1978

3. Phulchand, Pt. Tattwarthsutra, Varni Granthmala, Varanasi, 1953.

4 Mahendrakumar Nyayacharya, Jain Darshan, ibid, 1966

5. Pujyapad Acharya, Sarvarthasiddhi, Bharatiya Gyanpith, Kashi, 1971.

6. Dewardhi Kshamashraman, Bhagvati Sutra, Shastrodhar Samiti, Rajkot, 1961.

7. Akalanka Deva, Tattwarth Rajvartika Vol. 1, Bhartiya Gyanpith, Kashi, 1953.

8. Devsen Acharya, Alap Paddhati, Shantivir Jain Samsthan, Mahavirji, 1970.

9. Mallivadi Acharya, Nayachakra.

10. Mohanlal Mehta, Outlines of Jain Philosophy, Jain Mission Society, 1954.
11. Padmarajaiya, YJ, Jain Theories of Reality and knowledge, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay, 1963.
12. Muni Mahendrakumar II, in SC Diwakar Abhinandan Grantha, Jabalpur, 1976.
13. Jain, N. L. ibid,
14. Jain, N L., in Jinavani, July-Sept , 1973, Jaipur.
15 Jain, GR., Cosmology, Old and New, Bharatiya Gyanpitha, Delhi, 1975.
16. Jain, SA , Reality, Vir Shasan Sangha, Calcutta, 1960
17. Charles H West and Norman B Taylor . Physiological Basis of Medical Practice, Science Book Agency, Calcutta, 1967.
18 Mee, AJ, Physical Chemistry, BLBS, London, 1964
19 Jain, N. L. Physical contents in Jain Cannons, Magadh University Seminar, 1975.
20 Annambhatta, Tark Sangraha, Chhannulal Gyanchand, Banaras, 1934.
21 Haribhadra Suri, Saddarśana Samuccaya, Bhartiya Gyanpith, Banaras, 1970

लेखसार

जैन आगमों में द्रव्य के गुण

एम० एल० जैन, गर्ल्स कालेज, रीवा, म० प्र०

प्रस्तुत लेख में जैनागमों में वर्णित भौतिक जगत के वर्णन से सबद्ध तीन प्रमुख विषयों—ज्ञान-प्राप्ति के उपाय, द्रव्य की परिभाषा और उसके गुण—पर इस आशा से चर्चा की गई है कि इससे अन्य विद्वानो को इस विषय में मनन और प्रकाशन के लिये प्रेरणा मिले।

ज्ञान प्राप्ति के उपाय—ज्ञान के सबध में जाणदि और पस्सदि शब्दो का प्रयोग आगमो में आया है। इसमें पस्सदि का सबध इन्द्रियों से है और जाणदि का मन से। यह स्पष्ट है कि मानसिक क्रिया के पूर्व ऐन्द्रिय ज्ञान अत्यत आवश्यक है। इस इन्द्रियज्ञान की प्राप्ति प्रमाण और नय से होती है। 'सकलादेश प्रमाणाधीन, नयस्तु विकलादेश।'' इस ज्ञान को निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और वर्गीकरण के रूप में छह प्रकार से अथवा 'सत्सङ्ख्यादि' के रूप में आठ प्रकार से प्राप्त किया जाता है। यह ज्ञान ऐन्द्रियक (परोक्ष) भी हो सकता है और अनैन्द्रियक (प्रत्यक्ष) भी हो सकता है। अकलक के युग से लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के चार चरण होते हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। आज की भाषा

में इन चरणों को निरीक्षण, परीक्षण या विश्लेषण, वर्गीकरण एवं संप्रसारण कहा जा सकता है। इस प्रत्यक्ष प्राप्त ज्ञान को 'श्रुत' में निबद्ध किया जाता है। आज का 'श्रुत' प्राचीन विद्वानों के ज्ञान और अनुभव को निरूपित करता है। इनमें अनेक उत्तरवर्ती श्रुतों में अनेक प्रकरणों में भिन्न-भिन्न मत एवं नयी चीजें पाई जाती हैं। इस प्रकार श्रुत में पर्याप्त संशोधनीयता दृष्टिगोचर होती है। इससे प्रकट होता है कि ज्ञान एक निरन्तर वर्धमान प्रवाह है।

वैज्ञानिक अध्ययन भी इन्द्रिय और मन के द्वारा उपरोक्त अनुरूपी चरणों में किया जाता है। इन्द्रिय ज्ञान के तो शास्त्रों में ३३६ भेद बताये हैं। अतः ज्ञानप्राप्ति की विधियों की समरूपता से शास्त्रीय विवरणों की आधुनिक विवरणों से तुलना पर्याप्त मनोरंजक विषय है। यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि ज्ञान प्राप्ति के साधनों में नैयायिकादि दार्शनिकों ने जहाँ वस्तु, इन्द्रिय और प्रकाश आदि अनेक कारण माने हैं, वहीं जैनों ने इन्हें प्राथमिक (आत्मा) और द्वितीयक कारणों के रूप में वर्गीकृत कर अपनी गहन अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है।

द्रव्य की परिभाषा : सामान्य और विशेष गुण—शास्त्रों में द्रव्य को अनेक नामों से निरूपित किया गया है। छह द्रव्यों में यहाँ अजीव-पुद्गल की चर्चा ही मुख्यतः की गई है क्योंकि वह दृश्य होता है और उसका अध्ययन इन्द्रियों एवं यंत्रों से सम्भव है। इसमें मुख्यत. दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य गुणों की सख्या आठ या ग्यारह बताई गई है। ये सभी मूर्त-अमूर्त द्रव्यों में पाये जाते हैं। विशेष गुणों की सख्या सोलह बताई गई है। इनमें से अजीव में स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, संस्थान और अचेतना—छह विशेष गुण पाये जाते हैं। प्रस्तुत निबंध में अनेक सन्दर्भों के आधार पर उपरोक्त सामान्य और विशेष गुणो का तुलनात्मक समीक्षण और परीक्षण प्रस्तुत किया गया है।

पुद्गल षट्त्रिंशिका : एक अध्ययन

प्रेमलाल शर्मा और शक्तिधर शर्मा, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला (पं०)

भौतिक जगत्के सूक्ष्म तत्वोको खोजनेमें जैन दार्शनिकोने पर्याप्त प्रयत्न किये हैं। उनके अनुसार विश्व छह द्रव्यो—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-से बना है। इनमें पाँच अस्तिकाय हैं, बहुप्रदेशी हैं। कालद्रव्य इनसे भिन्न है। इन छह द्रव्योमें पुद्गलके विषयमें रत्नसिंह सूरिने छत्तीस गाथायें लिखी थी जिसे 'पुद्गल षट्त्रिंशिका'के रूपमे जाना जाता है। पुद्गल कोशादिमें इस विषयमें विवरण दिया गया है, पर वह अनुवाद मात्र ही रह गया है। उन्हें समझानेके लिये जितना प्रयत्न चाहिये था, उतना नही किया गया। फलत यहाँ उसे यथाशक्ति निरूपित करनेका प्रयास किया गया है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके सापेक्ष पुद्गल सप्रदेशी तथा अप्रदेशी होते हैं। जो पुद्गल परमाणु परस्पर असयुक्त होते हैं, वे अप्रदेशी होते हैं। एक आकाश प्रदेशमें व्याप्त होने वाले पुद्गल क्षेत्र सापेक्ष अप्रदेशी कहलाते है। एक समयमें स्थिति वाले पुद्गल या पुद्गल स्कन्ध काल-सापेक्ष अप्रदेशी होते है। एक ही रक्तपीतादि परिणामको धारण करनेवाले पुद्गल भावसापेक्ष अप्रदेशी होते है। (२,३)

भावसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोंसे कालसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोका असंख्यातगुणत्व

भाव सापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलो से कालसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गल असख्यगुण होते है क्योकि वर्ण, गध, रस, स्पर्श और सूक्ष्म बादरादि परिणामोंमे परिणत प्रत्येक परिणाममें काल-प्रदेशत्व पाया जाता है।

भावसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गल कालसापेक्ष अप्रदेशी तथा सप्रदेशी हो सकते है। इमी प्रकार भावसापेक्ष सप्रदेशी पुद्गल कालसापेक्ष अप्रदशी भी हो सकते है। यह सब एक समयमे स्थिति तथा दो-तीन आदि समयोमें स्थितिके विचारसे होता है।

काल-सापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोकी अनन्त राशियाँ

एक गुण कृष्णादि पुद्गलसे लेकर अनन्तगुण कृष्णादि पुद्गलोके मध्य एक-एक गुणस्थानक बनते जाते हैं। इन गुणस्थानको में कालसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोकी एक-एक राशि होती है। अत गुणस्थानको के अनन्त होनेसे काल-अप्रदेशियो की राशि भी अनत ही होती है। (५-७)

गुणस्थानकोके अनन्त होनेपर भी काल-अप्रदेशियोका असख्य गुणत्व ही होता है

यद्यपि गुणस्थानकोके समान काल-अप्रदेशियोकी राशि भी अनन्त ही होगी, तथापि इनका गुणत्व असख्यात ही होगा क्योकि एक गुण कृष्णादियोके सापेक्ष जो अनतगुणित कृष्णादियोकी राशि है, वह भी 'अनन्त राशि' के अनन्ततम भागमें ही विद्यमान रहती है। अत भावसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोंसे काल-सापेक्ष अप्रदेशी पुद्गल असंख्यातगुणे ही सिद्ध होते है। (८)

अवगाहनाके विचारसे काल-अप्रदेशत्व

स्तोक (अल्प) नभ प्रदेशोमें अवगाहना करने वाले जो पुद्गल स्कध 'एक समय'में अवस्थिति करके फिर अनेको नभ प्रदेशोमें व्याप्त होते हैं और एक समयकी ही स्थितिवाले होते हैं, तथा जो पुद्गल अनेक नभ प्रदेशोमें व्याप्त होकर एक समयमें स्थिति करते हैं और पुन स्तोक नभ प्रदेशोमें व्याप्त होते हुए

एक समयकी स्थितिवाले होते हैं, वे पुद्गल स्कंध सकोच और विकोच रूप अवगाहनाके विचारसे काल-सापेक्ष अप्रदेशी होते हैं। (११)

जितने भी परिणाम होते हैं, उन सभीमें परिणत 'एक समय'में स्थितिवाले पुद्गल स्कध या पुद्गल काल-सापेक्ष अप्रदेशी होते हैं। अत भावसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोंसे कालसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गल असख्य गुण सिद्ध होते हैं। (१२,१३)

काल-अप्रदेशी पुद्गलोसे द्रव्य-अप्रदेशी पुद्गल असंख्य गुणे होते हैं

काल-सापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलों या पुद्गल-स्कधोंसे द्रव्य-सापेक्ष अप्रदेशी पुद्गल (परमाणु) असख्य गुणे होते हैं। इन पुद्गलोकी चार राशियाँ मानी गई हैं

१ अणुओकी राशि, २ संख्यात-अणु-स्कधोकी राशि, ३. असख्यात-अणु-स्कधोकी राशि, ४. अनताणुस्कधोंकी राशि।

अनन्त अणु-स्कधोकी ये चार राशियाँ हैं। जिन जिन सख्यात-अणु-स्कधोमें प्रदेशरूप परमाणु हैं, वे उन सख्यात-अणुस्कन्धोंके सख्येयतम भागमें विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार, जिन स्कन्धोमें असख्येय अणु विद्यमान रहते हैं, वे उन असख्येयाणुस्कन्धोंके असख्येयतम भागमें विद्यमान रहते हैं। कल्पना कीजिये कि परमाणुओकी राशि एक-सौ है। उसका सख्येयतम भाग बीस, असख्येयतम भाग दस तथा अनततम भाग पाँच है। इस प्रक्रियासे द्व्यणुक स्कन्धसे लेकर सख्याताणुस्कन्ध पर्यन्त उस स्कन्धके सापेक्ष सख्येयतम भागमें अणु विद्यमान रहता है। इसी प्रकार असख्येयतमाणु-स्कधके विषयमें जानना चाहिये। वस्तुत परमाणु अनत है। सख्याताणुस्कन्धसे असख्यात या अनत अणुस्कन्धोंकी उत्पत्ति परिकल्पित की जाती है। अन्यथा सख्याताणुस्कन्धके सापेक्ष असख्येय भाग या अनत भागमें अणु नही होगे। अत काल सापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोसे द्रव्य सापेक्ष अप्रदेशी पुद्गल अनंत होते हैं। (१७-१९)

द्रव्य-अप्रदेशी पुद्गलोसे क्षेत्र-अप्रदेशी पुद्गल असंख्यगुण होते हैं

द्रव्यसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोंसे क्षेत्रसापेक्ष अप्रदेशी पुद्गल असख्यगुणे होते हैं क्योकि सभी पुद्गल "एक-एक आकाश प्रदेश"में व्याप्त होनेकी स्थितिमें क्षेत्रसापेक्ष अप्रदेशी हो जाते है। इनसे क्षेत्रसापेक्ष सप्रदेशी पुद्गल असख्यगुणे होते हैं क्योकि सप्रदेशियोके अवगाहनास्थान अधिक होते हैं। इनके अधिक होनेसे इनमें उतने ही अधिक परमाणु या पुद्गल स्कन्ध समा सकते हैं। अत वे क्षेत्र-अप्रदेशियोंसे असख्यगुणे है। (२०-२२)।

वैपरीत्यसे सप्रदेशी पुद्गलोंका विशेषाधिकत्व

अभी अप्रदेशी पुद्गल विवेचनमें 'भाव' को आदिमें रखा गया था। परन्तु सप्रदेशी पुद्गल विवेचनमें क्षेत्रको आगे रखा जाता है। अत क्षेत्रसापेक्ष सप्रदेशी पुद्गलोसे द्रव्यसापेक्ष सप्रदेशी पुद्गल विशेषाधिक होते हैं। द्रव्यसापेक्ष सप्रदेशियोसे कालसापेक्ष विशेषाधिक होते हैं। कालसापेक्ष सप्रदेशियोसे भाव-सापेक्ष सप्रदेशी विशेषाधिक होते है। इसका कारण यह है कि भाव, काल, द्रव्य और क्षेत्र सापेक्ष अप्रदेशित्वमें क्रमश जितनी सख्या बढ़ती है, उतनी ही सख्या सप्रदेशित्व अवस्थामें घट जाया करती है। कल्पना कीजिये—एक लाख पुद्गल है। उनमे भाव, काल, द्रव्य और क्षेत्र सापेक्ष अप्रदेशी पुद्गलोंकी सख्या क्रमश एक, दो, पाँच और दस हजार है। परन्तु सप्रदेशित्व अवस्थामे उतनी ही सख्याके घट जानेसे भाव, काल, द्रव्य और क्षेत्रसापेक्ष सप्रदेशी पुद्गलोकी सख्या क्रमश ९९,९८,९५ और ९० हजार हो जायगी। इस दृष्टिसे जैसे भी सभव हो, सप्रदेशी-अप्रदेशी पुद्गलोका अर्थोपन्यास करना चाहिये। यहाँ केवल कल्पनाके रूप ही पुद्गलों की सख्या एक लाख मानी गई है। वस्तुत वह तो अनंत ही है। (२४-३६) ब्रैकेटमें दी हुई सख्यायें गाथाक्रमांकके निर्देश है। ●

जैन साहित्यमें संख्या तथा संकलनादिसूचक संकेत

डॉ० मुकुटबिहारी लाल अग्रवाल, आगरा, (उ० प्र०)

आज विज्ञानका युग है। आजका जिज्ञासु प्रतिपल नवीन खोज एव उपलब्धियोको ज्ञात करनेमें बिकल है। यदि मानव एक अनन्त आकाशकी नीलिमा, नक्षत्र तथा चन्द्रलोकका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करनेमे व्यस्त है, तो दूसरी ओर वह प्राचीन साहित्य तथा भूगर्भमे छिपे हुए अनन्त रहस्योंको जाननेमें भी सलग्न है।

जैन साहित्य ज्ञानराशिका विपुल भण्डार है। यह विशाल साहित्य यत्र तत्र बिखरा हुआ है। इस साहित्यमें प्रत्येक विषयपर असीम ज्ञानराशि उपलब्ध है। गणितमें भी जैन विद्वान किसीसे पीछे नही रहे। उन्होने इस क्षेत्रमें भी आगे बढकर अपनी सूझ-बूझ तथा क्षमताका परिचय दिया है। उनके इस क्षेत्रमें सराहनीय कार्यका अवलोकन करके जहाँ एक ओर उनकी अलौकिक प्रतिभा, ज्ञान तथा बुद्धिमत्ताका परिचय मिलता है, वही दूसरी ओर आजके गणितके क्षेत्रसे कुछ अलग-थलग तथा आश्चर्यमे डालनेवाली बातें भी मिलती है। लेकिन ये बातें भी ठोस ज्ञान, तर्क तथा बुद्धिमत्ताके धरातल पर आधारित है।

प्रस्तुत निबन्ध जैन साहित्यमे सख्या तथा सकलनादिसूचक सकेतमें इस बातकी जानकारी देनेका प्रयत्न किया गया है कि जैन साहित्यमें सख्या एव उसके सूचक सकेतोका क्या रूप था। जैन साहित्य में इस बातका अध्ययन करनेके साथ ही विषयकी गरिमाको बढानेके लिए तथा जिज्ञासु पाठकोको नवीन दिशाके बोध हेतु जैनेतर साहित्यके साथ तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। आज एकको सख्या में सम्मिलित किया जाता है, परन्तु जैन साहित्यके अध्ययनके पश्चात् यह तथ्य दृष्टिमे आता है कि जैन मनीषियोने एकको सख्याकी कोटिमे नही रक्खा है। आज हम देखते है कि जहाँ बडी-से-बडी सख्या केवल अठारह-उन्नीस अकोकी होती है, वही जैन साहित्यमे दो सौ पचास अको तककी सख्या उपलब्ध है जो जैन विद्वानोकी प्रतिभा तथा अनन्त ज्ञानकी द्योतक है। निबन्धमें इस तथ्यको भी व्यक्त करनेका प्रयास किया गया है कि जैन साहित्यमें सख्या एव अकोकी बनावट किस प्रकार थी जिससे आजका विज्ञ पाठक उस रूपका अध्ययन करनेके पश्चात् इस बातसे परिचित हो सके कि उस समय भी जैन विद्वान गणितके क्षेत्रमे कितने आगे पग बढाकर विश्वको ज्ञानका आलोक विकीर्ण कर रहे थे। गणित सकेतोका आज बडा महत्त्व है क्योंकि इनके ही माध्यमसे गणितके क्षेत्र में आगे पग बढाया जाता है।

संख्याकी परिभाषा

व्याकरणशास्त्रके अनुसार सख्या शब्द स + ख्या + अङ् + टाप्से बना है। व्युत्पत्तिके अनुसार सख्यातेऽनया इति सख्या अर्थात् जिसके द्वारा गणना की जाती है वह सख्या है। शब्दकल्पद्रुमके अनुसार गणनाके व्यवहारमे जो हेतु है, उसे सख्या कहते है। न्यायकोशमें भी इसी प्रकारका कथन है। उसमें लिखा है कि शब्दशास्त्री नियत विषयके परिच्छेदके हेतुको सख्या कहते है। कोशकारोके अतिरिक्त कुछ

गणितज्ञोंने भी सख्याकी परिभाषा की है। लीलावतीके लेखक सुप्रसिद्ध भास्कराचार्यने सख्याको गणनाका आधार कहा है। न्यायशास्त्रियोंने भी सख्याको एक गुण विशेषके रूपमें लिखा है तथा उसकी गणना चौबीस गुणोके अन्तर्गत की है। प्रशस्तपादभाष्यके अनुसार संख्या एकत्व आदि व्यवहारका कारण स्वरूप एक विशिष्ट गुण है। तर्कसग्रहकारने भी व्यक्त किया है।

जैनाचार्योंने भी सख्याकी परिभाषा की है। उनके मतानुसार सख्या वही है जिसके द्वारा वस्तुओंके परिमाणका ज्ञान हो। अभिधानराजेन्द्रमें सख्याकी परिभाषा इस प्रकार है जिसके द्वारा जीवादि पदार्थो का सख्यात्मक ज्ञान होता है, वह सख्या है।[1] आचार्य अकलंकदेवने भी इसी प्रकार लिखा है—जिसका सद्भाव प्रसिद्ध है, उसी पदार्थकी गणना सख्यात, असख्यात तथा अनन्तके रूपसे की जाती है। अत सत्के बाद परिमाण निश्चित करनेवाली सख्याको ग्रहण किया गया है।[2]

एककी गिनती सख्या नही है

जैन साहित्यमे एककी गिनतीको सख्या नही मानते। इस विषयमें अनुयोगद्वारसूत्रके १४६वें सूत्रमें निम्न कथनोपकथन दृष्टिगोचर होता है

प्रश्न—गणना सख्या क्या है ?

उत्तर—एक गणना सख्या नही है। गणना सख्या दोसे प्रारम्भ होती है।[3] ऐसा क्यो है, इसका उत्तर अभिधानराजेन्द्रमे इस प्रकार दिया गया है एककी गिनती सख्या नही है क्योकि एक घटको देखकर यहा घट है, इसकी प्रतीति होती है। उसकी सख्याका ज्ञान नही होता। अथवा दानसमर्पणादि व्यवहार कालमे लोग एक चीजकी गिनती नही करते। कारण चाहे सम्यक् व्यवहारका प्रभाव हो अथवा इस प्रकार गिननेमे अल्पत्वका बोध हो, पर एकको सख्या नही मानते। अतएव सख्याका आरम्भ दोसे होता है।[4]

धवलाकार वीरसेन एव आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्तीके निम्न वचन हैं

गणना अर्थात् गिनती एकसे प्रारम्भ होती है पर सख्याका आरम्भ दोसे होता है। तीन और उससे बडी सख्याको कृति कहा गया है। त्रिलोकसारके टीकाकार माधवचन्द्र त्रैविद्यका भी यही मत है। इनका कथन है कि जिस सख्याके वर्गमेसे मूल घटाकर शेषको वर्ग करनेपर यदि पहले वर्गसे बडी सख्या प्राप्त हो, उसे कृति कहते है। एक और दोमे कृतिका यह लक्षण घटित न होनेसे एक और दो कृति नही है। तीन आदि सख्याओमे उक्त लक्षण घटित होनेके कारणसे सख्यायें कृति कहलाती है। कृतिकी उपरोक्त परिभाषा जैनगणितकी विशेषता है। यह जैनेत्तर ग्रन्थोमें नही मिलती।

जैन साहित्यमे विशाल सख्याएँ

स्थानागसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, अनुयोगद्वारसूत्र, जीवसमास आदिमें कालमानके सन्दर्भमें निम्नलिखित इकाइयोका कथन किया गया है।

पूर्वांग, पूर्व, त्रुटिताग, त्रुटित, उपट्टाग, अट्ट, अबयांग, अवव, हूहूकाग, हूहूक, उत्पलाग, उत्पल, पद्माग, पद्म, नलिनाग, नलिन, अक्षिनिकुराग, अक्षिनिकुर, अयुतांग, अयुत, नयुताग, नयुत, प्रयुताग, प्रयुत, चूलिकाग, चूलिका, शीषप्रहेलिकाग और शीर्षप्रहेलिका।

---

१ राजेन्द्रअभिधान, भाग १, पृ० ६३।

२ तत्त्वार्थवार्तिक, सम्पादक प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५३–१–८, ३।

३ "से किं गणणासखा ? एक्को गणण न उवेइ, दुप्पमिइ सख्या" अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्र १४६।

४ राजेन्द्रअभिधान, भाग ७, पृ० ६७।

एक पूर्वांगका मान ८४ लाख वर्ष है तथा अन्य इकाई अपने पूर्ववालीसे ८४ लाख गुनी बडी है। सबसे बडी इकाई शीर्ष प्रहेलिका है जिसका मान (८४०००००) २८ वर्ष है। यह ध्यान देने योग्य है कि (८४०००००) २८ को विस्तार करने पर १९४ अंककी सख्या प्राप्त होती है।

ज्योतिषकरण्डकमें भी ऐसी एक सूची मिलती है परन्तु वह उपर्युक्त सूचीसे भिन्न है। यह सूची निम्न प्रकार है।[1]

पूर्व, लतांग, लता, महालतांग, महालता, नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन, पद्मांग, पद्म, महापद्मांग, महापद्म, कमलांग, कमल, महाकमलांग, महाकमल, कुदुमांग, कुदुम, महाकुदुमांग, महाकुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, महात्रुटितांग, महात्रुटित, अददांग, अद्द, महाददांग, महादद, हूहूांग, हूहू, महाहूहूांग, महाहहू, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका। इसमें भी प्रत्येक इकाई अपनी पिछली इकाईसे ८४००००० गुनी बडी है। यहां पर शीर्षप्रहेलिका मान (८४०००००) ३६ वर्ष है। इसका विस्तार करने पर २५० अंकोकी सख्या प्राप्त होती है।

अंकोकी लिखावट—ईस से चौथी शताब्दी पूर्व और पहलेके जैन आगमोमें अठारह लिपियोकी सूची दी हुई है[2]। इन लिपियोमें अंकलिपि और गणितलिपि भी सम्मिलित है। डा० विभूतिभूषण दत्तका विचार है कि ये लिपियां इस बातकी सूचना देती हैं कि विभिन्न कार्योंके लिये अंकोकी लिखावट विभिन्न प्रकारकी होती थी। उनका विचार है कि अंकलिपि स्तभो पर खुदाईमे तथा गणितलिपि गणितीय क्रियाओमे प्रयोगकी जाती थी।

प० हीराचन्द्र गौरीशंकर ओझाने लिखा है कि जैन हस्तलिपियोमें ब्राह्मीके अंकोका प्रयोग हुआ है।

जैन हस्तलिपियों में ब्राह्मी के अंक

१	[illegible]
२	[illegible]
३	[illegible]
४	[illegible]
५	[illegible]
६	[illegible]
७	[illegible]
८	[illegible]
९	[illegible]
१०	[illegible]
२०	[illegible]

३०	[illegible]
४०	[illegible]
५०	[illegible]
६०	[illegible]
७०	[illegible]
८०	[illegible]
९०	[illegible]
१००	[illegible]
२००	[illegible]
३००	[illegible]
४००	[illegible]

जैन अंको के आधुनिक आकार

१	[illegible]
२	[illegible]
३	[illegible]
४	[illegible]
५	[illegible]
६	[illegible]
७	[illegible]
८	[illegible]
९	[illegible]
०	[illegible]

१ ज्योतिषकरण्डक, (६४–७१)।

२ समवायांगसूत्र (लगभग ३०० ई० पू०), सूत्र १८, श्यामाचार्य द्वारा रचित, प्रज्ञापनासूत्र, सूत्र १८; आवश्यकनिर्युक्ति, मलमाधारिन हेमचन्द्रकी विशेषावश्यकभाष्यकी टीका (४६४)।

इस सम्बन्धमें उन्होंने वामभागमें प्रदर्शित सारणी भी दी है। इन्होंने जैन अंकोंके आदिम आकारोंकी भी सूची दी है जो दक्षिण भागमें प्रदर्शित की गई है। विभिन्न हस्तलिखित जैन ग्रन्थोंके आधार पर कापडियाने एक विस्तृत तालिका संकलित की है। इससे भी जैन साहित्यमें प्रचलित अंकोंकी बनावटके सम्बन्धमे विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। इन हस्तलिखित ग्रन्थोकी सूची निम्न है

१. निशीथसूत्र, विशेषचूर्ण्यादि (११९४)
२. विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति (शिष्यहिता)
३ पन्यवस्तुक
४ विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति
५ बृहत्कल्पसूत्रचूर्णि
६. ऋषिदन्ताचरित्र
७ निशीथसूत्र (विशेषचूर्ण्यादि (१२९४)
८ पिण्डविशुद्धि
९ उत्तराध्ययनसूत्र
१० बृहत्कल्पसूत्र
११ बृहत्कल्पसूत्रलघुभाष्य
१२ बृहत्कल्पसूत्रचूर्णि
१३ उत्तराध्ययनसूत्र (१३४२)
१४. उत्तराध्ययन सूत्रवृत्ति
१५. चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति (ललितविस्तर)
१६ ललितविस्तरपञ्जिका
१७ मलयगिरीय शब्दानुशासन
१८. सप्ततिका
१९ व्यवहारसूत्रभाष्यटीका
२०. व्यवहारसूत्रादि
२१. आचारांगसूत्रचूर्णि
२२. कपसूत्रादि।

संकलनादि सूचक संकेत

गणितके आधुनिक चिह्न धन (+) तथा ऋण (–) सबसे पहले१४८९ में मुद्रित हुए थे। गुणन (×) और भाग (–) के चिह्न क्रमश १६३१ और १६५९ में प्रकाशित हुये थे। समता (=) का चिह्न राबर्ट रिकार्डने सन् १५५७ में प्रचलित किया था।

१४६० के लगभग बोहीमियाके एक नगरमें जॉन विड्मैन नामक एक गणितज्ञ हुआ है। सबसे पहले इसीने मुद्रित पुस्तकमें + और – चिह्नोका प्रयोग किया है। अपनी पुस्तकमें इसने इन चिह्नोको जोडने और घटानेके अर्थमें प्रयोग नही किया था। वह तो ये चिह्न व्यापारिक बण्डलोंपर यह दिखानेके लिये डाला करता था कि अमुक बण्डल किसी निश्चित मात्रासे अधिक है या कम।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थोका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि भारतवर्षमें भी संकलन आदि परि-कर्मोंको सूचित करनेके लिये संकेतोका प्रयोग किया जाता था। ये संकेत या तो प्रतीकात्मक हैं या चिह्ना-त्मक। भारतीय ग्रन्थोमें प्रयुक्त संकेतोके विषयमें यहाँ संक्षेपण किया जा रहा है।

जोड़नेके लिये संकेत

बक्षाली हस्तलिपि २१ में जोडनेके लिये 'युत' का प्रथम अक्षर 'यु' मिलता है। यह अक्षर 'यु' जोडी जानेवाली संख्याके अन्तमें लिखा जाता था। यथा जब ४ और ९ जोडने होते थे, तब उसे इसप्रकार लिखा जाता था .

४	९
१	१ यु

भारतीय प्राचीन ग्रन्थोमे पूर्णांक लिखनेकी यह पद्धति थी कि अंकके नीचे १ लिख दिया जाता था किन्तु दोनोंके बीचमें भाग रेखा नही लगाई जाती थी।

जैनग्रन्थ तिलोयपण्णत्तिमें भी शुरूसे आखीर तक जोड़ने के लिये 'छण' शब्द लिखा है क्योंकि प्राचीन साहित्यमें धनके लिये 'धण' शब्द प्रयोग होता था। इसके विपर्यासमें, प० टोडरमलने अर्थसदृष्टि नामक ग्रन्थमें जोडनेके लिये (–) चिह्नका प्रयोग किया है, यथा $\log_2 \log_2$ (अ) + १ के लिये इस ग्रन्थमें इसप्रकार लिखा है .

१ –

$व_2$

जोडनेके लिये, विशेषकर भिन्नोके प्रयोगमे तिलोयपण्णत्ति और अर्थसदृष्टिमें खडी लकीरका प्रयोग मिलता है[1], यथा

$$१ \mid \frac{१}{२} \text{ का आशय } १ + \frac{१}{२} \text{ से है।}$$

घटानेके लिये संकेत

वक्षाली हस्तलिपिके देखनेसे पता चलता है कि उसमें घटानेके लिये + चिह्नका प्रयोग किया जाता था। यह + चिह्न उस अंकके बाद लगाया जाता था जिसे घटाना होता था। यथा, २० में ३ घटानेके लिये इसप्रकार लिखा जाता था

२० ३ +
। ।

कुछ जैन ग्रन्थोमे भी घटानेके उपरोक्त सकेतका प्रयोग मिला है परन्तु यह + चिह्न घटायी जाने वाली सख्याके ऊपर लिखा जाता था। आचार्य वीरसेनने धवलामें इसप्रकारके सकेतका प्रयोग किया है[2]। तिलोयपण्णत्ति और त्रिलोकसार और अर्थसदृष्टिमें घटानेके लिये ⌓ चिह्न भी मिलता है। जैसे २०० मेंसे २ घटानेके लिये इसप्रकार लिखते है

२⌓
२००

त्रिलोकसार और अर्थसदृष्टिमें घटानेके लिये ० का सकेत भी मिलता है। यथा, यदि २०० मेंसे ३ घटाने हो, तो इसप्रकार लिखते थे ·

२००
०
३

टोडरमलने घटानेके लिये U और ⊃ सकेतोंका प्रयोग भी अर्थसदृष्टिमें किया है। यथा, यदि एक लाखमेंसे ५ घटाना हो, तो इसप्रकार लिखते थे

लU५ तथा ल⊃
५

गुणाके लिये संकेत

गुणाके लिये वक्षाली हस्तलिपिने 'गु' सकेतका प्रयोग मिलता है। यह सकेत 'गु' शब्द गुणा अथवा 'गुणित' का प्रथम अक्षर है। यथा

१ तिलोयपण्णत्ति, भाग २, पृ० ७७१ तथा अर्थसदृष्टि, पृ० ११।
२. धवला, पुस्तक १०, १९५४, पृ० १५१।

३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ १० गु०
। । । । । । । ।

इसका आशय ३ × ३ × ३ × ३ × ३ × ३ × ३ × १० से है।

तिलोयपण्णत्ति में गुणाके लिये एक खड़ी लकीरका प्रयोग किया गया है। यथा, इसमें १००० × ९६ × ५०० × ८ × ८ × ८ × ८ × ८ × ८ × ८ × ८ के लिये इसप्रकार लिखा है[1]

५०।९६।५००।८।८।८।८।८।८।८।८

यहाँपर ५० का आशय १००० है। अर्थ सदृष्टिमें भी गुणाके लिये यही चिह्न मिलता है। यथा यहाँ १६ को २ से गुणा करनेके लिये १६।२ लिखा है[2]। त्रिलोकसारमें भी गुणाके लिये यही सकेत मिलता है, यथा १२८ को ६४ से गुणा करनेके लिये १२८।६४ लिखा है[3]।

भागके लिये संकेत

भागके लिये बक्षाली गणितमें 'भा' संकेतका प्रयोग मिलता है। यह सकेत 'भा' शब्द 'भाग' अथवा 'भाजित' का प्रथम अक्षर है। यथा,

४० भा १	१६० १	१३ १ २

इसका आशय $\frac{१६०}{४०} \times १३ - \frac{१}{२}$ से है।

भिन्नोको प्रदर्शित करनेके लिये प्राचीन जैन साहित्यमें अंश और हरके बीच रेखाका प्रयोग नहीं मिलता है। तिलोयपण्णत्तिमे बेलनका आयतन मालूम किया है जो $\frac{१९}{२४}$ को इस ग्रन्थमें इसप्रकार लिखा है[4]

१ ९
२ ४

त्रिलोकसारमे भी इसीप्रकारके उदाहरण मिलते हैं। इसमें लिखा है कि इक्यासीसी बाणवेंके चौसठवाँ भागको इसप्रकार लिखिये[5]

८ १ ९ २
६ ४

इसमें भाग देकर शेष बचनेपर उसको लिखनेकी विधिका भी उल्लेख किया है जो आधुनिक विधिसे

---

१ तिलोयपण्णत्ति, भाग १, गाथा १, १२३, १२४।

२. अर्थसदृष्टि, पृ० ६।

३. त्रिलोकसार, परि०, पृ० ३।

४ तिलोयपण्णत्ति भाग १, गाथा १, ११८।

५. त्रिलोकसार, परि०, पृ० ५।

भिन्न है। यथा, ८१९४ में ६४ का भाग दें, तो १२८ बार भाग जावेगा और २ शेषर हैं अर्थात्

१२८$\frac{२}{६४}$ को इस ग्रन्थमें इस प्रकार लिखा है[1] -

१२८। २
६४

शून्यका प्रयोग

० का प्रयोग आदि सख्याके रूपमें प्रारम्भ नहीं हुआ, अपितु रिक्त स्थानकी पूर्ति हेतु प्रतीकके रूपमें हुआ था। आधुनिक सकेत लिपिकमें जहाँ ० लिखा जाता है, वहाँ पर प्राचीनकालमें ० सकेत न लिख कर उस स्थानको रिक्त छोड दिया जाता था। यथा ४६ का अर्थ होता है छियालिस और ४ ६ का अर्थ होता था चार सौछह। यदि दोनों अकोंके मध्य जितना स्थान छोडना चाहिये, उससे यदि कम छोडा जाता था, तो पाठकगण भ्रममें पड जाते थे लेखकका आशय ४६ से है अथवा ४०६ से। इस भ्रमके निवारणार्थ इस सख्याको ४ ६ न लिखकर ४.६ के रूपमें अकित किया जाने लगा। धीरे-धीरे इस प्रणाली का आधुनिक रूप ४०६ हो गया।

इस प्रकारके प्रयोगका उल्लेख प्राचीन जैन ग्रन्थो एव मन्दिरो आदिमें भी लिखा मिलता है। उदाहरणार्थ आगराके हीगकी मण्डीमें गोपीनाथ जो के मन्दिरमें एक जैन प्रतिमा है जिमका निर्माण काल स० १५० ई० है, परन्तु इस प्रतिमा पर इसका निर्माण काल १५०९ न लिखकर १५ ९ लिखा है।

वर्गके लिए चिह्न

किसी सख्याके वर्गके लिए 'व' चिह्न मिलता है परन्तु यह चिह्न 'व' उस सख्याके बादमें लिखा जाता है जिसका वर्ग करना होता है। यथा—'ज जु' 'अ' एक सख्या है जिसका अर्थ जघन्ययुक्त अनन्त है। यदि इसका वर्ग करेंगे, तो इस प्रकार लिखेंगे[2]

ज जु अ व

यह सकेत 'व' वर्ग शब्दका प्रथम अक्षर है। इसी प्रकार घनका सकेत 'घ' और चतुर्थ घातके लिए 'व-व' (वर्ग वर्ग), पाँचवी घातके लिये व - घ - घा' (वर्ग - घन घात), छठवो घातके लिये घ - व (घनवर्ग), सातवी घातके लिये व - व - घ - घा (वर्ग - वर्ग घन घात) और इसी तरह आगेके लिये भी सकेत दिये हुये हैं।

वर्गित संवर्गितके लिये चिह्न

वर्गित सवर्गित शब्दका तात्पर्य किसी सख्याका उसी सख्याके तुल्य घात करनेसे है। जैसे न का वर्गित सम्वर्गित न हुआ जैनग्रन्थोमें इसके लिये विशेष चिह्न प्रयोग किया गया है। किसी सख्याको प्रथम बार वर्गित सम्वर्गित करनेके लिये न]^{१} लिखा जाता है जिमका आशय $न^{न}$ से है। द्वितीय वर्गित सम्वर्गितके लिये न]^{२} लिखा जाता है। इसका आशय नको वर्गित सम्वर्गित करके प्राप्त राशिको पुन वर्गित-सम्वर्गित करना है अर्थात् $(न^{न})^{न}$ है। इस क्रियाको पुन एक बार करनेसे नका तृतीय वर्गित-सम्वर्गित

१ वही, परि०, ६।

२. अर्थसदृष्टि, पृ० ५६।

प्राप्त होता है । इसको संकेत २]^{३} के द्वारा प्रदर्शित करते हैं । दो के तृतीय वर्गित सम्वर्गितको धवलामें इस प्रकार लिखा है ।[1]

$$\overline{२]}^{३} = (२५६)^{२५६}$$

वर्गमूलके लिये चिह्न

तिलोयपण्णत्ति और अर्थसंदृष्टि आदिमे वर्गमूलके लिये 'मू०' का प्रयोग किया गया है । तिलोयपण्णत्तिके निम्नलिखित अवतरणमे 'मू०' संकेत वर्गमूलके लिये दृष्टिगोचर होता है[2] ·

```
=५८६४ रिण रा=                    | — २ मू० |          | =४१६५५३६ |
 ४१५१६५६१          ४१६५५३६     |         |          |          |
    ५                              |         | ११३ मू० |          |५
```

प० टोडरमलकी 'अर्थसंदृष्टि'मे के $मू_{१}$ प्रथम वर्गमूल और के $मू_{२}$ वर्गमूलके वर्गमूलके लिये प्रयोग किया गया है ।[3]

संकेत 'मू०'का मूल अर्थात् वर्गमूलका प्रथम अक्षर है । इस चिह्नको उस संख्याके अन्तमे लिखा जाता था, जिसका वर्गमूल निकालना होता था । 'बक्षाली हस्तलिपिमे 'मू०'का प्रयोग मिलता है जो निम्न उदाहरणसे स्पष्ट है

```
| ११ यु०    ५ मू०    ४ |
|  १         १        १ |
```

इसका आशय $\sqrt{११ + ५} = ४$ है ।

इसी प्रकार,

```
| ११ + ७    मू० २ |
|  १   १       १ |
```

का आशय $\sqrt{११ - ७} = २$ है ।

भास्कराचार्य द्वितीय (११५० ई०)ने अपने बीजगणितमें वर्गमूलके लिये 'क' अक्षरका प्रयोग किया है । यह संकेत 'क' शब्द करणीका प्रथम अक्षर है । इस संकेत 'क' को उस संख्याके पहले लिखा जाता था जिसका वर्गमूल निकालना होता था । निम्न उदाहरणसे इसका आशय पूर्णतः स्पष्ट है[4] ।

क ९ क ४५० क ७५ क ५४

का आशय $\sqrt{९} + \sqrt{४५०} + \sqrt{७५} + \sqrt{५४}$ है ।

---

१ धवला, पुस्तक ३ अमरावती, १९४१, परिशिष्ट, पृ० ३५ ।

२. तिलोयपण्णत्ति भाग २, पंचम अधिकार, पृ० ६०१ ।

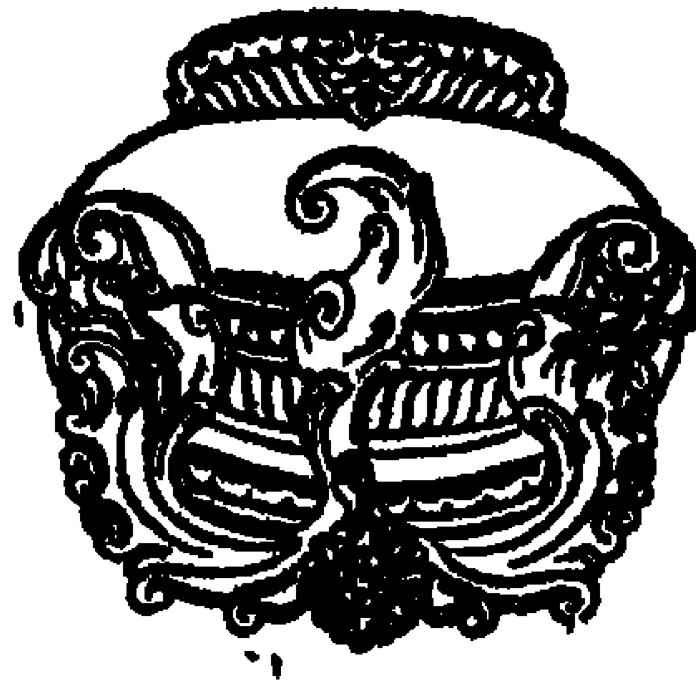
३ प० टोडरमलकी अर्थसंदृष्टि, पृ० ५ ।

४. भास्कर द्वितीयका बीजगणित, पृ० १५ ।

विशेष संख्याके लिये चिह्न

त्रिलोकसार[1] व अर्थसंदृष्टिमे संख्यातके लिये २, असंख्यातके लिये २ तथा अनन्तके लिये 'ख' का प्रयोग मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनके आधार पर यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि जैनाचार्योंने संख्या तथा संकलनादि सूचक सकेतों पर विस्तृत एव गहन अध्ययन प्रस्तुत करके गणितशास्त्रको समृद्धिशाली बनानेका स्तुत्य प्रयास किया है। वस्तुत: गणितशास्त्रमें सख्या तथा संकलनादि सूचक संकेतोंका अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसके अभावमें गणितीय अन्तर्दृष्टि धुंधली-सी प्रतीत होती है। जैनाचार्योंने प्रस्तुत कथनकी महत्ताको समझते हुये सख्या और सकेतो पर विचार करना अपना परम कर्तव्य समझा और इन आचार्योंकी यह परम निष्ठा ही गणितशास्त्रको महत्ती देन सिद्ध हुई। ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ पर जैनाचार्योंने प्रस्तुत विषयकी मौलिकता तो प्रदानकी ही है, साथ ही साथ व्यावहारिकता, रोचकता और सरलताकी त्रिगुणात्मकताको भी समाहित किया है। अन्तत यह कहा जा सकता है कि जैनाचार्योंने इस क्षेत्रमें जो भगीरथ प्रयत्न किये हैं, कदापि विस्मृत नही किये जा सकते।



१. त्रिलोकसार, परि०, पृ० २१।

२, बक्षाली मेनुस्क्रिप्ट, रतनकुमारी स्वाध्याय सस्थान, १९७७।

ज्योतिष्करण्डक : एक अध्ययन

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जबलपुर

रतलामकी श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर सस्था द्वारा सन् १९२८ में प्रकाशित पचाशकादि शास्त्रसग्रहमें ज्योतिष्करण्डक नामक १७६ गाथाओंका एक ग्रन्थ संमिलित है। शीर्षकमें इसे पूर्वभृद् वालभ्य-प्राचीनतर आचार्य रचित कहा गया है अर्थात् इसके रचयिताका नाम ज्ञात नही है किन्तु वे वलभी-वाचना (पाँचवी सदी)से पूर्वके आचार्य थे। प्रारंभिक और अतिम गाथाओंमें इसका आधार सूरपण्ण बताया गया है। सुना है कि इस पर आचार्य पादलिप्त (दूसरी शताब्दी)ने टीका लिखी थी किन्तु इसे देखनेका सौभाग्य नही मिला। इसमें दिया गया विवरण जैन साहित्यके ज्योतिष गणितका प्रतिनिधि रूप समझा जा सकता है। यह ईसवी सन्के आरम्भकी पूर्वकी अवस्थाका परिचायक है क्योंकि इसमें बारह राशियो तथा सात वारोका कोई उल्लेख नही है तथा बुध, शुक्र आदि ग्रहोका भी विवरण नही है। केवल ग्रहोंकी सख्या ८८ है, इतना उल्लेख है। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोसे सम्बंधित जो विवरण इस ग्रन्थमें मिलता है, उसकी वर्तमान निरीक्षणोंसे तुलना करनेका प्रयास यहाँ किया गया है।

१ सौरवर्ष —गाथा ४० में सौरवर्षकी अवधि ३६६ दिनरात बताई गयी है तथा गाथा ४३ में इसके मुहूर्त्त १०९८० बताये गये हैं (एक दिन रातमे ६० मुहूर्त्त होते हैं अर्थात् एक मुहूर्त्तमें दो घडी या ४८ मिनट होते हैं)। वर्तमान गणनाके अनुसार सौरवर्षमें ३६५ दिन और ५,८ घटे होते हैं।[1] गाथा ४१ के अनुसार चान्द्रवर्षमे ३५४$\frac{१२}{६२}$ = ३५४ १९ दिन-रात होते हैं। वर्तमान गणनाके अनुसार यह अवधि ३५४.३६ दिन-रात है।

२. अधिकमास :—सौरवर्ष और चान्द्रवर्षका मिलान करनेके लिए प्रति तीस चान्द्र मासोके बाद एक अधिकमास गिना जाता था, इस प्रकार पाँच सौर वर्षोंमें बासठ चान्द्र मास होते थे (गाथा ९३ और ६२)। इस पचवर्षीय युगका आरम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदासे माना जाता था (गाथा ५५) तथा इसके पहले, दूसरे और चौथे वर्ष चान्द्र कहलाते थे एव तीसरे पाँचवे वर्ष अभिवर्धित कहलाते थे (गाथा ५०)। वर्तमान गणनामे अधिकमास इतना नियमित नही होता। जिस चन्द्रमासमे सूर्यका एक राशिसे दूसरी राशिमे सक्रमण नही होता, उसे अधिकमास कहा जाता है तथा जिस चन्द्रमासमे सूर्यका दो बार राशि सक्रमण होता है, उसमे क्षय मास भी होता है।[2] इस गणनासे १९ वर्षोंमें सात मास होते हैं।

३ तिथिगणना :—गाथा १०५ के अनुसार प्रत्येक तिथिकी अवधि २९$\frac{३२}{६२}$ मुहूर्त्त होती है। दिनरात और तिथिका मिलान करनेके लिए वर्षा, हिम और ग्रीष्मके प्रत्येक चार मासोंमें तीसरे और सातवें पक्ष चौदह दिनके गिने जाते थे (भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन, वैशाख और आषाढके शुक्ल पक्ष १४ दिनके थे और शेष पक्ष १५ दिनके थे (गाथा ११२)। वर्तमान तिथिगणना इतनी नियमित नही है।

१. अर्वाचीन ज्योतिर्विज्ञानम् (रमानाथ सहाय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९६४), पृ० २४
२. इण्डियन एफिमेरीज (स्वामिकन्नु पिल्ले, मद्रास १९२२)के प्रत्येक खण्डकी भूमिकामें इसका सक्षिप्त स्पष्टीकरण दिया गया है।

चन्द्र और सूर्यकी दृश्य स्थितिमें १२ अंशके अंतर होनेकी अवधिको तिथि कहा जाता है। चन्द्र और पृथ्वी-की भ्रमण कक्षाएँ दीर्घवृत्ताकार होनेसे यह अवधि कभी एक दिन-रातसे अधिक भी होती है। तब एक ही तिथि दो दिनोंमें होनेसे तिथिकी वृद्धि कही जाती है तथा जब कोई तिथि सूर्योदयके बाद कभी आरम्भ होकर दूसरे दिनका सूर्योदय होनेके पूर्व ही समाप्त हो जाती है, तब उस तिथिका क्षय कहा जाता है।[1]

४ चन्द्र और सूर्य विस्तार :—गाथा १४४ के अनुसार चन्द्रका विष्कम्भ (व्यास) ५६/६१ योजन तथा सूर्यका ४८/६१ योजन है। कोणमापक यन्त्रो और त्रिकोणमितिके नियमोंके आधार पर की गई वर्तमान गणनाके निष्कर्ष इस विषयमें बिलकुल भिन्न है। वर्तमान गणनाके अनुसार चन्द्रका व्यास २०५९.९ मील तथा सूर्यका व्यास ८६४००० मील है।[2]

५. सूर्यकी गति :—गाथा १९६ के अनुसार सूर्यके वृत्ताकार भ्रमण मार्गका न्यूनतम ३१५०८९ योजन तथा अधिकतम ३१८३५० योजन है। सूर्य साठ मुहूर्तमें मेरु पर्वतकी एक परिक्रमा पूरी करता है। अत सूर्यकी प्रति मुहूर्त गति न्यूनतम ५२५१०५ योजन एव अधिकतम ५३०६ ८ योजन होती है। जिसे पुरातन धारणामें सूर्यकी दैनिक गति कहा जाता था, उसे आधुनिक धारणामें पृथवीकी अपनी धुरी पर घूमनेकी दैनिक गति कहा जाता है। भूमध्यरेखा पर यह गति लगभग एक हजार मील प्रति घटा (या लगभग आठसौ मील प्रति मुहूर्त) आकी गयी है। वर्तमान भारतका पूर्वपश्चिम विस्तार लगभग दो हजार मील अर्थात् २५० योजन है। पुरातन गणितके अनुसार इसकी पूर्वसीमा और पश्चिम सीमाके सूर्योदय समयमें १/२० मुहूर्त अर्थात् लगभग ढाई मिनटका अन्तर होना चाहिए। वर्तमान निरीक्षणोंमे अन्तर लग-भग दो घटेका है।

६ चन्द्र और नक्षत्रोका योग :—चन्द्रके भ्रमण मार्गमें दिखने वाले २८ नक्षत्रोकी तारकाओमें परस्पर अतर अधिक नहीं है। प्रत्येक नक्षत्रसे चन्द्रका योग कितनी अवधि तक रहता है, इसका विवरण गाथा १५०-१५२ में है। इसके अनुसार शतभिष, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा—इन नक्षत्रोंमें चन्द्र १५ मुहूर्त रहता है, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा, पनर्वसु और विशाखामें चन्द्र ४५ मुहूर्त रहता है तथा शेष १५ नक्षत्रोमें चन्द्रका निवास ३० मुहूर्त होता है, सबसे कम अवधि अभिजित नक्षत्रकी है जो एक दिन-रातका सडसठवां भाग कही गई है। वर्तमान गणनामे नक्षत्रोंमें चन्द्रके योगकी अवधिमें अन्तर तो है, परन्तु वह इतना अधिक नहीं है क्योकि ग्रहभ्रमणमार्गके खगोलवृत्तके सत्ता-इस समान विभाग कर उन्हे नक्षत्र कहा गया है। अभिजितको अब नक्षत्रोमें नही गिना जाता। नक्षत्रका विस्तार समान मानने पर भी चन्द्रकी भ्रमणकक्षा दीर्घवृत्ताकार होनेसे प्रत्येक नक्षत्रसे उसके योगका समय कम अधिक होता है। उदाहरार्थ, इस १९७९ के भाद्रपद मासमें न्यूनतम समय धनिष्ठा नक्षत्रका २० घंटे

---

१ इण्डियन एफिमेरीज (स्वामिकन्नु पिल्ले, मद्रास १९२२)के प्रत्येक खण्डकी भूमिकामें इसका सक्षिप्त स्पष्टीकरण दिया गया है।

२ अर्वाचीन ज्योतिर्विज्ञानम्, पृ० ५६ और ९७

३ भारतकी पश्चिमी सीमाकी देशातर रेखा ६८ अश और पूर्वी सीमाकी ९७ अशकी है, प्रत्येक अशके सूर्योदयका समय उसके पूर्ववर्ती अशके सूर्योदयके समयसे चार मिनट बादका होता है (जिऑग्रफी आफ इण्डिया-गोपाल सिंह, दिल्ली १९७६ तथा टिप्पणी ९,१० का सन्दर्भ)

५३ मिनट (लगभग २६ १/४ मुहूर्त) तथा अधिकतम समय मघा नक्षत्रका २७ घटे २ मिनट (लगभग ३३ ३/४ मुहूर्त) है।[1]

७ दिनकी वृद्धि हानि .—गाथा ३०५-३१० के अनुसार दिनरातके तीस मुहूर्तमें दिन और रात-की अवधि बदलनेका जो क्रम है, उसमें न्यूनतम दिन और न्यूनतम रात्रिकी अवधिमें बारह मुहूर्त और अधिकतम अवधि अठारह मुहूर्त बताई गई है। आधुनिक नापमें यह क्रमस ९ घटे ३६ मिनट और १४ घटे २४ मिनट होती है। वर्तमान निरीक्षणोंके अनुसार दिन और रातका अतर अक्षाशोंके अनुसार बदलता है। यहाँ जो अतर बताया गया है, वह वर्तमान भारतकी उत्तरीसीमाके अक्षाश ३५ के लिए सही है।[2] यह निरीक्षण उस समयकी ओर सकेत करता है जब उस प्रदेशकी राजधानी तक्षशिला विद्याका केन्द्र थी। भारतके मध्यभागमे स्थित जबलपुरमें दिन और रातकी न्यूनतम और अधिकतम अवधि १० घटे ३५ मिनट और १३ घटे २५ मिनट है।[3] इसके दक्षिणमे यह अतर और कम होते हुए भूमध्यरेखा पर शून्य हो जाता है—वहाँ दिन-रात समान होते हैं। उत्तरमें यह अतर बढते हुए ६६ ६ अक्षाश पर २४ घंटे हो जाता है—वहाँ २२ जूनको २४ घटेका दिन और २४ घटेकी रात २२ दिसम्बरको होती है। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव पर इससे भी अधिक छह मासका दिन और उतनी ही बडी रात होती है।[4]

गाथा १९४-१९५ के अनुसार सूर्यका परिभ्रमण मार्ग जम्बूद्वीपकी परिधिके १८० योजन भीतर है और अधिकतम परिभ्रमण मार्ग जम्बूद्वीपकी परिधिके ३३० योजन बाहर है अर्थात् इतने क्षेत्रमें सूर्यकिरण लम्बरूप पड सकते हैं। वर्तमान गणनाके अनुसार, पृथ्वीके जिस क्षेत्रमें सूर्यकिरण लबरूप पड सकते हैं, उसकी उत्तर सीमा कर्कवृत्त और दक्षिण सीमा मकरवृत्त है।[5] कर्कवृत्त भारतके लगभग मध्य में है जिसकी दक्षिण समुद्र तटसे दूरी लगभग एक हजार मील अर्थात् १२५ योजन है। मकरवृत्त इस दक्षिण समुद्र तटके दक्षिणमें लगभग दो हजार मीलपर अर्थात् २५० योजनपर है। कर्कवृत्त पर सूर्य किरण लम्ब-रूप पडते है, उस दिनसे दक्षिणायन और मकरवृत्तपर सूर्य किरण लम्बरूप पडते है उस दिनसे उत्तरायणका आरम्भ होता है।



१. ये नक्षत्रोंकी अवधियाँ श्री रामचन्द्र अग्रवालके जबलपुर पचागके अनुसार हैं।

२ भारतीय ज्योतिषका इतिहास (गोरख प्रसाद, लखनऊ, १९५६,१९५६), पृ० ४६। वेदाग ज्योतिषमें यही अवधि मिलती है।

३. ये अवधियाँ भी श्री अग्रवालके पचागके अनुसार है। भारतके विभिन्न अक्षाशोमें सूर्योदय समयके अंतरकी सारणी स्वामिकन्नु पिल्लैने इण्डियन एफिमेरीजके प्रथम खडमें दी है।

४,५. भूगोलके भौतिक सिद्धांत (ए० दासगुप्त, दिल्ली १९७४), पृ० ३३ से ३७।

चिकित्सीय ज्योतिष के क्षेत्र में जैन साहित्य का योगदान

डॉ० ज्ञानचन्द्र जैन
आयुर्वेदिक महाविद्यालय, लखनऊ, (उ० प्र०)

अनादिकालसे सृष्टिमें आविर्भूत प्राणिमात्रके हृदयमें सदैवसे यह अभिलाषा उत्कृष्ट रूपमें विद्यमान रही है कि वह सदैव स्वस्थ रहता हुआ सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए सुखसमृद्धिके शिखरको प्राप्त करके अपने पुनर्जन्मको भी सुखमय बना सके। प्राणिमात्रकी इस इच्छाको आचार्योंने निम्न—

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्ता, सुख चाहें, दुःख तो भयवन्त।
ताते दुःखहारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणाधार।।

रूपमें व्यक्त करते हुए सुखमय जीवन यापन करनेका उपाय भी बतलाया है। प्राणिमात्रको इस जीवनमें पारलौकिक सुखधन हेतु, चतुर्वर्गकी प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ करना चाहिये। चतुर्वर्गमें धर्म, अर्थ, काम एवं मुक्तिका समावेश किया गया है। इन चारोंकी प्राप्तिके लिए आरोग्य प्राप्ति मूलरूपसे आवश्यक है क्योंकि सुख रूप अभिलाषा आरोग्यमें ही निहित है और जिस दुःखरूपी बाधासे प्राणिमात्र भयभीत है, वही आरोग्य या विकार है

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।

इस प्रकार सुखी जीवनके लिए आरोग्य मूलभूत तत्त्व है। परन्तु आरोग्य प्राप्तिके मार्गमें रोग बाधा होते हैं। इससे श्रेष्ठ जीवन प्राप्त नहीं हो पाता है। यथा—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।।

अतएव आरोग्य मार्गके बाधक रोगोंको दूर करनेके लिए ही 'कित् रोगापनयने' के अनुसार चिकित्सा कार्यका प्रावधान किया गया है। प्राणिमात्रकी मूलभूत इच्छाके अनुरूप चिकित्सा कार्यके भी दो प्रयोजन हैं—स्वस्थके स्वास्थ्यकी रक्षा करना (स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्) और दूसरा, रोगीका रोगहरण करना (आर्तस्य रोगहरणं)। इसी पुनीत उद्देश्यको दृष्टिगत रखकर आचार्योंने चिकित्सा कार्यको सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया है।

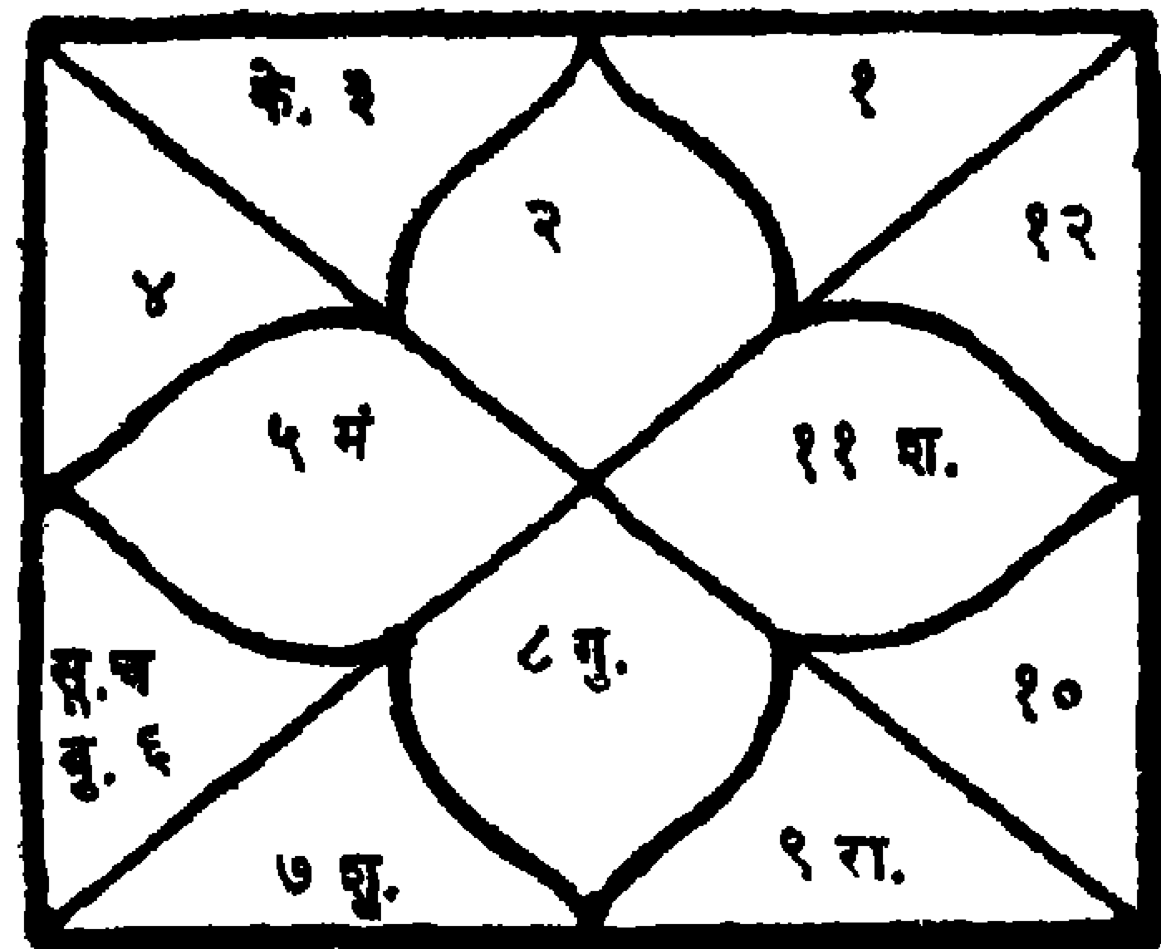
इस रोगोन्मूलक पावन कर्तव्य हेतु कालक्रमके अनुसार आयुर्वेद, ऐलोपैथिक, यूनानी होम्योपैथिक, सिद्ध आदि चिकित्साकी अनेकों पद्धतियोंका आविष्कार एवं विकास दिन-प्रतिदिन होता आ रहा है। इसके प्रतिफल स्वरूप चिकित्साविज्ञानके आचार्योंने मलेरिया जैसी जनपदोध्वंसकारक व्याधियोंके उन्मूलनका दावा किया है। वे यक्ष्मा, कुष्ठ जैसी महाव्याधियोंके नियन्त्रणकी घोषणा भी कर रहे हैं। इस प्रकार चिकित्सा विज्ञान नित्य नवीन अन्वेषणों द्वारा रोग सतप्त मानवको आरोग्य प्रदान करनेकी दिशामें अग्रसर हो रहा

है। परन्तु फिर भी कभी-कभी उस समय निदान होना कठिन है अथवा विचारणीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब उचित निदान एवं चिकित्सा द्वारा रोगीकी चिकित्साके समय लाभ होते-होते कालक्रमके अनुसार या तो लाभ कम होने लगता है अथवा विपरीत स्थिति होकर हानि दृष्टिगोचर होने लगती है। उदाहरणार्थ, अर्बुद, प्रमेह, श्वास एवं अन्यान्य रोगियोंमें ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उस समय मस्तिष्कमें विचार उत्पन्न होने लगते हैं कि क्या त्रिदोषके अतिरिक्त भी रोगोत्पत्तिके लिए अन्य तत्त्व उत्तरदायी हो सकता है। ऊहापोहके फलस्वरूप ज्योतिषविज्ञानका विचार आया एवं तदनुरूप सहयोग कार्य सम्पादित करनेपर उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुआ। उदाहरणार्थ, ऐसे एक आतुरका इतिवृत्त प्रस्तुत है।

रोगीका नाम— रामगोपाल, वय, ४० वर्ष

मुख्यव्यथा— दन्तशूल, दन्तहर्ष, दन्तवेष्ट शोथ, रक्तस्राव, अग्निमांद्य इत्यादि।

रोगी लगभग पाँच वर्षसे उक्त व्याधिसे पीडित रहा है। परीक्षण करनेपर रोगनिदान दन्तवेष्ट किया गया। इसकी समुचित चिकित्सा व्यवस्था की गई। प्रारम्भमें चिकित्सोपचारसे आशानुकूल लाभ हुआ एवं उपचार चलता रहा। कभी-कभी रोगीके प्रमादवश चिकित्सा न्यूनताके कारण तथा कभी अनायास ही प्रतीत हुआ कि लाभ अपेक्षाकृत न्यून हो रहा है। छह मास पश्चात् व्याधि वृद्धि होकर पूयस्राव होने लगा तथा शनै शनै दन्तपातन भी होने लगा। रोगी एवं चिकित्सकके लिए विचारणीय स्थिति उत्पन्न हो गई। तब ज्योतिषविज्ञानके अनुसार आतुरके जन्मांग (चित्र १) का अध्ययन किया गया। तदनुसार आतुरके जन्मकालमें लग्नमें वृष राशि है एवं इसपर पाप ग्रह शनिकी तीन चरण, राहुकी एक चरण, सूर्यकी दो चरण तथा मंगलकी एक चरण दृष्टि है। बृहज्जातक अनिष्टाध्याय २३।१५ के अनुसार इस जन्मके व्यक्तिको दन्तरोगी होना चाहिये। इसलिये इसके स्वरूपस्वास्थ्य लाभके लिये चिकित्सोपचारके साथ ग्रह शान्तिका विधान तन्त्रसारोक्त पद्धतिसे करना चाहिये। इसके लिये निम्न जपोंका विधान है



शनिग्रह शान्तिहेतु ॐ श शनैश्चराय नम का २३००० बार जाप।

राहुग्रह शान्तिहेतु, ॐ रां राहवे नम· का १८००० बार जाप।

सूर्यग्रह शान्तिहेतु, ॐ घृणि सूर्याय नम. का ७००० बार जाप।

मंगलग्रह शान्तिहेतु, ॐ आं अंगारकाय नमः का १०००० बार जाप।

जैन साहित्यमें भी ग्रह शान्तिका विधान पाया जाता है। कविवर मनसुखसागरजी कृत नवग्रह अरिष्टनिवारक विधान के अनुसार शनि ग्रह शान्तिहेतु शनि अरिष्ट निवारक श्रीमुनिव्रत जिनपूजा, राहु ग्रह शान्ति हेतु राहु अरिष्ट निवारक श्री नेमिनाथ जिनपूजा, सूर्यग्रह शान्तिहेतु सूर्य अरिष्ट निवारक श्री पद्मप्रभु जिनपूजा, मंगल ग्रह शान्तिहेतु अरिष्ट निवारक श्री वासुपूज्य जिनपूजाका विधान किया गया है। पूजन पश्चात् महामन्त्र णमोकारके १००८ बार जपका भी विधान है। प्रस्तुत रोगीको इन पूजा और

जापोंके लिये सलाह दी गई। ऐसा करनेपर लाभ हुआ। दन्त पतन तक व्यथा एवं अन्य लक्षणोंका भी शमन हुआ। रोगी सामान्य जीवन यापनमें सक्षम हो गया। अग्निमांद्य शेष है जो भविष्यके उपचारके निर्देशका सूचक है। इसप्रकार अन्य १५ रोगियोंकी चिकित्सामें इस विधिका सफल प्रयोग किया गया है।

इस प्रकारके अवलोकनसे यह स्पष्ट है कि ग्रहोंका व्याधियोंसे सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें विस्तृत अध्ययनके लिये ज्योतिषशास्त्रके विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थोंका अध्ययन तथा तदनुरूप प्रयोग करना उपयोगी होगा। इस विषयमें महावीराचार्यका ज्योतिषपटल, श्रीधराचार्यकी ज्योतिर्ज्ञानविधि, दुर्गदेवका रिष्ट-समुच्चय, नरचन्द्रका ज्योतिषप्रकाश आदि ग्रन्थोके गम्भीर विलोकनकी आवश्यकता है।

उपरोक्त प्रयोगसे प्रतीत होता है कि ज्योतिषविज्ञानके सहयोगद्वारा रोगोन्मूलनमें अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र सफलता प्राप्त होगी। यदि ग्रह प्रभाव मन्दस्वरूपका है, तो रोग शमन शीघ्र होगा। यदि ग्रह प्रकोप अधिक है, तो अधिक सक्रिय उपचारसे लाभ होगा। उग्र ग्रह प्रकोप होनेपर उपचार प्रयासोद्वारा कमसे कम व्याधि या वेदनामें मन्दता तो लायी ही जा सकेगी। जन्मांग अध्ययनद्वारा भविष्यमें उत्पन्न होनेवाली व्याधिकी पूर्व सूचना प्राप्त होनेपर उसके प्रतिबन्धक उपायो द्वारा अनागत बाधा प्रतिबन्ध जैसे पक्षकी ओर भी अग्रसर हुआ जा सकेगा। यह आशा करनी चाहिये कि चिकित्सीय क्षेत्रमें जैन साहित्यमे वर्णित ज्योतिष विज्ञानके सहयोगसे रोगोन्मूलक एव रोगप्रतिबन्धक कार्योमे सफलता प्राप्त करनेके लिये पूजाओ और जपोकी उपयोगिताका अध्ययन एक रोचक एव ज्ञानवर्धक विषय प्रमाणित होगा। लेखक तो इस विषयके अध्ययनका प्रारम्भ मात्र कर रहा है।



आचार्य महावीरकी रेखागणितीय उपपत्तियाँ

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, इलाहाबाद

जैन गणितज्ञोंमें सबसे अधिक ख्याति गणितसार संग्रहके रचयिता महावीरकी है। अन्य जैन गणितज्ञोंमें अभयदेवसूरि, सिंहतिलक सूरि और अमरसिंह यतिके नाम प्रसिद्ध हैं। त्रिशतिकाकी टीका करनेवाले वल्लभ भी जैन थे, और उन्होंने टीका तेलगु भाषामें की थी। सिंहतिलक सुरि, (१२७५ ई०) ने श्रीपतिके गणिततिलककी टीका की, कुछ जैनविद्वानोंने श्रीधराचार्यको भी जैन माना किन्तु स्पष्टतया पाटीगणितके रचयिता श्रीधरजी शैव हिन्दू थे। अभयदेवसूरि (१०५० ई०) ने प्रसिद्ध जैनग्रन्थ स्थानांग-सूत्रकी टीकामें श्रीधरका नाम तो नही लिया, किन्तु श्रीधरकी पाटीगणित और त्रिशतिका—इन दोनों ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं (सदृश द्विराशिघात, २४, २८, समत्रिराशिहति, ११, १५)। प्राचीन भारतीय गणितज्ञोकी पूर्वापरता निम्न सन्-सवतोसे प्रकट होती है। बखसाली हस्तलिपि २०० ई०, प्रथम आर्यभटका आर्यभटीय (जन्म ४७६ ई०), भास्कर प्रथम (६२९ ई०), ब्रह्मगुप्तका ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त, (६२८ ई०), पृथूदक स्वामी नामक भाष्यकार (८६० ई०), स्कन्दसेन (जिसका उल्लेख पृथूदकस्वामीने अपने भाष्यमें किया है) नवी शती ई० से पूर्व, लल्लकी पाटीगणित और सिद्धान्ततिलक (८वी शती ई०), गोविन्दकी गोविन्दकृति (९वी शती ई०), लघुभास्करीयके टीकाकार शकर नारायण (८६९ ई०) और उदयदिवाकर (१०७३ ई०), महावीरका गणितसारसग्रह (८५० ई०), श्रीपतिका गणिततिलक और सिद्धान्तशेखर (१०३९ ई०), भास्कर द्वितीयकी लीलावती (११५० ई०), आर्यभट्ट द्वितीयका महासिद्धान्त (९५० ई०), और नारायणकी गणितकौमुदी (१३५६ ई०)

महावीरका गणितसार-सग्रह ग्रन्थ गणितके विशेषज्ञोंके लिये बडे कामकी वस्तु है। यह आचार्य कन्नड प्रदेशका जैन विद्वान् था। आर्यभट्ट और भास्कर एव ब्रह्मगुप्तके समान आचार्योंने गणितका अध्ययन ज्योतिषके परिप्रेक्ष्यमें किया था, किन्तु महावीरका गणितसारसग्रह और श्रीधराचार्यके पाटीगणित और त्रिशतिका ग्रन्थ विशुद्ध गणितके ग्रन्थ हैं। जैनधर्मके आचार्य गणितशास्त्रके स्वतन्त्र अध्ययनको भी प्रारम्भसे महत्त्व देते आये हैं। यह ठीक है कि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि गणितका ज्योतिषमें भी उपयोग है, पर गणितके अध्ययनका स्वत अपना भी एक क्षेत्र है। महावीरके समय तक ब्रह्मगुप्तकी प्रतिष्ठा सर्वमान्य हो गयी थी, पृथूदक स्वामीने ब्रह्मस्फुटसिद्धान्तका भाष्य किया। यह आचार्य भी महावीरका लगभग समकालीन था। दोनो ही ८५०-८६० ई० के कालके हैं। श्रीधराचार्य महावीरके ग्रन्थसे परिचित था, कई क्षेत्रोमे उसने महावीरके गणितीय कार्यको परिवर्द्धित भी किया। गणितसार-सग्रहमें जो बात महावीरने ६ श्लोकोंमें दी है, श्रीधरने उसे अपनी त्रिशतिकामें ४ पक्तियोंमें ही समाप्त कर दिया है। श्रीधरकी ये चार पक्तियाँ निम्न हैं (त्रिशतिका, उदाहरण २६) —

कामिन्या हारवल्लया सुरतकलहतामोक्तिकानां त्रुटित्वा।
भूमौ यातस्त्रिभाग शयनतलगत पञ्चमांशश्च दृष्ट
आप्त षष्ठ सुकेश्या गणकदशमक., सगृहीत. प्रियेण।
दृष्ट षट्कञ्च सूत्रे कथय कतिपयैर्मौक्तिकैरेव हार ॥

गणितसार-संग्रहमे यही प्रश्न १२ पक्तियोंमें है। (४।१७-२२)

काचिद् वसन्तमासे प्रसूनफलगुच्छभारनम्रोद्याने ।

....

तन्मौक्तिक-प्रमाणं प्रकीर्णकं वेत्सि चेत् कथय ॥

हमने यहाँ प्रथम और अन्तिम पंक्तियाँ ही उद्धृत की हैं।

महावीरके गणितसार-संग्रहका प्रभाव लगभग सभी उत्तरकालीन गणितीय ग्रन्थोंपर है, यह तो मानना ही पड़ेगा। अपने रचनाकालके डेढ़ सौ वर्षोंके भीतर ही इस ग्रन्थकी ख्याति दक्षिण भारतमें बहुत फैल गयी थी, राजामुन्दरीके अधीश राजराजनरेन्द्रके संरक्षणमें इसका तेलगुमें पद्यानुवाद पावलूरि मल्लने किया था, मद्रासके राजकीय पुस्तकालयमें इस अनुवादकी प्रतिलिपि विद्यमान है। १९१२में एम० रंगाचार्यने गणितसार-संग्रहका अंग्रेजी अनुवाद (प्रश्नोत्तर सहित) किया जो मद्रास सरकारकी ओरसे प्रकाशित हुआ था। कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्कके डेविड यूजीन स्मिथने इसकी भूमिका लिखी थी।

क्षेत्रमिति और क्षेत्रफल

भारतवर्षमें रेखागणितकी परम्परा वैदिक श्रौतकालसे चली आ रही है। यज्ञकी चितियों और वेदियोंके निर्माणके सम्बन्धमें, पिछले कतिपय वर्षोंसे मेरी रुचि शुल्बग्रन्थोंके प्रति रही। अभी कुछ मास ही हुये, चार शुल्बसूत्रका संग्रह मैंने डा० ऊषाज्योतिष्मतीके सहयोगसे प्रकाशित किया—बौधायन-शुल्बसूत्र, आपस्तम्ब-शुल्बसूत्र, कात्यायन-शुल्बसूत्र और मानव-शुल्बसूत्र। बौधायन और आपस्तम्ब-शुल्बसूत्रोंकी प्राचीन कतिपय टीकाएँ भी हम लोग प्रकाशित कर चुके हैं। इन शुल्बसूत्रोंमें प्रसंगवश वृत्त, दीर्घचतुरस्र, समचतुरस्र और प्रउग (त्रिभुजों) की रेखागणित और उनके क्षेत्रफलोंका अच्छा विधान है।

शुल्बसूत्रकी वैदिक परम्परामें ही तरह-तरहकी इष्टक बनानेकी परम्परा आरम्भ हुई और क्षेत्रमिति का भी इसी परम्परामें जन्म हुआ। पाटीगणितोंमें भी एक—दो अध्याय क्षेत्रमितिके रहते आये हैं। श्रीधराचार्यके ग्रन्थ पाटीगणितमें श्रीढ़ी व्यवहारके बाद अन्तिम अध्याय क्षेत्र व्यवहारका है। क्षेत्र जातिभेदसे दश प्रकारके माने गये हैं .

तत्र दश क्षेत्रजातयो भवन्ति, समत्रिभुज, द्विसमत्रिभुज,
विषमत्रिभुज, समचतुरस्र, त्रिसमचतुरस्र,
द्विसमचतुरस्र विषमचतुरस्र, द्विद्विसमचतुरस्र,
आयतचतुरस्र, वृत्त, धनुरिति।

इन क्षेत्रोंके सम्बन्धमें अनेक पारिभाषिक शब्दोका प्रयोग होता है, जैसे भुज, भूमि, मुख, कोटि, कर्ण, लम्ब, अवधा, हृदय, परिधि, व्यास, ज्या, शरश्चाप इत्यादि।

महावीरने गणितसार-संग्रहमें १६ जातियोंके क्षेत्रोका उल्लेख किया है

१ तीन जातियोंके त्रिभुज—(क) सम (तीनों भुजा बराबर), द्विसम (दो भुजाएँ बराबर), और विषम (तीनो भुजाएँ अलग-अलग माप की)।

२ पाँच जातियोके चतुरस्र—(क) सम, (ख) द्वि-द्वि-सम (equidichostic), (ग) द्विसम (equibilateral), (घ) त्रिसम (equitrilateral), (ङ) विषम (inequilateral).

३, आठ जातियोकी घेरेदार आकृतियाँ (वृत्त)—(क) समवृत्त (circle), (ख) अर्धवृत्त, (ग) आयतवृत्त (ellipse), (घ) कम्बुकावृत्त (शंखकी आकृतिका), (ङ) निम्नवृत्त (concave circle), (च) उन्नतवृत्त (convex ciscle), (छ) बहिश्चक्रवालवृत्त (outlying annulus), (ज) अन्तश्चक्रवाल वृत्त (inlying annulus).

सोलह जातियोंके इन क्षेत्रोंके क्षेत्रफल निकालनेकी दो प्रकारकी विधियोंका उल्लेख महावीरने किया है

(क) व्यावहारिक (approximate) और सूक्ष्म (accurate) :—

क्षेत्र जिनप्रणीत फलाश्रयाद् व्यावहारिक सूक्ष्ममिति ।
भेदाद् द्विधा विचिन्त्य व्यवहार स्पष्टमेतदभिधास्ये ।।७-२।।

यह कहना कठिन है कि यूक्लिडके प्रमेयोंका परिचय महावीर या अन्य क्षेत्रज्ञ गणितज्ञोको था या नही । सम्भवतया रेखागणितीय तर्कका उस प्रकारका विकास इस देशमें नहीं हुआ, जैसा कि यूनानमे । त्रिभुजके कोणोको नापनेका कोई पैमाना (डिगरी या समकोणोंका) उस समय नही था किन्तु ज्या (Sine) के रूपका अनुपात उन्हें परिचित था । ज्याओकी अपेक्षासे ही कोण व्यक्त किये जाते थे । त्रिभुजों और चतुरस्रोके क्षेत्रफल निकालनेके सूत्रोका विकास महावीरने किया । प्रत्येक त्रिभुजके तीनो शीर्ष एक विशेष वृत्त (परिमण्डल, शुल्बसूत्रोकी परिभाषामे) पर स्थित होते हैं । किन्तु सभी चतुरस्रों (quadrialtarals) के लिये ऐसा होना आवश्यक नही है । ब्रह्मगुप्तने ब्र० स्फु० सि०, १२।२१ [।।] और महावीरने [ग०सा० स० ९।५० [।।] ने इस बातका ध्यान नही रक्खा । दोनोने सभी चतुरस्रोंके क्षेत्रफलके लिये निम्न सूत्र दिया

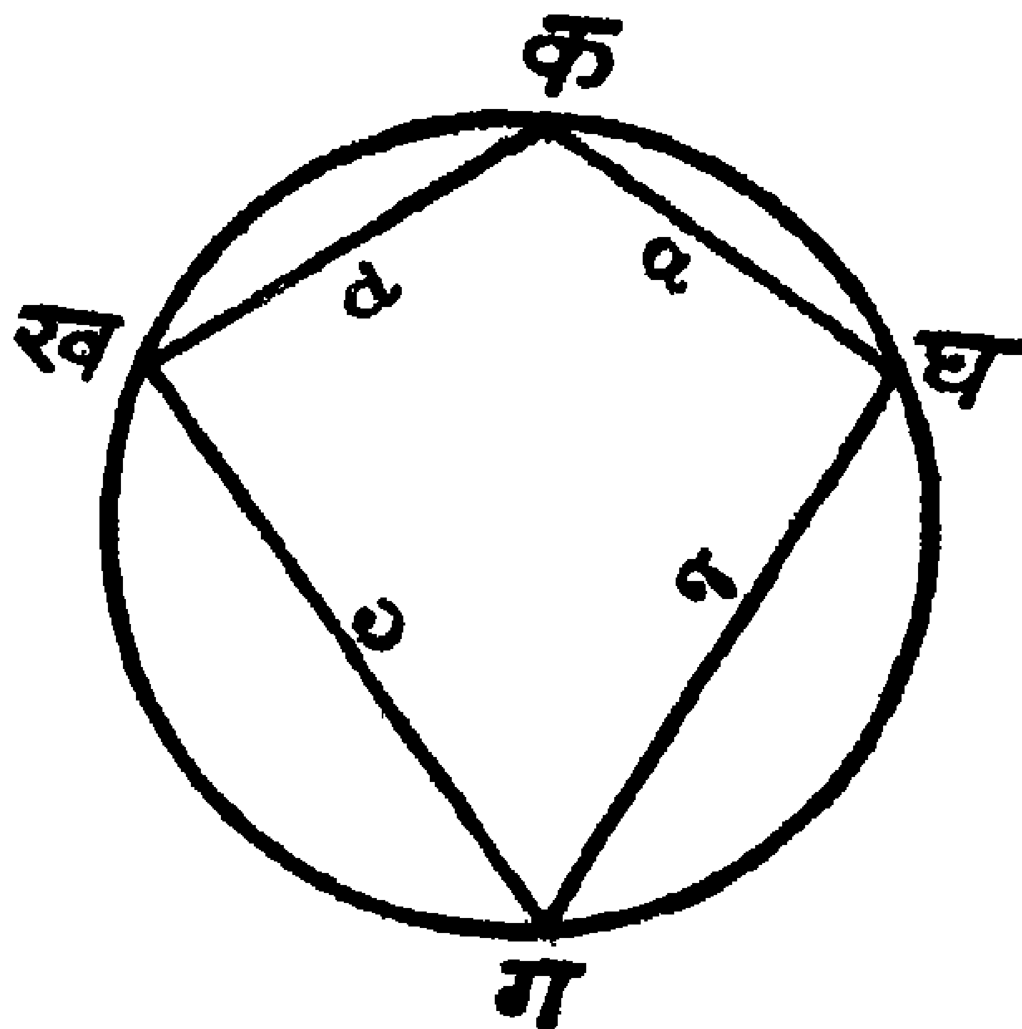
चतुरस्रका क्षेत्रफल $= \sqrt{s(s-a)(s-b)(s-c)(s-d)}$

इस सूत्रमें $s =$ चारो भुजाओके योगका आधा, a, b, c, d = चार भुजाओकी पृथक् पृथक् लम्बाई । त्रिभुजको ऐसा चतुरस्र मान सकते है, जिसकी एक भुजाकी लम्बाई शून्य हो, अर्थात् $d = 0$

समीकरणसे, त्रिभुजका क्षेत्रफल $= \sqrt{s(s-a)(s-b)(s-c)}$

जहाँ a, b, c तीनो भुजाओकी पृथक पृथक लम्बाई है, और $s = \frac{1}{2}(a+b+c)$

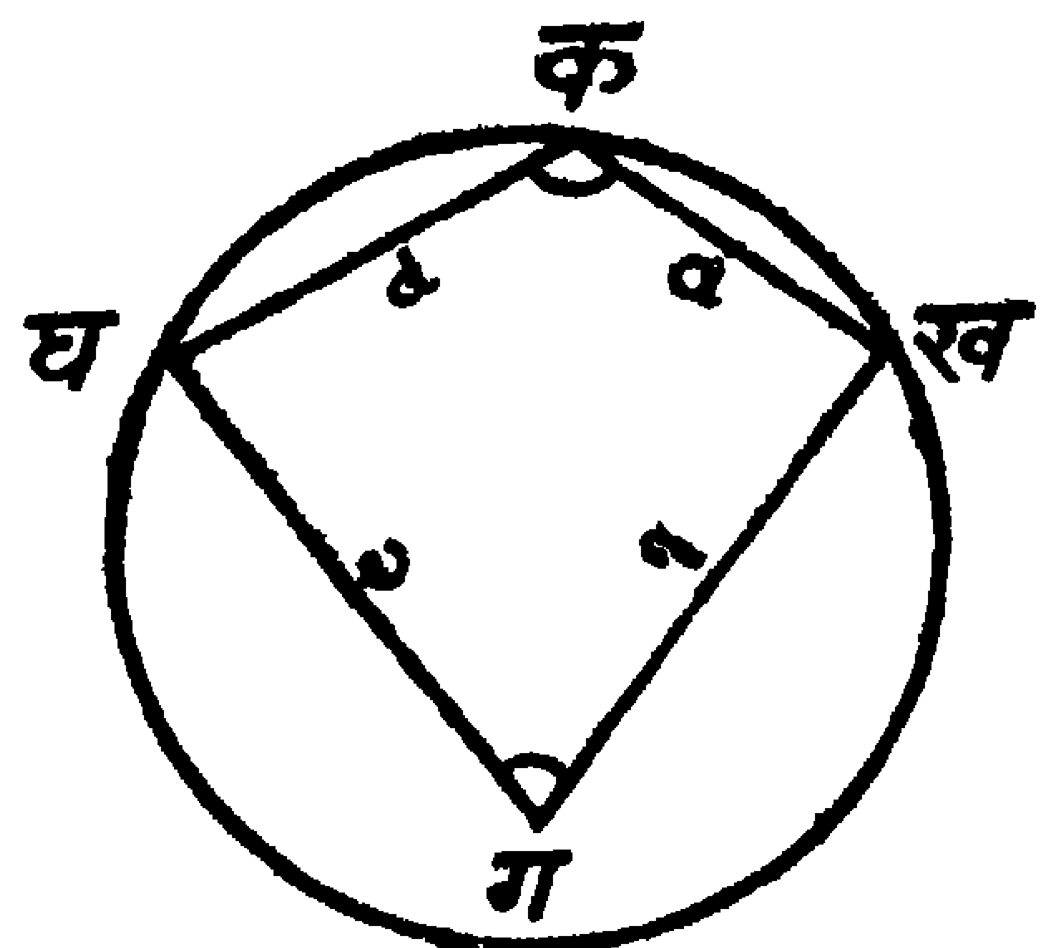
वस्तुत महावीर और ब्रह्मगुप्तके ये समीकरण उन्ही चतुरस्रोके लिये यथार्थ है जिनके चारो शीर्ष वृत्तकी परिधि पर हो (cyclic quadrilateral) । सभी चतुरस्रोंके लिये सामान्य समीकरण निम्न होगा -



चित्र १ चक्रीय चतुरस्र

$S = \frac{a+b+c+d}{2}$

$\alpha = So^{0}$



चित्र २ अचक्रीय चतुरस्र

$\alpha = \frac{\angle क + \angle ग}{2}$

चतुरस्रका क्षेत्रफल $= \sqrt{(s-a)(s-b)(s-c)(s-d) - a\,b\,c\,d\,\mathrm{Cos}^2 \alpha}$

जहाँ α = चतुरस्रके आमने-सामनेके कोणोंके योगका आधा

(चक्रीय चतुरस्रमें $\alpha = 90^\circ$, $\mathrm{Cos}\,\alpha = 0$, चित्र 1)

चतुरस्रोंका क्षेत्रफल निकालनेके लिये महावीरने निम्न नियम प्रतिपादित किया है

भुजायुत्यर्धचतुष्काद् भुजहीनाद् घातितात् पद सूक्ष्म ।

अथवा मुखतलयुतिदलमवलम्बगुणैंर्न विषमचतुरस्रे ।। (ग० सा० स० ७।५०)

यही बात श्रीधरकी पाटीगणितमें इस प्रकार कही गयी है

भुजयुतिदल चतुर्धा भुजहीन तदवघात्पद गणितम्
सदृशासमलम्बानामसदृशलम्बे विषमबाहौ । (११७)

अर्थात् चारों भुजाओंका योग निकालकर उसका आधा करो और इस फलमें क्रमश प्रत्येक भुजाकी लम्बाई घटाओ, फिर चारोंको गुणा करो, फिर इसका वर्गमूल निकाल लो । ऐसा करनेसे चतुरस्रका क्षेत्रफल निकल आवेगा ।

यह स्मरण रखना चाहिये कि यह नियम सभी चतुरस्रोके लिये लागू नही है । द्वितीय आर्यभट्टने स्पष्टतया इगित किया है कि त्रिभुजोंके लिये तो यह नियम ठीक है, किन्तु जब तक कर्ण (diagonal) का ज्ञान न हो, चतुरस्रका न तो क्षेत्रफल निकाला जा सकता है और न इसके लम्बक निर्धारित किये जा सकते हैं

कर्णज्ञानेन विना चतुरस्रे लम्बक फल यद्वा ।
वक्तु वाञ्छति गणको यो ऽसौ मूर्ख पिशाचो वा ।। (महासिद्धान्त, २५।७०)

बिना कर्णके जाने जो गणितज्ञ चतुरस्र क्षेत्रका क्षेत्रफल निकालना चाहते है, वे मूर्ख और पिशाच हैं । ऐसे कठोर शब्द आर्यभट्ट द्वितीयने कहे हैं । महावीर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर आदिने चतुरस्रोंके विषयमें जो कहा है, वह केवल चक्रीय चतुरस्रोंके विषयमें है ।

पाँच जातियोके चतुरस्रोके कर्ण जाननेके लिये महावीरने निम्न नियम दिया है

क्षितिहतविपरीतभुजा मुखगुणभुजमिश्रितौ गुणच्छेदौ ।
छेदगुणौ प्रतिभुजयो सवर्गयुते पदं कर्णौ ।। (ग० सा० स०, ७।५४)

यह नियम भी केवल चक्रीय चतुरस्रोके लिए यथार्थ है, ऊपरके श्लोकमे जो कहा है, उसे हम बीजगणितीय शब्दोंमें निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते है

$$(\text{चक्रीय})\ \text{चतुरस्रका कर्ण} = \sqrt{\frac{(ac+bd)\ (ab+cd)}{ad+bc}}$$

$$\text{अथवा} \qquad = \sqrt{\frac{(ac+bd)\ (ad+bc)}{ab+cd}}$$

वृत्तमे व्यास और परिधिका सम्बन्ध—महावीरके अनुसार यदि वृत्तके व्यासको १० के वर्ग मूलसे गुणा कर दिया जाय, तो परिधिका मान निकल आता है । आज कल के शब्दों में

$$\sqrt{१०} = \pi = \frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}} = ३\ १६$$

वृत्तक्षेत्र-व्यासो दशपदगुणितो भवेत् परिक्षेप ।

व्यासचतुर्भागगुण परिधि. फलमर्धमर्धंतत् ॥ (ग० सा० सं०, ७।६०)

$$\text{परिधि} \times \frac{\text{व्यास}}{४} = \text{वृत्तका क्षेत्रफल} = \frac{\text{व्यास} \times \sqrt{१०} \times \text{व्यास}}{४} = \pi r^2$$

व्यास = २ व्यासार्ध = $2r$, वृत्त का क्षेत्रफल = πr^2

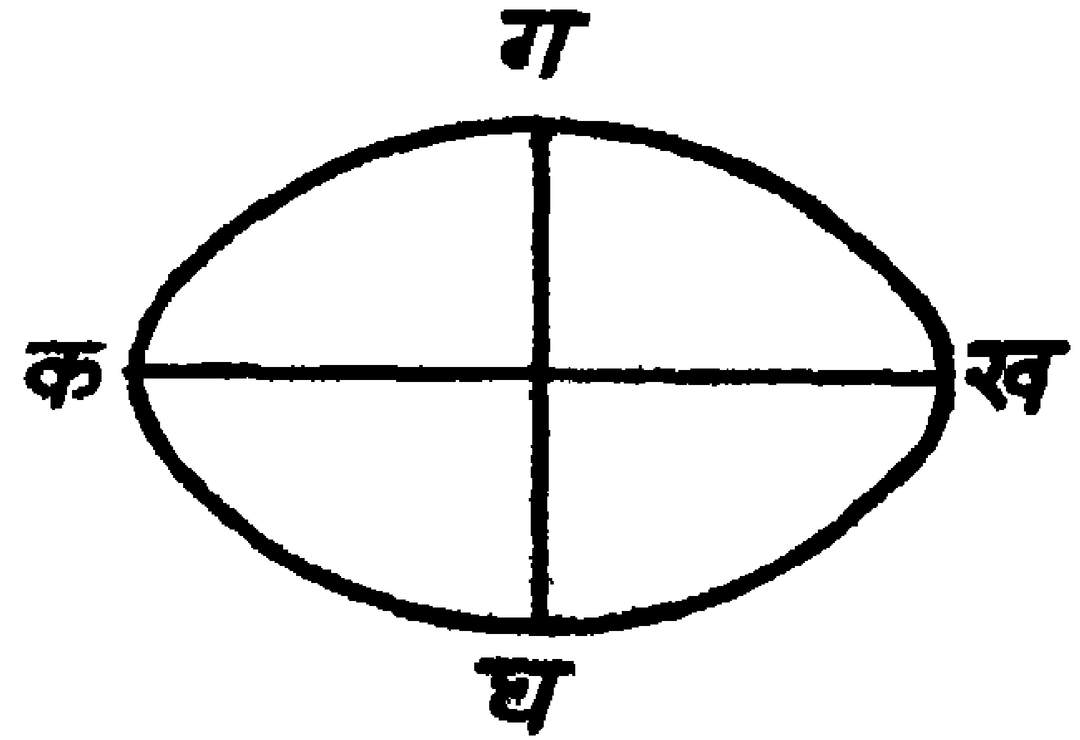
आर्यभट प्रथमने वृत्तकी परिधि और उसके व्यासका सम्बन्ध निम्न सख्यासे व्यक्त किया है

$$\pi = \frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}}$$

$$= \frac{६२६३२}{२००००} = ३.१४१६ \text{ (आर्यभट)}$$

$$= \frac{१६ \times ३९२७}{१६ \times १२५०} = ३ १४१६ \text{ (भास्कर)}$$

आयतवृत्त (ellipse) अर्थात् दीर्घवृत्तके व्यास और परिधि—आयतवृत्तको आज हम दीर्घवृत्त कहते है। इसके दो व्यास होते है। एक तो बडा और दूसरा छोटा। आयतवृत्तकी परिधि और क्षेत्रफलके सम्बन्धमें महावीरका नियम निम्न है



चित्र ३ आयतवृत्त

आयाम = कख = a, व्यास या विष्कम्भ = गघ = b

व्यासकृतिष्षड्गुणिता द्विषड्गुणायामकृतियुता (पर) परिधि ।

व्यासचतुर्भागगुणाश्चायतवृत्तस्य सूक्ष्मफलम् ॥ (ग० सा० स०, ७।६३)

छोटे व्यास (विष्कम्भ) के वर्गको ६ से गुणा करो और लम्बे व्यास (आयाम) के दुगुनेका वर्ग लेकर इसमें जोडो। इस वर्गका जो वर्गमूल होगा, वह परिधिकी लम्बाई होगी। परिधिको छोटे व्यासके चतुर्थांशसे गुणा करें, तो आयतवृत्तका क्षेत्रफल निकल जावेगा।

इसी बातको हम बीजीय समीकरणमे निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते है

$$\text{परिधि} = \sqrt{6b^2 + 4a^2}$$

जहाँ b = आयतवृत्तका छोटा व्यास, a = आयातवृत्तका बडा व्यास (आयाम)

$$\text{आयतवृत्तका क्षेत्रफल} = \text{परिधि} \times b/4$$

$$= b/4 \sqrt{6b^2 + 4a^2}$$

(यह स्मरण रखना चाहिये कि मूल श्लोकमे यह नही लिखा कि परिधि निकालनेके लिए $6b^2 + 4a^2$ का वर्गमूल निकालना है)।

महावीरने अभ्यासके लिये एक उदाहरण दिया है ·

'क्षेत्रस्य आयतवृत्तस्य विष्कम्भो द्वादशैव तु ।
आयामस्तत्र षट्त्रिंशत् परिधि क फल च किम् ॥ (ग० सा० स०, ७।२२)

अर्थात् यदि एक आयत वृत्तका विष्कम्भ (छोटा व्यास) १२ और आयाम (बडा व्यास) ३६ है, तो उसकी परिधि और क्षेत्रफल बताओ ।

$$\text{परिधि} = \sqrt{6b^2 + 4a^2}$$
$$= \sqrt{6 \times 12 \times 12 + 4 \times 36 \times 36}$$
$$= \sqrt{36 \times 24 + 4 \times 36 \times 36}$$
$$= 6 \times 2 \sqrt{6 + 36}$$
$$= 12 \sqrt{42} = 12 \times 6\ 48 = 77\ 76$$
$$\text{क्षेत्रफल} = b/4 \times 12\sqrt{42} = 3 \times 12\sqrt{42}$$
$$= 36 \times 6\ 43 = 233\ 28$$

महावीरने आयतवृत्तोकी परिधि और क्षेत्रफल निकालनेकी एक स्थूल या व्यावहारिक विधि भी दी है

व्यासार्धयुतो द्विगुणित आयतवृत्तस्य परिधिरायाम ।
विष्कम्भचतुर्भाग परिवेषहतो भवेत्सारम् ॥ (ग० मा० स०, ७।२१)

अर्थात् बडे व्यास में छोटे व्यासका आधा जोडो और इसे दोसे गुणा करो । ऐसा करनेसे आयतवृत्तकी परिधि मिलेगी । इस परिधिको छोटे व्यास (विष्कम्भ) के चौथाई मानसे गुणा करो, तो क्षेत्रफल मिलेगा ।

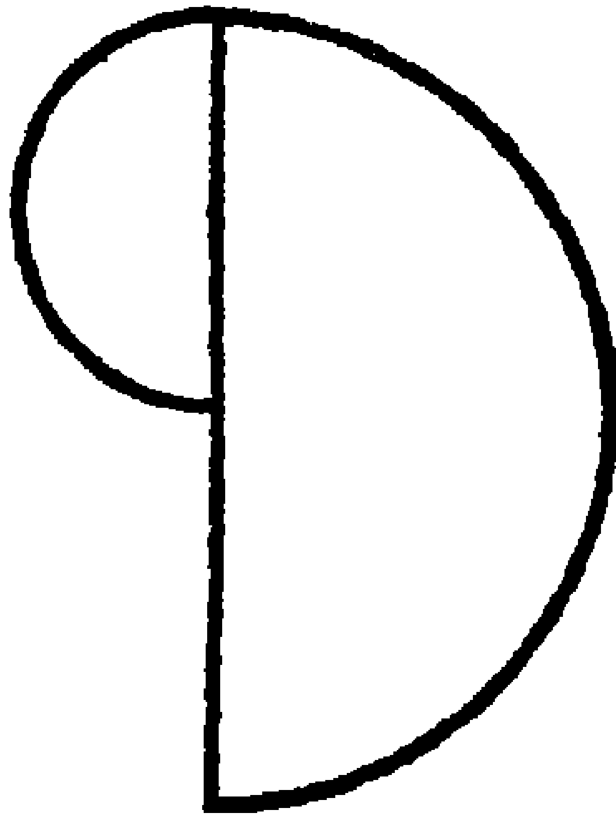
$$\text{परिधि} = 2\ (a + b/2)$$
$$\text{क्षेत्रफल} = b/4 \times 2\ (a + b/2)$$

ऊपरके उदाहरणमें, $a = 36$, $b = 12$, फलत

$$\text{परिधि} = 2\ (36 \times 12/2) = 2 \times 42 = 84$$
$$\text{क्षेत्रफल} = 3 \times 84 = 252$$

ये उत्तर स्थूल अर्थात् त्रुटिपूर्ण हैं, सूक्ष्ममानमें परिधि 77 76 और क्षेत्रफल 233 28 है ।

कम्बुक क्षेत्र (conchiform) की परिधि और क्षेत्रफल निकालना—इन क्षेत्रोंके सम्बन्धमें भी महावीरने स्थूल और सूक्ष्म मानो के निकालनेके पृथक्-पृथक् नियम दिये हैं ।



चित्र ४. कम्बुकवृत्त

कम्बुकके समान वृत्त (चित्र ४) की अधिकतम चौडाईमेंसे कम्बुकके मुखका आधा घटाओ और इसे फिर तीनसे गुणा करो । ऐसा करनेसे कम्बुक वृत्तकी परिधि मिलेगी । इस परिधिके आधेके वर्गका एक तिहाई लो और इसमे मुखके आयामके आधेके वर्गका ३/४ जोडो, तो कम्बुक वृत्तका क्षेत्रफल मिलेगा ।

वदनार्धोनो व्यासस्त्रिगुण परिधिस्तु कम्बुकावृत्ते ।
वलयार्धं कृतित्र्यशो मुखार्धवर्गत्रिपादयुत ॥

(ग० सा० स०, ७।२३)

मान लो कम्बुवृत्तका व्यास = a, मुखका आयाम = m; तो

$$\text{परिधि} = 3\ (a - \tfrac{1}{2}\ m)$$

$$\text{क्षेत्रफल} = [\tfrac{3}{2}\ (a - \tfrac{1}{2}\ m)\ ]^2 \times \tfrac{1}{3} + (m/2)^2 \times \tfrac{3}{4}$$

एक अन्य स्थल पर महावीरने कम्बु-निभ वृत्तकी परिधि (परिक्षेप) और क्षेत्रफल दोनोंका अधिक सूक्ष्म मान निम्न शब्दों में दिया है

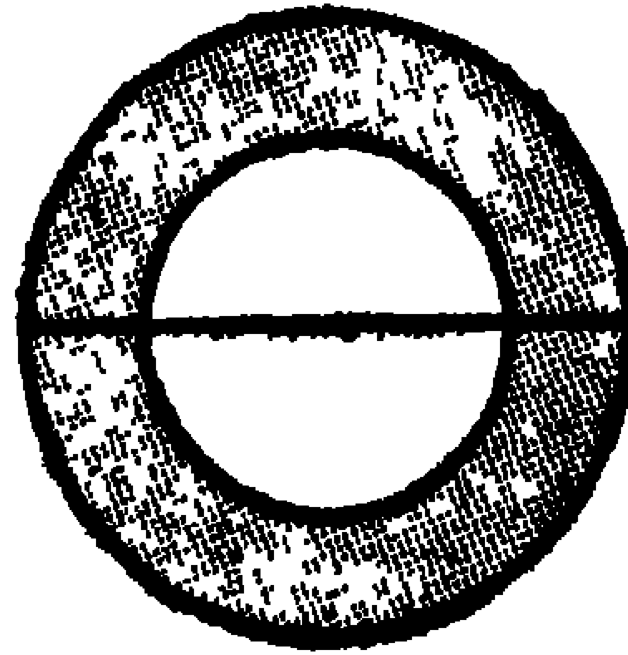
नवनार्धोनो व्यासो दशपदगुणितो भवेत्परिक्षेप' ।
मुखदलरहितव्यासार्धे वर्गमुखचरणकृतियोग ॥
दशपदगुणिता क्षेत्रकम्बुनि मे सूक्ष्मफलमेतत् ॥ (ग० सा० स०, ७।६५–६६)

दशपदका अर्थ $\sqrt{१०}$ अर्थात् १० का वर्गमूल है। इस सूक्ष्म मानके आधार पर कम्बु-वृत्तके लिये

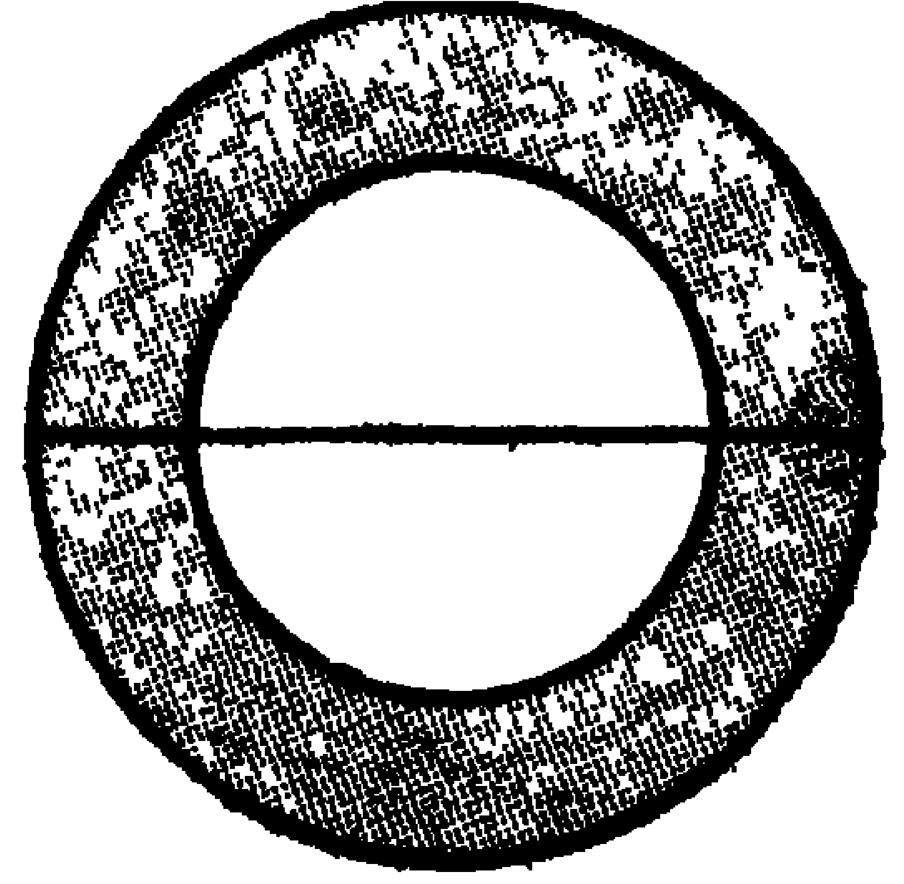
$$\text{परिक्षेप या परिधि} = \sqrt{10} \times (a - \tfrac{1}{2}\ m)$$

$$\text{क्षेत्रफल} = [\ \{\ (a - \tfrac{1}{2}\ m) \times \tfrac{1}{2}\ \}\ ^2 + m/4]^2 \times \sqrt{10}$$

बहि. और अन्तश्चक्रवाल वृत्तोंके क्षेत्रफल—किसी वृत्तके बाहर दूसरा समकेन्द्रक वृत्त खीचा जा सकता है और इसी प्रकार कभी उसी वृत्तके भीतर भी एक समकेन्द्रक वृत्त खीचा जा सकता है। इन दोनो स्थितियोमें दो प्रकारके चक्रवालवृत्त प्राप्त होते हैं—अन्त श्चक्रवाल वृत्त और बहि चक्रवाल वृत्त। दोनों अवस्थाओमे दो समकेन्द्रक वृत्तोके बीचमें जो क्षेत्र घिरा हुआ है, उसका क्षेत्रफल निकालना है। महावीरने इसके निकालनेकी स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकारकी गणनायें दी हैं



चित्र ५ (क)
अन्तश्चक्रवालवृत्त



चित्र ५ (ख)
बहिश्चक्रवालवृत्त

निर्गमसहितो व्यासस्त्रिगुणो निर्गमगुणो बहिर्गणितम् ।
रहिताधिगमव्यासादभ्यन्तरचक्रवालवृत्तस्य ॥ (ग० सा० स०, ७।२८)

भीतरके वृत्तके व्यासमें निर्गमकी चौडाई (breadth of annular space) को जोड दो और इसे तीनसे गुणा कर दो, तो बहि चक्रवालवृत्तका क्षेत्रफल निकल आवेगा। इसी प्रकार, वृत्तके व्यासमेंसे अधिगमकी चौडाईको घटा दो और फिर इसे ३ से गुणा करके अधिगम चौडाईसे गुणा करो तो अन्तश्चक्रवालवृत्तका क्षेत्रफल निकल आवेगा।

मान लो कि दिये वृत्तका व्यास d है और इसके बाहर खीचे वृत्तका निर्गम a है तो बहि चक्रवालवृत्तका क्षेत्र

$$= (d + a) \times 3 \times a$$

इसी d व्यासके वृत्तके भीतर अभिमम a हो, तो अन्तश्चक्रवाल-वृत्तका क्षेत्र

$$= (d - a) \times 3 \times a$$

महावीरने दोनोंका एक उदाहरण दिया है

व्यासोऽष्टादशहस्ता, पुनर्बहिर्निर्गतास्त्रयस्तत्र ।
व्यासोऽष्टादशहस्तास्त्वान्त. पुत्ररधिणतास्त्रय किं स्यात् ।। (ग० सा० सं०, ७।२९)

यहाँ d = 18 और a = 31

बहि चकवाल-वृत्तका क्षेत्र $= (18 + 3) \times 3 \times 3$

$= 189$ वर्गहस्त

अन्त चक्रवाल-वृत्तका क्षेत्र $= (18 - 3) \times 3 \times 3$

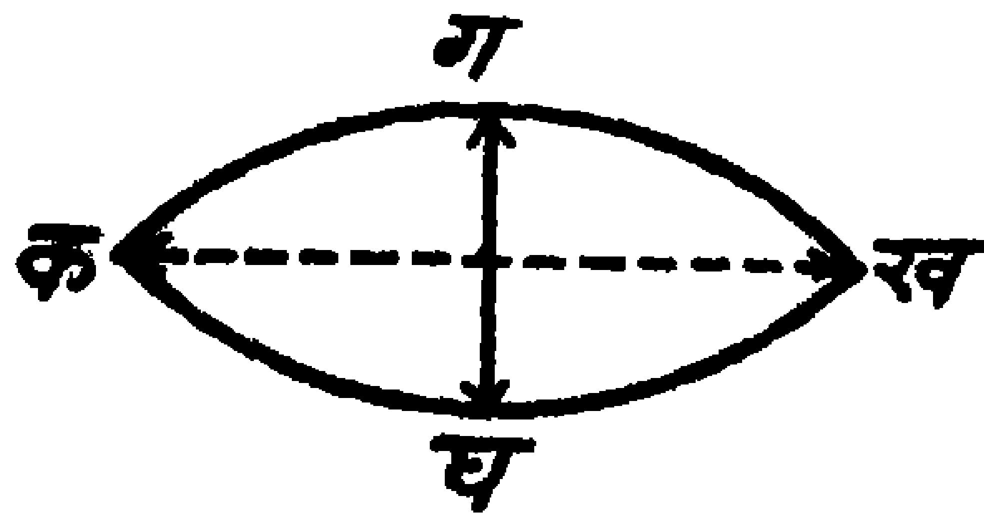
$= 135$ वर्गहस्त

स्मरण रखना चाहिये कि इन सब उदाहरणोमें पाई (π) का मान स्थूलतया ३ माना गया है। इसे $\sqrt{10}$ या ३,१४१६ (आर्यभटका) मान लेनेपर प्रश्नोके उत्तर कुछ भिन्न होगे।

महावीरने गणितसार-सग्रहके सप्तम अध्यायमें अन्य आकृतियोके क्षेत्रो और परिक्षेपोके निकालनेके लिये भी नियम दिये हैं जो गणितज्ञोके विशेष कामके हैं। ये आकृतियाँ निम्न हैं

यतमुरजपणवशक्रायुधसस्थानप्रतिष्ठिताना तु ।
मुखमध्यसमासार्धं त्वायामगुण फले भवति ।। (ग० सा० स०, ३।३२)

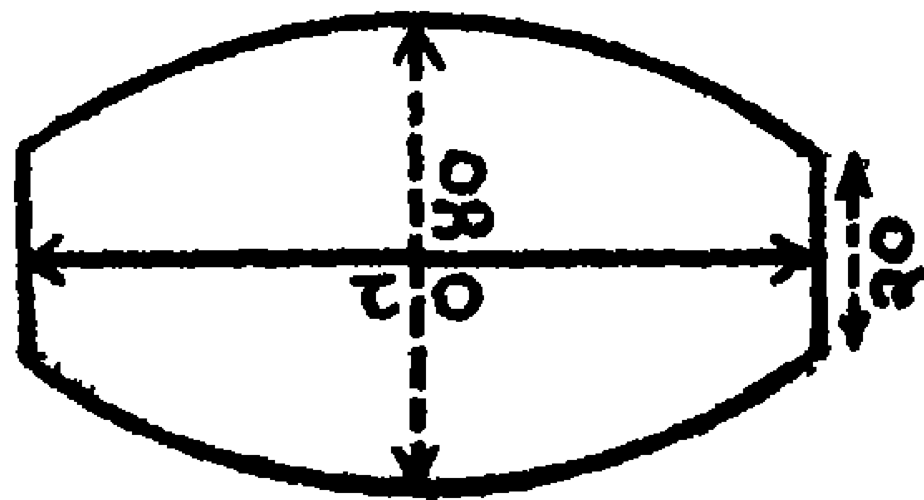
यव, मुरज (मृदङ्ग), पणव, वज्र । इनके लिये सामान्य नियम यह है मुख पर चोडाई = a, मध्यमें चौडाई = b, पूरी लम्बाई (आयाम) = c, तो क्षेत्रफल $= \frac{1}{2}(a + b) \times c$



चित्र ६ यव

यवसस्थानक्षेत्रस्यायामोऽशीतिरस्य विष्कम्भ ।
मध्यश्चत्वारिंशत्फल भवेत् किं समाचक्षत ।।
(ग० सा० स०, ७।३३)

मान लो यव (जौ के आकारका क्षेत्र) की लम्बाई ८० है, बीचमें चौडाई ४० है, दोनो नोको या शीर्षों पर चौडाई शून्य है। अत क्षेत्रफल $= \frac{1}{2}(0 + 40 \times 80) \times 80 = 1600$ वर्गहस्त।



चित्र ७. मृदग या मुरज

आयामोऽशीतिरय दण्डामुखस्य विंशतिमध्ये ।
चत्वारिंशत्क्षेत्रे मृदगसस्थानके ब्रूहि ।।
(ग० सा० स०, ७।३४)

मृदगके आकारके क्षेत्रकी लम्बाई ८० दण्ड है, किनारों पर मुख २० दण्डका है और बीचमें मान ४० दण्डका है। फलतः

$$\text{क्षेत्रफल} = \frac{1}{2}(a + b) \times c$$

$$a = 20;\ b = 40,\ c = 80$$

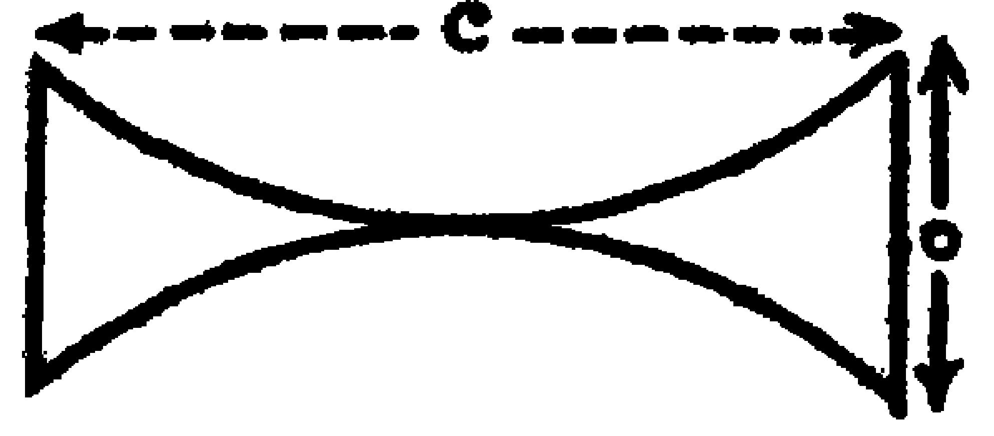
$$\text{क्षेत्रफल} = \frac{1}{2}(20 + 40) \times 80$$

$$= 2400 \text{ वर्गदण्ड}$$

इसी प्रकार हम एक उदाहरण वज्रका लेंगे।

वज्र बीचोंबीचमें शून्य मोटाईका है, मुखकी चौडाई $= a$ और आयाम $= c$ है, अत निम्न उदाहरणमे

वज्राकृतेस्तथास्य क्षेत्रस्य षड्नवतिरायाम ।
मध्येसूचिर्मुखयो स्त्रयोदशत्र्यंशसयुता दण्डा ॥
(ग० सा० स०, ७।२६)



चित्र ८. वज्र

यहाँ $c = 96$ दड, मुख पर का मान $= a = 13\frac{1}{3}$ दड, $b = 0$

$$\text{क्षेत्रफल} = \frac{1}{2}\left(\frac{40}{3} + 0\right) \times 96$$
$$= 640 \text{ वर्गदण्ड}$$

महावीरने अपने ग्रन्थ गणितसार-सग्रहके क्षेत्राध्यायमें इसी प्रकारकी अनेक उपपत्तियोका विवरण दिया है। वृत्तों, त्रिभुजो और चतुर्भुजोके इतने विस्तार दिये हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नही है। प्राचीन गणितसे सम्बन्ध रखनेवाले इतिहासमें महावीरका नाम अमर है और कोई भी इतिहासकार इस गणितज्ञकी उपेक्षा नही कर सकता है। आर्यभटीय, बखशाली हस्तलिपि, पाटीगणित (श्रीधरकी) और ब्रह्मस्फुटसिद्धान्तके समान गणितसार-सग्रह अमर ग्रन्थ है, जिससे प्रत्येक भारतीय गणितप्रेमीको परिचित होना चाहिये।



THE CONCEPT OF MATTER IN EARLY BUDDHISM

Prof. Angraj Chaudhary

Nav Nalanda Mahavihar, Nalanda

In early Buddhism, analysis of matter has been made with an express ethical purpose in view Buddhist Ethics lays emphasis on getting rid of *taṇhā* which is at the root of our repeated existence and sufferings of all kinds, physical, mental and cosmic *Taṇhā* is caused by our desire for the various objects of the world. We are attached to the various forms of *rūpa* (matter) and our passionate attachment to them gives rise to *tanhā* The irony is that no amount of the enjoyment of the worldly objects can quench our thirst for them. The more we have of them, the more we still desire of them *Tanhā*, as a matter of fact, is an ever going dynamo, the more it is constantly fed on by objects of *tanhā* the more it produces ever increasing tanhā.

Lord Buddha, unlike other theoretical Philosophers, was a practical Philosopher and the *dharma* preached by him contains practical doctrine. Lord Buddha's greatest purpose was to get rid of suffering which are heir to. Suffering, as we have seen, is caused by our attachment to *rūpa* i. e by our *chandarāga* for it But we are hardly aware that the *rūpa*, we attach ourselves to, is in a constant state of flux. Though it looks permanent and unchanging, it is merely appearance. The reality is far otherwise Therefore attachment to *rūpa* would inevitably lead to unrest and sorrow. In the *Samyutta Nikāya* Buddha advises us to give up all kinds of desire and passion in respect of *rūpa*.

Yo, Bhikkave, rupasmim chandarāgo tam pajahatha.[1]

Rūpa (matter) is not a *samyojana* (fetter) in itself, but it is *Samyojanīya* i e, it creates fetters. So long as we have avid greed and passion in our mind for the various objects of the world, we will always be bound by fetters created by them. Therefore if we want to put an end to suffering, we must destroy the various warps and woofs of our passion for the objects of the world. *Rūpa* is productive of fetters that bind the living being to *Samsārika* existence *Rūpam samyojaniyo dhammo.*[2]

It is chiefly and perhaps solely in this context that the Buddhists have made an analysis of matter. Because *rūpa* is *samyojanīya*, so its true nature must be comprehended. Our ignorance of its true nature will make us crave for it, remain attached to it and as a consequence our spiritual progress will be impeded.

There are a number of passages in the Pali canon which describe this aspect of *rūpa*. It is a source of dangers that arise from attachment to it. How do we

get attached to it? Because we are ignorant of its real nature *Ajānaṁ apassaṁ sārajjati.*[3] In the *Samyutta Nikāya* Lord Buddha says · *Rūpaṁ, Bhikkhave, anabhijānam, aparijānam abhabbo dukkhakkhayāya.*[4]

Rūpa (matter) is not permanant Its origination and dissolution are manifested. In the *Samyutta Nikāya*[5] its true nature is described. It is *Paticcasamuppanna, samkhāta, aññathā bhāvi, khayadhammā, vayadhamma* and also it is *nirodha dhamma.*

In the profoundly religious context, it has been described as *māra, roga gaṇḍa salla ogha* and *āditta. Suññam, tuccha, ritta* and *asāra* form another set of characteristics describing *rūpa* It has been compared to *Phenapinda* (bubble) to bring out its impermanent nature

Analysis of matter by the Early Buddhists has been done in the above mentioned way so that no one may feel like being attached to *Rūpa* which is short-lived like froth

The early Buddhists do not so much describe the metaphysical concept of *rūpa* as they describe its that aspect which causes our worldly existence Human personality is made up of *nāma* (Consciousness) and *rūpa* (matter). The Early Buddhists have described both of them from a pragmatic point of view which is to end our suffering

The Buddhists like the Vedantins do not regard this external world as non-existent Nor like the other idealists, do they show that the world is mind-made or a projection of subjective thought as held by Berkely. Throughout the Pali texts it is maintained that matter or *rūpa* does exist independent of one's mind.

This is the position taken by the early Buddhists. They start from the obvious. According to them when an individual comes into being in this world, he comes in contact with this external world which acts on him and to which he reacts. Thus, attachment to those objects of the world which are pleasing to him and repugnance for the objects which do not do so arise in him As a consequence, he gets inextricably bound by his passions and desires

The immediate problem before the Early Buddhists was how to annihilate passions and desires It was, therefore, very necessary for them to understand the real nature of *rūpa* which acts on human beings and causes interminable grief

According to Buddhist Philosophy, human personality is composed of five *Khandas* in their dynamic relationship with one another. They are *rūpa, vedanā, saññā, samkhāra,* and *viññāṇa.* The last four are mind and the first one is matter. How the two entirely opposite elements are related has been graphically described by Buddhaghosa He gives the illustration of a lame man going on the Path on the shoulders of a blind man. None of them can do without the help of other Both depend on each other

Such a human personality naturally reacts to the external world with the six sense organs he is endowed with The dynamic contact between the sense

organs and their objects gives rise to myriads of complex sensations which cause fetters that bind an individual to the wheel of existence unmistakably characterised by suffering.

The summum bonum, according to Buddhist Philosophy, is *nibbāna* which means the extinction of all passions and desires. It has been time and again pointed out that whatever is in a state of constant flux can hardly afford any lasting happiness *Rūpa* has been defined in the following words

Ruppatīti kho, Bhikkhave, tasmā rūpam ti vuccati
kena ruppati ? sīten pi ruppati, unhen pi ruppati,
jigacchāya pi ruppati, daṃsa makasa vātātapa sirinsapa
samphassena pi ruppati !

T W Rhys Davids explains the most important word *ruppati* in this passage as "to be vexed, oppressed, hurt, molested" According to the *Vibhanga Atthakathā*, it is *kuppati*, *pīliyati* and *bhijjati* Although *ruppati* refers to a psychological disturbance, it also refers to the physical change that an object undergoes The whole purpose is to show the changeable and transmutable nature of *rūpa* There is nothing like the metaphysical entity called matter But any given material is analysable into *rūpadhammas*, which have been regarded as the ultimate reducible factors that make up the physical world A *rūpa dhamma* does not have any independent existence It always exists inseparably with a set of other *dhammas*. It is for this reason that the *mahābhūtas* are called *sahajāta*

According to Buddhist Philosophy, there are twenty eight types of *rūpas*, four of them are primary and the rest twenty four are secondary.

Pathavī, *āpo*, *tejo* and *vāyo* are primary elements and they are called *mahābhūtas* *Pathavī dhātu* is characterised by *Kakkhalatā* and *kharigatā* One may say that *kakkhalatā* is itself *Pathavī*. So is the case with *āpo dhātu* which is defined as *rūpassa bandhanattā* i e viscidity and cohesion that bind the matter together. There are two other characteristics of water, *paggharana* i. e. flowing and *nissandabhāva* i. e. state of streaming

In the *Nikāyas*, the *mahābhūtas* are defined in simple and general terms and they are illustrated with reference to the constituents of body Hair of the head and body, nails, teeth, flesh and skin etc are examples of *pathavī dhātu*, because they are hard and rigid. Blood bile, cough and phlegm are examples of *āpodhātu*. Heat in the body is an example of *Tejo dhātu* and inhalings and exhalings and other kinds of winds are examples of *vayo dhātu* which is airy

Such definitions of the *mahābhūtas* may be called popular. It is only in the Abhidhamma that abstract and detailed definitions of these *mahābhūtas* are given. According to the *Nikāyas* what is *kakkhala* is *pathavī*, whereas according to the Abhidhammika definition *kakkhalatā* itself is *paṭhavī*. Not only *kakkhalatā* but *kharatva* and *gurutva* also are said to be *paṭhavī* It is also defined as that which spreads up,

patthavatiti paṭhavī. Buddhaghosa says that *paṭhavī dhātu* acts as a foundation in so far as the other three elements are established on it

Āpo dhātu is *rūpassa handhanattā* i. e it is that which binds the *rūpa kalāpas* together It is represented by the fact of *sineha* or viscidity. How are the particles of iron or for that matter the particles of stone closely bound together? It is the function of *āpo dhātu* to bind all the particles together Two other characteristics of *āpo dhātu* are flowing and streaming These account for the fact that *vāyo dhātu* and *tejo dhātu* also have *āpo dhātu* in them, because they spread and flow. According to the Vaiśeṣika philoshphy, āpo has two characteristics i e Liquidity and viscidity, *Āpo dravah snigdhah* but unlike the Vaiśeṣikas, the Buddhists do not recognize the dichotomy between substance and quality.

Tejo dhātu means the phenomenon of heat or *unhattā*. The Buddhists, unlike the upholders of Vaiśeṣika philosophy, believe that *uṣṇa* and *sīta* really come under *tejo dhātu* It is true that cold or *sīta* is known by the sense of touch, it is really *tejo dhātu* because cold is really relative absence of heat. This is indeed an ingenious explanation given by the Theravādin

The Dhammasangani defines *vāyo dhātu* in terms of *thambhitatta* (inflation) and chambhitatta (mobility) As distinct from the rest three of *mahabhūtas*, it represents the dynamic aspect

Thus seen, the *mahābhūtas* are not qualities and attributes of the *bhūta rūpa* i e they are qualities not inhering in any substance. In other words the qualities themselves constitute the *mahā bhūtas*

One of the fundamental features of the *mahābhūtas* is that none of them can exist in isolation In fact no *mahābhūta* (Primary element) can exist independently of the other three *mahābhūtas* They are, therefore, called *sahajāta* and *sahabhū* On further analysis it becomes clear that the *upapatti* (origination), *thiti* (existence) and *bhanga* (dissolution) of one always synchronize with those of the others The *mahā bhūtas* cannot be separated from one another In short, they rise together, exist together and are destroyed together They are, therefore, called *abbinibhoga rūpa*. It means that every instance of matter contains all the four primary elements. Thus all material aggregates are tetrabhautic. Although the Vedānta philosophy believes in monobhautic substance, it holds that in each mahābhūta there are five sūksame (subtle) *bhūtas* present

As against the sāmkhya system of philosophy where mahābhūtas are not ultimate constituents of matter (they are believed to evolve immediately from the tanmātrās and ultimately from the prākrti which is the uncaused first cause of the world of non-self), the Early Buddhists assign them a comparatively primary position

Vedānta philosophy, as we have seen holds that *mahābhūtas* are gross which come into being from the *sūksama bhūtas*. According to Jain philosophy, not the

four elements but the paramāṇus are the constituents of *pudgala*. So according to them paramāṇu is given a comparatively primary position. The Nyāya-Vaiśeṣika system of philosophy has postulated four kinds of atoms corresponding to earth, water, air and fire.

Besides the above explained four primary elements (*mahābhūtas*) there are twenty four secondary rūpas They are called *upādā rūpas* in so far as they depend on the *mahābhūtas* Five sense organs, four objects of the senses, two faculties of sex, one faulty of life, āhāra, *hadaya vatthu* (the physical basis of mental activity), the two modes of self expression (*kāyaviññatī* and *vacī viññatī*), three characteristics like *lahutā*; *mudutā* and *kammaññatā*, four phases of matter like *upacaya*, *santati*, *jaratā* and *aniccatā* and the element of space are the twenty four *upādā rūpas*.

The first five sense organs viz, *cakkhu*, *sota*, *ghāna*, *jivha* and *kāya* are respectively the organs of sight hearing, smell, taste and touch In the Abhidhamma they have been described as *pasāda* which means clearness and brightness. These sense organs are not only receptive, but they also gratify our sensual pleasures They react as well as gratify They are very subtle and delicate and they can be known by no other sense organ than by mind which is the subtlest of all They are composed of subtler matter and their corresponding objects are made of gross ones

According to the early Buddhists, the relationship between the sense organs and their corresponding objects is that between the subtle and the gross The Sāmkhya philosophy holds more or less the same view According to it, the development of matter takes place along two different lines. Where there is predominance of *sattva* that evolves into sense organs and where there is predominance of *tamas* or dead matter that becomes sense objects But there is a basic difference As Prof. Stcherbatsky has pointed out the two groups of matter are not conceived as modification of an eternal substance by the Buddhists

It has been held by most of the systems of Indian thought that the sense organs are something which are very fine and very subtle The Jains speak of two kinds of *indriyas* viz, *dravya indriyas* (the physical sense organs) and *bhāvendriyas*-their psychical correlates The Mimānsakas mention that "the sense organs consist in the faculty of potency abiding in their sockets" According to the Vedanta system of philosophy, different sense organs consist of *sattvic* parts of light, ether, earth, water and air

From all this, it is clear that sense organs as they are subtle, transparent and translucent, develop sensitivity to external world of objects as a looking glass does to all objects

The sense objects have been enumerated as four viz, *rūpa* (the visible), *sadda* (sound), *gandha* (smell) and *rasa* (taste). Although there is another sense object called the *phoṭṭabba* (the tangible), it has not been enumerated here because it

consists of three of the four primary elements, water being excluded. The *rūpāyatana* (the sphere of the visible) includes colour like blue, yellow, red, etc. and figures like circular, oval, square, hexagonal etc. The *saddāyatana* (the sphere of the audible) includes different kinds of sounds of drum, of tabors, of conch shells etc. The *gandhāyatana* (the sphere of the odorous) includes all kinds of odour *sugandha* and *durgandha* and the *rasāyatana* (the sphere of the savoury) includes tastes like bitter, pungent, saline and acrid etc.

It is interesting to note here that the earlier Buddhists have discussed the problem as to how does the sound travel. Does it require a medium to travel ? The answer is in the affirmative.

The two faculties of sex which are responsible for distinguishing the male and the female also come under *upāda rūpa* (secondary matter). According to the Dhammasangani, the *purisindriya* (faculty of masculinity) is responsible for the physical appearance, mark, traits and department that are peculiar to a male. Similarly the *itthindriya* (faculty of femininity) gives rise to the marks and traits of a female

Jīvitindriya (the faculty of life) is also a kind of *upāda rūpa*. Its function is to stabilize and sustain the *kammasamuṭṭhana rūpa* i. e. matter that rises as a result of *kamma*. There is *Jīvitindriya* in a piece of paper so long as it is not friable. The moment it becomes so, it has lost the faculty of life. *Kabalīkara āhāra* is also a form of secondary rūpa. Although it literally means gross food taken in morsels, its Abhidhammika meaning is that aspect of matter which is nutritive i e. which helps one in growth.

Hadaya vatthu, not recognized as a form of *rūpa* even in the Dhammasangani but mentioned in the *Paṭṭhava*, is a post canonical development It is called the heart basis which is the physical basis of *mano dhātu* (mind) and *mano viññāna dhātu* (mind consciousness).

The two modes of self expression (viññati rūpa) *kāyaviññati* (bodily expression) and *vacīviññati* (vocal expression) are also *upāda rūpas*. Because they make the thoughts known or they help in communicating thoughts, they are called viññati *Kāyaviññati* is not identical with bodily expression but it refers to the bodily tension that rises in response to a thought moral *(kusala)*, immoral *(akusala)* or indeterminate *(avyākata)*. In the Dhammasangani, it has been defined as the state of bodily tension or excitement *(kāyassa thambhanā santhanbhanā samthambhitattam)*. *Vacīviññati* means expression or communication through voice of speech or articulate sound It rises like *Kāyaviññati* in response to a *kusala, akusala* or *avyākata* thought

The three characteristics of matter viz., *lahutā* (lightness), *mudutā* (softness) and *kammaññatā* (pliability) are qualities of matter in general. This triad of *lahutā*, *mudutā*, and *kammaññatā* represents the healthy and efficient position of a being.

There are also phases of matter which are four in number viz., *rūpassa upacaya* (growth of matter), *rūpassa santati* (continuity of matter), *rūpassa jaratā* (decay of matter) and *rūpassa aniccatā* (impermanence of matter). Obviously these four phases indicate growth of matter, its continuity, its decaying state and its complete annihilation.

These phases of matter clearly point out that there is no justification for our being attached to any object for true happiness They rise only in order to be annihilated. When they are in a constant state of flux, how can they give true happiness?

The last item of *upāda rūpa* is *ākāsa* (element of space) It is *ākāsa dhātu* which gives room to all material things for movement. It is regarded as a bounded space.

Thus, it is clear that the early Buddhists have defined matter more from the ethical point of view than from the metaphysical point of view In spite of this bias, however, the metaphysical point of view is also not blurred and indistinct.

References

1 Sanyutta Nikaya, 2, PP. 375
2. Ibid, 2, PP. 262
3 Ibid, 3, PP 389
4. Ibid, 2, PP 262
5 Ibid, 2, PP. 261

लेखसार

प्रारंभिक बौद्ध दर्शन मे पदार्थ की धारणा

प्रो० अंगराज चौधरी, नवनालन्दा महाविहार

महात्मा बुद्ध एक व्यावहारिक दार्शनिक थे । उन्होंने धर्म के महान् उद्देश्यों में तृष्णाजनित दु ख से छुटकारा पाने की बात कही । यह तृष्णा विभिन्न सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व के कारण होती है । ये पदार्थ सयोजन नही, अपितु सयोजनीय हैं । इन सयोजनीयों से ममत्व हटाने के लिये ही बुद्ध ने उनकी मूल प्रकृति का विवरण दिया है ।

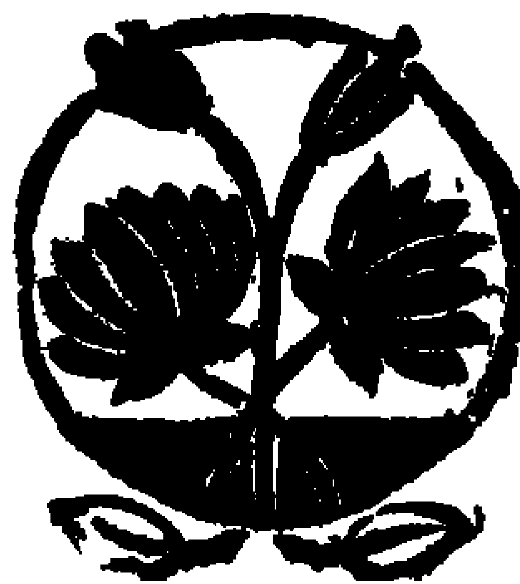
बुद्ध धर्म में पदार्थों को 'रूप' शब्द से अभिहित किया जाता है । संयुक्तनिकाय में रूप को प्रतीत्य समुत्पन्न, सख्यात, अनित्य, व्यय-क्षय-धर्मी और निरोध धर्मात्मक बताया गया है । इसे मार, रोग, असार, शून्य आदि नामो से भी कहा जाता है । इसकी प्रकृति बुलबुले (फेनपिंड) के समान अनित्य होती है । रूप की अनित्यता का यह वर्णन उससे ममत्वभाव उत्पन्न न होने देने के लिये ही किया गया है ।

बुद्ध न तो वेदान्तियों के समान जगत् को असत् मानते हैं और न ही वे इसे मानसिक प्रक्रिया मानते हैं । वे इसका स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं । इस जगत में मन और पदार्थ अंधे और लगड़े के समान

परस्पर संबद्ध हैं। इस संबंध को संपन्न करने में इन्द्रियां भी सहायक होती हैं। बौद्ध दर्शन में चार प्राथमिक और चौबीस द्वितीयक रूप (पदार्थ) माने गये हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये चार प्राथमिक रूप-महाभूत हैं। पृथ्वी में कक्खलता (कठोरता) और खरिणता (गुरुत्व) होती है, जल में विस्कासिता, संसक्ति और प्रवाहशीलता होती है। ऊष्मा तेजोरूप है और गतिशील श्वासोच्छ्वास वायुरूप है। पृथ्वी पर अन्य तीन रूप स्थित रहते हैं। विभिन्न धातुरूपों को बांधने वाला जलधातु है। तेजोरूप और वायुरूप में भी जलधातु के प्रवाह एव प्रसरण के गुण पाये पाये जाते हैं। ये सभी धातुयें अपने गुणों से अभिन्न रहती हैं। ये सभी मूलभूत रूप सहजात होते हैं और विलगित रूप में नहीं रहते। इन्हें 'अविनिभोग रूप' कहते हैं। इस प्रकार जगत के सभी पदार्थ चतुर्महाभूतमय होते हैं। ये महाभूत ही पदार्थ के मूल-भूत तत्व या घटक हैं। न्याय-वैशेषिक पद्धति भी ससार की व्याख्या में इन्ही चार तत्वों को मौलिक मानती है जबकि जैनदर्शन केवल एक समान परमाणुओं को ही मौलिक मानती है। वेदान्तियों के समान, बौद्धों के ये महा-भूत सूक्ष्मभूतों से निर्मित नही होते।

इन चार मौलिक महाभूतों से चौबीस द्वितीयक रूप उत्पन्न होते हैं। इन्हें उत्पाद रूप भी कहते हैं। इनमें पाँच इन्द्रिया, चार विषय, दो लिंग, जीवन, आहार, हृदयवस्तु (मन), शरीर, वचन, हल्कापन, कोमलता, नम्यता, उपचय, सन्तति क्षय, अनित्यता तथा आकाश समाहित हैं। पाँच इन्द्रिया शरीर के सूक्ष्म एव सवेदनशील घटक है। रूप (वर्ण और आकृति), शब्द, गध और रस—ये चार विषय हैं। पुरुष और स्त्री—ये दो लिंग हैं जो जीवों मे दो प्रकार के अभिलक्षण उत्पन्न करते हैं। जीवितेन्द्रिय कर्म-समुत्थान का चालक है। आहार विकास-साधन है। हृदयवस्तु मन की द्योतक है। शरीर और वचन अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। अन्य सात रूप पदार्थ के विभिन्न गुणों तथा प्रावस्थाओं को निरूपित करते हैं। आकाश सभी रूपो को अवगाहन देता है। बौद्ध इसे सीमित आकाश मानते हैं। इन चौबीस रूपों में केवल हृदयवस्तु ही ऐसा रूप है जो परवर्ती समाहरण है।

इन सभी रूपों के विवरण से स्पष्ट होता है कि इनमें कोई ऐसा विशेष गुण नहीं है जिससे इनके प्रति ममत्वभाव बढे। अत ममताभावमूलक तृष्णा के निरोध से जीवन को कल्याणकारी बनाना चाहिये।



METALS AND ALLOYS DURING THAKKUR PHERU'S PERIOD, 1290-1318 A. D.

N. L. Jain

Chemistry Deptt., Girl's College, Rewa, M. P.

Many authors[1] have attempted about the history of chemical knowledge in India in the past. Mention has been made therein of Charaka, Sushruta, Nagarjuna, Vrinda, Bhikshu Govind, Somdev, Bagbhata and others for their contributions in this field. However, Ugradityacharya of eighth century and Thakkur Pheru of fourteenth century do not find any mention, though they have given account of existing chemical knowledge including that of chemistry of mercury in their books Kalyan Karaka and Dravya Pariksha respectively. An account of chemistry in the first has already been reported and the chemical contents of Thakkur Pheru's book are reported here. It is found that during the beginning of 14th century, purification of metals, preparation of coins and many other chemical compounds find mention in his book Many of the processes described therein are the same as those practised today.

Thakkur Pheru and his books

According to the references given by Pheru himself in his books, he was the son of Chanda of ghanghia gotra of Shrimal family living in Kannana near Mahendragarh of today Though his date of birth is not given, but it is said that he composed eight books during 1290-1318 AD in the days of Sultan Alauddin and Qutubuddin He worked as minister of Treasuries in Delhi in this period and obtained chemical knowledge about the processes and materials used in coin making. He has mentioned himself to be Jain and accompanied Jin Chandra Suri in 1318 for sacred journeys details of which are not known Assuming that he must have been about 25 when he joined services in Delhi, and that he must have lived about ten years in munisangha, his life tenure could be safely taken to be between 1265-1330 AD. He seem to be a highly religious and scholarly man as before joining the services, he lived with a Jain scholar Rajshekhara at Kannana This is also clear from the fact that his first book is related with the main Acharyas of Khartargachcha after Mahavira This is written in Apabhransha language in Chaupai form composed in 1290 AD. He has composed seven more books but they are in Prakrit. Out of them only six are available and their subject is concerned with the useful or worldly knowledge like mathematics, architecture, examination of gems and diamonds, metals and materials, astronomy and geology Their details are given in Table 1.

Table 1. Books of Thakkur Pheru

S. No.	Name of the book	composing year	subject	form
1.	Yugapradhāna Chatuṣpadī	1290	Khartar Ācāryas	Chaupai and Chhappaya
2.	Ganita Sāra	—	Mathematics	311 gāthās
3.	Vāstu sāra	1315	Architecture	—
4	Jyotisa Sāra	1315	Astronomy	242 gāthās
5.	Ratnaparikṣā	131)	Gem examination	132 gāthās
6.	Dravya Parīkṣā	1318	metals and coins	149 gāthās
7	Dhātūtpattiḥ	1318	preparation & properties of metals and compounds	57 gāthās
8	Bhūgarbha Prakāsā*	—	geology	—

* not available

A compendium of first seven books has been found containing sixty pages and handcopied during 1346-47 i e 20 years after they were written This was accidentally found in a Jain Gyanbhandar in Calcutta in 1946 MD Desai has referred these books in his History of Jain Literature in Gujarat Muni Kantisager and BL Natha have also reported about these books in Viśwavāṇī (1960) and Viśāla Bhārata (1961) This was published in original in 1961 by Rajasthan Oriental Academy, Jodhpur But it seems it did not attract attention. Out of these seven books, books numbering 5, 6 and 7 are of interest to chemists These were written by T Pheru for the benefit of his brother and Hempal They have now been separately published with translation. Nahta Bros. Calcutta published book number 4 in 1963 while books no 6-7 have recently been published by Vaiśāli Research Institute in 1976 in a single volume This paper deals with book nos 6 and 7 only.

Chemical Processes in Dravyaparīkṣkā

This book consists of 149 gathas and describes production and purification of coinage metals and composition of various coins used during 13-14th, century AD in India This has a large number of technical words used in those days in these chemical operations These terms need proper clarification for their evalution. Some meanings, however, may be assigned to them with reference to the processes involved. Dhavadia, Kemmans powder, Chasni, Gahi, Ris etc are such terms. Even this book gives Dhatu a meaning of current use while the metal itself has been called "mahādhātu".

Extraction of silver.—Silver occurs in soils It is extracted with the help of ashes obtained by burning bones, trees and dried cowdung. The ashes are mixed with the silver ore and heated under a blowpipe flame on Dhavadia coals.

The impure product is then cupelled for further purification This method is the same as described in Nāgārjuna's Rasratnākara of 700 AD. This is also equivalent to the mixed amalgamation and cupellation processes of today.

It is also mentioned that lead is desilverised by liquation and crystallization. The lead thus obtained will contain about 2% Ag which, we know, cannot be removed due to the formation of eutectic mixture However, silver so obtained has been termed as pure (Bis Biswa) useful for coin making. The impure silver is also purified with the help of lead used in various proportions On heating this in crucibles, or cupels, pure silver is obtained and impurities are either absorbed by the material of the crucible or volatalised The pure silver could be converted into rods, ingots or foils Different qualities of silver could be prepared and named by mixing it with a mixture of copper and brass in various proportions. The material absorbed by the crucible could be desilverised, if any, by mixing it with borax, sajji and fusing it strongly

(*b*) *Extraction of gold* :—Gold is normally found in sands of the rivers and mountains or mines The ore is mixed with a mixture of white chalk (calcium carbonate), salt (sodium chloride) and kallar (sajji mitti mixture of sodium carbonate and sulfate) and heated strongly 3-21 times to get pure gold There is always loss of weight in the original ore by this treatment The gold ore may also be treated with the above mixture and kommans powder (containing perhaps lead, copper and tin) to obtain gold containing a small amount of copper in it Like silver, the quality of gold could be determined by the amount of gold contained in it, the nongold material being a mixture of silver, copper and brass in various proportions. In a farmula, he gives that a fused mixture of 23 parts of copper with 77 parts of gold serves a good material to prepare various qualities of gold The method of calculating the cost of a particular quality of gold has also been presented in the book The gold extracted today is also based on the same basic principles but with a better quantitative accuracy

(*c*) *Extraction of copper* —The copper ore obtained from mines is ground and mixed with cowdung and dried It is then heated stronglv in a furnace with strong blasts until the slag forms After the removal of slag, the copper so obtained is again heated by blasting to get it purified. The pure copper is then converted into either sheets or ingots.

According to the current practices, the ore is mixed with coke rather then cowdung which serves to produce carbon particles or carbon monoxide while burning to supply necessary reducing agents However, no flux seems to have been added in the olden times

(*d*) *Extraction of lead* :—The lead ore is ground and mixed with iron in the ratio of 2 3 and heated strongly in crucibles and furnaces The iron might have served the purpose of removing sulfur from the sulfurous ores and reducing

the oxidised ores It has also been pointed out that the slag from any extraction has half the value of the metal.

(*e*) *Extraction of mercury* :—The mercury ore is kept in a closed furnace and covered with dried cowdung cakes. On heating the furnaces with slow blasts, mercury comes out as sublimate and collected on the top of the furnace

2. Preparation of some common alloys

(*a*) *Brass* —It is prepared by fusing one part of copper with a fusion mixture containing four parts of Dhavadia and two parts of jaggery (here dhavadia must contain zinc compounds which are reduced to zinc metal by the reducing property of the jaggery) in a furnace The brass so obtained is ideal brass. Other qualities of brasses may also be obtained by increasing the quantity of copper during fusion It is now known that brass is a mixture of copper and zinc in varying proportions and a variety of brasses are possible

(b) *Bronze* —The bronze is a mixture of copper and tin in various proportions In Pheru's days, it was made by boiling one part of tin obtained from the treatment of solder metal with four parts of copper.

(c) *Solder* —It seems that this alloy was prepared directly from some ore, heating it with kommans powder The process gave a hot flowing liquid metal called Cambia which was used for making bronze as above

3 Preparation of some Compounds

(a) *Hingul* —This is called cinnabar today. It is prepared by heating sulfur and mercury in the ratio of 1 4. On current knowledge, the ratio should be 32 200 There is mention of preparing the compound by heating the powder of realgar and orpiment together for three days continuously. It seems these compounds arsenic must be containing mercury in some form which forms hingul after complete elimination of arsenic during long heating

(b) *Sindūra or red lead* —This is prepared in two stages In the first stage the lead metal is fused with 5% ashes of bamboos making the metal perchance in soluble form The mass is then dissolved in water and filtered hot The filtrate is allowed to settle and after decantation, it is ground and heated strongly in a furnace upto three days when its color changes to deep red, If heated too strongly, it is again converted to lead metal

4 Some other useful description

Besides the coinage metals and some of their compounds, there are descriptions about the units of weights used for these metals as below

16 yavas = 1 masha = 1 vanni
4 māśās = 1 tanka
3 ṭānkas = 1 tola = 11.55 gms

which gives the least unit of yava as equivalent to 0 057 gm.

There is description of various types of coins in use in various parts of the country at that time This includes their composition and values Some classes of coins are given in Table 11.

Table 11. Classes of coins in use during 13-14th century as per Pheru

	Class	Number of types
1.	Coins of silver	11
2.	Coins of gold	15
3	Coins of three metals (Cu, Ag, Au)	22
4.	Coins of two metals (Cu, Ag)	10
5	Special coins gurjar, chanderi etc.	8
6.	Coins of Delhi	48
7.	Qutubuddin coins	63

There is description of some other materials which were in use in those times. These include shankh, rudraksha, shaligram, chandan (sandalwood), Kastūrī, kuṁkuma, dhūpa, camphor and aguru This description includes only the natural source of these materials and their general physical properties.

Conclusion

Though the Dravyaparīkṣā and Dhātūtpattiḥ of Pheru is small in size, but it gives sufficient information about the metallurgical practices of his time This helps us to learn about the chemical knowledge of this period where Chemistry in India was supposed to be passing through an age of recession. It is hoped that reference to this book will be included by the history writers of sciences in India in future

References

1. Satyaprakāsa Vaijñānika Vikāsa ki Bhāratiya Parampara, Rashtrabhasha Parishad, Patna 1954, (b) Rasayan Vikas ki Bharatiya Parampara, Uttar Pradesh Hindi Akadami, Lucknow, 1960

1 (b) Ray, P C History of Hindu Chemistry, Chemical Society, Calcutta, 1902

लेखसार

ठक्कुर फेरू के समय (1290-1318 ई०) में धातुयें और मिश्रधातुयें

एन. एल. जैन, रसायन विभाग, गर्ल्स कालेज, रीवा म. प्र.

यद्यपि अनेक लेखको ने भारतीय रसायन के इतिहास में चरक, सुश्रुत आदि के योगदान की चर्चा की है, पर किसी ने भी आठवी सदी के उग्रादित्याचार्य (कल्याण कारक) और चौदहवी सदी के ठक्कुर फेरू (द्रव्य परीक्षा) की चर्चा नही की है। ठक्कुर फेरू वर्तमान महेन्द्रगढ़ (दिल्ली के पास) के रहने वाले थे औरउन्होंने 1290-1318 के बीच सात पुस्तकें लिखी हैं। उस समय इन्होंने अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन के कोषागार अधिकारी के रूप में काम किया। इन पुस्तको की साठ पृष्ठ की एक प्रति जैन ज्ञान भडार कलकत्ता में 1946 में मिली थी। ये ठक्कुर फेरूने अपने पुत्र के लिये लिखी थीं। यहा केवल द्रव्य परीक्षा की चर्चा की गई है।

द्रव्यपरिक्षा में 149 गाथायें हैं जिनमें तत्कालीन धातुओं, मिश्रधातुओं, सिक्कों एवं खनिजों के सबध में विवरण मिलता है। यहां उस समय प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं। इस पुस्तक में चादी, सोना, ताबा, सीसा तथा पारद धातुओं के निष्कर्षण की विधियां दी गई हैं। उनके शोधन की विधि भी दी गई है। इसमें पीतल, कांसा तथा राणा बनाने की विधि भी है। इसके अतिरिक्त, हिंगुल और सिन्दूर भी इसमें दिये गये हैं। उस समय यव, माशा, टक और तोला की तौल प्रसिद्ध थी। आज के अनुसार, यव का मान 0 057 ग्राम आता है। इसमें 177 प्रकार के विभिन्न सिक्को का भी वर्णन है।

POST-VEDĀṄGA PRE-SIDDHĀNTIC INDIAN ASTRONOMY*

(STUDIES IN JAINA ASTRONOMY)

Sajjan Singh Lishk and S. D. Sharma

Department of Physics, Punjabi University, Patiala

Abstract

Nothing is obscure about Vedāṅga Jyotiṣa (Vedic astronomy) and Siddhāntic astronomy but the post-Vedāṅga pre-Siddhāntic Indian astronomy has hitherto remained as a forgotten chapter in the history of ancient Indian Astronomy The paper renders a simple probe into this field. These studies are based on mathematical analysis of astronomical texts as extant in Jaina canonical literature. It highlights the importance of astronomical analysis of Buddhistic texts and the Hindu literature like Purāṇas, Smṛtis etc D. Pingrees views about Masopotamian origin of ancient Indian astronomy become questionable.

Theory

The history of astronomy owes its origin to a remote antiquity. In the cradle of human civilization, history reveals that man's place in nature has always been relevant to religion[1] and his curiosity for regulating the mode of periodic religious performances must have catered to the need for observation of celestial phenomena[2] It is interesting to note that in China, since the Han dynasty, calenderical reforms were considered indispensable in order to keep the political and cosmic orders in tune[3] Carruccio[4] has rightly remarked that scientific problems in general and mathematical and astronomical problems in particular show their full meanings only when they are considered in their own historical backgrounds respectively. Most of the Western scholars believe that the Hindus borrowed much of their sciences from Greece[5] As a matter of fact, the facts and figures from earlier texts of India have as yet remained unexposed to the western windows due to several reasons.[6] Primarily, as Dange opines that history was used by the English rulers of India to demoralise the rising freedom movement, to build a psychosis in the leadership of the people that compared world history, its age and its achievements, Indian history leads to conclude that this country and its people were historically destined to be always conquered and ruled by foreign invaders.[7] Secondly, dazed by firearms and dazzled by the enterprise and material advancement of the

* Some results were reported at Summer School on History of Science, Vigyan Bhawan, INSA, New Delhi (Sept. 1974).

foreign intruders, Indians began to look down upon native scholarship and achievements[8] Thirdly, we had no Papyrus Prisse to prove our age, no Pyramids of Gizah, nor mummies of Akhnaton and Tutankhamen, no towns dug up like Ur and Babylon except the Vedas, Purānas and the like to speak for us [9] Indian astronomy has lost much more than any other subject by such attempts to dissociate it from its history.

Although much of the ancient Veda, as Plunket opines, still remains a cypher and it can be properly revealed only with the help of modern sciences[10], yet it may be remarked that Vedānga Jyotiṣa (Vedic astronomy) has already been commented upon by several scholars[11] like Somākara (first edited by A Weber and again edited by S Dvivedi), Thibaut, Bārhaspatya, R. Shamasastry, B. R Kulkarni, G. Prasad, A. K. Chakravarty and D Pingree etc. Also nothing is obscure and unknown about Siddhāntic texts. Some theses[12] like those of M. L Sharma, D A Somayaji and R. Billiard etc. are scholarly works of profoundity in this field Still lies a big gap between Vedānga Jyotiṣa period (about fourteenth century B. C. and that of Siddhāntic astronomy (third/fourth century A D) This gap, commonly known as a dark period[13] hitherto remained as a forgotten chapter in the history of ancient Indian astronomy There lies a vast treasure of astronomical knowledge embodied in Jaina Prakrit texts like Sūrya Prajñapti and Jambūdvīpa Prajñapti etc forming Jaina canon of sacred literature[14] belonging to dark period in the history of ancient Indian astronomy. In his lecture at Oklahoma University, S D Sharma had stressed upon the need for research into this field, and it was his first Ph D student, S. S Lishk, who analysed mathematically the astronomical data extant in Jaina canonical literatures in his doctoral thesis[15], which was awarded an outstanding merit by scholars of the calibre of Hidce Hirose (Japan), W. Petri (Germany) and M L. Sharma (Varanasi, India) The author collected relevant data on certain topics from various texts (in chronological order) and then attempted to analyse to have a perspective view A pre-conceived chronology has been disregarded unlike Kuglar who was one of the Panbabylenistic school and created a fantastic picture by ascribing everything to Babylon.[16]

It is worth-mentioning that the post-vedānga pre-Siddhāntic astronomical literature comprises of Jaina canonical texts, Buddhistic canonical texts, and Hindu works like Purānas, Smrtis, and the Sanhitās including Bhadrabāhu Sanhitā (a Jaina work) etc We have so far been concentrating our efforts on analysing the Jaina canonical texts and thus our findings elucidate particuarly the salient features of pre-Āryabhatīan Jaina School of astronomy Some peculiarities are given as below

1 **Units**

There had been a great diversity of systems of units of time, length and arc-division at different times in different parts of ancient India. Trigesimal

system (Thirty-fold divisions system) was gradually changed into sexagesimal system of time-units.[17] The length of a yojana was standardized and the relation between three different types of yojanas is explicitly mentioned in Anuyogadvāra Sūtra, a Jaina canonical work.[18] The zodiacal circumference was graduated in time-degrees days of a naksatra month (lunar sideral revolution) and subsequently in time-degrees muhūrtas (one muhūrta = 48 minuts) of a nakṣatra month, 54900 ganana khandas (celestial parts) (numerically equal to 54900 muhūrtas of a five-year cycle), and finally in 360 saura days (a saura day means the time taken by the Sun to traverse 1/360 the part of zodiacal circle)[19]

2 Cosmography

Jainas had been striving for the scientific formulation of the real world around They had devised the theory of two Suns and two Moons for certain mysterious calculations The concept of the mount Meru whose dimensions form a consistent picture, implies Jainian trends towards the motions of certain astronomical constants, mainly that of obliquity of ecliptic.[20]

It is worthy of note that the notion that the Moon is eighty yojanas higher than the Sun, has been quite confusing with the notion of vertical height but it actually depicts Jainian notion of celestial latitude of Moon measured as distance-degrees along the surface of earth[21]

3 The Science of Sciatherics

Jainas measured time as a function of shadow-lengths and thus they could determine the time of day directly from the table of shadow-lengths versus the corresponding parts of the day elapsed[22] as the practice is still in current among some sects of Buddhistic monks in Ceylon etc Jainas had also employed the use of shadow-lengths for the determination of seasons[23] They had advanced in measuring shadow-lengths to such an extent that Summer solstice was determined upto thirty muhūrtas of one day[24]

4 Kinematics

Solar and lunar motions among their respective mandalas (diurnal paths) imply a motion of declination. But they could not make out the algebraic sense of declination (that is, that it increases on both sides of the equator)[25]

Besides, the average relative velocity of Venus in heliacal combustion in different parts of lunar zodiac was compared with some conventionally known relative as well as discrete velocities like those of snake, horse, elephant etc and the corresponding vīthis (lanes) of Venus were specified among the stars The relative north-south directions of vīthis (lanes) of Venus also imply their trends towards notion of geocentric latitudinal motion of Venus.[26] Such kinematical studies of Venus are parallel to those of planetary ephemerides of Seleucid and Menomides periods,

5. Calendar

The quinquennial cycle of Vedānga Jyotisa remained in vogue during Jaina astronomical period but with different solstices (winter solstice occurred at Dhaniṣṭhā i. e., β Delphini and Abhijit i. e., α Lyrae during Vedānga Jyotiṣa and Jaina astronomical periods respectively.)[27] They might have also strived for the reformation of the five-year cycle as they had conceived some other planetary cycles like twelve-year cycle of Jupiter, twenty-eight year cycle of Saturn and later a cycle of sixty Jovian years etc.

Besides, it is worth mentioning that the ratio 3:2 of maximum and minimum lengths of the day is frequently used in Vedānga Jyotisa and Jaina calendar. By applying Bernoulli's theorem to account for the error due to rate of flow of water through the orifice of water clepsydra, it is revealed that the ratio 3:2 between amounts of water to be poured into Clepsydra on maximum and minimum lengths of the day corresponds to the actual time ratio $\sqrt{3}:\sqrt{2}$ between actual maximum and minimum lengths of daylight. This ratio $\sqrt{3}:\sqrt{2}$ belongs to a latitude very near to that of Ujjaini, a renowned seat of ancient Indian culture.[28]

6. Cycles of Eclipses

Jainian forty-two-eclipse months cycle of lunar eclipses and forty-eight-eclipse years cycle of solar eclipses were based upon observation of periodic repeatition of eclipses in five different colours irrespective of any accurate knowledge of true motion of Rāhu (lunar ascending node). These eclipse cycles are completely free from any foreign influences of Chaldean Saros or Metonic cycle.[29]

7. Lunar Occultations

Jainian concept of direction of lunar conjunction with a nakṣatra implies the notion of position of identifying star (of the naksatra) with respect to the region where the Moon moves among the stars. Belt of lunar zodiac was properly specified.[30]

8. Measurement of Celestial Distances

Celestial angular distances were measured in yojanas (basically, linear measures of length) in terms of corresponding distances projected over the surface of earth. The real determinations of distance degrees fit the actual geometry of the earth.[31]

9. Observation of the Celestial Phenomena

Jaina astronomers had a keen sense of observation. They measured precisely the time as a function of shadow and determined time of the day through shadow-lengths of a gnomon. They observed lunar occultations, determined Summer solstice upto 30 muhūrtas or one day, studied the phenomenon of heliacal combustion of Venus in different parts of the lunar zodiac. The latitude of the Moon was also determined. Shapes (star figures) of nakṣatras (asterisms) and their respective numbers of stars were also observed. The Jainian cycles of eclipses are based on the periodic observation of colours of (parva) Rāhu denoting Jainian

concept of shadow causing eclipse. The categorization of mahāgrahas (great-planets), and tārakagrahas (star-planets), the classification of nakṣatras into kula (category), upakula (sub-category) and kulopakula (sub-sub-category) in relation to their conjunctions with the Moon at different syzygies in a five-year cycle also exhibit their trends towards skilled observation of the celestial phenomena [32]

10 Astronomical Instruments

Besides gnomon, some sort of clepsydra (water-clock) and star-clock such as acronical risings of stars used in the determination of seasons etc. might have also probably been used Description of construction of a water clepsydra is mentioned in Viṣnu Purāna[33] and Jyotiṣa Karandaka[34] (a Jaina non-canonical work)

Here it is worthy of note that in the absence of knowledge of Jaina astronomy (the astronomy as expounded in Jaina canonical texts), a confusing link between Vedānga Jyotisa and Paitāmaha Siddhānta due to certain similarities between them[35] has often been disillusioning Our findings in pre-Āryabhatīan Jaina School of astronomy have opened up many new vistas of research in this field and thus the task of bridging the gap between Vedānga Jyotisa and Siddhāntic astronomy has been initiated in its true perspectives The role of pre-Āryabhatīyan Jaina School of astronomy in the development of Siddhāntic astronomy has been dealt with in a separate paper [36] Consequently D Pingree's views about Mesopotamian origin of ancient Indian Mathematical astronomy become questionable.

ACKNOWLEDGEMENT

Thanks are due to Professor L C Jain and Professor Priyavrata Sharma for some valuable suggestions The authors are grateful to Shri Shanti Muniji, Shri Chandan Muniji and Shri Krishnachandracharyaji for encouraging comments and giving some useful books

References

1 Hocking, W E (1944) Science And The Idea of God p 85
See also Pannekoek, A (1830) Astrology and Its Influence upon the Development of Astronomy Journal of the Royal Astronomical Society of Canada, Vol XXIV, No. 4, pp 159-176.

2 Brodrick, A H (1940). The Sacrifices of the Son of Heaven The Asiatic Review, Vol. XXXVI, No. 125, p 123 (January 1940)
See also our paper 'An Introduction to a Thesis on Jaina Astronomy," The Jaina Antiquary, Vol 30 No. 2 pp 9-17.

3 Yabuuti, Kiyosi (1968) Comparative Aspects of the Introduction of Western Astronomy Into China and Japan Sixteenth to Nineteenth centuries. The Chung Chi Journal, Vol 7 No 2, pp 151-154.

4 Carrussis, E. Mathematics and Logic in History and Contemporary Thought English translation by Isabel Quisly (1964), p. 9.

5. Allen, R H (1936) Star-Names and their Meanings. pp. Introduction

6 Jain, L C (1975) · Indian Jaina School of Mathematics (A Study of Chinese influences and transmissions) Contribution of Jainism to Indian Culture (A souvenir) edited by N. L Jain pp. 206-220.

7. Dange, S. A. (1972) India. 5th ed p 2
8. Saraswathi, T. A. (1969) . Development of Mathematical Ideas in India. IJHS, Vol. 24, Nos. 12, pp 59-78.
9. See ref. 7.
10 See Roy, B B (Year ?) The Universe. p 41 The World Press, Calcutta.
11 See Pingres, D (1973) . Mesopotamian Origin of Ancient Indian Mathematical Astronomy, JHA Vol. 4, pp. 1-12
12. Sharma, M L (1965) Graha Ganita Mīmānsā (In Sanskrit) Somayaji, D A (1971) Ancient Indian Astrenomy.
Billiard, R. (1971) L' Astronomis Indienne (In French)
13. Sharma, M L (1974) Development of Indian Astronomy, Proceedings of Summer School on History of Science, INSA, New Delhi
14. Chatterjee, Bina (1974) History of Indian Mathematics Proceedings of Summer School on History of Science, op cit
14. Lishk, S. S and Sharma, S D (1978) Sources of Jaina Astronomy The Jaina Antiquary, Vol 29 No 1-2 pp 19-32
15. Lishk, S. S (Feb 1978) Mathematical Analysis of Post-Vedānga Pre-Siddhāntic Data In Jaina Astronomy. Ph D thesis Punjabi University, Patiala (Consult University Library)
16. Neugebauer, Otte (1952) The Exact Sciences In Antiquity, p 132
17. Lishk, S S. and Sharma, S D (1977) Time-Units In Anciant Indian Astronomy. Tulsi Pragya, Vol 2 Nos 7-8 pp 100-108
18 Lishk, S S and Sharma, S D (1976) The Evolution of Measures In Jaina Astronomy Tirthankar, Vol 1, Nos 7-12, pp 83-92
See also, Lishk, S S and Sharma, S D Length-Units In Jaina Astronomy. To appear in Jaina Journal
Besides, Anuyogadvāra Sūtra is one of the two Cūlikā Sūtras which may be taken as appendices to the entire Jaina canon (See Mehta, M L (1969) Jaina Culture p 29) For more details see ref No 14
19. Lishk, S S and Sharma, S D , Zodiacal Circumference as Graduated in Jaina Astronomy Paper presented at 4th Annual meeting of the Astronomical Society of India, held at Ootacamund (March, 1978)
To appear in Sambodhi (Journal of L D Institute of Indology, Ahmedabad).
20. Lishk, S S and Sharma, S D. (1978) Notion of obliquity of Ecliptic Implied in the concept of Mount Moru in Jambūdvīpa Prajñapti, Jain Journal, Vol 12 No 3, pp 79-92
21 Lishk, S. S and Sharma, S D (1976) Latitude of the Moon as determined in Jaina Astronomy Sramana, Vol 27, No 2, pp 28-35 (Journal of P. V Research Institute, Varanasi)
22 Lishk, S S and Sharma, S D (1976) The time of Day Measured through Shadow-Lengths in Sūrya Prajñapti. The Mathematics Education, Vol. 10, No 4 pp. 83-89.
23. Lishk, S S and Sharma, S D (1977) Seasons determination through the Science of Sciatherics in Jaina School of Astronomy, IJHS, Vol 12 No 1 pp. 33-43
24. Sharma, S. D and Lishk, S. S (1978) Length of Day in Jaina Astronomy, Centaurus, Vol No pp. (Denmark)

25. Lishk, S. S. and Sharma, S. D. · Notion of Declination implied in the Concept of Mandala (Diurnal Circle) in Jaina School of Astronomy. To appear in Ganita (Journal of the Bhārata Gaṇita Pariṣad)
26. Lishk, S S. and Sharma, S. D. Kinematics of Venus in Jaina Astronomy, To appear in Ganita.
27. Lishk, S. S and Sharma, S D Similarities between Jaina Astronomy and Vedānga Jyotiṣa To appear in Prachya Pratibha (Journal of Centre of Advanced Studies in Indology and Museology, Bhopal)
28 See reference No 24
29. Lishk, S.S. and Sharma, S.D.1976) Cycles of Eclipses in Jaina Astronomy.
30 Lishk, S S and Sharma, S D. (1976) Lunar Occultation in Jaina Astronomy. Tulsi Pragya, Vol. 1, No 3, pp 64-69
31 See reference No 20
32 See reference No 15 (especially Chapter V-Jaina Calendar)
33. See Visnu Purāna 3 3 7-8 Hindi translation by Gupta, Muni Lal (Samvat 2026 Bikram), p 514 Gita Press Gorakhpur
34 See Jyotisa Karandaka (1928) Sanskrit commentary by Malyagiri, Jaina Bandhu Yantralaya, Pipli Bazaar, Indore.
35 See reference No 27
36 Lishk, S S and Sharma, S D (1978) Role of Pre-Āryabhatīyan Jaina School of Astronomy in the Development of Siddhāntic Astronomy. IJHS Vol 12 No. 2 pp. 106-113.

लेखसार

जैन गणित ज्योतिष का अध्ययन
वेदांगोत्तर पूर्व-सिद्धांती भारतीय गणित ज्योतिष

सज्जन सिंह लिश्क और एस. डी. शर्मा
भौतिकी विभाग, पंजाबी विश्ववि०, पटियाला

वेदाग ज्योतिष का समय1300 वर्ष ईसा पूर्व माना जाता है जबकि सिद्धान्त ज्योतिष का अभ्युदय काल 300-400 ईस्वी माना जाता है। इस बीच के लगभग 150) वर्ष का समय भारत का अन्धकार युग माना जाता है। इस समय के बीच विकसित ज्योतिष का अध्ययन नगण्य ही हुआ है।

सूर्यप्रज्ञप्ति, जबूदीप प्रज्ञप्ति के समान जैन ग्रन्थो से इस युग के गणित ज्योतिष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन लेखको ने सर्वप्रथम इस क्षेत्र में कार्य किया है और उससे निष्पन्न तथ्यों से भारतीय ज्योतिष की प्रतिष्ठा में श्रीवृद्धि की है।

प्रस्तुत निबध में उपरोक्त ग्रन्थों में वर्णित समय और लबाई के यूनिटो, विश्व-रचना के सिद्धान्तो, छाया के आधार पर समय और दिन या ऋतुओ के मापनो, ग्रहो की गतियों, पञ्चागों, सूर्य और चन्द्रग्रहण के विवरणों तथा आकाशीय पिडो के परिमाणात्मक निरीक्षणो का सक्षेपण किया गया है। कुछ प्रकरणों में वर्तमान मान्यताओ से विसगतिया भी प्रदर्शित की गई है। यह भी बताया गया है कि उस समय जल-घड़ी (ज्योतिष्करण्डक) का उपयोग विभिन्न प्रकार के मापनों में किया जाता था।

इन अध्ययनो से यह प्रकट होता है कि जो विद्वान् भारतीय ज्योतिष को वाह्यस्रोती मानते हैं, उनके कथन पर पुनर्विचार व परीक्षण की आवश्यकता है। ■

A CRITICISM UPON MODERN VIEWS OF OUR EARTH

Gyan Chand Jain, Delhi

Introduction

We have a number of religious concepts upon our earth They do differ upon qualities of soul and in other alike matters But so far as the shape of our earth is concerned, not only Jainism but all religions of the world say in one voice that the earth is FLAT, MOTIONLESS, SUFFICIENTLY THICK and WIDELY SPREAD IN ALL FOUR DIRECTIONS When a Polish astronomer named Copernicus claimed the earth as spherical and moving and the Sun as hanging still, he was called a fool by the then Christian Priests Later on Galileo, an Italian physicist, was convicted by the Christian authorities for the same offense Still there is a society named FLAT EARTH SOCIETY in London which warns the people against modern teachings about the earth

We all know that modern scientists have put a number of proofs in support of spherical shape of our earth. But on making a deep study of the Gravitational Field of our earth, I found that the properties of this field are quite different from those of a spherical body In other words, I do not find the gravitational field of our earth with those properties which the scientists hold to possess I put my findings before so many modern people and institutions, but there is no satisfactory solution of the problems raised therein. In this short essay I am going to mention in what ways the gravitational field of our earth differs with that of a spherical body Learned readers are requested for a careful study

Absence of Centre of our Earth

Modern science teaches us that there is a centre of our spherical earth This centre is inside the earth nearly 6400 k m away from the outer surface. The spherical earth pulls on all outer things towards the said centre

By the teachings of the modern science, it can easily be understood that the gravitational forces of our earth are unparallel to each other in its eyes In other words, it says that a body moves towards a point when it is allowed to fall freely under the action of earth's gravity by moving along converging lines of gravitational forces. This teaching is illustrated by the diagrams

It is not difficult to verify whether or not the falling bodies might fall towards a point On examining the diagrams carefully, we can easily determine that all falling bodies should contract in their sizes if they move towards a point.

The size of body should be reduced to half if it is allowed to fall from a height of 6400 km and it should be converted into a point if unfortunately it reaches the earth's centre. But in practice we do not find any of the falling body to reduce in its size due to gravitational attraction. On the other hand, we find that all falling bodies maintain their original sizes no matter they are allowed to fall on the earth's surface or even inside the earth. Practical experience of falling bodies leads us to the conclusion that there is no such centre of our earth towards which all falling bodies might be moving. Since all falling bodies are found to maintain their original sizes, there seems no reason to believe that gravitational forces of our earth meet in a point and hence are converging On the other hand, there are reasons to believe that the gravitational forces of our earth are perfectly parallel to each other not only outside the earth but also inside it. A system of perfectly parallel gravitational forces can be had only by a FLAT earth and not by a spherical one. This is the justification for holding our earth FLAT.

In initial days of my studies, I was very much keen to learn how the modern science has explained the motion of falling bodies along converging lines of gravitational forces For this, I consulted a number of books on Mechanics. I found that it can not do so It also requires parallelism in gravitational forces for doing so. But its concept of parallelism is very interesting. It says that the gravitational forces of the spherical earth meet in a point at a large distance of 6400 k.m. and so there is no harm if such forces are taken as parallel to each other for all falling bodies In my opinion, this sort of man-made parallelism is of no use in practice If our earth is really a spherical body and its gravitational forces meet in a point, modern science should attempt to explain that falling bodies can possibly maintain their sizes even on moving along converging lines of gravitational forces

Motion of falling bodies is called TRANSLATIONAL MOTION in modern science In translational motion all of the parts of a moving body move along perfectly parallel lines and with one speed If this body is forced to move along coverging lines, it would either contract in its size or it would not move at all if it is rigid Since all falling bodies are mostly rigid, there is no possibility of their motion under the action of gravity if the forces of gravity are converging. Non-rigid or compressible bodies might do so. This being a truth, the gravitational fields of all spherical bodies—no matter it is spherical earth or spherical moon—are unsuitable for motion of the falling bodies The defect of unparallelism in their gravitational forces can not be removed by holding their gravitational forces as parallel to each other

So many people are heard to say that Apollo Flights have proved our earth a spherical body without any doubt. But this idea is quite misleading. The place where the Apollo crafts landed had perfectly parallel lines of gravitational forces, otherwise they could not land. This being the case, that place was certainly a part of FLAT EARTH and not the spherical moon. The Apollo Flights in this way

provide us proof of this concept that our earth is not only FLAT but also widely spread Other most convincing proof in this regard is being put in the next section.

Presence of Gravitational Forces in all Slanting Directions at our Earth

The bodies donot only fall vertically downward under the action of gravity but also roll down and slide down the inclined surfaces For example, a vehicle roll down an inclined road by itself. At our earth, the bodies are seen to slide down and roll down no matter the inclination is small or large It proves that our earth exerts its gravitational forces in all possible slanting directions Whereas the modern earth is quite helpless in doing so The contention can be illustrated by the diagram

The diagram shows the modern earth and the Mount Everest which is nearly 8 km. high from the sea level There is an inclined smooth surface with 2^{0} inclination on the mount. A toy-car is allowed to roll down the inclined surface under the action of gravity. It can be seen that the gravitational forces which pull the toycar down the inclined surface donot enter the modern earth but run above and above its curvature. In such a case the required forces of gravity cannot be exerted by the modern earth It is one example of absence of gravitational forces in slanting direction at the modern earth Numerous cases of this kind can be put in this regard

Now just imagine that our earth is not only FLAT but also widely spread up in all four directions In this case the gravitational forces can enter the earth from all slanting directions and from all heights This is the justification for holding our earth both FLAT and WIDELY SPREAD UP IN ALL FOUR DIRECTIONS.

The learned readers are requested to consider the contention most carefully. I will be glad if some of them make me understand that in such and such manner the modern earth can possibly exert the gravitational forces required in my example

Failure of Modern Science in Case of Moon.

Copernicus first thought that the earth is spherical and the moon revolves around it Later on, Newton discovered a law named Newton's law of universal gravitation He proved the idea of Copernicus about the moon by his law of gravitation Two centuries later, Einstein came into picture He criticised Newton's law of gravitation in several fields but he found nothing wrong in case of moon. Not only Einstein but Fred Hoyle also took it granted that the Newton's law well makes the moon a satellite of the spherical earth This credit goes to the author of this essay that he worked out complicated mathematics in this regard and proved that the said law totally fails in making the moon a satellite of the earth

I donot wish to annoy the readers by putting the mathematics which I worked out. The result in simple words is that the Newton's law of universal

gravitation itself says that the sun pulls on the moon more than two times strongly than the spherical earth does. When it is so, the moon is required to revolve around the sun as an independent planet, the weaker gravitational field of the spherical earth can not keep it revolving around it (the spherical earth)

All manuscripts of Newton are under custody of Royal Greenwich Observatory, U. K., and it deals with the queries in this regard. Previously I wrote to it my above stated result and asked how Newton's law of gravitation succeeds in making the moon revolving around the spherical earth. My queries were dealt with and no objection was raised upon this result of mine that the law predicts more than two times stronger pull of the sun on the moon as compared to the pull of the earth. Other part of the query was answered with the remarks that I consider the earth and the moon two seperate bodies whereas I should consider the two as one and then there would be no problem at all.

It was a matter of great satisfaction for me to know that the result drawn by me was correct and accepted by the Royal Observatory Other remarks are obviously quite vague When the moon and the earth are not joined by any rod, how can I hold them as one single body The two bodies are quite seperate and there is a considerable distance between the two. In such a case, the moon would be dominated by the sun and not by the earth.

The learned readers can well see that modern science has no proof to this effect that the moon is a satellite of the earth and that it revolves around the earth. This being the case, there seems no justification behind this idea that Apollo Flights have proved sphericity of our earth and that these flights were directed to moon

Absence of Capillarity on the Modern Earth.

Capillarity is the natural phenomenon due to which lighter liquids rise up the surface in narrow tubes and heavier ones fall down. The plants get water from the earth through their fine roots due to capillarity When water rises up in a narrow tube, its surface in the tube becomes concave Water and other liquids which rise up in narrow tubes wet the surface of the vessel in which they are kept, whereas mercury and other heavier liquids donot wet the surface of the containers.

A careful study of capillarity makes us known to the fact that the capillary action is possible when the surface of water etc. is quite flat by nature If the said surface is convex as of mercury, there can be no capillary action in water and in other lighter liquids, nor these liquids could wet the surface of the containers. In modern views, the shape of our earth is spherical and so the surface of water and of other liquids—no matter these are in big oceans or in small vessels—become convex by nature. In such a case neither water etc. can wet the surface of the container nor they can rise up their level in the outer vessel in narrow tubes. In other words, we could not find any capillary action on our earth if our earth would have been spherical. Presence of capillary action on our earth and presence of plants on our

earth due to capillarity prove our earth quite FLAT and not spherical or of any other shape.

Conclusions.

It is correct that modern science has put some proofs before us in support of sphericity of our earth. But these proofs are mostly based upon photographs and observations by sight. Proofs based upon experimental facts have not been given so far. Its proofs are not dependable and reliable due to 'optical illusions'. The proofs which I have given in support of flatness of our earth are all based upon experimental facts and are matters of our daily experience There is no chance of any optical illusion in my proofs.

लेखसार

पृथ्वी विषयक आधुनिक मान्यताओं की समीक्षा

ज्ञानचंद जैन, दिल्ली

हमारे धर्मशास्त्रों मे पृथ्वी को चौरस (चपटी), स्थिर, पृथुल तथा चारो दिशाओ में फैला हुआ बताया गया है। इस मान्यता के विपर्याय में जब कापरनीकस ने यह कहा कि पृथ्वी गोलाकार है और स्थिर सूर्य के चारों ओर घूम रही है, तो लोगों ने उसे मूर्ख माना। शताब्दियों बाद उसके अनुयायी गेलीलियो को फांसी दे दी गई। लेकिन यह मान्यता बलवती ही होती गई। इसके बावजूद भी लन्दन में अभी भी 'फ्लैट अर्थ सोसायटी' काम करती है। मैंने पृथ्वी की आकृति विषयक वैज्ञानिक अध्ययन किया है और मुझे प्रतीत होता है कि इसका गुरुत्वीय क्षेत्र इसके गोलाकार को प्रमाणित नही करता। उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक गोलाकार पृथ्वी का एक केन्द्र मानते हैं जो भूतल से 6400 किमी० गर्भ में है। सभी वस्तुयें उस केन्द्र की ओर आकृष्ट होती हैं। वस्तुओं के ऊँचाई से अध.पतन पर उनके आकार में परिवर्तन होना चाहिये, पर यह प्रयोग पुष्ट नही होता। इसलिए पृथ्वी के केन्द्र की बात भी नही जँचती। इसके विपरीत यह मानना अधिक न्यायसगत लगता है कि पृथ्वी के गुरुत्वीय आकर्षण बल एक-दूसरे के समान्तर होते हैं तथा भूतल और भूगर्भ दोनों जगह कार्यकारी होते हैं। यह स्थिति पृथ्वी को चपटी मानने पर ही उत्पन्न हो सकती है। अपोलो की उड़ानो ने भी यही तथ्य सिद्ध किया प्रतीत होता है।

हमारी पृथ्वी सभी दिशाओ में और अवनमनों में गुरुत्वीय बलो को आपतित करती है। इसीलिये अवनमनों में भी पिंड गतिशील होते हैं। गोलाकार पृथ्वी की मान्यता में यह सभव नही दिखता।

न्यूटन और आइन्स्टीन चद्रमा को पृथ्वी का उपग्रह मानते रहे। लेकिन मैने अपने जटिल परिकलनो से इस मान्यता को खडित किया है। इस तथ्य को मैंने रोयल ग्रीनविच वेधशाला को लिखा, जिसे इन्होंने स्वीकार किया है लेकिन उन्होंने अपनी मान्यता में परिवर्तन नही किया है।

केशिका-प्रभाव के अध्ययन से पता चलता है कि यह प्रभाव तलों के चपटे होने पर ही होता है, गोलाकार होने के कारण नहीं। यदि पृथ्वी गोल मानी जायगी तो उसमें केशिका प्रभाव नही होगा।

इस प्रकार वैज्ञानिक पृथ्वी के गोलाकार होने के लिये जो प्रमाण देते हैं, वे प्रायोगिक तथ्यों पर आधारित नही हैं, वे केवल प्रकाशीय विभ्रम हैं। ■

जैनधर्मकी कुछ भूगोल-खगोली मान्यताएँ और विज्ञान

स्वामी सत्यभक्त सत्याश्रम, वर्धा, महाराष्ट्र

जबसे मनुष्यके पैर चन्द्रमा पर पड़े है, तबसे सभीके मन मानवकी इस विजयसे उल्लसित हैं। अब मनुष्य कई बार चन्द्रमा पर हो आया है और उसके सम्बन्धमें पर्याप्त जानकारी प्राप्त हुई है। जहाँ सामान्य मानव ममाजके लिये यह जानकारी उसकी प्रगतिका प्रतीक प्रतीत होती हैं, वही भारतीय धर्म जगतमे इन तथ्योंसे कुछ परेशानी हुई है। इसका कारण यह है कि चन्द्रमाके वैज्ञानिक विवरण धार्मिक ग्रन्थोमें दिये गये विवरणसे मेल नही खाते। इन वैज्ञानिक उपलब्धियोके उत्तरमे जैन समाज विशेष प्रयत्न कर रहा है। वह त्रिलोक शोध सस्थान और भू-भ्रमण सस्थानके माध्यमसे जम्बूद्वीपका नक्शा बना रहा है और पर्याप्त प्रचार साहित्य प्रकाशित कर रहा है। इस साहित्यमे शास्त्रीय मन्तव्योका विविध तर्कों और प्रमाणोसे पोषण किया जा रहा है।

अपने इस लेखमें मैं कुछ ऐसी जैन मान्यताओके विषयमें बताना चाहता हूँ जिन पर विद्वानोको विचार कर नई पीढीकी आस्थाको बलवती बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि विश्व कल्याणके लिये जैनधर्मने तत्कालीन युगकी परिस्थितिके अनुरूप समस्याओको सुलझानेमें अपनी विशेष योग्यताका परिचय दिया है। उसने अपने समयमे विश्वकी व्याख्या करनेमे पर्याप्त वैज्ञानिक दृष्टिकोणका उपयोग किया है। फिर भी, आजके यन्त्र एव प्रयोग प्रधान वैज्ञानिक युगमें तत्कालीन कुछ मान्यताएँ विसगत सिद्ध हो जावें, तो इसे आश्चर्य नही मानना चाहिये। धार्मिक व्यक्तियोका मुख्य लक्ष्य आचारशास्त्र और नैतिक मूल्योका प्रतिपादन रहा है। धर्म गुरुओने नये तीर्थ या धर्मका निर्माण किया है, नये विज्ञान, भूगोल, खगोल या इतिहास शास्त्रका नही। इनके विषयमे की गई चर्चाएँ धर्म प्रभावना मात्रकी दृष्टिसे गौणरूपमे ही मानी जानी चाहिये। फिर भी, जैनोकी अनेक मान्यताये उनके सूक्ष्म निरीक्षण सामर्थ्य एव वैज्ञानिक चिन्तनकी प्रतीक है।

ग्रहोकी गति

प्रकाशके सचरणके लिये माध्यमकी आवश्यकता होती है। वैज्ञानिकोने किसी समय ईश्वरके रूपमे इस माध्यमकी कल्पना की थी। जैनोने दो हजार वर्ष पूर्व ही यह चिन्तन किया था और धर्मद्रव्यकी कल्पना की गई। इसी प्रकार स्थिति माध्यमके रूपमें अधर्मद्रव्यकी कल्पना हुई। इन दो द्रव्योकी मान्यताओंसे पता चलता है कि जैनोंको यह ज्ञान था कि चलता हुआ पदार्थ तब तक नही रुक सकता जब तक उसे कोई सहायक न मिले। न्यूटनका जडत्व सिद्धान्त भी यही मानता है। इसी कारण पृथ्वी आदि विभिन्न ग्रह अनादि कालसे ही अविरत गति कर रहे हैं। सभवत यह गति तब तक चलती रहेगी जब तक कोई ग्रह उससे टकरा न जाय। जडत्व सिद्धान्तके अनुसार ग्रहोंकी यह गति प्राकृतिक ही होनी चाहिये। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि जडत्व सिद्धान्तका मौलिक तथ्य जाननेके बाद भी ग्रहोंकी अविरत गतिके लिये

जैनोंने उसका उपयोग नहीं किया, इसके विपरीत उन्होंने राजवार्तिक तथा त्रिलोकसारके अनुसार यह माना कि चन्द्र, सूर्य आदिके बिम्बोंको चलने के लिये सोलह हजार देवता अपनी ऋद्धिके अनुसार सिंहगज, वृषभ आदिके रूपमें निरन्तर लगे रहते हैं। छोटे ग्रहोंके बिम्बोंके वाहक देवताओंकी संख्या क्रमश कम होता है।

सूर्योदय और सूर्यास्त

जैन शास्त्रोंके अनुसार सूर्य तपाये सोनेके समान चमकीला, लोहिताक्ष मणिमय, ४८ ६१ योजन लम्बा-चौड़ा (व्यास), २४ ११ योजन ऊँचा, तिगुनेसे अधिक परिधि, १६००० देवताओंसे वाहित बीचमें कटे हुये आधे गोलेके समान है। यह सूर्य जम्बूद्वीपके किनारे-किनारे प्रदक्षिणा करता है। जब सूर्य निषध पर्वतके किनारे पर आता है, तब लोगोंको सूर्योदय मालूम होता है। जब यह सूर्य निषध पर्वतके पश्चिम किनारे पर पहुँचता है, तब उसका अस्त होता है। अब यदि कोई मनुष्य उदय होते समय सूर्यकी ओर मुख करके खड़ा हो जाय, तो वह देखेगा कि सूर्यका अस्त पीठकी तरफ नही हुआ है किन्तु बाएँ हाथकी तरफ हुआ है। पीठकी तरफ तो लवण समुद्र रहेगा, उस ओर सूर्य नही जाता। इस ओर कोई पर्वत न होनेसे सूर्यको कोई ओट न मिलेगी, इसलिये सूर्य अस्त न होगा। यदि निषधकी पूर्वी नोककी ओर कोई मुख करके खड़ा हो जाय, तो निषध पर्वतकी पश्चिमी नोंक उस आदमीके उत्तरमें पड़ेगी। इसका यह अर्थ है हमारी दृष्टिमें सूर्य पूर्वमें उगता है और उत्तर में डूबता है। यह मत कितना अनुभव विरुद्ध है, इसे सभी जान सकते हैं।

यही नही शास्त्रोंमे यह बताया गया है ज्योतिबिम्बोंके अर्धगोलकका गोल हिस्सा नीच रहता है और चौरस विस्तृत भाग ऊपरकी ओर रहता है। चूँकि हम उनका गोल हिस्सा ही देख पाते है, इसलिये वे हमें गोलाकार दिखते हैं। सूर्य विश्वकी यह आकृति उदय-अस्तके समय दिखनेवाली आकृतिसे मेल नहीं खाती। क्योंकि यदि आधी कटी हुई गेंद हमारे सिरपर हो, तब तो वह पूरी गोल दिखाई देगी। किन्तु वह यदि सिर पर न हो, बहुत दूरपर कुछ तिरछी हो, तो वह पूरी गोल दिखाई न देगी, किन्तु वह अष्टमीके चन्द्रके समान आधी कटी हुई दिखाई देगी। परन्तु सूर्य तो उदय, अस्त और मध्याह्नके समय पूरा गोल दिखाई देता है और चन्द्रमा भी पूर्णिमाकी रातमें उदय, अस्त और मध्यरात्रिमे पूरा गोल दिखाई देता है। इस तरह तीनो समयोंमे आधी कटी हुई गेंदके समान किसी चीजकी एक-सी आकृति नही दिख सकती।

जैनोंकी आधी कटी गेंदकी आकृतिकी कल्पनाका आधार यह था कि आधे कटे सपाट मैदानपर नगर और जिन मन्दिर प्रदर्शित किये जा सकें। पर यह आकृति सदैव गोल दिखती है, यह कल्पना कुछ विसगत प्रतीत होती है।

सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण

जैनशास्त्रोंके अनुमार सूर्यग्रहण इसलिये पड़ता है कि उसके नीचे केतुका विमान है। इसी प्रकार चन्द्रग्रहण भी इसीलिये होता है कि उसके नीचे राहुका विमान है। चन्द्रमाकी कलाओंके घटने-बढ़नेका कारण भी उसके नीचे स्थित राहुका विमान ही है।

राहु और केतुके विमानोंका विस्तार कुछ कम एक योजन है, जो सूर्य और चन्द्रके विमानोंसे कुछ बड़े है। ये छह महीनेमे सूर्य और चन्द्रके विमानोको ढँकते हैं। इस मान्यतामें भी निम्न विसगतियाँ प्रतीत होती है

(१) जैनशास्त्रोंके अनुसार अष्टमीका आधा चन्द्र कभी दिखाई नहीं दे सकता। एक गोल चीजको किसी दूसरी गोल चीजको ढँककर देखो, वह अष्टमीके चन्द्रकी तरह आधी कटी कभी न दिखाई देगी। दो गोल सिक्के हाथमें लो और एकसे दूसरा ढँको। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि ढँका हुआ सिक्का आधा कटा हुआ-सा दिखाई देने लगे। वह द्वितीया-तृतीयाकी तरह अवनतोदर टेढ़ी कलाएँ ही दिखायगा। अष्टमीके बाद चतुर्दशी तक चन्द्रमाकी जैसी शकल दिखाई देती है, वैसी शकल राहु विमान द्वारा ढँकनेपर कभी दिखाई नही दे सकती। ऊपरोक्त प्रयोगसे यह असगति भली-भाँति ध्यानमें आ जाती है।

(२) राहु और केतुके विमान चन्द्र और सूर्यके नीचेकी कक्षामें भ्रमण करते है। ये सदा नीचे नही रहते। केतुका विमान तो वर्षमें दो बार अमावस्याके दिन सूर्यके विमानके नीचे आता है। इसी प्रकार राहुका विमान भी तिथिके अनुसार नीचे आता है और कुछ आगे-पीछे होता रहता है और ग्रहणकी पूर्णिमाको सदा या नियम भगका फिर चन्द्रमाके नीचे आ जाता है। यह स्मरणीय है कि विमान देवता चलाते हैं। क्या ये देवता पंचागके अनुसार धीमी या तेज गतिसे दौड लगाते है ? क्या ये देवता इस प्रकार हिसाब लगाते रहते है और विमानोको तिथिके अनुसार मन्द-तीव्र गतिसे दौडाते रहते है ? वे ऐसा क्यो करते हैं ? एक-सी गति रखकर निश्चिन्ततासे अपना कर्तव्य क्यो नही करते ? वे यदि सदा बचकर रहें, तो सदा पूर्णिमा हो और ग्रहण कभी न हो। क्या ही अच्छा रहे यदि देवता मानव जातिपर इतनी कृपा कर सकें जिसमे वे स्वय भी निश्चिन्त रह सकें और मानव समाजको भी तिथियो आदिके चक्करसे मुक्ति दिला सकें।

(३) जब आकाश स्वच्छ होता है, तब शुक्ल पक्षकी तृतीयाके दिन चन्द्रमाकी मुख्यत तीन कलाएँ दिखायी देती है पर बाकी चन्द्रमा भी धुँधला-धुँधला दिखता है। जब राहुका विमान बीचमे आ गया है, तब पूरा चन्द्रमा धुँधला-धुँधला भी क्यो दिखता है ?

आकाशमें विमानोकी स्थिति

शास्त्रोंके अनुसार, सूर्य, चन्द्र आदि विमान भारी होने हैं। इसलिये वे अपने आप आकाशमे नही रह सकते। उन्हें सम्हालनेके लिए देवताओकी आवश्यकता होती है। परन्तु ये देवता किस प्रकार आकाशमें रहते हैं ? क्या ये देवता हाइड्रोजनसे भरे हुए गुब्बारोके समान होते हैं जो हवासे हल्के होनेके कारण हवामे बने रहते हैं, उनका वैक्रियक शरीर ऐसा केसे हो जाता है कि वे नाना आकार धारण कर ठोस विमानोको रोक सकें ? यदि विमान रोकनेके लिए वे अपने शरीरको ठोस बना लेते है, तो यह शरीर आसमानमें कैसे बना रहता है ?

साथ ही, एक अन्य तथ्य और भी ध्यानमे आता है। वर्तमानमे हम यह जानते हैं कि आसमानमे ऊपर जानेपर वायु विरल होती जाती है। इसलिये ऊँचाईमें जानेपर मनुष्यको ऑक्सीजन साथमें ले जाना पडता है। ऐसी स्थितिमें हजारो योजन ऊपर कार्य करनेवाले ये देवता जीवित कैसे रहते होगे ? क्या ये बिना ऑक्सीजनके ही जीवित रहते है ? यह देखा गया है कि सामान्य मनुष्य ५–६ मीलकी ऊँचाई पर बिना ऑक्सीजनके जीवित नही रह सकता।

इस स्थितिमें सूर्य, चन्द्र आदि विमानोकी विभिन्न ऊँचाइयो पर स्थित तथा उनके वाहक देवताओ के वर्णनकी व्याख्याके लिए पुनर्विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सूर्य-चन्द्रकी ऊँचाई

शास्त्रोंके अनुसार विभिन्न ज्योतिर्गण आकाशमें भूतलसे ७९० से ९०० योजनकी ऊँचाई पर स्थित

हैं। यदि एक योजन ४००० मीलका माना जाता है, तो चन्द्र, सूर्य आदि प्रमुख ग्रहोंका विवरण सारणी १ के अनुसार प्राप्त होता हैं। इसी सारणीमें आधुनिक मान्यताओका भी विवरण दिया गया है। इससे दोनों मान्यताओंकी विसंगति स्पष्ट है। बीसवी सदीका मस्तिष्क इस विसगतिकी व्याख्या भी चाहता है।

सूर्य-चन्द्रकी गति

शास्त्रोके अनुसार जम्बूद्वीपकी परिधि लगभग ३१६२२८ योजन है। इसे सामान्य भागमें व्यक्त करनेपर यह १२६४९१२००० मील होती है। यदि सूर्यचन्द्र इसे ४८ घटेमें पूरा करते हैं, तो इनकी गति २,६३,५१,९१६ मीलघटा प्राप्त होती है, को १-२५ × १०⁶ मीटर प्रति सेकेण्डके लगभग बैठती है। इतनी तीव्र गतिसे गतिशील बिम्बोके ऊपर बने हुए भवनो और जिन मन्दिरो की स्थितिकी कल्पना ही की जा सकती है जब हमे वह ज्ञात होता है कि कुछ सौ मीलकी रफ्तारका तूफान ही भूतल पर प्रचण्ड विनाश-लीला उत्पन्न करता है। आज कल उपग्रह विद्याका पर्याप्त विकास हो गया है। इसे ३५००० कि०मी० की रफ्तारसे छोडनेपर ही यह पृथ्वीके क्षेत्रसे बाहर जा सकता है। परन्तु इस रफ्तारमे चलते समय परिवेशी वायुके सम्पर्कके कारण यह पर्याप्त उत्तप्त हो जाता है। यदि इनके निर्माणमें ऊष्मारोधी तथा अगलय पदार्थोंका उपयोग न किया जाय, तो ये जलकर राख हो जावें। चन्द्र भी यदि इसी प्रकार वायु-मण्डलमें इस गतिसे भ्रमण करे, तो उसकी भी यही स्थिति सम्भावित है। मुझे लगता है कि इन मान्यताओका आधार सम्भवत ऊपरी क्षेत्रोमें वायुकी उपस्थिति सम्बन्धी जानकारीकी अपूर्णता ही रही होगी। फिर भी, इन बिम्बोकी गतिकी कल्पना स्वयमें एक उत्कृष्ट चिन्तनके तथ्यको प्रकट करती है।

उष्णता और आतप

जैनाचार्योंने उष्णता तथा आतपका विवेचन अलग-अलग किया है। उन्होने अग्निमें उष्णता मानी है और सूर्यमें आतप माना है। उष्ण वह है जो स्वय गरम हो और आतप वह है जो दूसरोको गर्म करे। यह भेद सम्भवत आचार्योंके प्रकृति निरीक्षणका परिणाम है। उष्ण पदार्थका यह नियम है कि उससे जितनी दूर होते जाते हैं, उष्णताकी प्रतीति कम होती जाती है पर सूर्यकी स्थिति इससे बिलकुल भिन्न प्रतीत होती है। सामान्यत पहाडोंपर उष्णता कम प्रतीत होती है जो भूतलकी अपेक्षा सूर्यमे कुछ समीपतर है जब कि भूतलपर वह अधिक होती है। फलत यह माना गया कि आतप वह है जो स्वय तो उष्ण न हो पर दूसरोंकी उष्णता दे। सूर्य स्वय उष्ण नही है, इसलिये उसके समीपकी ओर जानेपर गरमी क्यो बढेगी? यही कारण है कि अनेक जैन कथाओमे मनुष्य सूर्यके पाससे गुजरकर ऊपर चला जाता है, पर उसका कुछ नही होता।

इस प्रकरणमे भी तथ्योके निरीक्षणकी कल्पनात्मक व्याख्या की गई है। वस्तुत' आधुनिक मान्यताके अनुसार सूर्य एक उष्ण पिण्ड है। उसकी उष्णता भूतलपर आकर सचित होती है, वायुमण्डलमे नही। अत ऊपरी वायुमण्डलकी उष्णता भूतलकी तुलनामें कम होती जाती है।

जैनोंके भूगोल सम्बन्धी कुछ अन्य तथ्य

जैनाचार्योंमे प्राकृतिक घटनाओके निरीक्षणका तीक्ष्ण सामर्थ्य था। उन्होने अनेको प्राकृतिक घटनाओका सूक्ष्म निरीक्षण किया और उनकी व्याख्याके प्रयत्न किये। पर प्रयोग कलाके अभावमें ये व्याख्याये पौराणिक आख्यानोके समकक्ष ही प्रतीत होती है। मैं नीचे कुछ ऐसी ही घटनाओंकी भी चर्चा कर रहा हूँ।

(अ) समुद्रके बीचमें उठा हुआ पानी

जैन आचार्योंने समुद्रोंका अच्छा निरीक्षण किया। उन्होंने देखा कि एक किनारेसे देखनेपर समुद्रका पानी कुछ ऊँचा होता है और बादमें ढलता-सा लगता है। यह पृथ्वीकी गोलाईका चिह्न है। इस ऊँचे भागको शास्त्रोंमें यह कहकर सिद्ध किया है कि समुद्रका पानी बीचमें अनाजकी ढेरीकी तरह १६००० योजन ऊँचा है। इस ऊँचाईको २४००० वेलधर नागदेवता स्थिर रखे रहते हैं। समुद्रमें तूफान आनेका निरीक्षण भी आचार्योंने किया और उसका कारण यह बताया कि समुद्रके नीचे कुछ पाताल हैं जिनके नीचे वायु कुमार जातिके देव और देवागनायें खेलकूद करते हैं। इनकी क्रीडाके कारण ही समुद्रके बीचमें तूफान आता है और पानी ऊँचा-नीचा होता है। इस वर्णनमें एक महत्वपूर्ण तथ्यकी ओर और सकेत किया गया है। यह बताया गया है कि केवल लवण समुद्रमें ही यह ऊँचाई दिखती है, उत्तरवर्ती समुद्रोमे जल समतल ही रहता है।

इन तथ्योकी वर्तमान व्याख्या पृथ्वीकी गोलाई और चन्द्रकी आकर्षण शक्तिके आधारपर की जाती है।

(ब) शास्त्रोके अनुसार भरतक्षेत्रके मध्यमें पूर्व पश्चिममें फैला हुआ विजयार्ध पर्वत है जो २५ योजन ऊँचा या वर्तमान एक लाख मील ऊँचा माना जाता है। इस विजयार्धपर दस योजन ऊँचाईपर मनुष्य और विद्याधर रहते है। वे वहाँ कृषि आदि षट् कर्म करते हैं। वर्तमानमें तो केवल ५-५० मील ऊँचा हिमालयकी उच्चतम पर्वत है, उससे ऊँचे पर्वतो और उनपर रहनेवाले विद्याधरोकी कल्पना पौराणिक ही माननी चाहिये।

यह भी बताया गया है कि इसी विजयार्धकी गुफाओसे समुद्रकी ओर जानेवाली गगा, सिन्धु नदियाँ निकलती हैं। भाग्यसे, ये नदियाँ तो आज भी हैं पर विजयार्ध अदृश्य हैं। इसीके शिखरपर स्थित सिद्धायतन कूटपर २ मील ऊँचा, २ मील लम्बा और एक मील चौडा जिन मन्दिर बना हुआ बताया गया है। वर्तमान जगतके न्यूयार्क स्थित सर्वोच्च भवनकी तुलनामे जिन मन्दिरका यह भवन काल्पनिक और पौराणिक ही माना जायगा।

(स) जैन भूगोलके आधारपर छह माहके दिन और रात वाले क्षेत्रो, उल्काओ, पुच्छलतारो तथा ज्वालामुखीके विस्फोटोकी उपपत्ति भी सगत नही हो पाती।

इसी प्रकार अन्य अनेक विवरणोका भी उल्लेख किया जा सकता है।

उपसहार

उपरोक्त विवरणमे मैंने कुछ भूगोल तथा ज्योतिर्लोकके प्रमुख ग्रहोके सम्बन्धमें शास्त्र वर्णित मान्यताये निरूपित की हैं और यह बताया है कि ये मान्यतायें आजके वैज्ञानिक निरीक्षणें एव व्याख्याओंसे मेल नही खाती। परीक्षा प्रधानी जैन विद्वानोको इस ओर ध्यान देना चाहिये और शास्त्रोकी प्रमाणिकताको बढानेमे योगदान करना चाहिये। मेरे इस सुझावका आधार यह है कि जैनाचार्योमे प्रकृति निरीक्षणकी तीक्ष्ण शक्ति थी। वे विज्ञानके आदिम युगमें उसकी जैसी व्याख्या कर सके, उन्होने की है। पर वही व्याख्या वर्तमान प्रयोग-सिद्ध और तर्क-सगत व्याख्याकी तुलनामें यथार्थ मानी जाती रहे, यह जैनाचार्योंकी वैज्ञानिकताके प्रति अन्याय होगा। इन आचार्योंके निरीक्षणों और वर्णनोका तत्कालीन युगमें मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडता रहा है। इसलिये आज भी ये वर्णन धर्मशास्त्रके अंग बने हुये है। इन्हें वैज्ञानिक नही माना जाना चाहिये और इस आधारपर धर्म और विज्ञानको टकरानेकी स्थितिमें न लाना चाहिये। अनेक विद्वान

वैज्ञानिक सिद्धान्तों या व्याख्याओंकी परिवर्तनशीलताके आधारपर उसे सत्य नहीं मानना चाहते, वे धर्मको शाश्वत मानकर उसे ही प्रमुख देना चाहते हैं। इस विषयमें मैं केवल यही कहना चाहता हूं (जैसा प्रारम्भमें ही कहा है) कि धर्मका उद्देश्य मानव जीवनमें सदाचार, सहयोग, शान्ति और सुव्यवस्था उत्पन्न करना है। विश्व रचना या भूगोल सम्बन्धी तथ्योंका क्षेत्र तो विज्ञानका ही है। दोनोंको सहयोगपूर्वक अपना कार्य करना चाहिये, टकराहटका कोई प्रश्न ही नहीं होना चाहिये। ऐसे ही प्रकरणोंमें अनेकान्त दृष्टिकी परख होती है।

सारणी—१ : कुछ ग्रहोंके आगमिक और वैज्ञानिक विवरण
(योजन = ४००० मील)

	पृथ्वी		चन्द्र		सूर्य	
	आगमिक	वैज्ञानिक	आगमिक	वैज्ञानिक	आगमिक	वैज्ञानिक
पृथ्वीसे दूरी लाख मील	—	—	३५-२०	२-३१	३२	९३०
व्यास, मील	$९ \times \frac{८}{१०}$	७५६०	३६७२$\frac{८}{६१}$	२१६०	३१४७$\frac{३३}{६१}$	८,६५०००
मोटाई, मील	—	—	१८३६$\frac{४}{६१}$	—	१५७३$\frac{४७}{६१}$	
अक्षणभ्रमण (घूर्णन) घंटे		२३-९	कुछ कम २५		२५	
सूर्यकी परिक्रमाका समय, दिन		३६५$\frac{१}{४}$	२७$\frac{२१}{६७}$	२८	३६६	—
गति मील, मिनट	—	—	४-२२-४-३१		४-३९-४-४२$\frac{५}{१०}$	
किरणों की सख्या	—	—	१२०००		१२०००	—
वाहक देवता	—	—	१६०००		१६०००	—
परिवारके सदस्य	—					
तारा	—	—	६-६९७५$\frac{९}{१०}$		—	—
नक्षत्र	—	—	२८			
ग्रह	—	—	८८			
परिवार			४ परदेवियाँ १६००० देवियाँ		४ परदेवियाँ १६००० देवियाँ	
आयु	—	—	१०३८-४५ + १००० वर्ष		१०३८-४५ + एक लाख वर्ष	

खण्ड ६ : Section 6

जैन विद्याओं में अनुसन्धान के वर्तमान क्षितिज

Current Horigous of Research in Jainology

विचार-कृति

जैन शोध : समस्या और समाधान

डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

अनभ्यासे विषं विद्या अर्थात् अभ्यासके अभावमें विद्या भी विष हो जाती है। शास्त्र-विद्याका वैज्ञानिक अध्ययन-अनुशीलन जब मौलिकताका उद्घाटन करता है वस्तुत तभी वह अनुसन्धानकी वस्तु बन जाती है। अतीत कालीन शास्त्र-वाणीका अभिप्राय विशेष व्याख्या-विधिकी अपेक्षा रखती है क्योकि भाषा-विज्ञानके स्वभावकी दृष्टिसे शब्दका अर्थ कालान्तरमें स्वचालित होता-जाता है।

शास्त्र-परम्पराका प्राचीनतम रूप भारतीय-शास्त्र-भाडारोमें विद्यमान है इस दृष्टिसे जिनवाणीकी सम्पदा जैन भाडारोमें सुरक्षित है। हस्तलिखित जैन शास्त्रोकी भाषा तथा लिपि-विज्ञान एक विशेषविधि-बोधकी अपेक्षा रखता है। इस दृष्टिमे प्राचीन हस्तलिखित साहित्यका पाठानुसधान और अर्थ-अभिप्राय आधुनिक प्रचछित लिपिमें आबद्ध करना आवश्यक हो गया है।

प्रसन्नताका प्रसग है कि देश-देशान्तरके विविध विद्या-केन्द्रोंमे जैन साहित्य पर पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० आदि उपाधियोके लिए शोध-प्रबन्ध रचे जा रहे है। इस प्रकारके साहित्य समुद्योगसे कुछ लाभ तो हुआ है किन्तु अधिकाशत असावधानी और अज्ञानतावश अनर्थ भी बन पडे हैं।

जहाँ तक मुझे ऐसे गवेषणात्मक अध्ययन-ग्रन्थोको देखनेका सुयोग प्राप्त हुआ है उनके आधारपर यह सहजमें कहा जा सकता है कि साहित्यिक शोध क्षेत्रमें अनेक अनूठे सत्य स्थिर हुए है। नए आयामोंकी भी स्थापना हुई हैं वहाँ अनेक अशोमे अर्थके अनर्थ भी हुए है। दरअसल जिनवाणीका अध्ययन एक विशेष पद्धतिकी अपेक्षा रखता है। जिनवाणी और जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत साहित्यमे व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलिका सम्यक् ज्ञान न होनेसे उसकी व्याख्या और विवेचनामें भयकर भूलें और मिथ्या मान्यताएँ शब्दायित हुई है। उदाहरणके लिए समय और दर्शन इन दो शब्दोको ही लिया जा सकता है। इन दोनों शब्दोका लौकिक अर्थ कुछ और ही है जबकि जैन साहित्यमें इनके अर्थ क्रमश आत्मा और दानके लिए प्रयुक्त हैं।

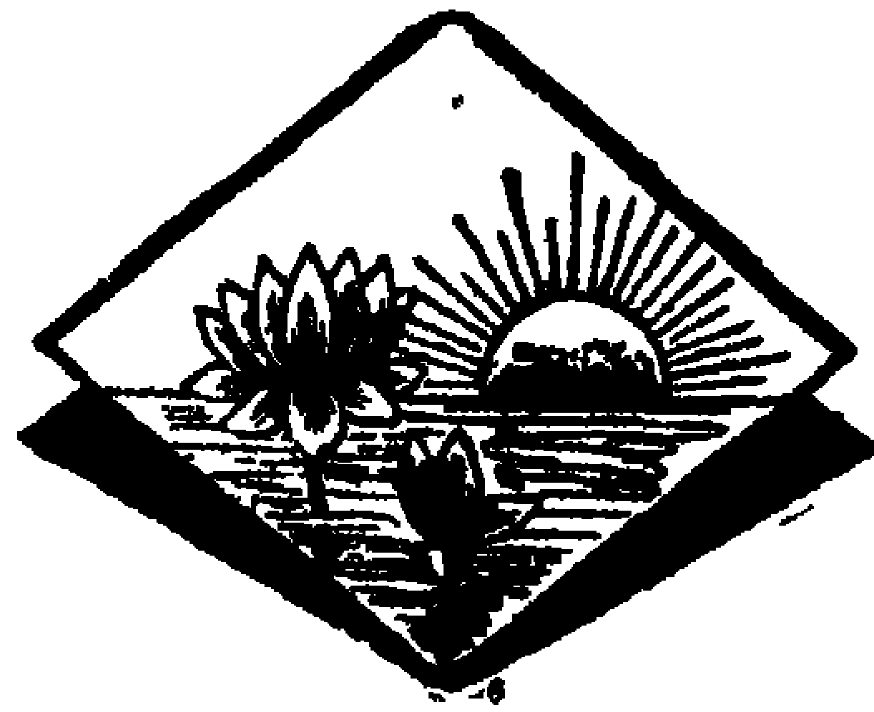
इन विश्वविद्यालयोमें नियुक्त अनेक ऐसे निर्देशक हैं जिन्हें जैन विद्या और शास्त्रोका सम्यक् बोध नही है। मखौल यह है कि इन शोधार्थियोकी उन्हीके निर्देशनमें शोध-प्रबन्ध रचने होते है। ऐसे ग्रन्थोके परीक्षकोकी भी यही दशा-दुर्दशा है। येनकेन प्रकारेण अन्ततोगत्वा प्रबन्ध उत्तीर्ण तो कर ही दिए जाते है फलस्वरूप सत्यान्वेषणकी ऐतिहासिक परम्परामें इस प्रकारकी असावधानीके दुष्परिणाम भविष्यके गर्भमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। यह वस्तुत विचारणीय विडम्बना है।

अधुनातन अनुसंधित्सुके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उसे जैन विषयोपर गवेषणात्मक अध्ययन-अनुशीलन करनेपर आती हैं। सर्वप्रथम उसे विषयका विद्वान निर्देशक ही नही मिल पाता है। जो देशमे विषयके विद्वान हैं वे प्राय शोध-तकनीकसे अनभिज्ञ होते हैं, साथ ही विश्वविद्यालयीय निकषपर खरे नही

उतरते। जो विश्वविद्यालय अधिनियमके अन्तर्गत समर्थ शोध निर्देशक है उन्हें जैन शास्त्र तथा वाणीका सम्यक् ज्ञान नहीं होता। इसी क्रममें विषयका चयन और तत्सम्बन्धित सामग्री-संकलन अनुसंधित्सुके लिए सिर-शूल बन जाता है। जैन भाण्डारोंमें लुप्त-विलुप्त शास्त्रोंकी खोज लिपि-विज्ञानको न समझ पानेकी खीज वस्तुतः उसे नैतिक स्खलन तथा सत्यहनन करने-करानेके लिए विवश करता है।

ऐसी विषम परिस्थितिमें क्या कुछ होना चाहिए यह वस्तुत जागरूक प्रश्न है ? मेरे दृष्टिकोणसे दो काम हमें आगे आकर करने चाहिए। प्रथमत. विश्वविद्यालयोंमें देशके ऐसे विरल विद्वानोंकी जैनविद्या हेतु नियुक्तियां कराई जाएँ, दूसरे, विद्या-केन्द्रोंपर ही सामाजिक शोध-संस्थानोंकी स्थापनाएँ की जाएँ जहाँ समाजके निष्णात विद्वानोंकी सेवाएँ सुलभ कराई जावें ताकि ऐसे शोधार्थियोंकी सारस्वत कठिनाइयोंको सुलभ कराया जा सके, फलस्वरूप इस क्षेत्रमें अनर्थ तथा अनर्गल स्थापनाएँ मण्डित न होने पाएँ।

जिनवाणीके अन्तर्गत देशका ज्ञान-विज्ञान प्राय अन्तर्भुक्त है। उसे सम्यक् अध्ययन-अनुशीलन द्वारा बहुविध बोध विज्ञान विकासको प्राप्त होगा। अस्तु, इस प्रकारके अनुसंधानात्मक अध्ययन-अनुशीलन-की उपयोगिता वस्तुत असंदिग्ध है।



जैन विद्याओंमें शोधके क्षितिज
रसायन और भौतिकी

नन्दलाल जैन, महिला महाविद्यालय, रीवा, (म० प्र०)

रसायन-विज्ञान

रसायनके अन्तर्गत जड और जीव जगतके विभिन्न पदार्थों और उनके गुणधर्मके विषयमें वर्णन किया जाता है। विभिन्न समयमें लिखे गये जैन आगमिक एव व्याख्याग्रन्थोंमें रसायनसे सम्बन्धित अनेक प्रकरण स्फुट रूपसे पाये जाते हैं। इनके विषयमें लेखकोने शोध लेख और समीक्षा लेख तथा पुस्तिकायें लिखी है। इनमेंसे कुन्द-कुन्द, उमास्वाति, भगवती, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि ग्रन्थो और उनकी टीकाओमे वर्णित रासायनिक तथ्योका सकलन, समीक्षण एव तुलनात्मक निरूपण किया गया है। इनका मुख्य विषय द्रव्य और पदार्थकी परिमाण, भेद-प्रभेद, परमाणुवाद और बन्धप्रक्रिया है। एक ओर शास्त्री, न्यायाचार्य और मेहताके समान शास्त्रीय विद्वानोने अपने विवरणोंमें शास्त्रीय तथ्योका सकलन किया है, वही दूसरी ओर सिकन्दरने अपने शोध ग्रन्थ तथा शोध लेखमे विविध भारतीय दर्शनोके परिपेक्ष्यमें जैन पदार्थवाद तथा परमाणुवादका विवेचन किया है। यद्यपि द्रव्य और पदार्थकी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिमाणमे विभिन्न लेखकोंके विवरण समान हैं, फिर भी जैनने द्रव्यके सामान्य और विशेष गुणोंके आला-पद्धतिके विवरणकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बताया है कि यह परिभाषा अधिक व्यापक और समीचीन लगती है। बाँटियाने[५] पदार्थ परिभाषाके अतिरिक्त जैनागम वर्णित परमाणु और पुद्गलके समस्त गुणोका सकलन कर नवीन शोधकोके लिए उत्तम कार्य किया है। जवेरी[४] और जैनने[६] आगमिक परमाणु और आधुनिक परमाणुकी तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करते हुए बताया है कि जैनागम वर्णित परमाणुके गुण आधुनिक परमाणुकी तुलनामें परमाणु घटकोंके लिए अधिक सार्थक प्रतीत होते हैं। इसीलिये उन्होने वैज्ञानिक मूलभूत कणोको जैनागमी परमाणुके समकक्ष प्रदर्शित करनेका यत्न किया है। मुनिश्री नगराज[3] भी इसी पक्षके प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत जैन[९] और सिहने[१०] इस परमाणुवादकी सूक्ष्मतासे परीक्षा कर यह प्रदर्शित किया है कि आगमोक्त परमाणु वर्तमान परमाणुके समकक्ष ही माना जाना चाहिये। इलेक्ट्रान, प्रोटान या क्वार्ककणोको आगमोक्त परमाणुके समकक्ष मानने पर निम्न गुणोकी सही व्याख्या नही की जा सकती

(१) इलेक्ट्रान आदि मूलकणोको ऊर्जामय पुद्गल मानने पर भी चूँकि ऊर्जा भी कण-मय होती है, ठोस और एक प्रदेशी होती है, अत उसमे सकोच-विस्तारके गुणोंकी व्याख्या नही की जा सकती। ये गुण खोखले परमाणुओमें ही पाये जा सकते हैं।

(२) सामान्यत आधुनिक अनेक मूलकणोंको सम्यक् परिभाषित कर लिया गया है। इससे पता चलता है कि मूलकणोके गुण (आवेश, द्रव्यमान आदि) भिन्न-भिन्न होते हैं। यही नहीं, न्यूटान, क्वार्क आदि कण इलेक्ट्रानकी तुलनामें ७००-२००० गुने भारी होते हैं। इस प्रकार आगमोक्त पचगुणी

(चतुस्पर्शी) या सप्तगुणी (अष्टस्पर्शी) परमाणुओंकी समानता और अनंतताका सही व्याख्यान नहीं होता। यदि आगमोक्त परमाणुओको इलेक्ट्रान, पोजिट्रानके समकक्ष भी माना जाय, तो भी प्रोटान या न्यट्रानके निर्माणको एक तीसरे पर पर्याप्त भारी मूलकणी परमाणुको माने बिना नही समझाया जा सकता। इस प्रकार आगमोक्त परमाणु शब्दसे कमसे कम तीन विभिन्न प्रकारके कणोंका बोध होता है जो एक दूसरेसे भिन्न होते हैं। तीन कण परमाणुओकी जातिगत अनन्तताको सिद्ध नही करते।

(३) तत्त्वार्थसूत्रमे परमाणुओकी बधप्रक्रियाके तीन मुख्य सूत्र दिये है। जैन[१] ने अपनी व्याख्यामे बताया है कि आगमोक्त परमाणुओको यदि इलेक्ट्रान आदिके समकक्ष माना जाता है, तो उनकी सही व्याख्या नही की जा सकती। फिर भी, वे परमाणुकी अविभागिताको मूल मानते हुये इस समरूपता पर ही बल देते हैं। इसके विपर्यासमें, यदि आगमोक्त परमाणुको वर्तमान परमाणुके समकक्ष माना जाय, तो यह प्रक्रिया सहजमें समझी जा सकती है। इसके उन्होने अनेक उदाहरण दिये है।

आगमोक्त परमाणुओको वर्तमान परमाणुओके समकक्ष मानने पर उनके खोखलेपन, सकोचविस्तार, विविधता तथा बन्धप्रक्रियाकी न केवल सरलता वही प्रकट होती है, अपितु यह भी अचरज होता है कि उपकरण-विहीन पुरातन युगमे भी हमारे जैन मनीषी कितने गभीर एव तीक्ष्ण विचारक रहे हैं। यही नही, आगमोमें अनेक स्थलो पर परमाणओके सम्बन्धमे परिमाणात्मक विवरण प्राप्त होते है, वे भी आगमोक्त परमाणुओकी इस समकक्षताको पुष्ट करते है। उदाहरणार्थ तिलोयपण्णत्तिमे लम्बाईके यूनिटोकी चर्चा करते हुये उवसन्नासन्नसे लेकर यव और अगुल यूनिटोके मान बताये है। दत्त और सिहके अनुसार अगुलका मान यदि ०-७७ इच या १-६५ सेमी० माना जाय, तो उवसन्नासन्न यूनिटका परिमाण १०-११सेमी० आता है। इस आधार पर अनुयोगद्वार और जबूद्वीपप्रज्ञप्तिके व्यावहारिक परमाणुका मान ० ८ × १०—८ सेमी० होगा जो आधुनिक सामान्य परमाणुके व्यासके बराबर ही है। इलेक्ट्रान या न्यूक्लिसका व्यास १० – १३ सेमी० के लगभग होता है। यहाँ भी यह ध्यानमे रखना चाहिये कि विभिन्न ग्रन्थोमे क्षेत्र-मानोकी यूनिटोमे कुछ अन्तर भी पाया गया है। इस साइजके अतिरिक्त, परमाणुओकी गति, स्पर्श, प्रति-घात, कम्पन आदिके सम्बन्धित विवरण भी वर्तमान परमाणुकी समकक्षतामे घटित हो जाते है। जवेरी और अन्य लेखकोने आगमोक्त परमाणुओको द्रव्यमान या सहतिविहीन कणोके समकक्ष माननेका सुझाव दिया है। लेकिन अबतक सहतिविहीन कण ऊर्जाएँ ही रही है और आईस्टीनने ऊर्जाओकी कणमयता प्रमाणित की है। क्वान्टम सिद्धान्त भी इसकी पुष्टि करता है कि सभी ऊर्जाओ एव सूक्ष्मकणोके व्यवहार तरगणी प्रकृतिके आधार पर ही समझाये जा सकते है। इस प्रकार, आगमोक्त परमाणु पदसे वाच्य अर्थमे समीक्षक काफी खीचतान करते प्रतीत होते है। वस्तुत अविभागी, अगुरुलघु और इन्द्रिय-अग्राह्य पदको बहुत अधिक पूर्वाग्रहपूर्वक नही लेना चाहिये। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि परमाणुको सूक्ष्म और व्यावहारिक परमाणुके रूपमे मान्यता प्रदान कर सभवत पद्मनदिने उसी प्रकार शास्त्रीय मर्यादा स्थिर रखी जैसे भट्ट अकलकने प्रत्यक्ष ज्ञानको लौकिक और मुख्य प्रत्यक्षके रूपसे विभाजित कर अपने समयमे एक बडे विवादको चतुरतापूर्वक सुलझाया था। वस्तुत सामान्य जन न तो मुख्य प्रत्यक्षमें रुचि रखता है और न ही सूक्ष्म परमाणुमें। उनकी परिभाषा शास्त्रीय और अकल्पनीय भी बनी रहे, तो कोई आपत्ति नही है। इस प्रकार यह कहना चाहिये कि आधुनिक वैज्ञानिक परमाणु आगमोक्त व्यावहारिक परमाणुके समकक्ष होता है। अत इनके अन्य गुणोका वर्णन भी इसी आधार पर समीक्षित किया जाना चाहिये। सिकदर और जैनने आगमोक्त परमाणुवादकी अन्य भारतीय तथा प्राचीन परमाणुवादसे तुलना कर यह प्रमाणित

किया है कि समसामयिक मान्यताओंकी दृष्टिसे जैन परमाणुवाद आधुनिक दृष्टिसे भी अधिक समीचीन प्रमाणित होता है।

सूक्ष्म और व्यावहारिक—दोनों ही प्रकारके परमाणु (चाहे ऊर्जा रूप हों या सूक्ष्मकण रूपमे हो) आगमोमें पौद्गलिक बताये गये हैं। अत उनमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और सस्थान—ये पाँच गुण होते है। आगमोमें परमाणुओका विभाजन इसी आधार पर किया गया है और उनकी सख्या २०० ही मानी गई है। वस्तुत रूप-रसादिके आधारपर परमाणुओका यह वर्गीकरण उचित प्रतीत नही होता, क्योकि यद्यपि रूप, रस आदि मुख्यत २० प्रकारके होते हैं, पर उनके अवान्तर भेद इतने अधिक है कि इस आधार पर वर्गीकरणकी कोई विशेष महत्ता नही रह जाती और परमाणुओको अनन्त प्रकारका कहनेके अतिरिक्त अन्य विकल्प नही है। वस्तुत परमाणुओका वर्गीकरण उनकी आन्तरिक सचरनाके आधारपर ही करना चाहिये। यह दृष्टि यन्त्रयुगीन सूक्ष्मतर निरीक्षण क्षमताको प्रकट करती है।

यदि हम व्यवहार परमाणुकी धारणाको सबल देते हैं, तो यह कहा जा सकता है कि ये सूक्ष्म परमाणुओसे निर्मित होते है। पर ये स्कन्ध नही कहलायेगे क्योकि ये परमाणु विस्तारकी सीमामे ही रहते है। इन सूक्ष्म परमाणुओको मूलभूत कणो या ऊर्जाके रूपमें माना जा सकता है। पर इन कणोमे भी आवेश, द्रव्यमान आदिके कारण भिन्नताएँ है। इनकी सख्या दिनोदिन बढ रही है। यह उल्लेख सही नही लगता कि सभी परमाणुओका द्रव्यमान बराबर होता है। द्रव्यमान-विहीन चतुस्पर्शी सूक्ष्म परमाणुओ की प्रकृतिकी व्याख्या अभी पूर्णत स्पष्ट नही है। इस प्रकार आगमोक्त परमाणुवादको निम्न प्रकार निरूपित किया जा सकता है

सूक्ष्म परमाणु ——> व्यवहार परमाणु ——> स्कन्ध ——> महास्कन्ध

इन तथ्यो पर तुलनात्मक समीक्षकोको विचार करना चाहिये।

शास्त्रोमे परमाणु-सम्बन्धी वैचारिक चर्चा जितनी ही सूक्ष्मतासे वर्णित है, स्कन्ध-विषयक चर्चा उतनी ही स्थूलतासे वर्णित है। सामान्यत स्कन्धोको सभी समीक्षक आधुनिक अणुके समकक्ष मानते है। इनके दो रूप स्पष्ट है—चाक्षुष और अचाक्षुष। इनके निर्माणकी प्रक्रियासे सम्बन्धित आगम सूत्रोकी व्याख्यामे कुछ अन्तर पाया जाता है और श्वेताम्बर-परम्पराकी व्याख्या आधुनिक दृष्टिसे अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है। जैनने बताया है कि उमास्वातिके परमाणुबन्ध-सम्बन्धी तीन सूत्र समुचित अर्थ करने पर आधुनिक तीन प्रकारकी बन्धकताको निरूपित करते है यदि आगमोक्त परमाणुओको वैज्ञानिक परमाणुओके समकक्ष या व्यवहार परमाणु माना जाय। $NaCl$ व H_2 के अणुओके निर्माण क्रमश स्निग्धरूक्षत्वात् बध तथा गुणसाम्ये सदृशानाको निरूपित करते है। SO_2 या HNO_3 के अणुओके निर्माण द्व्यधिकादि गुणाना तुके उदाहरण है।

जैनने सूक्ष्म परमाणुओके बन्धकी जटिलताको प्रतिपादित करते हुए उमास्वातिके बध निर्देशक सूत्रोके अर्थमे भ्रान्ति ही उत्पन्न की है। वस्तुत सूक्ष्म परमाणुओ (इलेक्ट्रान-इलेक्ट्रान, प्रोजिट्रान-पोजिट्रान या इलेक्ट्रान—पोजिट्रान आदि) के बधोको असामान्य कोटिका माना जाता है जिनमें सामान्य बन्धोकी अपेक्षा पर्याप्त ऊर्जाका विनिमय होता है। इन सूत्रोको केवल व्यवहार परमाणुओके बन्धोका निरूपक माना जाना चाहिये। फिर भी यह तथ्य मनोरञ्जक है कि बन्धकी विभिन्न विधियोके निरूपणमें शास्त्रोमे स्कन्धो के कोई भी उदाहरण नही दिये गए हैं। लेकिन यह माना जा सकता है कि चूँकि परमाणुके बन्धमें चार धातुएँ या चतुर्भूज स्कन्ध (पृथ्वी, जल, तेज, और वायु) बनते है, अत उन्हे ही इनका स्थूल उदाहरण

माना जाना चाहिये। इनमें केवल पृथ्वी और जल ही बन्धकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। स्कन्धोंके निर्माणकी यह मौलिक प्रक्रिया है। शास्त्रोमे इसे सामान्य भाषामें भी बताया गया है कि स्कन्ध अपघटन, संघनन एवं अपघटन-संघननकी क्रियाओंसे प्राप्त होते हैं। जैनने इन सभी प्रकारके स्कन्धोंके निर्माणकी दशाओंका भी संक्षेपण किया है।

जवेरी[४] ने स्कन्धोके अनेक प्रकारके वर्गीकरणका सक्षेपण किया है। ये बादर (चाक्षुष) और सूक्ष्म (अचाक्षुष) के रूपमें दो प्रकारके होते है। प्रयोग-परिणत, विस्रसा-परिणत और मिश्रपरिणतके रूपमें तीन प्रकारके होते है। स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणुके भेदसे चार प्रकारके होते है। यहाँ परमाणु को व्यवहार परमाणु मानना चाहिये। स्थूल-स्थूल (ठोस), स्थूल (द्रव्य), स्थूल-सूक्ष्म (ऊर्जा), सूक्ष्म-स्थूल (गैसीय पदार्थ), सूक्ष्म (कर्मवर्गणाएँ, अतीन्द्रिय) और सूक्ष्म-सूक्ष्म (सूक्ष्मतर स्कन्ध जिनमें वर्तमान परमाणु घटक समाहित किये जा सकते हैं।) के भेदसे स्कन्ध इस प्रकारके होते हैं। इनमें व्यवहार परमाणुको सूक्ष्मके अन्तर्गत समाहित करना चाहिये। इस वर्गीकरणके विषयमें जैनने बताया है कि यह केवल स्कन्धो की चक्षु एव अनिन्द्रिय-ग्राह्यता पर आधारित है, उत्तरोत्तर सूक्ष्मता पर नही। यही कारण है कि यद्यपि गैसीय अणुओकी तुलनामें उर्जायें सूक्ष्मतर होती है, पर उन्हे गैसोमें पहले रखा गया है। इस आधार पर सूक्ष्मताकी दृष्टिसे स्कन्ध पांच प्रकारके ही मानने चाहिये। वस्तुत. ऊर्जायें सूक्ष्म-सूक्ष्म कोटिमे ही आनी चाहिये क्योकि प्राय इन्हें चक्षुस्पर्शी माना जाता है। इस वर्गीकरणमे कुछ स्कन्धोके नाम आये है, पृथ्वी, पत्थर, पर्वत, जल, घी, तेल, आतप, छाया, वायु, कर्मवर्गणाये और सूक्ष्मतर द्व्यणुक एक अन्य वर्गीकरणमें इन्हे तेईस वर्गणाके रूपोमे बताया गया है। इनके विषयमें विस्तारपूर्वक अध्ययनकी आवश्यकता है। कही परिस्थूर न्यायसे स्कन्धके ५३० भेद गिनाये गये हैं। अन्तमें यह बताया गया है कि स्कधोका विभाजन अत्यत जटिल है और वे अनन्त प्रकारके होते हैं। इस वर्गीकरणके विविध रूपोसे यह स्पष्ट प्रतिभास होता है कि ये भेद मात्र सूक्ष्मता और स्थूलताके आधार पर किये गये है। इनमे स्कन्धोकी आन्तरिक सरचना का आधार नही है। फिर भी, ये सरचना प्रधान युगके कालके अन्य वर्गीकरणोसे अधिक सूक्ष्म निरीक्षणको निरूपित करते है। यह इस तथ्यसे प्रकट होता हैं कि उस समय ऊर्जाओको भी स्कन्ध या कणमय माना जाता है।

स्कन्धोका निरूपण

यद्यपि घट, पट, वस्त्र, भूषण, खाद्य पदार्थ, दश विकृतियाँ, शरीर, कर्म आदि अनेक स्कन्ध पदार्थों के नाम शास्त्रोंमे आये है पर इनका विशेष विवरण उपलब्ध नही है। लेकिन चार महाभूतोके कुछ विवरण कुछ स्थानो पर उपलब्ध हैं जिनका सक्षेपण जैनने किया है। इसके अनुसार यद्यपि प्रारम्भमे यह माना जाता है कि ये महाभूत स्कन्ध विशेषको निरूपित न कर एक-एक जाति विशेषको निरूपित करते हैं, फिर भी उपलब्ध विवरणसे यह प्रमाणित नही होता। पृथ्वीके अन्तर्गत ३६–४० ठोस पदार्थोंके नाम अवश्य है पर जल, अग्नि, और वायुके अन्तर्गत केवल इनके विभिन्न भेदोके ही नाम दिये गये है। ये भेद श्वेताम्बर आगमो तथा तत्त्वार्थसारमे प्राप्त होते है। यह सभव है कि अनन्त सभावित स्कन्धोमेंसे केवल ये ही स्कन्ध आगमयुगीन समयोमे दृष्टिगोचर रहे हो। यह आवश्यक है कि आगमिक एव दार्शनिक साहित्यको स्कन्धो के विवरणके लिये आलोकित किया जाय। साथ ही, यह विवरण नामरूपेण ही है, विशेष विवरण नही। इस विषयमें भी छान-बीनकी आवश्यकता है।

भौतिकी (अ) ऊष्मा और प्रकाश

भौतिकीके अन्तर्गत पदार्थोंके स्थूल उपयोगी भौतिक गुणोका अध्ययन तो किया ही जाता है, इसके

अतिरिक्त ऊष्मा, प्रकाश आदि विभिन्न प्राकृतिक तथा परमाण्वीय ऊर्जायें भी इसके प्रमुख विषय क्षेत्र हैं। इन ऊर्जाओंका स्रोत क्या है, इनकी प्रकृति और कार्य क्या है, क्या इन्हें उपयोगी कार्योंमें प्रयुक्त किया जा सकता है, ये और अन्य प्रश्न ही विद्वानोंको इन ऊर्जाओंकी मौलिक प्रकृतिके अध्ययनके प्रति प्रेरित करते हैं। प्राचीन समयमें इन ऊर्जाओं व पदार्थके उपयोगी गुणो पर विचार किया गया है। विभिन्न दर्शनोंके साथ-साथ जैन आगमोंमें भी इन पर स्फुट चर्चायें प्राप्त होती हैं जो कुछ ईसा-पूर्व सदियोंसे लेकर बारहवीं सदीके बीच लिखे गये हैं।

भौतिकीसे सम्बन्धित विषयों पर अनेक विद्वानोंका ध्यान गया है। सम्भवतः सर्व प्रथम जैनने तत्त्वार्थसूत्रके पचम अध्यायकी टीकामें इन विषयों पर १९४२ में विचार किया था। इसके बाद अनेक स्फुट विषयो पर अमर, सिकदर, पालीवाल, मुनि महेन्द्र कुमार द्वितीय और अन्योने आगमोक्त मन्तव्योका तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। पिछले कुछ वर्षोंमें जैन[13] ने अपने पाँच शोध पत्रोंमें इस विषय पर विस्तारसे प्रकाश डाला है। अपने पदार्थोंके गुणोंके सक्षिप्त अध्ययनमें उन्होने बताया है कि जैन आगमोमें पदार्थोंके स्थूल गुणोकी बहुत कम चर्चा है। वैशेषिक इस विषयमें जैनोंसे कुछ अधिक यथार्थवादी है। जैन[13] ने अनेक वैज्ञानिक उद्धरणोंके आधार पर प्रमाणित किया है कि ताप, प्रकाश आदि ऊर्जाएँ भारयुक्त होती हैं। यद्यपि उत्तराध्ययनमें पदार्थके अनेक रूपोंमें प्रभा (प्रकाश) को समाहित किया गया है, फिर भी तत्त्वार्थसूत्रमें उसे छोड दिया गया है। हाँ, यहाँ छाया, अन्धकार और उद्योतके रूपमें प्रकाशकी विविधता बताई गई है। अत यह अचरजकी बात है कि प्रभाको पुद्‌गलके रूपोंमें क्यो सम्मिलित नही किया गया। यह अन्वेषणीय है। फिर भी, यह माना जाता है कि प्रकाशकी अनेक शक्तियाँ होती हैं जिनमें दृश्य प्रकाश भी एक है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुद्‌गलके आतप रूपमें ऊष्मा एवं दृश्य प्रकाशको एक साथ समाहित किया गया है। आगमें तपाये हुये गरम लोहेमें अग्नि या ऊष्माके अचेतन परमाणु प्रविष्ट होकर उसे रक्ततप्त कर देते हैं। प्रकार ऊष्मा ही प्रकाश ऊर्जामें रूपान्तरित होती है। अदृश्य प्रकाशको ऊष्मा कहा जा सकता है। पदार्थोंके कणोमें उष्णता या प्रकाशकी शक्ति आत्मा या अदृश्य जैवशक्तिके सयोगका फल है। इनके अभिभव और पराभवके कारण इन दोनों ही ऊर्जाके रूपोको परमाणुमय बताया गया है। शास्त्रोमें ताप और प्रकाशके सारणी-१ में दिये गये अभिलक्षण बताये गये हैं।

सारणी-१. उष्मा और प्रकाश के शास्त्रोक्त अभिलक्षण

	ताप या ऊष्मा के अभिलक्षण	प्रकाश के अभिलक्षण
१	ऊष्मा तेजसकायिक जीव हैं इसमें अदृश्य शक्तिके कारण सजीवता है। यह एक ऊर्जा है।	प्रकाश भी तेजसकायिक है। इसमें अदृश्य शक्तिके कारण सजीवता है। यह एक ऊर्जा है।
२	इसकी प्रकृति कणमय होती है इसके कण अनेक सूक्ष्म परमाणुओंसे बने होते हैं।	इसकी प्रकृति भी कणमय होती है।
३	ऊष्मा पदार्थों को गरम करती है, पकाती है, नष्ट करती है।	प्रकाश कणोंका अभिभव और पराभव होता है।
४.	ऊष्मा पदार्थोंमें अवशोषित हो जाती है। यह जीवनका एक लक्षण है।	यह दो प्रकारके स्रोतोंसे मिलता है—ठडा और गरम। यह आतप और उद्योत—दो रूपोमें पाया जाता है।
५.	प्रकाश, विद्युत और मणिप्रभा ऊष्माके ही रूप हैं।	

जैनने बताया है कि वर्तमानमें ऊष्मा या प्रकाश एक ऊर्जाके रूपमें माने जाते हैं। इनकी प्रकृति

द्विविधा-तरंगणी होती है। इनकी ऊर्जा प्राकृतिक होती है, किसी अदृश्य शक्तिके कारण नही। तरंगात्मक दृष्टिसे ऊष्माका तरंगदैर्घ्य रक्तप्रकाशसे बृहत्तर होता है। ऊष्माके विभिन्न कार्य आज भी मान्य हैं। पर ऊष्माका संप्रसारण अब सचालनके अतिरिक्त दो अन्य विधियोंसे-विकरण और संवाहनसे--भी माना जाता है। शास्त्रोंमें प्रावस्था परिवर्तन और ऊष्माके यांत्रिक कार्योंमें परिवर्तित होनेकी चर्चा नही है। ये प्रकरण उन्नीसवी सदीकी वैज्ञानिक प्रगति की ही देन हैं। उष्माको जीवनका लक्षण मानना एक समस्या उत्पन्न करता है क्योंकि जगतके प्रत्येक तत्रमे प्रकृत्या ही कुछ न कुछ ऊष्मीय ऊर्जा होती है। इस दृष्टिसे ससारके सभी पदार्थ, चाहे वे जड हो या चेतन, सजीव ही माने जाने चाहिये। वस्तुत उत्तराध्ययनमें यह बताया गया है कि पृथ्वी, जल आदि प्राकृतिक रूपमें शस्त्र अनुपहत होते हैं और सजीव होते हैं। विक्षोभ या उपघात इन्हें निर्जीव बनाता है। मूलत प्रत्येक पदार्थके सजीव माननेकी इस धारणामे क्या यह अर्थ लिया जाय कि जगतमें जीव और अजीवकी धारणाका विकास उत्तर आगमकालमें हुआ है? पदार्थोंके मूलत सजीव होनेकी धारणा जैन दर्शनको वेदान्तका ही एक अग बना देती? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसपर गम्भीर एव शोधपूर्ण अध्ययनकी आवश्यकता है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी यहाँ समाधानकी अपेक्षा रखता है। जीवाभिगमसूत्रमें तेजस-कायिकोको त्रस कोटिमें माना गया है जबकि उमास्वातिने इसे स्थावर माना है। तेजसकायिकोका स्थावरी-करण कब और कैसे हुआ, यह भी एक विचारणीय बात है। प्रारम्भमें, गतिशीलोंको त्रस मान कर वायु, तेज (ऊष्मा, प्रकाश आदि) को इस कोटिमें रखा गया गया हो। लेकिन जब कर्मवादका विकास हुआ, तब "त्रस" की परिभाषामें कुछ सशोधन किया गया प्रतीत होता है। इससे क्या यह समझा जाय कि जीवाभिगम सूत्रके समय कर्मवाद विकसित नही था और शब्दोका सामान्य अर्थ लिया जाता था?

दशवैकालिकमें तेजसकायिकोंके सात भेद गिनाये गये हैं जबकि प्रज्ञापनामें सूक्ष्म तेजसकायिकोके अतिरिक्त स्थूल तेजसकायिकोके बारह भेद बताये गये हैं। [सारणी--२] इनमें अग्निकी ज्वाला, मुर्मुर,

सारणी--२. तेजस्कायिकोंके भेद

प्रज्ञापना	दशवैकालिक
१. विद्युत्	२. अग्नि या ज्वाला
२ अशनि	३ मुर्मुर
३ निर्घात	४ अर्चि
४ सघर्ष	५ अलात
५ सूर्यकान्त	६ शुद्ध अग्नि
७ भेद [दशवै०]	७ उल्का

अगार, आलात, अर्चि, सघर्षज ऊष्माओसे सामान्य जन परिचित है। शुद्ध अग्निको ईंधन रहित अग्निके रूपमें माना जाता है। यह वैद्युत भट्टी, पिघला हुआ लोहपिंड आदिमें देखा जाता है। उल्का, विद्युत् एव अशनि---ये विद्युतके रूप हैं और सूर्यकान्त या मणियोके माध्यमसे उत्पन्न ऊष्मा प्रकाशका एक प्रभाव है जिसमें प्रकाश ऊष्मामें परिवर्तित होता है। निर्घात विक्रिया जन्य अग्नि है। तैजस्कायिकोंके इस वर्गीकरणसे पता चलता है कि शास्त्रीय कालमें ऊष्मा, प्रकाश और विद्युत एक ही कोटि---तैजस्कायिकके माने जाते थे और इनकी प्रकृति कणमय मानी जाती थी। यह भी यहाँ द्रष्टव्य है कि उपरोक्त सभी रूपोंमें मूल कुछ भी हो, ऊष्मागुण इन सभीमें पाया जाता है। अत इन ऊर्जाओंकी प्रकृतिमें मौलिक भेद होनेके

बावजूद भी इनके स्थूल एवं अनुभवगम्य ऊष्मागुणके कारण इन्हें एक ही तेजोरूपमें समाहित किया गया है । इस युगमें प्रभा [सूर्य और दीप प्रकाश], उद्योत एव अन्धकारमें उष्णताके सामान्य अनुभवगम्य न होनेसे इन्हें तैजस्कायिकोंमें समाहित नहीं किया गया है जबकि इन्हें भी इसमें समाहित किया जा सकता था । सम्भवतः इसीलिये प्रभा आदि तीन रूप तैजस्कायिक नही बताये गये हैं । फलत ये निर्जीव हैं । फिर भी, उन्हें पौद्गलिक और कणमय तो माना ही गया है । आधुनिक दृष्टि से इन भेदोंके विषयमें यह कहा जा सकता है कि ये ऊष्मा, प्रकाश या विद्युत् ऊर्जाओंके विभिन्न स्रोत हैं स्वय ऊर्जाएँ नही हैं । ऊष्मा चाहे किसी भी स्रोतसे क्यो न उत्पन्न हो, ऊष्माकी प्रकृति एकसमान होगी, विभिन्न विद्युत् स्रोतोंसे उत्पन्न विद्युत् ऊर्जाकी प्रकृति एकसमान होगी । इसी प्रकार प्रकाशके विषयमें मानना चाहिये ।

इन ऊर्जाओंकी कणमयताकी धारणा जैन और वैशेषिकोमें समानरूपसे पाई जाती है । न्यूटन युगमें वैज्ञानिक भी इन्हे तरल या कणमय मानते थे । यह तो उन्नीसवी सदीके उत्तरार्द्धमें ही मत स्थिर हुआ कि ये तरगात्मक ऊर्जाएँ हैं । बीसवी सदीमें इन्हे तरगणी प्रकृतिका सिद्ध किया जा चुका है । अत इनकी शुद्ध कणमयताकी शास्त्रोक्त धारणा अब सशोधनीय बन गई है ।

प्रकाश-सम्बन्धी कुछ घटनाएँ

प्रकाशके विषयमें जैन[13] ने दो शास्त्रीय प्रकरणो पर और ध्यान आकृष्ट किया है जो वर्तमान परिप्रेक्ष्यमें विचारणीय बन गये हैं । प्रथम प्रकरणमे चक्षु द्वारा पदार्थके देखनेकी प्रक्रिया समाहित है । शास्त्रीय मान्यताके अनुसार चक्षु पदार्थोंके रूप एव आकार आदिका ज्ञान करानेमें आलोक या सूर्यप्रकाशकी सहायता नही लेती । अमर और जैनने चक्षु द्वारा पदार्थोंके देखने और ज्ञान करानेकी वैज्ञानिक प्रक्रियाका विश्लेषण देते हुये बताया है कि सामान्य जनको दृश्य परिसरके प्रकाशके बिना पदार्थ दृष्टिगोचर नही होते । जैन दार्शनिक सूर्यकी किरणें मान कर भी उन्हें दर्शन प्रक्रियामें उपयोगी नहीं मानते । वस्तुत चक्षुका पदार्थ सम्पर्क किरणोके माध्यमसे ही होता है । जैसे कैमरा बिना पदार्थ और प्रकाशके चित्र नही खीच सकता, वैसे आँख भी इन दोनोके विना रूपज्ञान नही करा सकती । यह सही है कि आँख पदार्थके पास जाकर उसका ज्ञान नही कराती, इसलिये उसका अप्राप्यकारित्व स्थूलत सही हो सकता है लेकिन चक्षु किरणों के माध्यमसे पदार्थके बिना भी उसका बोध नहा करा सकती, अत उसका पदार्थसे किसी न किसी प्रकार सम्पर्क होता ही है । अत अप्राप्यकारित्वको परोक्ष प्राप्यकारित्व या ईषत् प्राप्यकारित्वके रूपमे लेना शास्त्रीय अर्थको वैज्ञानिक बना देगा, यह सुझाया गया है ।

इसी प्रकार द्वितीय प्रकरणमे अन्धकार, छाया और वर्षाकी चर्चा है । अन्धकार तो प्रकाशका ही एक रूप है जिसका परिसर दृश्य परिसरसे भिन्न होता है । उल्लूकी आँखोका लेंस और विविध प्रकारके नवीन केमरे प्रकाशके इसी परिसरमे काम करते हैं । चूँकि यह प्रकाशका ही एक रूप है, अत अन्धकारकी कणमयता भी स्पष्ट है । लेकिन इसे प्रकाशविरोधी कहना स्थूल निरीक्षण ही कहा जा सकता है । यह बताया गया है कि छाया प्रकाशको रोकनेवाले पदार्थोंसे बनती है । इसकी प्रकृति परावर्तक तलोकी प्रकृति पर निर्भर करती है । यह भी पुद्गलका ही एक रूप है । वस्तुत वर्णादिविकार परिणत छाया (दर्पण प्रतिबिम्ब या छाया) अवास्तविक प्रतिबिम्बका एक रूप है जबकी अवतल लेंससे बने प्रतिबिम्ब वास्तविक होते है । वास्तविक प्रतिबिम्बोंका उदाहरण शास्त्रोंमें नही मिलता, शायद उस युगमें अवतल लेंसोंकी जानकारी न हो । साथ ही, हरिभद्रने जिन छाया पुद्गलोंका दर्पणमे प्रवेश बताया है, वे वस्तुत प्रकाश किरणें हैं । इन किरणोंके सरल पथ गमनकी प्रवृत्तिके कारण ही छाया और प्रतिबिम्ब बनते हैं । प्रकाशकी

इस सरल पश्चगमनकी प्रकृतिका भी शास्त्रोंमें उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार छाया, अन्धकारके विपरीत प्रकाशका एक प्रभाव है, स्वयं प्रकाश नहीं।

मुनि महेन्द्र कुमार द्वितीयने बताया है कि पदार्थोंके वर्णकी अनुभूति एक जटिल प्रक्रिया है जिसमे वस्तु और ज्ञाता—दोनो सम्मिलित होते हैं। शास्त्रोमे वर्णित पचवर्णोंकी बात काफी स्थूल लगती है क्योंकि इन्द्रधनुषमें ही सात रग होते हैं। यदि मौलिक वर्णोकी बात की जाय, तो रामनके मूलभूत अन्वेषणसे तीन ही मौलिक वर्ण प्रकट होते हैं। इस प्रकार अन्धकार, छाया और वर्ण सम्बन्धी आगमयुगीन मान्यतायें अपनी समीचीनता बनाये रखनेके लिये पुन परीक्षणकी अपेक्षा रखती हैं। इस प्रकार, ऊष्मा और प्रकाशके सम्बन्धमें हमें आजकी तुलनामें पर्याप्त अल्प सूचनायें ही मिलती हैं। फिर भी, इनका स्फुट सकलन भी आगम युगकी महान् देन है। इसमे उनके प्रकृति-निरीक्षण सामर्थ्य और बौद्धिक विचारणाकी तीक्ष्णताका पता चलता है। ये सकलन या विचार आजके युगमें कैसे भी क्यो न हों, अपने युगमें तो उत्तम कोटिके रहे हैं क्योंकि ऐसा विवरण अन्य दर्शनोंमें नही पाया जाता।

विद्युत् और चुम्बकत्व

ऊष्मा, प्रकाश और ध्वनिकी तुलनामें शास्त्रोमे विद्युत् और चुम्बकीय ऊर्जाओके विषयमें उपलब्ध विवरण और भी अल्प है। शास्त्रोमे विद्युत् उल्का, अशनिके रूपमें विद्युत्का उल्लेख है, पर वस्तुत ये सभी विद्युत्के उत्पादक हैं, विद्युत् नहीं। विद्युत् तो अतिगतिशील इलेक्ट्रान प्रवाहको कहा जाता है। यह सही है कि यह कणमय रही है। पर अब इसे भी तरगणिक प्रमाणित कर दिया गया है। विद्युत्को स्निग्ध-रूक्षके समान विरोधी गुणोंके सम्पर्कसे उत्पन्न मानना जैन दार्शनिकोंकी ईसापूर्व सदियोमें बडी सूक्ष्म कल्पना है जिसे वैज्ञानिक अठारहवी सदीमें ही खोज सके। शास्त्रोमें विद्युत्को तेजस्कायिकोके रूपमें माननेके कारण सजीव माना गया है। इसकी गतिके ऊष्मा भी इसे सजीवता देती है, पर यह मत विज्ञानको मान्य नहीं है। जीवनके जन्म, वृद्धि, पुनर्जनन व विनाशके लक्षण इसमें नहीं पाये जाते। शास्त्रोमें प्रकाशके ऊष्मा या विद्युत्में रूपान्तरणकी बात आई है पर विद्युत्के ऊष्मामे रूपान्तरणका कोई उदाहरण नहीं है। सम्भवत उस युगमें चालक और रोधक पदार्थोंके सम्बन्धमें दृष्टि नहीं गई, अत यह विषय छूट ही गया। आज हम जानते हैं कि विद्युत्के ऊष्णीय रूपान्तरण हमारे लिये कितने उपयोगी हैं।

चुम्बकत्वके विषयमें तो केवल अयस्कान्तका नाम आता है। शास्त्रोमें इसे ऊर्जाका रूप ही नहीं माना जाता (हाँ, इसके लोहेके आकर्षण गुणोको अप्राप्यकारिताका साधक मानकर इससे चक्षुके आप्राप्य-कारित्व गुणका सपोषण अवश्य किया गया है) शास्त्रोमें केवल एक ही प्राकृतिक चुम्बकका नाम है। इसके विपर्यासमें, अब चुम्बकत्व एक ऊर्जा है जो तरगणी होती है। इसके चारो ओर बलरेखायें रहती हैं जो वस्तुओको आकर्षित करती हैं। आवृत वस्तुओमें मे बलरेखायें पार नही हो पाती, अत वे आकृष्ट नही हो पाती। यह गुण कुछ वस्तुओमें उनकी विशिष्ट अणुरचना और विन्यासके कारण पाया जाता है। कुछ वस्तुओमें यह गुण कृत्रिमत भी उत्पन्न किया जा सकता है। अपनी चक्षुषा अगोचर बल-रेखाओंके माध्यम से ही अयस्कान्त लोहेको आकर्षित करता है। अत अयस्कान्तको अप्राप्यकारी ग्राहक नही माना जा सकता। इसे चक्षुके समान ही परोक्ष प्राप्यकारी या ईषत् प्राप्यकारी मानना चाहिये।

विद्युत् और चुम्बकत्व तथा उससे सम्बन्धित घटनाओको शास्त्रोमें अल्प विवरणिका इस तथ्यका सकेत है कि आगम या शास्त्रीय युगमे इन ऊर्जाओका कोई विशेष उपयोग अन्वेषित नही था। प्राकृतिक रूपमें पाये जानेके कारण केवल इनके स्थूल गुणोका ही अवलोकन किया गया था।

ध्वनि—जैन, सिद्धान्तशास्त्री, सिकदर, मेहता और रामपुरिया आदिने ध्वनिके सम्बन्धमें जैन

मान्यताओंका विवरण एवं समीक्षण किया है। इन सभीने पौद्गलिक शब्दको वर्तमान ध्वनिका पर्यायवाची माना है। शास्त्रीय मान्यताके अनुसार, ध्वनि भी प्रकाश आदिके समान एक पौद्गलिक ऊर्जा है, पर यह तेजस्कायिक न होनेसे अजीव मानी जाती है। इसकी उत्पत्ति परमाणुमय पदार्थोंके विशिष्ट गतिके कम्पन और संघटनसे होती है। पौद्गलिक होनेसे इसमे स्पर्शादि चार गुण पाये जाते हैं। इसका आकार वज्रके समान होता है। यह हवामे संचारित होती है। यह लोकान्त तक जा सकती है। ध्वनिमें तीव्रता, मंदता, अभिभव, पराभव, व्यतिकरण आदिके गुण पाये जाते हैं। ये इसकी कणमयताको पुष्ट करते हैं। इसीलिये ध्वनिको शब्दसे व्यंजित कर उसे भाषावर्णात्मक पुद्गल बताया गया है। जो सूक्ष्म-स्थूल कोटिके स्कन्धोमें समाहित की गई है। जैन ध्वनिको द्रव्यदृष्टिसे नित्य तथा पर्यायदृष्टिसे अनित्य मानते हैं। इस दृष्टिसे जैन मीमांसकोंके शब्द नित्यत्ववादको नही मानते। उन्होंने इसमें अनेक व्यावहारिक आपत्तियाँ प्रस्तुत की है जो उनके ध्वनि-विषयक सूक्ष्म निरीक्षण व विचारके परिमाण ही मानने चाहिये। जैन न्याय-वैशेषिकोके शब्दोंके अमूर्तवाद एवं आकाश गुणसे भी सहमत नही है क्योंकि इससे शब्दमें नित्यत्व मानना पड़ता है। हाँ, यदि आकाशको ध्वनि संचारण माध्यम मान लिया जाय, तो शब्दके वीचीतरंगन्याय या कदम्ब-कोरक प्रक्रियासे श्रवणकी प्रक्रिया तर्कसंगत हो जाती है। फिर भी, आकाशको ध्वनि-उत्पादक नही माना जा सकता, वह तो केवल संचरण माध्यम है।

प्रज्ञापना, स्थानांग, भगवती एवं तत्त्वार्थसूत्रके टीकाग्रन्थोंके आधार पर शब्दोको विविधप्रकारसे वर्गीकृत किया गया है। प्रारम्भिक वर्गीकरणका नवपदार्थमें संक्षेपण किया गया है। उत्तरवर्ती कालोमें इसमें किंचित् परिवर्तित हुआ है। इस संक्षेपणसे पता चलता है कि ध्वनिके सस्वर और कोलाहल रूपमें दो वैज्ञानिक भेदोकी तुलनामे जैन शास्त्रीय वर्गीकरण अधिक व्यापक सूक्ष्मनिरीक्षणकी दृष्टि प्रकट करता है। विज्ञानमें मानवकी शब्दात्मक भाषाके लिये कोई पृथक् स्थान नही दिया गया है। इसे योग्यतानुसार दोनो ही कोटियोके रूपमें वर्णित किया जा सकता है। सिकंदर इसे कोलाहल मानते हैं जो तथ्य नही है। इसी प्रकार प्राकृतिक ध्वनियोकी बात है। शास्त्रोमें इनका विशद विवेचन और वर्गीकरण किया गया है। यही नहीं, वहाँ द्रव्यभाषाके अतिरिक्त भाव भाषा भी वर्णित है। द्रव्य भाषा ग्रहण, निःसरण तथा परघात (संघट्टन) से उत्पन्न होती है। भावभाषा मानसिक है। परघात भाषा प्रयोजन्य होती है और वह सरल या वक्रगतिसे चलती है। यह वायुमें संचारित होती है और लोकान्त तक जाती है। भाषात्मक ध्वनि दो समयोमें अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार ध्वनिके उत्पादन, संचारण, प्रकृति, गुण और वर्गीकरण-सम्बन्धी शास्त्रीय मान्यताएँ प्रर्याप्त तथ्यपूर्ण है लेकिन इनकी व्याख्यामें आजकी दृष्टिसे पर्याप्त अन्तराल है। इसके अतिरिक्त, जैन[13] ने बताया है कि ध्वनिरोधन, ठोसोमें ध्वनि-संचरण तथा ध्वनिका अन्य ऊर्जाओमें अन्योन्य रूपान्तरण आदि अनेक आधुनिक तथ्य ऐसे है जिनका शास्त्रोमें विवरण उपलब्ध नही होता।

आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताके अनुसार, ध्वनि गतिक ऊर्जाका एक रूप है। यद्यपि ऊर्जाओकी चरम कणमयता निर्विवाद मान ली गई है, फिर भी ऊर्जा और दृश्यकणोमें कुछ अन्तर तो स्पष्ट है। इस अन्तरके कारण ही वैशेषिक ध्वनिको अमूर्त एवं सांख्य तन्मात्रात्मक मानते है। ध्वनिके जिन गुणोके आधार पर जैन उसे कणमय प्रमाणित करते हैं, उन्ही गुणोके आधार पर वैज्ञानिक उसे तरंगात्मक या ऊर्जात्मक प्रमाणित करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दार्शनिकोने शब्द उत्पत्तिके स्रोत व माध्यमकी पौद्गलिकताको ध्वनिकी प्रकृति पर आरोपित कर दिया है। यदि ध्वनिको कणात्मक माना भी जाय, तो उसके कण इतने सूक्ष्म होगें कि वे परस्परमें प्रत्यास्थ संघट्टन करेगे जिनसे ध्वनि उत्पन्न ही न कर सकेगें। इस प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक ध्वनिके प्राय सभी आगमवर्णित गुणोको मानते है पर उनकी व्याख्या शास्त्रीय व्याख्यासे भिन्न प्रतीत होती है।

उपरोक्त निरूपणसे प्रकट होता है कि जैन आगम एवं दार्शनिक साहित्यमें भौतिकीसे सम्बन्धित तथ्यभी स्फुटरूपमें पर्याप्त मात्रामें वर्णित हैं। अब तक उनका स्फुट रूपमें ही समीक्षण या विवरण लेखकोंने किया है। इस बातकी महती आवश्यकता है कि विषयवार वर्णनोंका गहन अध्ययन कर संकलन किया जाय और तब उनका तुलनात्मक समीक्षण किया जाय।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और शोध-पत्र

१. जैन, नन्दलाल, (१) केमिस्ट्री आफ जैनाज 'कीमिया'' ११, १९६६
(२) जैन आगमोमें रसायन विज्ञान, १–४, जिनवाणी, १९७३
(३) जैन दर्शनमे जड जगत्की रूपरेखा, महावीर-स्मृति-ग्रन्थ, १९५३
(४) जैन परमाणुवाद, जैन विद्यालय, सीकर-स्मारिका (प्रेसमें)
(५) केमिकल कन्टेन्ट आव जैन कैनन्स, अनुसन्धान-पत्रिका, १९७४

२ जैन, दुलीचन्द, जैनदर्शनमे पुद्गलद्रव्य और परमाणु-सिद्धान्त, चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रन्थ, आरा, १९५४

३ मुनि नगराज, जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान, आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली, १९५९

४ जवेरी, जे० एम०, थ्योरी आव एटम्स इन जैन फिलोसोफी, जैन विश्वभारती, १९७५

५ बाटिया, एम० एल०, जैन पदार्थ विज्ञानमे पुद्गल, श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६१

६ जैन, जी० आर, कोस्मोलोजी, ओल्ड एण्ड नीड, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७५

७ सिकदर, जे० सी०, एटामिक थ्योरी आव जैनाज, इण्डियन जर्नल आव हिस्ट्री आव साइंस, १९७९

८ रे, पी०, हिस्ट्री आव केमिस्ट्री इन एन्सियन्ट एण्ड मेडीवल इण्डिया, पूर्वोक्त, १९६६

९. अमर, गोपीलाल, चक्षुकी अप्राप्यकारिता, एक मूल्याकन, वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ, काशी, १९५४

१०. सिंह, वीरेन्द्र, द्रव्यविषयक जैन धारणा, जैनधर्म आधुनिक सन्दर्भमें (स० नरेन्द्र भानावत आदि), जयपुर, १९७५

११. सिकदर, जे० सी०, जैन थ्योरी आव साउंड, रिसर्च जर्नल आव फिलासफी, १९७२

१२ पालीवाल, के० एल०, मीमासा और जैनदर्शनमे द्रव्यका स्वरूप, अनुसन्धान-पत्रिका, ५, १९७६

१३ जैन, एन० एल०, (अ) प्रोपर्टीज आव मैटर इन जैन कैनन्स, इस पुस्तकका विज्ञानखण्ड, १९८०
(ब) फिजिकलकन्टेन्ट्स आव जैन कैनन्स, दिवाकर-अभिनन्दन-ग्रन्थ, १९७६
(स) जैन आगमोमे भौतिकीके तत्त्व (३), मगध विश्वविद्यालय सेमिनार, बोधगया, १९७५
(द) फिजिकलकन्टेन्ट्स आव जैन कैनन्स (४), प्रेसमें

१४ गेलरा, एम० आर०, कन्सेप्ट आव मासलेन्स मैटर इन जैन लिटरेचर, अनुसन्धानपत्रिका, ५, १९७५

१५ मुनि महेन्द्रकुमार द्वितीय, जैन परमाणुवाद, दिवाकर अभिनन्दन-ग्रन्थ, १९७६

१६. जैन, उत्तमचन्द, 'जैनदर्शनका तात्त्विक पक्ष : परमाणुवाद', जैनदर्शन और संस्कृति-आधुनिक सन्दर्भमें, लेखांक ४, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर, १९७६

१७. जैन, एल० सी०, जैन थ्योरी आव आल्टीमेट पार्टीकल्स, वही, लेखांक ५, इन्दौर, १९७६

●

जैनविद्याओमें शोधके क्षितिज
जीवविज्ञान

डा० कल्पना जैन, भिण्ड (म०प्र०)

लोढा,[1] सिकदर[2] और जैन[3]के विवरणात्मक तथा समीक्षात्मक लेखोसे पता चलता है कि जैन आगमो एव अन्य ग्रथोमे अजीव पदार्थोंके समान जीवित पदार्थोंपर भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। जैनने आगम वर्णित जीवकी परिभाषाकी समीक्षा करते हुये बताया है कि जीव दो प्रकारके गुणोंसे अभिलक्षित किया गया है। पौद्गलिक रूपमे उसमें असख्यात प्रदेशिकता, गतिशीलता, परिवर्तनशीलता, देहपरिमाणकता, प्राणापान, कर्मबन्ध एव नानात्व पाया जाता है। अभौतिकरूपमें उसमे अविनाशित्व, अमूर्तत्व एव चैतन्य (सवेदनशीलता) होती है। भावप्राभृतमे इसे रगहीन, स्वादहीन, गधहीन, अनिश्चित आकार, अलिगी एव ज्ञानेन्द्रियोसे अगम्य बताया गया है। इसके आठ अलौकिक गुणोमें केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तवीर्य व सम्यक्त्वके अतिरिक्त सूक्ष्मता, अव्याबाधता, अवगाहन क्षमता, तथा अगुरुलघुत्वके समान गुण भी समाहित है। भगवतीसूत्रमें जीवके २३ नामोका उल्लेख है जिनका भौतिक अभौतिक गुणोके रूपमे वर्गीकरण किया जा सकता है। सारणी १ से पता चलता है कि जीवके अधिकाश लक्षण भौतिक प्रकृतिके हैं। वस्तुत जिन लक्षणोको अभौतिक श्रेणीमे बताया गया है, वे भी भौतिकताकी धारणासे स्पष्ट किये जा सकते है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शरीरी जीवके विभिन्न कार्यों एव स्थूल गुणोको ही निरूपित करते है। इसमें मनोरजक तथ्य यह है कि इन लक्षणोमे अमूर्तताका गुण कही समाहित नही है। लगता है कि यह तो उत्तरवर्ती विकास है। साथ ही, कुन्दकुन्द और उमास्वातिके समयमें उपलब्ध आगमोकी प्रामाणिकता निर्विवाद रही है। (यह सर्वार्थसिद्धिके विवरणसे भी पुष्ट होती है)। तब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जीवके २३ लक्षणोमे से केवल 'उपयोगोलक्षणम्' ही क्यो उत्तरकालमें मुख्य लक्षण माना जाने लगा? विद्वानोको इस विषयमे अनुशीलन करनेकी आवश्यकता है। आधुनिक विज्ञानकी दृष्टिसे उपयोगके ज्ञान दर्शनात्मक रूपोको सवेदनशीलताकी विभिन्न कोटियोके रूपमे माना जा सकता है जिसकी भौतिक व्याख्या की जा सकती है। इस आधारपर आजका विज्ञान जीवनको भौतिक ही प्रदर्शित करता दिखता है। पर वह जीवनके मूल लक्षणको अभौतिक माननेके विषयमे मौन है। एक ओर जहाँ आधुनिक युगमें परखनलीमें

१. जैन, नन्दलाल अ–जीव और जीवविज्ञान, वल्लभशताब्दी स्मारिका, १९७०।
ब–बोटेनिकल कन्टेन्ट्स इन जैन कैनन्स, दिवाकर अभि० ग्रन्थ, १९७६।
स–जुओलोजिकल कन्टेन्ट्स इन जैन कैनन्स, पूर्वोक्त, १९७६।

२ लोढा, कन्हैयालाल जैन आगमोमे वनस्पतिविज्ञान, मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रथ, १९६८।

३ सिकदर, जे०सी० अ–फैब्रिक आव लाइफ एज कसीव्ड इन जैन बायोलोजी, सम्बोधि, ३, १, १९७४
ब–ए सर्वे आव प्लान्ट एण्ड एनीमलकिंगडम् यूज रिवील्ड इन जैन बायोलोजी १-२, जबलपुर वि० वि० व्याख्यानमाला १९७६।

सारणी १. जीवके गुणोंका वर्गीकरण

भौतिक लक्षण	अभौतिक लक्षण
१. प्राणवान् (श्वासोच्छ्वासादि)	१ प्राणवान (जीव, अदृश्यशक्ति)
२ अस्तिकायत्व	१८ भूतत्व (अनादि, अनन्त, अविनाशी)
३ जीव (आयुष्य)	५ विज्ञ (सवेदनशीलता ?)
४ सत्व (समर्थ)	१९ वेद (अनुभूति)
५ विज्ञ (सवेदनशीलता)	२० मानव (अनादि)
६ चेता (पुद्गल चयकारी)	२१ स्वयभूत
७ जेता (पुद्गल क्षयकारी)	२२ अन्तरात्मा (अन्त शरीरी)
८ आत्मा (सततगामी)	
९ हिंडुक (गमनशील)	
१०. पुद्गल (पूरण-गलन)	
११ कर्ता	
१२ विकर्ता (कर्मवेध)	
१३ जगत (गतिशील)	
१४ जन्तु (जन्मवान्)	
१५ योनि (प्रजननक्षमता)	
१६ सशरीरी (शरीर धारक)	
१७ नायक (कर्मनेता)	
१८ रजण (रागद्वेष आदि)	

जीवनके उदयसे चैतन्यकी भौतिकता पर सहसा अविश्वास नही हो पाता, वही अनेको द्वारा पूर्वजन्मकी घटनाओकी स्मृति तथा मृत व्यक्तियोकी आत्माओसे सम्पर्ककी प्रक्रिया जीवनतत्वकी अभौतिकताको प्रकट करती दिखती है। वस्तुत बीसवी सदीमें मानव दिग्भ्रमित है—जीवनके जीवन-तत्वकी यथार्थ प्रकृति क्या है ? फिर भी, यह माना जा सकता है कि वर्तमान विज्ञानकी जीवन तत्व विषयक मान्यतायें आगम युगीन मान्यताओको पुष्ट करती है जहाँ इन्द्रिय अगम्यता एव अमूर्ततामें स्पष्ट अन्तर परिलक्षित है।

जैनने अपने शोध पत्रोमें प्रदर्शित किया है कि जीवनतत्वको वर्तमान जीव कोशिकाओकी अपेक्षा सूक्ष्म ऊर्जात्मक मानने पर भी उनकी भौतिकता ही पुष्ट होती है क्योकि ऊर्जायें भी जैनागमोंमें कणमय मानी गई है। कण और ऊर्जाके अतिरिक्त किसी अभौतिक पदार्थको विज्ञान अभी मान्यता नही दे पा रहा है। इसके लिए कुछ और ठोस प्रमाणोकी आवश्यकता है। इस प्रकार जीवनके मूल तत्वकी समीक्षा अभी भी एक जटिलतर प्रश्न बना हुआ है।

सिकदरने अपने लेखमें जीवनके आविर्भाव और सचलनमें कारणीभूत आगमोक्त पर्याप्ति और प्राणोको जीवन शक्तिके रूपमें बताया है। यह उचित नही प्रतीत होता, क्योकि पर्याप्तियोके विकाससे जीवनके जो लक्षण प्रकट होते है, वे प्राण कहलाते हैं। पर्याप्तियाँ तो प्राय सभी स्थूल रूपमें प्रकट होती है और उनके विकासमे सूर्यकी तथा शरीरकी स्वयकी ऊष्मा एव अन्त स्थित किण्वोकी क्रियायें ही कारण होती हैं, यह अब स्पष्ट हो चुका है। हाँ, कर्मसिद्धान्तके अनुसार यह माना जा सकता है कि ये पर्याप्तियाँ

विशिष्ट नाम कर्मोदयके कारण प्रकट होती हैं। इस कर्मके ही शक्ति माना जा सकता है। इस शक्तिके कारण ही विविध प्रकारके प्राणात्मक कार्य सम्पन्न होते हैं। पर प्राण और पर्याप्तियोंकी पौद्गलिकता या पुद्गलकार्यता प्रत्यक्ष है। इस प्रकार आगमकालके जीवका लक्षण उत्तरवर्ती जीवके अमूर्त लक्षणसे विलक्षण प्रतीत होता है। सभवत ये जीवके औपाधिक लक्षण हैं। फलत सभी तत्वोंके मूलभूत तत्वकी परिभाषाके विकास पर और उसकी अविसवादी परिभाषाके लिए शोधकी पर्याप्त सभावनाएँ हैं। वर्तमान में तो यही कहा जा सकता है कि आगमोमें मूलत जीवको अभौतिक माना गया है जिसका स्वरूप स्वानुभूतिके सिवा प्रयोग और तर्कोंसे जानना सम्भव नही है। हाँ, रूसी वैज्ञानिक पावलोवके कुछ प्रयोग अवश्य इस दिशामें कुछ नया प्रकाश देते दिखते हैं।

विभिन्न प्रकारके ससारी जीवोकी उत्पत्ति सामान्यत गर्भज (जरायुज, अंडज और पोतज) तथा सम्मूर्च्छनज होती हैं। इसमें गर्भज उत्पत्तिको तो जीवसे जीवकी सलिंगी उत्पत्तिके रूपमे लिया जा सकता है। सम्मूर्च्छनज उत्पत्तिको अजीवसे जीवकी उत्पत्तिके रूपमें लिया जा सकता है। प्राचीनकालमें जीवोत्पत्तिके दोनो ही सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं। अरस्तु तो अजीवसे जीवकी उत्पत्तिके सिद्धान्तको मानता था। यह सम्मूर्च्छनज उत्पत्ति एक कोशिकीय जीवोके लिए सत्य है पर बहुकोशिकीय एव एकाधिक इन्द्रियके जीवोपर लागू नही होती। फलत विकलेन्द्रिय जीवोको उत्पत्ति गर्भज मानी जानी चाहिये। इनका वेद पुवेद और स्त्रीवेद भी हो सकता है, मात्र नपुसक नही। एतद्विषयक शास्त्रीय मान्यता पर पुनर्विचार करनेका जैनने सकेत दिया है। यही नही, अब तो बहुतेरे वनस्पतियोका भी सलिंगी तथा वैक्टीरिया आदिकी अलिंगी उत्पत्तिका ज्ञान हुआ है। फलत गर्भज उत्पत्तिको सलिंगी और अलिंगी—दो प्रकारका मानना चाहिये। इसके अनेक उदाहरण लोढाने दिये हैं।

विभिन्न प्रकारके जीवोको जैन शास्त्रोमें अनेक प्रकारके वर्गीकृत किया गया है। ससारी जीवोका ज्ञानेन्द्रियाधारित वर्गीकरण उनकी अपनी विशेषता है। मनुस्मृतिमें यह वर्गीकरण उत्पत्ति स्रोत पर आधारित है। लेकिन यहाँ एक बात माननीय है कि क्या मन छठी इन्द्रिय है या इसे अनिन्द्रिय ही माना जावे ? तामिल व्याकरणके पाँचवी सदीके ठोलक कप्पिय[4] नामक ग्रन्थमे पाँचके बदले छ इन्द्रियोका उल्लेख है जिनमे मन छठी इन्द्रिय है। वहाँ केवल मनुष्योमें ही यह छठी इन्द्रिय मानी गई है। वस्तुत द्रव्यमनके रूपमें मनको भी इन्द्रिय माना जा सकता है पर इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। यह भी एक शोधका विषय हो सकता है कि मनका इन्द्रियत्व कब प्रचलित था और कब वह अनिन्द्रियकी कोटिमे आ गया। पचेन्द्रियोके क्रमिक विकासके आधारपर जीवोको पाँच प्रकारका बताया गया है। जीवाभिगममे इन्हे ही दो से लेकर बत्तीस प्रकारका निरूपित किया गया है। एकेन्द्रिय जीवोकी स्थावर तथा एकाधिक पचेन्द्रिय जीवोको त्रस कहा गया है। उन्हे निम्न प्रकारसे उदाहृरित किया गया है

एकेन्द्रिय,	जीव,	स्थावर	पृथ्वी	जल, तेज, वायु और वनस्पति।
द्वीन्द्रिय	जीव	त्रस	,,	कृमि (गोबर और पेटके जीव), जलौका, शख, आदि ३० प्रकारके जीव।
त्रि-इन्द्रिय	जीव		,,	चीटी, जुआँ, पिपीलका, कनखजूरा, आदि ३९ प्रकारके जीव।

---

४. नायर बी० के० क्लासीफिकेशन आव ऐनोमल्स इन ठोलकप्पियम, विश्वभारती सेमिनार, दिल्ली, १९७४।

एकेन्द्रिय, जीव, स्थावर,	पृथ्वी,	जल, तेज,	वायु और वनस्पति ।
चतुरिन्द्रिय जीव	,,		भौंरा, बिच्छू, मच्छर, मधुमक्खी, मकड़ी, मक्खी आदि ३९ प्रकारके जीव ।
पचेन्द्रिय जीव	,,		नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इनमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद वर्णित है ।

एकेन्द्रिय जीव —यद्यपि जीवभिगममें एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंके तीन ही भेद किये हैं—पृथ्वी कायिक, जल कायिक और वनस्पति कायिक, पर उत्तरवर्ती समयमें इनमें तेज और वायुकायिक और जोडे गये जिन्हें पूर्वमें त्रस माना जाता रहा है क्योकि ये गतिशील है । यद्यपि आधुनिक वैज्ञानी यह नही मानते है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु स्वय सजीव हैं, पर इनमें अनेक प्रकारके जीव रहते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । शास्त्रोंमे इन्हें चार प्रकारका बताया गया है जिनमेंसे केवल एक ही भेद है जो सजीव है, पर उसमे पृथ्वीत्व नही है । उसे पृथ्वीत्व ग्रहण करना है । इसी प्रकार जलादिकी भी स्थिति है । फलत उपलब्ध पृथ्वी, जल, तेज और वायु आगमत भी निर्जीव है, ऐसा माना जा सकता है । लेकिन आगमोमें इनकी प्राकृतिक उत्पत्ति एव शास्त्र-अनुपहतताकी स्थितिको इनकी सजीवता माना है । फलत इन चार भूतोकी सजीवता सुव्याख्यात नही प्रतीत होती । विद्वानोकी गहनतासे इस तथ्यकी छानबीन करनी चाहिये । पर यह सही है कि इन भूतोकी सजीवताकी बात जैनोकी अपनी विशिष्टता है ।

लोढाने वनस्पति कायोकी आगमोक्त सजीवताको आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्यमें अच्छी तरह समीक्षित किया है । सिकदरने भी अपने लेखमें पर्याप्तियोंको वर्तमान प्रोटोप्लाज्मके समकक्ष मानकर वनस्पतियोके अनेक आगमोक्त वर्णनोको बीसवी सदीके सैद्धान्तिक निरूपणोसे जोडनेकी खीचतान की है । लेकिन जैनने बताया है कि सभी वर्णन पूर्व यत्र युगीन हैं । जैन ग्रथोमें वनस्पतियोसे सम्बन्धित विविध वर्णन मुख्यत तीन कोटियोमें केन्द्रित किये जा सकते हैं—शरीर, आकार और वर्गीकरण । वनस्पतियोकी कोशिकी, पर्यावरणिकी एव शरीर-क्रिया-विज्ञान आदि पर वर्णन नगण्य है । लोढा और सिकदरने इन विषयोंके कुछ उद्धरण दिये है जो आगम युगके प्रकृति निरीक्षणके स्थूल रूपको ही प्रकट करते है । इनकी सूक्ष्मता तथा भाषनीयता अब बहुत हो गई है । इन नये विवरणोके समावेशकी प्रक्रिया एक विचारणीय विषय है ।

वनस्पतियोके आगमोक्त वर्गीकरण पर विचार करते हुये जैनने बताया है कि उपयोगितावादी वर्गीकरण न होकर प्राकृतिक गुणों या समानताओं तथा विकास वाद पर आधारित है । सर्वप्रथम उन्हे साधारण (अनत काय) और प्रत्येकके रूपमे वर्गीकृत किया गया है । साधारण सूक्ष्म और बादर दो प्रकारके होते है । इन्हें निगोद भी कहते है । प्रत्येक जीव बादर ही होते है जो सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेदसे दो प्रकारके होते हैं । प्रत्येक जीव प्रारम्भमे अप्रतिष्ठित ही होता है और बादमें सप्रतिष्ठित हो जाता है । सूक्ष्म साधारण जीव गोलाकार और अदृश्य होते है और ये स्थूल साधारण जीवोमें उत्परिवर्तित हो सकते हैं । वे अलिंगी होते है । ये प्रत्येक कोटिके जीवोकी उत्पत्तिमें भी कारण होते है । ये जीवनमें सबसे प्रारम्भिक रूप है । लोढाने बताया है कि सूक्ष्म साधारण जीवोको आधुनिक बेक्टीरियाके समकक्ष माना जा सकता है । ये स्वजीवी भी होते है और परजीवी भी होते है । इन्हें सूक्ष्मदर्शियोसे ही देखा जा सकता है । बादर साधारण जीवोंमें अनेक सूक्ष्म साधारण जीव होते हैं । प्रज्ञापनामें इनके ५० प्रकार बताये गये हैं । इनमें फँफूदी, काई, शैवाल, किण्व आदि भी समाहित हैं । जिन्हें आजकल ऐलगे, फजस, वायरस आदि

नामोंसे कहा जाता है। यदि सूक्ष्म, साधारण जीवको एक कोशिकीयके समकक्ष माना जाय, तो बादर साधारण और प्रत्येक जीव बहुकोशिकीय वनस्पति ठहरते हैं। प्रत्येक जीवोंके भी विभिन्न प्रकारसे ३३० भेद बताये गये हैं जिन्हें जैनने सारणीबद्ध किया है। शास्त्रोंमें बताया गया है कि इन सभी साधारण वनस्पतियोंके चौदह लाख और प्रत्येक वनस्पतियोंके १० स्पीशीज होते हैं। इस प्रकार वनस्पतियोंके कुल चौबीस लाख स्पीशीज होते हैं। इनके कुलोंकी सख्या १०१३ बताई गई है। वर्तमानमें वनस्पति शास्त्रियोंके लिये तो ये सूचनायें अतिशयत अतिरजित प्रतीत होती हैं। हाँ, वे इनके विविध आकार व विस्तारके विवरणसे सहमत हैं। लेकिन वे इनकी अन्तर्मुहूर्तकी जघन्य आयुकी सीमा पर वे मौन दिखते हैं।

यद्यपि वनस्पति जीव एकेन्द्रिय होते हैं, फिर भी सत्प्ररूपणा सूत्रके अनुसार उन्हें अन्य इन्द्रियोके भी सवेदन होते है जो वे अपनी स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण करते हैं। हाल्डेनने बताया है कि वनस्पतियोंमें सभी इन्द्रियाँ होती हैं। आगमकी भाषामें इन्हें भावेन्द्रियोके रूपमे ही मानना चाहिये क्योंकि वनस्पतियोमें अन्य इन्द्रियाँ भौतिक रूपसे विकसित पाई जाती।

वनस्पतियोके सम्बन्धमें आगमोमें वर्णन अनेकत्र बिखरा हुआ है और उपरोक्त सक्षेपणों और समीक्षणोंको पूर्ण नही माना जाना चाहिये। इस बातकी आवश्यकता है कि शोधार्थी सभी आगमिक स्रोतों से इनका पूर्ण सकलन करें। तभी समीचीन समीक्षा एव तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

द्विन्द्रियक जीव .—गतिशील जीवोको त्रस कहा गया है। आजकी भाषामें इन्हें गतिशील प्राणी कहा जाता है। यद्यपि प्राण वनस्पतियोंमें भी होते हैं, फिर भी प्राणि शब्द उच्चतर जीवोंके लिये रूढ हो गया है। जैन ग्रन्थोमें प्राणियोंके सम्बन्धमें उपलब्ध विवरणोका आशिक सकलन और समीक्षण जैन और सिकदर ने किया है। ओ॰ पी॰ जग्गीने बताया है कि त्रसोका इन्द्रिय विकास पर आधारित वर्गीकरण चरक, सुश्रुत, प्रशस्तपाद और अरस्तूके वर्गीकरणसे अधिक मौलिक और व्यापक है। सिकदरने इस वर्गीकरणका सक्षेपन किया है। त्रसोके मुख्य चार भेद माने गये है—द्वि-इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। सघवीने अपनी व्याख्यामें बताया है कि ये भेद मुख्यत द्रव्येन्द्रिय पर आधारित हैं क्योंकि सभी जीवोमे पाँचो ही भावेन्द्रियाँ होती हैं। लेकिन सिद्धान्तशास्त्रीने इन भेदोको भावेन्द्रियाधारित बताया है जो समुचित प्रतीत नही होता। सभी द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय एव चतुरिन्द्रिय जीवोंको मनरहित तथा अलिंगी बताया गया है। इन्हें नपुसक लिंगी माना जाता है। पचेन्द्रिय जीवोंमें कुछको मनरहित तथा अलिंगी बताया गया है। अन्योको मनसहित तथा सलिंगी बताया गया है। प्रज्ञापना और जीवविचार प्रकरण पर आधारित अपनी तुलनात्मक सारणीमें जैनने आधुनिक प्राणिवैज्ञानिक मान्यताओके साथ जैन ग्रन्थोंमें वर्णित प्राणिविज्ञानका सक्षेपण किया है और बताया है कि शास्त्रीय विवरणके १७ बिन्दुओमेंसे १० बिन्दुओका मिलान नही होता। उदाहरणार्थ, आधुनिक प्राणिविज्ञान सभी त्रसोमें द्रव्यमनकी उपस्थिति मानते हैं, उनकी सलिंगी उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें तीनो वेदका मानते हैं और उनकी सख्या काफी कम मानते हैं। यही नही, अनेक उदाहरणोमें जीवोकी इन्द्रियाँ शास्त्रीय मान्यताओसे अधिक पाई गई हैं। इन चाक्षुष अन्तरों पर गभीरतासे विचार करने की आवश्यकता है। यही नही, प्राणिविज्ञान सम्बन्धी अध्ययनके अनेक क्षेत्रोंमें शास्त्रीय विवरण नगण्य ही मिलता है। सिकदरने अपने विवरण में इस ओर ध्यान नही दिलाया है। इसके बावजूद भी, यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि जैनाचार्योंने अपने परीक्षणकी परिधिमें सूक्ष्म और बादर सभी प्रकारकी त्रसोंकी ४७० जातियोंको समाहित किया है जैसा सारिणी २ से प्रकट होता है। इस प्रकारका वर्गीकृत विवरण अन्य दर्शनोंमें उपलब्ध नही होता।

सारणी २. विभिन्न प्रकारके त्रसोंका विवरण

कोटि	उदाहरण	प्रज्ञापना	जाति जीव विचार प्रकरण	लिंग
द्वि-इन्द्रिय	शंख, गोंच, विभिन्न प्रकारके कृमि	३०	१२	अलिंगी
त्रि-इन्द्रिय	चींटी, इल्ली, कनखजूरा, जुआं पिशुक आदि।	३९	१२	,,
चतुरिन्द्रिय	मक्खी, टिड्डी, भ्रमर, मच्छर, पतंगा, तितली आदि	३८	१०	,,
पंचेन्द्रिय तिर्यंच	(अ) जलचर	५(३३)	५	अलिंगी और सलिंगी
	(ब) थलचर	२(३५)	३	,,
	(स) नभचर (पक्षी)	४(४६)	४	,,
पंचेन्द्रिय मनुष्य	(अ) सम्मूर्च्छन	१४	—	अलिंगी
	(ब) गर्भज मनुष्य अन्तर्द्वीपी	२८	—	सलिंगी
	कर्मभूमिज आर्य	८९	—	,,
	म्लेच्छ	५६	—	,,
	भोगभूमिज	२		
		४७०		

इससे ज्ञात होता है कि जैनाचार्य अध्यात्मके क्षेत्रमें जितने अग्रणी रहे हैं, उतने ही वे प्रकृति निरीक्षण एवं सैद्धान्ति विचारोंके क्षेत्रमें भी अपने समयमे अग्रणी रहे हैं। जैनने इन प्रकरणोंमें अनेक विसंगतियोंकी ओर संकेत देते हुये बताया है कि आगमोमें अनेक वर्तमान सूक्ष्मतर निरीक्षणोंके निरूपण न करनेका कारण सम्भवतः यन्त्रोंका अभाव तथा अहिंसाका सिद्धान्त रहा होगा। वनस्पति विज्ञानके समान प्राणि-विज्ञानके तत्व भी अनेक आगम ग्रन्थोमें बिखरे पड़े हैं। उनका अभी पूरा संकलन नहीं हो पाया है। ये प्रकरण श्वेताम्बर मान्य ग्रन्थोंमें पर्याप्त मात्रामे पाये जाते हैं।

वैशाली शोध संस्थानमें शोधके क्षितिज

डा० लालचन्द्र जैन, वैशाली शोधसंस्थान, वैशाली

बिहारमें उद्भुत तथा विकसित प्राचीन विद्या, संस्कृति और साहित्यके उन्नयन, पुनरुद्धार और प्राचीन गौरवको पुनरुन्नति करनेके उद्देश्यसे बिहार सरकारने दरभंगा, नालन्दा, मिथिला, वैशाली और पटनामें अनेक शोध संस्थानोंकी स्थापना की। इनमें जैनविद्याओंके अध्ययनसे सम्बन्धित प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान वैशाली भी एक है।

प्रस्तुत शोध संस्थान तत्कालीन शिक्षासचिव तथा प्रमुख शिक्षाविद् स्वर्गीय श्री जगदीश चन्द्र माथुर आई० सी० एस०के अथक परिश्रमका फल है जिन्होंने इसकी स्थापनामें प्रमुख भूमिका अदा की थी। मूलतः इसकी स्थापनाका श्रेय वैशाली महोत्सव और वैशालीसंघको है। इसने सर्वप्रथम १९५२ में जे० सी० माथुरके मन्त्रित्वकालमें वैशालीमें प्राकृत जैन इन्स्टीच्यूट खोलनेका प्रस्ताव पास कर राज्य सरकार और जैन समाजसे सहयोगका अनुरोध किया था। इस कार्य हेतु बिहारके प्रसिद्ध उद्योगपति तथा दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा सवा छः लाख रुपये दान स्वरूप देनेकी घोषणाके पश्चात् १९५५ में बिहार सरकारने इस संस्थानको स्थापित करनेका अनुरोध अन्तिम रूपमें स्वीकार कर लिया। अन्ततोगत्वा २४ वर्ष पूर्व २३ अप्रैल १९५६ वी०नि०सं० २४८२ (वि०सं० २०१२) चैत्र शुक्ल त्रयोदशी सोमवारको जैनोंके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरके जन्म स्थान वासोकुण्डमें इसका शिलान्यास तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसादके करकमलों द्वारा किया गया। प्राकृत और जैनशास्त्रके कृत-मनीषी डा० हीरालाल जैन इस संस्थानके प्रथम निर्देशक हुये। फरवरी १९६५ तक इस संस्थानका प्रमुख कार्यालय मुजफ्फरपुरमें किरायेके भवनमें संचालित होता रहा। इसके बाद वासोकुण्डके निवासियों द्वारा इस संस्थानके लिए लगभग तेरह एकड़ भूमि राज्य सरकारको दान स्वरूप दी गई। साहू शान्तिप्रसादजीके परम सहयोगसे संस्थानके मुख्य भवनका निर्माण हो जानेपर मार्च १९६५ में प्राकृत विद्यापीठका कार्यालय स्थाई रूपसे वैशाली, वासोकुण्डमें आ गया।

प्राकृत विद्यापीठ स्थापित करनेका औचित्य

वैशाली प्राकृत विद्यापीठकी स्थापना अनेक कारणोंसे की गई। [क] संस्कृत और पालि भाषाकी तरह प्राकृत भाषा साहित्यमें भी काव्यकला, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, इतिहास, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सामग्री प्रचुर मात्रामें विद्यमान है। फिर भी, १९५२ तक इस ओर विद्वानोंका ध्यान नगण्य ही था। यद्यपि इस समय तक डा० याकोबी, बूलर, पिशल, विण्टरनित्ज, जैनी, पी० सी० नाहर, पं० सुखलाल संघवी, पं० बेचरदास, मुनि जिनविजय, प्रो० के०सी० भट्टाचार्य, डा० सत्करी मुकर्जी, पी० एल० वैद्य, डा० हीरालाल जैन तथा डा० ए०एन० उपाध्येके समान कुछ प्राच्यविदोंने इस क्षेत्रमें अनेक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन किये, तथापि इनकी ओर उदीयमान प्रतिभाओंका ध्यान आकृष्ट नहीं होता था। साथ ही, अनेक संस्थाओंसे जैन विद्या परम्परागत विद्यार्थी निकलते थे जो उच्चतर अध्ययनमें रुचि रखते थे। उनके लिए कोई शोध सुविधा सम्पन्न स्थान भी नहीं था। प्राकृत भाषा सम्बन्धी अध्ययन या शोधकी

सुविधा किसी विश्वविद्यालयमें भी उपलब्ध नहीं थी। वस्तुतः इस क्षेत्रमें कार्य करनेके लिए विद्वानोंको समुचित व्यवस्था की आवश्यकता होती है जहाँपर विद्यार्थी अध्ययन और शोध कर सकें और प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानोंसे सम्बन्ध रख सकें। समयकी इस महत्त्वपूर्ण आवश्यकताको ध्यानमें रखकर इस संस्थाकी स्थापना की गई।

प्राकृत शोध संस्थानके विभाग

उपर्युक्त लोक-कल्याणकी भावनासे स्थापित प्राकृत शोध संस्थानके कार्यका वर्गीकरण तीन भागोंमें किया जा सकता है

[१] उच्च अध्ययन—प्राकृत एवं जैन शास्त्रके उच्च अध्ययन हेतु इस संस्थामें स्नातकोत्तर स्तरपर साहित्य, जैन दर्शन, जैन तर्कशास्त्र, ज्ञान मीमांसा तथा तुलनात्मक दर्शनमें द्विवर्षीय एम०ए० के पाठ्यक्रमकी व्यवस्था की गई है। विद्यार्थीको यह स्वतंत्रता रहती है कि उसकी जिस विषयमें रुचि हो उसीके अनुरूप अपना अध्ययन करे। यह संस्थान अपने पाठ्यक्रम और शोध कार्यके लिए बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फर-पुरसे सम्बन्ध है। सन् १९५८ से ७६ तक इस संस्थासे कुल ८८ छात्रोंने प्राकृत जैनालाजीकी एम०ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त सभी छात्रोंने साहित्य विषय लेकर ही एम०ए० किया है। उत्तरवर्ती वर्षोंमें लगभग एक दर्जन छात्रोंने और एम०ए० किया है। इनमेंसे अनेक स्नातक देशके विभिन्न विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों और महाविद्यालयोंमें कार्य कर रहे हैं और प्राकृत एवं जैन विद्याओंकी सेवा कर रहे हैं। इस संस्थाके कुछ विश्रुत स्नातकोंके नाम यहाँ देना उपयुक्त ही होगा

डॉ० नगेन्द्रप्रसाद, प्रोफेसर तथा निर्देशक वैशाली शोध संस्थान, वैशाली।
डॉ० विमलप्रकाश जैन, महामंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
डॉ० राजाराम जैन, रीडर, एच०डी० जैन कालेज, आरा (बिहार)
डॉ० देवनारायण शर्मा, व्याख्याता, वैशाली शोध संस्थान।
डॉ० रामप्रसाद पोद्दार, ,, ,, ।
डॉ० लालचन्द्र जैन, ,, ,, ।
डॉ० राय अश्विनी कुमार, प्राकृत विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।
डॉ० अजितशुकदेव शर्मा, व्याख्याता, जैन दर्शन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।
डॉ० नन्दकिशोर प्रसाद, पालि शोध संस्थान, नालन्दा।
डॉ० दामोदर शास्त्री, अध्यक्ष, जैन दर्शन, लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली।
डॉ० श्री रंजनसूरि देव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना (बिहार)।
डॉ० ए०पी० सिन्हा, पटियाला विश्वविद्यालय।
डॉ० अर्हद्दास दिगे, मैसूर विश्वविद्यालय।
डॉ० प्रेमसुमन जैन, रीडर, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर।
डॉ० गोकुलचन्द जैन, रीडर, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
डॉ० एस०एम० शाह, पूना विश्वविद्यालय।

इस लघु सूचीसे यह स्पष्ट होता है कि यहाँके स्नातक देशके 'विभिन्न' भागोंमें इस संस्थानको गौर-वान्वित कर रहे हैं।

२. शोध विभाग—इस संस्थाका दूसरा महत्त्वपूर्ण विभाग शोध विभाग है। इस विभागमें विभिन्न विश्वविद्यालयोंसे प्राकृत जैन शास्त्र, दर्शन, संस्कृत, प्राचीन इतिहास और संस्कृति, संस्कृत और पालि विषयमें स्नातकोत्तर परीक्षा पास छात्रोंको पी-एच०डी० हेतु शोध छात्रके रूपमें प्रवेश दिया जाता है। शोधार्थियोंके लिए यह आवश्यक होता है कि वे प्राकृत जैन भाषा शास्त्रसे सम्बन्धित विषय ही अपने शोध प्रबन्धके लिए चुने। शोधार्थियोंको संस्थानसे २०० रु० प्रतिमाहकी छात्रवृत्ति प्रदान की जाती है। यहाँ उन्हें निःशुल्क छात्रावास, प्रकाश और पानीकी व्यवस्था भी उपलब्ध रहती है। इसके अतिरिक्त, शोध प्रबन्धको तैयार करने हेतु एक विशाल पुस्तकालय भी उपलब्ध है। शोध प्रबन्धके अनुमोदित होनेपर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर शोधार्थीको प्राकृत जैन शास्त्रमें पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान करता है।

प्राकृत जैनीलोजीसे सम्बन्धित विभिन्न विषयोमे आजतक कुल पचास छात्रोंने पंजीयन कराया है। लेकिन अबतक उन्तीस शोध प्रज्ञोंने ही अपना शोधप्रबन्ध पूरा कर पी-एच०डी० उपाधि प्राप्त की है। इनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१ डॉ० जोगेन्द्रचन्द्र सिकदार, स्टडीज इन दि भगवतीसूत्र, १९६९, प्रा०शो०स०, वैशाली (प्रकाशित)

२ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, हरिभद्रके प्राकृत कथा साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन, १९६१, प्रा० शो० स०, वैशाली द्वारा प्रकाशित।

३ रिखबचन्द्र ए क्रिटिकल स्टडी आफ पउमचरियम्, १९६२, प्रा० शो० स०, वैशाली द्वारा प्रकाशित।

४ डॉ० विद्यानाथ मिश्रा, प्राचीन हिन्दी काव्यमे अहिंसाके तत्त्व, १९६३ अप्रकाशित।

५ डॉ० कामेश्वर प्रसाद, दि इकोनोमिक कडीशन आफ इन्डिया एकोर्डिग टू डेट एवेलेबिल इन दि पालि केनोनीकल लिटरेचर १९६३ अप्रकाशित।

६ डॉ० देवनारायण शर्मा पउमचरिउ और रामचरित मानसका तुलनात्मक अध्ययन, १९६३, प्रा० शो० स० वैशाली (प्रेसमें)

७ डॉ० कृष्णकुमार दीक्षित, इण्डियन लौजिक इट्स प्रोबेलेम्स एज ट्रीटेड बाई इट्स स्कूल्स, १९६४ प्रा० शो० स० वैशाली द्वारा प्रकाशित।

८ डॉ० राजाराम जैन ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि वर्क्स आफ महाकवि रइधू, १९६४, प्रा० शो० स०, वैशाली द्वारा प्रकाशित।

९ डॉ० नन्दकिशोर प्रसाद ए कम्पेरेटिव स्टडी आफ बुद्धिस्ट (थेरवाद) विनय एण्ड जैन आचार, १९६४, प्रा० शो० स०, वैशाली द्वारा प्रकाशित।

१० डॉ० किशोरनाथ झा प्रोबलेम आफ थीजम इन न्याय फिलोसफी विथ स्पेशल रिफेरेन्स टू दि वर्क आफ ज्ञानश्रीमिश्र, १९६५, अप्रकाशित।

११ डॉ० अतुलनाथ सिन्हा, एनेलिटिकल स्टडी आफ दि नेतिप्रकरण, १९६५, अप्रकाशित।

१२. डा० नरेन्द्रप्रसाद वर्मा अपभ्रंशके स्फुट साहित्यिक मुक्तक १९६५, अप्रकाशित।

१३. डॉ० रामकृपाल सिन्हा · दि बेकग्राउण्ड आफ गान्धीयन नन-वाइलेन्स एण्ड इट्स इम्पेक्ट आन इण्डियास नेशनल स्ट्रगल, १९६६, अप्रकाशित।

१४ डॉ० ए० शर्मा : दि मेघदूत एज ए लाइरिक, १९६७, अप्रकाशित।

१५. डा० जनार्दन शर्मा शतपथ ब्राह्मणके अध्ययनके कुछ पहलू, १९६७, अप्रकाशित।

१४. डॉ० जयदेव ' रिलीजियस कण्डीशन आफ एन्सीएन्ट बिहार, १९६७, अप्रकाशित।

१७. डॉ० सूर्यदेव पाण्डेय जयसेनके हरिवंशपुराणका आलोचनात्मक अध्ययन, १९६७, अप्रकाशित।

१८. डॉ० छगनलाल शास्त्री आचार्य भिक्षु और जैन दर्शनको उनकी देन, १९६८, अप्रकाशित।

१९. डॉ० सुधीरचन्द्र मजूमदार . फोनेटिक चैन्जेज इन इनडोआर्यन लैंगवेज, १९६८, प्रा० शो० सं०, वैशाली द्वारा प्रकाशित।

२०. डॉ० मुनेश्वर गिरि : प्रामाण्यवाद, १९७०, अप्रकाशित।

२१ डॉ० रामप्रकाश पोद्दार एन एसथेटिक एनलिसिस आफ कर्पूरमञ्जरी, १९७०, प्रकाशित।

२२. डा० राय अश्विनीकुमार जैन योग, १९७०, अप्रकाशित।

२३ डॉ० श्यामनन्दन चौधरी महाभारतके शान्तिपर्वमें राजनीति, १९७०, अप्रकाशित।

२४ डॉ० राम सिंह ओरिजिन एण्ड एवोलूशन ऑफ इण्डियन एथिक्स, ११७१, अप्रकाशित।

२५ डॉ० गौरीशंकर प्रसाद दि गान्धीयन नन-वाइलेन्ट आइडीयलिज्म, १९७२, अप्रकाशित।

२६ डॉ० जगदीश नारायण शर्मा निर्युक्ति, चूर्णि और टीकाके आधार पर आचारांगका परिशीलनात्मक अध्ययन, १९७३, अप्रकाशित।

२७ डॉ० गुनकर झा ए क्रिटिकल स्टडी आफ मीमांसा फिलासफी विथ स्पेशल रेफेरेन्स टु प्रभाकर एण्ड भट्ट स्कूल, १९७४, अप्रकाशित।

२८ डॉ० योगेन्द्रप्रसाद सिन्हा वज्जी भाषाके कतिपय शब्दोंका आलोचनात्मक अध्ययन, १९७५, अप्रकाशित।

२९ डॉ० सुदर्शन मिश्र महाकवि पुष्पदन्त और उनका पुराण, १९७९, अप्रकाशित।

इस समय संस्थानमें लगभग बाइस शोधार्थी विभिन्न विषयोंपर अपना शोध प्रबन्ध तैयार कर रहे हैं

१. श्री बुधमल श्यामसुख-इलीमेन्ट्स आफ पैरासाइकोलोजी इन इण्डियन थाट।
२. ,, अशीमकुमार भट्टाचार्य-वार इन एन्सीएण्ट इण्डिया।
३. ,, श्रीकान्त त्यागी-सूत्रकृतांगका समीक्षात्मक अध्ययन।
४ ,, नागेन्द्र किशोर शाही—गौडवहोका आलोचनात्मक अध्ययन।
५ ,, लक्ष्मीश्वरप्रसाद सिंह—भारतीय दर्शनमें कामतत्व एवं जैन परम्परा।
६. ,, इन्द्रदेव पाठक—जैनदर्शनका नयवाद एक मीमांसा, परीक्षणार्थ प्रस्तुत।
७. ,, थीच थीन क्वा—मैसेज आव पोयट्री विथ स्पेशल रेफेरेन्स टू सन्देसरासक, प्रस्तुत।
८. ,, पी० सी० सिन्हा—वाराही संहितामें वस्तुविद्या।
९ ,, राजकुमार पाठक—वसुदेवहिण्डी एक आलोचनात्मक अध्ययन।
१० ,, शशिकुमार सिंह—श्रमणधर्म और सामाजिक आचार।
११. ,, श्रीकृष्णदेव तिवारी सट्टकका उद्भव और विकास।
१२ ,, डी० पी० पांड्या—सांख्य-योग एण्ड जैनीजम् ए कम्पेरेटिव स्टडी।
१३. ,, अभयकुमार जैन—कार्तिकेयानुप्रेक्षाका तुलानात्मक अध्ययन।

१४. ,, योगेन्द्र शर्मा:—अपभ्रंशके चरित काव्य।
१५. ,, श्रीमती रामसेनही सिन्हा—आदिकवि वाल्मीकि और विमलका तुलनात्मक अध्ययन।
१६. ,, डी० पी० मिश्रा—सीतामढ़ी जिलेकी बोली।
१७. ,, एम० एस० प्रसाद सिंह—श्रमण और ब्राह्मण परम्पराओंमें आचारका स्वरूप।
१८. ,, महेश्वर प्रसाद सिंह—संस्कृत नाटकोंमें प्राकृत।
१९. ,, योगेन्द्र प्रसाद सिन्हा—वज्जिकाकी धातुओं और क्रियाओंके रूपोंका अध्ययन (डी० लिट् हेतु)
२० ,, शशिभूषण प्रसाद सिंह—शब्दोंकी पौराणिक व्याख्यायें।

उपरोक्त शोधार्थियोंके शोध विषयोंका अनुशीलन करने पर सारणी १ प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि प्राय· शोधार्थी ललित साहित्य पर ही शोध कर रहे हैं, दुस्तर साहित्य पर एक तिहाईसे भी कम

सारणी १. वैशाली शोध संस्थानकी शोध दिशायें

विषय	शोधार्थी सख्या
१. साहित्य	३१
२ न्याय या दर्शन	५
३ तुलनात्मक अध्ययन	४
४ भाषाविज्ञान	४
५ अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विषय	५
योग	४९

कार्य हो रहा है। जैन विद्याओ तथा प्राकृत भाषाओंके वैज्ञानिक विषयोंके ग्रन्थोंके आधुनिक रूपमें अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। लेकिन इस सस्थानसे इसके अनुरूप किसी भी विषय पर किसी शोधार्थीने कार्य किया प्रतीत नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि शोधार्थी बौद्धिक श्रमके बिना ही अपनी आजीविका योग्य उपाधि लेकर सतुष्ट हो जाते हैं। सस्थानके उद्देश्योकी समुचित पूर्तिके लिये अनुसधान विषयोकी अधिक विविधता अपेक्षित है। सस्थान इस दिशामें प्रयत्नशील है।

३ पुस्तकालय पुस्तकालय शोधका प्रमुख अंग होता है। इस दृष्टिमें सस्थानमें भी एक पुस्तकालय है। इसमें प्राकृत जैनशास्त्र, पालि और संस्कृतकी प्राचीन और नवीन पुस्तकोंके अलावा प्राचीन इतिहास, भारतीय और पाश्चात्य दर्शन, व्याकरण, शब्दकोष आदिसे सम्बन्धित लगभग १२१२९ ग्रन्थ हैं। सस्थानके विद्यार्थियोके अतिरिक्त बाहरके शोध प्रज्ञ भी आकर इस पुस्तकालयका उपयोग करते हैं।

दुर्भाग्यकी बात है कि इस पुस्तकालयमें हस्तलिखित ग्रंथोंका संग्रह नहीं किया जाता।

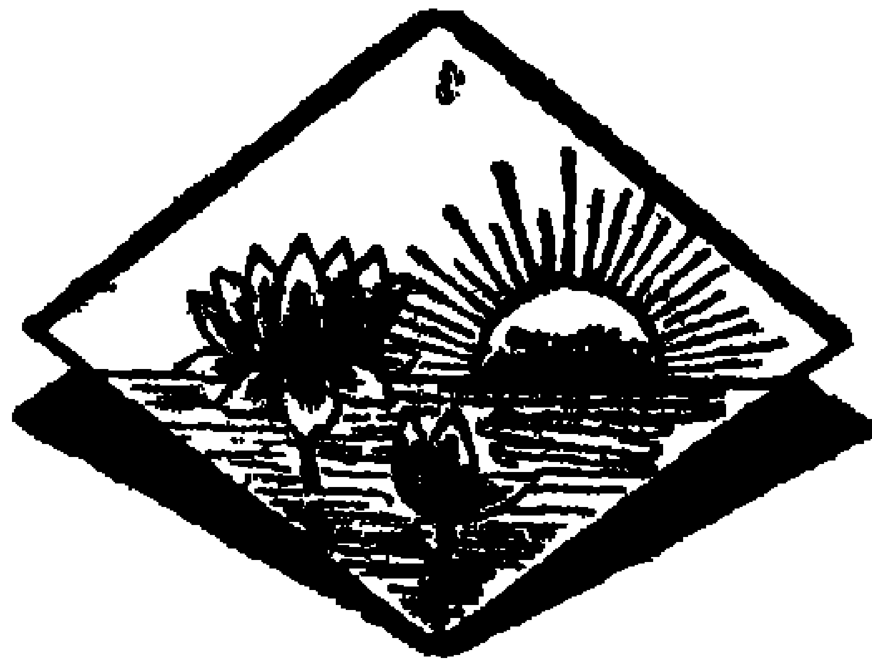
४. प्रकाशन विभाग . संस्थानमें एक स्वतंत्र प्रकाशन विभाग है·। इस विभागका मुख्य लक्ष्य प्राचीन विद्याओं-विशेषकर जैन शास्त्र और प्राकृतके क्षेत्रमें तैयार किये गये उच्चस्तरीय शोध प्रबन्ध तथा प्राचीन अनुपलब्ध ग्रंथोंका सम्पादनकर उन्हें प्रकाशित करना है। प्रकाशन हेतु ग्रंथोंका चयन प्रकाशन समितिकी अनुशसानुसार होता है। सस्थानके निर्देशक और तिरहुत कमिश्नरीके कमिश्नरके अतिरिक्त प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० दलसुखभाई मालवणिया तथा लक्ष्मीचन्द्र जैन, इस समितिके सदस्य हैं।

प्रकाशन कार्यके लिये बिहार सरकार प्रति वर्ष ८० हजार रुपयोंका अनुदान देती है। लेकिन विगत दो-तीन वर्षोंसे प्रकाशनकी सम्पूर्ण राशिका प्रत्यर्पण होता रहा है। फलत अब सरकारने इस कार्यके लिये मात्र २० हजार रुपये अनुदान देना प्रारम्भ कर दिया है। गत २४ वर्षोंमें अभी तक केवल १७ पुस्तकोंका प्रकाशन हुआ है .

स्टडीज इन दि भगवतीसूत्र, हरिभद्रके प्राकृत कथा साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन, सुदर्शन-चरित, ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि पउमचरिउ, अनुयोगद्वारका अंग्रेजी अनुवाद, प्राकृत प्रोज एण्ड पोयट्री सिलेक्सन, रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन, बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनोथिस्म, इण्डियन लॉजिक, एन इन्ट्रोडक्शन टू कर्पूरमंजरी, वैशाली रिसर्च इस्टीच्यूट बुलेटिन, फोनेटिक चेन्जेज इन इण्डो आर्यन लैंगवेज, ए क्रिटिकल स्टडी आफ दी कुवलयमालाकहा, वैशाली रिसर्च बुलेटिन, रम्भामजरी और द्रव्यपरीक्षा एव धातुत्पत्ति।

इस वर्ष प्रकाशन समितिने निम्न पुस्तकोंके प्रकाशनका निर्णय लिया है, इकोनामिक लाइफ इन एनसियन्ट इण्डिया एज डेपिकटेड इन जैन कैनोनिकल लिटरेचर, रूपककार हस्तिमल एक समीक्षात्मक अध्ययन, पउमचरिउ और रामचरित मानस और प्राकृत-परिचय।

मै आशा करता हूँ कि भविष्यमें हमारे सस्थानमें शोधकी नई दिशायें भी विकसित होगी और इसकी वर्तमान अपूर्णतायें पूर्ण होगी।



महाकवि असग और उनकी कृतियाँ

श्रीमती प्रतिभा जैन, आयुर्वेद महाविद्यालय, रीवाँ

प्रतिभा और कल्पनाके धनी महाकवि असग संस्कृत साहित्यके आज्वल्यामान रत्न हैं। वे मूलतः कन्नड निवासी तथा कन्नड भाषाके प्रसिद्ध कवि रहे हैं। महाकविने वर्धमानचरितम्के अन्तमें अपने द्वारा रचित आठ ग्रंथोंकी सूचना दी है। किन्तु उनकी नामावली अप्राप्त होनेके कारण उस विषयमें कुछ कहा नहीं जा सकता। आज उनके दो ग्रन्थ, एक महाकाव्य—वर्धमानचरितम्[1] तथा दूसरा पुराण—श्री शान्तिनाथ पुराण[2] उपलब्ध हैं। जयकीर्ति[3] (१००० ई०)ने असग द्वारा रचित कर्णाटकुमारसम्भवका वर्णन किया है, किन्तु यह भी अप्राप्त है। शेष ग्रन्थ अभी भी अज्ञात हैं जो सम्भवतः कन्नड भाषाके होगें और दक्षिण भारतके किन्ही भण्डारोंमे पडे हों या नष्ट हो गये हो और भाषाकी विभिन्नतासे उनका उत्तर भारतमें प्रचार नही हो रहा हो। अभी तक असगके ग्रन्थोपर संस्कृतकी कोई टीका प्रकाशमें नही आई है। बी०बी० लोकापुर[4] ने एक भोजपत्र प्राप्त किया है जिसमें वर्धमानपुराण पर कन्नडव्याख्यानका उल्लेख है। यह शब्दार्थ और अन्वयसे युक्त है जिसे मूल ग्रन्थको अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, हुलेगीके उपाध्याय परिवारमे कन्नडव्याख्यासे युक्त वर्धमानपुराण उपलब्ध है।

जीवन परिचय

महाकविने वर्धमानचरितम् और शान्तिनाथपुराणकी प्रशस्तिमें अपना कुछ विशिष्ट परिचय दिया है। इससे इतना स्पष्ट होता है कि असगके पिताका नाम पटुमति और माताका नाम वैरेति था। उनके माता-पिता मुनिभक्त थे। बाल्यकालमे उनका विद्याध्ययन मुनियोके सानिध्यमें हुआ। उन्होने श्री नागनन्दी आचार्य और भावकीर्ति मुनिराजके चरणोंमें शिक्षा पायी। कविने वर्धमानचरितम्की प्रशस्तिमें अपने पर ममता-भाव प्रगट करने वाली सम्पत् श्राविकाका और शान्तिनाथपुराणकी प्रशस्तिमें अपने मित्र जिनाप ब्राह्मणका उल्लेख किया है। अतः प्रतीत होता है कि दोनों ग्रंथोंके रचना कालमे महाकवि गृहस्थ ही थे, मुनि नही। इसके पश्चात् वे मुनि हुये या नही, इसका निर्देश नही मिलता है।

महाकविने शान्तिनाथपुराणमें रचना कालका उल्लेख नही किया है परन्तु वर्धमानचरितम्में संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते श्लोक द्वारा उसका उल्लेख किया है। 'अकाना वामतो गतिः' के सिद्धान्त के अनुसार दशनवका अर्थ ९१० होता है और उत्तरका अर्थ उत्तम भी होता है, अतः संवत्सरे दशनवोत्तर-वर्षयुक्तेका अर्थ ९१० संख्यक उत्तमवर्षोंके युक्त सम्वत् होता है। अब विचारणीय यह है कि ९१० शक् सम्वत् है या विक्रम सम्वत् है। डा० ज्योति प्रसाद जैन इसे विक्रम सम्वत् (८५३ ई०) मानते हैं क्योंकि

१-२ श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुरने वर्धमानचरितम् और शान्तिनाथपुराण, हिन्दी अनुवादके साथ डा० पन्नालाल जैन साहित्याचार्यके सम्पादनमें, प्रकाशित किया है।

३. डा० एन० एन० उपाध्ये, वर्धमानचरितम्की प्रस्तावना।

४. एच० डी० वेलमकार —जिनरत्नकोष, पूना, १९४०, पृष्ठ ३३६, ३४०२, ३८१।

९५० ई० के पास पप, पोन्न, आदि कन्नड कवियोंने इनकी प्रशंसा की है। इसलिये इन्हें उनका पूर्ववर्ती होना चाहिये।

इनके आश्रयदाता तमिल प्रदेश निवासी थे। सम्भवतया इन्होने तत्कालीन पल्लव नरेश नन्दिपोतरसके चोलसामन्त श्रीनाथके आश्रयमें उनकी विरलानगरीमें आर्यनन्दीके वैराग्य पर वर्धमानचरितम्की रचना की थी। इसी प्रकार शान्तिनाथपुराणकी रचना जिनाप ब्राह्मणके प्रबल आग्रह पर की गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक कन्नड लेखक महाकवि असगसे अच्छी तरह परिचित हैं। अनेक कन्नड लेखकोंने असगका उल्लेख अपने ग्रंथोमे किया है। हरिवंशपुराणके कर्ता धवलाने अपने वीरजिनेन्द्रचरितमें असगका उल्लेख किया है।[1] दुर्गसिंह (१०३१ ई०) ने अपने कन्नड-पंचतंत्रमें अन्य कवियोंके साथ असगका उल्लेख किया है।[2]

असग शब्द कैसे बना, यह स्पष्ट नही है। असग शब्द अगसका पुराना रूप है जिसका अर्थ धोबी होता है[3] किन्तु असग पेशेसे धोबी थे, ऐसा प्रमाण उपलब्ध नही होता। डा० उपाध्येके अनुसार असग असंग शब्दका परिवर्तित रूप है।

जैन काव्योंकी परम्परा और विशेषता

प्रारम्भमें जैन कवियोंने अपनी काव्य प्रतिभाका विकास प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंके द्वारा किया है। कालान्तरमें प्राकृत और अपभ्रंशके साथ ही उन्होने संस्कृत भाषाको चरित काव्योके लिए अपनाया और अनेको चरित काव्य तथा महापुरुषोकी चारुचरित्रावलि संस्कृतमें निबद्ध की गई। ऐसे महाकवियोंमे असग पहली पीढीके कवि है। उनका काव्य कोरा काव्य नही है, अपितु एक महापुराणोपनिषद् है।[4]

जैन परम्पराके चरित ग्रन्थोमे चरितके नायकके वर्तमान जीवनको उतना महत्त्व नही दिया जाता जितना उसके पूर्वजन्मको दिया जाता है। इसका कारण यही है कि जीव किस तरह अनेक जन्मोमे उत्थान और पतनका पात्र बनता हुआ अन्तम अपने सर्वोच्च पदको प्राप्त करता है। तीर्थंकर बनकर क्या किया, इसकी अपेक्षा तीर्थंकर कैसे बना, इसका विशेष वर्णन होता है। तीर्थंकरके कृतित्वसे तो पाठकोके हृदयमे केवल तीर्थंकर पदकी महत्ता या गरिमाका बोध होता है। किन्तु बननेकी प्रक्रिया पढकर पाठकको आत्मबोध होता है। उसे स्वयं तीर्थंकर बननेकी प्रेरणा मिलती है। कविकी ग्रन्थ रचनाका उद्देश्य अपने पाठकको प्रबुद्ध करके आत्मकल्याणके लिए प्रेरित करना है।[5] महाकविको अपने उद्देश्यमें पर्याप्त सफलता मिली है।

वर्धमानचरितम्का विवरण

वर्धमानचरितम् संस्कृत भाषाका एक महत्त्वपूर्ण काव्य है। यह १८ सर्गोंमें निबद्ध है। इसमें तीर्थंकर महावीरका चरित सैंतीस पूर्वजन्मोको वर्णनके साथ चित्रित किया गया है। डा० रामजी उपा-

---

१ असगु महाकइ जे सुमणेहरु वीरजिणेंदचरिउ किउ सुंदर।
  केत्तिय कहमि सुकइगुण आयर गेय काव्व जहिं विरइय सुंदर॥
२ पोसतेनिसि देसेयिं नवरममेयेयल्कोल पुवेत मार्गदिनिलेगे।
  लैसेवुवो सुकविगलेने नेगलदसगन मनसिजन चन्द्रभट्टन कृतिगल॥
३ स० बी० एस० कुलकर्णी, धारवाड, १९५०।
४ इत्यसगकृते वर्धमानचरिते महापुराणोपनिषद् भगवन्निर्वाणगमनोनाम।
५ कृत महावीरचरित्रमेतन् मया परस्वप्रतिबोधनार्थम्।

ध्यायने वर्धमानचरितम्के प्राक्कथनमें लिखा है कि अश्वघोष एव कालिदासकी परम्परामें महाकवि असगने वर्धमानचरितम्की रचना की । कविके वर्धमानचरितम्की कथावस्तुके मूल आधार प्राकृत भाषाके तिलोय-पण्णत्ति ग्रन्थमें मिलते हैं । दिगम्बर आम्नायके तीर्थंकर और शलाकापुरुषोंके चरित तिलोयपण्णत्तिके आधार पर ही विकसित हुये हैं । वृत्त वर्णनके रूपमें वर्धमानचरितम्के कथानकका आधार गुणभद्रका उत्तरपुराण जान पडता है क्योंकि उत्तरपुराणके ७४ वें पर्वमें वर्धमान भगवानकी जो कथा विस्तारसे दी गई हैं, उसका सक्षिप्त रूप इसमे उपलब्ध होता है । उनके तत्त्वोपदेशका मूलाधार उमास्वामीका तत्त्वार्थसूत्र, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि तथा अकलक स्वामीका राजवार्तिक जान पडता है । समवसरणका विस्तृत वर्णन जिनसेनके महापुराण पर आधारित है । महाकविने पौराणिक वृत्तको काव्यके साँचेमे ढालकर महाकाव्यका स्वरूप दिया है ।

आदिपुराणमें महाकाव्यके स्वरूपका वर्णन करते हुये लिखा है कि इतिहास और पुराण प्रतिपादित चरितका रसात्मक चित्रण करना तथा धर्म, अर्थ और कामके फलको प्रदर्शित करना महाकाव्य है ।[१] धर्मत्वका प्रतिपादन करना ही काव्यका प्रयोजन है । अत काव्यके मूलमें धर्म तत्त्वका रहना परम आवश्यक है । इस चरित काव्यमे महाकाव्यके समस्त लक्षणोका समावेश किया गया है । वर्धमान इसके नायक है जो क्षत्रिय कुलोत्पन्न धीरोदात्त नायकके गुणोसे युक्त है । इसका अगी रस शान्त है । अग रसके रूपमे शृंगार, भयानक तथा वीर रसका प्रयोग किया गया है । यह नमस्कारात्मक पद्योंमे प्रारम्भ हुआ है और मोक्ष इसका फल है । सर्गोंकी रचना एक ही छन्दमे हुई है । पर सर्गान्तिमे छन्दोवैषम्य है । नवम्, दशम्, पञ्चदश और अष्टदश सर्गकी रचना नाना छन्दोंमें हुई है । इस ग्रन्थमे उपजाति, वसन्ततिलका, वियोगिनी, शिख-रिणी, वशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, अनुष्टुप्, मालिनी, मन्दाक्रान्ता आदि छन्दोंका प्रयोग हुआ है । इसमे देश, राजा, राज्ञी, पुत्र-जन्म, ऋतु, वन, समुद्र, मुनि, देव, देवियाँ, युद्ध, विवाह, सध्या, चन्द्रोदय, सूर्योदय, तपश्चरण और धर्मोपदेश आदि सभी वर्णनीय विषयोंका समावेश है ।

शान्तिनाथपुराणका विवरण

कविकी दूसरी रचना शान्तिनाथपुराण है जिसकी रचना कविने वर्धमानचरितके पश्चात् की है । इसका निर्देश उन्होने ग्रन्थके अन्तमें किया है ।[२]

वर्धमानचरितम्में भाषा विषयक जो प्रौढ़ता है, वह शान्तिनाथमें नही है पुराण क्योकि वर्धमान-चरितम् काव्यकी शैलीमें लिखा गया है और शान्तिनाथ पुराण शैलीमें । पुराण शैलीमें लिखे जानेके कारण इसमे अधिकाशत अनुष्टुप् छन्दका प्रयोग हुआ है । इसकी भाषा सरल है पर भाव गम्भीर हैं । आदि पुराणमे प्राचीन आख्यानोको पुराण कहा गया है, 'पुरातन पुराण स्यात्' (आदि १ २१) । पुराणका प्रमुख तत्व पौराणिक विश्वास हैं । पौराणिक विश्वास प्राचीन परम्परासे प्राप्त होता है । लेकिन इसमे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे कथा अवश्य रहती है । पौराणिक कथायें सत्य मानी जाती है । इनका उद्देश्य विभिन्न प्रकारकी वस्तुओ, विश्वासो रीति-रिवाजोकी उत्पत्ति तथा उपयोगिता समझाना है । पुराणके दो भेद है—१ पुराण और २ महापुराण । जिसमे एक शलाका पुरुषका वर्णन होता है, वह पुराण है और जिसमें त्रेसठ शलाका

---

१ महापुराण सम्बन्धित महानायकगोचरम् ।
त्रिवर्गफलसन्दर्भं महाकाव्य तदिष्यते ॥ आदि०, १।९२-९३

२ चरित विरचय्य सन्मतीय सदलकारविचित्रवृत्तबन्धम् ।
स पुराणमिद व्यधत्त शान्तेरसग साधुजनप्रमोदशान्त्यै ॥४१॥

पुरुषोंका वर्णन हो, उसे महापुराण कहते हैं। धर्म तत्वका निरूपण रहनेके कारण पुराण धर्मशास्त्र भी कहलाता है। जैन पुराण साहित्य अपनी प्रामाणिकताके लिये प्रसिद्ध है। प्रामाणिकताका मुख्य कारण लेखकका प्रामाणिक होना है। तथ्यपूर्ण घटनाओं पर ही जैन पुराणोका कथाभाग आधारित है। असम्भव तो कल्पनाओंसे दूर। अधिकांश पुराण ग्रन्थ गुणभद्रके उत्तरपुराण पर आधारित हैं। शान्तिपुराणमें कविने यथार्थ घटनाओंका वर्णन किया है, बीचमें आये हुये सन्दर्भ मर्मस्पर्शी तथा जैन सिद्धान्तका सूक्ष्म विश्लेषण करनेवाले हैं।

शान्तिपुराणमें इस अवसर्पिणी युगके सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवानका पावन चरित्र वर्णित है। श्री शान्तिनाथ चक्रवर्ती और कामदेव पदके धारक थे। तीर्थंकर पद अत्यन्त दुर्लभ पद है। अनेक भवोमें साधना करनेवाले जीव ही इस पदको प्राप्त कर सकते हैं। महाकवि शान्तिनाथके पूर्वभवोका वर्णन अत्यन्त विस्तारसे किया है जिससे प्रतीत होता है कि शान्तिनाथके जीवने पूर्वभवोमें किस प्रकार साधना कर अपने आपको तीर्थंकर पद पर प्रतिष्ठित किया। इस पुराणमें १६ सर्ग हैं जिनमें प्रारम्भके १२ सर्गोंमें उनके पूर्व जन्मोका वर्णन है और अन्तिम चार सर्गोंमें उनके तीर्थंकर कालका वर्णन है। प्रत्येक तीर्थंकरके पाँच कल्याणक होते हैं—गर्भमे आगमन, जन्म, जिन दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण। ग्रन्थमें इन्ही पाँचोका वर्णन मुख्य रूपसे किया गया है। इसके १६ सर्गोमे २३५० श्लोक हैं जिनमे कुछ शार्दूलविक्रीडित, वशस्थ, उत्पलमाल, हरिणी, प्रहर्षिणी, इन्द्रवशा, वियोगिनी, वसन्ततिलका, मालिनीमे है और शेष अनुष्टुप् है। अन्तिम सर्गोमे जैन सिद्धान्तका विषद वर्णन है। जैन सिद्धान्तका वर्णन तत्वार्थसूत्र और सर्वार्थसिद्धिके आधार पर किया गया है। पन्द्रहवे एव सोलहवे सर्गमे जैन सिद्धान्तका वर्णन विस्तारसे किया है। कविने शान्तिपुराणमें प्रथमानुयोगकी शैलीको अपनाया है। उन्होने सिद्धान्त, इतिहास और लोकानुयोगका अच्छा समावेश किया है जिससे यह मात्र कथाग्रन्थ न रहकर सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी बन गया है।

साहित्यिक विशेषतायें

अपने ग्रन्थोमें महाकविने कोमलकान्त पदावलीके साथ-साथ सुभाषितोका भी यथास्थान प्रयोग किया है। आदिपुराण (२-८७) में सुभाषितोको महारत्न कहा गया है। एक अन्य सन्दर्भमें सुभाषितको महामन्त्र भी कहा गया है (आदि १।८८)। समुद्रसे बहुमूल्य रत्नोकी उत्पत्तिके समान ही कविके ग्रन्थ समुद्रसे सुभाषित रत्नोकी उत्पत्ति हुई है। कविने अपने ग्रन्थोको श्रृगार बहुल प्रकरणोंसे बचाकर सुभाषितमय प्रकरणोसे सुशोभित किया है। अर्थान्तरन्यास या अप्रस्तुत प्रशसाके रूपमें कविने सग्रहणीय सुभाषितोका सकलन किया है। ये सुभाषित असग कवि द्वारा ही रचे होनेसे मूल ग्रन्थके अग है। वर्धमानचरितम्मे ससारसे विरक्त, मोक्षाभिलाषी, दीक्षा लेनेको उत्सुक राजा नन्दिवर्धनके बार-बार समझाने पर उसका पुत्र राज्य स्वीकार नही करता। इस प्रसगमें कविने "पिताका वचन चाहे प्रशस्त हो, चाहे अप्रशस्त हो उसे ही करना पुत्रका काम है, दूसरा नही[१]" के माध्यमसे सुन्दर सुभाषितका प्रयोग किया है। शान्तिपुराणके सप्तम सर्गमें आया सुभाषित स्त्रियोकी मनोवृत्तिको बतलाता है।[२]

अलकार उस विधाका नाम है जिसके प्रयोगके द्वारा रचनाकार पाठकके मनमें अपनी इच्छानुकूल भावना उजागर कर आनन्द सचार करता है। अलकारके प्रयोगसे कविता कामिनीके सौन्दर्यकी वृद्धि होती हैं। महाकविने भावोका उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओके रूप गुण और क्रियाका अधिक तीव्र अनुभव करानेके

---

१ पितुर्वचो यद्यपि साध्वसाधु वा, तदेव कृत्य तनयस्य नापर। (१.२९)

२ स्त्रीजनोऽपि कुलोद्भूत सहते न पराभवम् (७-८७)

किये अलंकारोंका समावेश किया है। कविने अपने ग्रन्थोंके शब्दालंकार और अर्थालंकारका यथेष्ट प्रयोग किया है। अनुप्रास, यमक, श्लेषोपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, परिसंख्या, भ्रान्तिमान्, विरोधाभास आदि अलंकारोंसे ग्रन्थ परिपूर्ण है। श्लेषोपमा आदि अलकारोंके प्रसगमें रचना कहीं-कहीं दुरूह हो गयी है।

रस काव्यकी आत्मा है। महाकविके ग्रन्थोंमें रसोंका सुन्दर समावेश पाया जाता है। वर्धमान-चरितम्का अगी रस शात है। इसमे सयोग शृगारका वर्णन मिलता है किन्तु इसके प्रसंग बहुत सीमित हैं। विप्रलम्भका वर्णनमात्र एक श्लोकमें हुआ है जिसमे त्रिपृष्ठका मरण होनेपर शोक विह्वल स्वयप्रभा मरनेके लिए उद्यत बतलाई गई है।[1] काव्यमें शान्त रसके अनेक प्रसग हैं। उदाहरणार्थ—राजा नन्दिवर्धन आकाशमें विलीन होते हुये मेघको देखकर ससारसे विरक्त होता हुआ वैराग्य चिन्तन करता है (सर्ग २। १०—३४)। प्रजापतिका वैराग्य चिन्तन (सर्ग १४।४०—५३) और तर्थंकर महावीरका निष्क्रमण कल्याणक (सर्ग १७।१०२—११६) भी इसी रसमें है। स्वयप्रभा और त्रिपृष्ठके विवाहमें शृङ्गार तथा कुपित अश्व-ग्रीव और विद्याधर राजाओंकी गर्वोक्तिसे वीर रसकी उद्भूति होती है। रणक्षेत्रमें दोनो ओरकी सेनाओमें युद्ध होनेपर वीर रसका परिपाक होता है। अश्वग्रीवकी सेनाका प्रयाण तथा विश्वनन्दीको आता देख भयसे काँपता हुआ विशाखनन्दी जब कपित्थके वृक्ष पर चढ़कर प्राण सरक्षण करना चाहता है, तब भयानक रसका दृश्य उपस्थित होता है (सर्ग ४।७७)।

यद्यपि शान्तिनाथपुराणमे भी अगीरसके रूपमे मुख्यत शान्त रसका वर्णन हुआ है पर अन्य रसोका वर्णन भी अग रूपमे हुआ है। चक्रवर्ती दमितारि और अपराजित तथा अनन्तवीर्यके युद्ध प्रसगमे वीर रसका वर्णन हुआ है। दमितारि और गायिकाओके प्रसगमें तथा महल्लायुद्धकी जलक्रीडामे शृंगार रसका वर्णन है। वैराग्य प्रसग प्रचुरतासे वर्णित है। राजा स्मितिसागरने भगवान स्वयप्रभके समवसरणमें पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाले धर्मको सुनकर जेष्ठ पुत्रको राज्यलक्ष्मी सौंपकर दीक्षा लेली (१।६९—७२)। छठे सर्गमे सुमति एक देवीसे पूर्वभव सुनकर ससारसे विरक्त हो गई अर्जिका बन गयी। चक्रवर्ती शान्ति जिनेन्द्रके वैराग्य प्रसग आदिमें शान्त रसका वर्णन हुआ है।

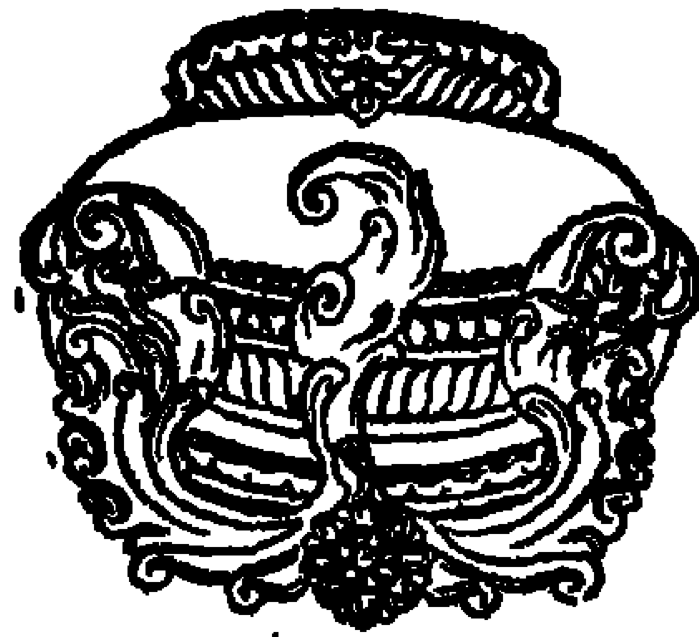
महाकवि असगने अपने पूर्ववर्ती साहित्यसागरका अच्छी तरह अवगाहन किया, अत उनकी रचनाओ पर पूर्ववर्ती कवियोका प्रभाव परिलक्षित होता है। कुन्द-कुन्द, पूज्यपाद तथा अकलक आदिके सिद्धान्त ग्रन्थोंका प्रभाव उनकी रचनाओ पर पडा। रघुवश, कुमारसम्भव, शिशुपालवध, चन्द्रप्रभचरित तथा किरातार्जुनीयके कितने ही भाव असगने ग्रहण किये है। वर्धमानचरितके श्लोकोका साम्य जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदयमें मिलता है। यहाँ यह शोधका विषय है कि किसने किससे भाव ग्रहण किये हैं। महाकवि असगने भी अपने परवर्ती कवियो पर अपनी छाप छोडी है। केशीराज (१२०० ई०)ने शब्दमणि-दर्पणमें असगकी कविताओमेंसे अनेक उद्धरण लिये हैं। पोन्न पर असगके शान्तिपुराणकी छाप है। नागवर्मा और अकन्ना आदि कवियो पर वर्धमानपुराणका प्रभाव पडा है।

महाकविका सस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार है। कहीं भी भाषा शैथिल्यके दर्शन नही होते। रसानु-कूल भाषाका प्रयोग किया गया है। कही अल्पसमासवाले, कही बृहत् समासवाले पदोंका प्रयोग हुआ है। ग्रन्थोमें शब्दसौष्ठव और अलकरणकी रमणीयता सर्वत्र पाई जाती है। बाह्य सौन्दर्य वर्णनके साथ ही

१. स्वयप्रभामनुमरणार्थमुद्यता बलस्तदा स्वयमुपसान्त्वनोदितैं ।
इद पुनर्भवशतहेतुरात्मनो निरर्थक व्यवसितमित्यवारयत् ॥१०—८७॥

मानव हृदयस्थ मनोभावोंका तथा विभिन्न दशाओंमें उत्पन्न होनेवाली चेष्टाओंका वर्णन हुआ है। राग, द्वेष, हर्ष, विषाद तथा प्रेम, करुणा आदिका समावेश बडी सूक्ष्मताके साथ सर्वत्र हुआ है। कवि अपने पात्रोंके अन्तस्तलमें प्रवेश कर अवस्थाविशेषमें होनेवाली उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओंका सूक्ष्म विश्लेषण करता है तथा उचित पदविन्यासके द्वारा अभिव्यक्ति देता है। कविकी रचनायें ऐतिहासिक, पौराणिक तथा शास्त्रीय आदि अनेक दृष्टियोसे श्रेष्ठ हैं।

यद्यपि असग कविकी दो कृतियाँ ही उपलब्ध है, तथापि ये कविको अमरत्व प्रदान करने तथा काव्यरसकी विजयध्वजाको सदैव फहराते रहनेके लिये पर्याप्त है। इन रचनाओ पर गहन शोध कार्य प्रगति पथ पर है।



गुर्जर कवि सोमेश्वर देव : एक परिचय

श्रीमती सरला त्रिपाठी, कन्या महाविद्यालय, रीवाँ

तेरहवी शताब्दी गुजरातमें सस्कृत साहित्यके सृजनका उत्कर्षकाल था। उस समय (११७८–१२४१ ई०) चौलुक्य नरेश भीमदेव द्वितीय अणहिल पाटन (गुजरातकी राजधानी) के राज्य सिंहासन पर आसीन थे। इसी समय गुजरातके साहित्याकाशमें महाकवि सोमेश्वरदेवका उदय हुआ। उन्होने अपनी काव्य कौमुदीसे राजा भीमदेवके सभामण्डपको आलोकित किया। सोमेश्वरदेवने अपने जन्मकालके विषयमें कुछ भी नही लिखा हैं। उनकी रचनाओंके अन्त साक्ष्य तथा अन्य बाह्य साक्ष्योके आधार पर ही उनका जीवनकाल तथा सर्जनाकालका निश्चित हुआ है।

महाकवि सोमेश्वरदेवकी निम्न रचनायें उपलब्ध हैं, सुरथोत्सवम् तथा कीर्तिकौमुदी महाकाव्य उल्लाधराघव नाटक, रामशतकम्, स्तोत्र काव्य और कर्णामृतप्रभा स्फुट काव्य। सोमेश्वरदेव द्वारा रचे गये श्लोकोमें ५ अभिलेख प्रशस्तियाँ भी है जो हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शन्स आफ गुजरात, भावनगर मे प्रकाशित है। ये प्रशस्तियाँ तत्कालीन निर्मित मन्दिरोमे उत्कीर्ण की गई थी।

सुरथोत्सवम् सोमेश्वरदेव रचित पन्दह सर्गोंका एक पौराणिक महाकाव्य है। उन्होने यह ग्रथ मत्री वस्तुपालकी प्रसन्नताके लिए लिखा था। ग्रन्थका विषय देवी भवानीकी महिमाका वर्णन है इस विषयमे काव्यके १५ वें सर्गके अन्तिम श्लोकमे कविने स्वय कहा है

कुमारपुत्रेण कुमारमातु काव्य तदेतज्जगदेकदेव्या।
श्रुतिस्मृतिव्याकृति-यज्ञविद्या विशारदेन क्रियते स्म तेन ॥१५।६०॥

ग्रन्थको पुष्पिकामें कवि स्वय को गुर्जरेश्वर पुरोहित कहता है, 'इति श्रीगुर्जरेश्वर–पुरोहित सोमेश्वरदेव–विरचिते सुरथोत्सव नाम्नि महाकाव्ये कविप्रशस्ति–वर्णनो नाम पचदश सर्ग'।

उपर्युक्त साक्ष्यसे यह पता चलता है कि जिस समय सोमेश्वरदेवने इस ग्रन्थकी रचना की, उस समय वह गुर्जरनरेस भीमसेन देवका पुरोहित और सभासद था तथा मत्री वस्तुपालका मित्र था। उन्होने आधे प्रहरमें किसी नाटककी रचना कर राजा भीमदेवके सभासदोको चकित कर दिया था। इसका उल्लेख सुरथोत्सवके पन्द्रहवें सर्गमें ४९ वें श्लोकमें है

काव्येन नव्य-पद-पाक-रसास्पदेन यामार्धमात्र-घटितेन च नाटकेन।
श्रीभीमभूमिपति-ससदि सभ्यलोकमस्तोक-सम्मद-वशवदमादधेय ॥१५।४९॥

सोमेश्वरदेवने सुरथोत्सवके १५ वें सर्ग, कवि प्रशस्ति, मे अपने वश एव पूर्वज परम्पराका उल्लेख किया है। वे ब्राह्मण वशमें वशिष्ठ गोत्रमें उत्पन्न हुये थे। उनके पूर्वज परम्पराके मूल पुरुषका नाम सोल शर्मा था। उन्होने चौलुक्य राजा मूलराजके अतिशय अग्रह पर पुरोहित पदको स्वीकार किया था। सोमेश्वर देवके पिताका नाम कुमार था। वे चौलुक्य मूलराज द्वितीयके पुरोहित एव सेनापति थे। य तीन भाई थे। इनके अग्रज महादेव थे। इनके अनुजका नाम विजय था।

मूलराज द्वितीयका राज्यकाल श्री मजुमदारने अपनी पुस्तक चौलुक्याज आफ गुजरातमें ११७५-११७८ लिखा है। इसी अवधिको हम सोमेश्वरदेवका जन्मकाल मान सकते हैं, अतः ११७० ई० के निकट इनका जन्म हुआ होगा। उनकी अन्तिम रचना १२५४ ई० की वैद्यनाथ प्रशस्ति है। इस प्रकार सोमेश्वरदेवकी मृत्यु तिथि १२५५ के निकट हो सकती है। इस प्रकार उन्हें लगभग ८५ वर्षकी आयु प्राप्त हुई। १२११ में रची हुई एक प्रशस्ति हिस्टोरिकल इन्सक्रिपसन्स आफ गुजरातमें भाग ३ क्रमांक २१५में उल्लिखित है। यह प्रशस्ति सोमेश्वरदेवने सन् १२११ ई० में मन्त्री वस्तुपाल द्वारा बनवाये गये आबू देलवाडा मन्दिर पर उत्कीर्ण करानेके लिये लिखी थी। सुरथोत्सवकी रचना इस अभिलेखके पहले हुई क्योंकि इसमें सोमेश्वरदेवने कही भी बाघेल नरेश अर्णोराज, लवण प्रसाद, वीरधवल तथा उनकी राजधानी धोलकाका उल्लेख नही किया है जबकि आबू देलवाडाकी सन् १२११ ई० के प्रशस्तिमें उन्होंने अर्णोराजके वंशज लवण प्रसाद तथा उनके पुत्र वीरधवलके भी उल्लेख किये हैं। वस्तुपाल और तेजपालको वीर धवलके मन्त्रीके रूपमें प्रतिष्ठित बतलाया है। इस प्रकार सुरथोत्सवका रचनाकाल १२०० ई० के निकट हो सकता है। इस आधार पर सोमेश्वरदेवका साहित्य काल १२०० ई० से १२५५ ई० तक माननेमें कोई कठिनाई नहीं है।

सोमेश्वरदेवके दो महाकाव्य-सुरथोत्सव तथा कीर्तिकौमुदी तथा एक नाटक उल्लाघराघव प्रसिद्ध हैं। उनके विषयमें यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

सुरथोत्सवका विवरण—कविने प्रशस्तिमें लिखा है कि जब हेमचन्द्र जैसे विद्वान दिवगत हो गये और प्रह्लादन जैसा उपकारी व्यक्ति नही रहा, तब उन दोनोके गुण मन्त्री वस्तुपालमें एकत्र दिखलाई पडे। इन्ही वस्तुपालकी कीर्तिगान करनेके लिये सुरथोत्सवकी रचना की गई। इसकी कथावस्तु दुर्गा सप्तशती अथवा मार्कण्डेय पुराणके देवीमहात्म्य पर आधारित है। कविने इस पर अपनी प्रतिभाका कलेवर चढ़ा कर इसे महाकाव्यका रूप दे दिया है। इस काव्यमें कविके पाडित्य, वैदग्ध्य, रसमयताका प्रवाह तथा प्रौढ़ प्रतिभाके दर्शन होते हैं। सुरथोत्सवमें पन्द्रह सर्ग हैं—सुरथवर्णनम्, देवी चरित निवेदनम्, विरचिवर्णनम्, हिमालयवर्णनम्, ऋतुवर्णनम, चन्द्रोदयवर्णनम्, देवीदर्शनम्, धूमलोचन वध, दैत्यप्रयाणम्, युद्धवर्णनम्, शुम्भवध, सुरथतपोवर्णनम्, मायागनावर्णनम्, राज्यलाभ तथा कवि प्रशस्ति।

प्रथमें कथानकके जो विविध मोड आते है, उन्हीके अनुकूल भाषा कही अल्प-समास युक्त तथा कहीं समास-बहुला है। बहुतसे स्थलो पर प्रसाद गुणसे परिपूर्ण सरल एव बोध-गम्य भाषाशैली अपनाई है। ऐसे भी स्थल हैं जहा दुरूह क्लिष्ट पदावली है और अनेकार्थक पदोके कतिपय प्रयोग हैं। देवी और दैत्योंके युद्धमें एक ऐसा ही उदाहरण भी दृष्टव्य है —

कोकिलालक-कोलालिकाला कीलाललु।
काका कगाल कीलाल कलाकल-कुलाकुले ॥

काव्यमें वीर रसके परिपाकके साथ ही रूपककी मनोहारी छटा भी दर्शनीय है। युद्ध स्थली एक वन है, जहाँ विद्यमान वीर ही व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु हैं। वही दो विशाल वृक्षोकी भाँति चण्ड और मुण्ड नामक दो रणोद्यत दैत्य उपस्थित है। मेघखण्डोंसे प्रकट होने वाली विद्युतकी भाँति अतिशय तेजस्विनी देवी दुर्गाने उन दोनोका हनन कर डाला।

कतिपय स्थलो पर सोमेश्वर देव कालिदासी वैदर्भी रीतिकी प्रसादपूर्ण शैलीको अपनाते हुये प्रतीत होते हैं। राजा सुरथ तप साधनाके लिये तपोवनमें प्रवेश करते हैं। उनके स्वागतमें लतायें नृत्य करती हैं, मर्मर ध्वनि करते हुये वशवृक्ष मगलगीत गाते है .

मधुव्रतानुगतासु कलासु गायन्तीषु स्वनत्सु वातेन च कीचकेषु ।
तस्मिन्नुपेते नृपतौ वनं तदारब्धसंगीतमिवावभासे ॥

इसी प्रकार घनी नीली वन राजियोंसे घिरे वनमें भ्रमण करते हुये राजा सुरथ नीले मेघ मण्डलके बीच चन्द्र बिम्बके सदृश सुशोभित हो रहे हैं । इस सटीक उपमाको निम्न श्लोक में देखिये

विशन्वनादेव वनान्तराणि सान्द्र-द्रुमश्रेणि निरन्तराणि ।
भाति स्म भिन्ना जनसन्निभानि घनादिवेन्दुर्घनमण्डलानि ॥

इस काव्यमे अलकार वैविध्यके साथ साथ छन्द वैचित्र्य भी है । इसमें जहाँ अनुरूप, शालिवनदा, बसन्ततिलका तथा द्रुतविलम्बित जैसे छोटे अति प्रचलित छन्द प्रयुक्त हैं, वही पुष्पिताग्रा, उपजाति मन्त-मयूर, रुचिरा, मालभारिणी, पृथ्वी, स्रग्वणी तथा शार्दूलविक्रीडित आदि लम्बे क्लिष्ट छन्दोका भी प्रयोग बाहुल्य है । पन्द्रहवें सर्गमें तो विविध छन्दोंके नमूने मिलते हैं ।

इस प्रकार सुरथोत्सव महाकाव्यके सम्पूर्ण तत्वोंसे निर्मित एक ऐसा स्थाई सोपान है जो सोमेश्वर देवको महाकविके पद पर प्रतिष्ठित करनेमें पूर्णत' सक्षम है ।

कीर्ति कौमुदीका विवरण '—यह सोमेश्वर देवसे रचित एक ऐतिहासिक महाकाव्य है । इस ग्रथके निर्माणका मूल उद्देश्य गुजरातके महामात्म वस्तुपालकी कीर्तिरूपी जोत्सनाका प्रसार करना है । इस ग्रथके कथानकका मूलाधार वस्तुपालके जीवनका गोरवान्वित खण्ड है । यह नौ सर्गोंमें निबद्ध है । नगर वर्णनम्, नरेन्द्रवशवर्णनम्, मत्रिस्थापना, दूतसमागमनम्, युद्ध वर्णनम्, पुरप्रमोदवर्णनम्, चन्द्रोदय वर्णनम्, परमार्थविचार और यात्रा ममागमनम् । इसके प्रथम सर्गमें कविने स्वय लिखा है

विलोक्य वस्तुपालस्य भक्ति चात्मनि निर्भराम् ।
श्रीसोमेश्वरदेवेन तत्स्वरूप निरूप्यते ॥

इस सर्गकी पुष्पिका इसे सोमेश्वर देवकी रचना प्रमाणित करती है

"इति श्रीगूर्जरपुरोहित श्रीसोमेश्वरदेव विरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये नगरवर्णनोनाम प्रथम सर्ग ।"

सुरथोत्सवकी भाँति कीर्ति कौमुदीका रचनाकाल भी कविने स्वय नही लिखा है । इसमें खभातके उस युद्धका वर्णन है जो १२२१ ई० के लगभग वस्तुपाल और शख चाहमानके बीच हुआ था । इस ग्रथके नायक महामात्य वस्तुपाल हैं जिन्होने अनेको स्मारिको एव मदिरोका निर्माण कराया । इससे प्रकट होता है कि इस काव्यकी रचना १२२३-२४ ई० के निकट हुई होगी । वस्तुपालकी जिह्वामें सरस्वतीका वास था । वे काव्य मर्मज्ञ एव काव्यस्रष्टा थे, इसका उल्लेख भी कविने काव्यमे किया है । स्तम्भ तीर्थ पर ग्रीष्मऋतुके आगमन पर मत्री वस्तुपालने निदाघकी निन्दा पर कवितायें लिखी

कविप्रियोऽसौ प्रथयाचकार,
निन्दा निदाघस्य जलप्रियस्य ।

इस काव्यके नवें सर्गमे वस्तुपालका शत्रुजय पर्वतो पर आरोहण, नेमिनाथ आदि देवोकी पूजा तथा नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदिके मदिरो व प्रतिमाओके निर्माणका वर्णन किया है ।

उल्लाघ राघवका विवरण—सोमेश्वर देवने इस नाटककी रचना अपने पुत्र लल्ल शर्माकी प्रार्थना पर की थी । यह इसके प्रशस्ति श्लोकोमें कहा गया है .

तदगज. स्वांगजलल्लशर्म, प्रयुक्तया प्रार्थनया प्रणुन्न ।
चकार सोमेश्वरदेवनाम्ना रामायण नाटकरूपमेतत् ॥

यह नाटक १२३० ई० के पश्चात् लिखा गया है। इसमें आठ अंक हैं। यह नाटक सुरथोत्सव, कीर्ति कौमुदी महाकाव्यों तथा कर्णामृत नामक काव्य सग्रहके प्रणयनके बाद लिखा गया है। इनका रामशतक भी एक सौ स्रग्धरावृत्तोंमें रचित रामभगवानका स्तोत्र काव्य है। इनके अभिलेख प्रशस्तियोंकी तिथियाँ १२११, १२३१ तथा १२५४ ई० स्पष्ट हैं।

सिन्धी जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित प्रबन्धकोश नामक ग्रन्थमें सोमेश्वरदेवके सम्बन्धमें बहुतसे प्रसंग हैं। उदाहरणार्थ, एक बार वे मन्त्री वस्तुपालके साथ सम्मात गये। वे दोनों समुद्रतट पर नौकाओंसे उतरते हुये विदेशी घोडोंको देख रहे थे। वर्षा ऋतु होने पर भी समुद्र शान्त था। इस पर मंत्रीने कविकी ओर देखकर श्लोकार्ध कहा

"प्रावृट् काले पयोराशिरासीद् गर्जितवर्जित"।

(वर्षा कालमें भी जलकी राशि-समुद्र गर्जन नहीं रहा है) सोमेश्वरदेवने उत्तर देते हुये तत्काल श्लोकको पूरा किया

"अन्त सुप्तजगन्नाथ निद्राभगभयादिव"।

(जगतके स्वामी समुद्रके अन्दर सो रहे है। उनकी नीद टूटनेके भयसे समुद्र नही गरजता)।

इस समस्या पूर्ति पर मन्त्रीने सोमेश्वरदेवको सोलह घोडे दे दिये। एक अन्य प्रसगमें मन्त्री सोमेश्वर-देवके सम्मुख एक समस्या रखी

"काक किं वा क्रमेलक ?"

कविने निम्न प्रकारसे समस्यापूर्ति की।

येनागच्छन् ममख्यातो येनानीतश्च मत्पति ।
प्रथम सखि क पूज्य काक किं वा क्रमेलक ॥

(नायिका अपनी अन्तरग सखीसे पूछती है)।

"हे सखी, कौयेने आँगनमें शब्द करके मुझे सूचना दी कि प्रवाससे मेरे पति आ रहे हैं, दूसरी ओर ऊँटने मेरे पतिको मेरे पास पहुँचा ही दिया। इस दोनोंमेंसे मेरा प्रथम पूज्य कौन है, कौआ या ऊँट ?" इस पद्य पूर्तिपर भी मन्त्री कविको सोलह हजार द्रम्भ दिये।

सुरथोत्सवके प्रशस्ति सर्गमें स्वय कविने लिखा है कि हरिहर, सुभट आदि श्रेष्ठ कवियोने उसके गुणोकी प्रशसा की है

श्रीसोमेश्वरदेवस्य कवितु मावितुश्च कौ ।
स तृणाम्यावहारस्य निरासेऽपि रसप्रदा ॥१४-४२॥

उल्लाघ राघव नाटककी प्रस्तावनामें सूत्रधार महाकवि सोमेश्वरदेवका परिचय नटीको देता है। वह कहता है कि चालुक्यचक्रवर्ती मन्त्री वस्तुपालने कविके सम्बन्धिमें स्वय कहा है

यस्यास्ते मुखपंकजे सुखऋचा वेद स्मृतिर्वेद य
त्रेता सद्मनि यस्य यस्य रसनां सूते सूक्तामृतम्।
राजान श्रियमर्जयन्ति महतीं यत्पूजया गूर्जरा
कर्तुं यस्य गुणस्तुतिं जगति क सोमेश्वरस्येश्वर ॥

उपरोक्त अनेक उद्धरणोंसे सोमेश्वरदेवकी काव्य-प्रतिभाके अनेक रूपोके दर्शन होते हैं। ऐसे कविको अपने जीवनकालमें अनेक विरोधोका भी सामना करना पडा था। लेकिन ये विरोध कविके काव्य-रसकी घुटीके विलयित हो गये और वह काव्याकाशका एक पुखर नक्षत्र प्रमाणित हुआ। इनकी उपरोक्त अनेक रचनाओं पर चतुर्मुखी शोध की जा रही है। ■

प्राकृत तथा अपभ्रंश शोधमें-कार्यकी दिशाएँ

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

यद्यपि पश्चिम देशोंमें अनुवादोंके माध्यमसे सस्कृतका परिचय सोलहवी शताब्दीके अन्त तक हो चुका था, किन्तु पालि-प्राकृतका अध्ययन भाषाके रूपमे भी अठारहवी शताब्दीसे पूर्व नही हो सका। इसका कारण यही था कि उस समय तक पालि-प्राकृतके साहित्यकी कोई जानकारी यूरोपको नही थी। सस्कृतकी ओर भी पूर्ण रूपसे विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट करनेका श्रेय सर विलियम जोन्सको है। प्राकृतके अध्ययनका सर्वप्रथम उल्लेख चार्ल्स विल्किन्सके 'अभिज्ञानशाकुन्तल'के अध्ययनके साथ मिलता है। इस फासीसी विद्वान्‌का यह महान् स्वप्न था कि सस्कृत और प्राकृतके साथ शकुन्तला नाटकका सम्पादित सस्करण मेरे द्वारा प्रकाशित हो, परन्तु इस प्रकारके अध्ययनसे प्राकृत भाषा और उसके साहित्यकी कोई जानकारी तब तक नही मिल सकी थी। प्राप्त जानकारीके आधार पर हेनरी टामस कोलबुक (१७९७–१८२८ ई०) प्राच्य-विद्याओके गम्भीर अध्येता थे, जिन्होने सस्कृतके साथ प्राकृत भाषा, सस्कृत-प्राकृत छन्द शास्त्र, दर्शन, जैनधर्म, बौद्धधर्म आदि पर विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखे थे।

वास्तवमें आधुनिक युगमें प्राच्य-विद्याओके क्षेत्रमें जैन साहित्यके अध्ययन व अनुसन्धानका आरम्भ जैन हस्तलिखित ग्रन्थोकी खोजसे प्रारम्भ होता है। उन्नीसवी शताब्दीके प्रारम्भमें बम्बईके शिक्षा-विभागने विभिन्न क्षेत्रोमें दौरा करके निजी सग्रहोके हस्तलिखित ग्रन्थोका विवरण तैयार करनेके लिए कुछ अन्य विद्वानोके साथ डॉ० जे० जी० बूलरको भी नियुक्त किया था। १८६६ ई० में डॉ० बूलरने बर्लिन (जरमनी) पुस्तकालयके लिए पाँच सौ जैन ग्रन्थ खोजकर भेजे थे। उस समय सग्रहके रूपमें क्रय किये गए तथा भाण्डारकर शोध-सस्थानमें सुरक्षित उन सभी हस्तलिखित ग्रन्थोके विवरण व आवश्यक जानकारीके रूपमें १८३७–९८ ई० तक समय-समय पर भाण्डारकर, डॉ० बूलर, कीलहार्न, पीटर्सन और अन्य विद्वानोंकी रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्राच्यविद्या-जगत्‌में यह एक नया आयाम था, जिसने जैनधर्म व प्राकृत भाषा एव साहित्यकी ओर भारतीय व विदेशी विद्वानोका ध्यान आकृष्ट किया। स्वय डॉ० बूलरने १८८७ ई० में अपने शोध-कार्यके आधार पर जैनधर्मके सम्बन्धमें एक पुस्तक लिखी जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इसका अगरेजी अनुवाद सन् १९३० ई० में लन्दनसे 'द इण्डियन सेक्ट ऑव द जैन्स' नामसे प्रकाशित हुआ। इस पुस्तकमें डॉ० बूलरने स्पष्ट रूपसे निरूपित किया कि जैनधर्म भारतवर्षके बाहर अन्य देशोंमें भी गया था। इस धर्मका उद्देश्य सभी प्राणियोको मुक्ति प्रदान करना है।

जैनविद्याके महत्त्वपूर्ण अनुसन्धाताके रूपमें उल्लेखनीय विद्वान् वेबर है। बम्बईके शिक्षा-विभागसे अनुमति प्राप्त कर डॉ० बूलरने जिन पाँच सौ ग्रन्थोंको बर्लिन पुस्तकालयमें भेजा था, उनका अध्ययन व अनुशीलन कर वेबरने कई वर्षों तक परिश्रम कर भारतीय साहित्य (Indischen Studien) के रूपमें महान् ग्रन्थ १८८२ ई० मे प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ सत्रह जिल्दोमें निबद्ध है। यद्यपि 'कल्पसूत्र'का अंगरेजी अनुवाद १८४८ ई० में स्टीवेन्सन द्वारा प्रकाशित हो चुका था, किन्तु जैन आगम ग्रन्थोकी भाषा तथा साहित्यकी ओर तब तक विदेशी विद्वानोंका विशेष रूपसे झुकाव नही हुआ था। वेबरने इस साहित्य-

का विशेष महत्त्व प्रतिपादित कर १८५८ ई० में धनेश्वरसूरि कृत 'शत्रुञ्जय माहात्म्य' का सम्पादन कर विस्तृत भूमिका सहित प्रथम बार लिपजिग (जर्मनी) से प्रकाशित कराया। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ 'भगवतीसूत्र' जो शोध-कार्य वेबरने किया, वह चिरस्मरणीय माना जाता है। यह ग्रन्थ बर्लिनकी विसेन्चाफेन (Wissenchaften) अकादमीसे १८६६-६७ ई० मे मुद्रित हुआ था। वेबरने जैनोके धार्मिक साहित्यके विषयमें विस्तारसे लिखा था, जिसका अगरेजी अनुवाद-स्मिथने प्रकाशित किया था। विण्डिश ने अपने विश्वकोश (Encyclopedia of Indo-Aryan Research) मे तत्सम्बन्धी विस्तृत विवरण दिया है। इस प्रकार जैन विद्याओंके अध्ययनका सूत्रपात करनेवाला तथा शोध व अनुसन्धानकी दिशाओंको निर्दिष्ट करनेवाला विश्वका सर्वप्रथम अध्ययन-केन्द्र जर्मनमें विशेष रूपसे बर्लिन रहा है। होएफर, लास्सन, स्पीगल, फ्रेडरिक हेग, रिचर्ड पिशेल, वेबर, ई० ल्युमन, डॉ० हर्मन जेकोबी, डब्ल्यु० ब्लिटमन, वाल्टर शूब्रिंग, लुडविग ऑल्सडोर्फ, नार्मन ब्राउन, क्लास ब्रुहन, गुस्तेव रॉथ और डब्ल्यु० बी० बोल्ले इत्यादि जर्मन विद्वान् हैं।

प्राच्यविद्याओंकी भाँति जैनविद्याओका भी दूसरा महत्त्वपूर्ण अध्ययन-केन्द्र फ्रान्स था। फ्रासीसी विद्वानोमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय है—ग्युरिनाट। उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'एसे डि बिब्लियाग्राफि जैन' पेरिससे १९०६ मे प्रकाशित हुआ। इसमें विभिन्न जैन विषयोसे सम्बन्धित ८५२ प्रकाशनोके सन्दर्भ निहित है। 'जैनोका धर्म' (Religion Jains) पुस्तक उनकी पुस्तकोमे सर्वाधिक चर्चित रही। यथार्थमे फ्रासीसी विद्वान् विशेषकर ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक विषयोंपर शोध व अनुसन्धान-कार्य करते रहे। उन्होने इस दिशामें जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए, वे आज भी उल्लेखनीय हैं। ग्युरिनाटने जैन अभिलेखोके ऐतिहासिक महत्त्व पर विशेष रूपसे प्रकाश डाला है। उन्होने जैन ग्रन्थ-सूची-निर्माणके साथ ही उनपर टिप्पण तथा सग्रहोका भी विवरण प्रस्तुत किया था[1]। वास्तवमें साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अनुसन्धानमें ग्रन्थ-सूचियो का विशेष महत्त्व है। यद्यपि १८९७ ई० में जर्मन विद्वान् अर्नेस्ट ल्युमनने 'ए लिस्ट ऑव द मैन्युस्क्रिप्ट इन द लायब्रेरी एट स्ट्रासबर्ग", वियेना ओरियन्टल जर्नल, जिल्द ११, पृ० २७९ मे दो सौ हस्तलिखित दिगम्बर जैन ग्रन्थोका परिचय दिया था, किन्तु ग्युरिनाटके पश्चात् इस दिशामे क्लाट (Klatt) ने महान् कार्य किया था। उन्होंने जैन ग्रन्थोकी लगभग ११००-१२०० पृष्ठोमें मुद्रित होने योग्य अनुक्रमणिका तैयार की थी, किन्तु दुर्भाग्यसे उस कार्यके पूर्ण होनेके पूर्व ही उनका निधन हो गया। वेबर और अर्नेस्ट ल्युमनने 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' में उस बृहत् सकलनके लगभग ५५ पृष्ठ नमूनेके रूपमे मुद्रित कराये थे[2]। भारतवर्षमे इस प्रकारका कार्य सर्वप्रथम बगालकी एशियाटिक सोसायटीके माध्यमसे प्रकाशमें आया। १८७७ ई० राजेन्द्रलाल मित्रने "ए डिस्क्रिप्टिव केटलाग ऑव सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द लाइब्रेरी ऑव द एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल" कलकत्तासे प्रकाशित किया था, जिसमें कुछ प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रन्थो के नाम भी मिलते है। मुख्य रूपसे इस महत्त्वपूर्ण कार्यका प्रारम्भ इस देशमे भण्डारकरके प्रकाशित "लिस्ट् ऑव सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन द बाम्बे प्रेसीडेन्डी" ग्रन्थसे माना जाता है। इसी शृंखलामें सुपार्श्वदास गुप्त द्वारा सम्पादित "ए कैटलाग ऑव सस्कृत, प्राकृत एण्ड हिन्दी वर्क्स इन

---

१ 'द कन्ट्रिब्युशन ऑव फ्रेन्च एण्ड जर्मन स्कॉलर्स टू जैन स्टडीज", आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, कलकत्ता, १९६१, पृ० १६६।

२ गोपालनारायण बहुरा "जैनवाङ्मयके योरपीय सशोधक", पृ० ७४७-४८ मुनिश्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ।

द जैन सिद्धान्त भवन, आरा" (१९१९ ई०) एवं दलाल और लालचन्द्र भ० गांधी द्वारा सम्पादित "कैटलाग ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स इन जैसलमेर भाण्डाराज" गायकवाड ओ० सी०, बड़ौदा (१९२३ ई०), रायबहादुर हीरालाल, "केटलाग ऑव सस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द सी० पी० एण्ड बरार", नागपुर, १९२६ई० आदि उल्लेखनीय हैं। आधुनिकतम खोजोंके आधारपर इस दिशामे कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-सूचियोका निर्माण हुआ, जिनमें एच० डी० वेलणकरका "केटलाग ऑव प्राकृतिक मैन्युस्क्रिप्ट्स", जिल्द ३-४, बम्बई (१९३० ई०) तथा 'जिनरत्नकोश', पूना (१९४४ ई०), हीरालाल रसिकदास कापडिया का "डिस्क्रिप्टिव केटलाग ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द गवर्नमेण्ट मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी", भण्डारकर ओ० रि० इ०, पूना (१९५४ ई०), डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवालका "राजस्थानके जैन शास्त्र-भण्डारोकी ग्रन्थ-सूची", भा० १–५ तथा मुनि विजयजीके "ए केटलाग ऑव सस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द राजस्थान ओ० रि० इ० जोधपुर कलेक्शन" एव पुण्यविजयजीके पाटनके जैन भण्डारोंकी ग्रन्थ-सूचियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अपभ्रशके जैन ग्रन्थोकी प्रकाशित एव अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूचीके लिए लेखककी भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित पुस्तक "अपभ्रश भाषा और साहित्यकी शोध-प्रवृत्तियाँ" पठनीय है, जिसमे अपभ्रशमे सम्बन्धित सभी प्रकारका विवरण दिया गया है। वास्तवमें जरमन विद्वान् वाल्टर शुब्रिगने सर्वप्रथम जैन हस्तलिखित ग्रन्थोकी बृहत् सूची तैयार की थी जो १९४४ ई० मे लिपजिगसे प्रकाशित हुई और जिसमें ११२७ जैन हस्तलिखित ग्रन्थोका पूर्ण विवरण पाया जाता है। यह सबसे महत्त्व-पूर्ण कार्य माना जाता है। इस प्रकारके कार्योंसे ही शोध व अनुसन्धानकी दिशाएँ विभिन्न रूपोको ग्रहण कर सकी।

आधुनिक युगमे प्राकृतिक तथा अपभ्रश विषयक शोध-कार्य मुख्य रूपसे तीन धाराओमे प्रवाहित रहा है—(१) साहित्यिक अध्ययन, (२) सास्कृतिक अध्ययन और (३) भाषावैज्ञानिक अध्ययन। साहित्यिक अध्ययनके अन्तर्गत जैन-आगम-साहित्यका अध्ययन प्रमुख है। यह एक असन्दिग्ध तथ्य है कि आधुनिक युगमे जैनागमोका भलीभाँति अध्ययन कर उनको प्रकाशमे लानेका श्रेय जर्मन विद्वानोको है। यद्यपि सस्कृत के कतिपय जैन ग्रन्थोका अध्ययन उन्नीसवी शताब्दीके प्रारम्भमे होने लगा था, किन्तु प्राकृत तथा अपभ्रश साहित्यका सागोपाग अध्ययन डॉ० हर्मन जेकोबीसे आरम्भ होता है। डॉ० जेकोबीने कई प्राकृत जैन ग्रन्थो का सम्पादन कर उनपर महत्त्वपूर्ण टिप्पण लिखे। उन्होने सर्वप्रथम श्वेताम्बर जैनागम-ग्रन्थ' भगवतीसूत्र'का सम्पादन कर १८६८ ई० मे प्रकाशित किया[1]। तदुपरान्त 'कल्पसूत्र' (१८७९ ई०), "आचारागसूत्र" (१८८५ ई०) 'उत्तराध्ययनसूत्र' (१८८६ ई०) आदि ग्रन्थोपर शोध-कार्य कर सम्पादित किया। उसी समय साहित्यिक ग्रन्थोमे जैन कथाओकी ओर डॉ० जेकोबीका ध्यान गया। सन् १८९१ ई० में 'उपमितिभव-प्रपञ्चकथा' का सस्करण प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व 'कथासग्रह' १८८६ ई० मे प्रकाशित हो चुका था। 'पउमचरिय', 'णेमिणाहचरिउ' और 'सणयकुमारचरिउ' क्रमश १९१४, १९२१-२२ मे प्रकाशित हुए। इसी अध्ययनकी शृखलामें अपभ्रशका प्रमुख कथाकाव्य 'भविसयत्तकहा' का प्रकाशन सन् १९१८ मे प्रथम बार मचन (जरमनी) स हुआ। इस प्रकार जरमन विद्वानोके अथक प्रयत्न, परिश्रम तथा लगातार शोध-कार्योंमें सलग्न रहनेके परिणाम स्वरूप ही जैन विद्याओमें शोध व अनुसन्धानके नए आयाम उन्मुक्त हो सके हैं। ऑल्सडोर्फने 'कुमारपालप्रतिबोध' (१९२८ ई०), हरिवशपुराण (महापुराणके अन्तर्गत), (१९३६ ई०), उत्तराध्ययनसूत्र, मूलाचार, भगवतीआराधना (१९६८) आदि ग्रन्थोका सुसम्पादन कर प्राकृत तथा अपभ्रश साहित्य पर महान् कार्य किया। वाल्टर शुब्रिगने 'दसवेयालियसुत्त' का एक सुन्दर संस्करण तथा

१ एफ० विएर्सिगर जरमन इण्डोलॉजी पास्ट एण्ड प्रिजेन्ट, बम्बई, १९६९, पृ० २१।

अँगरेजी अनुवाद तैयार किया जो १९३२ में अहमदाबादसे प्रकाशित हुआ। उनके द्वारा ही सम्पादित 'इसिभासिय' भा० २ (१९४३ ई०) प्रकाशित हुए। शुब्रिंग और केल्लटके सम्पादनमें तीन छेदसूत्र "आयारदसाओ, ववहार और निसीह" (१९६६ ई०) हैम्बुर्गसे प्रकाशित हुए। इसी प्रकार जे० एफ० कोलका 'सूर्यप्रज्ञप्ति' (१९३७ ई०), डब्ल्यु० किफेलका 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' (१९३७ ई०), हम्मका 'गीयत्थ-विहार' (महानिशीथका छठा अध्ययन) (१९४८ ई०), क्लॉसका 'चउपन्नमहापुरिस चरिय' (१९५५ ई०), नॉर्मनका 'स्थानांगसूत्र'[1] (१९५६), ऑल्सडोर्फका 'इत्थिपरिन्ना' (१९५८ ई०), ए० उनोका 'प्रवचनसार' (१९६६ ई०), तथा टी० हनाकीका 'अनुयोगद्वारसूत्र' (१९७०) इत्यादि प्रकाशमें आये।[1] १९२५ ई० में किरफल (Kirfel) ने उपांग 'जीवाजीवाभिगम' के सम्बन्धमें प्रतिपादन कर यह बताया था कि वस्तुतः यह 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' से सम्बद्ध है। सन् १९२६ में वाल्टर शुब्रिंगने अपनी पुस्तक 'वोर्त महावीराज' के परिचयमें जैनागमोंके उद्भव व विकासके साथ ही उनका साहित्यिक मूल्यांकन भी किया था। सन १९२९ में हैम्बुर्गसे काम्पत्ज (Kamptz) ने आगमिक प्रकीर्णकोंको लेकर शोधोपाधि हेतु अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर डॉक्टरेट प्राप्त की थी[2]। जैनागमके टीका-साहित्य पर सर्वेक्षणका कार्य अर्नेस्ट ल्युमनने बहुत ही परिश्रमपूर्वक किया था, किन्तु वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। अनन्तर "ओवेरश्चिट् ओवेर दि आवश्यक लिटरेचर" के रूपमें उसे वाल्टर शुब्रिंगने १९३४ ई० में हम्बर्गसे प्रकाशित किया। इस प्रकार जैनागम तथा जैन साहित्यकी शोध-परम्पराके पुरस्कर्ता जरमन विद्वान् रहे हैं। आज भी वहाँ शोध व अनुसन्धानका कार्य गतिमान है। सन् १९३५ में फेडेगन (Faddegon) ने सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्दके 'प्रवचनसार' का अंगरेजी अनुवाद किया था। इस संस्करणकी विशेषता यह है कि आचार्य अमृतचन्द्रकी 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका, व्याख्या व टिप्पणोंसे यह समलंकृत है।[3] ऐसे अनुवादोंकी कमी आज बहुत खटक रही है। इस तरहके प्रकाशनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये। वर्तमान युगमें सम्यक् भाव-बोधके लिए सम्यक् दिशामें सम्यक् कार्य होना नितान्त अपेक्षित है।

साहित्यिक विधाओंमें जैन कथा-साहित्य पर सर्वप्रथम डॉ० जेकोबीने प्रकाश डाला था। इस दिशा-में प्रमुख रूपसे अर्नेस्ट ल्युमनने पादलिप्तसूरिकी 'तरंगवतीकथा' का जर्मन भाषामें सुन्दर अनुवाद 'दाइ नोन' (Die Nonne) के नामसे १९३१ ई० में प्रकाशित किया था। तदनन्तर हर्टेलने जैन कथाओंपर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। क्लास ब्रुहनने "शीलांकके चउपन्नमहापुरिसचरिय" पर शोधोपाधि प्राप्त कर सन् १९५४ में उसे हैम्बुर्गमें प्रकाशित किया। आर० विलियम्सने 'मणिपतिचरित' के दो रूपोंको प्रस्तुत कर मूल ग्रन्थका अंगरेजी अनुवाद किया। इस तरह समय-समय पर जैन कथा-साहित्य पर शोध-कार्य होता रहा है।

जैनदर्शनके अध्ययनकी परम्परा हमारी जानकारीके अनुसार आधुनिक कालमें अल्ब्रेख्त वेबरके 'फ्रेगमेन्ट आव भगवती' के प्रकाशनसे १८६७ ई० से मानना चाहिए। कदाचित् एच० एच० विल्सनने "ए स्केच ऑव द रिलीजियस सेक्ट्स ऑव द हिन्दूज" (जिल्द १, लन्दन, १८६२ ई०) पुस्तकमें जैनधर्म तथा जैनदर्शनका उल्लेख किया था। किन्तु उस समय तक यही माना जाता था कि जैनधर्म हिन्दूधर्मकी एक शाखा है। किन्तु वेबर, जेकोबी, ग्लासनेप आदि जरमन विद्वानोंके शोध व अनुसन्धान-कार्योंसे यह तथ्य निश्चित व स्थिर हो गया कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र दर्शन व मौलिक परम्परा है। इस दृष्टिसे डॉ०

१ संस्कृत एण्ड एलाइड इण्डोलॉजिकल स्टडीज इन यूरोप, १९५६, पृ० ६६।

२ प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना यूनिवर्सिटी, १९७०, पृ० २१०

३ वही, पृ० १११।

हेल्मुथ वान ग्लासनेपकी पुस्तक "द डाक्ट्रीन ऑव कर्मन इन जैन फिलासफी" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो सन् १९४२ में बम्बईसे प्रकाशित हुई थी। ऐतिहासिक दृष्टिसे जीकर और स्मिथके कार्य विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। एफ० डब्ल्यू० थॉमसने आ० हेमचन्द्र कृत 'स्याद्वादमंजरी' का बहुत सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद अनुवाद किया जो १९६० ई० में बर्लिनसे प्रकाशित हुआ। १९६३ ई० में आर० विलियम्सने स्वतन्त्र रूपसे 'जैनयोग' पर पुस्तक लिखी जो १९६३ ई० में लन्दनसे प्रकाशित हुई। कोलेट केल्लटने जैनोंके श्रावक तथा मुनि आचार विषयक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक "लेस एक्सपिएशन्स डान्स ले रिचुअल एन्शियन डेस रिलिजियक्स जैन" लिखकर १९६५ ई० में पेरिससे प्रकाशित की। वास्तवमें इन सब विषयों पर इस लघु निबन्धमें लिख पाना सम्भव नही है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि परमाणुवादसे लेकर वनस्पति, रसायन आदि विविध विषयोंका जैनागमोंमें जहाँ-कहीं उल्लेख हुआ है, उनको ध्यानमें रखकर विभिन्न विद्वानोंने पत्र-पत्रिकाओके साथ ही विश्वकोशोंमें भी उनका विवरण देकर शोध व अनुसन्धानकी दिशाओको प्रशस्त किया है। उनमेसे जैनोके दिगम्बर साहित्य व दर्शन पर जर्मनी विद्वान् वाल्टर डेनेके (Walter Denecke) ने अपने शोध-प्रबन्धमें दिगम्बर आगमिक ग्रन्थोंका भाषा व विषयवस्तु दोनो रूपोंमें पर्यालोचन किया था। उनका प्रबन्ध सन् १९२३ में हैम्बुर्गसे "दिगम्बर-टेक्स्टे ईने दर्शतेलुग इहरेर स्प्राख उन्ड इहरेस इन्हाल्ट्स" के नामसे प्रकाशित हुआ था।[1]

भारतीय विद्वानोमें डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन, पं० बेचरदास दोशी, डॉ० प्रबोध पण्डित, सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र, सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्र, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, प० सुखलाल सघवी, प० दलसुख भाई मालवणिया, डॉ० राजाराम जैन, डॉ० एच० सी० भायाणी, डॉ० के० आर० चन्द्र, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, डॉ० प्रेमसुमन और लेखकके नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० उपाध्येने एक दर्जन प्राकृत ग्रन्थोका सम्पादन कर कीर्तिमान स्थापित किया। अपभ्रशके 'परमात्मप्रकाश' का सम्पादन आपने ही किया। 'प्रवचनसार' और 'तिलोयपण्णत्ति' जैसे ग्रन्थोके सफल सम्पादनका श्रेय आपको है। साहित्यिक तथा दार्शनिक—दोनो प्रकारके ग्रन्थोंका आपने सुन्दर सम्पादन किया। आचार्य सिद्धसेनके 'सन्मतिसूत्र' का भी सुन्दर सस्करण आपने प्रस्तुत किया, जो बम्बईसे प्रकाशित हुआ। प्राच्य-विद्याओके क्षेत्रमे आपका मौलिक एव अभूतपूर्व योगदान रहा है। डॉ० हीरालाल जैन और सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थ धवला, जयधवला आदिका सम्पादन व अनुवाद कर उसे जनसुलभ बनाया। अपभ्रश ग्रन्थोको प्रकाशमें लानेका श्रेय डॉ० हीरालाल जैन, पी० एल० वैद्य, डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, प० परमानन्द शास्त्री, डॉ० राजाराम जैन, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन और डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्रीको है[2]। प० परमानन्द जैन शास्त्रीके 'जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-सग्रह' के पूर्व तक अपभ्रशकी लगभग २५ रचनाओका पता चलता था, किन्तु उनके प्रशस्ति-सग्रह प्रकाशित होनेसे १२६ रचनाएँ प्रकाशमें आ गई। लेखक ने "अपभ्रश भाषा और साहित्यकी शोध-प्रवृत्तियाँ" में अपभ्रशके अज्ञात एवं अप्रकाशित ग्रन्थोंके अश उद्धृत कर लगभग चारसौ अपभ्रशके ग्रन्थोको प्रकाशित कर दिया है। जिन अज्ञात व अप्रकाशित रचनाओको पुस्तकमें सम्मिलित नही किया गया, उनमेंसे कुछ नाम हैं

१. शीतलनाथकथा (श्री दि० जैन मन्दिर, घियामडी, मथुरा), २. रविवासरकथा—मधु (श्री दि०

१ "प्राकृत स्टडीज आउटसाइड इण्डिया (१९२०-६९)" एस० डी० लद्दू, प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना युनिवर्सिटी, १९७०, पृ० २०९।

२. डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री अपभ्रश भाषा और साहित्यकी शोध-प्रवृत्तियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, १९७२।

जैन मन्दिर, कामा), ३ आदित्यवारकथा—अर्जुन (श्री दि० जैन पचायती मन्दिर, दिल्ली)। इनके अतिरिक्त ईडर व नागौरके भण्डारोंमें पाए जानेवाले कुछ महत्त्वपूर्ण अपभ्रश रचनाओकी भी जानकारी मिली है। उन सबको मिलाकर आज अपभ्रश-साहित्यकी छोटी-बड़ी रचनाओको मिलाकर उसकी सख्या पाँच सौ तक पहुँच गई है। शोध व अनुसन्धानकी दिशाओमें आज एक बहुत बडा क्षेत्र विद्वानोंकी राह जोह रहा है। शोध कार्यकी कमी नहीं है, श्रमपूर्वक कार्य करनेवाले विद्वानोंकी कमी है।

विगत तीन दशकोमें जहाँ प्राकृत व्याकरणोंके कई सस्करण प्रकाशित हुए, वहो रिचर्ड पिशेल, सिल्वालेवी और डॉ० कीथके अन्तर्निरीक्षणके परिणामस्वरूप सस्कृत नाटकोमें प्राकृतका महत्त्वपूर्ण योग प्रस्थापित हुआ। आर० श्मितने शौरसेनी प्राकृतके सम्बन्धमें उसके नियमोका (एलीमेन्टरबुख देर शौरसेनी, हनोवर, १९२४), जार्ज ग्रियर्सनने पैशाची प्राकृतका, डॉ० जेकोबी तथा ऑल्सडोर्फने महाराष्ट्री तथा जैन महाराष्ट्रीका और डब्ल्यु० ई० क्ककने मागधी और अर्द्धमागधीका एव ए० बनर्जी और शास्त्रीने मागधीका (द एवोल्युशन ऑव मागधी, आक्सफोर्ड, १९२२) विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया था। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे निति डोल्चीका विद्वत्तापूर्ण कार्य, 'लेस ग्रैमेरियन्स प्राकृत्स' (पेरिस, १९३८) प्राय सभी भाषिक अगो पर प्रकाश डालनेवाला है। निति डोल्चीने पुरुषोत्तमके 'प्राकृतानुशासन' (पेरिस, १९३८) तथा रामशर्मन् तर्कवागीशके 'प्राकृतकल्पतरु' (पेरिस, १९३९) का सुन्दर सस्करण तैयार कर फ्रासीसी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया। व्याकरणकी दृष्टिसे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य रिचर्ड पिशेलका 'ग्रैमेटिक देअर प्राकृत-स्प्राखन' अद्भुत माना जाता है, जिसका प्रकाशन १९०० ई० में स्ट्रासबर्गसे हुआ।

इधर भाषाविज्ञानको कई नवीन प्रवृत्तियोका जन्म तथा विकास हुआ। परिणामत भाषाशास्त्रके विभिन्न आयामोका प्रकाशन हुआ। उनमें ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान तथा शब्दव्युत्पत्ति व शब्दकोशीय अध्ययन प्रमुख कहे जाते हैं। ध्वनिविज्ञान विषयक अध्ययन करनेवालोमें 'मिडिल इण्डो-आर्यन' के उपसर्ग, प्रत्यय, ध्वनिविषयक पद्धति तथा भाषिक उच्चारो आदिका विश्लेषण किया गया। इस प्रकार के अध्ययन करनेवालोमें प्रमुख रूपसे आर० एल० टर्नर, एल० ए० स्वार्ज्स चाइल्ड, जार्ज एस० लेन, के० आर० नॉर्मनके नाम लिए जा सकते हैं।

एल० ऑल्सडोर्फके नव्य भारतीय आर्य-भाषाओके उद्गम पर बहुत अच्छा अध्ययन किया जो रूप-रचना विषयक है। लुइस एच० ग्रेने "आब्जर्वेशन्स आन मिडिल इण्डियन मार्फोलॉजी" (बुलेटिन स्कूल ऑव ओरियन्टल स्टडीज, लन्दन, जिल्द ८, पृ० ५६३-७७, सन् १९३५-३७) मे सस्कृत व वैदिक सस्कृतके रूप-सादृश्योंको ध्यानमें रखकर उनकी समानता व कार्योका विश्लेषण किया है। इस भाषावैज्ञानिक शाखा पर कार्य करनेवाले उल्लेखनीय विद्वानो व भाषाशास्त्रियोके नाम हैं—ज्यूल ब्लॉख, एडजर्टन, ए० स्वार्ज्स चाइल्ड, के० आर० नॉर्मन, एस० एन० घोषाल, डॉ० के० डेव्रीस

वाक्य-विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययन करनेवाले विद्वानोमें मुख्य रूपसे डॉ० ऑल्सडोर्फ, डॉ० के० डेव्रीस, एच० हेन्ड्रिकसेन, पिसानी आदिके नाम उल्लेखनीय हैं[1]। इस अध्ययनके परिणामस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशमें आए। एच० हेन्ड्रिकसेनने अपने एक लेख "ए सिन्टेक्टिक रूल इन पालि एण्ड अर्द्धमागधी" में कृदन्त-रूपोके प्रयोगकी वृद्धिगत पाँच अवस्थाओका उद्घाटन किया है[2]। के० अमृतराव, डॉ० के० डेव्रीस, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, कुइपर आदिने प्राकृत पर द्रविड तथा अन्य आर्येतर भाषाओके प्रभावका अध्ययन किया।

---

१ प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना युनिवर्सिटी, १९७०, पृ० २२३।

२. वही, पृ० २३।

भाषाकोशीय तथा व्युत्पत्तिमूलक अध्ययनकी दृष्टिसे डब्ल्यु० एल० ब्राउनका अध्ययन महत्त्वपूर्ण माना जाता है जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत-महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंशके सम्बन्धमें सन् १९३२ में कोशीय टिप्पणियाँ लिखी थी और सन् १९३५ ई० में 'गौरीशंकर ओझा स्मृतिग्रन्थ' में 'सम लेक्सिकल मटेरियल इन जैन महाराष्ट्री प्राकृत' निबन्धमें श्रीरदेवगणिन्के 'महीपालचरित' से शब्दकोशीय विवरण प्रस्तुत किया था। ग्रेने अपने शोधपूर्ण निबन्धमें जो कि "फिफ्टीन प्राकृत-इण्डो-युरोपियन एटिमोलाजीज" शीर्षकसे जर्नल ऑव द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी (६०, ३६१–६९) में सन् १९४० में प्रकाशित हुआ था। यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया था कि प्राकृतके कुछ शब्द भारोपीय परिवारके विदेशी शब्द हैं। कोल, जे० ब्लॉख, आर० एल० टर्नर, गुस्तेव रॉथ, कुइपर, के० आर० नॉर्मन, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि भाषावैज्ञानिकोने शब्द-व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे पर्याप्त अनुशीलन किया। वाकरनागलने प्राकृतके शब्दोंका व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे अच्छा अध्ययन किया।

इसी प्रकार संस्कृत पर प्राकृतका प्रभाव दर्शानेवाले निबन्ध भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। उनमेंसे गाइगर स्मृति-ग्रन्थमें प्रकाशित एच० ओरटेलका निबन्ध 'प्राकृतिसिज्म इन छान्दोग्योपनिषद्' (लिपजिग, १९३१) तथा ए० सी० वूलनरके "प्राकृतिक एण्ड नान-आर्यन स्ट्रेटा इन द वाकेबुलरी ऑव संस्कृत" (आशुतोष मेमोरियल वाल्युम, पटना, १९२८), जे० ब्लॉखके कई निबन्ध और एमेन्युके निबन्ध "द डायलेक्ट्स ऑव इण्डो-आर्यन", "सम क्लियर एवीडेन्स ऑव प्राकृतिसिज्म इन पाणिनि" महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं[१]।

इनके अतिरिक्त प्राकृत भाषाके उच्चारण आदिके सम्बन्धमें तथा ध्वन्यात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे डॉ० ग्रियर्सन, स्वार्त्सचाइल्ड तथा एमेन्यु आदिका अध्ययन-विश्लेषण आज भी महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश करनेवाला है। इस प्रकार भाषा-विज्ञानकी विभिन्न शाखाओं तथा उनकी विविध प्रवृत्तियोंके मूलगत स्वरूप के अध्ययनकी दृष्टिसे भी मध्यभारतीय आर्यभाषाओं और विशेषकर प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओंका आज भी विशेष अध्ययन विशेष रूपसे उपयोगी एवं भाषा-भाषिक संसारमें कई नवीन तथ्योंको प्रकट करनेवाला है। इस दृष्टिसे इन भाषाओंका बहुत कम अध्ययन हुआ है। इतना अवश्य है कि यह दिशा आज भी शोध व अनुसन्धानकी दृष्टिसे समृद्ध तथा नवीन आयामोंको उद्घाटित कर सकती है। यदि हमारी युवा पीढी इस ओर उन्मुख होकर विशेष श्रम तथा अनुशीलन करे, तो सांस्कृतिक अध्ययनके नवीन क्षितिजोंको पारकर स्वर्णिम विहान लाया जा सकता है।

१ प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, १९७०, पृ० २२५-२२६।

The Jaina Conception of Logic : Some Comments*

Prof. M.P. Marathe, Poona University

When one begins to investigate the Jaina Conception of Logic and methodology, a two-fold task seems to invite one's attention (a) to spell out suggestions of the Jaina Logical Analysis for formal studies of conceptual and methodological framework, and (b) to bring out some important hints of the Jaina investigations towards conceptual foundations of social sciences-especially the Jaina Action Theory and analysis of the concept of action it offers A detailed account and analysis of both these issues is a matter for a monograph on the subject We do not wish to embark upon such a massive investigation here. Instead we wish to highlight some useful hints important in the study of the kind

Background Remarks

In any methodological and/or conceptual investigation into Jaina thought certain problems and issues need to be clearly formulated. For, a clearer formulation and understanding of them is likely to help us in more than one way in a methodological study It is no use neglecting paying due attention to them on the ground that they are either too general or perhaps ambiguosly considered Some of them are : (1) The Jaina view seems to be bipolar in its perspective–*Darśana* (Philosophy) and *Dharma* (way of life) It needs to be investigated how far, deep and wide this bipolarity is A study of this kind is likely to shed some light on the Jaina Action Theory, granting that it has one (2) : Jainism does not accept the world to be merely permanent but benefit of change Nor does it take the world to be merely changing but lacking permanence It rather accepts change and continuity both to be important features of the world It needs to be examined whether they are considered to be structural features of the world or functional ones and the possible grounds of considering the case to be so need to be spelt out Moreover, implications of the acceptable view need to be brought out (3) Jainism accepts two main kinds of reals · *Jiva* (living) and *Ajiva* (non-living) It needs to be studied whether these kinds are merely commonsensical or whether they really are non-discontinous and independent ones Likewise, the grounds of their being taken to be so need to be explained and examined. (4) It also

*Substantial part of this paper, under the same title, was presented to the Einstein Seminar on 'Jain Logic and Philosophy of Science' organized by the Department of Philosophy, University of Poona in April, 1979.

needs to be considered whether both *Jiva* and *Ajiva* are real in the same sense, whether both of them are rightly capable of being charaterised by Utpada (emergence), vyaya (degeneration/decay) and Dharawvya (continuity) and if so on what ground/s. Similarly it needs to be studied whether both of them have spatiality and/or temporality and that too in the same sense Consideration of problems of this kind, it needs to be noted, has an important bearing even on methodological and conceptual investigations (5) It is often held that *Anekantavada* and/or *Nayaada* bring forth plurality of perspectives But it is of great significance to explicate how and why subscription to plurality of perspectives is both methodoligically and conceptually rewarding It also needs to be considered whether and to what extent the different perspectives are consistent with one another Their consisteney needs to be established, not merely to be assumed (6) Ahimsa is said to be a structural principle of social organization. It also is said to emphasize the need of co-existence rather than of competition But it needs to be brought out whether it was accepted as a policy or ideology or out of some other pressing need action-theoretic or otherwise. (7) Regarding *Syadvada* it is held that it establishes compatibility of various statements But compatibility, cotenability, consistency etc are logical issues and it needs to be shown that the propositions under consideration are logically compatible, cotenable, consistent etc We should not elevate our policy of academic accommodatinity or even methodological helplessness to the level of consistency (8) It is claimed that *Svadvada, Anekantavada and Nayavada have important* bearings of conceptual and methodological significance upon oneanother. This needs to be spelt out and the issues involved, at least, need to be stated as clearly and as precisely as possible We do not wish to add more points on this count The points are made here with the intention of bringing them to the notice of persons concerned with methodological investigations.

The Jaina logical and methodological investigation has three principal pillars. *Syadvada* or *Saptabhangi*, *Nayavada* and *Anekantavada* Some remarks seem to be in order before we proceed, although in our comments we wish to continue attention only to some issues On the Jaina view, number of things are real and each one of them has number of dispositions (*Paryayas*) and properties (*Gunas*), some of which decay and vanish in course of time but some others emerge through course of time Neither all the things nor their dispositions and properties–even all the dispositions and properties of any one of them–are given simultaneously This situation brings forth number of issues (1) Are the various things said to be real or existent in the same sense ? That is, can they be captured as values of the same kind of bound variable ? If this is neither feasible nor defensible, then, does Jainism assume starata of reals ? If so, on what basis ? If, on the contrary, they could be said to be values of the same kind of bound variables, would this be consistent and defensible ? (2) If the dispositions and properties of a thing emerge in course of time and if they are not given simultaneously then this brings in an important distinction between potential and actual How does Jaina thought account for it ? Likewise, if some things emerge later

in course of time then that brings in the distinction between actual and possible Does Jaina account turn out to be saitsfactory and consistent on this count ? (3) It is claimed that a thing has, as pointed out above, dispositions and properties The question that arises is : are they the structural features of things ? What is the ground to say so ? Are such structural features too destroyed and if they are, would a certain thing be that even while its structural features are destroyed ? Basically, questions of the kind we have mentioned here figure in the Jaina ontological investigation, no matter whether the real that is considered is Jiva or Ajiva But they are not free from having impart on methodological inquiry as well

Syadvada or Saptabhangi

Syadvada or Saptabhangi is a theory that raises host of methodological and/or conceptual issues, and we wish to draw attention to some of them (1) It is often said that *Syadvada* is more a matter of language and expression rather than of knowledge and ontology But it is also said that *'Syat'* means *Anekanta* and *Anekanta* is explicitly ontological and epistemological Hence, the justifiability of the former claim needs to be examined (2) The notion of *'bhango'* needs to be analysed properly in order to point out whether it means modility or a type of proposition of anything else as also to show whether and if yes on what ground, some of the *'bhangas'* are basic and others are derivative An examination and analysis of this kind, further, needs to be shown to be consistent with the doctrine of *Syadvada*. (3) It needs to be explored whether and how far possibilistic claims have a bearing on the Jaina distinction between *Jiva* and *Ajiva*, for such claims have a principal point where a contest between actually real and an hypothetically possible prevails It needs to be brought out, through examination of the Jaina theory of reality, whether the Jaina view expects to augment the realm of what is or what does happen by what can or what might happen Such hypothetical reach lack an objective foundation in the existential order and they cease to be independently of conceiving mind Are some of the reals then, considered to be mind-dependent, or at least thonght-dependent ? Is this contention an intended or an unintended consequence of the theory ? For, the claim 'x' is possible but not actual may be understood propositionally or ontologically In the latter case it raises the question of the exis-tential status of what is asserted by propositions Further, ontological issues regarding possibility are those posed by modality of *de re* type. But unactualized possibiles do not belong to the real world though they can be conceived, entertained Thus they exist not unqualifiedly but in a realtivised manner, as objects of certain intellectual processes The possible, albeit unrealized, states of affairs or things obtain an ontological footing. That is, they can be said to exist appropriately in so far as they lie within *generie* province of minds which conceive them. The analysis of the concept demands reference to workings of mind It, at least, demands reference to thought process. The question is have the Jaina thinkers to say something of this kind ? Possibilities could be said to be mind-dependent as the essential purport of the very conception of possibility is mind-

involving, as unrealized possibilities can only be imagnined, supposed, but not handled, seen or located. Hypothetical possibilities are mind involving not by way of their internal and constitutive properties but by way of external and regulative facts about them. The very distinction between actual and hypothetically possible ceases to be operative in a mindless world This is, perhaps how the distinction seems to bear on that between Jiva and Ajiva unless of course the distinct on is very common-sensical and naive or linguistic. The domain of the possible is a realm that is accessible to intellgeing organisms alone The robust realism of physical objects just will not extend into the area of the hypothetical. The existential objectivity and autonomy of the real world does not underwrite that of the hypothetical possibility. The distinction between hypothetical real and actual real may in a sense remind us of the distinction between attribution of a property to and possessing a property by a thing The conditions of possibility seem to exceed the bounds and limits of factuality, the former being anchored in conceivability Do, thus, Jainas mean to hold that reality of certain possible states of affairs resides in the reality of possibility-involving process ? Construction of verbal expressions and assumption of either their reference or existense of reference are quite different and the former does not entail the latter When possibility of a thing is its only reality, this reality inheres in a possibilistic intellectual process and here actuality (of intellectual process) is prior to possibility as its conceivability Dependence of unrealized possibilities of language seems to give them objective ontological foothold This is how 'possibility existed but nobody thought of it at the time' (*Syat asti avaktavyah*) or 'there are possibilities no one will ever conceive of' (*Syat avaktavyah*) would make sense Actuality is prior to potentiality or even to possibility in an important sense But possibility of a thing is posterior to possibility of a process or of a thought-conceptual possibility But substantive possibility is conceptually consequent upon functional possibility, and functional possibility of this kind is a contingent possibility Even if existential possibility is a hard care, it should be grounded in the former Perhaps, unrealized possibility is identified by defining description while existential possibility by ostensive process By way of individuation, however, the former is descriptively incomplete Unrealized possibilities exist merely as actual potential objects of thought They cannot be picked nor can they be identified in this world The question is is something of this kind that jainas want to uphold ? It needs to be investigated But so understood, Jainism turns out to be a conceptualist view where to be is to be conceived Hence, to say that 'Something is possible but not conceived' is viable, but 'something is possible but not conveivable' is not (4) Consider another issue It is too well-known that Jainism accepts rebirth. The question is does this raise a problem of transmundane identity ? At least of transmundane sameness ? Intramundane and transmundane identifications are not the same, though there are obvious similarities between the two For, in both identifications are made within some context and for some purpose. There is, however, a difference Intramundane identifications apply to commensurable objects, but transmundane

identifications to incommensurable objects. Is Jainism aware of this ? This could perhaps be taken to be an unintended consequence of the theory But it needs to be established that such in fact in the case Further, two incompatible proportions are incommensurable but not conversely Two objects are, on the contrary, incommensurable if and only if they ary correctly described by two incommensurable propositions In transmundane identification of incommensurable objects belonging to different possible worlds their differences seem purposefully to be ignored Does Jainism do something of this kind-say for being able to uphold its doctrine of *Moksa* ? Moreover, transmundane identification seems to bring in relative essentialism, an outcome of moderate progmatism Does Jainism subscribe to relative essentialism and in consequence also to moderate progmatism ? Was this, again, intended or unintended consequence of the theory ? What ground is there to hold whatever view that seems plausible ? Has this further any connection with *Ahinsa* brought into epistemology and logic from social theory ? For, toleration of views might pass for academic accomodation but that can hardly be taken to be the ground for their contenability. Even if transmundane interrepresentability relation is admitted this does not lead to identity of objects But then did Jainism conture between transmundane interepresentability with identity ? If so, the confusion, however unintended, is inexcusable For while transmundane interrepresentability is a teleological and non-logical relation between incommensurable individuals, identity is a non-teleological and logical relation

Now, take two statements (1) necessarily everything is identical with itself $x = x$ or $\Box (Vx) (x = x)$ and (2) the given thing is identical with itself $e = e$—Even if $e = m$ holds, it is a contingent fact and hence the argument $\Box\ e = e$

$m = e \ / \quad \Box\ m = e$

is clearly invalid Moreover, representability relation and its cognates relate not only synchronic objects but also diachronic objects Is this what seeme to have misted Jainas ? Again, diachronic objects lead to the formulation of attributes which characterise objects changeable in more than one way Is this what led Jainas to talk in terms of alternative number of ways in which a thing can change ? What is the evidence for saying so ? (5) Lastly, to hold that objects have some of their properties exsentially while others contingently leads to the thesis that some objects exist in more than one possible world This, is turn, also leads to the fact that there is no reason to hold that objects exist only in one world The thesis that every object has every property essentially is a theory of world-bound individuals along with the counter part theory as a version of it Jainism does not seem to hold that every object has every property essentially But every object has every property essentially, But then does Jainism accept the theory of world-bound individuals ? If so, is such a theory methodologically thenable ?

Many issues of this kind crowd the head of an investigator intending to undertake methodological examination of some of the important Jaina theories and their

statements. To the extent to which they have not been resolved, it is very difficult to say in advance anything pertaining to the role of the Jaina logical analysis for formal studies of conceptual framework as also of its implications for social sciences-espesially action theory and analysis of conception of action. Earlier, we start realising and attempting to answer problems of this kind the better; otherwise there seems to be no way of getting out of the cobweb of confusions.

लेखसार

तर्कशास्त्र सम्बन्धी जैन धारणायें : कुछ विचार

डा० एम० पी० मराठे, पूना विश्वविद्यालय

तर्कशास्त्रसे सम्बन्धित जैन धारणाओंपर विचार करनेपर दो महत्त्वपूर्ण बातोंपर ध्यान जाता है जैन धारणाओ एव विधाओका तार्किक विश्लेषण और कर्मवादके समान समाज-विज्ञानोंकी मौलिकताके विषयमें अनुसन्धान। इन्ही विषयोसे सम्बन्धित कुछ विचार इस निबन्धमें दिये गये हैं।

जैन विचारधाराका अध्ययन करनेपर अनेक समस्याओंपर ध्यान जाता है। सर्वप्रथम तथ्य तो यह है कि यह विचारधारा दर्शन और धर्मके रूपमें द्विध्रुवी है। इस द्वि-ध्रुवताका क्षेत्र क्या है, इसका अध्ययन आवश्यक है जैनदर्शन विश्वको ध्रुवपर परिवर्तनशील मानता है। क्या यह धारणा विश्वकी रचनासे सम्बन्धित है या विश्वकी क्रियात्मकतासे सम्बन्धित है? जैन मान्यता जीव और अजीव तत्वोंको स्वीकार करती है। क्या ये दोनो तत्व व्यावहारिक दृष्टिसे माने गये हैं और क्या ये दोनों ही सन्तत और स्वतन्त्र द्रव्य हैं? इन मान्यताओका आधार क्या है? इनकी वास्तविकताका आधार क्या है? अनेकान्त वादके रूपमें दृष्टियोकी विविधताकी स्वीकृति कितनी तर्कसगत है? ये दृष्टिकोण एक-दूसरेसे कितनी सीमातक सगत हो सकते हैं? अहिंसाका सिद्धान्त जैनदर्शनका मूल आधार है। इस विषयमें यह जानना आवश्यक है कि इस आदर्शकी धारणा क्या आदर्शके लिये स्वीकृत की गई थी या कर्म-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठाके लिये? स्याद्वादकी मान्यता विभिन्न तथ्योको सगत एव सहावस्थानके लिये स्वीकृत की गई है। पर क्या ये तथ्य तार्किक दृष्टिसे भी सम्भव हैं? इसी प्रकार, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद और नयवादको तत्वविद्याके लिये आवश्यक अग बताया जाता है। इसपर गम्भीरता पूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है। लेखकने इन्ही कुछ प्रश्नोको लेकर अपने विचार प्रकट किये हैं जो मननीय हैं। लेखकने अपने तीक्ष्ण चिन्तनके आधारपर जैन तर्कशास्त्रकी कुछ विसगतियोपर प्रकाश डाला है जिनका निराकरण और सशोधन गहन अध्ययनके बिना सम्भव नही है।

●

Jiva and Ajiva

Dr S. S. Barlingey, Poona University

Jain philosophers talk of Jiva and Ajiva. Is it a division, a category distinction or an abstraction ? Do Jiva and Ajiva exclude each other ? Or are they abstractions from experience, and so just the concepts and not existents ?

Before we proceed further it may be pointed out that it was the custom in ancient India to give a list of concepts but the list was not necessarily exclusive and several concepts mentioned in the list were over-lapping. The Vaiśesikas mention nine Dravyas-the Mahābhūtas, the space and time and Manas and Ātman It is difficult to assume that space and time and the Bhūtas exist independently of one another and that they are not overlapping It is difficult to imagine Pṛthivi, Āp, Tejas, Vāyu or Ākāśa without spatial or temporal dimension I understand that when the Vaiśesikas gave this list they treated Pṛthivi, Āp etc., as also their forms, space and time as belonging to one list of investigations. The Jains similarly could give a list of what is traditionally known as Jain padārthas (Jainas called them Dravyas) and amongst them could be Jiva and Ajiva

If we look at experience at a macroscopic level it will be clear that the world consists of Jiva or the animate and things different from Jiva or the inanimate This is the case of a division of the world on a certain principle, fundamentum divisonis Such division would not suggest that the life or Jiva has no spatiotemporal aspects, nor would it suggest that it has no material aspects. It would, e. g, be possible to imagine two kinds of matter one having life and the other without life This is what is, for example, said in the Caraka-Saṁhitā But on such a division, the living and the non-living things or substances will both have some common properties which are spatio temporal For, whether something is living or non-living, it would primarily be material and located in space and would be just real, one that can be experienced

Sometimes, however, we may classify our experience into Life and otherwise and such a classification would easily be ambiguous, for, one could mean by it either the classification of real things or we could mean by it a classification of concepts a case of mere abstraction. It is further possible that we might confuse between the division of things and classification of concepts and in that case we might be doing what is known as abstraction but thinking that we are dividing (or classifying) the things in the world. In this case the confusion would arise due to the fact that we would be treating concepts and things on par, the images of things and concepts succeeding each other in such a quick succesion that one is mistaken for the other.

When Descartes, e. g., thought of extention and consciousness as substances he was, as Spinoza later suggested, talking of attributes or was merely abstracting, i. e, distinguishing extentional and consciousness aspects of experience, but was thinking that he was dividing (or classifying) the substances, into two. But dividing substance having extension into living and non–living substances is quite different from classifying the concepts of extension and consciousness (without extension) and then thinking that consciousness without extension was one kind of substance and extension was another kind of substance. In experience we do come across the living beings and nonliving things But however minute a living being may be our experience always tells us that it is always determined by extension. That we are not able to see the extension of it by our naked eyes, does not prove that there is no extension determining these substances. One has to admit that the language Aṇoh Aṇiyān etc. is the language of extension or space The problem which arises here is that how there can be a Saṁyoga–external contact between something that is extensional and something that is extensionless People of various schools including Jainism must have noticed this difficulty and that is why the concept of Liṅga-Deha or Kāraṇa-Deha must have been introduced It goes without saying that Deha suggests that although consciousness was different from body, it still had extension. But if this is admitted it is a tacit admission of the fact that the division Jīva and Ajīva was a division of matter, i e, existence having extension, into non-living and living, and from this it would follow that Jain philosophers were primarily concerned with dividing or classifying the world into extentional but conscious and extentional but nonconscious world, and not into extentional and nonextentional world My contention is that in a physical analysis or division it is never possible to divide the world into something that is extensional and nonextensional. When we try to talk of extensional and non-extensional and also identify extensional with nonconscious or Ajīva and nonextentional with conscious or Jīva we are, as a matter of fact, abstracting, conceptualizing, logicizing and only mistaking a logical analysis for a physical division

Of course a problem would arise here · When we are talking of a Living being, we know that it is determined by birth and death In a state after death consciousness or livingness disappears and it makes us think that it has gone away. We forget that 'has gone away' is a metaphor and if it is not used in a metaphorical way it would only belong to the language of space But we simultaneously hold the belief that (a) it belongs to the language of space and (b) it does not belong to the language of space We simply overlook that to hold two such beliefs together is a contradiction But holding such beliefs becomes possible because they are held in two separate chambers of consciousness without any communication between them. Of course, one will have to explain the phenomenon of exit or vanishing of life. But saying that life is a separate substance and it goes away at the time of death is not offering a real explanation of the phenomenon. Space and a thing in space cannot be separated

from each other. From this if someone suggests that they are two things and they only come together by some external contact, it would be incorrect. Similarly if there is green leaf and if later on it dries up, it would be incorrect to say that green itself has gone somewhere else. When a revolving wheel stops it does not mean that the movement is taking rest somewhere. Vanishing is not equivalent to going somewhere else just as existing together of space and a thing in space is not equivalent to external contact or Saṁyoga. A better explanation would be to say that (1) space and a thing in space are one phenomenon, (2) greeness and vanishing of greeness of leaf is another kind of phenomenon (3) revolution of wheel and stopping of its movement is a third kind of phenomenon and death of a living being is a fourth kind of phenomenon One need not explain the one in terms of the other But unconsciously one commits this mistake and fluctuates between the process of dividing (or classifying) and conceptualising. Perhaps a better explanation of Jain category would be possible if we understand Jīva and Ajīva as a division of existants, say matter, on the principle that one is animistic and the other is not One has to remember that the process of dividing, enumerating, counting or sometimes even classifying things is of one kind and categorising of things is of another You cannot divide, enumerate etc, unless things exist in their own right. Of course conceptually you can even give concepts the status of a thing and then count (as you do when you count categories) But primarily this process belongs to things which exist in their own right On the other hand when you distinguish different qualities or characteristics, you are not seperating the independent things, you are abstracting them, and such abstractions are neither in space nor in time, they are not existing, nor living, they are just concepts.

A problem, of course, would arise about the relationship of such concepts to reality Concepts in logic does not require a bearer of substratum but if they are to be real then they can be real only in relation to some substratum which is real, i e, these concepts should be such that they must be capable of having a form which is a form of existence, a form of life This form of life or existence makes it possible for us to think that the concept has an existential relevance, Take, e g, the case of sweetness In order for sweetness to have significance in life it will have to go with some thing and to talk of a thing we will have to talk of space, time and substance Space, time and substance, so to say provide a medium for the concept of sweetness to be real The process by which we concretise a concept is the process in which we supply medium for the concept to exist And this according to me is the Jain concept of Astikāya-a body for its existence, a form of existence This form of existence will naturally vary accordingly as the concept in its concretized form is dynamic or not and accordingly the Astikāya concept also will be modified into Dharmāstikāya and Adharmāstikāya etc But the point that I am making is that when a Jain philosopher tries to conceptualize and abstract, he rather talks of Dharma and Adharma, both of them being characteristics (Adharma is also a characteristic) and when he talks of concrete things, he talks of Jīva and Ajīva One can easily see the distinction between Jīva and Ajīva on the one hand and

Dharma and Adharma on the other.*

In the light of what has been said above, let me now try to understand the theory of Jīva and Ajīva as understood traditionally by the Jain thinkers. In doing this, it will be my object to remove the contradictions or inconsistencies in the theory and present the theory in a consistent form Thereby I might be able to show that the theory of Jīva and Ajīva is, in fact, concerned with a division of certain matter which is divided on the basis of animate and inanimate only

First, Jain philosophers think that both Jīva and Ajīva are Dravyas.* Of course Dravya is that which has got certain characteristics But they think that all Dravyas are spatial in character Even time is spatial in character for them Space seems to be the common characteristic of all Dravyas or things They use the word Pradeśa to denote spatiality of a thing They also think that since there are two kinds of objects, Jīva and Ajīva, Jīva and Ajīva would be a division of the universe They bring in an important notion here The notion of Ākāśa They divide Ākāśa into Loka-Ākāśa and Aloka-Ākāśa Loka-Ākāśa is the space wherein the things exist and activity takes place But the Loka-Ākāśa is encircled by a limiting line (may be imaginary) beyond which there cannot be any activity nor can there be any existence of things It is on this line of demarcation that Jain philosophers imagine that there are Siddhaśilās and think of them as abode of freed souls The freed souls simply cannot go beyond this line because as soon as they are free their activity comes to an end Beyond this line there is only empty space It is empty space not because there in nothing in it but because there cannot be anything in it All things of different kinds therefore exist only in Loka-Ākāśa It may be remembered that the empty space in Loka-Ākāśa is different in kind from the empty space in Aloka-Ākāśa.

There is however, a difficulty which may be pointed out here Everything which exists is Astikāya However, Kāla is not an Astikāya though it exists in Lok-Akāśa only How to conceive of Kāla as not Astikāya and still in space is in fact a problem. Therefore, I think, it is necessary to think that the term Astikāya does not simply indicate a thing but it means as Jain philosophers rightly assert, a medium introduced like Kant's schemata to make up for the relation between concepts and things But if we think this way, Jīva and Jīvāstikāya would be two notions and not one Jīva would be the concept of Jīva and Jīvāstikāya would be an actual Jīva having extension. This will not only be true of Jīva, but of all Dravyas In ordinary language we do use the word Jīva in these two senses This would also explain why Kāla is not Astikāya, for the concept of time does not require any other medium in order to be significant

* At a later stage, however, he must have made a distinction between Jīva (as a concept) and Jīva (as Astikāya). Similarly he must have made a distinction between Dharma and Dharmāstikaya etc,

* I am aware that the Jains use the word Dravya where a Vaiśeṣika would use Padārtha.

Time itself is such a medium. It is not bound to space in the manner material things are bound to space. Thus only those concepts which require spatiality, in order for them to be significant, and have a form of existence would alone be Astikāya Astikāya would also thus mean the body or medium of a concept which makes the concepts exist and cease to be merely a concept I feel that at some stage Jain philosophers must have confused between the concept of Jīva and the actual Jiva. It need not be added that the concept of Jiva is a logical notion whereas Jīva is an empirical existence.

Let me now understand how the Jain philosophers think of Jīva which is a Dravya and so which eixsts its own right And here comes a very significant notion of the Jains. First they think that the Jivas are Anantas-infinite. They also think that Jīvas are Asaṁkhya-Pradeśas. Pradeśa here means space and by the statement Jīvas are Asaṁkhya-Pradeśas--what is meant is that different Jīvas can have different spatial dimensions What is admitted here is that the existent Jīvas are spatial in character. Again, if there is a living child then the Jīva of that child has the same extension as the extension of the body If the child grows the Jīva also grows for there is no part of the living body which is unconscious The Jīvas is regarded as life-coat for the body It is a cap or a gown which covers every part of the body and is coextensive with it This Jiva is not ordinarily separable from the body. When it becomes Mukta then like the left-skin of the serpent and the serpent which can be separated, the Jiva and the body are separated. The Jiva in the context of the living body is continuously growing but a Mukta Jiva would not occupy that part of the body where there are empty spaces or hollowness. Thus in the case of a Mukta Jiva there may not be a one-to-one correspondence between the extension cf Jiva and the body, and the extension of the Mukta Jīva may be smaller than his body

The most important and common-sense element in the whole theory of Jains is this that they agree that consciousness of Jiva cannot exist without space But this is possible only if Jiva and body are inseparable But inconsistently with this belief they also believe that at the time of Mukti the Jiva and body can be separated. It is like taking out a cap of a fountain-pen and keeping it away from the fountain pen. In the case of fountain-pen both the fountainpen and its cap are material But can there be a spatial form which exists and has no material characterization ? It is almost like thinking that there is a form of fragrance as a quality without any material bearer It is like the Cheshire cat in Alice in the wonderland, which goes away leaving its grin behind Can there be spatial layer of consciousness without a material body ? To think of such layer is in fact to think that consciousness is also material though different from the material body which is non-living It is holding two belief-systems together in two different chambers Jain philosophers were toeing the common-sense so long as they were thinking that the Jivas had pradeśas But to think of the Jīvas along with pradeśas without body, i.e., Deha, is to mistify and liquidate the common sense It is the mistake of not distinguishing between vanishing of the phenomenon and separatio n

of the two independent phenomena. This paradox can be dissolved only if we regard that there are living spatial phenomena and nón-living spatial phenomena such that both of them have some material substratum. While intepreting Jain theory it is the common sense, which we have to depend upon The commonsense tells us that matter is to be divided into living and non-living and is not to be abstracted into matter and not-matter. But in such a case it is redundant to say that there are two bodies one living and the other non-living and that the living body is super-imposed on the non-living one Spatiality, it is insisted, is a property both of living and non-living In the process of abstraction spatiality would also be abstracted Perhaps for this reason people talked of Kārmika Deha Unless Karma has spatiality and material properties it could not be attached to Jíva at all. But this common sense stand of the Jains is given up when they bring in the Mukta Jiva, and like other systems of Indian philosophy add to confusion and become more or less like traditional Sāṅkhya or traditional Advaita

लेखसार

जीव और अजीव

डा० एस० एस० बार्लिंगे, पूना विश्वविद्यालय

जैन दार्शनिकोंने जीव और अजीव तत्वोंकी चर्चा की है। क्या यह चर्चा पदार्थोंके वर्गीकरणसे सम्बन्धित है अथवा यह मात्र एक धारणा है। वर्गीकरणके लिए पदार्थका अस्तित्व-विस्तार आवश्यक है जबकि धारणाके लिए यह अनिवार्य नही है। जब स्थूल जगतको जीव-अजीवके रूपमे वर्गीकृत करते हैं, तब सामान्य दृष्टिसे आकाश-कालके गुण स्वत समाहित हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनोके लिए जीव और जीवास्तिकाय दोनोका भिन्न अर्थ है। जैनोंमें शरीर और जीवका जो सम्बन्ध बताया है, वह तर्कसगत नही बैठता। इनके सम्बन्धके लिए कर्मका आश्रय लिया गया है। यह भी विस्तारवाला है। जीवास्तिकाय भी विस्तारवान् है। यहाँ तक तो बात बनती है, लेकिन जब मुक्त जीवकी बात आती है, तब स्थिति भिन्न होती है। यहाँ इनके सिद्धान्तोमें भी सांख्य और अद्वैतके समान भ्रान्ति अधिक उत्पन्न होती है। फलत जैनोंके जीव-अजीव विषयक पक्षके सही रूप पर गभीर विचार और निर्णय आवश्यक है।

एक शोधदिशा

जापानमें प्रचलित येन मत और जैनधर्म

पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री, कटनी

'दिनमान' के १-१०-७७ के अकमें 'धर्म-दर्शन' खडमें प्रकाशित 'आत्मानुकूल पथ' नामक शीर्षक में बताया गया है कि जीन कारपेंतियरने अपने एक भाषणमें येन मतको बौद्ध धर्मकी एक शाखा बताया है। परन्तु, यह कुछ बातोंमें बौद्ध धर्मसे बिलकुल भिन्न है।

येन मत पूर्णतः आत्मानुभूति पर आधारित है। इसमें गुरुके उपदेश तथा प्रवचनको कोई स्थान नही है। इसे सभी अपना सकते हैं। यह एक प्रकारका स्व-अनुशासन है। इस मतमें सभी धर्मोंके मिश्रणकी अभूतपूर्व संभावनायें हैं। योग-विज्ञान तथा अनुशासनका इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता। यह मत इतना व्यापक है कि वह रूढ़िवादी अर्थोंमें बौद्ध धर्मकी श्रेणीमें नही आता। यह मुख्यत. ध्यानमूलक धर्म है। इसमें ध्यानके केन्द्रीकरणको एक निश्चित बिन्दु तक पहुँचानेकी आवश्यकता है।

यह मनोविज्ञानसे जुड़ा हुआ है और रहस्यमय है।' वह धर्म और समाजमें सन्तुलन लाता है। यह मत उपनिषद् धर्मके अधिक समीप लगता है।

डा० कारपेंतियरने अनेक प्राचीन धर्म ग्रन्थोंके आधार पर यह भी प्रमाणित किया है कि बौद्ध धर्म पर ही येनमतकी छाप पडी है। उदाहरणार्थ, योगमें चित्तवृत्ति निरोध, आत्मानुभूति, समय और धार्मिक क्रियायें येनमतकी ही विशेषतायें हैं, बौद्ध धर्मकी नही।

मुझे पन्द्रह वर्ष पूर्व येनमतके विषयमें जानकारी प्राप्त हुई थी। मैंने अनेक विदेशगन्ताओसे इसके विषयमें विशेष जानकारी चाही थी, पर उनका विश्वास था कि जापानमें तो बौद्ध धर्म ही है, येन-जैसा कोई पृथक् धर्म नहीं है। अपने शोधकोंके प्रमादसे मैं इस विषय पर विस्तृत विचार नही कर पाया। लेकिन डा० कारपेंतियरके विवरणसे इस विषयमें जो तथ्य सामने आते हैं। वे मेरी दृष्टिसे निम्न है

येनमत जैनधर्मकी शाखा सम्भावित है क्योंकि इसमें वर्णित स्वानुभूति ही सम्यग् दर्शन है और स्व-अनुशासन ही निश्चय चारित्र है। इन दोनोंका सबध आत्माश्रयी है, बाह्यस्रोती नही। इसमें अनेक धर्मोंके मिश्रणकी सभावनायें इसके अनेकान्तवादी दृष्टिकोणको व्यक्त करती हैं। इसका ध्यान जैनधर्ममें मोक्ष या निर्वाण या आत्मानुभूतिका साधन बताया गया है। जैनधर्म भी आत्माको शुद्ध, बुद्ध मानता है और निर्वाणको ईश्वर कृपा पर निर्भर नही मानता। येनके समान ही जैनधर्म भी दरबारी धर्म नही रहा। यह बौद्धधर्मसे पूर्ववर्ती भ० पार्श्वनाथके समयमें भी प्रचलित था। इसमें वीतरागता और आत्मानुभूतिको उच्च स्थान प्राप्त है। जैनधर्ममें सयम पर भी बल दिया गया है।

इस प्रकार येन और जैनधर्ममें न केवल नाम-साम्य है, अपितु उसके सिद्धान्त भी समान हैं। क्या ऐसा माना जा सकता है कि सहस्रो वर्ष पूर्व जब बौद्ध चिन्तक एशियाई देशोमें धर्म प्रचार हेतु गये थे, तब जैन चिन्तक भी गये हो? उस समय जहाँ जैनधर्मका अधिक प्रभाव पडा हो वे आज भी 'येन' कहलाते हो? यह विचार मात्र भावनात्मक नही हो सकता, इस विषयमें शोधको को विचार करना चाहिये।

जैनधर्मानुयायी वाणिज्यिक रहे है और आज भी उनका इसी ओर झुकाव है। इसलिये उनसे इस प्रकारकी खोजकी क्या आशा की जावे? इनकी अनेक सस्थाओको तो अपने देशमे ही अपने धर्म और समाज पर वात्सल्य नही है, फिर विदेशोकी तो बात ही क्या? क्या सराक जाति सबधी शोधसे हमारी समाज या सस्थायें प्रभावित हुई है? सस्कृतज्ञ विद्वानोको भी पारस्परिक शास्त्रार्थमें ही विश्वास है। मैं इस लेख द्वारा समाजके प्रबुद्ध वर्ग तथा धार्मिक वर्गका ध्यान इस प्रकारकी शोधोंकी ओर आकर्षित करना चाहता हू। उन्हें आजकी आवश्यकताको समझने तथा अनुदार वृत्तिको छोडनेका आग्रह करना चाहता हूँ। इसके बिना धर्मकी उन्नति, प्रभावना, प्रचार-प्रसार व कालान्तर स्थायित्व-कुछ भी नही हो सकता।

मेरे ध्यानमें हमारे प्रमादके अनेक उदाहरण हैं। एक बार एक प्रभावी राजनीतिक नेताने भूतपूर्व सिन्ध प्रान्तमें जैनधर्म और उसके तीर्थंकरोके विषयमे एक लेख लिखा था। वह बडा ही रोचक एव ऐतिहासिक विषय था। लेकिन उसपर भी हमारा ध्यान नही गया। यही नही, कभी-कभी तो हम शोधकोको हतोत्साह भी करते हैं। एक बार इलाहाबादके सुप्रसिद्ध अजैन विद्वान्ने हुकुमचन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थके लिए एक जैन इतिहाससे सम्बन्धित गवेषणापूर्ण लेख भेजा था। वह लेख प्रकाशित तो नही ही किया गया, उसे लौटाया भी नही गया। इसीलिये एक बार जब मैंने उन्हें महावीर जयन्ती पर कटनी आमन्त्रित किया, तो उन्होंने नकारात्मक उत्तर देते हुए लिखा, "मुझे जैनोंसे जुगुप्सा हो गई है।"

खण्ड ७ : Section 7

विदेशों में जैन विद्यायें
Jainology in Foriegn Countries

जर्मनीमें जैनधर्मके कुछ अध्येता

डा० जगदीश चन्द्र जैन, बम्बई

उन्नीसवी शताब्दीका आरम्भ यूरोपमे ज्ञान-विज्ञानकी शताब्दीका युग रहा है। यह समय था जब जर्मनीके फ्रीडरीख श्लीगलको संस्कृत पढनेका शौक हुआ और उन्होने पेरिस पहुँच कर हिन्दुस्तानसे लौटे हुए किसी सैनिकसे संस्कृतका अध्ययन किया। आगे चलकर इन्होने द लैंगवेजेज एण्ड विजडम ऑफ द हिन्दूज (हिन्दूओकी भाषायें और प्रज्ञा) नामक पुस्तक प्रकाशित कर भारतकी प्राचीन संस्कृतमे यूरोप वासियोको अवगत कराया। इसी समय फ्रीडरीखके लघु भ्राता औगुस्ट विलहेल्म श्लीगलने अपने ज्येष्ठ भ्रातामे प्रेरणा पाकर संस्कृतका तुलनात्मक गम्भीर अध्ययन किया और वे बॉन विश्वविद्यालयमें १८१८ में स्थापित भारतीय विद्या चेयरके सर्वप्रथम प्रोफेसर नियुक्त किये गये।

मैक्समूलर इस शताब्दीके भारतीय विद्याके एक महान पण्डित हो गये हैं जिन्होने भारतकी सांस्कृतिक देनका सारे यूरोपमें उजागर किया। ऋग्वेदका सायण भाष्यके साथ उन्होंने सर्वप्रथम नागरी लिप्यन्तर किया और जमन भाषामें उसका अनुवाद प्रकाशित किया। इग्लैण्डमें सिविल सर्विसमे जानेवाले अंग्रेज नवयुवकोके मार्गदर्शनके लिये उन्होने कैम्ब्रिज लैक्चर्स दिये जो इण्डिया, ह्वाट इट कैन टीच अस (भारत हमे क्या सिखा सकता है) नामसे प्रकाशित हुए। 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' सीरीजके सम्पादनका श्रेय मैक्समूलरको ही है जिसके अन्तर्गत भारतीय विद्यासे सम्बन्धित अनेकानेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

यूरोपमें जैनविद्याके अध्येताओमें सर्वप्रथम हरमन याकोबी (१८५०-१९३७)का नाम लिया जायेगा। वे अलब्रेख्त वेबरके शिष्य थे जिन्होंने सर्वप्रथम मूलरूपमें जैन आगमोका अध्ययन किया था। याकोबीने वराहमिहिरके लघु जातक पर शोध प्रबन्ध लिखकर पी० एच-डी० प्राप्त की। केवल २३ वर्षकी अवस्थामें जैन हस्तलिखित प्रतियोकी खोजमे वे भारत आये और वापिस लौटकर उन्होने 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' सीरीजमें आचाराग और कल्पसूत्र तथा सूत्रकताग और उत्तराध्ययन आगमोका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। नि स्सन्देह इन ग्रन्थोके अनुवादसे देश-विदेशमें जैनविद्याके प्रचारमें अपूर्व सफलता मिली। यूरोपके विद्वानोमे जैनधर्म और बौद्धधर्मको लेकर अनेक भ्रांतियां और वादविवाद चल रहे थे। उस समय याकोबीने जैन-धर्म और बौद्धधर्म ग्रन्थोके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा बौद्धधर्मके पूर्व जैनधर्मका अस्तित्व सिद्ध करके इन भ्रातियो और विवादोंको निर्मूल करार दिया।

जैन आगमोके अतिरिक्त, प्राकृत तथा साहित्यके क्षेत्रमें उन्होने पथ प्रदर्शनका कार्य किया। याकोबीने जैन आगम साहित्यकी टीकाओमेसे कुछ महत्त्वपूर्ण कथाओको चुनकर आउसगेवेंल्टे ऐरजेकलुन्गन इम महाराष्ट्री (सेलेक्टेड स्टोरीज इन महाराष्ट्री) नामसे प्रकाशित की। इन कथाओके सम्पादनके सग्रहमें प्राकृतका व्याकरण और शब्दकोष भी दिया गया।

१९१४ मे याकोबीने दूसरी बार भारतकी यात्रा की। अबकी बार हस्तलिखित जैन ग्रन्थोकी खोजमें वे गुजरात और कठियावाड़की ओर गये। स्वदेश वापिस लौटकर उन्होने भविसत्तकहा और

सणक्कुमारचरिउ नामक महत्वपूर्ण अप्रभश ग्रन्थोंका सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया। इस यात्रामें कलकत्ता विश्वविद्यालयने उन्हें डाक्टर आफ लैटर्स और जैन समाजने जैनदर्शन दिवाकरकी पदवीसे सम्मानित किया।

यूरोपमें प्राकृत-अध्ययनके पुरस्कर्ताओमें रिचर्ड पिशल (१८४९-१९०८)का नाम भी काफी आगे रहेगा। पिशल ए० एफ० स्टेन्स्लरके शिष्य थे जिनकी 'एलिमेण्टरी ग्रामर आफ सस्कृत' आज भी जर्मनीमें सस्कृत सीखनेके लिये मानक पुस्तक मानी जाती है। प्राकृतके विद्वान वेबरके लैक्चरोंका लाभ भी पिशलको मिला था। उनका कथन था कि सस्कृतके अध्ययनके लिये भाषाविज्ञानका ज्ञान व अध्ययन आवश्यक है और उनके अनुसार यूरोपके अधिकाश विद्वान इस ज्ञानसे वचित थे।

ग्रामेटीक डेर प्राकृत स्प्रेशेन (द ग्रामर आफ प्राकृत लैन्ग्वेजेज) पिशलका एक विशाल स्मारक ग्रन्थ है जिसे उन्होने वर्षोके कठिन परिश्रमके बाद अप्रकाशित प्राकृत साहित्यकी सैकडो हस्तलिखित पांडुलिपियोके आधारसे तैयार किया था। जिसमें उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्राकृतोंका विश्लेषण कर इन भाषाओके नियमोका विवेचन किया। मध्ययुगीन आर्यभाषाओके अनुपम कोष हेमचन्द्रकी देशीनाममालाका भी बुहलरके साथ मिलकर, पिशलने आलोचनात्मक सम्पादन कर एक महान कार्य सम्पन्न किया। इन ग्रन्थोमें प्राकृत एव अपभ्रशके ऐसे अनेकानेक शब्दोका सग्रह किया है जो शब्द क्वचित् ही अन्यत्र उपलब्ध होते है।

सयोगकी बात है कि याकोबी और पिशल—ये दोनों ही विद्वान पश्चिम जर्ननीके कील विश्वविद्यालयमें प्रोफेसर रह चुके हैं जहाँ उन्होंने अपनी-अपनी रचनाएँ समाप्त की।

अर्न्स्ट लायमान (१८५९-१९३१) वेबरके शिष्य रहे हैं। उन्होने जैन आगमो पर लिखित निर्युक्ति और चूर्णि साहित्यका विशेष रूपसे अध्ययन किया। यह साहित्य अब तक विद्वानोकी दृष्टिसे नही गुजरा है। वे स्ट्रॉसबर्गमें अध्यापन करते थे और यहाँकी लाइब्रेरीमें उन्हें इन ग्रन्थोकी पाडुलिपियोके अध्ययन करनेका अवसर मिला। औपपातिकसूत्रका उन्होंने आलोचनात्मक सस्करण प्रकाशित किया। कहनेकी आवश्यकता नही कि लायमान द्वारा सम्पादित प्राकृत जैन आगम साहित्य पिशलके प्राकृत भाषाओंके अध्ययनमें विशेष सहायक सिद्ध हुआ। १८९७ में उनका 'आवश्यक-एरजेलुगेज' (आवश्यक स्टोरीज) प्रकाशित हुआ। पर इसके केवल चार फर्में ही छप सके। तत्पश्चात् वे वीवरसिष्ट डी आवश्यक लिटरेचर (सर्वे आव दि आवश्यक लिटरेचर)में लग गये जो १९३४ में हैम्बुर्गसे प्रकाशित हुआ।

वाल्टर शूब्रिग जैनधर्मके एक प्रकाण्ड पण्डित हो गये हैं जो नौरवेके सुप्रसिद्ध विद्वान स्टेनकोनोके चले जाने पर हैम्बुर्ग विश्वविद्यालयमें भारतीय विद्याके प्रोफेसर नियुक्त हुए। उन्होने कल्प, निशीथ और व्यवहारसूत्र नामक छेदसूत्रोका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन करनेके अतिरिक्त महानिशीथसूत्र पर कार्य किया तथा आचारागसूत्रका सम्पादन और व्रर्टे महावीर (वर्क आव महावीर) नामसे जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया। उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रन्थ, डी लेहरे डेर जैनाज है जो दि डॉक्ट्रीन्स आव दी जैनाजके नामसे अग्रेजीमें १९३२ में दिल्लीसे प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थमें लेखकने श्वेताम्बर जैन आगम ग्रन्थोंके आधारसे जैनधर्म सम्बन्धी मान्यताओंका प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया। जर्मनीमें किसी विद्वान व्यक्तिके निधनके पश्चात् उसकी सक्षिप्त जीवनी तथा उसकी रचनाओंकी सूचना प्रकाशित करनेकी प्रथा है किन्तु महामना शूब्रिग यह कह गये थे कि उनकी मृत्युके बाद उनके सम्बन्धमें कुछ न लिखा जाय।

जे० हर्टल (१८७२-१९५५) भारतीय विद्याके एक सुप्रसिद्ध विद्वान हो गये हैं जो कथा साहित्यके विशेषज्ञ थे। उन्होंने अपना समस्त जीवन पञ्चतन्त्रके अध्ययनके लिये समर्पित कर दिया। वे जैन कथा

साहित्यकी ओर विशेष रूपसे आकर्षित हुए थे। "ऑन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बर जैनाज इन गुजरात" नामक अपनी लघु किन्तु बरयन्त सारगर्भित रचनामें उन्होंने जैन कथाओंकी सराहना करते हुए लिखा है कि यदि जैन लेखक इस ओर प्रवृत्त न हुए होते तो भारतकी अनेक कथायें विलुप्त हो जातीं।

हैल्मुथ फोन ग्लाजनेप (१८९१-१९६३) ट्युबिन्गन विश्वविद्यालयमें धर्मोंके इतिहासके प्रोफेसर रहे हैं। वे धर्मके पण्डित थे। याकोबीके प्रमुख शिष्योंमें थे और उन्होंने लोकप्रिय शैलीमें जैनधर्मके सम्बन्धमें अनेक पुस्तकें लिखीं हैं जिनके उद्धरण आज भी दिये जाते हैं। उन्होंने डेर जैनिसगुस (दि जैनिज्म) और डि लेह्रे फोम कर्मन इन डेर फिलोसोफी जैनाज (दि डॉक्ट्रीन आव कर्म इन जैन फिलोसोफी) नामक महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की। पहली पुस्तक 'जैनधर्म'के नामसे गुजरातीमें और दूसरी पुस्तकका अनुवाद अंग्रजी तथा हिन्दीमें प्रकाशित हुआ। उनकी इण्डिया, ऐज सीन बाई जर्मन थिंकर्स (भारत, जर्मन विचारकोंकी दृष्टिमे) नामक पुस्तक १९६० में प्रकाशित हुई।

ग्लाजनेपने अनेक बार भारतको और अनेक विद्वानोंसे सम्पर्क स्थापित किया। उनके दिल्ली आगमन पर जैन समाजने उनका स्वागत किया। उनकी एक निजी लाइब्रेरी थी जो द्वितीय विश्व युद्धमें बम वर्षाके कारण जलकर ध्वस्त हो गई।

लुडविग आल्सडोर्फ—(१९०४-१९७८) जर्मनीके एक बहुश्रुत प्रतिभाशाली मनीषी थे जिनका निधन अभी कुछ समय पूर्व २८ मार्च १९६८ को हुआ। उनके लिये भारतीय विद्या कोई सीमित विषय नही था। इसमें जैनधर्म, बौद्धधर्म, वेदविद्या, अशोकीय शिलालेख, मध्यकालीन भारतीय भाषायें, भारतीय साहित्य, भारतीय कला तथा आधुनिक भारतीय इतिहास आदिका भी समावेश था। आल्सडोर्फ इलाहाबाद विश्वविद्यालयमे जर्मन भाषाके अध्यापक रह चुके हैं। यहाँ रहते हुये उन्होने सस्कृतके एक गुरुजीसे सस्कृत का अध्ययन किया था। उसके बाद अनेक बार उन्हें भारत यात्राका अवसर मिला। जितनी बार वे भारत आये, उतनी ही बार अपने ज्ञानमे वृद्धि करनेके लिए कुछ-न-कुछ समेट कर अवश्य ले गये। अनेक प्रसग ऐसे उपस्थित हुये जबकि पडित लोग अनार्य समझकर, उनके मन्दिर प्रवेश पर रोक लगानेकी कोशिश करते। लेकिन वे झटसे सस्कृतका कोई श्लोक सुनाकर अपना आर्यत्व सिद्ध करनेसे न चूकते। आल्सडोर्फने अपने राजस्थान, जैसलमेर आदिकी यात्राओके रोचक वृत्तात प्रकाशित किये हैं।

आल्सडोर्फने विद्यार्थी अवस्थामें जर्मन विश्वविद्यालयोंमे भारतीय विद्या, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, अरबी, फारसी, आदिका अध्ययन किया। वे लायमानके सम्पर्कमें आये और याकोबीसे उन्होंने जैनधर्मका अध्ययन करनेकी अभूत पूर्व प्रेरणा प्राप्त की। यह याकोबीकी प्रेरणाका ही फल था कि वे पुष्पदन्तके महापुराण नामक अपभ्रश ग्रन्थ पर काम करनेके लिए प्रवृत्त हुए जो विस्तृत भूमिका आदिके साथ १९३७ में जर्मनमें प्रकाशित हुआ। आल्सडोर्फ शूब्रिगको अपना गुरु मानते थे। जब तक वे जीवित रहे, उनके गुरुका चित्र उनके कक्षकी शोभा बढ़ाता रहा। उन्होंने सोमप्रभसूरिके कुमारवालपडिबोह नामक अप्रभ्रश ग्रथ पर शोध प्रबन्ध लिख कर पी-एच० डी० प्राप्त की।

१९५० में शूब्रिगका निधन हो जाने पर वे हैम्बुर्ग विश्वविद्यालयमें भारतीय विद्या विभागके अध्यक्ष नियुक्त किये गये और सेवानिवृत्त होनेके बाद भी अन्तिम समय तक कोई न कोई शोधकार्य करते रहे।

अपने जर्मनी आवास कालमें इन पंक्तियोंके लेखकको आल्सडोर्फसे भेंट करनेका अनेक बार अवसर मिला और हर बार उनकी अलौकिक प्रतिभाकी छाप मन पर पड़ी। किसी भी विषय पर उनसे चर्चा

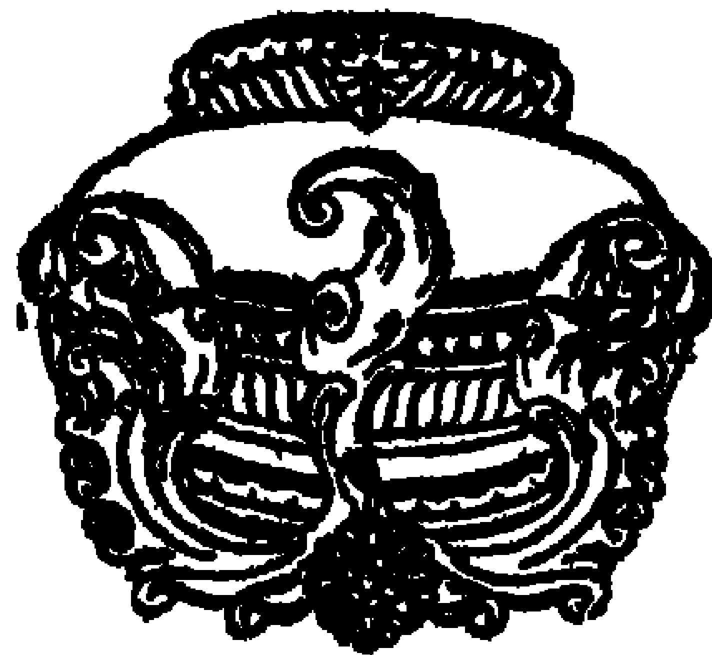
कलाइवे, चलते फिरते एक विश्वकोशकी भाँति उनका ज्ञान प्रतीत होता रहा। उन्होंने भी संघदासगणि कृत वसुदेवहिंडि जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी ओर विश्वके विद्वानोंका ध्यान आकर्षित किया और इस बातकी बड़े जोरसे स्थापनाकी कि यह अभूतपूर्व रचना पैशाची प्राकृतमें लिखित गुणाढ्यकी नष्ट हुई बड्डकहा (बृहत्कथा)का जैन रूपान्तर है। उनकी वसुदेवहिंडिकी निजी प्रति देखनेका मुझे अवसर मिला है जो पाठान्तरों एवं जगह-जगह अंकित किए हुए नोट्ससे रंगी पड़ी थी। उनका कहना था कि दुर्भाग्यसे इस ग्रन्थकी अन्य कोई पाडुलिपि मिलना तो अब दुर्लभ है किन्तु अनेक स्थलोंको प्रकाशित ग्रन्थके फुटनोट्समें दिये हुए पाठान्तरोंकी सहायतासे अधिक सुचारु रूपसे सम्पादित किया जाना सम्भव है। अपने लेखो और निबन्धोंमें वे बड़ेसे बड़े विद्वानकी भी समुचित आलोचना करनेमे नहीं हिचकिचाते। उन्होंने अवसर आनेपर याकोबी, पिशल, ऐडगर्टन आदि जर्मनीके सुविख्यात विद्वानोंके कथनको अनुपयुक्त ठहराया।

१९७४ में क्लाइने श्रिफ्टेन (लघु निबन्ध) नामक ७६२ पृष्ठोका एक ग्रन्थ ग्लाजनप फाउण्डेशनकी ओरसे प्रकाशित हुआ है जिसमें आल्सडोर्फके लेखो, भाषणों एव समीक्षा टिप्पणियोका सग्रह है। इसमें दृष्टिवादसूत्रकी विषय-सूची (मूलत यह स्वर्गीय मुनि जिनविजयजीके अभिनन्दन ग्रन्थके लिए लिखा गया था। यह जर्मन स्कालर्स आफ इण्डिया, जिल्द १ पृ० १-५ में भी प्रकाशित है) के सम्बन्धके एक महत्व-पूर्ण लेख सग्रहीत है। मूडबिद्रीसे प्राप्त हुए षट्खडागम साहित्यके सम्बन्धमें स्वर्गीय डॉक्टर ए० एन० उपाध्येने उल्लेख किया था कि कर्मसिद्धान्तकी गूढताके कारण पूर्व ग्रन्थोका पठन-पाठन बहुत समय तक अवछिन्न रहा जिससे वे दुष्प्राप्य हो गये। आल्सडोर्फने इस कथनसे अपनी असहमति व्यक्त करते हुए प्रति-पादित किया कि यह बात तो श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थोके सम्बन्धमें भी की जा सकती है। फिर भी उनका अध्ययन अध्यापन क्यों जारी रहा और वे क्यो दुष्प्राप्य नही हुए। इस सग्रहके एक अन्य महत्वपूर्ण निबन्धमें आल्सडोर्फने वैताढ्य, शब्दकी व्युत्पत्ति वेदार्धसे प्रतिपादित की है वे (य) अड्ढ = वेहअड्ढ = वैदियड्ढ = वेदार्ध। इसे उनकी विषयकी पकड और सूझ-बूझके सिवाय और क्या कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि आल्सडोर्फकी बातसे कोई सहमत हो या नही, वे अपने कथनका सचोट और स-प्रमाण समर्थन करनेमें सक्षम थे। वे अन्तराष्ट्रीय ख्यातिके कितने औरियण्टियल रिसर्च पत्र-पत्रिकाओसे सम्बद्ध थे और इनमें उन्होंने विविध विषयोंपर लिखे हुए कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थोकी समीक्षायें प्रकाशित की थी। 'क्रिटिकल पालि डिक्शनरी'के वे प्रमुख सम्पादक थे जिसका प्रारम्भ सुप्रसिद्ध वि० ट्रेंकनेरके सम्पादकत्वमें हुआ था।

विदेशी विद्वानो द्वारा भारतीय दर्शन एव धर्म सम्बन्धी अभिमतोको हम इतना अधिक महत्व क्यो देते आये हैं ? वे यथासम्भव तटस्थ रहकर किसी विषयका वस्तुगत विश्लेषण प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करते हैं। अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं, विचारों एव विश्वासोंका उसमें मिश्रण नही करते हैं।

संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंशकी रचनाओका अध्ययन करनेके पूर्व वे इन भाषाओंके व्याकरण, कोश, आदिका ठोस ज्ञान प्राप्त करते हैं। तुलनात्मक भाषा विज्ञान उनके अध्ययनमें एक विशिष्ट स्थान रखता है। यूरोपकी आधुनिक भाषाओंमें अंग्रेजी, फ्रेंच जर्मन, डच आदिका ज्ञान उनके शोधकार्यमें सहायक होता है। जैनधर्मका अध्ययन करनेवालोके लिए जर्मन भाषाका ज्ञान आवश्यक है। इस भाषामें कितने ही महत्वपूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ एवं लेख ऐसे हैं जिनका अंग्रेजी भाषान्तर अभी तक नहीं हुआ। आजके युगमें तुलनात्मक अध्ययनकी आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, जैन अध्ययनके लिए जैनधर्म और दर्शनका अध्ययन ही पर्याप्त नही, वैदिक धर्म, बौद्धधर्म तथा यूरोपीय भाषाओंमें हुए शोधका ज्ञान भी आवश्यक है। तुलनाके लिए बौद्धधर्मका अध्ययन तो आवश्यक है ही। इस अध्ययनको व्यवस्थित करनेके लिए चुने हुए

जैन ग्रन्थोका चुने हुए जैन विद्वानों द्वारा आधुनिक पद्धतिसे स पादन किये जानेकी आवश्यकता है । प्रकाशित ग्रन्थोकी आलोचनात्मक निर्भीक समीक्षाकी आवश्यकता है । इस सम्बन्धमें जैनोके सभी सम्प्रदायोके विद्वानो द्वारा तैयार की गयी सम्मिलित योजना कार्यकारी हो सकती है । शोध कार्यको सफलतापूर्वक सम्पन्न करनेके लिए पुस्तकालय अथवा पुस्तकालयोकी आवश्यकता है जहां शोध सम्बन्धी हर प्रकारकी सुविधाएं उपलब्ध हो सकें । ये भारतके कुछ केन्द्रीय स्थानोमें स्थापित किये जाने चाहिये तथा विद्यमान सुविधाओंका आधुनिकीकरण किया जाय । अन्तमे एक महत्त्वपूण बात और कहना चाहता हूँ । वह यह है कि यथार्थतासे सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयत्न किया जाय । विषयोका चुनाव इस प्रकार किया जाय जिससे शोध छात्र प्रोत्साहित हो और आगे चलकर दिशा भी ग्रहण कर सकें एव जैन विद्याओंको प्रकाशित कर सकें ।



विदेशोंमें प्राकृत और जैनविद्याओंका अध्ययन

डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, विक्रम वि० वि०, उज्जैन

भारतके बाहर जर्मनी, जापान, रूस, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, इग्लैण्ड, फ्रास, बेल्जियम, फिनलैण्ड आदि देशोमे प्राकृत और जैन विद्याओके विविध रूपोपर पर्याप्त शोधपूर्ण अध्ययन किया जा रहा है। अनेक देशोमे विभिन्न विश्वविद्यालयोमें इससे सम्बन्धित विभाग है जो इस अध्ययनको नयी दिशा दे रहे है। इस लेखमें हम इस कार्यमें भाग लेनेवाले विशिष्ट विद्वानो और उनके कार्योंका सक्षिप्त विवरण देनेका प्रयास कर रहे हैं।

जर्मनीमे जैन विद्याओका अध्ययन

भारतीय विद्याके अध्ययनकी दृष्टिमे जर्मनी सबमे प्रमुख राष्ट्र है। वहाँ प्राय प्रत्येक विश्वविद्यालय मे भारतीय विद्याका अध्ययन और शोध होता है। उन्नीसवी तथा बीसवी सदीके कुछ प्रमुख जैन विद्या-वेत्ताओंके विषयमें अन्यत्र लिखा गया है। उसके पूरकके रूपमे ही यह वर्णन लेना चाहिये। फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनीके गोटिजन विश्वविद्यालयके भारतीय एव बौद्ध विद्या विभागमे दो आचार्य कार्यरत हैं—डा० गुस्टवरौंठ और डा० हेन्स बेशर्ट। ये दोनो ही प्राकृत तथा जैनधर्मके विशिष्ट विद्वान है। आपके सहयोगसे 'भारतीय विद्याओंका परिचय तथा जैनधर्म तथा जैन साहित्यके क्षेत्रमे जर्मनीका योगदान' नामक पुस्तकें (अग्रेजीमें) लिखी गई है।

जर्मनीके बॉन विश्वविद्यालयके प्राच्यविद्या विभागमे आचार्य डा० क्लास फिशर भारतीय कला के अन्तर्गत जैन मूर्तिकलाका भी अध्यापन करते हैं। जैन कलाके सम्बन्धमे उनके अनेक निबन्ध वायस ऑव अहिंसा तथा जैन जर्नलमे प्रकाशित हुए हैं।

बर्लिनमें डा० चन्द्रभाल त्रिपाठी दस वर्षोंसे, जर्मन पुस्तकालयोमें विद्यमान जैन पाण्डुलिपियोके सम्बन्धमें शोध कार्य कर रहे हैं। १९७५ मे उनका 'स्ट्रासबुर्गकी जैन पाण्डुलिपियोकी सूची' नामक ग्रन्थ बर्लिन विश्वविद्यालयसे प्रकाशित हुआ था। १९७७ में उन्होने जर्मन भाषामे "केटेलोगीजी रुग्म ट्रेडीशन डेर जैनाज" नामसे एक निबन्ध भी लिखा है। इसमें उन्होंने जर्मनीके विभिन्न पुस्तकालयोमे प्राप्त जैन पाण्डुलिपियोंके सम्बन्धमें वैज्ञानिक पद्धतिसे विस्तृत जानकारी दी हैं। इनके दो और महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं (१) 'रत्नमञ्जूषा एण्ड छन्दोविचित्ती' तथा (२) जैन कन्कोर्डेन्स एण्ड भाष्य कन्कोर्डेन्स। प्रथम निबन्धमे रत्नमजूषा (अपरनाम मजूषिका) को सस्कृत भाषामे निबद्ध जैन छन्द शास्त्रका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ निरूपित किया गया है। द्वितीय निबन्ध उन्होने डॉ० क्लासब्रूनके साथ लिखा है। कन्कोर्डेन्स शोधकी एक नयी वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें पच कार्डों पर पृथक्-पृथक् आगमो तथा उनकी टीका, निर्युक्ति और भाष्य आदि मे उपलब्ध गाथाओको अकारादि क्रमसे सकलित कर उनके आधार पर शोधका मार्ग प्रशस्त किया जाता है।

पश्चिम जर्मनी (बर्लिन) के फ्राइबर्ग विश्वविद्यालयके प्राच्यविद्या विभागके आचार्य डॉ० उलरिश

श्नाइडर प्राकृत भाषाके विशिष्ट विद्वान हैं। वे अशोकके शिलालेखों पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे शोध कार्य कर रहे हैं। म्यूनिखके डॉ० ए० मैटे, बॉनके डॉ० हिमूबर और बर्लिनके डा० बीले तथा डा० ब्रुन, डा० मोलर आदि जैन विद्याओंके क्षेत्रमें अब आने आ रहे हैं।

जापानमें जैनविद्याएँ

जापानमें जैन दर्शनके अध्ययनका प्रचार करनेका प्रथम श्रेय डा० ई० नाकामुराको है। वे आजकल रीसो विश्वविद्यालयमें सम्मानित आचार्यके पदपर प्रतिष्ठित है। वे जर्मनीके प्रसिद्ध विद्वान डा० हरमन याकोबीके शिष्य रहे है। जापानके द्वितीय जैन विद्वान डा० एच० नाकामुरा है। उन्होंने जैन और बौद्ध दर्शनका तुलनात्मक अध्ययन किया है। डा० एस० मात्सुनामीने जर्मनीके जैनविद्या मनीषी डा० शुब्रिंगसे जैन आगम और अर्धमागधीका अध्ययन किया है। वे आजकल रीसो विश्वविद्यालयमें आचार्य है।

इनके अतिरिक्त, जापानमें आजकल कुछ तरुण पीढीके लोग भी जैन दर्शनके अध्ययन-अध्यापनमें दत्तचित्त हैं। श्री नागासाकी ओटानी विश्वविद्यालयमें सहायक आचार्य हैं। वे नालन्दामें डा० सत्कारी मुकर्जीके शिष्य रहे है। उन्होने आचार्य हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासाका जापानी भाषामें अनुवाद किया है। इसी प्रकार डा० एस० ओकुण्डाने जर्मनीके डा० एल० आल्सडोफेसे जैनागम और प्राकृतका अध्ययन किया है। इन्होने जर्मन भाषामें आइन दिगम्बर डोग्मेटीक नामक पुस्तक लिखी है। श्री टाइकन हनाकी, डा० नथमल टाटियाके शिष्य है। उन्होंने अणुयोगद्वाराईका अंग्रेजी अनुवाद किया है। स्व० डा० ए० एन० उपाध्येकी शिष्या कुमारी एस० ओहीराने एल० डी० इंस्टीच्यूट, अहमदाबादमे जैनधर्म पर शोध की हैं। टोकाई विश्वविद्यालयके सहायक आचार्य श्री टाकाहासीने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय तथा एल० डी० इन्स्टीच्यूट, अहमदाबादमें जैनधर्मका अध्यापन किया है। उनके जापानी भाषामें तीन जैन निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं।

इस पीढीके एक अग्रगण्य विद्वान डा० आत्सुइसी ऊनो हिरोशिमाके दर्शन-विभागके अध्यक्ष हैं। वे १९५४–५७ में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटीमे प्रो० टी० आर० मूर्ति तथा प० दलसुख मालवणियाके शिष्य रहे है। उन्होने अंग्रेजी तथा जापानी भाषामें जैनधर्म पर अनेक निबन्ध लिखे है जिनमे स्याद्वाद, आत्मा, कर्म, ज्ञान, प्रमाण आदिकी समीक्षा की गई है। प्रो० ऊनो जैन तथा न्याय-वैशेषिक दर्शनोके आधारपर इण्डियन एपिस्टोमोलोजी पर शोध कार्य कर रहे हैं। ये स्याद्वादमजरीका जापानी भाषामें सटिप्पण अनुवाद भी कर रहे है। वे जैनधर्म पर जापानी भाषामें एक ग्रन्थ लिखना चाहते है जिसकी सामग्री एकत्रित करनेमें वे आजकल व्यस्त है।

रूसमें जैनविद्याएँ

रूसमें भी प्राकृत तथा जैनधर्म पर शोध कार्य प्रारम्भ हुआ है। विशुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे प्राकृत पर शोध करनेवालोंमें मैडम मारग्रेट वोरोवयेवा दास्याएँन्इसकाया तथा मैडम तात्याना कैरेनीना (लेनिनग्राड विश्वविद्यालय) उल्लेखनीय हैं। इस देशमे जैनधर्म पर शोध कार्य करनेवालोमे मैडम नायली गुसेवा (मास्को) तथा श्री आण्द्रे तेरेनत्येव (लेनिनग्राड) प्रमुख है। मैडम गुसेवाने रूसी भाषामें उपलब्ध जैनधर्मकी एक मात्र पुस्तिका लिखी है तथा श्री तेरनत्येव जैनधर्मके इतिहास तथा उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर शोध कार्य कर रहे हैं।

मास्कोके इस्टीच्यूट आव ओरियन्टल स्टडीज में भारतीय विद्याके आचार्य प्रो० आइगोर सेरेब्रिया-

लकोव भी जैनधर्मके अध्ययनमें व्यस्त हैं कुछ समय पूर्व उन्होने रूसी भाषामें अनुदित आचार्य हरिभद्रका धूर्ताख्यान प्रकाशित किया था। इसका संशोधित संस्करण अतिशीघ्र प्रकाशित हो रहा है। इनका जैन साहित्य पर एक निबन्ध शार्ट लिटररी एन्साइकोलोपीडियामें भी प्रकाशित हुआ है।

अमरीकामें जैनविद्याएँ

अमेरिकामें केलिफोर्निया विश्वविद्यालयके साउथ ईस्ट एशियन स्टडीज विभागके आचार्य प्रो० पद्मनाभ एस० जैनी, जैनधर्मके मर्मज्ञ विद्वान हैं। उन्होने जैनधर्म पर बहुत शोध कार्य किया है। उनके अनेक शोधपत्र और कुछ ग्रन्थ भी इधर प्रकाशित हुये हैं। उन्होने अनेक राष्ट्रीय एव अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में जैनसिद्धान्तोका तुलनात्मक उपस्थापन किया है। अभी कुछ समय पूर्व ही वे भारत आये थे। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके स्नातक हैं तथा वे लन्दन और मिशिगन विश्वविद्यालयोमें भी कार्य कर चुके हैं। आप पिछले बीस वर्षोसे विदेशोंमें जैनविद्याओंके अध्यापन एव अध्ययनमें लगे हुये हैं।

यहाँ होनोलूलू स्थित हवाई विश्वविद्यालय भी भारतीय एव जैन विद्याओका एक प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। कुछ समय पूर्व यहाँ काशीके डा० सक्सेना भारतीय दर्शन पढाते थे। उनसे अनेक छात्रोने जैन-विद्याओके अध्ययनमें प्रेरणा प्राप्त की।

फिलडेल्फिया विश्वविद्यालय बहुत समयसे भारतीय विद्याओ तथा जैन विद्याओके अध्ययनका केन्द्र रहा है। इस समय वहाँ डा० अर्नेस्ट बेन्डर इस क्षेत्रमे काफी कार्य कर रहे हैं। वे भारत भी आ चुके हैं। यहाँके विश्व जैन मिशनसे आप अत्यन्त प्रभावित रहे है। आपके अहिंसा और जैनधर्म से सम्बन्धित अनेक लेख व कुछ पुस्तके प्रकाशित है। वे प्राच्यविद्याओसे सम्बन्धित एक अमेरिकी शोधपत्रिकाके सम्पादक भी हैं।

आजकल जैनविद्याओके प्रचार-प्रसारके लिये डा० चित्रभानु तथा मुनि सुशीलकुमार जी ने भी कुछ वर्षोसे न्यूयार्कमें जैन केन्द्र स्थापित किये हैं। यहाँ जैन ध्यान विद्या, आचार एव तर्कशास्त्र पर प्रयोग और शोधको प्रेरित किया जाता है।

फ्रान्समे जैनविद्याएँ

पेरिस विश्वविद्यालय (फ्रान्स) के जैन एव बौद्ध दर्शन विभागकी शोध निर्देशिका डा० कोले कैले, प्राकृत एव अपभ्रंश भाषाओ तथा जैन दर्शनकी विदुषी है। गत अनेक वर्षोसे वे उक्त विषयोंमें शोध कार्य कर रही है। आपने मुनिराजसिंह रचित पाहुडदोहाका आलोचनात्मक टिप्पणियोके साथ अग्रेजी अनुवाद किया है जो एल० डी० इस्टीच्यूटकी शोध-पत्रिका सम्बोधि (जुलाई, १९७६) में प्रकाशित हुआ है। उन्होने अपने एक फ्रेन्च भाषाके निबन्धमें दोहापाहुडमें अभिव्यक्त जैन सिद्धान्तोका भगवद्गीता, उपनिषद् आदि ब्राह्मणग्रन्थोमें उपलब्ध सिद्धान्तोसे तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। आपने स्टाकहोम और कोपनहेगन विश्वविद्यालयोमे जैनधर्ममे उल्लेखना विषय पर कुछ भाषण दिये थे जो ऐक्टा औरियन्टेलिया में एक बृहत् निबन्धके रूपमें प्रकाशित हुये हैं। आपने जैनविद्याओंमे सम्बन्धित अनेक भाषाओंके ग्रन्थोंकी समीक्षा भी की है। आपके मार्गदर्शनमें फ्रान्समें जैनविद्याओके अध्ययनका भविष्य उज्जवल होगा। उनके द्वारा लिखित फ्रान्समें जैनविद्याओंके अध्ययनके विकासात्मक इतिहासको इसी ग्रन्थमें अन्यत्र दिया गया है।

अन्य देशोमे जैनविद्याएँ

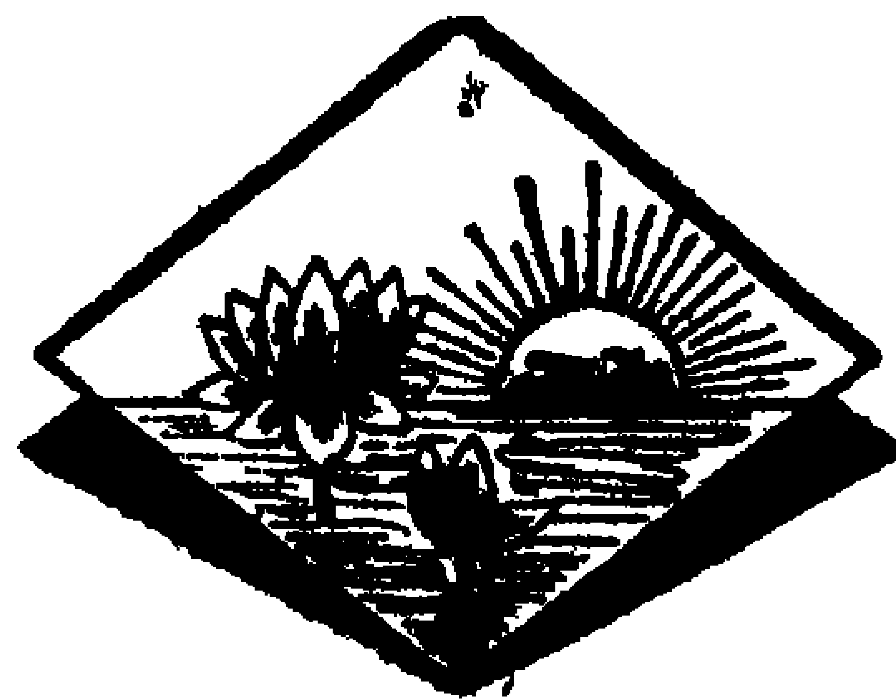
बैल्जियमके घेन्ट विश्वविद्यालयने भारतीय विद्या विभागके आचार्य प्रो० जे० ए० सी० डेलू जैन

दर्शनके अच्छे विद्वान हैं। ये जर्मनीके डा० शूब्रिंगके शिष्य रहे हैं। इनका एक महत्त्वपूर्ण जर्मन निबन्ध एच० डब्लू, हॉसिंग द्वारा सम्पादित पुस्तकके चतुर्थ भागमें प्रकाशित हुआ है। इनके सम्पादकत्वमें शूब्रिंगकी णाहाधम्मकहाओ (जर्मन) प्रकाशित हुई है। यूट्रेक्टके डा० गोण्डा द्वारा सम्पादित एक ग्रन्थमें जैन दर्शन पर इनका एक महत्त्वपूर्ण शोध-पत्र भी प्रकाशित हुआ है।

फिनलैण्डके डा० अन्टू टाहिटनेन एक विश्वविद्यालयमें काम कर रहे हैं। १९५६-५८ में वे वाराणसी में रहे और पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने भारतीय परम्परामे अहिंसा नामक एक ग्रन्थ अग्रेजीमें लिखा है जो १९७६ में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थमें उन्होंने जैन ग्रन्थोके उद्धरण देकर भारतीय परम्परामें अहिंसाकी प्रतिष्ठाको सिद्ध किया है। केम्ब्रिजके प्राच्यविद्या विभागके आचार्य डा० के० आर० जर्मन पालि तथा प्राकृत भाषाओंके विशिष्ट विद्वान हैं। आपने प्राकृत भाषाके भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें विशेष रुचि प्रदर्शित की है। आज कल आप जैनागमोका अध्ययन कर रहे हैं एव आपके निर्देशनमें कुछ छात्र शोध कार्य भी कर रहे हैं।

आस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी केनबरा (आस्ट्रेलियन) के प्रो० बाशम और मेट्टुम हरकुस भारतीय विद्याओंके साथ-साथ जैनविद्याओ पर भी शोध एव मार्गदर्शन कर रहे है। इन्होंने कुछ पुस्तकें भी इस विषय पर लिखी हैं। अनेक शोध-पत्र भी इनके प्रकाशित हुये हैं। डा० बाराम तो भारत भी आ चुके हैं। वियना (आस्ट्रिया) के डा० फाडवालनर तथा हाले (पूर्वजर्मनी) के प्रो० मोडेका नाम भी यहाँ उल्लिखित करना आवश्यक है जो अपने-अपने देशोमें जैनविद्याओंके अध्यापन और शोधमें लगे हुये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अब पाश्चात्य देशोमें भी अनेक स्थानों पर जैनविद्याओंके अधिकारी-विद्वान् प्रतिष्ठित है। अनेक विश्वविद्यालय जैनविद्याओके अध्ययन एव शोधके केन्द्र बने हैं। हम आशा करते है कि ये केन्द्र जैनविद्याओको समुचित रूपमे प्रकाशित करनेमें महत्त्वपूर्ण योगदान करते रहेंगे।



JAINA STUDIES IN FRANCE

Madame Colette Caillat, Paris University, France

In France, Jainism constantly aroused a great interest among the scholars dealing with the history and culture of India Early in the 19th century, all encyclopaedias and general reference books give comparatively long accounts on the origins and development of the Community and the Jaina doctrine, they provide informations concerning their artistic achievements and, also, concerning the contemporary status and customs of the sects and believers.

Most of the authors pointed to similarities between the Jaina and Buddhist early history, to their common denial of the authority of the Vedas and hostility against animal sacrifice, to the parallelisms in the lives of Buddha and Mahāvīra, or again, in the laksanas of the Saviours to the analogies (and differences) in the organization of the Buddhist and Jaina Orders, and, further, in the technical vocabulary of both the Churches (Burnouf, Senart, S Levi). Hence, the question of their mutual relationship has been much debated (Barth), on the other hand, the fundamental Indian character of the two systems has also been emphasised, and the connections, the possible links between these and Brahmanism have been pointed out Thus, though the importance of Jainism was in no way ignored (cf the collection of manuscripts assembled by Senart, a catalogue of which has been edited by Jean Filliozat, "Etat des manuscrits de la collection Emile Senart," *Journal Asiatique* 1936, p 127-143), the comparative approach appears to have always fascinated the French scholars, among whom are some of the most brilliant e g Sylvain Levi (*La doctrine du sacrifice dans les Brāhmanas*, 1898, Introduction "Observations sur une langue precanonique du bouddhisme, *Journal Asiatique*, 1912), Louis Renou, who devoted to Jainism the sixth and last of the Jordan Lectures in Comparative Religion which, in May 1951, he delivered to the London School of Oriental and African Studies, University of London (published in *Religions of India*, 1953, p 111-133).

Also the histories of Indian philosophy often choose to present together, to compare and oppose, the Jaina and Buddhist tenets (P. Masson-Oursel, *Histoire dela philosophie indienne*, 1923, parts 3 and 7, the same, in *L' Inde antique et la civilisation indienne*, 1933 part 3, chapter 2). Moreover, various monographs jointly use the data supplied by the Scriptures of both Communities (L Silburn, *Instant et cause. Le discontinu dans la pensee philosophique de l' Inde*, chapter 4).

The importance of Jaina contribution in the fields of science and literature was underlined, especially by scholars interested in the Tamil kāvyas, like J. Vinson

(*Legendes bouddhiques et jainas*, 1900), while the refinement of Jaina art was described and appreciated by Guerinot and Milloue already in the brief catalogues of both the Guimet Museums (of Lyon and Paris), as it has also been portrayed in the well-known publications of Jouveau-Dubreuil concerning South Indian history and archaeology, and, more recently, in several art books.

The unique value of the Jaina sources and traditions for the scholar of Indian history has been stressed on several occasions . by Sylvain Levi, repeatedly, for instance when he studied "the religious donations of the Valabhi kings" (1896, reprinted in 1937), or, again, the epoch of Kaniṣka and Śātavāhana and the fights for Barygaza *Journal Asiatique*, 1936, in a posthumous paper) Simililarly, it has been demonstrated by J. Filliozat how a precise synchronism could be shown to exist between the Jaina and Latin data, thus leading to the undeniable conclusion that the accession to the throne of Candragupta Maurya actually took place in 313-312 B C (L. Renou et J. Filliozat, *L' Inde classique* 1, 1947 §394, reprinted in J Filliozat, *Political history of India, from the earliest times to the 7th century A. D.*) In this connection, it is to be noted that the dates of various southern Jain inscription have been recently re-assessed by V Filliozat in her book *L'epigraphie de Vijayanagar du debut ā* 1377 (published in 1973)

It is well known that a valuable catalogue of Jaina epigraphy, with a "sketch" of the history of Jainism according to the inscriptions, has been edited by A Guerinot as early as 1908 (*Repertoire d'epigraphie Jaina. Precede d'une Esquisse de l'histoire du Jainisme d'apres les inscriptions*). It is to be deplored that this gifted scholar had to earn his living by working in the Imprimerie Nationale, and could not devote the whole of his time to research in the field of Jainism, which he had studied under Jacobi's guidance We owe him the edition and translation into French of the *Jīvaviyāra* of Śāntisūri, the doctrine of which (along with the instructions of *Uttarajjhāyā*, chapter 36) he summarised in the *Revue de l'Histoire des Religions* Another of his contributions is the excellent, accurate *Essai de bibliographie jaina Repertoire analytique et methodiqne des travaux relatifs au jainisme* (1906, items n° 1–852), followed by invaluable indices This study, dedicated to Barth and Senart, lists the books and journal articles published until the end of 1905, it has been supplemented by the same scholar in the *Journal Asiatique* (X 14, 1909, p 417-448, "Notes de bibliographie jaina"), where the works published from 1906 to the end of 1908 are listed (items n° 853–1145). Moreover, in many later issues of the same journal, Guerinot gave bibliographical notes and various news concerning the projects and activities of the Jaina community, who regularly sent him first-hand and friendly information. His last book, written in French, is a very clear general exposition of *La religion djaïna. Histoire Doctrine Culte, Coutumes, Institutions* (1926, with 25 fine plates)

The next detailed treatment of the subject is that by L. Renou and D. Lacombe, in *L'Inde classique. Manuel des etudes indiennes* 2 (1953, p. 609–664 · sour-

ces, history of the Church, rites and customs by L. Renou, §§ 2387–2433; doctrines by O. Lacombe §§ 2455–2492; logic, Siddhasena Divākara by J Filliozat §§ 2493 f.). Since then, articles on Jainism have been published in several encyclopaedias (*Encyclopaedia Universalis*, *Encylopedie de la Pleiade*, *Histoire des religions* 1, p. 1105–1145, translated into English and printed in India, in the booklet by C. Caillat, A. N. Upadhye, B Patel, *Jainism*, 1974). On the other hand, the sect of the Terapanthis has been the subject of a communication in the Societe Asiatique of Paris (1950) by L. Renou, and of a paper written by L. Renou and Marie-Simone Renou (Une secte religieuse dans l'Inde contemporaine", *Etudes*, mars 1951, p. 343-351). In fact, both L Renou and Mme Renou had always fostered great interest and sympathy for Jainism, and a short account of their visit to Rajaldesar (Bikaner), in 1949, where they had been very kindly invited and received, is inserted by M. S Renou in her book *L'Inde que j'aime* (1968, p 98-113).

Some points of the Ardha-magadhi language and of the old religious ritual have been examined by C Caillat, in papers published in the *Journal Asiatique* or other periodicals (cf recently Fasting unto death according to the Jain tradition", *Acta Orientalia* 38, 1977, p 43-66, etc), in *Les expiations dans le rituel ancien des religieux jaina* (1965, translated into English, with corrections and additions, *Atonements in the ancient Ritual of the Jaina monks*, Ahmedabad 1975, L D Series 49), which owes much to the suggestions of L. Renou and W. Schubring On the basis of Berlin and Ahmedabad manuscripts, C Caillat further devoted a study to *Candāvejjhaya. Introduction, Edition critique Traduction Commentaire* (1971) Presently, it is planned to edit an art book on Jaina cosmography On the other hand, a Ph D. is being prepared based on a series of kathās preserved in some of the Strasrbourg and Ahmedabad manuscripts, while anthropological enquiries are devoted to the study of the rites in contemporary Jaina communities

To sum up, though, due to various circumstances, researches have, in France, focussed more on Brahmanism and Buddhism, it is certain that Jainism has always drawn the attention of scholars Jaina studies attract students all the more nowadays as this field appears to be comparatively virgin and it is ,related to a living, dynamic Community, who, being interested in its cultural heritage, is ready to cooperate whenever a genuine scientific project is submitted

लेखसार

फ्रान्स में जैन विद्याओं का अध्ययन

मैडम कोले कैले, पेरिस विश्वविद्यालय

उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध से विभिन्न विश्वकोशो तथा सामान्य पुस्तको में दिये गये जैन सिद्धान्तों और जैन समाज के विवरणो से फ्रास के विद्वान् प्रभावित होते रहे हैं। उन्हें जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मणों के सिद्धान्तों में रुचि रही है। सेनाई ने तो एक जैन पाडुलिपि सूची भी प्रकाशित की थी। फिर भी, फ्रांस के विद्वानों को इन मतों के तुलनात्मक अध्ययन में अधिक रुचि उत्पन्न हुई। इनमें सेलविन लेवी तथा

लुइ रेनो के नाम प्रमुख हैं। इन्होंने कनिष्क, शातवाहन, वल्लभी राजाओं के समय की जैन परंपराओं का अध्ययन प्रकाशित किया। जे० फिलियोजेट ने जैन और लातीनी आंकडों के आधार पर इनके समसामयिक विकास को प्रकाशित किया।

ए. गुयेरीनो ने 1908 में ही जैन शिलालेखों की सूची प्रकाशित की थी। इसने शान्तिसूरि के जीव विचार का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया। जर्नल एसियाटीक में जैन ग्रन्थों की 1909 तक उपलब्ध सूची प्रकाशित की। अन्त में उन्होंने 1926 में जैन धर्म पर भी एक विस्तृत पुस्तक लिखी। यह बडे दु ख की बात रही कि उस समय अनुसधान के लिये आर्थिक अवसर बहुत कम थे, इसलिये गुयेरीनो को अपनी आजीविका के लिये अन्य काम करना पडा। अन्यथा जैन विद्याओं के क्षेत्र में उसका योगदान और भी महनीय होता।

एल. रेनो और डी लेकोम्बे दूसरे प्रमुख विद्वान् हैं जिन्होंने 1950 से अपने अनेक लेखों तथा पुस्तकों के माध्यम से फ्रांस मे जैन विद्याओं को आगे बढाया। उसके बाद तो अनेक विश्वकोशों में इस सबध में नई नई जानकारी जोडी जाने लगी। इसका विवरण अनेक जगह उपलब्ध होता है। एल रेनो ने भारत की यात्रा भी की और तेरापन्थी श्वेताबर संप्रदाय से स्थापित अपने सपर्कों के आधार पर जैन धर्म और उसके सप्रदायो पर अनेक लेख व पुस्तकें लिखी।

मैडम सी. कैले ने भी फ्रास में जैन विद्याओ को आगे बढाया। उन्होंने अर्धमागधी भाषा और सल्लेखना के समान जैन आचारों पर शोध की। इस पर उन्होने देश-विदेशो में व्याख्यान दिये और अनेक पुस्तकें प्रकाशित की। इन्होने चन्दाविज्झाय का अनुवाद भी किया। इस समय वे जैन सृष्टि विद्या तथा जैन कथाओं पर शोध करा रही हैं।

इस प्रकार फ्रास में जैन विद्याओं के प्रति विद्वानो की रुचि निरन्तर बढ रही है। लेखक का विश्वास है कि जैन समाज एक गतिशील साम्स्कृतिक समाज है और इसने सदैव सांस्कृतिक एव वैज्ञानिक जैन-अध्ययन के लियें सहायता दी है। यह सहयोग ही फ्रास में जैन विद्याओं के अध्ययम और प्रसार में प्रेरक रहा है।

JAIN CONCEPT OF THE SACRED

Prof. Padmanabh S Jaini, California University, Berkeley. U S A.

Eliade, in his celebrated work *The Sacred and the Profane*, defines the sacred as being "equivalent to a power, and in the last analysis, to reality" "Man becomes aware of the sacred", he observes, "because it manifest itself, shows itself, as something wholly different from the profane". He maintains further that "for those who have a religious experience all nature is capable of revealing itself as cosmic sacrality" Accordingly, Eliade sees a religious man as one "who attempts to remain as long as possible in a sacred universe" and believes that "the completely profane world, the wholly desacralized cosmos, is a recent discovery in the history of the human spirit" [1]

Sacred for the Systems

It is obvious that Eliade's concept of the sacred and his idea of religious man are appropriate only to those religions which affirm the existence of a "wholly other reality" capable of manifesting in the "profane" The idea of a reality that is *wholly* other is somewhat unsatisfactory to the Hindu tradition otherwise, Eliade's scheme, if suitably modified, would appear to be adequate to comprehend the classical Vedic darśanas and Hindu theism in its multiple forms The latter has all the major ingredients of a "sacred" tradition belief in an Almighty Creator, his divine incarnations and power of his grace, belief in the authority of a revealed text, namely the Vedas, which are seen as the source of all knowledge, both ritual and spiritual, and belief in the divine origin of a social system which defines and regulates the activities of each and every member of society. Eliade's concepts of the sacred are, however, deficient when we consider the heterodox systems, particularly the religion of the Jains Unlike the Cārvākas, the Jains are salvationists, unlike the Buddhists, they believe in the existence of souls; hence they must have a concept of the sacred Nevertheless, their atheism requires that this sacrality be located neither in a Deity nor in its divine ordinances and manifestations, but in man himself, both in the middle of his bondage and in the very act of his isolation (kaivalya) from that bondage. Jainism is distinguished by its man-centredness, a feature which forcefully presents itself in the Jain opposition to all forms of theism and the alleged sacrality of the phenomena inspired by the Deity.

It is the Jain Claim that he alone among salvationists can truly explain the twin doctrines of bondage and freedom, of a beginningless saṃsāra and an endless mokṣa. The Vedāntin, because of his doctrine of the Absolute Brahman,

is forced to declare phenomena as illusory; he must hope that bondage can be wished away merely by denying its reality . The Sāṃkhya might admit the reality of both individual souls (puruṣa) and Prakṛti, but he renders the bondage of the soul a mere mockery by declaring that Puruṣa is totally incorruptible and unchangeable. The Mīmāmsaka is loath to admit the very idea of mokṣa, and does not accept the possibility of a man ever knowing anything beyond what the senses will perceive. Lest human beings should imagine that their puny intelligence is capable of properly managing their affairs, the Mīmāṃsaka, who quietly disposes of gods as mere nominalizations with dative case-endings, stipulates that the dharma or the laws of the universe and the duties of mankind are known only through the Vedas These are not the relations of a God whose authority must depend on a circular "validation" by the Vedas, nor are they compositions of human beings, however exalted Rather, these are eternal words, emenating from no man (apauruṣeya) but manifest themselves throughout the cyclical movements of the universe.

Yoga and Jain Systems

Yoga is one Vedic system which probably comes close to the fundamental teachings of the heterodox schools The term Jina is primarily a description of a yogin who has attained the goal of isolation (kaivalya) and omniscience (kevala-jñāna), indeed, the Jains have claimed that they are the true successors of the yogin depicted in the Indus valley seal. They point to the very significant fact that Hindu divinities are never represented in the posture of meditation (with the possible exception of Śiva as Daksināmūrti) and that the early Buddha images depict him either in the bhūmisparśa or the abhaya-mudrā of preaching By contrast, images of the Jain Tirthaṅkaras, from the immemorable past to the present day, are invariably shown either seated in a lotus posture or standing erect, rapt in meditation The discipline of the Pātañjala yoga, comprising of yama, niyama etc , agrees in many respects with the rules and regulations and holy practices prescribed for a Jain aspirant. It is conceivable that the Jains and the Buddhists on the one hand and the compilers of the Upanisads and the Gītā, represented by the Pātañjala school, on the other, all draw upon an earlier source of yoga which is common to both the Śramana and the Brahmanical traditions. What mainly distinguishes the Vedic yoga from that of the heterodox systems is Patañjali s adoption of Iśvara-pranidhāna (devotion to the Deity) as a means of attaining yoga, however inconsistent this may be with the doctrines of the atheistic Sāṃkhya and the monistic Vedānta.

Patañjali describes this Deity (Iśvara) as one who has never been in bondage, a being who is eternally free from afflictions, actions and their results. He is also an eternally omniscient being, "the guru of all gurus", unrestricted by time. Although called a "puruṣa-viśeṣa", Patañjali's 'guru' is not a human being like Mahāvīra or Gautama, both of whom also claimed to have acquired freedom from bondage and an irreversible state of omniscience. The belief in an eternally free

person capable of dispensing salvation by grace is a feature conspicuously absent in the heterodox systems. The Jains as well as the early Buddhists rejected this special category of an eternally free soul as purely arbitrary and observed the activities of a teacher were inconsistent with one deprived of the means of communication, namely mind, body and speech. They also maintained that the belief in such an omnipotent power makes the salvation of the human being dependent on the sweet will of an agency outside the control of the aspirant They affirmed, and sought to drive home by the examples of Mahāvīra and the Buddha, the message that human beings formerly in bondage, are able to break the begining less bond of samsāra, that they have within them the innate powers to realize, here and now, perfection and omniscience, independent of a Deity

Theistic Systems

The Yoga school probably saw Iśvara playing only the limited role of the spiritual teacher, the Guru But the theistic darśanas like Nyāya-Vaiśeṣika and the sectarian cults of Viṣṇu and Śiva, supported by their respective Upaniṣads Āgamas and Purāṇas, saw this Īśvara not merely as a benign Guru but as the "Sacred Power", the very source and sustenance of all creation He, the omniscient and omnipotent Lord, created the world of matter and souls and presided over the destinies of His creations He dispensed divine justice, weighing the actions of men, punishing the wicked and rewarding the righteous. He held in balance the forces of good and evil (dharma and adharma) by the mighty acts of His divine interventions, the avatāras Through the Vedas this Lord instructed man in his duties to gods and manes, to the society, and to himself and stipulated that he be guided not by a free chioce of conscience but by the dictates of varna and aśrama, that is, by the caste and stage of life in which he found himself. While stating in the *Gītā* that all actions (karma) must be followed by their results, the Lord also predicted dire consequences for breach of the caste duties, duties which must be maintained for the upkeep of the Universe But it was further promised, rather benignly, that these duties, however unpleasant, could become "sacrifice" or sacred acts, if performed as an act of devotion, and thus comprise the very means of man's salvation from the bonds of action.

This kind of theism soon became the most favoured means of salvation, asking nothing more than conformity to the varnāśrama dharma and an emotional adoration for the Deity in any chosen (iṣṭa) form It inspired mighty waves of bhakti movements which swept across the nation, absorbing countless numbers of diverse people, and assimilating a multitude of gods and cults within its fold. Caves were scooped and temples were erected to enshrine the images of the Lord, who was shown either in the terrible acts of destroying a demon, or, bedecked in royal splendour, enjoying conjugal happiness in the endearing company of His consorts. Poets and scholars alike, joined hands in glorifying the name of the Lord, whom

they trusted to take care of not only their ultimate salvation but even of their immediate yoga-kṣema, the daily bread and butter. The sectarian Purāṇas vied with each other in creating a world of fantasy for the benefit of the devotees, who silently accepted as "the Lord's will" untold injustices of an oppressive caste system from within and humiliating defeats and devastations at the hands of unbelievers from without.

Jaina Concept of the Sacred

As far as we know, no complaint was uttered either by the oppressed masses below or the enlightened brahmins above The only recorded protest that survives is to be found in the vast literature of the heterodox systems, especially of the Jains, a literature created mostly for the guidance of the Jain laity, which had to be protected from the overwhelming waves of bhakti that engulfed the rest of India. A careful study of this literature, particularly during the medieval period, shows the Jains as pioneers among those who challenged the authority of the Vedas, disputed the efficacy of their sacrifices, repudiated the doctrine of the Creator, rediculed the sacrality of the avatāras, and rejected the brahmanical rituals. In this way they sought to establish a "desacralized cosmos", if we can use such an expression, in which to pursue kaivalya or "isolation", their vision of salvation.

The Jain critique of the "sacred" in the Vedic tradition centers around the examination of the nature of an āpta, a technical term meaning 'reliable authority' in matters pertaining to salvation of the soul from the bonds of saṁsāra. This clearly falls in the realm of dharma, and the Mīmāṁsaka declares that only the Vedas, by virtue of their being apauruseya (uncreated by a human or divine agency) are to be considered āpta The problem of eternal words engaged the attention of such scholastic philosophers as Jaimini, Kumārila and Bhartṛhari, but Jains saw no difficulty in dismissing the whole controversy with the simple observation that the Vedas consist of words, and like any other composition, must have a human author The Theist intervenes here, attempting to save the situation by declaring that the Veda are neither Uncreated nor man-made, but emenate as revealation from the Creator, the eternally free and omniscient being who alone deserves to be called āpta The Jain arguments against this theory are basically two-fold 1) Creation is not possible without a desire to create and this implies imperfection on the part of the alleged Creator 2) If karma is relevant in the destinies of human beings, then God is irrelevant, if he rules regardless of karma of beings, then he is cruel and capricious In brief, the Creator is not free from rāga and dveṣa and hence is neither free nor omniscient, therefore, he cannot be an āpta.

The Jain needed no better proof for his thesis than the Hindu Purāṇas, which narrated the most shocking deeds of their God, perpetrated as He assumed the forms of Brahmā, Viṣṇu and Śiva. They extolled what appeared to the Jain the most hideous and immoral exploits of Narasimha or Kṛṣṇa, the Lord's alleged avatāras or manifestations on earth. Akalaṅka, a celebrated ninth century logician

expresses the Jain indignation over worship of the Hindu Trinity in his famous stotra to a Jina[8].

The Jain could allow that the Purānic tales of the avatāras were probably figurative and therefore their teaching should be tested against more difinitive texts like the Vedas, the Brāhmanas or the Dharma-śāstras, which claimed the prerogative to instruct on dharma and adharma. Even here the Jain was disappointed, for these texts bristled with self-contradictions and seemed to lack any universal ethic which could be applied at all times for all human beings[8]. Having, for instance, enjoined that "Thou shall not injure any being" (na himsyāt sarvabhūtāni), the scriptures had no scruples whatsoever against openly prescribing killing of animals for the sacrifice to gods and also as offerings to the manes ! Even more obnoxious to the Jain was the fact that such sacrificial hiṃsā was not only declared to be without evil, but was even labelled as "dharma", a virtuous act ! Hemacandra (1088-1172) indignantly asks . If hurt, how cause of merit ? If cause of merit, how hurt ?" The Dharmaśāstras, having said "Let him not speak what is untrue" (nānrtam brūyat), proceed to make an exception "For the sake of a Brahmin he may speak what is not true" (Āpastamba), they even list five occasions upon which speaking an untruth is not a lie when spoken in jest, when told in dealing with women, at the time of marriage, when in the peril of life, or in the complete loss of goods. (Vasiṣta XVI 36) Having forbidden stealing and having repudiated taking what is not given, Manu has no hesitation in saying "Even if a brahmin by violence appropriates another's goods, or by ruse, nevertheless there is on his part no taking of what is not given; for all this (world) was given to the Brahmins, but through the weakness of the Brahmins the outcasts enjoy it And therefore a Brahmin, taking it away, appropriates his own, a Brahmin simply enjoys his own, he dresses himself in his own, he gives away his own" (Cf *Manusmrti* I, 101)

Further, in examining the domestic rituals enjoined by the Law books the Jain found that a great many of these were acts of gross superstition, exploited by the brahmins to earn an easy livelihood They scrutinized, for example, the ceremony of śrāddha to the ancestors by feeding the brahmins, a practice of great antiquity which forms the very foundation of the Hindu family system even to this day This ritual is of crucial importance to the Hindu because it is considered a fulfilment of a major obligation under the varnāśrama-dharma. A man must enter the stage of a householder (grhasthāśrama) by marrying according to the caste rules Begetting a son is obligatory because only a son can guarantee the ghost (preta) of the dead (father) a new body and a safe passage to the world of ancestors (pitrs); he does this by periodically offering nourishment in the form of śrāddha. Brahmins are fed sumptous meals on these occasions and it is believed that they are able to transfer the merit directly to the deceased fathers The son is rewarded for his service with the right to inheritance of the paternal property, and a prosperous lineage is expected to result from the blessings of the ancestors.

The Jain ācāryas forbade this ritual to their laity not only because it defied common-sense but also because it was in direct violation of the law of karmas. They argued rather sarcastically that there was no invariable causal relationship between the performance of the śrāddha and prosperity of the lineage. It was clear that most people who performed it saw no increase in their lineage; on the other hand, such creatures as donkeys, pigs and goats increased their lineage even without performing the śrāddha And as for the claim that "What is enjoined by the Brahmins accrues to the ancestors", the Jain critic Malliṣena (1292 A. D.) retorts . "Whoever is to agree to that ? For only in the Brahmin do we see the fattened bellies, and transference of these into their (the ancestors' bellies) just cannot be believed, since at the time of feeding no single sign of such transferrence is perceived, and because only on the part of the Brahmins is satisfaction witnessed".[4]

The claim that the departed soul depended on his son's offerings in order to acquire a new body was a rather serious one The Jain believed that a departed soul automatically assumes a new body—human or animal, hellish or heavenly—forged by his past karmas, and also that the new incarnation occurs no more than three instants (samaya) after discarding the old body. The Jains had no place for the world of Fathers (Pitr-loka) in their cosmology and could not cherish the idea of preserving a "point of meeting between the living and the dead", which they saw as a constant source of fear and attachment. Nor could they accept the dicates of the varnāśrama, pertaining to marriage and the begetting of a son, rather than being obligatory, these acts were considered optional and preferrably to be avoided. A man owes nothing to either gods or ancestors, while kindness to parents is a virtue, it is nevertheless perfectly proper to renounce the world whenever one is ready to follow the higher call.

The Jain law-givers extended this same critical attitude towards variety of "holy" and "meritorious" practices which orthodox Hindus cultivated with the aim of coming closer to the divine manifest in nature Somadevasuri (959 A. D) gives a long list of such practices which he labels as mūdhatās (follies) 1. Offering libations to the sun, 2. bathing during eclipse, 3 spending wealth at samkrānti (winter solstice), 4. performing sandhyā ritual (ablutions at dusk), 5 worshipping fire, 6. worshipping a house, 7. worshipping one's own body (by smearing it with ashes, etc), 8 ritual bathing in rivers and oceans, 9 saluting trees, 10. jumping from holy mountains, 11 saluting the end of a cow's tail, 12. drinking cow's urine, etc. "These and many others", he warns, "are follies prevalent in the world. A Jain performing these, whether in order to obtain a favour or to maintain one's position in society, will surely lose samyag-darśana, the true insight into the nature of reality".[5]

The Jain idea of the "sacred" is clearly shown in one of their most ancient litanies, which lists four śaraṇas or refuges, also called maṅgalas, the auspicious

ones. These are arihanta (Skt. arhat), siddha, sādhu and the dharma taught by the Kevalin or omniscient one. The first of these, the arhat, means the Worthy, the Holy One, he is also called Jina (The spiritual victor), after whom the Jains take their name. Both arthat and jina were originally Jain terms, which were adopted by many other śramanas including the Buddhists, the terms are conspicuously absent in the Brahmanical tradition. The arhat is an ascetic, like Mahāvīra, who by contemplation and exertion, has attained to omniscience and has acquired an irreversible state of freedom from the bonds of saṃsāra. While the current state of embodiment continues, he preaches the law (dharma) as he has perceived it through his omniscience At the end of his normal life, his pure soul discards the last of the physical and karmic bonds, becomes totally isolated from all associations, and resides forever at the peak of the universe (loka-ākāśa), endowed with infinite knowledge and bliss. He is then called siddha, the Perfected One Theoretically the siddha is higher than the arhat but the latter is given precedence in the Jain litany, for only the arhat is able to preach the law and be a guide to the disciples. The third refuge, the sādhu, is an aspirant, an ascetic who follows the path of purification and adheres to the doctrines preached by the arhat These doctrines and practices will constitute what is called dharma, the fourth refuge, the mangala by which the Jain abides

It is the contention of the Jain that a person becomes an arhat not by the grace of any Higher Being but by dint of his own insights (darśan) and exertions (cāritra) He is no doubt helped by the example and preachings of previous Teacher-arhats, called Tīrthankaras ('Ford-makers'), similarly, he will help others who follow in his wake. The line of Teachers had no beginning and will have no end, any one can at any time join the line, be counted a Teacher and become a siddha The Jain thus replaces the Yoga doctrine of a single and enternally free Īśvara with an interminable succession of 'human' Teachers rising in the course of time These Teachers do not respond to the aspirant's devotion (pranidhāna), nor can they influence his career, they remain totally indifferent to whether their teachings are received or rejected The relationship between a Jain and his Jina is strictly impersonal. There is no concept of ista, although Mahāvīra is recognised as a historical person and his nirvāna is commemorated by an era (the Vīra-nirvāna-saṃvat, 527 B C, probably the oldest historical era in India), he receives the same worship as any other Jina, since they all preached the same perfection and taught the same doctrine The Jain layperson worships the image of the Jina totally independent of any priest, he does this in a rather lavishly furnished shrine—an imitation of the holy assembly (samavasarana) where the Jina preached his sermon—and is fully aware of the absence of any Deity, considering the whole act as purely a reminder of his true goal. Nor is there any expectation of gaining absolution from the confessions (pratikramaṇa) he makes in the presence of the Jina image or of the sādhu, for the laws of karma are irrevocable and no power, however mighty, can enable one to escape the consequences of his own acts.

Through acts of worship a Jain may hope to secure such results as karma-kṣaya (destruction of karma), bodhi-labha (attaing enlightenment) or samādhi-marana (holy death in meditation), but as far as worldly gains are concerned, the Jina is past granting any boons, it is unbecoming to even entertain such thoughts in his presence. It is true that this situation makes it possible for the Hindu divinities and Jain demi-gods (yakṣas) to creep into the Jain temples in the guise of door-keepers (dvāra-pālas) or guardian deities (śāsana-devatās), catering to the emotional needs of the weaker sections of the Jain laity But the informed Jain pays no more attention to them than he would to a distinguished guest visiting the temple, for he firmly believes that one reaps the fruits of one's own karma, whether good or evil; no one can add to or take away from another's karma, not even the mightiest of the gods, for they too are subject to the same law. Karma is a psycho-physical complex, although neither holy nor sacred, it is nevertheless a power to be reckoned with, a power which is not to be propitiated but rather to be challenged by the aspirant and overcome by his insight and pure conduct The Jain ācāryas who struggled against the bhakti movements contended that Iśvara and karma are not compatible, the God will always be invested with powers labeled as "sacred", to intervene in the automatic operation of karma, to nullify its effects and finally to set it aside as mere illusion They argued that such a belief destroys the roots of Universal ethics and justice, instead of making a man self-reliant and motivated to develop his innate powers, it makes him a fatalist resigned to the mercy and favour of a higher power Therefore they attempted to depict the Hindu trinity of Brahmā, Visnu and Śiva as a collection of sham gods (kudevas), not to be depended upon for salvation Further, they exerted great effort in dealing with the two human avatāras, Rāma aud Krsna, for these could not be dismissed as mere myth, and their cults had become a real threat to the integrity of the Jain laity The Jain ācaryas had no difficulty in accepting the hero of the *Rāmāyana*, whose life had been nearly ideal, except for the deplorable act of killing the demon king Rāvana, an act which was the main purpose of the Rāmāvatāra They could not let him kill Rāvana and yet not take the consequences of going to hell ! Therefore they very ingeniously drafted a Jain *Rāmāyana* and saw to it that Rāvana was killed not by Rāma but by his younger brother Laksmana, and the latter was cosigned to hell.[6] They made Rāma renounce the world in the time-honoured fashion of Jain ascetics, and accepted him as an arhat and a siddha, a true model for the Jain laity. The controversial Kṛṣna, however, did not fare so well. The *Mahābhārata* is filled with accounts of his trickeries as a statesman; he had killed countless humans and demons. The Jain ācāryas tried as best as they could to paint a more flattering picture of Kṛṣna in their Purānas (e. g. the *Harivaṃśapurāṇa* of Jinasena), making him a contemporary of one of their Tirthankaras named Neminātha, but finally had no alternative but to send him to purgatory to suffer the consequences of his actions They did predict however, that when he emerges from purgatory in the near future, Kṛṣṇa will be a Tirthaṅkara and will be worshipped by both gods and men

By their rather bold but not altogether unexpected treatment of Rama and Kṛṣna, the Jains were proclaiming their firm belief that violence (hiṃsā) is not compatible with the 'sacred", that the scriptures which approved violence as a means of dharma were not holy, and also that no person, however exalted, is to be emulated if his conduct brings harm to other beings Non-violence or ahiṃsā is the basis of all dharma, and this ahimsā itself rests upon the knowledge that all beings, even the most insignficant ones, possess an immortal soul, capable of attaining perfection. This seed of perfection called samyaktva is the single most "sacred" thing for the Jain. Upon this foundation he has built a very elaborate network of holy practices for the realization of his true nature[7]

References

1 M Eliade, *The Sacred and the Profane*, New York, 1959, pp. 11-13.

2 Akalanka-stotra, *Nitya-naimittika-pathāvalī*, Karanja, 1956.

3. Mallisenna's *Syādvādamañjarī*, Agas, 1970

4 *Syādvādamañjarī*, kārika 11

5. See *Upāsakādhyayana*, kārika 136-140

6 Hemacandra's *Trisastisalākāpurusacarita*, VII, 10, 231

7 For a full description of this path, see P S Jaini, *The Jaina Path of Purification*, California, 1979.

लेखसार

पवित्र की जैन धारणा

प्रो० पद्मनाभ एस. जैनी

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले, अमेरिका

ईलियेड ने अपनी पुस्तक 'दी सेक्रेड एण्ड दी प्रोफेन' में पवित्र और अपवित्र को स्पष्टतः विभेदित किया है और बताया है कि मनुष्य धार्मिक अनुभव से पवित्रता के प्रति उन्मुख होता है। उनका कथन है कि विश्व में अपवित्रता का गुण पहले नही था, अभी ही आया है। यह मान्यता सर्वशक्तिमान् ईश्वरवादी, वेदविश्वासी, कर्मकाण्डी एवं अध्यात्मवादी हिन्दू परम्परा पर भी कुछ परिवर्तित रूप में लागू हो सकती है, लेकिन अनीश्वरवादी जैनों के लिये यह पर्याप्त अपूर्ण है। जैन मान्यता के अनुसार, पवित्रता का केन्द्र बिन्दु कोई अतिमानव या ईश्वर नहीं, अपितु मानव स्वयं को मानना चाहिये। मानव को सम्पूर्ण विकास की क्षमता का केन्द्र बिन्दु मानना आध्यात्मिक विकास का मूल है। अनादि संसार और अनन्त मोक्ष की धारणा की सही व्याख्या जैन मान्यता से ही हो सकती है वेदान्त, सांख्य और मीमांसक लोग ईश्वर या वेद-वादी

होने के कारण विश्व और उसकी पवित्रता के सम्बन्ध में यथार्थ नहीं कहते । हां, योग और जैन मान्यताओं के बीच कुछ सह-सम्बन्ध सोचा जा सकता है क्योंकि जैन भी योग का अभ्यास कर पवित्रता की ओर बढ़ते हैं । लेकिन पतंजल की 'पुरुष विशेष' की मान्यता जैन और बौद्धों से मेल नहीं खाती । ऐसे विशेष देव या पुरुष की मान्यता मानव को अपने विकास के लिए परावलम्बी बनाती है । मानव अपने श्रम और साधना से स्वयं ही पूर्ण विकास कर सकता है, यह महावीर और बुद्ध की मूलभूत शिक्षा है ।

ईश्वरवादी दर्शनों में कर्मकाण्ड और भक्तिवाद का विविध रूप में विकास हुआ । देवता के मन्दिर बनने लगे, पूजाओ की विविध विधिया आरम्भ हुई ईश्वर लोक की कल्पनायें की जाने लगीं और ईश्वरीय इच्छा के आगे सभी नतमस्तक हो गये । इन मान्यताओं के विरुद्ध शिकायत करने वालो में जैन सर्वप्रथम रहे । मध्यकालीन धार्मिक साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि जैनों ने वेद, बलिप्रथा, ईश्वर, कर्मकाण्ड आदि का विरोध किया और सम्भवत: आत्मविकास के लिये 'अपवित्र' ससार की बात कही ।

जैनों ने ईश्वर के विपर्यास में आप्त पुरुष की बात कही और तर्क तथा पौराणिक कथाओं और आख्यानों के बल पर ईश्वर का खण्डन किया । शास्त्रों में वर्णित विरोधी आदेशों का उल्लेख किया । उन्होंने कर्मवाद और सामान्य अनुभूति के आधार पर श्राद्ध के समान अनेक रूढ संस्कारों का विरोध किया । सोमदेव सूरि ने बारह मूढताओ का वर्णन करते हुए बताया है कि रूढियां सम्यक् दर्शन में बाधक होती हैं ।

जैन धारणाओं के अनुसार, विश्व में चार मगल और शरण होते हैं—अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म । कोई भी व्यक्ति अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र की विशेषता से ही अरिहन्त हो सकता है, किसी की कृपा से नही । अनेक अवतार या तीर्थंकर उसके लिये मार्गदर्शक का काम करते हैं । इस प्रकार जैन योगमत के अनुरूप किसी पुरुष विशेष को न मानकर समय-समय पर होने वाले पुरुष विशेषो या गुरुओं को मानता है । ऐसे पुरुषविशेषों की पूजा-भक्ति से कर्मक्षय, बोधिलाभ, समाधिमरण संभावित हैं लेकिन इससे सांसारिक लाभ कुछ भी नही होता जैसा अन्य मत मानते हैं । कर्मवादी जैन कर्म को एक मनो-भौतिक जटिल तन्त्र मानते हैं जिस पर विजय पाना अति दुष्कर है । जैनाचार्यों ने बताया है कि ईश्वरवाद और कर्मवाद साथ-साथ नहीं रह सकते । ईश्वरेच्छा की पवित्रता मानव का उद्धार नही कर सकती । हिंसा और पवित्रता साथ-साथ नहीं रह सकते । अहिंसा ही परमधर्म है । इसी को जैन शास्त्रों में सम्यक्त्व कहा गया है । जैनों के लिये रत्नत्रय रूप सम्यक्त्व (श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र) ही पवित्र है । इसकी प्राप्ति के लिये शास्त्रों में अनेक उपाय सुझाये गये हैं । सम्यक्त्व के अनुगमन से मानव पवित्र होता है ।

JAINISM AND MODERN SCIENCE—A COMAPARATIVE STUDY

Dr Duli Chandra Jain, York College, New york, U S. A.

Introduction

Religion is the science of living, and science and technology are essential for sustaining life on earth Thus religion and science are two sides of the same coin. The Sanskrit word for religion is DHARMA which literally means attributes. Thus religion deals with the attributes of human life—of soul and matter Religion teaches us the way to lead a healthy, meaningful and fulfilling life It tells us how to deal with our fellow man and with other living beings Religion is supposed to bring out the best in human beings

Science is the systematic and accurate knowledge of things and events which occur in nature It is the study of matter and energy, plant and animal life, the utilization of natural resources without upsetting the delicate balance in nature, making human life better on earth without hurting the environment—the vegetable and animal kingdoms Science and Technology advance continually and thus life on earth keeps on changing, mostly for the better Religion, being the science of living, is also supposed to change with time In the present article, a few features of Jainism are compared with modern science in light of the above ideas

The three jewels of Jainism and the Scientific process

The scientific process consists of the following steps

1 Making observations with an open mind without any bias.
2 Seeking a rational explanation of the observations and building a consistent theory
3 Performing further experiments to test and extrapolate the theory.

For centuries, science has advanced by way of the scientific process and the state of scientific knowledge is still progressing A theory is upheld as long as it provides a rational explanation of experimental observation and fits the current structure of scientific knowledge If any theory proves to be inadequate due to some changes in the state of scientific knowledge or in view of further experimentation, it is discarded and replaced by another theory There is no room for dogma or preconceived notions in science

The scientific process is in complete agreement with the three jewels of Jainism (RATNATRAYA). These are the proper perspective (SAMYAK DARŚANA), the proper knowledge (SAMYAK JNĀNA) and the proper life-style (SAMYAK CĀRITRA).[1] The proper perspective involves observing and studying nature-living and non-living, with a view point without any bias. However, this does not preclude the study of religion, Philosophy and science. After a careful observation and thought comes the proper knowledge.[2]

This does not necessarily imply knowing what is written in the holy books or accepting what is preached by a learned person. The third jewel in the life of a Jain is adopting the proper life-style This involves living in harmony with the fellow beings and with nature. It should be emphasized that the proper way of living does not end with such religious activities as worshiping, praying, chanting, listening to sermons, studying religious books, etc. On the other hand, indulging in these religious activities is undesirable if it is done with an intent of show, pride, greed of material comforts in this life or desires of comforts in after-life. The proper way of living involves being at peace with oneself and with one's environment. In fact, all religious activities are just as essential for learning and adopting the proper life-style as schooling is for career development.

It is obvious that the proper life-style entails minimizing violence of one's own feelings and violence towards other living beings Thus non-violence is said to be the supreme religion. Further, telling a lie, stealing, wasting natural resources, etc , entail violence of self and of other beings Therefore, practice of non-violence requires being truthful, non-stealing and avoiding the acquisition of unnecessary materials

The Theory of Karma and the Scientific view of natural Phenomena

According to modern science, all natural phenomena involve interactions between matter and energy. Water from rivers and oceans is evaporated by the rays of the sun The water vaporises, clouds are formed and it rains Thus rain is the result of the interactions between solar energy, water, atmospheric particles, wind etc Such interactions take place because of the intrinsic properties of matter and energy Charcoal burns because atoms of carbon have the capability of combining with atoms of oxygen There is repulsion between similar electrical charges and attraction between dissimilar electrical charges. Therefore, a proton attracts an electron The electronic circuit in a radio receiver detects the radiowaves, amplifies and rectifies them, and, converts electromagnetic energy into sound energy On the microscopic scale, matter (atoms, electrons, etc.) and energy (electromagnetic waves) possess certain attributes. Consequently, on the gross scale, the components of the radio receiver and radiowaves exhibit some specific properties which are responsible for the working of a radio set. These are examples of interactions between matter and energy. The Karma theory deals with the interactions between soul and ultramicroscopic particles of matter

The theory of Karma states that ultrafine material particles (Karma) are associated with the souls of all living beings. Such souls are impure due to the association of Karma particles. Further, the activities of 'life' involve the interactions between impure soul and Karma particles These interactions include the following ·

(a) The Karma particles of various types are attracted by the (impure) soul and the soul sets more Karma particles in its possession. This is known as influx and binding (Asrava and Bandha) of Karma.

(b) The soul voluntarily or involuntarily sheds certain Karma particles. This is known as sheddins (Nirjana) of Karma

(c) The Karma particles in the possession of a soul of one kind or intensity can be transformed by the soul into Karma particles of another kind or intensity We shall call this as the transformation of Karma particles [3]

In addition to Karma particles, there is pseudo-Karma (Nokarma)[4] matter associated with impure souls. The pseudo-Karma include the body, food, medicine apparel, family and other environments The impure soul has the sensation of pleasure or pain due to the association or Karma and pseudo-Karma The feelings and emotions of various kinds initiate and guide the interactions between the soul and the Karma particles mentioned above However, soul is the master of self and the master of Karma, especially in view of the kind of interaction of type (c)

For example, consider 3 students, Sheila, Ram and Padma, who have to take an examination Suppose all three have the same type of Karma particles associated with their souls However, Padma studies and prepares well for the examination, takes it with composure and ends up with a good grade Thus Padma succeeds in transforming the unfavorable Karma particles in her possession. Ram and Sheila fail the examination Ram sets upset and angry. He blames his Karma and pseudo-Karma (teacher, books, the system, weather, etc.) for his failure. He feels miserable and accumulates more undesirable Karma particles. Sheila takes her failure in stride and makes a determination to study regularly in the future Obviously, she accumulates particles which are of different kind from those obtained by Ram.

It should be remarked that it is only the impure souls which experience pleasure and pain throush their bodies. Further, each individual soul is independent. The pseudo-Karmas such as a teacher, a visit to the temple, going to a movie or a health spa, may or may not give rise to the feelings and emotions of one kind or another Thus the same pseudo-Karma may result in the influx of Karmas of different types and intensities in different individuals. This can be compared to a chemical reaction which proceeds differently and, in certain cases, results in

different products, depending on the experimental conditions. In any given situation, characterized by the presence of a set of Karma and pseudo-Karma in one's possession, any individual may have (or may lack) the willpower to mould one's feelings and emotions. Consequently, the person can control, to a lesser or a greater extent, the experience of the Karma in his/her possession and he/she can also influence the influx of new Karma particles.[5] This is the phenomenon of mind over matter.

The realization of the fact that soul is different from the matetial particles (Karma and pseudo-Karma) and that a pure soul is not influenced by material particles is known as the science of differentiation (Bhedavijñāna). This leads to penance (Tapa) which is the absence of feelings and emotions-absence of all desires. This causes sheddings of Karma and cuts of the influx of new Karma particles. Eventually, the soul sheds off all Karma particles and attains salvation (Nirvāṇa). Accordings to Jainism, each individual pure soul is God. It has the attribures of infinite perception (Anant Darśana), infinite knowledge (Ananta Jñana) and infinite bliss (Ananta Sukha) Obviously, having the desire to attain salvation or the desire to accumulate 'good' Karma is improper. The right way is just to inculcate human qualities-to live every moment of life being guided by the three jewels of Jainism However, this is a difficult path and one can only try one's best

The Doctrine of Seven Aspects, Relativity and Quantum Mechanics

The Jain doctrine of seven aspects (Syāduāda or Anekānta) is unique in Indian Philosophy It states that the result of an observation depends on the viewpoint of the observer. There are seven aspects which are useful in the observation and interpretation of the entities and events that occur in the universe

1 The positive aspect (Syādasti).
2 The negative aspect (Syātnāsti)
3 The confluence of positive and negative aspects (Syādastināsti)
4 The inexpressible aspect (Syādavaktauya)
5. The positive inexpressible aspect (Syādasti Avaktavya)
6 The negative inexpressible aspect (Syānnāsti Avaktavya).
7. The confluence of positive and negative inexpressible aspect (Syādastināsti Avaktavya)

It is rather difficult to understand the full implications of the doctrine of the seven aspects. On the surface, the positive, negative and inexpressible aspects, and, their confluence appear to be inconsistent, but, these different aspects are quite compatible with each other For example consider the following :

(a) Is a tea kettle indestructible ?

According to the law of conservation of matter and energy, the tea kettle is indestructible. This is, say, the positive aspect. However, the tea kettle is

subject to a variety of transformations. It can be broken into pieces and can be turned into some other object. Thus from this viewpoint, it is not indestructible This is the negative aspect. A compromise of positive and negative aspects can be easily made in this case.

(b) Is a magnetic field associated with an electrically charged sphere placed in a laboratory ?[8]

According to modern science, there is no magnetic field associated with a charge at rest However, there is a magnetic field associated with a charge in motion. Thus if scientist in the laboratory performs an experiment to detect the magnetic field due to the charged sphere, the result will be negative. However, if an astronaut on a spacecraft performs the same experiment, he will detect a magnetic field due to the charged sphere because he is in relative motion with respect to the charged sphere.

(c) If a coin is tossed, will it come up heads or tails ?

Obviously, it is impossible to predict the outcome of the toss This is the inexpressible aspect. Now if the coin is tossed 20 times, it is reasonable to expect that it will come up heads 10 times However, in any given set of 20 tosses, there is a certain finite probability of its coming up no heads at all, there is a certain finite probability of it coming up heads only once, there is a certain finite probability of its coming up heads twice, and so on and so forth Obviously, the answer to the question depends on the point of view adopted in answering it.

(d) Consider a ball tied to the end of a string being whirled round and round at a constant speed It is fairly easy to determine the position of the ball at any instant of time. Now according to modern science, a hydrogen atom consists of an electron revolving around a proton In this instance, it is not possible to predict the position of the electron precisely. This is the inexpressible aspect. Now if we determine the positions of the electrons of a large number of hydrogen atoms at a given time (or if we determine the positions of the electron of a single hydrogen atom at different instants of time), it is found that there is a definite probability of finding the electrons (electron) at a distance of about 0.0000000053 cm from the protons (proton) Note the similarity between the present experiment and the experiment of tossing a coin described in the previous example.

There is a rich variety of experiments in modern science which illustrate the doctrine of seven aspects

According to Einstein's theory of relativity, the result of an observation depends on the relative motion of the frames of reference in which the body being observed and the observer are situated Thus, if an astronaut in a speeding spaceship, observes the length of rod, the time interval between two events and the magnetic field due to a charged sphere, all placed in a laboratory, his observations

will differ from those of a scientist in the laboratory. Some consequences of the theory of relativity, which have been verified experimentally, are ·

1. The mass of a particle increases with its velocity.
2 Energy = (mass) × (velocity of light)[2]

This is the famous mass-energy equivalence equation which indicates that mass can be converted into energy and the energy can be converted into mass. A certain amount of mass is totally annihilated and converted into energy in atomic reactors In the Phenomenon of pair producton, energy is converted into mass, i e, a pair of electron and positron (positively charged electron) is created out of energy

According to modern science, in certain experiments, light waves (electromagnetic waves) exhibit the properties of wave motion and in certain other experiments, they behave like particles known as quanta Quantum mechanics is the branch of science which deals with the motion of quanta. A fundamental postulate of quantum mechanics (which is also known as wave mechanics) is Heisenberg's uncertainty principle (or the principle of indeterminacy). It states that it is impossible to simultaneously determine the precise position and the precise momentum (m×v) of a particle Similarly, it is not possible to simultaneously determine the precise energy of a particle at a given instant of time. Much of modern scientific research is based on the principle of indeterminacy and on quantum mechanics Further, there is the branch of science called the relativistic quantum mechanics in which aspects of the theory of relativity are incopporated in quantum mechanies Researches in quantum mechanics and relativistic quantum mechanics have led to a great deal of scientific progress. At present, it is not possible to establish a one to one correspondence between the doctrine of seven aspects, and, the theories of relativity, quantum mechanics and relativistic quantum mechanics However, it is evident that the principle of uncertainty is somewhat similar to the inex pressibility aspect, and, the theories of relativity and quantum mechanics are parallel to the Jain doctrine of seven aspects

To a scientist, the theories of relativity and quantum mechanics provide powerful tools for scientific research and progress. To a human being, the doctrine of seven aspects, not only provides a means of achieving the proper perspective and the proper knowledge, but it also furnishes an effective means of living at peace with the self and the surroundings The proper perspective, the proper knowledge and the proper action can result only if we understand the various viewpoints. Peace and harmony can come only if we try to understand others position Thus the doctrine of seven aspects is the basis for acquiring the knowledge of the universe and it is also fundamental for adopting the proper life-style. It should be emphasized that understanding others viewpoint leads to the absence of anger (KRODHA), pride (MĀNA), deceit (MĀYĀ) and greed (LOBHA). This results in the shedding of KARMA particles and the prevention of the influx (SAMVARA) of new KARMA particles.

Matter and Energy

According to Jainism, matter (Pudgala) has the following four attributes .

Touch (Sparśa), taste (Rasa), smell (Gandha) and color (Varna). Touch is of two kinds Smooth (Snigdha) and rough (Rooksa) The Sanskrit words Sparśa, Snigdha and Rookṣa have the common meanings touch, smooth and rough, respectively. However, in Sarvārthasiddhi, Ācārya Pūjyapāda has written

Snigdharookṣatvaguṇanimittāvidyut.

This literally means that lishtning is the result of the Snigdha and Rookṣa attributes On this basis, Prof G R Jain has identified the Snigdha and Rookṣa kinds of Sparśa with the positive and negative kinds of electrical charges. Thus Sparśa refers to electrical charge Further, color (Varna) can be related to the characteristic radiation emitted and absorbed by the nuclei, atoms and molecules of the various kind Possibly, the words Rasa and Gandha also do not have their common literal meanings in this context This may also apply to the words Asti, Nāsti and Astināsti of the doctrine of seven aspects Incidentally, the names given by the modern scientists to the attributes of some elementary particles are charm, flavor and color In this context, these words also have meanings at variance with their common meanings

One remarkable aspect of the Jain concept of matter (Pudgala) is that light, heat, sound, images, etc., have been enumerated as the transformations of matter (Pudgala).[7] The equivalence of mass and energy which is a consequence of the theory of relativity is in complete agreement with this concept of Jain theory of matter Further, the Jainas say that the binding of the various particles occurs due to the Snigdha and Ruksa attributes This is also in agreement with modern Science.

Conclusion

It is evident from the above discussion that the broad premises of Jainism and modern scienee agree to a great extent Further, there is a lot of room for scientific study as far as the Jain concepts of universe, matter and souls are concerned An objective study of the Jain principles may bring out some detailed agreement between Jain concepts and modern science.

References

1 The Sanskrit word SAMYAK means rational and proper.

2. PRAMĀNANAYAIRAHIGAMAH-TATTVĀRTHASUTRA by UMA-SWAMI, Chapter 1, SUTRA 6 It means that the knowledge is attained by means of experimentation (experimental proof) and logical thinking.

3 This includes (a) change of Karma of one subclass to Karma of another subclass (Sankramana and Udvelana) (b) decrease in intensity and duration (Apakarsana) and (c) increase in intensity and duration (Utkar-

sana) of Karma Tattvārthasūtra (Hindi) by Pt. Phool Chandra ji Siddhantashastri, published by Varni Granthmala, Varanasi, First edition pages 395, 398-404.
Also, see Gommatsāra Karmakānda, Gatha 409.

4. Ibid, Gatha 3. Nokarma is also known as Nimitta
5 Tattuārthasūtra by Umaswami, Chapter 6, Sutra 6.
The type of incoming Karma particles depends on the following
(a) intensity of feelings, (b) intentional of unintentional nature of actions, (c) type of pseudo Karma and (d) capability of the individual
6. Cosmology Old and New by Prof G. R. Jain published by Bhartiya Jñāna Pitha, 2nd edition, pp viii-ix

लेखसार

जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान : एक तुलनात्मक अध्ययन

डा० दुलीचन्द्र जैन, यार्क कालेज, न्यूयार्क, अमरीका

वस्तुत विज्ञान और धर्म एक ही सिक्के के दो पहलू है। धर्म हमें जीवन में जीने की कला सिखाता है। विज्ञान जगत के सभी द्रव्यो और घटनाओं की व्याख्या करने और हमारे जीवन को भौतिकत सुखी बनाने का प्रयास कर हमारे धार्मिक जीवन को उन्नत बनाने में योगदान करता है। विज्ञान निरीक्षण, परीक्षण एव सिद्धान्तीकरण की प्रक्रिया द्वारा पूर्वाग्रह रहित पद्धति को अपनाता है एव हमारे ज्ञान तथा क्रियाओं को प्रभावित करता है। जैन धर्म के अनुसार भी धार्मिक जीवन के लिए रत्नत्रय का मार्ग बताया है। दर्शन निरीक्षण का प्रतीक है, ज्ञान परीक्षण का प्रतीक है और चरित्र इनके प्रयोग और व्यापकीकरण की सभावना का प्रतीक है।

जैन धर्म का कर्मवाद भी कर्मकण और आत्मा के सबधों के आधार पर जीवन को मुक्ति दिलाने का मार्ग प्रशस्त करता है। कर्मों के साथ नोकर्म भी रहते हैं। इनकी प्रकृति का प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है। इनकी भिन्नता के कारण ही एक ही कक्षा में पढ़ने वाले तीन विद्यार्थियो का परीक्षाफल भिन्न-भिन्न होता है। वस्तुत ससारी जीव ही दु:ख एव सुख का अनुभव करता है, परन्तु उसमें ईश्वर बनने की क्षमता है। इन कर्मों का विलगन एव नये कर्मों का अनागमन ही हमारे जीवन का शुद्ध बना सकता है। इस विषय पर अब वैज्ञानिक भी ध्यान देने लगे हैं।

जैन धर्म का स्याद्वाद आज के सापेक्षतावाद से कही आगे हैं। वह तो गूढ क्वान्टम सिद्धान्त का ही एक ईसापूर्व युगीन रूप है। इसके अनुसार, वस्तु या घटना का विवेचन निर्देश बिन्दु पर निर्भर करता है। इसीलिये अनेक विवरण सापेक्षताधारित क्वान्टम यान्त्रिकी के आधार पर ही दिये जा सकते हैं। आज के इन सिद्धान्तों को स्याद्वाद का समान्तर तो माना ही जा सकता है।

जैन धर्म के अनुसार, पदार्थ और ऊर्जा एक ही द्रव्य के रूप हैं। क्वान्टमवाद ने यही तर्क तथा प्रयोगों से सिद्ध किया है। इसी प्रकार, दो कणो के बीच स्थायी सयोग उनके विरोधी विद्युत् गुणों के कारण होता है, यह मान्यता भी पूर्णत: विज्ञान समर्थित है।

इस प्रकार जैनधर्म के सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान पर्याप्त अशो में एक-दूसरे से सहमत हैं। फिर भी, जैन धारणाओं को वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करने की पर्याप्त आवश्यकता है।

SOME REMARKS ON THE PRAMANYA-VADA OF JAINISM

Dr. Atsushi Uno, Hiroshima University, Hiroshima, Japan

The *prāmānya-vada* deals with a problem how the truth value of a cognition is determined objectively and subjectively. This has for a long time been of interest to all the Indian philosophical systems, as was the problem of the knowledge and the means thereof As regards the determination of the truth value of a cognition, viz. truth (*prāmānya*) and falsity (*aprāmāṇya*), most of the philosophical systems accept either of the two alternatives whether the truth value of cognition, in origination (*utpatti*) and apprehension (*jñapti*), is produced by its intrinsic conditions (*svataḥ*), or by some additional conditions (*paratah*). To confine the discussion to the 'truth' of a cognition, the determinant of *svatastva* in its origination, comprises all the possible conditions which produce the mere cognition (*jñāna-matrotpādaka-kārana-sāmagrī*), whereas that in its apprehension is included factors which bring about the apprehension of the mere cognition (*jñānagrāhaka-kārana-sāmagrī*) A cognition is seid to be originated or apprehended as true externally (*paratah*), only after some additional necessary conditions are added to either of the afore-said determinants

This topic was first developed by the Mimāmsakas concerning the validity of Vedic scriptures as source of all cognitions and as such was basically confined to the scope of verbal testimony (*sabda, āgama*) only, later to have been dealt with in relation to other sources of cognition, or better, to all kinds of cognition Though the Sanskrit term *prāmānya* may have originally been understood to be equivalent to *prāmānatva* signifying a property in a means of cognition, both of the terms are generally taken, in an epistemological sense, to mean an abstract property ascribed to a true cognition, thus being identical with *pramātva*.

In his *Sarvadarśanasamgraha* (Jaimini-darsana), Mādhava quotes two verses which summarize the views of four princip1 systems viz. the Sāmkyaas, Naiyāyikas, Bauddhas and Mimāmsakas as follows :[1]

pramānatvāprmānatve svataḥ sāmkhyāḥ samāśritāḥ,
naiyāyikās te parathḥ saugatāś caramam svataḥ,
prathamam parataḥ prāhuh prāmānyam veda-vādinaḥ,
pramānatvam svataḥ prāhuḥ paratas cāpramānatvam.

Among these four views, the first one seems not to be found in any extant Sāṁkhya text It might have possibly been dealt with in some of the extinct texts

belonging to this system. The view attributed to the Buddhists in the above verse is neither traceable to any available Buddhist texts nor consistent with any tenet found in them. It is very likely that the view in question was either thus psotulated in conformity with the Buddhist doctrine *anityatva* (*kṣaṇikatva*), or maintained by a particular Buddhist school whose source materials have been buried in oblivion long since.

In short, the combinations of the two truth values and two-fold determinant mode (*svatastva* and *paratastva*) may be tabulated as follows ·

truth (1) svataḥ (origination, apprehension)
Mīmasaka, Śaṅkara-vedānti n, Sāṁkhya

(2) parataḥ (origination, apprehension)
Nyāya-Vaiśeṣika

falsity (1) svataḥ (origination, apprehension)
Sāmkhya

(2) parataḥ (origination, apprehension)
Mīmāṁsaka, Śaṅkara-vedāntin, Nyāa-Naiśeṣika

Unlike the Nyāya Vaiśeṣikas and others, the Jainas regard the *pramāna* as a true knowledge which has subjective cognitive fuunction or faculty, and it denotes its resultant cognition as well as its process.[2] Devasūri (1080-1169) explains in his *Pramāṇanayatattvāloka* (PNT) that the truth of cognition is the consistency of cognition with the object, and the falsity is the inconsistency of cognition with the object, (I 18, 19) He further exemplifies the above contention in his own commentary *Syādvādaratnākara* (SVR) as follows . 'This consistency of knowledge with the object must be with regard to the object different from the self (=knowledge, cognition), since for anything to be inconsistent with itself is absurd. Thus any cognition is true in relation to itself, and there is no false cognition. On the other hand, in relation to objects other than the self some cognitions are right and the others are false (I 19).[3] And what is established by *pramāṇa* is its result (*ānantaryeṇa phalam*) and the other is the mediated one (*pāramparyeṇa phalam*) (VI 1, 2) Out of the two, the mediate result, being that of all kinds of knowledge except for *kevalajñāna*, consists of the judgement of acquiring (*upādāna*), that of abondoning (*hāna*) and that of indifference (*upekṣā*), whereas the former is the annihilation of ignorance (*ajñāna-nivṛtti*) which is nothing but the determination of the self and the others (*sva-para-vyavasiti*) (VI. 3, 4, 5). Furthermore, the result is neither exclusively different from nor totally the same as the knowledge (*pramāṇa*) accordidg to the Jaina theory of non-absolutism (*syād-vāda*); hence the result is, in a way, its *pramāṇa* (VI. 6, 7, 8). Such being the case, truth is understood to be a property attributed to a true cognition. and is dependent on the consistency with the objects other than the self.

Devasūri holds in his PNT that truth and falsity are in their origination and determined externally only, while they are ascertained in their apprehension exter-

nally or internally (I.20). Thus like other Indian realists, the Jainas try to seek truth or falsity in terms of consistency of cognition with objects other than itself, and the truth value is not to be attributed to *pramāṇa* as a means of cognition. Devasūri further elucidates in SVR that, these values are internally ascertained when the object is well-acquainted by repeated experience *(abhyāsa-daśāyām)*.[4] A similar idea is found in the *Parīkṣamukhasūtra* (PM) of Māṇikyanandin and its commentary *Prameyakamalamārtaṇḍa* (PKM) by Prabhācandra[5], to which Devasūri undoubtedly owed his work. Take for instance one's own palm, one need not resort to any means other than *jñānagrāhaka*, it being internally known to be true But, in the case of an unacquainted object, the first cognition arises, is followed by volitional action to acquire the object (*pravṛtti*), and therefrom the second cognition is obtained. The truth of the first cognition which has produced action towards the object *(pravartaka-jñāna)* is ascertained through the second cognition, in accordance as the latter is a subsequent confirmatory cognition (*saṁvādaka-jñāna, saṁvādin, avisaṁvādin*) or a cognition of pragmatic consequences *(arthakriyā-jñāna)* etc in relation to the former In this case, the *saṁvādakā-jñāna* or *arthakriyā-jñāna* etc. is accepted to be true by the Jainas, without resorting to further verification, and thus the infinite regress is evaded

So far as the external determination is concerned, truth and falsity in origination and apprehension depend on excellence (*guṇa*) and deficiency (*doṣa*) respectively, thus the Jainas postulate two distinct positive factors. But suppose a cognition is first originated and apprehended as true, as the Mīmāṁsakas hold, independent of any other means, and it is changed into a false one only by subsequent deficiencies Then only one determinant viz *doṣa* is to be accepted Does it necessarily follow that the absence of *doṣa* which determines the truth might signify nothing but excellence (*guṇa*) ? On the other hand, if, like the view attributed to the Buddhists by Mādhavācārya, falsity is originated and apprehended internally and is developed into truth by subsequent positive factor viz *guṇa*, then is the absence of *guṇa* not identical with *doṣa* ? All the polemic works dealing with this topic are invariably devoted to the inquiry into the characteristics of *guṇa* and *doṣa* with a detailed and subtle discussion Here such controversy is passed over

The peculiarities of the Jaina theory might be summed up as follows

I The determination of the truth value of a cognition has been examined hitherto from two-fold aspect viz *utpatti* and *jñapti*, according to general treatises like SVR etc. However, Prabhācandra (980-1065) in his PKM aud *Nyāyakumudacandra* (NKC) establishes three-fold of division viz *utpatti*, *jñapti* and *svakārya*.[6] The term *svakārya* (the result of *pramāṇa*) is intended to conform with the aforesaid *phala*, as is contrasted with *pramāṇa*, which consists of *pravṛtti*, *nivṛtti* and *upekṣā*.

Though apprehension (*jñapti*) invariably presupposes, with the exception of the case of a well-acquainted object (*abhyasta-viṣaya*), *pravṛtti* by which to verify

the truth value, yet *pravṛtti* and the like, as the results of *pramāṇa*, are here postulated for the scrutiny whether such actions are necessarily preceded by the awareness of the truth value viz: truth or falsity. Prabhācandra applies the same rule to the case of *sva-kārya*. The idea of *pravṛtti* is here introduced from two distinctive standpoints. In the case of *jñāpti*, *pravṛtti* is employed as a volitional action which determines the truth value, whereas the bone of contention, in the case of *svakārya*, centrs about whether such responsive behaviour viz *pravṛtti* (inclusive of *nivṛtti* and *upekṣā*) is determined by the apprehension of the truth value of cognition. Thus *pravṛtti* has a double character, one is to determine the truth value, and the other is to be determined by the truth value.

Anantavīrya (12th cent) in his *prameyaratnamālā*, another commentary on PM modelled after PKM, establishes two-fold of division viz. *utpatti* and *sva-kārya* [7] In this case, the term *sva-kārya* refers to the two aspects · one is 'determination of object' (*viṣaya-paricchitti*) which involves *utpatti*, and the other is subsequent response towards the object like *pravṛtti* etc. Tnis two-fold division seems to be a more faithful interpretation to the original aphorism of PM than Prabhācandra's, in conformity with the afore-said division of *pramāṇa* and *pramāṇa-phala*, whether mediate or immediate

2 The later Nyāya-Vaiśeṣikas like Vācaspatimiśra and Udayana try to avoid infinite regress by postulating some kinds of self-valid knowledge which require no further confirmation.[8] The Jainas also stand on the same footing with them, in saying 'On some occasions truth is apprehended at once, like in the case of primal perceptual cognition unconfirmed by repeated experiences. Since such cognition is never ascertained to stand in unfailing correspondence with the object, its truth is apprehended by a subsequent confirmatory congnitien of the same object, by a cognition of its pragmatic consequences, or by a cognition of object concomitant with it. And the truth of cognition of this kind in self-evident and there is no loophole for the charge of infinite regress.[9] such a presumption is quite an unescapable fate to those who maintain the external determination of the truth value of cognition.

3 The apprehension (*jñapti*) is not always fixed either internally or externally The truth value of any cognition is apprehended from the outset of its origination when the object is well-acquainted by repeated experiences This is the idea generally held among the Jainas With all my limited research, it is very likely that Vidyānandin or Māṇikyanandin was the first Jaina to take up this view [10] However, such theory was not a monopoly of the Jainas alone, but seems to have been borrowed from such Buddhist works as *Tattvasaṁgrahah* and its commentary *Pañjicā*. In the latter work, four alternatives are first set forth and are finally rejected on the strngth of the view that such manifold congruous combination of two values and two-fold determinant mode (viz. *svatastva* and *paratstva*) are of an

unrestricted or unfixed (*aniyama*) nature.[11] This bone of contention quite agrees with the Jainas. The Navya-naiyāyikas also came later to hold a similar view,[12] in saying that the truth value of a cognition need not be proved if there is not the slightest doubt about it, and any motiveless doubt of a possible contradiction is of no account.

References

1. Sarvadarśanasaṁgraha, Government Oriental Series, Class A, No. 4, p 279.
2. The term 'buddhi' synonymous with 'jñāna' is generally understood to have three meanings. Athalye explains to this effect in the following way. "First the act of knowing, which may be called 'understanding'; secondly the instrument of knowledge which is 'intellect', and thirdly the product of the act of knowing, which is 'cognition.' It is the last sense that the word is invariably used in Nyāya and Vaiśeṣika philosophies." (Tarkasamgraha Bombay Sanskrit Series, No. LV, second ed , p. 173)

   There is a divergence of opinions, among scholars, about English equivalents to 'jñāna' etc (Cf Ingalls, Materials for the Study of Navya-Nyāya, p 29 ft , Matilal, The Navya-nyāya Doctrine of Negation, p. 6 ft.) In this thesis I have tried to use 'cognition' for the Sanskrit term 'jñāna', in the third meaning, so long as the truth value is taken into consideration in terms of its locus. In Jainism, however, 'jñāna' is primarily understood to refer to the first and the second meanings and secondarily even to the third meaning, thus being applicable to the widest denotations, as contrasted with other similar Sanskrit terms. Every school lays an emphsis on a particular aspect denoted by 'jñāna', so it seems almost impossible to give a precise English translation to the 'jñāna' shared in common by every school In Jainism 'pramāna' is considered a true knowledge (samyag-jñāna). Such being the case, for the terms 'jñāna' and 'pramāna' I can hardly give a precise English equivalent, and thus some ambiguity and confusion cannot be avoided.
3. PNT, I. 19, 20 jñānasya prameyāvyabhicāritvam prāmāṇyam iti. tad-itarat tvaprāmāṇyam, SVR, Poona edition, p. 240. prameya-vyabhicāritvam ca jñānasya sva-vyatirikta-grāhyāpeksaiva lakṣaṇīyam. svasmin vpabhicāritvāsambhavatvāt tena sarvam jñānam svāpekṣayā pramāṇam eva na pramāṇābhāsah bahir-arthāpekṣayā tu kim cit pramāṇam kim cit punas tad-ābhāsam
4. PNT, I. 20, tad ubhayam utpattau parata eva jnaptau tu svatah paratas ceti. SVR, p. 249ff. anabhyāsa-daśāyām parataḥ pratipadyata iti. kutaḥ pratiyata iti cet. anabhyāsa-daśāyām prāmānyaṁ parato jñānate saṁśa-

yāpadatvād ity ata iti brūmaḥ yadı hı jñānena sva-prāmānyam svayam eva jñāyeta yathārtho-parıcchedakam aham astītı, tadā pramāṇāpramāṇaṁ vedaṁ jñāam iti prāmānya-ṣaṁśayaḥ kadācid api notpadyate jñānatva-saṁśayavat.

5 PM, I, 6, tat-prāmānyaṁ svataḥ parataś cetı.; PKM, ed. by Mahenda Kumar, loc. cıt., p. 149ff.

6. PKM, p. 149ff , NKC, ed by Mahendra Kumar, vol. 1 p. 199ff

7 Prameyaratnamālā, ed. by Phoolcanra & Vālacandra, p. 19ff.

8. Nyāyāuārttikatātparyatīkā, Kashı Skt Series 24, p 13, Nyāyavārttıkatātpryapariśuddhı, Bib, Ind , pp 119 120.

9 Pramānamīmāsā, Sınghı Jain Serıes No. 9, p. 6 (I 1 viii), kvacıt parataḥ prāmāny-nıścayah, yathā anabhyāsa-paśāpanne pratyakse, na hi tat arthena gṛhītāvyabhıcāram iti tad eka-viṣayāt saṁvādakāta jñānātarād vā, arthakrıyā nırbhāsād vā nāntarīyārtha darśanād vā tasya prāmānya nıścīyate teṣām ca svatah prāmānya-niścayān nānavasthādı-dausthyāvakāśah

10 There are no fixed opınıons available among scholars about the dates of the saıd two logıcıans Dr Mahendra Kumar agrees wıth Pt Kothıya that Vıdyānandın flourished ın 775-840, whıle he fixed the date of Mānıkyanandın in 993-1053 Cf Aptaparīkṣā, ed. by Kothiyā, Intr pp. 26-54, Sıddhıvınıścaya, vol. 1., ed. by Mahendra Kumar, Intr. pp 49-50

Tattvārthaślokavārtıka, ed. by Manoharlal, p 177, tatrābhāsāt pramānatvam nıścıtah svata eva naḥ, anabhyāse tu parata ıty āhuḥ pecıd amjasā (115). tac ca syādvādınām eva svārtha-nıścayanāt sthitam, na tu svanıśeayonmuktaniḥśeṣa-jñānavācinām (127). kvacid atyantābhyāsāt svataḥ pramānatvasya nıścayān nānavasthādı-doṣaḥ, kvadıd ahabhyāsāt paratas tasya vyavasthıter nāvyāptir ity etad api syādvādinām eva parmāthataḥ sıddhyet svārtha-nıścayopagamāt. na punaḥ svarūpa-niścaya-rahıta-sakala-saṁveda-vādınām anavasthādyanuṣaṁgasya tad-avasthatvāt...

11 Cf. Pramānamīmāmsā, op. cit., Bhāṣātippaṇāni, pp. 16-19.
Tattvasamgraha, 3100, abhyāsıkaṁ yathā jñānaṁ yramānam gamyate svataḥ, mithyā-jñānam cathā kiṁcid apramānaṁ svataṅ sthitam.; Pañjıka, on 3123, na hı bauddhair esām caturṇām ekatamo 'pi pakṣo' bhīṣṭo 'nıyama-pakṣasyeṣṭatvāt. tathā hı—ubhayam apy eīat kimcıt szataḥ kımcıt parataḥ ıtı pūrvam upavarnıtam. ata eva pakṣa-catuṣṭayopanyāsr 'py ayuktaḥ. pañcama-pakṣasya sambhavāt

12. Tattvacintāmani, Bib. Ind., pp. 277-79, 282-84; S. C. Chatterjee, The Nyāya Theory of Knowledge, p. 99.

जैन प्रामाण्यवाद पर एक टिप्पणी

डा० आत्सुशी यूनो, हिरोशिमा विश्वविद्यालय, हिरोशिमा, जापान

प्रामाण्यवाद ज्ञान की सत्यता को वस्तुनिष्ठ या ज्ञातानिष्ठ रूप से विचार करता है। इस पर प्राय सभी भारतीय दर्शनों ने विचार किया है। ज्ञान का प्रामाण्य दो प्रकार से सभव है स्वतः और परत.। ज्ञान-मात्रोत्पादक कारण सामग्री इसमे स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न करती है जबकि ज्ञान-ग्राहक-कारण सामग्री से ज्ञान में परत· प्रामाण्य आता है।

प्रामाण्यवाद पर सर्वप्रथम मीमासकों ने विचार किया था। उन्होने आगम के आधार पर ज्ञान का प्रामाण्य स्वीकार किया था। सर्वदर्शन सग्रह में चार प्रमुख भारतीय दर्शनो का एतद्विषयक मत प्रकट किया गया है जिसका संक्षेपण निम्न है

ज्ञान का प्रामाण्य	(1)	स्वतः (उत्पत्ति, ज्ञप्ति) मीमासक, साख्य, शकर वेदान्त
	(ii)	परत (उत्पत्ति, ज्ञप्ति) न्याय-वैशेषिक
ज्ञान का अप्रामाण्य	(1)	स्वत (उत्पत्ति, ज्ञप्ति) साख्य
	(ii)	परत : मीमासक, न्याय, वेदान्त

न्याय के विपर्यास में जैन ज्ञान को ज्ञातानिष्ठता के आधार पर प्रमाण मानते है। देवसूरि ने प्रमाणनयतत्वालोक तथा स्याद्वादरत्नाकर में इस विषय में यही तथ्य स्पष्ट किया है। इसके अनुसार, उत्पत्ति के समय प्रामाण्य परत ही होता है जब कि ज्ञप्ति के समय यह स्वत· भी हो सकता है और परत भी हो सकता है। इस विषय में परीक्षामुख तथा प्रमेयकमलमार्त्तंड भी द्रष्टव्य हैं।

ज्ञान का प्रामाण्य, उत्पत्ति या ज्ञप्ति दशा में गुण-दोषो पर निर्भर करता है। दोषो के कारण ज्ञान में अप्रामाण्य आता है। मीमासको और बौद्धो ने इन गुणो और दोषों पर विचार किया है। लेकिन जैन दार्शनिकों ने इस पर विशेष चर्चा नही की है।

प्रामाण्यवाद के सबध में जैन मत को निम्न प्रकार सक्षेपित किया जा सकता है :

(I) ज्ञान के प्रामाण्य का विचार उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दशा के आधार पर किया जाता है। प्रभाचद्र ने इसमें स्वकार्य की तीसरी दशा भी जोड दी है। ज्ञप्ति के लिए प्रवृत्ति आवश्यक है जो ऐच्छिक क्रिया पर निर्भर करती है। यह प्रवृत्ति न केवल ज्ञान को प्रमाणता देती है अपितु इसका निर्धारण भी प्रमाणता के आधार पर ही होता है। अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला में प्रामाण्य को उत्पत्ति एव स्वकार्य दशा में विषय परिच्छित्ति और प्रवृत्ति के रूप में निरूपित किया है।

(II) न्याय-वैशेषिकों के समान जैनो ने भी अनवस्था को दूर करने के लिए कुछ स्वयं सिद्ध ज्ञान माने हैं जिनका प्रामाण्य सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

(III) ज्ञप्ति के विषय में यह निश्चित नहीं रहता कि यह स्वत ही होती है या परत·। यह ज्ञानोत्पत्ति की दशा एव वस्तु-परिचय पर निर्भर करती है। विद्यानंदि और माणिक्यनंदि का यह मत तत्वसग्रह और उसकी पजिका के समान ग्रन्थो के आधार पर बना प्रतीत होता है। नव्य नैयायिकों ने भी बाद में इसी के अनुरूप मत स्वीकार किया है।

THE TALE OF THE ELEPHANT DRIVER IN ITS ĀVAŚYAKA VERSION

*Adelheid Mette** University of Munich, W Germany

The tale of the elephant driver (minṭha) better known after its first and last part under the title of "The cunning woman with the anklet and the jackal"[1] was composed in Sanskrit ślokas by Hemacandra in his Pariśiṣṭaparvan (II 446-640) This version (written between 1159 and 1173 A D) was edited, translated, retold and compared with its parallels known till 1914 by H. JACOBI J. HERTEL and J. J MEYER [2]

A condensed summary of its six parts should be good enough to recall the outlines of the story

I A young man falls in love with a married woman whom he caught sight of while she was bathing By means of a semantic message which is transmitted by a wandering nun (parivrājikā) she calls him to a rendezvous [3]

II In the night of love the sleepers are discovered by the lady's father-in-law who steals one of her anklets (nūpura) for evidence But she succeeds in convincing her husband of her innocence and she is even able to deceive the yakṣa through whose legs she has to pass as an ordeal [4]

III The deceived father-in-law can't sleep any more being so grieved by all that has happened For this reason he is well fit to guard the king's harem by night Here he notices that one of the queens betrays the king with an elephant driver While the old man, comforted by this event, regains his sleep, the adulteress discloses her identity when she unsuccessfully manoeuvres to conceal her fault to the inquiring king [5]

IV · She and her lover succeed in avoiding penalty of death because of his skill in handling an elephant whom he is capable of turning back after standing on only one foot above an abyss The lovers are sent in exile.[6]

V · The queen betrays and leaves the elephant driver and runs off with a robber The robber forsakes her at the shore of a river and leaves her taking all her goods with him. The elephant driver is taken as the robber and consequently condemned to death. After his death he becomes a vyāntara god [7]

My English translation was supervised by Miss stud phil Barbara Fraenkel.

VI : The vyāntara god sees his former lover sitting forsaken in the reeds. To lead her on to the right path of the Jaina religion he gives her an example of her misbehaviour : by magic he creates a jackal who looses his prey because he is greedy for a tastier meal.[8]

For HERTEL it was clear that Hemacandra was the first author to join the motifs to this tale from different literary sources where they occurred, and also JACOBI was not able to find a single original text which Hemacandra could have used

In 1962 The Prakrit Text Society has published the Ākhyānakamaṇikośa of Nemicandra with the vṛtti composed in 1135 A D by Āmradeva. This commentry also contains an account of parts I-V of our story in 117 Prakrit āryā stanzas written at least 25 years earlier than the Pariśiṣṭaparvan [9] But of far greater interest is another text, likewise inaccessible at the times of JACOBI and HERTEL and doubtlessly the source for Āmradeva and Hemacandra as well This is the Āvaśyaka commentary in its divided tradition of cūrṇi and ṭikā (the latter represented by Haribhadra and Malayagiri) In the treasure of stories, which this tradition presents to us, there is also included an older version of the mintha-kathā in its complexity (parts I-VI) by which this can be dated back to at least the 7th century A. D (at that time the Avaśyaka-cūrṇi attained its literary form)[10]

But already in verse 846 of the Āvaśyaka-niryukti to which the concerning passage of the prose commentaries (cūrṇi and ṭikā) belongs, the catchword mintha is mentioned. The purpose of this catchword was to give a hint how the technical term akāma-nirjara 'unvoluntary extinction of karman'[11] should be explained by the expounders of Jain doctrine the elephant driver of our story, when condemned to death, suffers from thirst A Jain believer promises to bring him water if in the meantime he would invoke the arhats While doing so the mintha dies thus performing akāma-nirjara The compiler of the niryukti-several centuries older than the literary wording of the cūrṇi[12] while choosing the catchword mintha must have been acquainted at least with those parts of the story in which the elephant driver figures

To get a more qualified judgement of the age if not of the whole composition but at least of the formulation of its single parts in Prakrit language we must examine the text itself as given in the Āvaśyaka-cūrṇi The inserted stanzas, whose high number in this generally rather plain set-up is astonishing, deserve our special interest There are 11 stanzas spread all over the text vv. 1 seq are composed in the āryā meter,[13] v 3 is a śloka (sanskrit), v. 4 a pṛthvī (sanskrit), v. 5 an āryā of the older type, v 6 a śloka (sanskrit, a well-known subhāṣita), v. 7 a vaitālīya, vv 8 seq are triṣṭubhs, vv 10 seq ślokas.

The variety of meters is of course an indicator of the undeniable fact that the whole of the story was a contamination. On the other hand some of the verses prove to be of a considerable age as they are counterparts to verses of the Pali jātaka

(vv.8-11) or composed in meters not used in more recent poetry (vv 5 and 7). The most conspicuous of the meters is the older form of the āryā as represented by v.5, which belongs to the second part of the story. Although not recognized by the editor of the cūrṇi and requiring the slight alteration from vilakkho (= vilakṣaḥ 'confused', a late adjective) to vilakkha (= vilakṣya 'being confused, baffled' absolutive) in its first pāda this stanza is nevertheless unmistakable: the form ahayam for ahaṃ and the particle khu show clearly that a metrical feature is intended

In this way we are able to trace this very rare type of meter in a non-canonical Jain text for the first time. It was known so far as "restricted to the very oldest Jain texts, viz Āyāra 1, 9, Sūyagaḍa 1, 4 and (partly) Uttarajjhāyā 8"[14] and to some likewise very old poems of the Buddhist Pali canon, here ALSDORF counted 43 instances, one of them in the Telapatta-jātaka (no 96)[15], that means in respect of its source comparable to the verse discovered in our text. In later times this meter was forgotten. By good luck the cūrni has preserved it in our case, at the same time it is characteristic for the development of the Āvaśyaka text tradition that in the ṭīkā the stanza has become unrecognizable.

The context of the stanza shows that it is not inserted here as a quotation but belongs to the tale rightly. Its contents is the reaction of the yakṣa when the lover "disguised as a piśāca has grasped the sari" of the perfidious woman and she has spoken the formula which is meant to prove her innocence, namely: "besides him who was given to me by my parents (for being my husband) if I know (i. e. if I am sexually touched by) any other man with the exeption of the piśāca, then you (the yakṣa) know me". Here follows the stanza

> "The yaksa, being baffled, pondered : look here, which sort of things she is contriving Even I myself am deceived by her, there is indeed no decency in this impudent woman". (Verse 5, in the text.)

If by means of the meter this part of the tale can be supposed to have been existing in the third century B.C., then this would be by far the oldest instance of the later on famous motif of 'the falsified ordeal'[16] and not, as was presumed up to this time, the Greek romance of Leukippe and Kleitophon written by Achilleus Tatios[17]. Here the adulterous Melite has to descend into the waters of the Styx that ascend up to the throat of a faithless woman but recede from a pure one She is able to conquer the ordeal because in her oath she refers to a date earlier than the adultery had happened. On behalf of its earliest papyrus manuscripts this romance can be assumed to have been written at the end of the second century A. D.[18] The tale of the Andabhūtajātaka (no. 62), where the wife of a brāhmaṇa promises to go through a fire ordeal and uses the same trick as our Nūpurapaṇḍitā, does not yield an earlier date because it is accounted only in the prose text, not referred to in the verses of the Jātaka Pali.

When Achilleus Tatios and the author of jātaka 62 as well as later poets who used the motif of the falsified ordeal let the women prove their innocence by

water or fire, then they possibly recurred to the regular procedure of an ordeal. However, the kind of a trial chosen in the Nūpurapaṇḍitākathā has an exact meaning. In Jain tales yakṣas often appear as cruel demons to whom, for instance, young girls must be offered So it is according to the yakṣa's nature that the woman, if she cannot stand the proof, is to be taken by him as a prey, laggai antar' andena, as the cūrni says with a coarse expression (only the younger texts speak of his shanks, jaṅghā, instead of anda) Also the phrase 'then you know me', which the Nūpurapaṇḍitā uses in her oath (see above) is to be understood in the sense of touching sexually likewise as of course 'if I know any other man' in the same sentence THEODOR ZACHARIAE in his article Scheingeburt, 1910[19], had already called attention to this special kind of ordeal known to him from the later versions of our tale in Śukasaptati and Pariśiṣṭaparvan In connection with other instances of 'creeping through the legs' he was inclined to regard the action as an imitation of the occurrence of birth Obviously he did not see that the point of our tale is not the coming free of the successful but, on the contrary, the imprisonment of the unsuccessful endurer

The third part of our story appearently belongs to the same layer of literature like the earlier type of the āryā meter, also the vaitālīya, the so-called 'bard's meter', with a variable opening part as used in v. 7 disappeared after the period of early Buddhist and Jain literature.[20] In this case, too, the ṭīkā has not preserved the metrical feature of the first half of the stanza failing to understand the nominative āruhantiyā (derivative from āruhantī like for instance dadantikā from dadantī in Buddhist Hybrid Sanskrit, cf EDGERTON, Dictionary) The king recites the stanza after the dicovery of the guilty queen

Used to climb on the maddened elephant you are afraid of the elephant made of straw Here swooning while beaten by a lotus stalk there she does not swoon being beaten by a chain. (Verse 7, for the text see below)

The fourth part has no verses in it. It is quoted in nearly the same words by Śāntisūri and Devendra/Nemicandra in their explanation of Uttarajjhāyā 22, 46 as an example for a well-trained elephant[21]

The four last verses (8-11) correspond to the verses 1 seq and 4 seq of the Culladhanuggahajātaka (no 374) In general it can be said that parallels of this kind point to an early common source lying outside of the sphere of both religions But a closer examination of the stanzas reveals that the relationship between the two versions is complicated The first stanza is spoken by the woman, who has forsaken her former lover (in the jātaka her husband), addressing the robber According to the Prakrit version she says .

The river appears full of water, (so that) the crows are able to drink. All my goods, my friend, are in your hand. As you wish to cross over to the other side, surely you wish to get hold of my goods. (Verse 8, for the text see below)

This triṣṭubh ought to have been spoken before the robber left the queen, in fact (I cannot see why, if not due to influence of the Pali version or its forerunner) our text cites it after the flight of the robber. The corresponding Pali śloka is better adapted to the situation :

> Having taken all the goods you have crossed to the other side, oh brāhmaṇa
> Come back quickly; instantly you must let me too cross the river now.[22]

The resemblance between both versions of the first half of the next tristubh is close, but here the Prakrit text shows a difficulty in its wording : it is hard to understand the form mellevi in pāda b, we would expect a passive form of the verb millai, mellai = muñcati So perhaps it will be allowed to read mellāvio va instead of the transmitted akṣaras mellevitāva. The form jāṇeppi in pāda c surely is the absolutive, actually an Apabhraṃśa form (cf. PISCHEL, Prakrit Grammar § 588) and consequently indicating a more recent poetry if compared with vv. 5 and 7. The robber answers in the Prakrit text .

> He who was (your) intimate since long is forsaken for the sake of another made intimate through a lie, he who is reliable for the sake of an unreliable. Knowing your innate behaviour which reasonable man could trust you ? (Verse 9, for the text see below).

In the Pali version the robber's word are ·

> For the sake of me the not intimate you exchanged your intimate, my lady, for the sake of the unreliable, the reliable one, me too, my lady, you might exchange for the sake of another man,—I shall go far away from here.[23]

If we compare both version of these stanzas a difference jumps to the eye . while in the Āvaśyaka text the vv. 8 seq. are triṣṭubhs, in the Jātaka only the meter of v. 2 is triṣṭubh v. 1 being a śloka. However, the couple of verses forming a dialogue between the woman and the robber can be expected to have been composed originally in the same meter. It might be too bold to recommend the one or the other of the possible assumptions about the original shape of the tale.[24] The triṣṭubh verse of the jātaka is transmitted also as verse 4 of the Kanavera-jātaka (no. 318, cf. note 7, supra),[25] here forming the concluding stanza after a series of ślokas. Has it replaced in jātaka 374 an original śloka ? The remaining stanzas of this jātaka all are ślokas.

HERTEL already had compared the vv 4 seq. of jātaka 374 with vv. II 635 seq. of Hemachandra's Pariśiṣṭaparvan, the older model which Hemachandra made use of and which we possess in the Āvaśayaka tradition (vv. 10 and 11, belonging to the sixth part of the story) is more closely connected with those Pali verses. The woman says in the jātaka :

> Oh jackal, you foolish, you stupid, unwise are you, oh jackal (jambuka).
> Having lost fish and flesh seeming wretched you stand reflecting[26].

The jackal answers :

Easy to see the fault of others one's own is difficult to see. Bereaved of husband and lover, you too, I think, stand reflecting[27].

In Prakrit the corresponding verses are

Having let down the piece of flesh you strived for the fish, oh jackal (jambuga). Deprived of fish and flesh you stand reflecting miserably, oh jackal (kolhuga). (Verse 10, for the text see below).

Oh you, wrapped in a covering of leafs, oh you, covered with reeds, deprived of husband and jackal you stand reflecting miserably, you bitch (Verse 11, for the text see below).

Pāda a of verse 11 shows the feature of the first three ganas of the āryā meter, interchangeable with the first and third śloka pāda in later Prakrit poetry. The first half of this verse displays a trait which is missing in the Prakrit prose tale and in the Pali prose and verse as well, but which belongs to the fable in the Pañcatantra and Pariśiṣṭaparvan . the robber has stolen the clothes of the woman, therefore she has to cover herself with reeds.

As already HERTEL, referring to Hemachandra's version, had remarked the compiler of our story has not bothered to alter the expression 'husband' (pai) in pāda c. thus revealing that the incident of the mocking jackal originally did not belong to the former parts of the tale The omission in the Ākhyānakamaṇikośavṛtti gives further confirmation of this fact

The remaining stanzas of our text (vv 3. 4 6), all composed in Sanskrit, are to be considered as quotations Haribhadra omits vv 4 and 6, Malayagiri omits v 6, but also in the cūrni quotations of this kind are rare, the transmission of a pṛthvī (v 4) probably is unique here Like v 3 this stanza should belong to the field of Kāmaśāstra literature while v 6 has its source in the Cānakya-nīti [28]

As there does not exist a critical edition of the Āvaśyaka cūrṇi, I here present the text of the mintha-kathā according to the print of the Jainabandhu Printing Press (Indore 1928) with the necessary emendations made with the help of the ṭīkā[29]. Supplemented words or aksaras are marked by acute brackets. (< . >).

अकामनिज्जराए ।

I. वसंतपुरं नगरं। तत्थेगा इब्भवहुगा नईए ण्हाइ। अन्नो य तरुणो तं दट्ठु भणइ—

सुण्हाय ते पुच्छइ एस नई मत्तवारणकरोरु।
एए य नईरुक्खा अयं च पाएसु ते पणया ॥१॥

ताहे सा वि तं भणइ—

सुभगा होंतु नईओ चिरं च जीवंतु जे नईरुक्खा।
सुण्हायपुच्छयाणं घत्तीहामो पियं काउं ॥२॥

ताहे सो तीए जं वरं वा वारं वा न जाणइ-त्ति—

अन्नपानैर्हरेद्बालां यौवनस्थां विभूषया ।
वेश्यां स्त्रीमुपचारेण वृद्धां कर्कशसेवया ॥३॥

तीसे य वीइज्जमाणि चेडरुवाणि रुक्खे पलोएताणि अच्छंति । तेण तेसिं पुप्फाणि फलाणि य दिन्नाणि । पुच्छियाणि य—का एसा । कस्स वा तेहिं भणियं—अमुगस्स सुण्हा । ता सो तीसे अइयारं नो लभेइ । चिंतेइ—चरिगा भिक्खस्स एइ । सा य—

कुसुम्भसदृशप्रभं तनुसुख पट प्रावृता
नवागरुविलेपनेन शरदिन्दुलेखा इव ।
यथा हसति भिक्षुणी सुललितं विटैर्वन्दिता
ध्रुव सुरतगोचरे चरति गोचरान्वेषिणी ॥४॥

त ओलग्गइ । सा तुट्ठा भणइ—किं करेमि । —अमुगस्स (सुण्हाए) य भणाहि । सा गया (तीए सगास) । भणिया य जहा—अमुगो ते एवगुणाई पुच्छइ । तीए रुट्ठाए पत्तोल्लगाणि धोवतीए मसिलित्तेण हत्थेण पट्ठीए आहया पचगुलिय । पच्छादारेण य निच्छूढा । सागया साहइ जहा—नाम पि न सहइ । तेण णाय जहा—काल पचमीए । ताहे पचमदिवसे पुणरवि पत्थरिया पवेस-जाणणानिमित्त । ताए सलज्जाए आहणिऊण असोगवणियाए छिंडियाए निच्छूढा । सागया साहइ जहा—नामपि न सहइ आहणित्ता य अवरवारेण वाडिया मि । तेण णाओ पवेसो । तेण सो अवद्दारेण अइगओ । असोगवणियाए सुत्ताणि ।

II जाव ससुरेण दिट्ठाणि तेण णाय जहा—न होइ मम पुत्तो—त्ति । ताहे से पायाओ नेउर गहिय । वेइय च ताए । भणिओ य सो—नास लहुं । सहायकिच्च करेज्जासि । पच्छा इयरी गतूण भत्तार भणइ—घम्मो एत्थ । असोगवणियं जामो । गयाणि य सुत्ताणि य । जाहे सो सुत्तो ताहे उट्ठवेइ । उट्ठवेत्ता भणइ—तुज्झ एयं कुलाणुरूव ज मम सुत्तियाए ससुरो पायाओ नेउर गेण्हइ । सो भणइ—सुयाहि । पभाए लभिहिसि । थेरेण सिट्ठ । सो रुट्ठो भणइ—विवरीओ सि थेरा । सो भणइ—मए अन्नो दिट्ठो । ताहे विवाए सा भणइ—अह सोहेमि । —एवं करेहि । ताहे ण्हाया जक्खघर गया । जो कारी सो लग्गइ अतरण्डेण वोलेंतओ । अकारी मुच्चइ । सा पहाविया ताहे सो पिसायरूव काऊण साडएण गेण्हइ । ताहे सा तत्थ जक्ख भणइ—जो मम मायापिईहिं दिन्नेल्लओ त च पिसाय मोत्तूण जइ अन्न जाणमि तो मे तुमं जाणसि-त्ति ।

जक्खो विलक्ख चिंतेइ— पेच्छह जारिसाणि मतेइ ।
अहयं पि वंचिओ णाए नत्थि सइत्तण खु धुत्तीए ॥५॥

जाव चिंतेइ ताव सा झत्ति निप्फडिया । ताहे थेरो सव्वेण लोगेण हीलिओ ।

III तस्स ताए अद्धिईए निद्दा नट्ठा । ताहे रण्णो कण्णं गयं । ताहे रण्णा अंतेउरपालगो कओ । आभि-सेक्क च हत्थिरयणं वासघरस्स हेट्ठा बद्ध अच्छइ । देवी हत्थिमिंठेण आसत्तिया । नवरि रत्ति हत्थिणा हत्थो गवक्खेण पसारिओ । सा ओतारिया । पुणरवि पभाए पडिविलइया । एव वच्चइ

वत्तीहामो : वत्तिहामो Haribhadra, disregarding the meter (यतिष्याम : Chāya)
वेइयं Cūrṇi, विलक्खो Cūrṇi, सरिडिति Cūrṇi,

कालो। अन्नया—चिरं जायं—तिहत्थिमिंठेण हत्थिसंकलाए आहया। सा भणइ—सो एरिसओ तारिसओ थेरो न सुयइ। मा कलह। त थेरो पेच्छइ सो चिंतेइ—जइ एयाओ वि एरिसीओ किं नु ताओ अहमहियाओ—त्ति। एवं चिंतेतो सुत्तो। पभाए लोगो सव्वो उट्ठिओ। सो न उट्ठेइ। रण्णो सिट्ठं। राया भणइ—सुवउ। सत्तमे दिवसे उट्ठिओ। रण्णा पुच्छिओ। कहियं जहा—एगा देवी। न जाणामि कयर—त्ति। एवं सववहरइ। ताहे रण्णा भिण्डमओ हत्थी कारिओ। सव्वाओ अतेउरियाओ भणियाओ—एयस्स अरच्चणियं करेत्ता ओलण्डेह सव्वाहिं ओलण्डिओ। सा नेच्छइ। भणइ—अहं बीहेमि। किं च—

शकटं पञ्चहस्तेन दशहस्तेन शृङ्गिणम्।
हस्तिनं शतहस्तेन देशत्यागेन दुर्जनम्॥६॥

ताहे रण्णा उप्पलनालेण आहया। मुच्छिया किल पडिया। ताहे से उवगय जहा—एसा कारि-त्ति। भणिया य—

मत्त गयमारुहंतिया भिण्डमयस्स गयस्स भायसी।
इह मुच्छिय उप्पलाहया तत्थ न मुरछइ संकलाहया॥७॥

पुट्ठी से जोइया। जाव सकलप्पहारो दिट्ठो ताहे

IV. रण्णा मिण्ठो सा य तिन्नि वि छिन्नकडए विलइयाणि। मिण्ठो भणिओ—पाडेहि हत्थि। दोहिं पासेहिं वेलुयग्गाहा ठिया। जाव एगो पाओ आगासे कओ जणो भणइ—किं एस तिरिओ जाणइ। एयाणि मारेयव्वाणि। तहा वि राया रोसं न मुयइ। तओ दो पाया आगासे। तइयवाराए तिन्नि आगासे। एगेण ठिओ। ताहे लोगेण अक्कंदो कओ। भणिओ (राया)—किं एयं रयण विणासेह। ताहे रण्णो चित्त ओगलिय। भणिओ (मिंठो)—तरसि हत्थि नियत्तेउ। भणइ—जइ अभय देसि। दिन्न। तेण अंकुसेण नियत्तिओ जहा भमेत्ता थले ठिओ। ताणि ओतारेत्ता निव्विसयाणि कयाणि।

V. एगत्थ पच्चंतगामे सुन्नघरे ठियाणि। तत्थ य रत्ति गामेल्लयपारद्धो चोरो तं सुन्नघर अइगओ। तेहिं भणिय—वेढेउं अच्छामो मा कोइ पविसउ। गोसे पेच्छामो। सो वि चोरो लोट्टतो किह वि तीसे ढुक्को। तीए फासो वेइओ। सो ढुक्को पुच्छिओ—को सि तुम। —चोरो हं। तीए भणिओ—तुम मम पई होहि। एय साहामो जहा-चोरो-त्ति। तेहिं पभाए मिंठो गहिओ एयाए उवइट्ठो-त्ति। विचलतो सूलाए भिन्नो।

तेण समं सा वच्चइ जाव अतरा नई। ताहे सा तेण भणिया—एत्थ सरत्थबे अच्छ जाव अहं एयाणि वत्थाणि आभरणाणि य उत्तारेमि। सो गओ। उत्तिण्णो पहाविओ। सा भणइ—

पुण्णा नई दीसइ कामपेज्जा
सव्वं पिया भंडगं तुज्झ हत्थे।
जहा तुमं पारमईउकामो
धुवं तुमं भंडगहेउकामो॥७॥

कह] व इ Cūrni, उत्तारिता Cūrni, ओलण्डीओ Cūrni, भण्डमयस्स Cūrni, परद्धो Cūrni, कोतो Cūrni, ०महेतुकामो] ०महंतुकामो Cūrni, मेल्लेवित्ताण ध्रुव अध्रुवेण Cūrni,

सो भणइ—

चिरसंथुओ बाउल्लियसंथुएणं
मेल्लाविओ य धुवं अदिट्ठदोसेणं ।
जाकेप्पि तुहं पगइस्सभावं
पण्णो नरो को तुह विस्ससेज्जा ॥९॥

सा भणइ—कहिं आसि । सो भणइ—जहा सो मराविओ एवं ममं पि कहिंचि मारावेहिसि ।
इयरो तत्थ विद्धो उदगं मग्गइ । तत्थ एगो सड्ढो भणइ—जइ नमोक्कारं करेसि तो ते देमि । सो उदगस्स अट्ठा गओ । जाव पमि एंते चेव नमोक्कारं करेंतो कालगओ । वाणमंतरो जाओ । सो य सड्ढो आरक्खियपुरिसेहिं गहिओ । सो ओहिं पउंजइ । जाव पेच्छइ त सरीरग सड्ढु च बद्ध ताहे सिलं विउव्वैत्ता मोएइ ।

VI : त च सरत्थंबमज्झे पेच्छइ । ताहे से चिणा उप्पन्ना । सियालरूवं विउव्वेत्ता मंसपेसी (ए) हत्थगया (ए) उदगतीरेण वोलेइ । जाव मच्छग पेच्छइ त मंसपेसिं मोत्तु तस्स मच्छस्स पहाविओ । त पि सेणेण हरियं । मच्छो वि जलं अइगओ । ताहे सियालो झायइ । तीए भणिय—

मंसपेसिं परिच्चज्ज मच्छं पत्थेसि जंबुगा ।
चुक्को मच्छं च मस च कलुणं झायसि कोल्हुया ॥१०॥

तेण भण्णइ—

पत्तपुडिपरिच्छन्ने सरत्थंबेण पाउए ।
चुक्का पइं च जारं च कलुण झायसि बंधुगी ॥११॥

एव भणिया विलिया जाया । ताहे सो सयं रूव दसेइ । पण्णाविया भणिया—पव्वयाहि-त्ति । तेण सो राया तज्जिओ । तेण पव्वइया । सक्कारेण निक्कता । दियलोगं गया । एव अकामनिज्जराए मिठस्स ॥

कहि वि Cūrṇi, तो] ता Cūrṇi, सड्ढु च बद्ध] त सड्ढु बज्झं Cūrṇi,
सरत्थवे अ पाउए Cūrṇi, (जणयस्य अजसकारिए Haribhadra).

References

1. नुपुर पण्डितायाश्च सोमायोश्च कथा Hemacandra, Pariśiṣṭaparvan II 445
2. The text was edited with an introduction by HERMANN JACOBI, Calcutta [1]1891, [2]1932. JOHANNES HERTEL published his German translation in Ausgewählte Erzählungen aus Hemacandras Pariśiṣṭaparvan, Leipzig 1908. He also dealt with our tale in his article Der kluge Vezier, Zeitschrift des Vereins fuer Volkskunde 18, Berlin 1908, p. 66 seqq. JOHANN JACOB MEYER in his book Isoldes Gottesurteil in seiner erotischen Bedeutnng, Berlin 1914, scrutinized all available versions of the single motifs of the tale.
3. The well-known parallel to this part is the first table of the Vetālapañcaviṃśati in all its versions.

4. The oldest parallel preserved in Indian literature is contained in Pali jātaka no. 62 (see below). Another early buddhist version is preserved in chinese translation in TAISHO 206 (cf. E. CHAVANNES, Cinq cents contes et alpogues extraits du Tripitaka chinois, Paris 1910-1934, vol. 1, p. 387, no. 116). The 15th tale of the Śukasaptati (ed. RICHARD SCHMIDT, Leipzig 1893) comes closest to Hemacandra's version

5 As the closest parallel to this part of the story HERTEL has shown Śukasaptati textus simplicior 9, textus ornatior (ed. R SCHMIDT, Muenchen 1898).

6. The well-trained elephant is the theme of Pali jātaka no. 122.

7 Cf. Pali jātaka no 318 A courtesan lets her lover been hanged in exchange for a robber to whom she suddenly feels affection (see below).

8. To part V and VI corresponds Pali jātaka no. 374 and in later literature Pañcatantra textus simplicior (Jaina Pañcatantra) IV 10 (11); textus ornatior IV 8

9. Ācārya Nemicandra's Ākhyānaka manikośa with ācārya Āmradeva's Commentary ed by Muni Shri Punyavijaya, Benares 1962, p 188-191

10 Cf. JACOBI, Pariśistaparvan p VII seq

11. Cf WALTHER SCHUBRING, Doctrine of the Jainas (English transl. 1962) § 86, p 179 Extinction or consumption of karman so far as it is not brought about by ascetic methods is called akāmanirjarā (cl Aupapātikasūtra § 65, p. 61, ed LEUMANN)

12 JACOBI, Pariśistaparvan p VII and ERNST LEUMANN, Uebersicht uber die Āvaśyaka-Literatur, Hamburg 1934, p 28 b, assumed the date of about 80 A D for composition of the collection of niryuktis

13. These two verses are quoted as vv 10 and 12 in the Nūpurapanditā version of the Ākhyānakamanikośavrtti Vv 5 and 7 of the Āvaśyaka text are recognizable in the āryās 62 and 89 of that version

14 Cf. L ALSDORF, Itthīparinnā, Indo-Iranian Journal 2, 1958, 250 = Kleine Schriften, Wiesbaden 1974, p 194

15 Cf L ALSDORF, Die Āryā-Strophen des Pali-Kanons, Abh. Mainzer Akademie, Geistes—und Sozialwiss Kl. 1967, 4, especially p. 18. In this article ALSDORF presents a detailed description of the āryā meter. Our stanza is built exactly to the normal pattern

16. Cf J. J MEYER, l c (supra, note 2) For further literature see The Types of Folktale, A Classification and Bibliography, Anti Aarne's Verzeichnis der Maerchentypen, transl enlarg by STITH THOMPSON, FF Communications Vol. 75, No 184, Helsinki 1973, p. 417 seq. no. 1418 (The equivocal oath). For the reference to this literature I thank LĀSZLO VAJDA.

17. Achilles Tatius, Leucippe and Clitophon ed. by Erbe Vilborg, Goteborg 1955, VIII 11.12 14. (Cf ERWIN ROHDE, Griechischer Roman, [1]Leipzig 1876, p. 484, [3]Hildesheim 1961, 515 seq.)

18 Cf. R. A. PACK, The Greek and Latin Literary Texts from Greco-Roman Egypt, [2]Ann Arbor 1965, no. 1-3.2258

19. Zeitschrift des Vereins fuer Volkskunde 20, 141-181 = Kleine Schriften, Bonn und Leipzig 1920, 245-293, cf. p, 283.

20. Cf L. ALSDORF, Das Jātaka vom weisen Vindhura, Wiener Zeitschrift fuer die Kunde Suedasiens 15, 1971, 27 = Kleine Schriften, S 884; A. K. WARDER, Pali Metre, London 1967, 106.

21 The quotation is introduced with the following words अत्र च वुड्ढसंप्रदाय । नेउरपण्डियक्खाणय भणिऊण जाव तओ रुट्ठेण राइणा····

22 सब्ब भण्ड समादाय पार तिण्णो सि ब्राह्मण ।
पच्छा गच्छ लहुं खिप्पं मम्पि तारेहि दानितो ॥
Jāt. III 221 v. 1 FAUSBLL)

23. असन्थुत मं चिरसन्थुतेन निमिनि मोती अधुवं धुवेन ।
मयापि मोती निमिनेय्य अञ्ञ इतो अहं दूरतरं गमिस्स ॥
Jāt III 221 seq. v 2 (FAUSBLL)

24. By the way, the Pañcatantra version (see note 8 supra) does not supply us with a versified dialogue in the corresponding passage (which indeed, if it did, would not be true to style)

25. The stanza appears also in the Mahāvastu-version of the same tale (Vol. II, p. 176, SENART), which, however, in this text has lost much of its resemblance to the mintha-kathā.

26. सिगाल बाल दुम्मेध अप्पपञ्ञोसि जम्बुक ।
जीनो मच्छ पेसिञ्च कपणोविय झायससि ॥ Jāt. III. 223, v. 4 (FAUSBLL)

27 सुदस्स वज्ज अञ्ञेसं अत्तने पन दुद्दसं ।
जीनो पतिञ्च जारञ्च त्वमपि मञ्ञे व झायसि ॥ Jāt. III. 223, 5 (FAUSBLL)

28 Cf L STERNBACH, Cānakya-Nīti-Text-Tradition, Vishveshvaranand Indological Series 27, Vol. I. Part 1, 7, 7 (Vṛddha-Cānakya-prārambhaḥ; cf also BOEHTLINGK, Indische Sprueche no. 6341)

29. Cūrni Vol 1, p. 461-465, cf. Haribhadra's ṭīkā, Āgamodaya Samiti 1916, p. 349a — 352a and Malayagiri's ṭīkā, Sheth Devchand Lālbhāi Jain Pustakoddhār Fund Series no. 85, Vol. 3, 1936, p. 461b-463b.

आवश्यक पाठ में महावत की कथा

डा० एडेलहीड मेटे, म्यूनिख विश्वविद्यालय, पश्चिम जर्मनी

महावत की कथा को हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व (1959-1173 ई०) में 'नूपुरपंडितायाश्च गोमायोश्च कथा' के नाम से संस्कृत श्लोकों में निबद्ध किया है। इसे जर्मन विद्वानों ने संपादित कर 1891 व 1932 में प्रकाशित किया था। इन विद्वानों का विचार था कि इस कथा के मूलकर्ता हेमचंद्र ही ही हैं। लेकिन जब 1962 में अमरदेव की वृत्ति के साथ नेमिचन्द्र का आख्यानकमणिकोश प्रकाशित हुआ, तो उसमें भी यह कथा मिली। यह कथा हेमचद्र से कम से कम 25 वर्ष पूर्व लिखी गई थी। लेकिन इस कथा को स्रोत इससे भी प्राचीन है। यह आवश्यक टीकाओं में भी प्राप्त होती है। इससे यह कथा सातवीं सदी की ठहरती है। यह 'मिन्ध कथा' के नाम से श्रावकों को अकामनिर्जरा के निदर्शन के रूप में लिखी गई है। एक श्रावक एक मरणासन्न प्यासे महावत को कहता है, "तुम अरिहन्त का ध्यान करो, तबतक मैं तुम्हारे लिये पानी लाता हूँ।" पर पानी लाने के पहले ही महावत की मृत्यु हो जाती है। इस इस प्रकार महावत को अकाम निर्जरा होती है।

आवश्यक निर्युक्ति में दी गई 'मिन्ध कथा' चूर्णियों में दी गई कथा से प्राचीनतर है। चूर्णियो में दी गई कथा उसके विविध छन्दों के आधार पर मिश्रित मालूम पड़ती है। फिर भी इस कथा के कुछ अंश पूर्ववर्ती विशिष्ट आर्याछन्द में निबद्ध हैं और पाली जातकों में भी पाये जाते हैं। ये ही छन्द जैनों के पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थों-सूयगड तथा उत्तरज्झयण में भी पाये जाते हैं। इससे इस कथा की प्राचीनता ईसापूर्व तीसरी सदी तक जाती है। इस प्रकार यह एकिलस टेरिओस की कथा से भी प्राचीन ठहरती है जो द्वितीय सदी की है। अंडभूतजातक में भी यह कथा है, पर वह उत्तरवर्ती समय की है।

लेखक ने इन सभी स्रोतों का तुलनात्मक परिशीलन किया है। उन्होंने कथा को छह अंशों में विभाजित कर उसके प्रत्येक अंश की छन्द-रचना, कथावस्तु की विशेषता तथा अन्य आधारों से आवश्यक निर्युक्ति की कथा को प्राचीन सिद्ध किया है। उन्होंने यह आशा भी व्यक्त की है कि इस कथा का धार्मिक उद्देश्य होंने के कारण इसका एक अच्छा संपादित संस्करण प्रकाशित किया जाना चाहिये।

TWO DEFINITIONS OF AHIMSA

Dr. Unto Tähtinen
University of Jyväskylä, Finland

There are two different ideas of *ahiṃsā* in Indian thought. We may name them "Śramanic" and "Vedic". The former is for instance mentioned by *Śāṇḍilya-Upaniṣad*.[1] It means not to cause suffering to any living being at any time either by mental, vocal or bodily activities. The Jainas, Buddhists and Yogins approve the idea of *ahiṃsā* in this sense The point is that any intentional act causing harm or suffering to any living being is to be named as "*hiṃsā*". Therefore also *ahiṃsā* as a concept is applied to all living beings.

However, the moral tradition based on the originally Vedic sources is different In the *Chāndogya-Upaniṣad* we find an important Vedic statement regarding the meaning of *ahiṃsā*. He who practises *ahiṃsā* towards all creatures, except at holy places (*tīrtha*), does not return to this world again.[2] "Holy places" refers here to the place of animal sacrifice.

Manu says that the *hiṃsā* prescribed in the *Vedas* should be construed to mean *ahiṃsā*, because moral duties spring out from the *Vedas*.[3] This Vedic conception of non-violence appears in a clear form also in the *Mahābhārata*· the violence done to an evil-doer (*asādhu-hiṃsā*) for maintaining wordly affairs (*loka-yātrā*) is *ahiṃsā*.[4] This appears to mean that "violence to an evil-doer" is bracketed into the concept of *ahiṃsā*.

The Vedic conception af *ahiṃsā* is hence not universal. It means "refraining from causing harm to a living being in the way not enjoined by the *Vedas*". We can draw the (rather surprising) conclusion that according to the Vedic concept of *ahiṃsā* killing an enemy in a war, executing a criminal or killing an animal in a sacrifice are indeed all acts of "*ahiṃsā*" provided they are performed according to the commands of the authorative scriptures.

Thus there are two different definitions of *ahiṃsā*. The term when used does not simply mean the same in all contexts. There are other differences of opinion also. The Vedic idea is motivated by social concern, whereas the śramanic idea refers to an individual motivation.

The Jainas have very laboriously dealt not only with *ahiṃsā* but also with the meaning of *hiṃsā* *Hiṃsā*, to them, means the hurting of life-principles (*prāṇa-vyaparopaṇa*) due to the passionate activity (*pramatta-yoga*).[5] Another later

Jain text says that *hiṃsā* is any injury whatsoever to the material (*dravya*) or conscious vitalities (*bhāva-rūpa*) of life caused through passionate activity (*kaṣāya-yoga*).[6] Even when there is injury to life, it cannot be considered *hiṃsā* if the person is not motivated by any kind of passion and carefully follows the code of right conduct. On the other hand, if one acts out of ignorance motivated by passions, violence takes place irrespective of whether another being is killed or not.[7]

Further, some texts treat *ahiṃsā* as "internal purification". A Jain text says that the absence of attachment (*rāga*) and other passions is *ahiṃsā*.[8] Renunciation of both types of possession, external (*bāhya*) as well as internal (*ābhyantara-aparigraha*), is also said to be *ahiṃsā*.[9] These references point out a concept of *ahiṃsā* in which purity of mind is the predominant moral characteristic.

Thus the śramanic or ascetic *ahiṃsā* differs from the Vedic concept of *ahiṃsā*. The supporters of the former have ardently opposed the Vedic idea of *ahiṃsā*. The *Yoga-Śāstra* by Hemacandra makes a covert reference to *Manusmṛti* and some other brahmanic writings as "*hiṃsā-śāstras*" (sciences of violence).[10] While referring to Manu and Jaimini, he acidly states that "these dulls, having given up the *dharma* based on restraint, morality and compassion meant for the welfare of the universe have declared even *hiṃsā* as a duty.[11] It is better to be a poor materialist (*cārvāka*) who is an open heretic rather than a demon in disguise like Jaimini, preaching the *Vedas*.[12]

However, the critics of the Vedic idea of *ahiṃsā* are not confined to Jainism. Also within the "orthodox" thought there are representatives of the sramanic ideas. The *Sāṃkhya-Kārikā* opposes scriptural means sanctioned by the *Mīmāṃsā* system for terminating suffering only temporarily, and not completely either, because it involves impurity (*aviśuddhi*) in the form of *hiṃsā*, destruction of moral merit (*kṣaya*) and surpassability (*atiśaya*) in the result.[13] Impurity is ascribed to the killing of animals as well as the destruction of the living sprouts for purposes of completing sacrifices such as *soma* or others.[14]

A later but authentic commentator on the *Sāṃkhya-Sūtra* says that the scriptural means of the *Mīmāṃsā* are in truth equal to the wordly means because they are full of sin caused by *hiṃsā*, and the result is also only a temporary good (*vināśi-phala*), and is unequal to that experienced hereafter. The critic adds that there is no proof of limiting the scope of the general statement *na hiṃsyāt sarvā-bhūtāni* (not violating all the living beings).[15]

The above references demonstrate that the peak of criticism of the Vedic *ahiṃsā* is directed against the approval of exceptions to the universal principle. In this criticism the Jainas, Sāṃkhya, Yoga and the Buddhists appear to take the same side.

References

1. *Śāṇḍilya-Upaniṣad* 1.1.
2. *Chāndogya-Upaniṣad* 8.15.1.
3. *Manusmṛti* 5.44
4. *Śānti-Parva* 15.49.
5. *Tattvārtha-Sūtra* 7.13 *Śrāvakācāra* by Amitagati 6.12.
6. *Puruṣārtha-Siddhyapāya* 3.43.
7. *Ibid*, 3.45-46.
8. *Ibid*, 3.44.
9. *Ibid*, 3.118.
10. *Yoga-Śāstra* 2.37, also ślokas 33-36.
11. *Ibid*, 2.40
12. *Ibid*, 2.38.
13. *Sāṃkhya-Kārikā* 2
14 Vācaspati Miśra on *Sāṃkhya-Kārikā* 2
15 Vijñānabhikṣu on *Sāṃkhya-Sūtra* 1.6.

लेखसार

अहिंसा की दो परिभाषायें

डा० मन्दू टाहिटनेन, ओवस्केला विश्वविद्यालय, फिनलेण्ड

भारतीय विचारधारा में अहिंसा के संबन्ध में दो प्रकार की विचार-धारायें-श्रमण और वैदिक-पाई जाती है। जैन, बौद्ध और योग के समान श्रमण विचारधारा में किसी भी प्राणी को मन, वचन और काम से किसी भी प्रकार के कष्ट न पहुँचाने की प्रवृत्ति और क्रिया को अहिंसा कहते हैं। इस धारा का स्रोत शाण्डिल्य उपनिषद् में पाया जाता है। वैदिक विचारधारा को छान्दोग्य-उपनिषद् में बताया गया है। इसके अनुसार तीर्थस्थानों को छोड़कर अन्यत्र अहिंसा का अभ्यास किया जाता है। मनुस्मृति और महाभारत में भी कहा गया है कि बुरा काम करनेवाले के प्रति की गई हिंसा भी अहिंसा का ही एक रूप है। अहिंसा के सबन्ध में यह वैदिक मान्यता सार्वभौमिक नहीं है। इसका कारण यह है कि यह मान्यता सामाजिक परिवेश से सबंधित है जबकि श्रमण-मान्यता व्यक्तिगत चरित्र पर आधारित है।

जैनों ने हिंसा-अहिंसा पर परिश्रमपूर्वक विचार किया है। उन्होंने इसे भाव-प्रधान माना है। यह अन्तरंग के शोधन का एक उपाय है। राग, द्वेष, परिग्रह (अन्तर्बाह्य) आदि के त्याग से अहिंसा प्रकट होती है। ये सब मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। फलतः जैनधर्म में मन की शुद्धता नैतिकता का प्रमुख लक्षण माना गया है।

जैनों ने वैदिक अहिंसा की मान्यता की काफी आलोचना की है। इसकी आलोचना सांख्य, योग और बौद्ध भी करते हैं। उनका कथन है कि 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' का कोई अपवाद नहीं होना चाहिये।

UTTARAJJHAYANA STUDIES

(AN EDITION AND TRANSLATION OF THE FOURTH AJJHAYAṆA, WITH A METRICAL ANALYSIS AND NOTES)

K. R. Norman, Cambridge, England

I. Introduction

The importance of the *Uttarajjhayaṇa-sutta* was recognised by European scholars at an early date, and a translation of the whole text was included by H Jacobi in his translations of Jaina Sūtras (*Sacred Books of the East*, Vol. XLV, Oxford 1895), while individual ajjhayanas were studied by E Leumann (*WZKM*, V, 111 ff VI, 1 ff) and J Charpentier (*ZDMG* LXII, 725-47, LXIII, 171-98 *WZKM* XXIV, 63 ff.). Both Jacobi (Ahmedabad 1911) and Charpentier (Uppsala 1922) published editions of the whole text In more recent years L Alsdorf published a series of studies of the *Uttarajjhayaṇa-sutta* (*Ind. Ling* 16 (1955) 21-28, *S. K Belvalkar Felicitation Vol* (1957), 202-8, *W Norman Brown Commemoration Vol.* (1962), 8-17, *IIJ* VI (1962), 110-36), and also a monograph on its Āryā stanzas (*The Āryā Stanzas of the Uttarajjhāyā*, Mainz 1966). In a series of articles entitled 'Middle Indo-Aryan Studies', which have appeared in the *Journal of the Oriental Institute* (Baroda) since 1960, I have discussed a number of words occurring in the *Uttarajjhayana-sutta*, and in the fourteenth of that series I have examined the evidence for believing that a number of traces of the dual number occur therein. I have also published a metrical analysis, with text and translation, of the eighth ajjhayana, which is written in the Old Āryā metre (*Mahāvīra and His Teachings*, Bombay 1977, 9-19) As part of my continuing work upon this very important text, I wish in this paper to examine the fourth ajjhayana, which is written in a mixture of Triṣṭubh and Jagatī pādas.

No MSS were directly available to me for the production of a critical edition, but I have made use of the following printed editions, and I have noted the readings of Jacobi's edition and the MSS used by Charpentier, as quoted in his edition,

C = Charpentier's edition (Uppsala, 1922)

V = the edition by R. D. Vadekar and N. V. Vaidya (Poona, 1954). This is a corrected version of C, with some better readings taken from Devendra's commentary.

S = *Suttāgame*, Vol II, the Sthānakvāsī edition by Muni Śrī Phūlchandji Mahārāj (Gurgaon, 1954).

Ṅ = *Uttarādhyayāni śrīmān-Nemicandrācāryaviracitasukhabodhānāmnayā vṛttyā samalaṅkṛtāni* (Valad, 1937).

L = the edition published by Jaina Viśva Bhāratī Prakāśana (Ladnun. 1975).

J = Jacobi's edition (Ahmedabad, 1911), as quoted by C.

A, B1, B2 = MSS quoted by C

Śāntisūri's commentary was not available to me, but I have noted such of his readings as are quoted in the notes to C.

II. Text

1. asaṃkhayam jīviya mā pamāyae, jarovaniyassa hu n' atthi tāṇaṃ.
evam vijanāhi jaṇe pamatte, kiṃ nū vihiṃsā ajayā gahinti

2 je pāva-kammehi dhaṇaṃ maṇūsā samāyayantī amaiṃ gahāya,
pahāya te pāsa-payaṭṭie nare verāṇubaddhā narayaṃ uventi

3 teṇe jahā sandhi-muhe gahīe sa-kammuṇā kiccai pāva-kārī,
evaṃ payā pecca ihaṃ ca loe kaḍāṇā kammāṇa na mukkha atthi

4 saṃsāram avanna parassa atthā sāhāraṇaṃ jaṃ ca karei kammaṃ,
kammassa te tassa u veya-kāle na bandhavā bandhavayaṃ uventi.

5 vittena tāṇaṃ na labhe pamatte imaṃmi loe aduvā paratthā,
dīva-ppaṇaṭṭhe va ananta-mohe neyāuyaṃ daṭṭhum adaṭṭhum eva.

6 suttesu yāvī paḍibuddha-jīvī na vīsase paṇḍiyaāsu-panne.
ghorā muhuttā; abalaṃ sarīraṃ. bhāruṇḍa-pakkhī va car' appamatte.

7. care payāiṃ parisaṃkamāṇo, jaṃ kiṃci pāsaṃ iha mannamāṇo
lābhantare jīviya vūhaittā, pacchā parinnāya malāvadhaṃsī.

8. chandaṃ-nirohena uvei mokkhaṃ, āse jahā sikkhiya vamma-dhārī.
puvvāi vāsāiṃ car' appamatte, tamhā muṇī khippam uvei mokkhaṃ.

9. sa puvvam evaṃ na labhejja pacchā esovamā sāsaya-vāiyāṇaṃ
visīyaī siḍhile āuyaṃmi kālovaṇīe sarīrassa bhee.

10. khippaṃ na sakkei vivegam euṃ tamhā samutthāya, pahāya kāme,
samicca loyaṃ samayā mahesī āyāṇurakkhī cara-m-appamatte

11. muhuṃ muhuṃ moha-guṇe jayantaṃ anega-rūvā samaṇaṃ carantaṃ
phāsā phusantī, asamaṃjasaṃ ca na tesi bhikkhū maṇasā pausse.

12. mandā ya phāsā bahu-lohaṇijjā, taha-ppagāresu maṇaṃ na kujjā.
rakkhejja kohaṃ, viṇaejja māṇaṃ, māyaṃ na seve, payahejja lohaṃ.

13. je 'saṃkhayā tuccha para-ppavāī, te pijja-dosāṇugayā parajjhā
ee ahamme tti duguṃchamāṇo, kaṃkhe guṇe jāva sarīra-bheu tti bemi.

III. Critical Apparatus

In this apparatus no account is taken of such orthographical variants as *-ṇḍ-/-ṇḍ-/*, *-ṇt-/-nt-*, *-ṇd-/-nd-*, *-ṇdh-/-ndh*, *-ṃm-/-mm*. Except where quoted, JABl. 2 must be presumed to have the same reading as C.

1 b : N *ṇ'*. c : N *eyaṃ*, SNL *viyāṇāhi*. d · C *kaṇṇu*, V *kiṇṇā*, S *kiṃ nu*, N *kannā*, L *kaṇṇū*, Bl. 2 *kannu*.

2 a : S *-kammehiṃ*, NBl 2 *maṇussā*. b . A *samāyayanti*, Śāntisūri quotes v. l. *amayaṃ*, c : L *pāsa payaṭṭie* as two words; N *ṇare*.

3 c · Śāntisūri reads *peccha* d · VN *mokkhu*, L *mokkha*.

4 b . A *karenti*. d . N *ṇa*

5 a : N *pamatto*. d . N *ṇeyāuyaṃ*.

6 a . N *āvī*. b . N *na*, CVSL *paṇḍie*, S *-paṇṇe*. d . S *bhāraṇḍa-*; S *care 'ppamatte*. N *cara 'ppamatto*, L *carappamatto*

7 b . SN *mannamāno* c SJBL. 2 *būhaittā*.

8 a · SNL *chandaṃ* as separate word b all *sikkhiya-* as compound. c CYSL *puvvāiṃ*, N *vāsāī*, S *care 'ppamatto*, N *cara 'ppamatto*, L *carappamatto*

9 c · Bl. 2 *visīyai*, A *āuṃmi*

10 a N *ṇa* c : N *sammecca*, NJ *logaṃ* d : NLJ *appāṇa-rakkhī*, Bl. 2 *appāṇurakkhī*, S *care 'ppamatto*, NL-*appamatto*

11 a A *muhaṃ muhaṃ*. c S *phusaṃti*. d VNL *tesu*.

12 c CVS *rakkhijja*, JBL 2 *mohaṃ* (for *kohaṃ*). d SNJBL. 2 *sevejja pahejja*.

13 a . NL *saṃkhayā*, C *tucchā*, S *tuccha-* as compound. b C *parabbhā*. c JA *ete*, N *ahammu* d VL- *-bheo*, N *-bhee*

IV. Metrical Analysis

Of the 52 padas in this ajjhayana, only two (1a and 2c) are Jagatī. The remainder are Triṣṭubh When establishing the text, I have selected that reading which best suits the metre. Where the reading involves the lengthening and shortening of a syllable *m c* (= *metri causa*), I have marked the pāda number with an asterisk (*), and have commented upon it in the Notes.

Openings (syllables 1-4) *v-v* 1ab, 2bc, 3bd*, 4d, 5b, 6b, 7a, 9ac*. 10c, 11abd, 12b.
—*v*— 1cd*, 2ad, 3ac, 4abc, 5acd, 6acd, 7bcd, 8a*bc*d*, 9bd, 10bd, 11c, 12acd, 13abcd

Breaks (syllables 5-7, the caesura is marked by |)

|-*vv* : 1a*, 2c, 3ab, 4bcd, 5d, 6b*, 7c*, 8b*d, 9b, 11a, 13a*d

-*v*|*v* · 1bc, 2a, 3cd*, 4a*, 5c, 6d, 7d, 8a, 10ab, 12b, 13c.

-|*vv* : 1d, 2b*d, 5ab. 6a*c, 7ab, 9a, 10cd*, 11bc*d*, 12acd

-|v : 8c

|vv- : 9c

-|v : 9d

-vv (with the caesura after the eighth syllable) : 13b

Cadences (syllables 8-11/12) : all the Triṣṭubh pādas have the cadence -v-v (with shortening *m. c.* in 3d*).
both Jagatī pādas have the cadence -v-v-

This analysis shows that although lengthening and shortening of syllables *m. c.* took place consistently in the openings and cadences, the necessary changes to produce the standard breaks -vv and vv- were not always made.

V. Translation

1. One should not waste (one's) life (although it is) imperfect, assuredly there is no protection for one brought close to old age. Thus know people are careless, what will the unrestrained get by violence ?

2. Those men who acquire wealth by evil actions, practising folly, will go to hell, leaving (their wealth) behind, bound by their hatred (like) a man enveloped in snares.

3 As a thief, an evil-doer, caught in a hole in a wall, is destroyed by his own action, so people (are destroyed) when they pass away and (also) here in (this) world There is no release from actions (which have been) performed.

4. Whatever action one who has arrived in the *saṃsāra* does for another or in common (for both of them), at the time of experiencing (the result of) that action they do not (both) go to the place of punishment as relations

5. A careless man would not obtain protection by wealth in this world or in the next; like one who has lost his lamp in endless darkness, (although) having seen the right path he is as though not having seen it.

6. And although with wakened soul among sleepers, a wise man with quick intelligence should not be confident Times are hard; the body is weak. He should remain vigilant like a Bhāruṇḍa bird.

7. He should continue to mistrust his footsteps, thinking that whatever is here is a snare. Promoting life until the acquisition (of release), afterwards (abandoning it) after careful consideration, he abolishes impurity.

8. By suppressing desire one goes to release, like a horse carrying armour (when it is) trained. One should be vigilant in the early years; on that account a sage goes quickly to release.

9. (If) he (did not obtain it) early on, similarly he would not obtain it afterwards, that illustration (that one can obtain it later on) belongs to those who preach (that life is) eternal. One despairs, being slack in respect of life, brought close to death at the dissolution of the body.

10. One cannot go quickly to seclusion. Therefore, making an effort, giving up sensual pleasures, treating the world with impartiality, a great seer should remain vigilant, guarding himself.

11. Again and again external contacts of many forms impinge upon an ascetic as he continues to overcome the strands of delusion, but a monk should not unbecomingly hate them in his mind.

12. External contacts are also pleasant and desirable to many; one should not set one's mind upon things of such a kind. One should guard against anger, one should dispel pride, one should not cultivate illusion, one should abandon lust.

13. Those who are imperfect, vain, false teachers, are subject to love and hatred and are offenders. Dispising them as unrighteous, one should desire virtues until the dissolution of the body.

VI Notes

1. Although there would seem to be no difficulty in translating *asaṃkhaya* (= Sanskrit *asaṃskṛta*) as 'imperfect' both here and in verse 13, Jacobi translates 'you cannot prolong your life'. He is apparently following the commentary (= cty), which takes the past participle in the sense of a future passive participle (*asaṃskṛtam* = *asaṃskraṇīyaṃ*) A comparable phrase occurs at *Sūyagaḍaṃga-sutta* I.2.2.21 = I.2.3 10 · *ṇa ya saṃkhayam āhu jīviyaṃ*. Śīlāṅka explains. '*na ca*' *naiva* '*jīvitam*' *āyuṣkaṃ kālaparyāyeṇa truṭitaṃ sat punaḥ* '*saṃkhayam*' *iti saṃskartuṃ—tantuvat sandhātuṃ śakyate ity evam āhus tadvidvaḥ* and '*na ca*' *naiva truṭitaṃ jīvitam āyuḥ* '*saṃskartuṃ*' *sandhātuṃ śakyate, evam āhuḥ sarvajñāḥ*. We could get the word-play by translating 'imperfectible' here and 'imperfect' in verse 13, but the former does not quite give the sense of 'unextendable' which the cty's interpretation whould require.

I take *jīviya* to be accusative (with-*ṃ* omitted m. c.) as the object of *pamāyae*, It could equally well be nominative, in which case the first two words of the *pāda* would form a separate clause. For *pamāyae* in the sense of 'forfeit, squander (an opportunity)' see Alsdorf, *IIJ* VI (1962), 113

In *pāda* c the cty takes *jaṇe pamatte* as plural, as the subject of the verb *gahinti* (= Sanskrit **grahayanti*). Although the singular of *jana* can be used collectively in Sanskrit, one would expect a singular verb with it. It is possible that the words are vocative singular, going with the imperative *vijāṇāhi*, although Pischel, *Comparative Grammar of the Prakrit Languages* § 366 lists such forms for Māgadhī, not Ardha-Māgadhī. A more likely solution is that the words *jaṇe pamatte* form a separate clause, but the comparable difficulty with the word *nare* in verse 2 cannot be resolved in the same way.

In *pāda* d the editions vary between the readings *kaṃ* and *kiṃ* I read *kiṃ* (with -*ṃ*>-*n* before *nu*) with the -*ū* of *nū* lengthened m. c. The cty explains

vihiṃsā as *vihiṃsrāḥ*, but since this word occurs in late Sanskrit only, I prefer to see *vihiṃsā* as a truncated instrumental singular of a noun in -*ā*, cf *samayā* in verse 10.

2 In *pāda* b the final vowel of *samāyayantī* is lengthened m. c In *pāda* c the cty explains *nare* as being plural, as it did for *jaṇe* in verse 1. Since there is no obvious reason why the author of the verse should not have written the plural *narā* (which scans equally well) has he wished to, I assume that we have here a 'patch-work' verse, with originally separate *pādas* strung together I translate the nominative singular as though it were a metaphor or simile

3 There is a close parallel to *pādas* abc in Pāli (*Theragāthā* 786)
coro yathā sandhimukhe gahīto sakammunā haññati pāpadhammo,
evaṃ pajā pecca paramhi loke sakammunā haññati pāpadhammā

There is no way of deciding whether the vowel -*ī*- in *gahīe*/*gahīto* is m c., or a genuine development from Sanskrit *gṛhīta*

In *pāda* d the loss of -*m*- in *kaḍāṇa kammāna* is m. c., as is the writing of the stem form in *mukkha* If this is for *mokṣyā*, agreeing with *payā*, then *pādas* c and d go together and we should translate 'people are not to be freed from their actions' The reading *mokkhn* in VN and the gloss *mokṣo* in the cty, however, suggest that *mukkha* is m c for *mokkho*

4. In *pāda* a *āvanna* is a nominative singular without a case ending m c. In the same pāda *atthā* is a truncated dative of purpose (= *aṭṭhāya*), similar to the truncated instrumentals of -*ā* stem nouns in -*ā* in verses 1 and 10, although the cty explains it as an ablative.

In *pāda* d the cty explains: *na naiva bāndhavāḥ svajanāḥ yadarthaṃ karma kṛtavān te 'bāndhavatām' bandhutām tadvibhajanāpanayanād inā 'uvimti' iti upayānti* I think, however, that there is an intentional word-play between *bandhavā* and *bandhavayaṃ* and I believe that the latter word is the equivalent of Sanskrit *bandha-padaṃ* 'the place of punishment.' The idea behind the verse is that we each suffer the consequences of our own actions; the person for whom we do a deed does not thereby become, so to speak, a personal relation, a co-heir to the fruit of the action.

5. The cty glosses *aduvā* in *pāda* b as *athavā*. It is rather to be derived from *yad u vā*, or *yad vā* (with a svarabhakti vowel -*u*-), and represents a borrowing from a dialect where the relative pronoun lacked the initial *y*-, such as the Eastern dialect of the Aśokan inscriptions.

The city explains that *dīvappaṇaṭṭhe* is a Prakrit version of *paṇaṭṭhadīve*. Comparable compounds occur elsewhere, e. g. Pāli *puñña-kata* (= *kata-puñña*) 'one who has done merit', *akkha-cchinna* (= *chinna-akkha*) 'with broken axle', *nāga-hata* (= *hata-nāga*) 'killed of an elephant.' It is possible that such compounds should

be analysed differently. The past participle is to be taken as an action noun, giving a *tatpuruṣa* compound in the first place, e. g. *akkha-cchinna* 'the breaking of an axle', and then a *bahuvrīhi* compound 'possessing the breaking of an axle, i. e. with a broken axle' (see K. P. Norman, *Elders' Verses* I, London 1969, p. 160).

For *moha* in the sense of 'darkness or delusion of the mind' see Monier-Williams, *Sanskrit-English Dictionary*, s. v. *moha*

In *pāda* d *neyāuya* does not have the specific meaning 'knowing the Nyāya philosophy' as in Sanskrit, but the more general meaning 'connected with the right way (*nyāya*).' The cty explains *daṭṭhum* as meaning *dṛṣṭvā*, but *adaṭṭhum eva* as *adraṣṭaiva*, having seen, he is a non-seer indeed ' I take both words to be infinitives used as absolutives, and I assume that *eva* here stands for *iva*, cf. *visam eva* (*Uttarajjhayaṇa-sutta* XVII. 20) glossed *viṣam iva*.

6. Although N reads *āvī* in *pāda* a, the cty explains *'caḥ' pādapūraṇe, 'apiḥ' sambhāvane*, which makes it clear that the correct reading is *yāvī*, where the final -*ī* is m. c.

In pāda *b* I have adopted the reading *paṇḍiya* from N, it is a nominative singular without case ending m. c. The variant reading in the other editions can be made to fit the metre if we scan it *paṇḍie*. Cf. the note on *kālovaṇie* in verse 9.

In *pāda* d the cty glosses *carā* '*pramattaḥ*. I assume that, with the exception of *viyāṇāhi* in verse 1 (which I take to be in parentheses, so to speak), there are no imperative forms in this ajjhayana but only optatives, as the reading of S indicates. I therefore punctuate *car' appamatte* (= *care appamatte*) here and in verse 8, and I assume that *cara* in verse 10 is m c for *care*.

7. In *pāda* a *care parisaṃkamāṇo* is an example of the usage of the root *car*- with a present participle, as in Sanskrit, in the sense of 'to continue doing something'. Cf. *jayantaṃ carantam* in verse 11.

In *pāda* c the loss of *ṃ* in *jīviya* is m c

In *pāda* d the cty explains *parinnāya* = *parijñāya sarvaprakāraiḥ avabudhya*. Elsewhere, however, it is made clear that knowledge (*parijñā*) is twofold . comprehension and renunciation (see H Jacobi, *Jaina Sūtras* I, p 1 n 2). Cf. the cty on *Uttarajjhayaṇa-sutta* XII.41 *parijñāya jñaparijñayā jñātvā pratyākhyākaparijñayā pratyākhyāya*.

8. In *pāda* a *chandam-nirohena* is m c for *chanda-niroheṇa*.

In *pāda* b I take *sikkhiya* and *vammadhārī* separately, to obtain a parallel with *pāda* a. If this is correct, then *sikkhiya* is a nominative singular without case ending m. c.

In *pāda* c only N reads the form *puvvāi* which is required m. c., but it follows this with *vāsāī*, which like the reading *vāsāiṃ* of the other editions

goes against the metre. No edition reads *vasai*, which the metre requires. For the punctuation *car'appamatte* see the note on verse 6.

In *pāda* d the final *-ī* of *muṇī* is m. c.

9. Jacobi translates *pāda* a: 'If he does not get (vistory over his will) early, he will get it afterwards', but I think the cty is correct in believing that the word *evaṃ* implies a comparison . '(As he does not get it) before, so he would not get it afterwards'.

In *pāda* c the final *-ī* of *visīyaī* is m. c. The cty takes *sidhile* as locative and explains: *śithile ātmapradeśān muñcati āyuṣi*, but I assume that it is nominative singular, and with the locative *āuyaṃmi* means (as *śithila* does in Sanskrit) 'careless in (respect of)'.

In *pāda* d *kālovaṇīe* goes against the metre, but can be made to fit if we scan *kālovanie*. Cf the note on *paṇḍiya* in verse 6.

10. In *pāda* c *samayā* is a truncated instrumental singular of a stem in *-ā*. Cf. the note on *vihiṃsā* in verse 1. The cty explains· *samatayā samaśatrumitratayā*.

In *pāda* d, despite the cty (which explains· *cara apramattaḥ)* I assume that *cara* is m c. for *care*. See the note on verse 6. S repeats the reading it has in verses 6 and 8, which is unmetrical here. The consonant *-m-* is a 'hiatus-bridger' consonant

11 For *jayantaṃ carantaṃ* in *pādas* ab see the note on verse 7.

In *pāda* c the final *-ī* of *phusaṃtī* is m. c. The cty explains *asamaṃjasaṃ ca* as. *asamañjasam eva ananukūlam eva*, which indicates that the text being commented upon included the word *va*, not *ca*. I read *ca*, and assume that these two words are to be taken with *pāda* d.

In *pāda* d the final *-ū* of *bhikkhū* is m. c.

12. In *pada* a the cty explains *maṃdā* as being for *mandāḥ*, but since it is parallel to *bahu-lohaṇijja* it is probably to be taken as standing for *mandrāḥ*.

13. In *pāda* a *tuccha* is a nominative plural form without case ending m. c. NL read *saṃkhayā*, but the explanation of the cty shows that we are to understand a negative *na tāttvikaśuddhimantaḥ kintūpacitavṛttayaḥ*.

In *pāda* b all the editions except C read *parajjhā*, and the cty explains: *paravaśāḥ*. I can only suggest that the word is to be derived from either a*prarādhya* 'not praiseworthy' (although we should expect *-pp-*), or some derivative of the root a*parādh*-meaning 'sinner'. If either of these suggestions is correct, then we should need to punctuate '*parajjhā*.

In *pāda* c N reads *ee ahammu tti*, and glosses: *ete adharmahetutvāt adharmaḥ iti*. We should need to translate this: 'despising them as being (individually) an unrighteous man',

In *pāda* d the construction of *jāva* with the nominative *bheu* (the other editions also read a nominative) is unusual. Monier-Williams, *Sanskrit-English Dictionary*, s. v. *yāvat*, records a usage of *yāvat* in Sanskrit with a nominative followed by *iti*. The metre here, however, shows that *iti* is not to be taken in that way, but is, as usual, part of the phrase found at the end of each ajjhayaṇa.

लेखसार

उत्तराध्ययन का अध्ययन

चतुर्थ अध्ययन का अनुवाद और संपादन : छन्द-विश्लेषण और टिप्पणी

यूरोप के विद्वानों ने उत्तरज्झयण-सुत्त का महत्व बहुत पहले जान लिया था। इसीलिये उसके अनेक संस्करण जर्मन, स्वीडन और इंगलैंड के विद्वानों ने संपादित कर प्रकाशित किये हैं। इस लेखक ने भी अनेक शोधपत्र-शृंखला के माध्यम से इस ग्रन्थ की विशेषताओं का निरूपण किया है। इस शोधपत्र में इसके चौथे अध्ययन के अंग्रेजी अनुवाद के साथ विचार किया गया है। इसमें अनेक पूर्ववर्ती संस्करणों की सहायता ली गई है।

यह अध्ययन त्रिष्टुभ और जागती पदों में लिखा गया है। इसमें 52 पद हैं। इनके पठन से ज्ञात होता है कि इनमें आरंभ और लय-संगति के लिये कुछ अक्षरों में घटा-बढ़ी की गई है। प्रस्तुत निबंध में इन पर अनेक टिप्पणियों के साथ विचार किया गया है।

परिशिष्ट

जिनवाणीके प्रखर प्रवक्ता आगमोंके व्याख्याकार एव समाजके उन्निनीषु पण्डितप्रवर कैलाशचन्द्रजीको हमारी शुभ कामनाएँ

नथमल सेठी	मिश्रीलाल काला
हिम्मत सिंह जैन	रतनलाल गंगवाल
मदनलाल पाण्ड्या	श्रवणकुमार जैन
निर्मलकुमार सरावगी	कमलकुमार जैन C A
राजेन्द्रकुमार जैन	चक्रेशकुमार जैन
पूरनचन्द्र जैन	ज्ञानचन्द्र जैन



षट्खण्डागम प्रथम खण्ड जीवट्ठाणके सत्प्ररूपणाके सूत्र ९३ में 'संजद' पाठके सम्बन्धमें पू० आचार्य (स्व०) शान्तिमागरजीका

अन्तिम अभिमत

जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले और गुलाबचन्द्र मखाराम गांधी

जीवट्ठाणके सत्प्ररूपणाके सूत्र ९३ में संजद पदके होनेके सबंधमे एक समय बडा विवाद था। एक बार पू० श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजीका चातुर्मास शोलापुरमें हुआ था। उस समय षट्खंडागम जीवस्थान प्रथम भागका स्वाध्याय चलता था। उस समय यह माना जा रहा था कि द्रव्य-स्त्रीवेदीको भावसंयम नहीं होता, अतः उसे प्रथम पांच गुणस्थान ही होते हैं। चूंकि द्रव्य-स्त्री वस्त्रादिकका त्याग नहीं कर सकती, फलतः उसके उच्चतर गुणस्थान नहीं हो सकते। फलतः सूत्र ९३, द्रव्यस्त्रीके संयमका वर्णन करता है, यह आचार्य श्री का आग्रह था। इस अभिप्राय का तत्कालीन अनेक विद्वानोंने समर्थन किया था।

इसके विपर्यासमें अनेक विद्वानोंका मत यह था कि यह सूत्र भावस्त्रीके सबंधमें वर्णन करता है और इस सूत्रमें 'संजद' पद होना चाहिये, किन्तु लिपिकारकी असावधानीसे वह मूल सूत्रमें छूट गया। अर्थात् लिपिकार 'संजद' शब्द लिखना भूल गया।[1] सूत्रकी टीकाके सूक्ष्म अध्ययनसे भी सूत्रमें संजद पदके

1 षट्खंडागम पृ० ७ की भूमिकामें स्व० पं० लोकनाथ शास्त्री, मूडबिद्रीका २४-४-४५ का पत्र प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने सूचित किया था कि धवलाकी दो ताडपत्रीय प्रतियोंमें ९३वें सूत्रमें



पूज्यवर श्री १०८ आचाय शान्तिसागर महाराज के धवला सशोधन सम्बन्धी अन्तिम मत के लेखनमग्न प० जिनदास शास्त्री फडकुले



पूज्यवर श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज के धवलागत संजदपद
सम्बन्धी अन्तिम मत पर विचार लीन ब्र० गुलाबचन्द्र सखाराम
गांधी सोलापुर

होने का अनुमान लगता है। इस तथ्यके बावजूद पूज्य आचार्यश्री इस सूत्रको द्रव्य स्त्रीका वर्णन करने वाला मानते रहे थे।

लेकिन जब आचार्यश्रीने कुंथलगिरिमें सल्लेखना स्वीकार की, तब उनके दर्शनार्थ एवं वैयावृत्य हेतु हम दोनो ही वहाँ गये। उस समय ब्र० जीवराज गौतमजी दोशी भी वहाँ गये थे। उस समय महाराजश्री की दृष्टि चली गई थी। फलतः आवाज सुनकर उन्होंने मुझसे पूछा, "कौन है?" मैंने विनय पूर्वक अपना नाम बताया। उस समय आचार्यश्री से कुछ वार्तालाप भी हुआ जिसका ब्लाक यहाँ दिया जा रहा है। यह वार्तालाप मराठीमें है। आचार्यश्रीनें संजद पदके सबधमें अन्तिम अभिप्रायके रूपमें निम्न इसमेंलिखित मत व्यक्त किया था

"जिनदास, धवला जीवस्थानका ९३वाँ सूत्र भावस्त्रीका वर्णन करनेवाला है। अत. वहाँ पर संजद पद अवश्य होना चाहिये, ऐसा निश्चयसे लगता है।"

पण संजद शब्द सूत्रांत नाहीं व हें सूत्र द्रव्यस्त्रीचें वर्णन करणारें आहे अ-
शी त्यांची महाराजांची धारणा होती
यानंतर महाराज कुंथलगिरी येथें डोंगरावर गेले व तेथें त्यांनीं सल्लेखना धारण केली.
त्यावेळीं त्यांची सेवा शुश्रूषा करण्याच्या हेतूनें परम आचार्यभक्त धर्मनिष्ठ
श्री गुलाबचन्द्र [illegible] हे तेथें [illegible] गेले होते
आचार्य महाराजांचें अन्तिम दर्शन घेण्यासाठीं मीही ब्र. श्रीजीवराज गौ-
तमचंद दोशी यांच्याबरोबर गेलो होतो
मला आचार्य महाराजांचें अन्तिम दर्शन घेण्याची तीव्र उत्कण्ठा होती पण
मला त्यांच्या जवळ जाण्यास लोक प्रतिबन्ध करीत होते
श्री ब्र. गुलाबचंदजींना महाराजांचें दर्शन घेण्याची माझी तीव्र उत्कंठा
सांगितली. तेव्हां त्यांनीं मला एके दिवशीं आचार्य महाराजांचें दर्शन
घेण्यासाठीं नेलें. महाराजांना दिसत नसल्यामुळें आवाज ऐकून कोण
आहे असा प्रश्न केला. मी विनयपूर्वक [illegible] माझें नांव सांगित-
लें. त्यावेळीं आचार्य महाराज "अरे जिनदास, धवलांतील ९३ वें
सूत्र भावस्त्रीचें वर्णन करणारें आहे व तेथें 'संजद' शब्द अवश्य
पाहिजे असें वाटतें. हें परमपूज्य महाराजांचें वचन ऐकून महारा-
जांच्या सत्यान्वेषी व निराग्रह वृत्तीबद्दल मला व ब्र. गुलाब-
चंदजींना फार आनंद वाटला.
श्रीमान् [illegible]
[illegible] संजद शब्द [illegible]
जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले. [illegible]
[illegible]

परमपूज्य महाराजश्रीका वचन सुनकर उनकी सत्यान्वेषी प्रकृतिका पुन. विश्वास हुआ। इस हम लोगोंको बडी प्रसन्नता हुई। क्योंकि इससे 'संजद' पद सबधी विवाद भी सदाके लिये हल हो गया है।



संजद पद है पर तीसरी प्रतिमें वह ताडपत्र ही नही है। फिर भी वह विवाद उस समय शान्त नहीं हुआ था। यह आचार्यश्रीके उपरोक्त अन्तिम अभिमत के साथ ही हल हुआ था।

हमारे सहायक : स्वागत समितिके सदस्यगण*

संस्थाएँ और ट्रस्ट

१	जीवराज ग्रन्थमाला	शोलापुर	१५००)
२	दि० जैन विद्वत् परिषद्	सागर	१०००)
३	वर्णी शोध संस्थान	काशी	५०१)
४.	स्याद्वाद महाविद्यालय	काशी	११११)
५	भारतीय ज्ञानपीठ	दिल्ली	१३००)
६.	भा० दि० जैन संघ	मथुरा	१००१)
७	आदिनाथ जैन ट्रस्ट	आरा	५०१)
८.	महावीर ट्रस्ट	इन्दौर	५००)

स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीके स्नातक

१.	गुलाबचन्द्र दर्शनाचार्य	जबलपुर	१००१)
२.	डॉ० अरविन्दकुमार	ललितपुर	५००)
३	बाबू चेतनलालजी	डालमियानगर	५०१)
४	बाबूलाल जैन, भगीरथ आइस क०	दिल्ली	५०१)
५	श्री हरिश्चन्द्र भाईजी	जबलपुर	२५१)
६	डॉ० ताराचन्द्र चौधरी	ललितपुर	२५१)
७	डॉ० कपूरचन्द्र महरौनीवाले	टीकमगढ़	२५०)
८	धन्नालाल दुलीचन्द्र जैन	बीना	५०१)
९	शीतलप्रसाद जैन	मुजफ्फरनगर	२५१)
१०	पन्नालाल व्याकरणाचार्य	छतरपुर	१५१)
११	प्राचार्य पी सी जैन	डिब्रूगढ़	१५१)
१२.	डॉ० केशरीमल जैन	कटनी	१५१)
१३	प्रो० उदयचन्द्र जैन	वाराणसी	१५१)
१४	मंगलचन्द्र चौधरी	नजीबाबाद	१०१)
१५	डॉ० दरबारीलाल कोठिया	वाराणसी	१०१)
१६	डॉ० गुलाबचन्द्र	विदिशा	१०१)
१७	पं० श्यामलाल जैन	ललितपुर	१००)
१८	चन्द्रकुमार जैन	डालमियानगर	१०१)
१९	मोतीलाल जैन	,,	२५)

२०. पं० श्रेयांसकुमार शास्त्री	फिरलपुर	१००)
२१. डॉ० शिखरचन्द्र लहरी	भोपाल	१०१)
२२. हुकुमचन्द्र सर्राफ	गाजियाबाद	१०१)
२३. डॉ० डी० सी० दानपति	जबलपुर	१०१)
२४. डॉ० रामचन्द्र जैन	सतना	१०१)
२५ श्री दरबारीलाल जैन	ललितपुर	१०१)

समाजसेवी सहायक

१ श्री मिश्रीलालजी काला	कलकत्ता	५०००)
२ श्री रमेशचन्द्र जैन	दिल्ली	२५००)
३ रतनलालजी गंगवाल	,,	२००१)
४ स० सिं० धन्यकुमार	कटनी	१००१)
५. मदनलाल पाड्या	कलकत्ता	१०००)
६ बाबू सोहनलालजी	,,	१०००)
७ हिम्मत सिंह जैन	,,	१०००)
८ कमलकुमार जैन	,,	५०१)
९ निर्मलकुमार जैन सरावगी	कलकत्ता	५०१)
१० प० माणिकचन्द्रजी चवरे	कारंजा	५००)
११ नथमल सेठी	कलकत्ता	५०१)
१२ श्रीमती गजाबेन	बाहुबली	५००)
१३. श्री बाबूलाल सतभैया	टीकमगढ़	५००)
१४ श्री बालचन्द्र देवचन्द्र शाह	बम्बई	२५१)
१५. गुलशनराय जैन	मुजफ्फरनगर	२५१)
१६. श्रीमती सरोज जैन	,,	२५१)
१७ त्रिलोकचन्द्र जैन	,,	२५१)
१८ राजेन्द्रकुमार जैन	कलकत्ता	२५१)
१९. पूरनचन्द्र जैन	,,	२५१)
२० ज्ञानचन्द जैन	,,	२५१)
२१ चक्रेशकुमार जैन	,,	२५१)
२२ सर सेठ भागचन्द्र सोनी	अजमेर	२५०)
२३. राजमल राजेन्द्रकुमार जैन	कुरवाई	२५०)
२४. जिनेन्द्रकुमार जैन	दिल्ली	२५१)
२५ डॉ० मुकुन्दजी सोनेजी	अहमदाबाद	१५१)
२६ सरावगी स्टील ट्रेडर्स	रायपुर	१५१)
२७. ताराचन्द्र बडजात्या	रायपुर	१५१)
२८ महताब सिंह जैन	दिल्ली	१५०)

२९. केशरीमल कस्तूरचन्द जैन	रायपुर	१०१)
३०. सन्तोषकुमार गर्ग	रायपुर	१०१)
३१. सिखरचन्द्रजी, विनीत टाकीज,	जबलपुर	१०१)
३२. राजकुमार सिंह कासलीवाल	इन्दौर	१०१)
३३. भगवानदास शोभालाल	सागर	१०१)
३४. अमितकुमार	शहडोल	१०१)
३५. क्षेमचन्द्र	शहडोल	१०१)
३६. श्रीमती निशा सिंघई	गरियाबन्द	१००)
३७. श्रीमती चपला बहन शहा	बम्बई	५१)
३८. श्री दुलीचन्दजी पहाड़िया	रायपुर	५१)
३९. सेवारामजी जैन	,,	५१)
४०. डॉ० सुरेशचन्द्र जैन	रायपुर	१७९)

१-९-८० तककी सूची। हमारी प्रबन्ध-समितिके गठनका मूल आधार यही सदस्यता है।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन समारोह
आयोजन समिति

१	श्री	सुलतान सिंह बाकलीवाल	अध्यक्ष
२	,,	रमेशचन्द जैन	उपाध्यक्ष
३.	,,	मुल्खराज जैन	,,
४	,,	मदनलाल जैन	,,
५.	,,	महेन्द्रकुमार जैन	,,
६	,,	सुखबीरचन्द जैन	,,
७	,,	सतीशकुमार जैन	महासचिव
८	,,	पदमचन्द जैन	वित्त सचिव
९	,,	महावीर प्रसाद जैन	सचिव

विशिष्ट सदस्य

१० श्री जैनेन्द्रकुमार
११ डॉ० दौलत सिंह कोठारी
१२ डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी
१३ धर्माधिकारी वीरेन्द्र हैग्गडे
१४ श्री अक्षयकुमार जैन
१५ ,, यशपाल जैन
१६ डॉ० सत्यव्रतशास्त्री
१७ ,, दयानन्द भार्गव

सदस्य

१८ श्री शीलचन्द जैन जौहरी
१९. ,, विमलकुमार जैन
२०. डॉ० सत्येन्द्रकुमार जैन
२१ ,, विमलप्रकाश जैन
२२ श्री अजितप्रसाद जैन
२३ डॉ० बी० एस० जैन
२४ श्री भारतभूषण जैन
२५. ,, ब्रजकिशोर जैन
२६. ,, चक्रेशकुमार जैन
२७ ,, दीपचन्द जैन
२८ ,, दीपक सेठ
२९. ,, धरमचन्द जैन
३० श्री गोकुलप्रसाद जैन
३१. ,, गुनवीरकुमार जैन
३२. ,, हरीचन्द जैन
३३. ,, जैचन्द जैन
३४. ,, जगमोहन जैन
३५ ,, लालचन्द जैन
३६. ,, करमवीर सिंह जैन
३७ ,, काश्मीरचन्द गोधा
३८ " मनीलाल डोसी
३९ " महेन्द्रप्रसाद जैन
४० " महताब सिंह जैन
४१ " नाहर सिंह जैन
४२ " प्रेमचन्द जैन
४३ " पारसदास जैन
४४ " प्रेमचन्द जैन
४५ " प्रकाशचन्द जैन
४६ " रमेशचन्द जैन
४७. " रमेशचन्द जैन
४८. " रमेशकुमार जैन
४९. " श्रीचन्द जैन
५० " सत्येन्द्रकुमार कोचर
५१ " सन्तलाल जैनी
५२ " सुरेशचन्द जैन
५३ " श्रीराम जैन
५४ " श्रीमन्दरदास जैन
५५ " सुरेशचन्द जैन
५६ " सुरेशचन्द्र जैन
५७ " सुभाष जैन
५८ " त्रिलोकचन्द गोयल
५९ " ताराचन्द 'प्रेमी'
६० " विजयकुमार जैन
६१ " युद्धवीर सिंह जैन